SANMATITARK PRAKARAN

PART - II

सन्मतितर्कप्रकरण

द्वितीयखंड

वीर निर्वाण संवत् २५२१ मूल्य १२५-००
विक्रमसंवत २०५१

प्रथमावृत्ति

द्रव्यसहायक

मुंबई - श्री सान्ताक्रुझ तपागच्छ जैन संघ - ज्ञाननिधि

को. टाईप सेटिंग

पार्श्व कोम्प्युटर्स,

३३, जनपथ सोसायटी, घोडासर केनाल के पास,
घोडासर, अमदावाद - ३८००५०.

प्रकाशक एवं प्राप्ति स्थान

दिव्यदर्शन ट्रस्ट

३९, कलिकुंड सोसायटी,
धोळका - ३८७८१०. (गुजरात)

इस ग्रन्थ के सम्पादन कार्य में प्रसिद्ध पंडितयुगल सम्पादित, गुजरात विद्यापीठ - अमदावाद की ओर से प्रकाशित द्वितीयखंड की संहिता को ही आधार बनाया गया है । हालाँकि कई जगह प्रचुर अशुद्ध पाठ थे जो लिम्बडी जैन ज्ञान भंडार की प्राचीन प्रति के आधार पर शुद्ध किये गये हैं -- लिम्बडी का हस्तादर्श पाठशुद्धि के लिये बहुत उपयोगी बना है । पूर्व सम्पादकों ने प्रमाणवार्त्तिक और ब्रह्मसिद्धि ग्रन्थों के उद्धरणों में ग्रन्थनिर्देश का स्थान रिक्त रखा हुआ था वे यथासंभव इस सम्पादन में भर दिये गये हैं । पूर्व सम्पादन में जो बड़े बड़े परिच्छेद थे उन को वाचकों की सुविधा के लिये विषय सातत्य को ख्याल में रख कर छोटे छोटे परिच्छेदों में बाँट दिया है । तथा, पंडितयुगल ने उस सम्पादन में जो तत्त्वसंग्रह आदि ग्रन्थों के अनेक श्लोक टीप्पणी में उद्धृत किये थे वे हिन्दी विवेचन के कार्य में अत्यन्त उपयोगी होते हुए भी इस सम्पादन में ग्रन्थगौरव भय से छोड दिये हैं -- हालाँकि यह कमी हिन्दी विवेचन से महदंश में रद हो जायेगी । हमारी ओर से आवश्यकता के अनुसार कुछ नयी टीप्पणी भी जोडी हुई है ।

मेरी क्या गुंजाईश कि मैं ऐसे बड़े और गहन ग्रन्थ का सम्पादन एवं हिन्दी विवेचन का साहस करूं ! देवगुरुकृपा एवं श्रुतदेवता की दया से ही कुछ बालक्रीडा कर दिया है ।

चारित्रसम्राट-कर्मसाहित्यनिष्णात-सिद्धान्तमहोदधि महातपस्वी विद्वद्गणशिरोमणि स्व.प.पू. आचार्यदेव श्रीमद् विजय प्रेमसूरीश्वरजी म.सा.

न्यायविशारद-उत्सूत्रप्रतिकारसमर्थ-एकान्तवादतिमिरतरणी-वर्धमानतपोनिधि-अप्रमत्तमुनिपुंगव स्व.प.पू. आचार्यवर्य श्रीमद् विजय भुवनभानुसूरीश्वरजी म.सा., सिद्धान्तदिवाकर-प्रावचनीकप्रभावक-वर्त्तमानगच्छाधिपति गीतार्थाग्रणी प.पू. गुरुवर्य आचार्य श्रीमद् विजय जयघोषसूरीश्वरजी म.सा. -

इन महापुरुषों की उपकारपरम्परा पूरे इस ग्रन्थ में अनुवर्तमान रही है । अन्यथा यह कार्य होना [illegible] था ।

अन्य भी अनेक महात्माओंने इस कार्य में प्रभूत सहयोग दिया । विशेषतः मुनि श्री संयमबोधिविजयजी का प्रूफ संशोधन में सहकार मिला, जो स्मरणीय है ।

अग्रिम खण्डों का कार्य शीघ्र पूर्ण होने में सहाय के लिये शासनदेवता को प्रार्थना ।

लि.

जयसुंदरविजय

बोरीवली (E) मार्गशीर्ष सुदि [illegible]

प्रकाशकीय

वडे हर्ष की वात थी -- दस साल पहले हिन्दी विवेचन सहित सन्मतितर्कप्रकरण का प्रथम खंड शेठ मोतीशा लालवाग चेरिटी ट्रस्ट (भूलेश्वर) मुंवई की ओर से जव सुसम्पादित-प्रकाशित होकर सज्जन विद्वानों के करकमल का अलंकार बना था ।

वडे हर्ष की वात है -- दस साल के वाद चिरप्रतीक्षित सन्मतितर्कप्रकरण-द्वितीयखंड दिव्य दर्शन ट्रस्ट (धोळका) की ओर से सुसम्पादित होकर प्रकाशित हो रहा है ।

वारह साल पहले पूज्यपाद न्यायविशारद सुप्रसिद्ध जैनाचार्य विजय भुवनभानुसूरीश्वरजी म.सा. के अन्तर में श्री सन्मतितर्क० मूल एवं व्याख्या ग्रन्थ के ऊपर हिन्दी विवेचन की भावना अंकुरित हुई थी । वहुविध शासनसेवा के कार्य में संलग्न पूज्यश्री समय के अभाव में स्वयं उस भावना को साकार नहीं कर सके । तव अपने पट्टालंकार प.पू.आ. श्री जयघोषसूरीश्वरजी म. के शिष्य मुनि श्री जयसुंदरविजय महाराज को इस महत्काय कार्य के लिये प्रेरित-उत्साहित किया । पूज्य गुरुवर्य के आदेश पर श्रद्धा करते हुए पूज्य मुनिश्रीने कलम ऊठायी - नतीजतन, इस महाकाय ग्रन्थ का प्रथमखंड पूज्य गुरुवर्य की उपस्थिति में ही प्रकाशित हो गया था ।

पूज्य मुनिश्रीने हिन्दी विवेचन का कार्य जारी रखा, आज उसका द्वितीयखंड आप के करकमलों का आभूषण वन गया है ।

उपकार नहीं भूल सकते स्वर्गस्थ पूज्य गुरुवर्य का जिन्होंने ५०-६० साल तक जैन जगत् को अपनी दिव्य ज्ञान-संयम-तपोमय ज्योति से आलोकित कर रखा था । इस ग्रन्थ को एक ओर मुद्रणालय में भेजा गया तो दूसरी ओर वि.सं. २०४९ चैत्र वदि १३ के दिन पूज्यापाद गुरुवर्यश्री नश्वर पौद्गलिक देह त्याग कर ईशान देवलोक के सामानिक सुरपति वन गये । आज आप निर्मल अवधिज्ञान से इस महान् कृति को देख कर प्रसन्नता से भर गये होंगे । उन्हीं महापुरुष के आशीर्वाद से दिव्यदर्शन ट्रस्ट शास्त्र साहित्य के प्रकाशनों में आगे कदम वढा रहा है ।

श्री सान्ताक्रुझ तपागच्छ जैन संघ - मुंवई ज्ञाननिधि से इस ग्रन्थ प्रकाशन के महान् कार्य में विशाल धनराशि का योगदान प्राप्त हुआ है - एतदर्थ हम सदा के लिये उन के ऋणी हैं और वह सान्ताक्रुझ का संघ धन्यवाद का पात्र है । टाईप-सेटिंग का कार्य दिलचश्पी से करनेवाले पार्श्व कोम्प्युटर्स अजयभाई एवं विमलभाई को भी धन्यवाद ।

पंचम खंड का हिन्दी विवेचन अव मुद्रणालय की प्रतीक्षा में है । तृतीय-चतुर्थ खंड का लेखन-कार्य शीघ्र ही पू. मुनिश्री पूर्ण करे यह शासनदेव को प्रार्थना ।

लि.

दिव्यदर्शन ट्रस्टी गण की ओर से कुमारपाल वि. शाह

प्रस्तावना

श्री जैन शासन का इतिहास अनेक न्यायप्रविण जैनाचार्यों और उन के न्यायग्रन्थों से गौरवान्वित है । श्री सिद्धसेन दिवाकरसूरिजी से ले कर आचार्य भुवनभानुसूरिजी पर्यन्त अनेक उज्ज्वल संत पुरुषों ने जैन न्याय की परम्परा की शान बढायी है । श्री सन्मति नामक तर्कप्रकरण सिद्धसेनदिवाकरसूरिजी की अनमोल कृति है ।

इस महान् कृति की तत्त्वबोधविधायिनी संज्ञक व्याख्या में ११वीं सदी के आचार्य तर्कपञ्चानन अभयदेवसूरीश्वरजी महाराजने स्फुट अर्थविस्तार कर के यह दिखा दिया है कि जैनाचार्यों की संक्षिप्त कृति में भी कितना विशाल एवं कितना गहन अर्थराशि भरा हुआ रहता है । श्री मल्लवादिसूरिजी रचित एक व्याख्या का उल्लेख श्री हरिभद्रसूरिजी विरचित अनेकान्त-जयपताका ग्रन्थ में उपलब्ध होता है, किन्तु हन्त ! आज वह व्याख्या कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं होती । आज तो सिर्फ अभयदेवसूरिजी की एक ही विशद व्याख्या उपलब्ध हो रही है यह भी श्री जैनसंघ का एवं वर्तमान विद्वद्गण का बडा सौभाग्य है ।

उपर लिखित सभी आचार्य श्वेताम्बर जैन परम्परा में दीक्षित, पंच महाव्रतों के धारक एवं पालक थे · इस में कोई विवाद नहीं है । कहा जाता है कि श्री सिद्धसेनदिवाकरसूरिमहाराजनें बत्तीस बत्तीसियों की भी रचना की थी, लेकिन आज तो उन में से सिर्फ २१ ही उपलब्ध है जिस में न्यायावतार बत्तीसी प्रमुख है और उस के ऊपर अनेक आचार्यों के वार्त्तिक, टीका एवं टिप्पण उपलब्ध हैं ।

श्री अभयदेवसूरिजीने सन्मति० व्याख्या के अलावा कोई और ग्रन्थ रचा हो ऐसा विदित नहीं है । उन के नाम से वादमहार्णव ग्रन्थ का उल्लेख किया जाता है, लेकिन वह भी इस सन्मति० की टीका से अभिन्न ही प्रतीत होता है । सचमुच, सन्मति० की यह टीका अपने आप में वादमहार्णवरूप ही है ।

सन्मति० के प्रथम खंड में प्रथम काण्ड की सिर्फ एक ही मूलगाथा के ऊपर विस्तृत विवेचन किया है, तो इस दूसरे खंड में द्वितीय-तृतीय और चतुर्थ गाथा ऊपर विस्तृत विवरण किया गया है । द्वितीय गाथा में कहा गया है कि आगम के अध्ययन में कुण्ठबुद्धि पुरुष भी पूर्वधर आदि महर्षियों की सेवा के द्वारा तत्त्वबोध के लिये सक्षम बन जाय ऐसा प्रतिपादन इस सन्मति० प्रकरण में करेंगे ।

जैन आगमों में ऐसे सूक्ष्म एवं गहन तत्त्वों का निरूपण है जो अन्य किसी भी सम्प्रदाय के शास्त्रों में लेशमात्र भी मिलना कठिन है इतना ही नहीं, उन आगमों के तत्त्वों के अध्ययन का सार भी उसी के हाथ में आ सकता है जिस की मति निर्मल एवं सूक्ष्म हो । नय-निक्षेप एवं अनेकान्तवाद के सम्यक् अभ्यास से ही बुद्धि निर्मल होती है, एवं प्रमाण-न्याय-तर्क-युक्ति आदि के अभ्यास से ही मति सूक्ष्म बनती है ।

सन्मति० का अध्ययन इस दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है । दूसरी गाथा में द्रव्यार्थिक एवं पर्यायार्थिक मूल नयद्वय की प्ररूपणा की गयी है । तीसरी गाथा में द्रव्यार्थिक एवं संग्रहनय की प्ररूपणा की गयी है, [illegible] नय का भी निरूपण है ।

[illegible]

शब्द और अर्थ के मध्य कोई तात्त्विक संबंध है या नहीं ? इस चर्चा में विस्तार से अपोहवादी बौद्धों का पूर्वपक्ष है जिसमें न्यायसूत्र के भाष्यकार, वार्तिककार एवं वैभाषिक मत तथा उद्द्योतकर और कुमारिल भट्ट के मतों की विस्तार से समीक्षा की गयी है ।

यहाँ अध्येतावर्ग को यह लक्ष्य में रखना अतिआवश्यक है कि प्रायशः इस बौद्धमत का प्रतिपादन व्याख्याकारने तत्त्वसंग्रह के आधार पर ही किया है, किन्तु पूर्वपक्षमें जहाँ जहाँ तत्त्वसंग्रह-पंजिका(व्याख्या) के उद्धरण दिये गये हैं - उत्तरपक्ष में उनका अनुवाद करते समय पंजिका के उद्धरणों का नहीं किन्तु तत्त्वसंग्रह-मूलग्रन्थ का ही अनुवाद किया है । अध्येतावर्ग को यहाँ सावधानी वरतनी पडेगी, उत्तरपक्ष चर्चा में पूर्वपक्ष की पंक्तियों को पाठक पूर्वपक्ष में अक्षरशः खोजना चाहेंगे तो सफलता नहीं मिलेगी । अगर तत्त्वसंग्रह ग्रन्थ को साथ में रख कर इस विभाग को पढेंगे तो अध्ययन में सरलता रहेगी । (पृ. १५ से १४९ पूर्वपक्ष, पृष्ठ १४९ से २६४ उत्तरपक्ष)

तृतीयगाथा की व्याख्या में शुद्ध एवं अशुद्ध द्रव्यास्तिक नय का, अद्वैतमत एवं सांख्यमत के विरोधी पर्यायास्तिक नय का विस्तार से निरूपण किया गया है । (पृष्ठ २६५ से ३८२) तथा संग्रह (नैगम)व्यवहार-ऋजुसूत्र-शब्द-समभिरूढ तथा एवंभूत-छह नयों के मन्तव्यों का व्युत्पादन किया गया है । (३८४ से ३९५)

चतुर्थ गाथा की व्याख्या में सत्तामात्रविषयक संग्रह नय का व्युत्पादन-विषयविस्तार कर के अन्त में द्रव्यास्तिक व्यवहार नय के विशेष विषयत्व का प्रतिपादन किया गया है । (३९७ से ४०२) ।

मेरी क्या गुंजाइश कि मैं इतने महान ग्रन्थ के ऊपर हिन्दी में विवेचन कर सकुं ?! परमेश्वर पंच परमेष्ठि भगवंतों की कृपा से एवं स्व. पूज्यपाद गुरुदेवश्री की पुनित प्रेरणा से कुछ प्रयत्न किया हैं । अधिकारी मुमुक्षु वर्ग को इस ग्रन्थरत्न के अध्ययन में हिन्दी विवेचन द्वारा तनिक भी सरलता महेसूस होगी तो मैं कृतकृत्य हो जाऊँगा ।

अग्रिम खण्डों के लेखन कार्य में शीघ्र सफलता प्राप्त हो एतदर्थ शासनदेव को प्रार्थना ।

लि.

जयसुंदरविजय - मागसिर सुदि २

वोरीवली-दोलतनगर.

विषयानुक्रमणिका

समय-परमत्थ-वित्थर-विहाड-पज्जुवासण-सयन्नो।
आगममलारहियओ जह होइ तमत्थमुन्नेसु ।।

तित्थयरवयणसंगहविसेसपत्थारमूलवागरणी ।
दव्वट्ठिओ य पज्जवणयो य सेसा वियप्पा सिं ।।

दव्वट्ठियनयपयडी सुद्धा संगहपरूवणाविसओ ।
पडिरूवे पुण वयणत्थनिच्छओ तस्स ववहारो ।।

ॐ ह्रीं श्रीं अर्हं नमः

श्रीशङ्खेश्वरपार्श्वनाथाय नमः ॥

श्री सम्मति-तर्कप्रकरणम्

[द्वितीयः खण्डः]

[द्वितीयगाथावतरणिका]

एवमिष्टदेवतानमस्कारकरणध्वस्तप्रकरणपरिसमाप्तिविबन्धकृत्क्लिष्टकर्मान्तरायः सूरिर्जिनप्रणीतत्वेन शासनस्य प्रकरणमन्तरेणाऽपि स्वतः सिद्धत्वात् तदभिधेयस्य निष्प्रयोजनतामाशङ्कमानः 'समयपरमत्थ'० इत्यादिगाथासूत्रेण प्रकरणाभिधेयप्रयोजनमाह —

समय-परमत्थ-वित्थर-विहाड-पज्जुवासण-सयन्नो
आगममलारहियओ जह होइ तमत्थमुन्नेसु ॥२॥

इस प्रकार (पूर्वखण्ड में कहे अनुसार) आचार्य ने इष्टदेवता को नमस्कार* कर के, इस प्रकरण की समाप्ति में विघ्न डालनेवाले क्लेशापादक अन्तराय कर्म का ध्वंस किया । अब यदि ऐसी आशंका हो जाय कि – 'द्वादशांगीरूप शासन तो जिनेन्द्रप्रणीत होने से स्वतः सिद्ध ही है इस लिये उस के अभिधेय का इस प्रकरण से प्रतिपादन करने का कोई प्रयोजन नहीं है' – तो इस आशंका को दूर करने के अभिप्राय से, आचार्य 'समयपरमत्थ'.... इत्यादि द्वितीयगाथासूत्र के द्वारा, इस प्रकरण का अभिधेय क्या है और उसको दिखाने का प्रयोजन क्या है यह कह रहे हैं —

गाथार्थ - आगम के विषय में मलार (बैल) की तरह (कुण्ठ) हृदयवाला भी जिस प्रकार (के अर्थ) से शास्त्रपरमार्थ के विस्तर का प्रकाशन करनेवाले (विद्वद्) लोगों की सेवा में सकर्ण (तत्पर) बन जाय (सेवा के फलभूत शास्त्रव्याख्यान के अर्थावधारण में समर्थ हो जाय) ऐसे अर्थ को मैं कहूँगा ॥२॥

---

* व्याख्याकार श्री अभयदेवसूरिजी ने यहाँ इष्टदेवता-नमस्कार की जो बात कही है उसके ऊपर जिज्ञासु शंका करे कि - 'श्री सिद्धसेन दिवाकरसूरिजी ने प्रथम मूलगाथा में तो श्री जिनशासन का स्तव किया है, नमस्कार नहीं किया, फिर भी यहाँ नमस्कार का उल्लेख कैसे किया ?' - बात ठीक है कि 'जयति' इत्यादि प्रयोग करके शासन को नमस्कार नहीं किया है, किन्तु गहराई से देखा जाय तो उस प्रथम मूल गाथा की व्याख्या में श्री अभयदेवसूरिजी ने कहा है कि 'शासन' ही अर्हत् देवता है और [illegible] ही भावमंगल रूप है । नमस्कार का अर्थ भी पूजा है और स्तव एक पूजा का ही विशेष प्रकार है, इसी अभिप्राय से ही व्याख्याकार ने स्तवकरण का 'इष्टदेवता नमस्कार' पद से उल्लेख किया है । श्री हरिभद्रसूरिजी ने [illegible] में लिखा है - [illegible] ।

तदेव चास्या गाथायाः समुदायार्थः । तच्च श्रोतृप्रवृत्त्यर्थम्, प्रयोजनस्य प्रतिपत्तिमन्तरेण प्रेक्षावतां प्रवृत्त्यनुपपत्तेः, अनभिहितप्रयोजनस्य शास्त्रस्य प्रेक्षापूर्वकारिभिः काकदन्तपरीक्षादेरिवानाश्रयणीयत्वात् । अतः प्रयोजनप्रदर्शनेन तेषां प्रवर्त्तनाय शास्त्रस्यादौ वाक्यं तत्प्रतिपादनपरमुपादेयम् । तदुक्तम्— [श्लो० वा० सू० १श्लो० १२]

सर्वस्यैव हि शास्त्रस्य कर्मणो वाऽपि कस्यचित् । यावत् प्रयोजनं नोक्तं तावत् तत् केन गृह्यते ॥

पुनरप्युक्तम्— अनिर्दिष्टफलं सर्वं न प्रेक्षापूर्वकारिभिः । शास्त्रमाद्रियते तेन वाच्यमग्रे प्रयोजनम् ॥ [ ]

शास्त्रस्य तु फले दृष्टे तत्प्राप्त्याशावशीकृताः । प्रेक्षावन्तः प्रवर्तन्ते तेन वाच्यं प्रयोजनम् ॥ [ ]

यावत् प्रयोजनेनास्य सम्बन्धो नाभिधीयते । असम्बद्धप्रलापित्वाद् भवेत्तावदसंगतिः ॥

तस्माद् व्याख्याङ्गमिच्छद्भिः सहेतुस्सप्रयोजनः । शास्त्रावतारसम्बन्धो वाच्यो नान्यस्तु निष्फलः ॥

[श्लो० वा० सू० १ श्लो० २ और २५] इत्यादि ।

★ प्रयोजनप्रतिपादन का प्रयोजन ★

[प्रयोजन के दो प्रकार हैं (१) ग्रन्थ कर्त्ता का प्रयोजन और (२) श्रोता का प्रयोजन । ग्रन्थ के अध्ययन द्वारा जिज्ञासित अर्थ का बोध यह श्रोता का प्रयोजन होता है । जिज्ञासित अर्थबोध के लिये श्रोता अपने ग्रन्थ के पठन में प्रवृत्ति करे – यह ग्रन्थकार का प्रयोजन होता है और इसी लिये ग्रन्थकार आदिवाक्य में श्रोता के प्रयोजन का उल्लेख करते हैं इतना संदर्भ ख्याल में रख कर अब पढना ।]

'प्रकरण का अभिधेय (यानी उसका निदर्शन) निष्प्रयोजन है' इस आशंका का निराकरण, जो गाथा की अवतरणिका में दिखाया गया है वही इस गाथा के पादचतुष्टय का मुकुलित अर्थ है । तब जिज्ञासा होगी कि इसके अभिधेय को दिखाने का क्या प्रयोजन है– उसका उत्तर यह है– श्रोतावर्ग की प्रवृत्ति के लिये अभिधेय अर्थ का निर्देश किया जाता है । बुद्धिमान लोग तत्तत् कार्य में प्रवृत्ति के लिये तदनुकुलतत्त्वबोध की आशा करते हैं । जब तक वे नहीं जानते हैं कि हमारा इष्ट तत्त्वबोधरूप प्रयोजन इस प्रकरण से लभ्य है तब तक बुद्धिमान लोगों की उस प्रकरण के अभ्यास में प्रवृत्ति नहीं हो सकती । कौए के दाँतों की परीक्षा का कोई प्रयोजन न होने से जैसे बुद्धिमान लोग उसमें आदर नहीं करते वैसे ही जिस शास्त्रमें प्रयोजन (= श्रोता का प्रयोजन यानी उस शास्त्र से श्रोता को जिस अर्थ का बोध प्राप्त होने वाला है वह) अप्रगट हो उस शास्त्र का श्रवण बुद्धिमानों के लिये आदरणीय नहीं होता । इसी लिये श्रोतावर्ग को इस शास्त्र के श्रवण से किन तत्त्वों का बोध होगा यह दिखा कर उनको इसके श्रवण में प्रवृत्त करने के लिये प्रकरण के अभिधेय अर्थ को दिखानेवाला वाक्य उपादेय है, निष्प्रयोजन नहीं है । जैसे कि कहा है—

"सभी शास्त्रों का या किसी भी कर्म का जब तक (श्रोता का) प्रयोजन नहीं कहा जाता तब तक कौन उसका आदर करता है ?! और भी कहा है—

"जिस के फल का निर्देश न किया हो ऐसे किसी भी शास्त्र का बुद्धिमानों के द्वारा आदर नहीं किया जाता; अत एव प्रारम्भ में प्रयोजन दिखाना चाहिये ॥"

[आदिवाक्योपादानं व्यर्थम्-पूर्वपक्षः]

अत्र च केचित् प्रेरयन्ति – यदि प्रेक्षावतां प्रवृत्त्यर्थं प्रयोजनप्रतिपादनाय आदिवाक्यमुपादीयते तदा ते प्रेक्षापूर्वकारित्वादेवाऽप्रमाणके नैव प्रवृत्तिं विदधति । न च प्रयोजनप्रतिपादकमादिवाक्यं तत्प्रभवं वा ज्ञानं प्रमाणम् अनक्षजत्वेनाऽध्यक्षत्वाऽयोगात् ।

नाप्यनुमानं स्वभाव-कार्यलिंगसमुत्थम् तद्भावत्वेन तत्कारणत्वेन वा तत्प्रत्याप्यप्रयोजनस्य प्रमाणतोऽप्रतिपत्तेस्तदुत्थापकस्य लिंगस्य तत्स्वभाव-तत्कार्यत्वानवगमाद्, अन्यस्य च स्वसाध्याऽप्रतिबन्धाद् अप्र-

"शास्त्र के फल को जानने के बाद उस फल की प्राप्ति की आशा के वश बने हुए बुद्धिमानों के द्वारा उस (शास्त्र) में प्रवृत्ति होती है, इसलिये प्रयोजन दिखाना चाहिये ॥"

"प्रयोजन के साथ (इस प्रकरण का साध्य-साधनादिरूप)* सम्बन्ध भी जब तक नहीं दिखाया जाता तब तक (शास्त्रकार में) असम्बद्धप्रलापिता (के ज्ञान) से (शास्त्र में) असंगति (की कल्पना) होती है ।"

इसीलिये व्याख्या के अंग (प्रकरण के साथ प्रयोजन के सम्बन्ध) को चाहने वाले की ओर से हेतु (=प्रमाण) और प्रयोजन के साथ शास्त्रावतार (प्रयोजक) सम्बन्ध भी कहा जाना चाहिये, अन्य कोई निष्फल (स्वस्वामिभावादिक सम्बन्ध) न कहा जाय ॥...... इत्यादि कहा गया है ।

(सर्वस्य० यावत् प्रयोजनेन० और तस्माद् व्याख्या० ये तीन श्लोक तो श्लोकवार्त्तिक में भी मिलते हैं, किन्तु अनिर्दिष्ट० और शास्त्रस्य तु० दो श्लोकों का मूलस्थान पाया नहीं जाता)

★ पूर्वपक्ष–आदिवाक्य निरर्थक, प्रमाणातीत में प्रवृत्तिविरह ★

यहाँ, आदिवाक्य निरर्थकतावादी कुछ लोग अपनी बात करते हैं – अगर बुद्धिमानों को प्रवृत्त करने के लिये प्रयोजन का प्रतिपादन और उस के लिये प्रारम्भिकवाक्यप्रयोग किया जाता है तो वे बुद्धिमान होने के कारण ही ऐसे आपके वाक्य से जनित ज्ञान के विषयभूत प्रयोजन में प्रवृत्ति नहीं करेंगे । प्रयोजन का प्रतिपादक प्रारम्भिकवाक्य अथवा तज्जन्य ज्ञान, प्रमाणभूत नहीं है, क्योंकि इन्द्रियजन्य न होने से वह प्रत्यक्ष-प्रमाणरूप नहीं हो सकता ।

अनुमानप्रमाणरूप भी उसको नहीं मान सकते क्योंकि अनुमान के स्वभावहेतुजन्य और कार्यहेतुजन्य ये दो प्रकार हैं, उनमें से एक भी यहाँ सार्थक नहीं है, क्योंकि वाच्यरूप वस्तु के स्वभावरूप में या तत्कार्यरूप

* प्रायः हर कोई प्राचीन शास्त्र में सम्बन्ध-प्रतिपादन की आवश्यकता दिखायी जाती है । प्रस्तुत द्वितीय मूल गाथा में प्रयोजन का तो साक्षात् सूचन हुआ है किन्तु सम्बन्ध कैसे सूचित हुआ यह प्रश्न है । इस का उत्तर यह है, ग्रन्थप्रतिपाद्य अर्थ का, रचना ग्रन्थकार के या उनकी वाणी के साथ [illegible] सम्बन्ध दिखाना चाहिये । अगर वक्ता वेदशास्त्र में [illegible] या सर्व-प्रमाण आदि की कथा सुनाने लगे तो प्रतिपाद्य विषय के साथ उस वक्ता का कोई [illegible] संबन्ध नहीं है [illegible] हो जायेंगे । प्रस्तुत में कहा है कि – आत्मार्थी व्यक्तियों को भी शासननायकों की बात सुनने का [illegible] – यहाँ प्रतिपाद्य विषय ऐसा [illegible] अर्थ है जिससे शासननायकों के वचन का [illegible] सिद्ध है, इस प्रकार का [illegible] सम्बन्ध सूचित किया है । तथा वक्ता ने यहाँ शासननायकों का [illegible] सम्बन्ध सूचित कर दिया है जिससे श्रोता को यह विश्वास हो कि ग्रन्थकार अपने प्रतिपाद्य विषय के [illegible] में यह [illegible] विषय के निरूपण के लिये पूर्णतया अधिकृत [illegible] है । इस प्रकार गुरुपर्वक्रमरूप सम्बन्ध भी सूचित हो गया है ।

तिवद्धस्य च स्वसाध्यव्यभिचारेणाऽगमकत्वात्, तत्त्वे वातिप्रसंगात्, तत्प्रतिवद्धत्वेऽप्यनिश्चितप्रतिवन्धस्याति-प्रसंगत एव अगमकत्वात् ।

न च वाक्यमिदं प्रवर्त्तमानं स्वमहिम्नैव स्वार्थं प्रत्यायतीति शब्दप्रमाणरूपत्वात् स्वाभिधेयप्र-योजनप्रतिपादने प्रमाणम्, शब्दस्य वाह्येऽर्थे प्रतिवन्धाऽसम्भवेनाऽप्रामाण्यात्, विवक्षायां प्रामाण्येऽपि तस्या वाह्यार्थाऽविनाभावित्वाऽयोगात् । नापि ये यमर्थं विवक्षन्ति ते तथैव तं प्रतिपादयन्ति, अन्यविवक्षा-यामप्यन्यशब्दोच्चारणदर्शनात्, विवक्षायाश्च वाह्यार्थप्रतिवद्धत्वानुपपत्तेरेकान्ततः । तन्न शब्दादपि प्रमाणादादि-वाक्यरूपात् प्रयोजनविशेषोपायप्रतिपत्तिः तदप्रतिपत्तौ च तेषां ततः प्रवृत्तौ प्रेक्षापूर्वकारिताव्यावृत्तिप्रसङ्गात्।

–"प्रयोजनविशेषोपायसंशयोत्पादकत्वेन प्रवृत्त्यङ्गत्वादादिवाक्यस्य सार्थकत्वम् । तथाहि – अर्थसंश-

---

वस्तु के कारणरूप में उस वाक्य से वोध्य श्रोता के प्रयोजन की किसी भी प्रमाण से उपलब्धि नहीं होती है । इसलिये श्रोता के अपने प्रयोजन की अनुमिति करानेवाला कोई ऐसा लिंग भी उपलब्ध नहीं है जो प्रयोजन के स्वभाव या कार्यरूप में प्रसिद्ध हो । ततूस्वभाव या तत्कार्य से भिन्न पदार्थ तत् का लिंग नहीं वन सकता क्योंकि उसमें प्रयोजनरूप साध्य के साथ व्याप्ति नहीं होती । व्याप्तिशून्य पदार्थ अपने साध्य का द्रोही होने के कारण वह उसका वोधक नहीं होता । फिर भी उसको वोधक मानेंगे तो किसी भी पदार्थ को उस साध्य का वोधक मानने की आपत्ति आ पडेगी । मान लो कि उस पदार्थ में अपने साध्य के साथ व्याप्ति है किन्तु वह निश्चित नहीं है तो भी वह पदार्थ साध्य-वोधक नहीं हो सकता, क्योंकि अनिश्चितव्याप्तिवाले लिंग से साध्यवोध मानने पर, धूम में अग्नि की व्याप्ति का ज्ञान न होने पर भी वालक को धूम से अग्निज्ञान हो जाने का अतिप्रसंग मुँह फाड कर खडा है ।

☆ वाह्यार्थ के साथ शब्द का सम्वन्ध अमान्य ☆

'यह आदि वाक्य शब्दप्रमाणरूप होने से उसका प्रयोग करने पर वह अपनी महिमा से ही स्ववाच्य अर्थ का वोध करायेगा' – ऐसा तो नहीं कह सकते, क्योंकि वाह्य अर्थ के साथ शब्द का किसी प्रकार सम्वन्ध संभव न होने के कारण शब्द को प्रमाणरूप नहीं मान सकते । कदाचित् वक्ता का तात्पर्य (=विवक्षा) जिस अर्थ में हो उस में शब्द का प्रामाण्य क्षणभर के लिये मान लिया जाय तो भी वह जँचता नहीं है चूँकि कभी कभी वाह्यार्थ न रहने पर भी उसमें वक्ता की विवक्षा हो सकती है जैसे कि वन्ध्यापुत्रादि शब्द का प्रयोग । तात्पर्य – 'वक्ता की विवक्षा वाह्यार्थ के होने पर ही होवे' – ऐसा नियम नहीं है । उपरांत, यह भी देखा जाता है कि वक्ता को जिस अर्थ में विवक्षा होती है उसी अर्थ का उसी ढंग से (जिस ढंग की विवक्षा हो) प्रतिपादन वक्ता करे ऐसा नहीं होता, कभी कभी तो विवक्षा कुछ अश्वादि विषयक हो और प्रतिपादन धेनु आदि शब्दोचार से किया जाय ऐसा दिखाई देता है । तथा, विवक्षा नियमतः वाह्यार्थ से प्रतिवद्ध ही हो यह वात सिद्ध नहीं है । निष्कर्ष, आदिवाक्यरूप शब्दात्मक प्रमाण से भी श्रोता को अपने प्रयोजनविशेष की और 'यह ग्रन्थ उस का उपाय है' इस प्रकार की उपलब्धि शक्य नहीं हैं, उपलब्धि के विना भी यदि वुद्धिमान लोग उस वाक्य से प्रवृत्ति करेंगे तो उनके वुद्धिपूर्वककार्यकारित्व गुण को क्षति पहुँचेगी ।

☆ संशयजनक होने से आदिवाक्य सार्थक ☆

यहाँ सार्थकतावादी ऐसा कहता है कि – आदिवाक्य से, "इस शास्त्र का श्रवण अपने प्रयोजन के उपायभूत

यादपि प्रवृत्तिरुपलभ्यते यथा कृषीवलादीनां कृष्यादावनवगतशस्याऽवाप्तिफलानाम् । अथ अबीजादिविवेकेनावधृतबीजादिभावतया निश्चितोपायाः तदुपेयस्याऽवाप्त्यनिश्चयेऽपि तत्र तेषां प्रवृत्तिर्युक्ता न पुनः शास्त्रश्रवणादौ, उपेयप्रयोजनविशेषाऽनिश्चयवत् तदुपायाभिमतादिवाक्यप्रत्याय्योपायनिश्चयस्याप्यसंभवात्। अयुक्तमेतत्-यतो यथा सस्यसम्पत्त्यादौ फले कृषीवलादेः संदेहस्तथा तदुपायाभिमतबीजादावपि, अनिर्वर्त्तितकार्यस्य कारणस्य तथाभावनिश्चयाऽयोगात् । तत्र यथा कृष्यादिकं संशय्यमानोपायभावं प्रवृत्तिकारणं तथा शास्त्रमप्यादिवाक्यादनिश्चितोपायभावं किं न प्रवृत्तिकारणमभ्युपगम्येत''– इति चेत् ? असदेतत् – आदिवाक्योपन्यासः शास्त्रप्रयोजन- विषयसंशयोत्पादनार्थम् संशयोऽपि च निश्चयविरुद्धः – अनुत्पन्ने च निश्चये – तत्राऽप्रतिबद्धप्रवृत्तिहेतुतया प्रादुर्भवन् केन वार्यते आदिवाक्योपन्यासमन्तरेणाऽपि ?।

अथाऽश्रुतप्रयोजनवाक्यानां प्रयोजनसामान्ये तत्सत्त्वेतराभ्यां संशयो जायते – 'किमिदं चिकित्साशा-

---

है या नहीं'' ऐसा संशय उत्पन्न होता है और इस संशय से भी शास्त्र में प्रवृत्ति होती है, इस रीति से प्रवृत्ति का अंग यानी प्रयोजक होने से आदिवाक्य सार्थक है । देखिये, वस्तु के संशय से भी प्रवृत्ति होती दिखाई देती है, जैसे कि भावि धान्यनिष्पत्ति रूप फल का ठोस निश्चय न होने पर भी उसके संशय से ही कृषिकार लोग कृषि में प्रवृत्त होते हैं । यदि इस के सामने ऐसी शंका करें कि – 'बीजभिन्न पदार्थ को एक ओर रख कर जिसमें बीजस्वभाव का अवधारण हो वही धान्य का उपाय है ऐसा दृढ निश्चय करके ही कृषिकार कृषि में प्रवृत्त होते हैं । भले ही उन लोगों को धान्यप्राप्ति का निश्चय न रहे फिर भी बीजरूप उपाय के निश्चय से उन की कृषि में प्रवृत्ति घट सकती है, जबकि प्रस्तुत में उपेयभूत प्रयोजन का यानी श्रोता को अपने प्रयोजनविशेष का जैसे निश्चय नहीं है, वैसे ही, उस के उपायरूप में यानी श्रोता को उसके प्रयोजन के बोधकरूप में आप को मान्य जो आदिवाक्य है, उस से श्रोता को जो यह निश्चय होना चाहिये कि 'इस शास्त्र का श्रवण मेरे प्रयोजन का उपाय है' ऐसा उपाय का निश्चय भी आदिवाक्य से सम्भवित नहीं है, तो उपाय के निश्चय बिना आदिवाक्य में प्रवृत्ति कैसे होगी ?' – तो यह शंका भी ठीक नहीं है, क्योंकि जब धान्यप्राप्तिरूप फल में संदेह है तो उस के उपायरूप से मान्य बीज में उपायरूपता का निश्चय भी कैसे हो सकता है ? संदेह ही हो सकता है, क्योंकि जब तक कार्योत्पत्ति न दिखाई दे तब तक उसके कारणरूप से अभिमत वस्तु में कारणता का निश्चय हो नहीं सकता । सारांश, कृषि आदि में धान्यप्राप्तिकारणत्व संशयारूढ होने पर भी कृषि आदि तद्विषयक प्रवृत्ति में कारण बनते हैं उसी प्रकार आदिवाक्य से उपायत्व का निश्चय न रहने पर भी 'शास्त्र मेरे प्रयोजन का साधक होगा या नहीं होगा' इस प्रकार के आदिवाक्यजन्य संशय से ही शास्त्र श्रवण में प्रवृत्ति होता है - ऐसा हम सार्थकतावादी माने तो क्या गलत हुआ ?

सार्थकतावादी के इस पूरे कथन पर निरर्थकतावादी कहते हैं कि – आदिवाक्य का उपन्यास शास्त्रप्रयोजनरूप विषय के संशय को पैदा करने के लिये किया जाता है, किन्तु संशय जो कि निश्चय से विरुद्ध है, निश्चय जब तक उत्पन्न ही नहीं हुआ तब तक आदिवाक्य के बिना भी उत्पन्न हो सकता है, विरोध के न रहने पर प्रवृत्तिहेतु होनेवाले उसकी उत्पत्ति को कोई भी नहीं रोक सकता, क्योंकि निश्चय अनुत्पन्न होने से संशय की उत्पत्ति निर्बाध है, फिर आदिवाक्य का उपन्यास करने की भी क्या आवश्यकता है ?

★ प्रयोजनविशेषसंशय का उत्पादक आदिवाक्य उपादेय ★

अगर सार्थकतावादी कहें – प्रयोजनवाक्य न सुनने पर सामान्य सद्भाव या अभाव के प्रयोजन के विषय

स्त्रवत् सप्रयोजनमुत काकदन्तपरीक्षावन्निष्प्रयोजनम्' – ततश्च संशयादनुपन्यस्ते प्रयोजनवाक्ये प्रयोजनसामान्यार्थिनः प्रवर्त्तन्ताम्; प्रयोजनविशेषे तु कथमश्रुतप्रयोजनवाक्यानां संशयोत्पत्तिः ? प्रायेण च प्रयोजनविशेषविषयस्यैव संशयस्य प्रवृत्तिकारणत्वात् तदुत्पादनायादिवाक्यमुपादेयम् अतश्च प्रयोजनसामान्यविशेषेषु संशयानाः 'किमिदं सप्रयोजनमुत निष्प्रयोजनम् सप्रयोजनत्वेऽपि किमभिलषितेनैव प्रयोजनेन तद्वत्' इति पक्षपरामर्शं कुर्वाणाः प्रवर्तन्ते । असदेतत् - कुतश्चिच्छास्त्रादनुभूतप्रयोजनविशेष-श्रोतारं प्रति प्रयोजनवाक्यस्यानुपयोगात् – स हि किञ्चिच्छास्त्रमुपलभ्य प्रागनुभूतप्रयोजनविशेषेण शास्त्रेणाऽस्य वाक्यात्मकत्वेन साधर्म्यमवधार्य 'इदमपि निष्प्रयोजनम् उताऽनभिमतप्रयोजनवत् उताऽभीष्टप्रयोजनवद्वा' इत्याशङ्कमानः प्रयोजनवाक्यमन्तरेणाऽपि प्रवर्त्तत एव अननुभूतप्रयोजनविशेषस्तु प्रयोजनवाक्यादपि नैव प्रवर्त्तते, तं प्रति तस्यापि तदुत्पादकत्वाऽयोगात् – न हि प्रागननुभूतशास्त्रप्रयोजनविशेषः 'प्रयोजनप्रतिपादकं वाक्यमेतदर्थम्' इत्यपि प्रतिपत्तुं समर्थोऽपरप्रयत्नमन्तरेण ।

नाप्यनुभूत-विस्मृतप्रयोजनविशेषः प्रयोजनवाक्यात् संस्मृत्य तद्विशेषः संशयानः प्रवर्त्तते, तद्रहितशास्त्रादपि तद्विशेषे स्मृतिसम्भवात् । नियमेन तु नोभाभ्यामपि तदनुस्मरणं भवति, तथापि प्रयोजनवाक्य-

---

में ऐसा संशय हो सकता है कि ''यह शास्त्र चिकित्साशास्त्र की भाँति सप्रयोजन है या कौए के दाँतो की परीक्षा की भाँति निष्प्रयोजन है ?'' प्रयोजनवाक्य का उपन्यास न होने पर भी सामान्य प्रयोजन के अर्थी लोग उक्त संशय से प्रेरित हो कर प्रवृत्त होते हैं यह बात तो संगत है; किन्तु जो लोग विशेष प्रयोजन के अर्थी है उनको प्रयोजनवाक्य विना सुने संशय ही कैसे होगा ? मुख्यरूप से तो वही संशय प्रवृत्तिप्रेरक होता है जो विशेषप्रयोजनविषयक हो, अतः प्रवृत्तिकारक संशय को जगाने के लिये आदिवाक्य का उपन्यास करना चाहिये । आदिवाक्य का उपन्यास होने पर सामान्य या विशेष किसी भी प्रकार के प्रयोजन में संदेह रखनेवाले लोग ऐसे भिन्न भिन्न पक्ष के बारे में विमर्श कर सकते हैं कि 'यह शास्त्र सप्रयोजन है या निष्प्रयोजन ? अथवा सप्रयोजन होने पर भी क्या यह अपने वांछित प्रयोजनवाला है या उससे विपरीत ?! ऐसा विमर्श करके ये लोग शास्त्रश्रवण में प्रवृत्ति करते हैं ।—

तो सार्थकतावादी की यह बात असत् है, कारण, जिस श्रोता को किसी शास्त्र से प्रयोजनविशेष की उपलब्धि हो गयी है उस के लिये प्रयोजनवाक्य किसी उपयोग का नहीं है । जैसे देखिये – किसी श्रोता को पहले कोई एक शास्त्र मिल गया, उस शास्त्र के पठन से प्रयोजनविशेष भी अवगत हो गया है । आप के शास्त्र में और पूर्वपठित उस शास्त्र में वाक्यसमूहात्मकत्वरूप साधर्म्य तो है ही, उस साधर्म्य का पता चलने पर उस श्रोता को यह आशंका होना सहज है कि 'जैसे पूर्वपठित शास्त्र सप्रयोजन था वैसे यह शास्त्र भी क्या सप्रयोजन है या निष्प्रयोजन ? अथवा हमारा अभिमत प्रयोजन उसमें है या अनभिमत ? ऐसी आशंका होने पर, प्रयोजनवाक्य ग्रन्थनिवद्ध न होने पर भी वह श्रोता उसमें प्रवृत्ति करता है । मान लो कि किसी श्रोता को प्रयोजनविशेष का पूर्वानुभव है ही नहीं, तो भी प्रयोजनवाक्य निरर्थक है, चूँकि वैसे श्रोता को तो ग्रन्थनिवद्ध प्रयोजनवाक्य से उक्त ढंग की आशंका उत्पन्न होने का संभव ही नहीं । जव तक उस श्रोता को दूसरे किसी माध्यम से प्रयोजनविशेष का बोध प्राप्त नहीं है, तब लग प्रयोजनविशेषबोधशून्य व्यक्ति, इस ग्रन्थ के 'प्रयोजनवाक्य का ऐसा अर्थ है' इस प्रकार समझने में समर्थ नहीं रहता ।

स्य ततः स्मृतिहेतुत्वतः उपन्यासेऽन्यस्यापि तद्धेतोः किं नोपन्यासः ? सामान्यविशेषयोश्च दर्शनाऽदर्शनाभ्यां विशेषस्मरणसहकारिभ्यां संशयः, न च प्रयोजनवाक्यं प्रयोजनविशेषस्य भावाऽभावयोः सामान्यम् । अथ विवक्षापरतन्त्रत्वात् स्वार्थतथाभावाऽतथाभावयोरपि प्रयोगसम्भवात् सामान्यमेव वाक्यम्—शास्त्रमपि तर्हि शास्त्रान्तरसादृश्यात् प्रयोजननिर्वृत्त्युपायत्वाऽनुपायत्वयोः सामान्यम्— अन्यतरनिश्चयनिमित्ताभावात्—ततः संशयानः प्रवर्त्तताम् किमकिञ्चित्करप्रयोजनवाक्येन ? न च सामान्यस्य विशेषस्य च दर्शनाऽदर्शनाभ्यामेव यथोक्ताभ्यां संशयः किन्तु साधक-बाधक-प्रमाणाऽप्रवृत्तावपि, सा च प्रयोजनवाक्योपन्यासाऽनुपन्यासयोरपि सम्भवत्येव ।

★ प्रयोजन या शास्त्र से विशेषस्मृति ? ★

यदि कहा जाय कि – "पूर्वकाल में जिसने विशेषप्रयोजन का अनुभव किया है किन्तु वर्त्तमान में विस्मरण हो गया है ऐसे आदमी को प्रयोजनवाक्य से पुनः उस का स्मरण हो जाने पर प्रयोजनविषयक संशय हो जायेगा – और उस संशय से उसकी शास्त्र में प्रवृत्ति होगी – इस रीति से प्रयोजनवाक्य सार्थक बनेगा" – तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि प्रयोजनवाक्य शास्त्र में न रहने पर भी अन्य किसी चित्रदर्शनादि हेतु से अथवा प्रयोजनवाक्यशून्य शास्त्र से भी विशेषप्रयोजनविषयक स्मृति हो सकती है, फिर प्रयोजनवाक्य तो निरर्थक ही रहा । ऐसा तो कुछ है नहीं कि "प्रयोजनवाक्यशून्य शास्त्र से प्रयोजनस्मरण अवश्यंभावि नहीं है जबकि प्रयोजनवाक्य से वह अवश्य भावि है" । फिर क्या कारण है कि प्रयोजनस्मरण के हेतुरूप में ग्रन्थ में प्रयोजनवाक्य का तो विन्यास किया जाय और चित्रादि अन्य हेतुओ का विन्यास न किया जाय ? संशय की उत्पत्ति उसी दशा में होती है जब कि विषयगत विशेष का दर्शन न होता हो, सामान्यतत्त्व का ही दर्शन हो सकता हो और विशेष का स्मरण सहकारिरूप में उपस्थित हो - जैसे कि स्थाणुत्व या पुरुषत्व रूप विशेष का दर्शन न हो, ऊर्ध्वस्थायितारूप सामान्य का दर्शन हो और स्थाणुत्वादि विशेष का स्मरण हो जाय तब 'यह ठूंठ है या पुरुष' ऐसा संशय पड़ जाता है । प्रस्तुत में प्रयोजनवाक्य यह कोई सामान्यतत्त्वरूप नहीं है जिससे कि प्रयोजन के सद्भाव या अभाव के विषय में संशय का प्रादुर्भाव हो सके ।

यदि ऐसा कहे कि – शास्त्र में स्वार्थ यानि प्रयोजन का सद्भाव हो या अभाव हो, दोनों स्थिति में प्रयोजनवाक्य के प्रयोग का पूरा पूरा सम्भव है क्योंकि वाक्यप्रयोग वक्ता की इच्छा को अधीन होता है । इस तरह प्रयोजनवाक्य को ही सामान्यतत्त्वरूप मान कर उसके ज्ञान से प्रयोजन सद्भाव-अभाव के विषय में संशय का उत्थान हो सकेगा । – तो इसके सामने यह भी कह सकते हैं कि शास्त्र भी सप्रयोजन या निष्प्रयोजन अन्यशास्त्र के तुल्य होने से प्रयोजनप्राप्ति का उपायत्व और अनुपायत्व दोनों विशेष के बीच शास्त्र ही सामान्यतत्त्व बन गया, और वहाँ उपायत्व या अनुपायत्व दोनों में से किसी का भी निश्चय करने की सामग्री नहीं है - तो उस दशा में शास्त्ररूप से प्रवृत्ति भी होगी, फिर निरर्थक प्रयोजनवाक्य का उपन्यास करने से क्या फायदा ?

दूसरी बात यह है कि विशेष का अदर्शन और सामान्य का दर्शन-इतने मात्र से संशय नहीं पड़ता, किन्तु उस समय किसी एक कोटि के साधक या बाधक प्रमाण की प्रवृत्ति का विरह भी होना चाहिये । अन्यथा उस साधक-बाधक प्रमाण से किसी एक कोटि का होने का या नहीं होने का निश्चय ही प्रवृत्त हो जायेगा । अब चाहे प्रयोजनवाक्य का उपन्यास करे या न करे, यथाविध प्रमाण का यदि विरह रहेगा तो संशय पड़ जायेगा,

— मा भूत् संशयोत्पादनेन वाक्यस्य शास्त्रश्रवणादिप्रवृत्तौ सामर्थ्यम्, किन्तु प्रकरणारम्भप्रतिषेधाय 'नारब्धव्यमिदं प्रकरणम्, अप्रयोजनत्वात्, काकदन्तपरीक्षावत्' इति व्यापकानुपलब्धेरसिद्धतोद्भावनाय तदुपन्यासः— इति चेत् ? एतदप्यसद्, यतः शास्त्रप्रयोजनं वाक्येनाऽप्रदर्शयता तदसिद्धिरुद्भावयितुमशक्या, वाक्यस्याऽप्रमाणतया प्रयोजनविशेषसद्भावप्रकाशनसामर्थ्याभावात् ।

न च सप्रयोजनत्वेतरयोः परस्परपरिहारस्थितयोः कुतश्चित् प्रमाणादेकभावाऽप्रतिपत्तावितराभावप्रतिपत्तिः – अतिप्रसंगात् – येन वाक्यमात्रस्योपक्षेपेण हेतोरसिद्धिः स्यात् ! नाऽपि कुतश्चित् प्रयोजनविशेषमुपलभ्य(भ)मानेन स्वयमुपलब्धप्रयोजनविशेषोपलम्भोपायमप्रदर्शयता कर्त्तुं शक्या असिद्धतोद्भावना, वाक्यस्याऽप्रमाणस्य हेतुप्रतिपक्षभूतार्थोपस्थापनाऽशक्तस्योपन्यासमात्रेणाऽसिद्धेरयोगात् । नाप्यनिबन्धना प्रतिपत्तिः अतिप्रसंगात् ।

अथ यद्यप्यप्रमाणत्वाद् विपरीतार्थोपस्थापनमुखेनाऽसिद्धतामिदं नोद्भावयति तथापि शास्त्रस्य निष्प्रयोजनता संदिग्धाऽतः, संदिग्धनिष्प्रयोजनत्वस्य शास्त्रस्य प्रयोजनाऽभावं निश्चितं प्रेक्षावदारम्भप्रतिषेधहेतुं प्रयुञ्जानोऽनेन वाक्येन प्रतिक्षेप्तुमिष्टः न पुनः प्रयोजनविषयनिश्चय एवोत्पादयितुमिष्टः । न हि प्रतिपक्षोप-

---

उससे प्रवृत्ति होगी, फिर प्रयोजनवाक्य का उपन्यास क्यों किया जाय ?

☆ आदिवाक्य प्रकरणारम्भायोग्यता अनुमान हेतुअसिद्धता का सूचक ★

यदि ऐसा कहें कि – संशयजनन द्वारा शास्त्रश्रवणविषयक प्रवृत्ति कराने के लिये आदिवाक्य को समर्थ न मानना हो तो मत मानिये । फिर भी उसका उपन्यास प्रतिवादी के एक अनुमान का निरसन करने के लिये आवश्यक है । प्रतिवादी प्रकरणारम्भ का निषेध करने के लिये ऐसा अनुमान प्रस्तुत करते हैं कि – ''यह (प्रस्तुत) प्रकरण आरम्भ करने लायक नहीं है, क्योंकि वह प्रयोजनशून्य है जैसे कौए के दाँतो की परीक्षा (निःप्रयोजन होने से आरम्भ करने लायक नहीं होती)'' – इस अनुमान में आरंभ योग्यता की व्यापकीभूत प्रयोजनवत्ता [जहाँ आरम्भयोग्यता होती है वहाँ प्रयोजनवत्ता अवश्य होती है इस प्रकार प्रयोजनवत्ता व्यापक है, उस] की अनुपलब्धि को हेतु बनाया गया है । इस हेतु में असिद्धता दोष का उद्‌भावन करने के लिये – यानी प्रस्तुत प्रकरण प्रयोजनशून्य नहीं है यह दीखाने के लिये आदिवाक्य का उपन्यास करना निर्दोष है —

तो यह भी ठीक नहीं है – क्योंकि वाक्य कोई ऐसा ठोस प्रमाण ही नहीं है, प्रमाणरूप न होने से ही उसमें प्रयोजनविशेष के अस्तित्व को प्रगट करने का सामर्थ्य भी नहीं हो सकता । तब उससे अनुमानहेतु की असिद्धता का निरूपण कैसे हो सकेगा ? तथा, सप्रयोजनत्व और निष्प्रयोजनत्व दोनों एक दूसरे को छोड कर रहनेवाले धर्म हैं । इस लिये, जब तक किसी एक प्रमाण से उन दोनों में से एक के सद्भाव का उपलम्भ न हो जाय तब लग दूसरे के अभाव का ज्ञान नहीं हो सकता । यदि हो जाय तो यह अतिप्रसंग होगा कि एक-दूसरे को छोड कर रहनेवाले दो धर्मों गोत्व-अश्वत्वादि में से, कोई एक प्रमाण से किसी एक गोत्वादि का उपलम्भ न होने पर भी अश्वत्व के अभाव का उपलम्भ हो जायेगा । प्रस्तुत में वाक्य जब प्रमाणभूत ही नहीं है तो उससे किसी एक (सप्रयोजनत्व) धर्म के उपलम्भ का भी सम्भव नहीं है तो फिर वाक्य के उपन्यास से व्यापकानुपलब्धिरूप हेतु को असिद्ध कैसे ठहराया जा सकता है ?!

सम्भव है कि आपको किसी ओर प्रमाण से प्रयोजन विशेष का उपलम्भ हो भी गया हो, किन्तु जब

क्षेपेणैव साधनधर्माणामसिद्धिः अपि तु स्वग्राहिज्ञानविकलतया संदिग्धधर्मिसम्बन्धित्वमप्यसिद्धत्वमेव, तस्मात् संदिग्धाऽसिद्धतोद्भावनाय वाक्यप्रयोग इति—

तदप्यनुपपन्नम्, यथा हि सप्रयोजनत्वे संदेहोत्पादने वाक्यस्यानुपयोगित्वम् – शास्त्रमात्रादपि भावात् – तथा निष्प्रयोजनत्वेऽपि; एवं ह्यनेन वाक्येन हेतोरसिद्धतोद्भाविता भवति यदि तत्सत्तासंदेहनिबन्धनानि कारणान्यपि तदैव प्रकाशितानि भवन्ति । न च विपर्यस्तपुरुषसंदेहोत्पादने तद् वाक्यं प्रभवति, अदर्शनात् । न च प्रस्तुतशास्त्रस्य प्रयोजनवच्छास्त्रान्तरेण कथञ्चित् साम्यात् साधक-बाधकप्रमाणाऽप्रवृत्तितश्चान्यानि संदेहकारणानि सम्भवन्ति, वाक्यमप्येतावन्मात्रप्रकाशनपरं हेतोः संदिग्धाऽसिद्धतामुद्भावयेत्, तच्च तथा

तक स्वयमुपलब्ध प्रयोजन विशेष का अन्य को उपलम्भ कराने के लिये आप किसी ठोस उपाय का निदर्शन न करें तब तक अन्य के प्रति आप निष्प्रयोजनत्व हेतु की असिद्धि का उद्भावन कर नहीं सकते । कदाचित् वाक्य को ही उपाय समझ कर आप उसका निदर्शन करे, फिर भी वाक्य तो अप्रमाण है इसलिये निष्प्रयोजनत्व हेतु के विपक्षभूत सप्रयोजनत्व का प्रतिपादन करने में उसकी गुंजाईश ही जब नहीं है तो वाक्य के उपन्यास मात्र से निष्प्रयोजनत्व हेतु की असिद्धि नहीं हो सकती । बिना उपाय ही अन्य को सप्रयोजनत्व का उपलम्भ हो जाय यह तो सम्भव ही नहीं है, सम्भव हो तब तो सारे विश्व का उपलम्भ भी बिना उपाय क्यों न हो जाय ?!

★ आदिवाक्य संदिग्धासिद्धता दिखाने के लिये ★

अब प्रयोजनवाक्यसफलतावादी कहता है – मान लो कि वाक्य प्रमाणभूत नहीं है इसलिये निष्प्रयोजनत्व के विपरीत सप्रयोजनत्वरूप अर्थ को उपस्थित करने द्वारा निष्प्रयोजनत्व हेतु में असिद्धता का उद्भावन प्रयोजनवाक्य नहीं कर सकता । फिर भी प्रयोजनवाक्य से 'शास्त्र निष्प्रयोजन है' इस बात में संदेह तो पैदा हो सकता है । इस प्रकार जिस शास्त्र में प्रयोजनाभाव ही संदेहग्रस्त है उस शास्त्र में प्रेक्षावानों को प्रवृत्ति का निषेध करने के लिये मानो निश्चित हो इस रूप में प्रयोजनाभाव को हेतुरूप से यदि प्रयोग किया जाय तो वहाँ संदिग्ध असिद्धता को दिखा कर उसका प्रतिक्षेप करना यही हमारा अभिमत है । प्रयोजनसद्भाव का निश्चय पैदा कराना - यह हमारा अभिमत है ही नहीं । ऐसा नहीं है कि सप्रयोजनत्व रूप प्रतिपक्ष का उपक्षेप यानी निश्चय होने पर ही निष्प्रयोजनत्वरूप साधनधर्म यानी हेतु असिद्ध कहा जा सके; तब भी हेतु असिद्ध कहा जा सकता है जब पक्ष में हेतु का ग्राहक कोई प्रमाण न होने से हेतुगतरूप से पक्ष यानी धर्मी ही संदिग्ध हो जाय तो ऐसे संदिग्धधर्मी के संबन्धीरूप में उपन्यस्त हेतु भी असिद्ध ही गिना जाता है । यहाँ प्रस्तुत में जब प्रयोजनाभाव का निश्चायक कोई प्रमाण ही नहीं है तब प्रयोजनवाक्य का प्रयोग करने से हेतु में संदिग्ध असिद्धता दिखायी जा सकती है ।

प्रयोजनवाक्यनिष्फलतावादी कहता है – कि यह भी घट सके ऐसा नहीं है । पहले ही कह आये हैं कि वाक्य सप्रयोजनत्व के संदेह को पैदा करने के लिये अनुपयोगी है क्योंकि सिर्फ शास्त्रों से भी सप्रयोजनत्व का संदेह पैदा हो सकता है, ऐसे ही निष्प्रयोजनत्व का संदेह भी सिर्फ शास्त्र से ही हो सकता है फिर वाक्य की क्या जरूर ? हाँ, प्रयोजन के सद्भाव के विषय में संशय के अनेक कारणों की भी प्रयोजनवाक्यप्रयोग के साथ ही उपस्थिति की जाती है तो उस दशा में प्रयोजनवाक्य से हेतु की असिद्धि का उद्भावन किया

प्रकाशनमनुपन्यस्तेऽपि वाक्ये शास्त्रमात्रादपि दर्शनात् प्रमाणद्वयाऽवृत्तेश्च भवतीति कस्तस्योपयोगः ? 'अनुपन्यस्ते कथं तत्' इति चेत् ? उपन्यस्तेऽपि कथम् ? न हि तदुपन्यासाऽनुपन्यासावस्थयोः संदिग्धत्वात् प्रस्तुतात् कथञ्चन विशेषं पश्यामः । 'असिद्धतोद्भावनमनेन न्यायेन सर्वमेवाऽसंगत'मिति चेत् ? नैतत्, न ह्यनेन प्रकारेणाऽसिद्धतोद्भावनमेव प्रतिक्षिप्यते, किन्तु प्रमाणरहिताद् वाङ्मात्रादसिद्धता नोद्भावयितुं शक्येति प्रदर्श्यते । तन्न प्रयोजनवाक्यं हेत्वसिद्धतोद्भावनार्थमपि युक्तम् ।

न च परोपन्यस्ते साधने प्रयोजनवाक्येनाऽसिद्धतामुद्भाव्य 'कथमसिद्धिः साधनस्य' इति प्रत्यवस्थानवन्तं शास्त्रपरिसमाप्तेः प्रयोजनमवगमयन् शास्त्रं श्रावयति ततः समधिगते प्रयोजने तदुपन्यस्तस्य साधनस्याऽसिद्धिरिति वक्तुं शक्यम्, शास्त्रश्रवणतः प्रयोजनावगमे शास्त्रस्यादौ तद्वाक्योपन्यासस्य वैयर्थ्यप्रसक्तेः ।

जा सकता है । किन्तु जिस पुरुष को निष्प्रयोजनत्व के विषय में दृढ विपर्यास हो गया है ऐसे पुरुष को संदेह उत्पन्न करने में वाक्य समर्थ नहीं बन सकता है क्योंकि ऐसा देखा नहीं जाता कि विपर्यास वाले पुरुष को प्रयोजनवाक्य से संशय होता हो । प्रयोजन के विषय में संदेह पैदा करने वाले कारण तो ये ही हैं – प्रयोजनयुक्त अन्य शास्त्र का प्रस्तुत शास्त्र में कुछ कुछ साम्य, और साधक-बाधक प्रमाण द्वय का अनुदय, इस से अन्य कोई संशयोत्पादक कारण नहीं हैं, इस स्थिति में वाक्य भी इन कारणों की उपस्थिति करने द्वारा ही संशय का जनक हो कर संदिग्ध असिद्धता का आपादक हो सकता है । किंतु ऐसा नहीं है कि इस कारणों की उपस्थिति सिर्फ वाक्य से ही होती हो, साधक-बाधक प्रमाणद्वय अनुत्थित रहने पर केवल शास्त्र के दर्शन से भी संशय का उद्भव हो सकता है, फिर वहाँ प्रयोजनवाक्य की क्या जरूर ?

प्रश्न : 'प्रयोजन वाक्य का उपन्यास ही न होगा तो वहाँ संदिग्धअसिद्धता का उद्भावन भी कैसे होगा ?'

उत्तर : प्रयोजनवाक्य के होने पर भी वह कैसे हो सकेगा ? चाहे वाक्य का उपन्यास करे या न करे, दोनों स्थिति में अगर सप्रयोजन शास्त्रान्तर के साथ साम्यदर्शन और साधकबाधक प्रमाण का अनुदय रहेगा तो प्रस्तुत संदिग्धता के होने में कुछ भी अन्तर नहीं दीखता ।

प्रश्न : अगर सर्वत्र ऐसा ही न्याय मानेंगे तब तो असिद्धता का उद्भावन कहीं भी नहीं हो सकेगा क्योंकि जिस के द्वारा असिद्धता का उद्भावन किया जायेगा उस को इसी रीति से निष्फल बताया जा सकेगा ।

उत्तर : आप जिस रीति से असिद्धता का उद्भावन करना चाहते हैं, उस में हम रुकावट नहीं करते, हम तो सिर्फ इतना ही दीखाना चाहते हैं कि प्रमाणशून्य वचनमात्र से ही असिद्धता का उद्भावन नहीं किया जा सकता है ।

सारांश, प्रयोजन वाक्य हेतु की असिद्धता उद्भावित करने के लिये है – यह बात युक्त नहीं है ।

सार्थकतापक्षी : शास्त्रमें निष्प्रयोजनता की सिद्धि के लिये जब प्रतिवादी किसी साधन का उपन्यास करेगा तो हम प्रयोजनवाक्य के प्रतिपादन से उस के साधन में असिद्धि का उद्भावन कर सकेंगे । इस के सामने वह अवश्य पूछेगा कि 'मेरा साधन असिद्ध कैसे ?' तब शास्त्र के अन्त तक प्रयोजन का बोध कराते हुये पूरा शास्त्र सुना देंगे । शास्त्र श्रवण से उस को प्रयोजन का बोध हो जाने पर यह भान हो जायेगा कि उस के द्वारा निष्प्रयोजनता की सिद्धि के लिये उपन्यस्त साधन असिद्ध है । इस प्रकार असिद्धि के प्राथमिक उद्भावन में प्रयोजनवाक्य सार्थक हो जायेगा ।

अत एव "शास्त्रार्थप्रतिज्ञाप्रतिपादनपरः आदिवाक्योपन्यासः" [ ] इत्याद्यपि प्रतिक्षिप्तम्, अप्रमाणादादिवाक्यात् तदसिद्धेः । तथा, सम्बन्धाऽभिधेयप्रत्यायनपराण्यपि वाक्यानि शास्त्रादौ वाङ्मात्रेण निश्चयाऽयोगान्निष्प्रयोजनानि प्रतिक्षिप्तान्येव, उक्तन्यायस्य समानत्वात् । तदयुक्तम् – 'समय'० इत्यादि-अभिधेयप्रयोजनप्रतिपादकम् गाथासूत्रम् ।

[आदिवाक्यस्य सार्थकता – उत्तरपक्षः]

अत्र प्रतिविधीयते – यदुक्तम् 'न प्रत्यक्षमनुमानं वा शब्दः' तत्र सिद्धसाध्यता, प्रत्यक्षानुमानलक्षणाऽयोगात् तत्र । यच्च 'नापि शब्दः प्रमाणम् बहिरर्थे तस्य प्रतिबन्धवैकल्येन, विवक्षायां तु प्रतिबन्धेऽपि यथाविवक्षमर्थाऽसम्भवात्' तदप्यसारम् बाह्यार्थेन शब्दप्रतिबन्धस्य प्रसाधयिष्यमाणत्वात् तत्रैव च प्रतिपत्ति-प्रवृत्त्यादिव्यवहारस्योपलभ्यमानत्वाद् बाह्यार्थे एव शब्दस्य प्रामाण्यमभ्युपगन्तव्यं प्रत्यक्षवत् ।

निरर्थकतापक्षी : ऐसा आप नहीं कह सकते । कारण, अगर शास्त्र के श्रवण से भी इस प्रकार प्रयोजनबोध शक्य है तो फिर शास्त्र के प्रारम्भ में प्रयोजनवाक्य का उपन्यास करने से क्या फायदा ? प्रयोजनवाक्य तो व्यर्थ ही साबित हुआ । और इसलिये कुछ लोग जो यह कहते हैं कि "आदि वाक्य का उपन्यास शास्त्रगत प्रयोजन की प्रतिज्ञा का निर्देश करने वाला है" यह भी निराकृत हो जाता है, चूँकि वाक्य का प्रामाण्य असिद्ध है, अत एव आदिवाक्य भी अप्रमाणभूत होने से, उस के द्वारा किसी भी प्रतिज्ञा का निर्देश हो नहीं सकता ।

उपरोक्त रीति से जब प्रयोजनसूचक आदिवाक्य स्वयं निष्प्रयोजन होने से निराकृत हो गया तो उसी प्रकार शास्त्र के प्रारम्भ में सिर्फ वचनमात्र से सम्बन्ध का या अभिधेय अर्थ का प्रतिपादन करने के लिये उपन्यास किये गये वाक्य भी तत्तदर्थ के निश्चायक न होने के कारण सप्रयोजन सिद्ध न होने से निराकृत हो जाते हैं, क्योंकि उनको भी अप्रमाणभूत सिद्ध करने वाली युक्ति यहाँ भी समानरूप से सम्बद्ध है । सारांश अभिधेय और प्रयोजन के प्रतिपादनार्थ कहा गया समयवित्थर...इत्यादि आप का द्वितीय गाथासूत्र अयुक्त सिद्ध होता है । [पूर्वपक्ष समाप्त]

★ उत्तरपक्ष – आदिवाक्य सार्थक है ★

अब यहाँ आदिवाक्य की सार्थकता को सिद्ध करने के लिये निरर्थकतावादी की ओर से प्रयुक्त वाद का प्रतिवाद किया जाता है ।

वादीने जो पहले कहा था कि शब्द यह कोई प्रत्यक्ष प्रमाण या अनुमानप्रमाण रूप नहीं है – यह तो हमारे सिद्ध मत को ही आपने समर्थन कर दिया चूँकि प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों में से किसी भी प्रमाण का लक्षण शब्दप्रमाण में मौजूद नहीं है । यह जो आपने कहा है – शब्द स्वयं कोई प्रमाणरूप नहीं है, क्योंकि शब्द का अर्थ के साथ कोई प्रतिबन्ध = सम्बन्ध ही नहीं है । कदाचित् विवक्षा के साथ शब्द का सम्बन्ध मान ले, फिर भी विवक्षा के अनुसार बाह्य में अर्थ का सद्भाव कभी नहीं होता, इस लिये शब्द का विवक्षा के द्वारा भी प्रामाण्य नहीं बन सकता – यह कथन भी निस्सार है । कारण, शब्द का बाह्य अर्थ के साथ सार्वत्रिक प्रतिबन्ध मौजूद है यह आगे जरूर सिद्ध किया जाने वाला है । उपरांत, जिस अर्थ की विवक्षा से शब्द का प्रयोग किया जाता है उसी अर्थ का शब्द से बोध होता है और उसी अर्थ में श्रोता की प्रवृत्ति आदि व्यवहार भी होता है, यह [illegible] इसलिये शब्द को बाह्य अर्थ के [illegible]

न चार्थाऽव्यभिचारित्वप्रामाण्यनिश्चयवता ततः प्रवर्तमानानां प्रेक्षापूर्वकारिताक्षतिः । न चानाप्तप्रणीत'सरित्तटपर्यस्तगुडशकट'वाक्यविशिष्टतानवगमाद् नातः प्रवृत्तिः, प्रत्यक्षाभासात् प्रत्यक्षस्येवाऽनाप्तप्रणीतवाक्यादस्य विशिष्टतावसायात्, यस्य तु न तद्विशिष्टावसायो नासावतः प्रवर्त्तते अनवधृतहेत्वाभासविवेकाद्धेतोरिवाऽनुमेयार्थक्रियार्थी । न चाप्तानां परहितप्रतिबद्धप्रयासानां प्रमाणभूतत्वात् स्ववाङ्मात्रेण प्रवर्त्तयितुं प्रभवता प्रयोजनवाक्योपन्यासवैयर्थ्यम्, सुनिश्चिताप्तप्रणीतवाक्यादपि प्रतिनियतप्रयोजनार्थिना तदुपायाऽनिश्चये तत्र प्रवृत्त्ययोगात् । न च प्रयोजनविशेषप्रतिपादकवाक्यमन्तरेणाप्तप्रणीतशास्त्रस्यापि तद्विशेषप्रतिपादकत्वनिश्चयः येन तत एव तदर्थिनां तत्र प्रवृत्तिः स्यात्, तदनभिमतप्रयोजनप्रतिपादकानामपि तेषां सम्भवात् ।

ही चाहिये, जैसे प्रत्यक्ष को माना जाता है ।

☆ आप्त-अनाप्त के वाक्यों में विशेषता का बोध ☆

शब्द से प्रवृत्ति करने वाले में बुद्धिपूर्वक कार्यकारित्व गुण की क्षति का निरूपण भी ठीक नहीं, क्योंकि जिन शब्दों में अर्थाविसंवादित्वरूप प्रामाण्य का निश्चय हो जाय उन शब्दों से प्रेरणा पा कर प्रवृत्ति करने वाले प्रेक्षावान् पुरुषवर्ग बुद्धिपूर्वक ही प्रवृत्ति करते हैं । यदि ऐसा कहें कि – ''कोई अनाप्त विश्वासहीन पुरुष नदीतट पर गुडपूर्ण बैलगाडा खडा है जिस को चाहे वह ले आवे–ऐसा बोल दे तो उस के वाक्य से कोई गुड लेने के लिये दौडने की प्रवृत्ति नहीं करता है । ठीक उसी तरह आपके अभिमत आप्तपुरुष के बोल में भी अनाप्त पुरुष भाषित बोल से कुछ भी तफावत मालूम न पडने से, उस के वाक्य से भी किसी की प्रवृत्ति हो नहीं सकेगी'' – तो यह भी सच नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्ष और प्रत्यक्षाभास इन दोनों के तफावत को जैसे लोग जान लेते हैं वैसे ही आप्त पुरुष के और अनाप्त पुरुष के वाक्यों में भी बुद्धिमान् लोग तफावत जान ले सकते हैं । हाँ, इतना सच है कि जिस व्यक्ति को तफावत का बोध न होगा वह उस वाक्य से प्रवृत्ति नहीं करेगा, उदा०– अनुमेय अर्थ से साध्य अर्थक्रिया का अर्थी होने पर भी जिस को हेतु में हेतु-आभासभिन्नता का बोध नहीं रहेगा उस की उस अनुमेय अर्थ में प्रवृत्ति नहीं होगी क्योंकि उस को अपनी अनुमिति का हेतु सद्धेतु है या असत् है उस में संदेह होने से अनुमिति के प्रामाण्य में भी संदेह रहेगा ।

यदि ऐसा कहें कि – ''आप्त पुरुष तो दूसरों के हित करने में सदा तत्पर, प्रयत्नशील रहते हैं और वे स्वतः प्रमाणभूत होने का लोगों को विश्वास भी रहता है, अतः वे तो अपने वचनमात्र से दूसरों को तत्तत् कार्यों में प्रवृत्ति करने की क्षमता रखते हैं, ऐसी स्थिति में प्रयोजन के सूचक वाक्य का उपन्यास करना व्यर्थ हैं ।''– तो यह भी ठीक नहीं है । कारण, आप्त पुरुष का वाक्य चाहे कितना भी सुनिश्चित प्रामाण्यवाला हो, किन्तु जिस व्यक्ति को अपना कुछ न्यारा ही प्रयोजन है उस व्यक्ति को जब तक 'वह आप्तकथित वाक्य स्वप्रयोजन का उपाय है' ऐसा निश्चय किसी प्रयोजनवाक्यादि से न होवे, तब तक कैसे वह अपने प्रयोजन के लिये प्रवृत्ति करेगा ? प्रयोजनविशेष के सूचक वाक्य के विना 'आप्तकथित शास्त्र अपने इष्ट प्रयोजनविशेष का व्युत्पादक है,' ऐसा निश्चय ही नहीं हो सकता तो फिर उस शास्त्र से उस प्रयोजन के अर्थियों की उस प्रयोजन के लिये प्रवृत्ति होने की संभावना ही कहाँ रही ? शास्त्रों तो अनेक है उन में कुछ ऐसे भी हो सकते हैं जिनमें अपने इष्ट प्रयोजन का व्युत्पादन न भी किया गया हो । हर कोई शास्त्र अपने इष्ट प्रयोजन का ही व्युत्पादक हो ऐसा कोई नियम नहीं है ।

अतः – यत्र खल्वाप्तैः 'इदं कर्त्तव्यम्' इति पुरुषाः प्रतीततदाप्तभावाः नियुज्यन्ते तत्रावधीरिततत्प्रेरणाऽतथाभावविषयविचारास्तदभिहितवाक्यमेव बहु मन्यमाना अनादृतप्रयोजनपरिप्रश्ना एव प्रवर्त्तन्ते, विनिश्चिततदाप्तभावानां प्रत्यवस्थानाऽसंभवात् – इति निरस्तम्, आप्तप्रवर्त्तितप्रतिनियतप्रयोजनार्थिजनप्रेरणावाक्यस्यैव प्रयोजनवाक्यत्वनिश्चयात् अन्यथाऽभिमतफलार्थिजनप्रेरकवाक्यस्याप्तप्रयुक्तत्वमेवाऽनिश्चितं स्यात् अनभिमतार्थप्रेरकस्यावगताप्तवाक्यत्वे चातिप्रसंगः, न चाप्तवाक्यादपि प्रतिनियतप्रयोजनार्थिनस्तदवगमे तत्र प्रवर्त्तितुमुत्सहन्ते, अतिप्रसंगादेवेति सुप्रसिद्धम् ।

अर्थसंशयोत्पादकत्वेन चादिवाक्यस्य प्रवर्त्तकत्वप्रतिक्षेपे सिद्धतासाधनम्, व्यापकानुपलब्धेस्त्वसिद्धतोद्भा-

★ वाक्य के बिना प्रयोजननिश्चय अशक्य ★

आप्तरचित शास्त्र में भी प्रयोजनविशेषप्रतिपादकत्व का निश्चय प्रयोजनविशेषप्रतिपादकवाक्य के बिना शक्य नहीं है – इसीलिये किसी ने जो यह कहा है कि "जिन लोगों को यह प्रतीति हो जाती है कि 'ये आप्त हैं' – उन लोगों को जब आप्तपुरुषों के द्वारा ऐसी प्रेरणा की जाती है कि 'यह करने जैसा है' – उस वक्त वे लोग यह विचार करने नहीं बैठते कि 'आप्त की यह प्रेरणा यथार्थविषयक है या नहीं ?' वे लोग तो आप्तकथित वाक्य को ही बहुमानपात्र मान कर 'प्रयोजन क्या ?' ऐसे प्रश्नों की झंझट में पडे बिना प्रवृत्त हो जाते हैं । कारण, आप्तपुरुष में आप्तता का निश्चय रहने पर कोई 'ननु न च' की संभावना नहीं होती ।" – ऐसा जो कहा है वह भी अब निरस्त हो जाता है । कारण, यहाँ भी प्रयोजन वाक्य के बिना ही प्रवृत्ति होने का मानना गलती है । हम जिस प्रकार के नियत प्रयोजन के अर्थी हैं उसी प्रयोजन के लिये ही आप्तपुरुष हमें प्रेरणा करते हैं ऐसा दृढ विश्वास होने पर ही प्रयोजनार्थी लोग आप्त के प्रेरणावाक्य को सुन कर प्रवृत्त होते हैं, अतः उन लोगों को उस प्रेरणावाक्य में ही प्रयोजनवाक्यत्व का निश्चय होने से प्रवृत्ति होती है यह मानना होगा । अगर ऐसा नहीं मानेंगे तो 'इष्ट प्रयोजन के अर्थी लोगों को प्रेरणा करने वाला वाक्य आप्तकथित है' ऐसा निश्चय ही हम नहीं कर पायेंगे । तथा, श्रोताओं को प्रेरणा देने वाला आप्त वाक्य 'उनके अवांछित प्रयोजन के लिये प्रेरणा करने वाला भी हो सकता है' ऐसा यदि मानेंगे तो अतिप्रसंग का संभव है । अतिप्रसंग यह है कि अवांछित प्रयोजन के लिये भी श्रोतावर्ग की प्रवृत्ति उस प्रकार से होती रहेगी – और उन की बुद्धिमत्ता क्षीण हो जायेगी । यह तो स्पष्ट है कि अमुक प्रकार के ही प्रयोजन को चाहने वाले को आप्तवाक्य से कदाचित् अनभिमत प्रयोजन का बोध हो जाय तो भी उस के लिये उनको प्रवृत्ति करने का दिल नहीं होता चूँकि अनभिमत प्रयोजन के लिये आप्त की प्रेरणा से प्रवृत्ति मानने पर 'बुद्धिमानों की प्रवृत्ति इष्ट प्रयोजन के लिये ही होती है' इस सत्य का भंग हो जायेगा ।

★ निःप्रयोजनत्वहेतुअसिद्धता का उद्भावन यथार्थ ★

पूर्वपक्षीने जो कहा था कि – 'आदि वाक्य अर्थ के संशय को उत्पन्न करने द्वारा प्रवर्त्तक है, ऐसा नहीं मान सकते' – इस बात को हम भी मानते हैं, इस लिये यह तो हमारे लिये सिद्ध का ही साधन हुआ । हम आदिवाक्य को अर्थसंशय के उत्पादक नहीं किन्तु अर्थनिश्चय का ही उत्पादक मानते हैं । पूर्वपक्षी की ओर से – यह प्रकरण आरम्भ करने जैसा नहीं है क्योंकि निष्प्रयोजन है जैसे काकदन्त परीक्षा – ऐसा व्यापकानुपलब्धिरूप अनुमान प्रस्तुत किये जाने पर उस में निष्प्रयोजनत्व हेतु की असिद्धता को प्रदर्शित करने के लिये व्याख्याकार

वनमादिवाक्यान्निश्चितवाह्यार्थप्रामाण्याद् युक्तमेव, यथा च तत्र तस्या(?स्य) प्रामाण्यं तथा प्रतिपादयिष्यामः । अत एव ''आप्ताऽभिहितत्वाऽसिद्धेरविसंवादकत्वाऽयोगादप्रमाणत्वाऽभावनिश्चयनिमित्ताभावादप्रवर्त्तकत्वं प्रयोजनवाक्यस्य प्रेक्षापूर्वकारिणः प्रति'' [ ] इति यदुच्यते तदपि प्रतिव्यूढं द्रष्टव्यम् । एतेनैव सम्बन्धाभिधानस्यापि सार्थकत्वं प्रतिपादितम् । तत् स्थितमभिधेयप्रयोजनप्रतिपादकत्वं समुदायार्थः 'समय०' इत्यादिगाथासूत्रस्य ।

अत्र च 'आगममलारहृदय'इत्यनुवादेन 'समयपरमार्थविस्तरविहाटजनपर्युपासनसकर्णो यथा भवति तमर्थमुन्नेष्ये' इति विधिपरा पदघटना कर्त्तव्या ।

पदार्थस्तु मलमिव आरा=प्राजनकविभागो यस्यासौ मलारो=गौर्गली, आगमे तद्वत् कुण्ठं हृदयं यस्य–तदर्थप्रतिपत्त्यसामर्थ्यात् – असौ तथा = मन्दधीः, सम्यगीयन्ते परिच्छिद्यन्तेऽनेनार्था इति समय आगमः, तस्य परमोऽकल्पितश्चासावर्थः समयपरमार्थः, तस्य विस्तरो = रचनाविशेषः – शब्दार्थयोश्च भेदेऽपि

का उपन्यास युक्तियुक्त ही है । – पूर्वपक्षीने जो उस का - 'वाक्य अप्रमाण है'.....इत्यादि कह कर खंडन किया है वह ठीक नहीं हैं क्योंकि वाह्यार्थ के विषय में वाक्य का प्रामाण्य सुनिश्चित है । किस तरह वाक्य का प्रामाण्य सुनिश्चित है यह हम आगे दिखायेंगे ।

उपरोक्त रीति से जव आदिवाक्य की सार्थकता सिद्ध है तव यह जो कहा जाता है कि – ''प्रयोजनवाक्य में आप्तकथितत्व सिद्ध नहीं है, अविसंवादिता का योग नहीं है, अप्रामाण्य के अभाव का निश्चायक कोई निमित्त नहीं है, इस लिये वुद्धिपूर्वक कार्य करने वालों के प्रति प्रयोजनवाक्य प्रवर्त्तक नहीं हो सकता'' – यह सव निरस्त हो जाता है ऐसा जान लीजिये । एवं, प्रयोजनवाक्य की सार्थकता के प्रतिपादन से सम्वन्ध और अभिधेय सूचक वाक्य की सार्थकता का भी प्रतिपादन हो जाता है, उस के लिये अलग प्रयत्न करने की आवश्यकता नहीं रह जाती ।

सारांश, समयपरमत्थ.....इत्यादि दूसरे गाथासूत्र का समुदित अर्थ अभिधेय और प्रयोजन का प्रतिपादन है यह निर्वाध सिद्ध होता है ।

इस दूसरी गाथा के पदों का अन्वय विधिपरक करना है, वह इस प्रकार है - 'आगममलारहृदय' यह इतना अंश उद्देश्य रूप है, उस का अनुवाद कर के 'जिस रीति से वह समयपरमार्थ विस्तरविहाटजन की पर्युपासनामें सकर्ण हो ऐसे अर्थों का प्रतिपादन मैं करूँगा' ऐसा विधान किया जाता है । यहाँ 'उन्नेष्ये' इस अर्थ में मूलग्रन्थकारने जो 'उन्नेस्सं' के वदले 'उन्नेसुं' पदप्रयोग किया है वह 'आर्ष' होने से सुयोग्य है ।

★ द्वितीयगाथा का पदार्थ ★

उद्देश्य-विधेयवाक्य में प्रयुक्त पदों का अर्थ इस प्रकार है - मलार यानी जिस के लिये आरा यानी घोचपरोणा करने का साधन विशेष [जिस को प्राजनक कहते हैं] मल यानी शिथिल है अथवा दुर्वल रहता है ऐसा गली वैल । आगमकथित अर्थोको ग्रहण करने में असमर्थ होने से जिस का हृदय आगम के विषय में उस 'मलार' के जैसे कुण्ठ यानी जडताधीन रहता है उस कुण्ठवुद्धि अध्येता का यहाँ 'आगममलारहृदय' शब्द से निर्देश किया है । 'समय' यानी सम्यग् प्रकार से अर्थों का जिससे वोध हो ऐसा आगमशास्त्र । परम यानी अकल्पित ऐसा जो अर्थ वह परमार्थ । समय का परमार्थ इस अर्थ में समास हैं समयपरमार्थ । उस का विस्तर यानी रचनाविशेष [अर्थात् उस परमार्थ की पद्धति] यहाँ वि-उपसर्गवाले स्तृ धातु को 'प्रथने वाव शब्दे' (३-३-३३) इस पाणिनिसूत्र

पारमार्थिकसम्बन्धप्रतिपादनायाऽभेदविवक्षया ''प्रथने वावशब्दे'' [पाणि० ३-३-३३] इति घञ् न कृतः – तस्य विहाटः इति दीप्यमानान् = श्रोतृबुद्धौ प्रकाशमानानर्थान् दीपयति = प्रकाशयतीति विहाटश्चासौ जनश्च = चतुर्दशपूर्वविदादिलोकः तस्य पर्युपासनम् - कारणे कार्योपचारात् - सेवाजनिततद्व्याख्यानं तत्र सह कर्णाभ्यां वर्त्तते इति सकर्णः = तद्व्याख्यातार्थावधारणसमर्थः यथा इति येन प्रकारेण भवति तं तथाभूतमर्थमुन्नेष्ये = लेशतः प्रतिपादयिष्ये ।

यथाभूतेनार्थेन प्रतिपादितेनातिकुण्ठधीरपि श्रोतृजनो विशिष्टागमव्याख्यातृप्रतिपादितार्थावधारणपटुः सम्पद्यते तमर्थमनेन प्रकरणेन प्रतिपादयिष्यामीति यावत् ।

[शब्द-अर्थ-तत्सम्बन्धमीमांसा-पूर्वपक्षः]

ननु च 'समयपरमार्थविस्तर' इत्यनेनागमस्याऽकल्पितो बाह्यार्थः प्रतिपाद्यत्वेन, शब्दार्थयोश्च वास्तवः

से यदि घञ् प्रत्यय किया जाता तो विस्तार शब्द बनता, किन्तु वह प्रत्यय यहाँ नहीं किया है । घञ् प्रत्यय शब्दभिन्न पदार्थों की विस्तीर्णता सूचित करने के लिये किया जाता है । यहाँ भी अर्थों के विस्तर की बात है, शब्दों के नहीं, इसलिये घञ् करना न्याययुक्त था, फिर भी घञ् प्रत्यय नहीं किया, इस का कारण, यह सूचित करना है कि यद्यपि शब्द और अर्थ में कुछ भेद अवश्य है, भेद होने पर भी उन दोनों का सम्बन्ध वास्तविक है काल्पनिक नहीं । इस बात की सूचना देने के लिये ग्रन्थकार ने शब्द और अर्थ के अभेद की विवक्षा की है । इस विवक्षा के अनुसार अर्थ भी शब्दरूप हुए अतः घञ् प्रत्यय नहीं किया है । 'विहाट' का अर्थ है श्रोता की बुद्धि में दीप्यमान यानी स्फुरायमाण अर्थों को प्रकाशित करने वाला । [हैम०धातुपारायण में हट् धातु का दीप्ति- अर्थ कहा है ।] ऐसा 'जन' यानी चौदपूर्ववित्ता आदि बडे विद्वान लोग, उन की पर्युपासना यानी सेवा; किन्तु यहाँ कारण में कार्य का उपचार है इसलिये सेवा द्वारा लब्ध होनेवाला आगम का व्याख्यान - ऐसा अर्थ है । उस व्याख्यान से व्याख्यात अर्थ का अवधारण करने में जो समर्थ हो उस पुरुष को सकर्ण कह सकते हैं क्योंकि वास्तव में वही दो कान वाला है । 'यथा' का अर्थ है जिस रीति से । उन्नेष्ये यानी कुछ अंश में प्रतिपादन करूंगा ।

इस प्रकार पदों के अर्थों से निम्नलिखित वाक्यार्थ फलित होता है –

''जिस प्रकार के अर्थ का प्रतिपादन करने से, अत्यन्त मन्द बुद्धिवाला श्रोतावर्ग भी विशिष्ट प्रकार के आगम के व्याख्याताओं के द्वारा कहे जाने वाले अर्थों को समझने में सक्षम हो, ऐसे अर्थ का मैं इस प्रकरण में प्रतिपादन करूंगा ।''

★ अपोह ही शब्दार्थ है – बौद्ध पूर्वपक्ष ★

अपोह को ही शब्दार्थ मानने वाले बौद्धवादी यहाँ विस्तार से ऊहापोहपूर्वक अपना अभिप्राय प्रगट करते हुए कहते हैं –

समयपरमार्थविस्तर..... इत्यादि सूत्र से आपने यह निर्देश किया कि आगमप्रतिपाद्य बाह्य अर्थ अकल्पित है और शब्द के साथ अर्थ का कोई वास्तव संबन्ध भी है - किन्तु ये दोनों बात प्रमाणबाधित होने से गलत है । प्रमाणबाध इस प्रकार है - शब्द से वाच्य कोई पारमार्थिक वस्तुस्वरूप है ही नहीं । क्योंकि शाब्दिक प्रतीति

सम्बन्धो निर्दिष्टः, द्वितयमप्येतदयुक्तम्, प्रमाणबाधितत्वात् इति बौद्धाः । तथाहि–शब्दानां न परमार्थतः किंचिद् वाच्यं वस्तुस्वरूपमस्ति । सर्व एव हि शाब्दप्रत्ययो भ्रान्तः भिन्नेष्वर्थेष्वभेदाकाराध्यवसायेन प्रवृत्तेः । यत्र तु पारम्पर्येण वस्तुप्रतिबन्धस्तत्रार्थसंवादो भ्रान्तत्वेऽपि । तत्र यत् तदारोपितं विकल्पबुद्ध्याऽर्थेष्वभिन्नं रूपं तद् अन्यव्यावृत्तपदार्थानुभवबलाऽऽयातत्वात् स्वयं चान्यव्यावृतत्तया प्रतिभासनात् भ्रान्तैश्चान्यव्यावृत्तार्थेन सहैक्येनाऽध्यवसितत्वाद् अन्यापोढपदार्थाधिगतिफलत्वाच्च अन्यापोह इत्युच्यते, अतः 'अपोहः शब्दार्थः' इति प्रसिद्धम् ।

*अत्र विधिवादिनः प्रेरयन्ति – यदि भवतां द्रव्य-गुण-कर्म-सामान्यादिलक्षणानि विशेषणानि शब्दप्रवृत्तिनिमित्तानि परमार्थतो न सन्ति, कथं लोके 'दण्डी' इत्याद्यभिधानप्रत्ययाः प्रवर्त्तन्ते द्रव्याद्युपाधिनिमित्ताः ? तथाहि– [१]'दण्डी' 'विषाणी' इत्यादिधीध्वनी लोके द्रव्योपाधिकौ प्रसिद्धौ, [२]'शुक्लः' 'कृष्णः' इति गुणोपाधिकौ, [३]'चलति' 'भ्रमति' इति कर्मनिमित्तौ, [४]'अस्ति', 'विद्यते' इति सत्तानिमित्तकौ, [५]'गौः अश्वः' इति सामान्य-विशेषोपाधी, [६]'इह तन्तुषु पटः' इति समवायनिमित्तः(त्तौ) । तत्रैषां द्रव्यादीनामभावे 'दण्डी' इत्यादिप्रत्यय-शब्दौ निर्विषयौ स्याताम् । न चाऽनिमित्तावेतौ युक्तौ, सर्वत्र तयोरविशेषेण

भ्रमात्मक है क्योंकि पदार्थ अपने आप भिन्न भिन्न होते हुये भी उन में अभेदाकार अध्यवसाय से शब्दों की प्रवृत्ति होती है । यद्यपि वह भ्रमात्मक है फिर भी उस का अर्थ के साथ संवाद दीखता है, उस का कारण यह है कि परम्परया वह प्रतीति वस्तु के साथ सम्बन्ध रखती है । अब वहाँ उस काल में विकल्पबुद्धि से अर्थों में जिस अभिन्नरूप का (=अभेदाकार का) आरोप होता है वही 'अन्यापोह' कहा जाता है । अन्य का अन्य से अपोह यानी व्यावर्त्तन – यही अन्यापोह है । उसे 'अन्यापोह' इस लिये कहते हैं कि १. वह अन्यव्यावृत्त यानी भिन्न पदार्थों के अनुभव के बल पर ही वहाँ आरोपित किया जाता है, २. अपने आप भी वह अन्य से व्यावृत्त रूप में ही व्यावृत्तपदार्थों के साथ एकरूप से अध्यवसित होता है, तथा उस के द्वारा फलरूप में अन्यापोढ यानी अन्यव्यावृत अर्थों की प्रतीति होती है । शब्दों से इस ढंग के अन्यापोह की प्रतीति होने से ही यह प्रसिद्धि बन गई है कि 'अपोह ही शब्दार्थ है' [जो कि तुच्छ एवं काल्पनिक है यह उत्तरपक्ष में बताया जायेगा ।]

★ 'दण्डी' इत्यादि शाब्दप्रतीति सनिमित्त ★

विधिस्वरूप यानी द्रव्यादिरूप शब्दार्थ मानने वाले यहाँ कहते हैं– जब आपके मत में शब्द की प्रवृत्ति के निमित्तभूत कोई द्रव्य, गुण, क्रिया, जाति आदि स्वरूप उपाधियाँ पारमार्थिक नहीं हैं, तो लोगों में द्रव्यादिरूप उपाधि के निमित्त से जो 'दण्डी' (दण्डवाला) इत्यादि शब्दव्यवहार और प्रतीतियाँ होती है यह कैसे घटेगा ? देखिये - (१) "यह दण्डवाला है - यह शींगवाला है" इत्यादि बुद्धि और शब्दव्यवहार दण्डादिद्रव्यात्मक उपाधिमूलक होते हैं - यह लोकप्रसिद्ध है । इसी तरह 'शुक्ल -कृष्ण' इत्यादि बुद्धि और व्यवहार शुक्लादिगुणमूलक होते हैं । "चलता है, घुमता है" इत्यादि चलनादिक्रियामूलक होते हैं । 'अस्ति = है' 'विद्यते= विद्यमान है' इत्यादि सत्तामूलक होते हैं । 'गाय-घोडा' इत्यादि गोत्वादि सामान्य-विशेष स्वरूप उपाधिमूलक होते हैं । (शाबलेयत्वादि की अपेक्षा सामान्यरूप और सत्तादि महासामान्य की अपेक्षा विशेषरूप होने से गोत्वादि जाति सामान्यविशेष उभयरूप है ।) "यहाँ तन्तुओं में वस्त्र" इत्यादि बुद्धि और व्यवहार समवायमूलक होते हैं । यदि ये दण्डादिद्रव्य

*. इदमपोहप्रकरणं तत्त्वसंग्रह- पंजिकायाम् का० ८६७ तः का० १२१२ मध्ये द्रष्टव्यम् ।

प्रवृत्तिप्रसङ्गात् । न चाऽविभागेन तयोः प्रवृत्तिरस्ति, तस्मात् सन्ति द्रव्यादयः पारमार्थिकाः प्रस्तुत-प्रत्यय-शब्दविषयाः ।

प्रमाणयन्ति चात्र – ये परस्पराऽसंकीर्णप्रवृत्तयस्ते सनिमित्ताः यथा श्रोत्रादिप्रत्ययाः असंकीर्णप्रवृत्तयश्च 'दण्डी' इत्यादिशब्दप्रत्ययाः – इति स्वभावहेतुः । अनिमित्तत्वे सर्वत्राऽविशेषेण प्रवृत्तिप्रसङ्गो बाधकं प्रमाणम् ।

[अपोहवादे शब्दप्रतीतिनिमित्तम्]

अत्र यदि पारमार्थिकबाह्यविषयभूतेन निमित्तेन सन्नि(सनि)मित्तत्वमेषां साधयितुमिष्टं तदानैकान्तिकता हेतोः, साध्यविपर्यये बाधकप्रमाणाभावात् । अथ येन केनचिन्निमित्तेन सनिमित्तत्वमिष्यते तदा सिद्धसाध्यता । तथाहि–अस्माभिरपीष्यते एवैषामन्तर्जल्पवासनाप्रबोधो निमित्तं न तु विषयभूतम्, भ्रान्त-

---

आदि अपारमार्थिक होंगे तो 'दण्डी' इत्यादि बुद्धि और शब्दव्यवहार निर्विषय हो जाने की आपत्ति होगी । यदि इन सब को बिना निमित्त ही प्रवर्तमान मान लेगें तो सदा के लिये सभी पदार्थों में बिना किसी भेदभाव से इन सब की प्रवृत्ति प्रसक्त होगी । 'बिना किसी भेदभाव से ही बुद्धि और व्यवहार होते हैं' ऐसा है नहीं । इसलिये इन बुद्धि और व्यवहार के मूलनिमित्तभूत द्रव्यादि पदार्थ पारमार्थिक है - यह बात मान लेनी चाहिये ।

विधिवादी यहाँ अनुमानरूप प्रमाण भी दिखलाते हैं - एक दूसरे में असंकीर्ण प्रवृत्तिवाले जो बुद्धि-व्यवहार होते हैं वे पारमार्थिक निमित्तमूलक होते हैं जैसे श्रोत्रादिजनितबुद्धि । 'दण्डवाला' इत्यादि बुद्धि और शब्दव्यवहार भी असंकीर्णप्रवृत्ति वाले ही हैं - इस स्वभाव हेतु से उन में द्रव्यादिमूलकत्व की सिद्धि होती है । यदि इन बुद्धि और व्यवहारों को निर्निमित्त प्रवर्त्तमान मानेंगे तो बिना किसी पक्षपात से सर्वत्र उन की प्रवृत्ति का अतिप्रसंग - यही द्रव्यादि को अपारमार्थिक मानने में बाधक प्रमाण है ।

तात्पर्य यह है कि - दण्डवाले पुरुष के विषय में 'दण्डी' ऐसी बुद्धि और शब्दव्यवहार होता है किन्तु शुक्लादि बुद्धि और शब्दव्यवहार नहीं होते । श्वेतरूपवाले अश्व के लिये 'शुक्ल' इत्यादि बुद्धि और व्यवहार होते हैं किन्तु 'दण्डी' इत्यादि नहीं होते । यही प्रवृत्ति की असंकीर्णता है । ऐसी असंकीर्णप्रवृत्ति से उन बुद्धि और व्यवहारों में पारमार्थिकनिमित्तमूलकता सिद्ध होती है । यदि कोई पारमार्थिकनिमित्त नहीं मानेंगे तो स्वच्छन्दरूप से दण्डी के लिये 'शुक्ल' और 'शुक्ल' के लिये 'दण्डी' ऐसी बुद्धि और व्यवहारों की संकीर्णप्रवृत्ति होने की आपत्ति होगी ।

★ अपोहवाद में शब्दप्रतीति का निमित्त ★

इस विधिवाद के सामने अपोहवादी कहता है - इस अनुमान में जो सनिमित्तता साध्य है वह यदि पारमार्थिकबाह्यविषयभूत निमित्तता की सिद्धि के अभिप्राय से सिद्ध करना इष्ट हो तो हेतु में साध्यद्रोह दोष है । कारण, जहाँ साध्य का अभाव है वैसे भ्रान्त स्थलों में भी असंकीर्णबुद्धि-व्यवहार तो होते ही हैं । जैसे रजतत्व रूप बाह्यपारमार्थिक विषयरूप निमित्त न होने पर भी शुक्ति में रजत की भ्रमबुद्धि और भ्रान्तव्यवहार होता है । अतः निमित्त के बिना भी बुद्धि और व्यवहार की प्रवृत्ति होने में कोई बाधक प्रमाण अलभ्य है । अगर किसी भी प्रकार के (चाहे अपारमार्थिक) निमित्त के अभिप्राय से 'सनिमित्तता' की सिद्धि करना है तो वैसा साध्य हमारे मत में भी सिद्ध होने से सिद्धसाध्यता दोष होगा । देखिये-हम भी 'दण्डी' इत्यादि बुद्धि और व्यवहारों के प्रति अन्तर्जल्पाकार वासना के प्रबोध को निमित्तरूप से मानते हैं । पारमार्थिक

त्वेन सर्वस्य शब्दप्रत्ययस्य निर्विषयत्वात् । तदुक्तम् – [ ] येन येन हि नाम्ना वै यो यो धर्मोऽभिलप्यते । न स संविद्यते तत्र धर्माणां सा हि धर्मता ॥इति॥ (द्रष्टव्यं त० सं० पंजिकायां ८७० कारिकायाम्)

न च शाब्दप्रत्ययस्य भ्रान्तत्वाऽविषयत्वयोः किं प्रमाणमिति वक्तव्यम्, भिन्नेष्वभेदाध्यवसायेन प्रवर्त्तमानस्य प्रत्ययस्य भ्रान्तत्वात् । तथाहि – यः 'अतस्मिंस्तत्' इति प्रत्ययः स भ्रान्तः यथा मरिचिकायां जलप्रत्ययः तथा चायं भिन्नेष्वर्थेष्वभेदाध्यवसायी शाब्दः प्रत्ययः इति स्वभावहेतुः । न च सामान्यं वस्तुभूतं ग्राह्यमस्ति येनाऽसिद्धताऽस्य हेतोः स्यात्, तस्य निषिद्धत्वात् । भवतु वा सामान्यम् तथापि तस्य भेदेभ्योऽर्थान्तरत्वे भिन्नेष्वभेदाध्यवसायो भ्रान्तिरेव, न ह्यन्येनान्ये समाना युक्तास्तद्वन्तो नाम स्युः । अनर्थान्तरत्वेऽपि सामान्यस्य सर्वमेव विश्वमेकं वस्तु परमार्थत इति तत्र सामान्यप्रत्ययो भ्रान्तिरेव, न चैकवस्तुविषयः समानप्रत्ययः, भेदग्रहणपुरस्सरत्वात् तस्य । भ्रान्तत्वे च सिद्धे निर्विषयत्वमपि सिद्धम्,

---

बाह्यस्वरूप किसी विषय को निमित्तरूप में नहीं मानते हैं, क्योंकि हमारे मत से शब्दजन्य सब प्रतीतियाँ भ्रान्त होने से निर्विषय ही होती है । जैसे कि कहा है –

जिस जिस नाम से जिस जिस धर्म का अभिलाप किया जाता है, कभी भी उस नाम से उस धर्म का संवेदन नहीं होता, चूँकि धर्मों का यह स्वभाव ही है [कि वचनमात्र को अगोचर रहना] ।

★ शब्दप्रतीति भ्रान्त होने में प्रमाण ★

'शब्दजन्य प्रतीति भ्रान्त एवं निर्विषय है- इस बात में क्या प्रमाण है' - ऐसा प्रश्न नहीं हो सकता, क्योंकि प्रसिद्ध ही है कि भिन्न यानी भेदवाले पदार्थों में अभेद के अध्यवसाय से होने वाली प्रतीति भ्रान्त ही होती है । देखिये – वस्तु का जैसा स्वरूप न हो ऐसे स्वरूप का उस वस्तु में भान होना यही भ्रम है । उदा० तप्त भूमिस्थल में सूर्यरश्मि के जलस्वरूप न होने पर भी वहाँ जल का आभास होता है वह भ्रम है । इसी तरह भिन्न भिन्न अर्थों में भेद का भान न हो कर अभेद का अध्यवसाय शब्दजन्य बुद्धि में होता है । इस प्रकार अतत्पदार्थ में तत्पदार्थबुद्धिरूप स्वभावहेतु से यह शब्दजन्य बुद्धि भ्रान्त सिद्ध होती है । अगर भिन्न भिन्न पदार्थों में कोई वास्तविक अभेदतत्त्व=सामान्य गृहीत होता तब तो उस के ग्राहक अध्यवसाय 'अतत्स्वरूप वस्तु में तत्स्वरूप का ग्राहक' न होने से हेतु असिद्ध हो जाता । किंतु सामान्य कोई वस्तुभूत पदार्थ ही नहीं है, पहले खंड में ही उस का प्रतिषेध (पृ.४५२) हो चुका है । इसलिये हेतु असिद्ध होने का संभव भी नहीं है । कदाचित् सामान्य को सद्भूत मान लिया जाय तो भी विकल्पद्वय में वह अनुत्तीर्ण रहेगा । A अगर वह भेदों से यानी भिन्नवस्तुओं से सर्वथा पृथक् होगा तो भिन्न वस्तुओं में यानी अभेद(सामान्य)शून्य वस्तुओं में उस की प्रतीति भ्रमात्मक ही होगी । सामान्य तो भेदों से भिन्न तत्त्व है अतः उस से भेदों में समानता का होना संभव नहीं, फिर वे भेद सामान्यवाले = अभेदवाले हो नहीं सकते । B अगर सामान्य को भेदों से अभिन्न माना जाय तो इस विकल्प में सारे विश्व के पदार्थ पारमार्थिकरूप से अभिन्न - एकरूप हो जाने से उन में सामान्यस्पर्शी प्रतीति भ्रान्तरूप ही होगी कारण, वस्तु जब तक एक ही है तो वहाँ समानता की प्रतीति (अभ्रान्तरूप में) सम्भव ही नहीं है क्योंकि पहले वस्तुओं में भेद गृहीत हो, बाद में ही उनमें समानता की प्रतीति हो सकती है । जब इस प्रकार दोनों विकल्प से सामान्यग्राही बुद्धि भ्रान्तिरूप सिद्ध होती है तो उस में निर्विषयत्व भी अनायास सिद्ध होता है, क्योंकि वहाँ कोई समानाकार बुद्धिजनक सामान्यरूप अर्थ है ही नहीं जो अपने आकार का बुद्धि में आधान करने द्वारा उस बुद्धि का आलम्बनभूत हो ।

स्वाकारार्पणेन जनकस्य कस्यचिदर्थस्यालम्बनलक्षणस्य प्राप्तस्याभावात् ।

अन्यथा वा निर्विषयत्वम् । तथाहि – यत्रैव कृतसमया ध्वनयः स एव तेषामर्थो युक्तो नान्यः अतिप्रसंगात्, न च क्वचिद्वस्तुन्येषां परमार्थतः समयः सम्भवतीति निर्विषया ध्वनयः । प्रयोगः – "ये यत्र भावतः कृतसमया न भवन्ति न ते परमार्थतस्तमभिदधति, यथा सास्नादिमति पिण्डेऽश्वशब्दोऽकृतसमयः, न भवन्ति च भावतः कृतसमयाः सर्वस्मिन् वस्तुनि सर्वे ध्वनयः" इति व्यापकानुपलब्धिः, कृतसमयत्वे-नाभिधायकत्वस्य व्याप्तत्वात् तस्य चेहाभावः ।

न चाऽयमसिद्धो हेतुः । तथाहि – गृहीतसमयं वस्तु शब्दार्थत्वेन व्यवस्थाप्यमानं aस्वलक्षणं वा व्यवस्थाप्येत, bजातिर्वा, cतद्योगो वा, dजातिमान् वा पदार्थः, eबुद्धेर्वा आकार इति विकल्पाः । सर्वेष्वपि समयाऽसम्भवान्न युक्तं शब्दार्थत्वं तत्त्वतः । सांवृतस्य तु शब्दार्थत्वस्य न निषेध इति न स्ववचनविरोधः प्रतिज्ञायाः । एवं ह्यसौ स्यात् – स्वलक्षणादीनुपदर्शयता शब्दार्थत्वमेषामभ्युपेयं स्यात् पुनश्च तदेव प्रतिज्ञया प्रतिषिद्धमिति स्ववचनव्याघातः, न चाऽसावभ्युपगम्यत इति । एतेन यदुक्तमुद्योतकरेण "अवाचकत्वे श-

★ शब्दप्रतीति की निर्विषयता ★

अथवा दूसरे ढंग से शब्दों की निर्विषयता इस प्रकार है – अगर विना संकेत ही कोई भी शब्द से किसी भी अर्थ का बोध माना जाय तो फिर जो प्रतिनियत अर्थ के बोध के लिये जो प्रतिनियत शब्दव्यवहार चलता है वह टूट पडेगा, इस अतिप्रसंग के भय से आप मानते हैं कि जिस अर्थ में जिन शब्दों को संकेतित किये गये हो उन शब्दों से वही अर्थ बोधित होता है । किन्तु बात यह है कि क्षणिकता के कारण किसी भी वस्तु में परमार्थरूप में शब्दों का संकेत सम्भव ही नहीं है । इसीलिये हम कहते हैं कि शब्दमात्र निर्विषयक होते हैं । अनुमानप्रयोग ऐसा है – जो जहाँ पारमार्थिकरूप से संकेतित किये गये नहीं होते वे वास्तव में उन का अभिधान नहीं कर सकते । उदा० गलगोदडी आदि अवयववाले गोपिण्ड में 'अश्व'शब्द पारमार्थिकरूप में संकेतित नहीं होने से, अश्व शब्द गोपिण्ड का अभिधान(बोधन) नहीं कर सकता । इसी तरह प्रत्येक शब्द परमार्थतः किसी भी वस्तु के लिये संकेतित नहीं है अतः उन से किसी भी अर्थ का अभिधान शक्य नहीं है । यह व्यापकानुपलब्धिरूप हेतु है, अभिधायकत्व (बोधकत्व) का व्यापक संकेतितत्व है और वस्तुमात्र में उस की अनुपलब्धि यह हेतु है । व्यापक जहाँ नहीं होता वहाँ व्याप्य नहीं रह सकता ।

★ स्वलक्षणादि में शब्दसंकेत की समीक्षा ★

'परमार्थरूप से किसी भी वस्तु में संकेतित न होना' यह अकृतसमयत्व हेतु शब्दात्मक पक्ष में असिद्ध नहीं है । यदि आप शब्द को संकेतित मानते हैं तो किस वस्तु में संकेतित मानते हैं ? तात्पर्य, जिस वस्तु में शब्द का संकेत गृहीत हो उस वस्तु को आप शब्दार्थ मानना चाहते हैं तो यह शब्दार्थरूप से कौनसी वस्तु अभिप्रेत है ? क्या aस्वलक्षण शब्दार्थरूप से मान्य है ? bजाति, cजाति का संबन्ध अथवा dजातिमान् पदार्थ या eबुद्धिगत आकार शब्दार्थरूप से मान्य है ? इन में से किसी में भी संकेत का सम्भव नहीं है इसलिये इनों में किसी भी एक में वास्तव में शब्दार्थत्व का सम्भव नहीं है । हाँ, स्वलक्षणादि में काल्पनिक शब्दार्थत्व मानना है तो हम उस का निषेध नहीं करेंगे । काल्पनिक शब्दार्थत्व को हम भी मानते हैं, इसीलिये हमारे प्रतिज्ञा वचन में कोई विरोध नहीं है, अन्यथा आप इस प्रकार विरोध दिखा सकते ... "स्वलक्षणादिरूप से

ब्दानां प्रतिज्ञा-हेत्वोर्व्याघातः [न्या० वा० २ सू० ६७ -पृ० ३२७ पं० ६-७] इति तदपि प्रत्युक्तं भवति, न हि सर्वथा शब्दार्थापवादोऽस्माभिः क्रियते आबालगोपालेभ्योऽपि प्रतीतत्वात् तस्य – किन्तु तात्त्विकत्वं धर्मः परैर्यस्तत्रारोप्यते तस्यैव निषेधो न तु धर्मिणः ।

[१ - स्वलक्षणे संकेताऽसम्भवः]

तत्र स्वलक्षणे न तावत् समयः संभवति शब्दस्य । समयो हि व्यवहारार्थं क्रियते न व्यसनितया, तेन यस्यैव संकेतव्यवहारकालव्यापकत्वमस्ति तत्रैव स व्यवहर्तॄणां युक्तो नान्यत्र । न च स्वलक्षणस्य संकेतव्यवहारकालव्यापकत्वमस्ति । तस्मान्न तत्र समयः । संकेतव्यवहारकालव्यापकत्वमशाबलेयादिव्यक्तीनां देशादिभेदेन परस्परतोऽत्यन्तव्यावृत्ततयाऽनन्वयात् तत्रैकत्र कृतसमयस्य पुंसोऽन्यैर्व्यवहारो न स्यादिति तत्र समयाभावाऽसिद्धता हेतोः । न चाप्यनैकान्तिकत्वम् व्याप्तिसिद्धेः । तथाहि – यद्यगृहीतसंकेतमर्थं शब्दः प्रतिपादयेत् तदा गोशब्दोऽश्वं प्रतिपादयेत् संकेतकरणानर्थक्यं च स्यात्, तस्मादतिप्रसंगापत्तिर्बाधकं

आप जिस का प्रतिपादन करते हैं उसमें शब्दार्थत्व को मानना होगा अन्यथा स्वलक्षणादिशब्द से उसका प्रतिपादन शक्य न होगा । इस प्रकार शब्दार्थत्व को मानने पर भी आप प्रतिज्ञावचन के द्वारा उस का निषेध कर रहे हैं । इसलिये निषेधकारक प्रतिज्ञावचन स्वलक्षणादि के प्रतिपादन से ही व्याहत हो जायेगा'' – किन्तु ऐसा विरोध हमें अस्वीकार्य है क्योंकि हम काल्पनिक शब्दार्थत्व को मानते हैं ।

उपरोक्त चर्चा से, उद्योतकर का यह कथन भी निरस्त हो जाता है कि – ''शब्दों को वाचक न मानेगें तो प्रतिज्ञाशब्द और हेतुशब्द का व्याघात होगा'' – यह इस लिये निरस्त हो जाता है कि हम अर्थों में शब्दवाच्यता का सर्वथा अपलाप नहीं करते हैं, क्योंकि बालक से ग्वाले तक लोगों को शब्द द्वारा अर्थों की प्रतीति होती है, किन्तु हम यह कहते हैं कि अन्य लोग जो शब्दार्थत्व में तात्त्विकता धर्म का आरोपण करते हैं– उसी का हम निषेध करते हैं, धर्मिरूप शब्दार्थता का निषेध नहीं करते क्योंकि वह काल्पनिक भी हो सकता है ।

★ स्वलक्षण में संकेत का असम्भव ★

पारमार्थिक वस्तु में संकेत असंभव है इसका और स्पष्टीकरण करते हुए बौद्ध कहता है – स्वलक्षणरूप सत्य वस्तु में शब्द का संकेत असंभव है । संकेत कोई शौख से नहीं किया जाता किन्तु व्यवहार के लिये किया जाता है । इसलिये व्यवहार कर्ताओं के द्वारा उसी वस्तु में संकेत किया जाना उचित है जो वस्तु संकेतकाल से व्यवहारकालपर्यन्त जीवित रहे । स्वलक्षण तो क्षणमात्रजीवी वस्तु है, संकेतकाल से व्यवहारकालपर्यन्त वह स्थायी नहीं है, इसलिये उस में संकेत अशक्य है । शाबलेय [विविधरंगी गौ] आदि व्यक्तियाँ अनेक हैं और देश-कालादि भेद से भिन्न भिन्न हैं, परस्पर एक-दूसरे से अत्यन्त भिन्न भिन्न उन में कोई सम्बन्ध ही नहीं है, इसलिये संकेतकाल से व्यवहारकालपर्यन्त स्थायी कोई नहीं है, अत एव मनुष्य किसी एक व्यक्ति में संकेत करेगा, तो अन्य व्यक्तियाँ संकेतहीन रह जाने से उन व्यक्तियों के द्वारा कोई भी व्यवहार नहीं हो सकेगा क्योंकि उन में संकेत नहीं किया गया है । तात्पर्य, स्वलक्षण में संकेत का सम्भव नहीं है इसलिये 'तदर्थभिधायकत्वाभाव' साध्य की सिद्धि के लिये जो 'अकृतसमयत्व' हेतु कहा है वह असिद्ध नहीं है ।

साध्यद्रोही भी नहीं है, क्योंकि व्याप्ति प्रसिद्ध है । देखिये - शब्द अगर ऐसे अर्थ का प्रतिपादन करेगा जिसमें उसका संकेत गृहीत ही नहीं है, तो अश्व में जिस पद का संकेत गृहीत ही नहीं है ऐसे गो-पद से भी अश्व का प्रतिपादन शक्य बन जायेगा, फिर संकेत करने की जरूर भी क्या होगी ? संकेत निरर्थक रह

प्रमाणमिति कथं न व्याप्तिसिद्धिः ?

अयमेव वा 'अकृतसमयत्वात्' इति हेतुराचार्यदिग्नागेन 'न जातिशब्दो भेदानां वाचकः आनन्त्यात्'' [ ] इत्यनेन निर्दिष्टः। तथाहि - 'आनन्त्यात्' इत्यनेन समयाऽसंभव एव दर्शितः ।

तेन यदुक्तमुद्द्योतकरेण ''यदि शब्दान् पक्षयसि तदा 'आनन्त्यात्' इत्यस्य वस्तुधर्मत्वाद् व्यधिकरणो हेतुः, अथ भेदा एव पक्षीक्रियन्ते तदा नान्वयी न व्यतिरेकी दृष्टान्तोऽस्तीत्यहेतुरानन्त्यम्'' [न्यायवा० २-२-६८ पृ० ३२३] इति – तत् प्रत्युक्तम् । यत् पुनः स एवाह - ''यस्य निर्विशेषणा भेदाः शब्दैरभिधीयन्ते तस्याऽयं दोषः अस्माकं तु सत्ताविशेषणानि द्रव्यगुण-कर्माण्यभिधीयन्ते । तथाहि, यत्र यत्र सत्तादिकं सामान्यं पश्यति तत्र तत्र सदादिशब्दं प्रयुङ्क्ते, एकमेव च सत्तादिकं सामान्यम् अतः सामान्योपलक्षितेषु भेदेषु

जायेगा । यही अतिप्रसंगरूप आपत्ति विपक्ष कल्पना में बाधक प्रमाणरूप है, तो व्याप्ति क्यों असिद्ध रहेगी ?

★ दिग्नागमतविरोधी उद्द्योतकरकथन की आलोचना ★

अकृतसमयत्व हेतु का जो तात्पर्य है कि वस्तुमात्र में संकेत का असंभव, इसी तात्पर्य से 'अकृतसमयत्व' हेतु का निर्देश शब्दभेद से दिग्नागाचार्यने ऐसा किया है कि ''जातिशब्द (यानी कोई भी सामान्यके वाचक रूप में मान्य शब्द) भेदसमूह का (यानी वस्तुसमूह का) वाचक नहीं है चूँकि भेद अनन्त है ।'' यहाँ 'भेद अनन्त है' ऐसा कहने का यही तात्पर्य है कि भेद अनन्त होने से संकेत का वहाँ संभव ही नहीं है ।

इस तात्पर्य को समझे विना ही जो उद्द्योतकर ने 'आनन्त्य' हेतु पर दो विकल्प कर के खंडन करते हुए कहा है कि ''अगर आप (दिग्नाग) शब्दों को पक्ष कर के भेदों के 'अनन्तत्व' को हेतु करते हो तो वह शब्दरूप पक्ष में न रहने से, भेदरूप वस्तु का धर्म होने से साध्य का व्यधिकरण हुआ और व्यधिकरण हेतु से प्रस्तुत पक्ष में किसी भी साध्य की सिद्धि अशक्य है । अब यदि भेदों को ही पक्ष कर के उन में शब्दवाच्यताभाव सिद्ध करने के लिये 'अनन्तत्व' हेतु करेंगे तो वहाँ वस्तुमात्र पक्षान्तर्गत हो जाने से न तो कोई अन्वयसहचारप्रदर्शक दृष्टान्त मिलेगा न तो कोई व्यतिरेकसहचार प्रदर्शक दृष्टान्त सुलभ होगा । इसलिये 'अनन्तता' यह वास्तविक हेतु नहीं हुआ ।'' इस उद्द्योतकर के खंडनात्मक कथन का प्रतिषेध हो जाता है क्योंकि 'आनन्त्य' हेतु का तात्पर्य ही अलग है जो ऊपर कहा है ।

और भी जो उन्होंने न्यायवार्त्तिक में कहा है कि हमारे पक्षमें अनन्तत्व हेतु से जो संकेतासंभवरूप दोष दिखाया है वह भी उन लोगों के मत में लगता है जो मानते हैं कि 'शब्दों से भेदों का प्रतिपादन किसी भी विशेषणरूप से नहीं होता है ।' तात्पर्य यह है कि किसी विशेषणरूप से नहीं किन्तु सभी भेदों का पृथक् पृथक् व्यक्तिरूप से शब्दों द्वारा प्रतिपादन अभिप्रेत हो तो वहाँ भेद अनन्त होने से संकेत के असंभव की बात ठीक है । किन्तु हम तो मानते हैं कि शब्दों से सत्तादि रूप विशेषणविशिष्ट द्रव्य का, गुण का या कर्म का प्रतिपादन होता है । प्रयोजक पुरुष जहाँ जहाँ सत्तादिरूप सामान्य को देखता है वहाँ वहाँ 'सत्' आदि शब्दों का प्रयोग करता है । अब ये सत्ता आदि सामान्य तो एक ही है अनन्त नहीं, इस लिये उन सत्ता आदि एक एक सामान्यरूप विशेषण से उपलक्षित भेदों में संकेतकरण का पूरा सम्भव है । निष्कर्ष, दिग्नागकथित 'अनन्तत्व' हेतु निष्प्रयोजन है ।

---

*. ११ [illegible] ३०१ – [illegible] २७३ - [illegible] पृ० ८८६ – [illegible]
[illegible] ।

समयक्रियासम्भवादकारणमानन्त्यम्'' [न्यायवा० २-२-६७ पृ० ३२३] इति – असदेतत्, यतो न सत्तादिकं वस्तुभूतं सामान्यं तेभ्यो भिन्नमभिन्नम् वाऽस्तीति । भवतु वा तत् तथाप्येकस्मिन् भेदेऽनेकसामान्यसंभवादसां-कर्येण सदादिशब्दयोजनं न स्यात् । न च शब्देनाऽनुपदर्श्य सत्तादिकं सामान्यं सत्तादिना भेदानुपलक्षयितुं समयकारः शक्नुयात्, न चाकृतसमयेषु सत्तादिषु शब्दप्रवृत्तिरस्तीति इतरेतराश्रयदोषप्रसक्तिः ।

अथापि स्यात्- स्वयमेव प्रतिपत्ता व्यवहारोपलम्भादन्वयव्यतिरेकाभ्यां सदादिशब्दैः समयं प्रतिपद्यते । असदेतत् – अनन्तभेदविषयनिःशेषव्यवहारोपलम्भस्य कस्यचिदसंभवात् । 'एकदा सत्तादिमत्सु भेदेष्वसकृद् व्यवहारमुपलभ्याऽदृष्टेष्वपि तज्जातीयेषु तान् शब्दान् प्रतिपद्यते' इति चेत् ? न, अदृष्टत्वात्, न ह्यदृष्टे-ष्वतीतादिभेदभिन्नेष्वनन्तेषु भेदेषु समयः सम्भवति अतिप्रसङ्गात् । विकल्पबुद्ध्याऽव्या(?ध्या)हृत्य तेषु त-त्प्रतिपत्त्य(या?)भ्युपगमे विकल्पसमारोपितार्थविषय एव शब्दसंकेतः प्राप्तः । तथाहि – अतीतानाग-तयोरसत्त्वेनाऽसन्निहितत्वात् तत्र विकल्पबुद्धिर्भवन्ती निर्विषयैव, तत्र भवन् समयः कथं परमार्थवस्तुविषयो भवेदिति ? सपक्षे भावाद् नापि हेतोर्विरुद्धतेति सिद्धं स्वलक्षणाऽविषयत्वं शब्दानाम् ।

उद्योतकर का यह प्रतिपादन भी असार है । कारण, भेदों से अतिरिक्त या अनतिरिक्त सत्तादिरूप वास्तविक सामान्य अस्तित्व में ही नहीं है फिर उसके एकत्व द्वारा संकेत के सम्भव की बात ही कहाँ ? अथवा मान लो कि 'सामान्य' है किन्तु वह भी आप के मत में किसी एक ही द्रव्यादि में – सत्ता, द्रव्यत्व, पृथ्वीत्व, गुणत्व, रूपत्व आदि जब अनेक संख्या में है– तो असंकीर्ण रूप से यानी किसी एक शब्द से सत्ता से उपलक्षित द्रव्य का ही प्रतिपादन हो न कि द्रव्यत्वादि से उपलक्षित का – इस प्रकार के असंकीर्ण रूप से 'सत्' आदि शब्दों का प्रयोग अन्योन्याश्रय दोष के कारण नहीं हो सकेगा । अन्योन्याश्रय इस ढंग से है कि जब तक संकेतकारक पुरुष पृथक् पृथक् सत्तादि सामान्य का शब्दों से प्रतिपादन न कर दिखावे तब तक सत्तादिविशेषण रूप से भेदों का उपलक्षण यानी निरूपण शक्य नहीं होगा और तब तक सत्तादि के लिये शब्दों की प्रवृत्ति भी नहीं हो सकेगी । इस प्रकार शब्दों की प्रवृत्ति के लिये संकेतक्रिया और संकेतक्रिया के लिये शब्दप्रवृत्ति यह अन्योन्याश्रय दोष लगा रहेगा ।

★ व्यवहार से संकेतग्रह असम्भव ★

अगर कहें कि – ''श्रोता को सत् इत्यादि शब्दों के संकेत का ग्रहण तो चिरप्रवृत्त लोकव्यवहार से अन्वय–व्यतिरेक सहचार द्वारा स्वयमेव हो जाता है – उस के लिये शब्दप्रयोक्ता को कुछ भी कष्ट करना नहीं पडता है । इस लिये अन्योन्याश्रय निरवकाश है''– तो यह गलत बात है । कारण, भेद तो अनन्त है इसलिये तत्संबन्धि सकल व्यवहारों का भान किसी एक पुरुष के लिये शक्य ही नहीं है, तो उन सभी के संकेत का ग्रहण भी कैसे शक्य होगा ? यदि ऐसा कहें कि – 'सत्ता वगैरह से विशिष्ट भेदों के सम्बन्ध में बार बार होने वाले व्यवहार का जब एक बार ज्ञान हो गया तो फिर उस के समान जातिवाले अदृष्ट भेदों के लिये संकेतित शब्दों के ग्रहण में भी देर नहीं लगती । इसलिये भेद अनंत होने पर भी संकेतग्रहण शक्य होगा ।' – तो यह भी ठीक नहीं है । कारण वे समान जातिवाले भेद अदृष्ट हैं । अतीत और अनागत आदि रूप से भिन्न भिन्न अनन्त भेद जब तक दृष्ट ही नहीं हैं तब तक उनमें संकेतक्रिया का ही संभव नहीं है तो संकेतग्रहण की तो बात ही कहाँ ? अदृष्ट होने पर भी यदि उनमें संकेत का सम्भव मानेंगे तो खरविषाण आदि में भी मानने का संकट आयेगा ।

अथ स्थिरैकरूपत्वाद् हिमाचलादिभावानां देशादिभेदाभावात् संकेतव्यवहारकालव्यापकत्वेन समयसम्भवात् पक्षैकदेशाऽसिद्धता प्रकृतहेतोः । नैतत्, हिमाचलादीनामप्यनेकाणुप्रचयस्वभावतया उदयानन्तरापवर्गितया च नाशेषावयवपरिग्रहेण समयकालपरिदृष्टस्वभावस्य व्यवहारकालानुपायित्वेन च समयः सम्भवतीति नासिद्धता हेतोः । अत उक्तन्यायेन समयवैयर्थ्यप्रसङ्गान्न स्वलक्षणे समयः संभवति ।

अशक्यक्रियात्वाच्च न तत्र समयः । तथाहि– उदयानन्तरापवर्गिषु भावेषु समयः क्रियमाणः अनुत्पन्नेषु वा क्रियेत, उत्पन्नेषु वा ? न तावदनुत्पन्नेषु परमार्थतः समयो युक्तः, असतः सर्वोपाख्यारहितस्याऽऽधारत्वानुपपत्तेः । अपारमार्थिक(व?)स्त्वजातेऽपि पुत्रादौ समय उपलभ्यत इति न दृष्टविरोधः, विकल्प-

---

अब आप कहेंगे कि – 'अतीतादि भेद दृष्ट न होने पर भी विकल्पबुद्धि में आरूढ होते हैं, उन विकल्पबुद्धिआरूढ भेदो में संकेत का ग्रहण मान लेंगे'– तो इस का मतलब यही हुआ कि शब्दसंकेत का विषय कोइ वास्तविक स्वलक्षण तो नहीं है, जो कुछ है वह विकल्पबुद्धि में आरोपित अर्थ यानी काल्पनिक अर्थ ही शब्दसंकेत का विषय बना । देखिये – अतीत या अनागत पदार्थ तो असत् होने से संनिहित ही नहीं है अतः उसके सम्बन्ध में होने वाली विकल्पबुद्धि को परमार्थतः निर्विषयक ही मानना होगा, फिर उस में किया गया संकेत पारमार्थिक वस्तुस्पर्शी कैसे हो सकता है ? निष्कर्ष – अकृतसमयत्व हेतु अनैकान्तिक नहीं है । तथा यह हेतु सपक्ष में रहता है इसलिये पारमार्थिक वस्तुप्रतिपादकत्वाभावरूप साध्य से विरुद्ध भी नहीं है । सपक्ष है अश्वशब्द, वहाँ पेनुनिरूपित अकृतसमयत्व हेतु भी रहता है और परमार्थतः पेनुरूपार्थप्रतिपादकत्वाभाव भी रहता है ।

इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि स्वलक्षणरूप अर्थ किसी भी शब्द का विषय यानी वाच्य नहीं है ।

★ अणुप्रचयात्मक हिमाचलादि में संकेत असम्भव ★

शंका :- 'अकृतसमयत्व' यह हेतु पक्ष के कुछ भाग में असिद्ध है इसलिये उस से अपने साध्य की सिद्धि शक्य नहीं । हिमाचल वगैरह पर्वत पहले भी थे आज भी है और भावि में भी उसे कोई खतरा नहीं है इस लिये वे तो स्थिर स्वभाववाले हैं, न तो उन में देशभेद से भेद है, न कालभेद से । फलतः संकेतकाल में और व्यवहारकाल में अनुवर्त्तमान रहने से उन हिमाचल वगैरह पदार्थों में अच्छी तरह संकेत किया जा सकता है, तो उनमें अकृतसमयत्व कैसे रहेगा ?

उत्तर : शंका ठीक नहीं है । हिमाचल वगैरह कोई एक स्थिर ईकाई नहीं है किन्तु प्रतिक्षण उत्पाद-विनाशशील अनेकानेक परमाणु के पुञ्जस्वरूप है । इस लिये जिन अवयवों को लक्ष में रख कर संकेत काल में संकेत करेंगे वे ही अवयव व्यवहारकाल में तो गायब हो जायेंगे, फलतः संकेत ही निष्प्रयोजन हो जायेगा । इस प्रकार 'अकृतसमयत्व' हेतु हिमाचल वगैरह परमाणुपुञ्जों में भी रहता ही है, असिद्ध नहीं है ।

उपरोक्त रीति से, व्यवहारकाल तक अस्थायि पदार्थों में किया जाने वाला संकेत व्यर्थ होने की आपत्ति खड़ी रहने से सिद्ध होता है कि स्वलक्षण पदार्थ में संकेत का सम्भव नहीं है ।

★ क्रिया के असम्भव से संकेत का असम्भव ★

संकेत क्रिया शक्य भी नहीं है, इसलिये अर्थ में शब्दसंकेत का सम्भव नहीं है । देखिये – उत्पत्ति के अनन्तरक्षण में ही नष्ट हो जाने वाले पदार्थों में संकेत कब होगे ? उस के उत्पन्न होने के पहले या उत्पन्न हो जाने तक ? उत्पन्न होने के पहले, पारमार्थिकरूप से संकेतक्रिया का सम्भव ही नहीं है । कारण, उत्पत्ति

निर्मितार्थविषयत्वेन तस्याऽपारमार्थिकत्वात् । नाप्युत्पन्ने समयो युक्तः, तस्मिन्ननुभवोत्पत्तौ तत्पूर्वके च शब्दभेदस्मरणे सति समयः संभवति नान्यथा–अतिप्रसङ्गात् – शब्दभेदस्मरणकाले च चिरनिरुद्धं स्वलक्षणमिति अजातवज्जातेऽपि कथं समयः समयक्रियाकाले द्वयोरप्यसंनिहितत्वात् ? तथाहि– अनुभवावस्थायामपि तावत् तत्कारणतया स्वलक्षणं क्षणिकं न संनिहितसत्ताकं भवति किं पुनरनुभवोत्तरकालभाविनामभेदाभोगस्मरणोत्पादकाले भविष्यति ?

नापि तज्जातीये तत्सामर्थ्यबलोपजाते समयक्रियाकालभाविनि क्षणे समयः सम्भवति, तस्याऽन्यत्वात्। यद्यपि समयक्रियाकाले सन्निहितं क्षणान्तरमस्ति तथापि तत्र समयाभोगाऽसम्भवान्न समयो युक्तः, न ह्यश्वमुपलभ्य तन्नामस्मरणोपक्रमपूर्वकं समयं कुर्वाणस्तत्कालसन्निहिते गवादावाभोगाविषयीकृते 'अश्वः' इति समयं समयकृत् करोति । अथापि स्यात्-सर्वेषां स्वलक्षणानां सादृश्यमस्ति तेनैक्यमध्यवस्य समयः करिष्यते, असदेतत्– यतो विकल्पबुद्धयऽध्यारोपितं सादृश्यम्, तस्य च ध्वनिभिः प्रतिपादने स्वलक्षणमवाच्यमेवेति न स्वलक्षणे समयः ।

के पूर्व पदार्थ असत् होता है, असत् पदार्थ उपाख्या=स्वरूप धर्म या संज्ञा मात्र से शून्य होता है, इसलिये उस में संकेत की आधारता घट नहीं सकती । यदि कहें कि – 'इस बात में साक्षात् ही विरोध है, चूँकि पुत्रजन्म के पहले ही माता-पिता आदि उस के नाम की कल्पना करते देखे जाते हैं' – तो यह बात ठीक नहीं है क्योंकि वहाँ नाम कल्पित होता है पारमार्थिक नहीं होता, हम तो पारमार्थिक संकेत का विरोध करते हैं, इसलिये कोई विरोध नहीं है । कल्पना से कल्पित अर्थ ही उस संकेत का विषय होता है इसलिये वह संकेत भी काल्पनिक हुआ, पारमार्थिक नहीं ।

उत्पन्न पदार्थ में भी संकेत नहीं घट सकता । कारण यह है कि पहले तो जिस अर्थ में संकेत करना है उस के विषय में अनुभव उत्पन्न होना चाहिये, अनुभव होने के बाद उस अर्थ के लिये जिस शब्द का संकेत करना चाहते हैं उस शब्द का स्मरण करना होगा, क्योंकि उस के विना ही अगर संकेत हो जायेगा तो अस्मृत अन्य भी हजारों शब्दों का संकेत हो जायेगा । फिर जब शब्द का स्मरणकाल आयेगा उस के पूर्व क्षण में ही (अर्थात् अनुभवक्षण में ही) स्वलक्षण तो नष्ट हो गया होगा । तात्पर्य, जैसे अनागत पदार्थ में संकेत का सम्भव नहीं है तो वैसे उत्पन्न पदार्थ में भी संकेत का सम्भव कैसे होगा ? संकेत क्रिया काल में न तो अनुत्पन्न स्वलक्षण संनिहित है, न तो उत्पन्न स्वलक्षण संनिहित है । देखिये – अनुभव यह कार्यक्षण है और उस का कारण है स्वलक्षण जो पूर्वक्षण में ही हो सकता है और क्षणिक है इसलिये वह अनुभवोत्त्पति क्षण में ही जब सत्ता को खो बैठता है तो फिर अनुभव के पश्चात् होने वाले अभेद का अनुसंधान और शब्दविशेष के उपयोगकाल में उसका स्मरण; यहाँ तक तो वह कैसे स्थिर बना रहेगा ?

★ समानजातीय क्षणान्तर में संकेत का असम्भव ★

अगर ऐसा कहें कि– "स्वलक्षण के उत्तरक्षण में स्वलक्षण स्वयं नष्ट हो जाने से उसमें यद्यपि संकेत संभव भले न हो, किन्तु उस स्वलक्षण के सामर्थ्यबल से उत्तरकाल में यानी संकेतक्रिया के काल में जो उसका सजातीय क्षण उत्पन्न होगा उसमें ही संकेत का संभव मान लेंगे ।" – तो यह सम्भवित नहीं है, क्योंकि जिस स्वलक्षण में संकेत का अभिप्राय था उस से तो यह भिन्न है । कहने का मतलब यह है कि संकेतकरणकाल में यद्यपि अन्य क्षण संनिहित है किन्तु संकेतकर्त्ता का अभिप्राय उस में संकेत करने का नहीं था, जिस में

नापि शब्दस्वलक्षणस्य । तथाहि – समयकृत् स्मृत्युपस्थापितमेव नामभेदमर्थेन योजयति । न च स्मृतिर्भावतोऽनुभूतमेवाभिलापमुत्थापयितुं शक्नोति तस्य चिरनिरुद्धत्वात्, यं चोच्चारयति तस्य पूर्वमननुभूतत्वान्न तत्र स्मृतिः, न चाऽविषयीकृतस्तया समुत्थापयितुं शक्यः । अतः स्मृत्युपस्थापितमनुसन्धीयमानं विकल्पनिर्मितत्वेनास्वलक्षणमेवेति न स्वलक्षणत्वेऽस्य समयः । तस्मादव्यपदेश्यं स्वलक्षणमिति सिद्धम् ।

इतश्च स्वलक्षणमव्यपदेश्यम् शब्दबुद्धौ तस्याऽप्रतिभासनात् । यथा हि उष्णाद्यर्थविषयेन्द्रियबुद्धिः स्फुटप्रतिभासाऽनुभूयते न तथोष्णादिशब्दप्रभवा । न ह्युपहतनयनादयो मातुलिङ्गादिशब्दश्रवणात् तद्रूपाद्यनुभाविनो भवन्ति यथाऽनुपहतनयनादयोऽक्षबुद्ध्याऽनुभवन्तः । यथोक्तम् – [वाक्यप० २-४२५]

था वह तो नष्ट हो गया । इसलिये यहाँ संकेत का संभव नहीं मान सकते । कोई पुरुष अश्व को देखने के बाद उस के नाम का स्मरण तो करे और अश्व में संकेत का अभिप्राय भी करे यहाँ तक तो ठीक है, किन्तु संकेतकरण काल में अगर अश्व से भिन्न धेनु आदि उपस्थित (संनिहित) हो जाय तो उसमें संकेत करने का अभिप्राय न रहने पर भी संकेतकर्त्ता उसी धेनु आदि में 'अश्व' ऐसा संकेत करने लग जाय ऐसा कभी नहीं होता ।

यदि ऐसा कहें कि – "स्वलक्षण सभी समान ही होते हैं अतः उन के साम्य से संकेतकरण क्षण में पूर्व स्वलक्षण क्षण के अभेद का अध्यवसाय होने पर उस में संकेत भी शक्य हो जायेगा" – तो यह गलत बात है । कारण, एक दूसरे से सर्वथा विलक्षण ऐसे स्वलक्षणों में विकल्पबुद्धि से समानता का आरोप ही हुआ, और वही शब्दध्वनियों से प्रतिपादित हो रहा है, इस का मतलब यही हुआ कि स्वलक्षण तो शब्द से अवाच्य ही रहा । निष्कर्ष, स्वलक्षण में किसी भी ढंग से संकेत का सम्भव नहीं रहा ।

★ शब्दस्वलक्षण का संकेत असम्भव ★

अर्थस्वलक्षण में जैसे संकेत का सम्भव नहीं है, वैसे शब्दरूप स्वलक्षण का भी संकेत शक्य नहीं है । देखिये – एक बात निश्चित ही है कि कोई भी संकेतकर्त्ता उसी नामविशेष की अर्थ के साथ संयोजना कर सकता है जो स्मरण से उपस्थित हो । अब यह सोचना पड़ेगा कि स्मृति पूर्वानुभूत नाम का या वर्त्तमान में उच्चारित नाम का उपस्थापन कर सकती है या नहीं ? जो अभिलाप (यानी नाम) पूर्व में अनुभूत (यानी उच्चारित) है उस का वर्त्तमान में उत्थापन शक्य ही नहीं है क्योंकि वह तो स्मरण के पूर्व ही खतम हो चुका है । तथा स्मृति जो पूर्व में अनुभूत न हो उस को तो स्पर्श भी नहीं कर सकती, इसलिये वर्त्तमान में जो नाम उच्चारित हो रहा है उस का भी स्मरण से उत्थापन कभी शक्य नहीं रहता । इस का मतलब यही हुआ कि स्मृति से उपस्थित होने वाले जिस का अनुसन्धान किया जा रहा है वह न तो पूर्वानुभूत शब्द है, न तो वर्त्तमान में उच्चारित शब्द है । तब वह क्या है ? सिर्फ बुद्धिकल्पित शब्द ही है शब्दस्वलक्षणात्मक वह नहीं है, तो फिर उसका अर्थ के साथ संयोजन रूप संकेत कैसे माना जा सकता है ? निष्कर्ष यही सिद्ध होता है कि स्वलक्षण सर्वथा अव्यपदेश्य है, न तो शब्द से स्वलक्षण का निर्देश हो सकता है, न तो शब्द उस का निर्देशक हो सकता है ।

★ स्वलक्षण, शब्द से अव्यपदेश्य ★

शब्दजन्यबुद्धि में स्वलक्षण का प्रतिभास नहीं होता, इसलिये भी यह शब्द से अव्यपदेश्य (अवाच्य) मानना चाहिये । स्पर्शनादि इन्द्रियों से उत्पन्न बुद्धि में जैसे उष्णतादि अर्थ का विशद या स्फुट प्रतिभास होता है वैसा

''अन्यथैवाऽग्निसम्बन्धाद् दाहं दग्धोऽभिमन्यते । अन्यथा दाहशब्देन दाहार्थः सम्प्रतीयते ।

न च यो यत्र न प्रतिभाति स तद्विषयोऽभ्युपगन्तुं युक्तः अतिप्रसंगात् । तथा च प्रयोगः – 'यो यत्कृतप्रत्यये न प्रतिभासते न स तस्यार्थः, यथा रूपशब्दजनिते प्रत्यये रसः, न प्रतिभासते च शाब्दप्रत्यये स्वलक्षणम्' इति व्यापकानुपलब्धिः । अत्र चातिप्रसंगो बाधकं प्रमाणम् । तथाहि – शब्दस्य तद्विषयज्ञानजनकत्वमेव तद्वाधकत्वमुच्यते नान्यत्, न च यद्विषयं ज्ञानं यदाकारशून्यं तत् तद्विषयं युक्तम् अतिप्रसंगात् । न चैकस्य वस्तुनो रूपद्वयमस्ति स्पष्टमस्पष्टं च येनास्पष्टं वस्तुगतमेव रूपं शब्दैरभिधीयते, एकस्य द्वित्वविरोधात् । भिन्नसमयस्थायिनां च परस्परविरुद्धस्वभावप्रतिपादनान्न शब्दगोचरः स्वलक्षणम् ।

'उष्ण' आदि शब्द से उत्पन्न बुद्धि में उष्णतादि का स्पष्ट भान नहीं होता है । तथा अविनष्ट चक्षुवाले लोगों के नेत्र से उत्पन्न बुद्धि में बीजोरा आदि फलों का जैसा रूपादिविशिष्ट भान होता है वैसा रूपादिविशिष्ट अनुभव, नष्टचक्षुवाले लोगों को 'बीजोरा' आदि शब्द के श्रवण से नहीं होता है ।

वाक्यपदीयग्रन्थ में कहा है कि – ''अग्नि के सम्बन्ध' से जो जलन का अनुभव जलनेवाले को होता है और जो 'दाह' (जलन) शब्द से ज्वलनरूप अर्थ का बोध होता है – ये दोनों सर्वथा भिन्न होते हैं ।''

मतलब यह है कि जो वास्तविक अर्थ होता है वह तो शब्दबुद्धि में भासता नहीं । तब जिस प्रतीति में जो नहीं भासता है उस को उस प्रतीति का विषय नहीं मानना चाहिये, अगर मानेंगे तो अश्व की प्रतीति होने पर गधे को उस का विषय मानना पडेगा – यह अतिप्रसंग होगा । यहाँ व्यापकानुपलब्धिरूप अनुमान का प्रयोग इस प्रकार हो सकता है – जिस से जन्य प्रतीति में जो नहीं भासता है वह उस से जन्य प्रतीति का विषयभूत नहीं होता । जैसे, 'रूप' शब्द से जन्य प्रतीति में रस नहीं भासता है तो रस 'रूप'शब्दजन्य प्रतीति का विषयभूत नहीं होता है । शब्दजन्य प्रतीति में स्वलक्षण भासता नहीं है । (इसलिये स्वलक्षण को शब्दजन्य प्रतीति का विषयभूत नहीं होना चाहिये ।) इस अनुमानप्रयोग में तत्प्रतीतिविषयत्व व्याप्य है और तत्प्रतीतिप्रतिभास व्यापक है, इस व्यापक की अनुपलब्धि रूप हेतु से व्याप्य का अभाव सिद्ध किया गया है । यदि कोई पूछे कि 'तत्प्रतिभास के न रहने पर भी तद्विषयता मानने में कौन सा बाधक प्रमाण है ?' तो अतिप्रसंग ही इस विपक्षबाधक पृच्छा का प्रत्युत्तर है । तात्पर्य यह है कि 'तद्विषय के ज्ञान का जनक होना यही शब्द का 'तद्वाचकत्व' कहा जाता है दूसरा कुछ नहीं, किन्तु जिस (घट) विषय का ज्ञान जिस (पट) के आकार से शून्य होता है, वह (घट) ज्ञान तद्विषयक (पटविषयक) मानना संगत नहीं है क्योंकि तब तो गर्दभाकारशून्य अश्वविषयक ज्ञान को भी गर्दभविषयक मानने का अतिप्रसंग खडा ही है ।

यदि कहें कि – 'वस्तु के दो वास्तविक रूप होते हैं, एक स्पष्ट और दूसरा अस्पष्ट । इनमें दूसरा जो वास्तविक अस्पष्ट रूप है वही शब्दवाच्य होता है' – तो यह भी ठीक नहीं है । कारण, एक वस्तु के परस्पर विलक्षण दो रूप होते नहीं है क्योंकि एक वस्तु में विलक्षण दो रूप विरोधग्रस्त है । यदि कहें कि – स्पष्ट और अस्पष्ट ये दो रूप समसामयिक नहीं होते, प्रथम क्षण में स्पष्ट रूप होता है और जब दूसरे क्षण में शब्दप्रयोग किया जाता है उस क्षण में अस्पष्टरूप होता है – तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि शब्दप्रयोग तो प्रथमक्षण के स्पष्टरूपवाले स्वलक्षण के प्रतिपादन के अभिप्राय से किया जाता है, और प्रतिपादन तो अस्थिर, स्पष्टरूप से विरुद्ध यानी अस्पष्टरूप स्वभाव का होता है – इस का फलितार्थ तो यही हुआ कि स्वलक्षण शब्द

[पदार्थविषये न्यायसूत्रकाराभिप्रायविवेचनम्]

नैयायिकास्तु 'व्यक्त्याकृतिजातयस्तु पदार्थः' [न्यायद० २-२-६५] इति प्रतिपन्नाः । तत्र व्यक्तिशब्देन द्रव्य-गुण-विशेष-कर्माण्यभिधीयन्ते । तथा च सूत्रम् 'व्यक्तिर्गुणविशेषाश्रयो मूर्तिः' [न्यायद० २-२-६६] इति ।

अस्यार्थो वार्त्तिककारमतेन - X'विशिष्यते इति विशेषः, गुणेभ्यो विशेषो गुणविशेषः कर्माभिधीयते, द्वितीयश्चात्र गुणविशेषशब्द एकशेषं कृत्वा निर्दिष्टः तेन गुणपदार्थो गृह्यते – गुणाश्च ते विशेषाश्च गुणविशेषाः विशेषग्रहणमाकृतिनिरासार्थम् । तथाहि– आकृतिः संयोगविशेषस्वभावा, संयोगश्च गुणपदार्थान्तर्गतः ततश्चासति विशेषग्रहणे आकृतेरपि ग्रहणं स्यात्, न च तस्या व्यक्तावन्तर्भाव इष्यते पृथक् स्वशब्देन तस्या उपादानात् । आश्रयशब्देन द्रव्यमभिधीयते – तेषां गुणविशेषाणामाश्रयस्तदाश्रयो द्रव्यमित्यर्थः ।

का विषय नहीं बन सकता'।

★ नैयायिक मत से व्यक्ति आदि पदार्थ ★

"व्यक्ति-आकृति-जातयः तु पदार्थः" इस न्यायदर्शन के सूत्र अनुसार नैयायिकवादी कहते हैं कि व्यक्ति, आकृति और जाति ये पद के वाच्यार्थ हैं । यहाँ व्यक्ति शब्द से द्रव्य, गुणविशेष और कर्म का ग्रहण किया गया है । न्यायदर्शन का ऐसा सूत्र भी है – 'व्यक्तिः गुणविशेषाश्रयो मूर्तिः' इस सूत्र का अर्थ वार्त्तिककार के मत से निम्न प्रकार से है –

गुणविशेष शब्द में 'विशेष' शब्द की कर्म अर्थ में व्युत्पत्ति 'विशिष्यते इति विशेषः' ऐसी है । 'गुणों से विशेष' (यानी गुणों से भिन्न, गुण जैसा पदार्थ) ऐसा समासविग्रह करने से यहाँ 'गुणविशेष' शब्द का फलितार्थ कर्म (यानी क्रिया) है । हालाँकि सूत्र में 'गुणविशेष' शब्द एक बार ही आया है किन्तु व्याकरणसूत्र के अनुसार यहाँ 'गुणविशेषश्च गुणविशेषश्च' ऐसा एकशेष समास मान लेने से दो गुणविशेष शब्द की प्राप्ति होती है । उन में से एक का अर्थ हो गया । दूसरे गुणविशेष शब्द से गुणपदार्थ का ही ग्रहण करना है, वह कर्मधारय समास से प्राप्त होता है 'गुणाश्च ते विशेषाश्च इति गुणविशेषाः' । प्रश्न : यहाँ 'गुण' इतना कहने से भी गुण का ग्रहण हो सकता है फिर 'विशेष' शब्द का प्रयोजन क्या ? उत्तर : ध्यान में रहे कि यहाँ 'व्यक्ति' शब्द की व्याख्या में आये हुए गुणविशेष शब्द का अर्थ किया जा रहा है । और पहले न्यायसूत्र में पद के वाच्यार्थ दिखाते हुए व्यक्ति से आकृति का पृथग् ग्रहण किया है । यदि 'विशेष' शब्द न लिया जाय तो संयोगविशेषस्वरूप ही आकृति का 'गुण' शब्द से ग्रहण हो जाने पर व्यक्ति में ही उसका अन्तर्भाव हो जाने से 'आकृति' शब्द द्वारा उस का पृथक् ग्रहण असंगत हो जाता है । इसलिये आकृति की व्यावृत्ति करने हेतु 'गुणविशेष' ऐसा कहा है । 'गुणविशेषों का आश्रय मूर्तिरूप व्यक्ति है' इस विधान में आश्रय शब्द से गुणविशेषों के आश्रयरूप में द्रव्य का ग्रहण अभिप्रेत है ।

प्रश्न :- अगर 'गुण विशेषों का आश्रय=गुणविशेषाश्रय' ऐसा षष्ठीतत्पुरुष समास करेंगे तो [illegible] व्यक्ति में अन्तर्भाव होगा, गुणविशेषों का कैसे होगा ?

X [illegible]

सूत्रे 'तत्'शब्दलोपं कृत्वा निर्देशः कृतः, एवं च विग्रहः कर्त्तव्यः– गुणविशेषाश्च गुणविशेषाश्चेति गुणविशेषाः तदाश्रयश्चेति गुणविशेषाश्रयः, समाहारद्वन्द्वश्चायम् । "लोकाश्रयत्वाद् लिङ्गस्य" [२-२-२९ महाभाष्ये पृ० ४७१ पं० ८] इति नपुंसकलिङ्गाऽनिर्देशः । तेनायमर्थो भवति योऽयं गुणविशेषाश्रयः सा व्यक्तिश्चोच्यते मूर्तिश्चेति । तत्र यदा द्रव्ये मूर्तिशब्दस्तदाऽधिकरणसाधनो द्रष्टव्यः – मूर्छन्त्यस्मिन्नवयवा इति मूर्तिः, यदा तु रूपादिषु तदा कर्तृसाधनः – मूर्छन्ति द्रव्ये समवयन्तीति रूपादयो मूर्त्तिः । व्यक्तिशब्दस्तु द्रव्ये कर्मसाधनः रूपादिषु करणसाधनः [२-२-६८ न्या०वा० पृ० ३३२ पं० ३-२४ द्रष्टव्या]

भाष्यकारमतेन च यथाश्रुति सूत्रार्थः- गुणविशेषाणामाश्रयो द्रव्यमेव व्यक्तिर्मूर्त्तिश्चेति तस्येष्टम् । यथोक्तम् – "गुणविशेषाणां रूप-रस-गन्ध-स्पर्शानाम् गुरुत्व-द्रवत्व-घनत्व-संस्काराणाम् अव्यापिनश्च परिणामविशेषस्याश्रयो यथासम्भवं तद् द्रव्यं मूर्तिः मूर्छितावयवत्वात्" [न्यायद० भा० पृ० २२४]

आकृतिशब्देन प्राण्यवयवानां पाण्यादीनाम् तदवयवानां चाङ्गुल्यादीनां संयोगोऽभिधीयते । तथा च सूत्रम् "आकृतिर्जातिलिङ्गाख्या" [न्यायद० २-२-६७] इति ।

उत्तर :- यहाँ सूत्र में 'तत्' शब्द का लोप कर के 'व्यक्तिः गुणविशेषाश्रयः' ऐसा कहा है, इस का मतलव यह है कि यहाँ पूरे समास का विग्रह इस प्रकार करना है – 'गुणविशेषाश्च गुणविशेषाश्च इति गुणविशेषाः' यह एकशेष समास और 'गुणविशेषाश्च तदाश्रयश्च इति गुणविशेषाश्रयः' ऐसा समाहारद्वन्द्व समास । समाहार द्वन्द्व समास करने से 'गुणविशेषाश्रयौ' ऐसा द्विवचन करना नहीं पडता । एकवचन ही संगत है । किंतु उस को नपुंसकलिंग होना चाहिए फिर भी पुल्लिंग किया है उसका कारण यह है कि व्याकरणमहाभाष्य में कहा है कि शब्दों का लिंगप्रयोग लोकाश्रित है । इसलिये लोक का अनुसरण करके यहाँ पुल्लिंगप्रयोग करने में कोई वाध नहीं है ।

व्यक्तिशब्द की व्याख्या का फलितार्थ यह हुआ कि कर्म आकृतिभिन्न गुण और उसका जो आश्रय (द्रव्य) ये सव व्यक्ति भी कहे जाते हैं और मूर्ति भी कहे जाते हैं । द्रव्य के अर्थ में जव मूर्ति शब्द लेते हैं तो उसकी व्युत्पत्ति अधिकरण अर्थ में की जाती है – 'जिस में अवयवों का मूर्छन यानी संमिलन होता है वह मूर्त्ति' ! जव रूपादि गुण या कर्म के अर्थ में लेंगे तव कर्त्ता अर्थ में उसकी व्युत्पत्ति ऐसी होगी – द्रव्य में जो मूर्छित होने वाले यानी समवेत हो कर रहने वाले हैं वे रूपादि मूर्त्ति हैं । व्यक्तिशब्द का भी जव द्रव्यरूप अर्थ लेंगे तो कर्म अर्थ में उसकी व्युत्पत्ति होगी - 'व्यज्यते असौ = जो (रूपादि से) अभिव्यक्त होता है वह=व्यक्ति' । जव रूपादि अर्थ लेगें तो करण अर्थ में उसकी व्युत्पत्ति होगी 'व्यज्यते अनेन'=जिस से (द्रव्य) व्यक्त होता है वह=रूपादि ।

☆ भाष्यकारमत से व्यक्ति०सूत्र का पदार्थ ☆

'व्यक्तिः गुणविशेषाश्रयो मूर्तिः' इस सूत्र का वार्त्तिककारसंमत अर्थ दिखाया, अव भाष्यकार के मत से जो उस का यथाश्रुत यानी शब्दानुसारी अर्थ है वह दिखाते हैं – गुणविशेषों का जो आश्रय होता है वही व्यक्ति है और उसी को मूर्ति भी कहते हैं – ऐसा भाष्यकार का मत है । भाष्य में ही कहा है कि रूप-रस-गन्ध-स्पर्श, गुरुत्व द्रव्यत्व-घनत्व-संस्कार तथा अव्यापक परिमाणविशेष ये गुणविशेष हैं और उस का जो यथासंभव आश्रय हो उदा० रूप-रसादि का पृथ्वी आदि – यह आश्रय द्रव्य है और उसी में अवयवों का मूर्च्छन (संमीलन)

अस्य भाष्यम् – "यया जातिर्जातिलिङ्गानि च व्याख्यायन्ते तामाकृतिं वियात् सा च सत्त्वावयवानाम् तदवयवानां च नियतो व्यूहः ।" [न्याय० भा० पृ० २२५] 'व्यूह' शब्देन संयोगविशेष उच्यते, नियतग्रहणेन कृत्रिमसंयोगनिरासः । तत्र जातिलिङ्गानि प्राण्यवयवाः शिरःपाण्यादयः – तैर्हि गोत्वादिलक्षणा जातिर्लिङ्ग्यते, आकृत्या तु कदाचित् साक्षाज्जातिर्व्यज्यते यदा शिरःपाण्यादिसंनिवेशदर्शनाद् गोत्वं व्यज्यते, कदाचिज्जातिलिङ्गानि यदा विषाणादिभिरवयवैः पृथक् पृथक् स्वावयवसंनिवेशाभिव्यक्तैर्गोत्वादिर्व्यज्यते, तेन जातेस्तल्लिङ्गानां च प्रख्यापिका भवत्याकृतिः।

जातिशब्देनाभिन्नाभिधानप्रत्ययप्रसवनिमित्तं सामान्याख्यं वस्तूच्यते । तथा च सूत्रम् – "समानप्रत्ययप्रसवात्मिका जातिः" [न्यायद० २-२-६८] इति समानप्रत्ययोत्पत्तिकारणं जातिरित्यर्थः ।

तत्र व्यक्त्याकृत्योः एतेनैव स्वलक्षणस्य शब्दार्थत्वनिराकरणेन शब्दार्थत्वं निराकृतम् । तथाहि–यथा स्वलक्षणस्याऽकृतसमयत्वादशब्दार्थत्वं तथा तयोरपीति 'अकृतसमयत्वात्' इत्यस्य हेतोर्नाऽसिद्धिः,

---

होने से उस को मूर्ति भी कह सकते हैं । [इस प्रकार 'व्यक्ति' शब्द का अर्थ कथन समाप्त हुआ, अब 'आकृति' शब्द का अर्थ दिखाते हैं]

★ भाष्यकारमत से आकृति का स्वरूप ★

प्राणिवर्ग के हस्त-पादादि अवयवों का तथा उन अवयवों के अंगुली आदि उपांगो का संयोग, आकृतिशब्द से यहाँ लक्षित है । सूत्र में ही कहा है "आकृतिर्जातिलिङ्गाख्या" [न्यायद० २-२-६७] इति । इस सूत्र का अर्थ करते हुए भाष्य में कहा है कि जिस से जाति और जातिव्यञ्जकलिंग पीछाने जाते हैं वही आकृति है ऐसा समझना । मतलब यह है कि प्राणी के हस्तादि अवयव और उनके अंगुली आदि उप-अवयवों का जो नियत [यानी विशिष्ट प्रकार का] व्यूह, वही आकृति है । व्यूह यानी संयोगविशेष । यहाँ नियत व्यूह को ही आकृति कहा है इस में नियतपद से कृत्रिम संयोग का व्यवच्छेद हो जाता है । कृत्रिम संयोग यानी जन्मजात जो अंगुली आदि का कुदरती संयोग होता है वैसा नहीं किन्तु एक हस्त की अंगुली का अन्य हस्त की अंगुलीयों से संयोजन इत्यादि, ऐसा कृत्रिम व्यूह यहाँ 'आकृति' शब्द से नहीं लेना है । शीर्ष हस्त पैर आदि प्राणि-अवयवों को जातिलिंग कहते हैं क्योंकि उन से गोत्व, अश्वत्व आदि जाति का लिंगन (यानी अभिव्यक्ति) होता है ।

आकृति से कभी तो साक्षात् जाति की अभिव्यक्ति होती है । उदा० शीर्ष हस्त आदि अवयवों की विशिष्टरचना को देखने से गोत्व का भान होता है । कभी तो आकृति से जातिलिंग की अभिव्यक्ति और उन के द्वारा गोत्वादि की अर्थात् परम्परा से अभिव्यक्ति होती है, उदा० विषाणादि के अवयवों की अपनी अपनी रचना से यानी आकृति से प्रथम जातिलिंगरूप विषाणादि की अभिव्यक्ति होती है और उन विषाणादि की अभिव्यक्ति से गोत्वादि की अभिव्यक्ति होती है । इस प्रकार आकृति ही जाति और जातिलिंगो की अभिव्यञ्जिका होती है ।

★ जाति आदि में पदवाच्यत्व का निषेध ★

व्यक्ति और आकृति की बात हो चुकी, अब जाति की बात करते हैं । भिन्न भिन्न वस्तुओं के लिये समान नामप्रयोग एवं समान प्रतीति में जो निमित्तभूत 'सामान्य' अपरनाम [illegible] तत्त्व होता है वही जाति शब्द से यहाँ अभिप्रेत है । सूत्र में कहा है - 'समानप्रसवात्मिका जातिः' । इसीलिये यहाँ जाति

नाप्यनैकान्तिकता । अपि च, व्यक्तिर्द्रव्य-गुणविशेषकर्मलक्षणा, आकृतिश्च संयोगात्मिका, एते च द्रव्यादयः प्रतिषिद्धत्वाद् असन्तः कथं शब्दार्थतामुपयान्ति ?

[२-४ जाति-तद्योग-तद्वत्सु संकेताऽसम्भवप्रदर्शनम्]

एवं स्वलक्षणवज्जाति-तद्योग-जातिमत्स्वपि जात्यादेरसम्भवात् समयाऽसम्भवः । यथा च जातेस्तद्योगस्य च समवायस्याऽसम्भवस्तथा प्रागेव प्रतिपादितम्, जाति तद्योगयोश्चाभावे तद्वतोऽप्यसम्भव एव तत्कृतत्वात् तद्वयपदेशस्य, तद्वतश्च स्वलक्षणात्मकत्वात् तत्पक्षभावी दोषः समान एव ।

[पदवाच्यविषयाणि वाजध्यायन-व्याडि-पाणिनीनां मतानि]

'जातिः पदार्थः' इति वाजध्यायनः । 'द्रव्यम्' इति व्याडिः । 'उभयम्' पाणिनिः । तदप्यनेनैव निरस्तम् जातेरयोगाद् द्रव्यस्य च स्वलक्षणात्मकत्वात् तत्पक्षभाविदोषानतिवृत्तेः ।

को 'समानप्रतीतिजन्म'रूप ही कहा है किन्तु बहुव्रीहीसमास करने से उस का तात्पर्य है – समान प्रतीति की उत्पत्ति का जो कारण है वही जाति है ।

अब बौद्धवादी कहता है कि उक्त रीति से नैयायिकों ने जो जाति-आकृति और व्यक्ति को पदवाच्य कहा है, उसमें व्यक्ति और आकृति में पदवाच्यत्व का निराकरण तो स्वलक्षण में पदवाच्यत्व का निरसन करने से ही सम्पन्न हो जाता है । संकेत का सम्भव न होने के कारण जैसे स्वलक्षण पदवाच्य नहीं हो सकता उसी तरह व्यक्ति और आकृति में भी संकेत का सम्भव न होने से पदवाच्य संगत नहीं है । 'संकेत का सम्भव न होने से' यह हेतु व्यक्ति और आकृति रूप पक्ष में न तो असिद्ध है, न तो साध्यद्रोही है । विशेष तो यह कहना है कि न्यायमत में जो द्रव्य, गुणविशेष और कर्म रूप व्यक्ति तथा संयोगात्मक आकृति माने गये हैं उन का यदि परीक्षण करे तो वे सद् रूप से सिद्ध ही नहीं होते इसलिये उन का प्रतिषेध फलित होता है और प्रतिषेध हो जोने से जब उनकी सत्ता ही सिद्ध नहीं है तो फिर उन में पदवाच्यत्व की तो बात ही कहाँ ?

☆ जाति आदि में संकेत का असम्भव ☆

स्वलक्षण की तरह जाति, जातिसम्बन्ध और जातिमानों में भी संकेत का सम्भव नहीं है क्योंकि जाति आदि स्वयं ही असम्भवग्रस्त हैं । जाति और उसका समवायसम्बन्ध क्यों असम्भवग्रस्त हैं यह बात पहले खंड में (पृ.४५२ और पृ. ४३०) हो चुकी है । जब जाति और उसका सम्बन्ध ही असम्भवग्रस्त है तो जातिमान् तो सुतरां असम्भवग्रस्त हो जाता है क्योंकि जाति का सम्भव होने पर ही 'जातिमान्' ऐसा व्यवहार हो सकता है । कदाचित् जातिमान् को सत् मान ले तो वह स्वलक्षणरूप ही होगा और स्वलक्षण में तो संकेत का असम्भव दिखाने के लिये जो दोष कहा है वह जातिमान् को भी समानरूप से लगेगा ।

वाजध्यायन मत है कि जाति ही पदार्थ है । व्याडि के मत से द्रव्य ही पदार्थ है । पाणिनि के मत से जाति और द्रव्य दोनों ही पदार्थ हैं । ये तीनों ही मत पूर्वोक्त संदर्भ से निरस्त हो जाते हैं । जाति का तो सम्भव ही नहीं है और द्रव्य स्वलक्षणरूप होने पर जो दोष स्वलक्षण को पदवाच्य मानने में कहा है वह यहाँ भी लागू होता है ।

☆ बुद्धि-आकार में संकेत का असम्भव ☆

अगर ऐसा मानें कि 'बुद्धि के आकार में संकेत हो सकता है' तो यह भी असार है । कारण, बुद्धि का आकार बुद्धि के स्वरूप की तरह बुद्धि के साथ तादात्म्यापन्न ही होता है, इसलिये उस में किये हुओ संकेत

[बुद्ध्याकारे समयाऽसम्भवसाधनम्]

बुद्ध्याकारेऽपि न समयः सम्भवति, तस्य बुद्धितादात्म्येन व्यवस्थितत्वाद् नासौ तद्बुद्धिस्वरूपवत् प्रतिपाद्यमर्थं बुद्ध्यन्तरं वानुगच्छति, ततश्च संकेतव्यवहारकालाऽव्यापकत्वात् स्वलक्षणवत् कथं तत्रापि समयः ? भवतु वा तस्य व्यवहारकालान्वयस्तथापि न तत्र समयो व्यवहर्तॄणां युक्तः । तथाहि - 'अपि नामैतः शब्दादर्थक्रियार्थी पुमानर्थक्रियाक्षमानर्थान् विज्ञाय प्रवर्त्तिष्यते' इति मन्यमानैर्व्यवहर्तृभिरभिधायका ध्वनयो नियोज्यन्ते न व्यसनितया, न चासौ विकल्पो बुद्ध्याकारोऽभिप्रेतशीताऽपनोदादिकार्यं तदर्थिनः सम्पादयितुमलम् तदनुभवोत्पत्तावपि तदभावात् तेन तत्रापि समयाभावान्नासिद्धः 'अकृतसमयत्वात्' इति हेतुः ।

[१-अस्त्यर्थवादिमतम्]

*अथ अस्त्यर्थादयोऽपरे शब्दार्थाः सन्ति, ततश्च तत्र समयसम्भवादसिद्धतैव हेतोः । तथाहि– 'अस्त्यर्थः' इति यदेतत् प्रतीयते तदेव सर्वशब्दानामभिधेयं न विशेषः, यथैव ह्यपूर्व-देवतादिशब्दा

का प्रतिपादनकाल में प्रतिपाद्य अर्थ में या अन्य बुद्धि-आकार में अनुगमन या क्रमण संभव ही नहीं है । फलतः संकेतकाल में बुद्धि-आकार में किया गया संकेत व्यवहारकाल तक व्यापक न होने से निरर्थक ही रहेगा जैसे कि क्षणिक स्वलक्षण के लिये पहले कहा गया था । जब इस प्रकार संकेत निष्फल होगा तो फिर बुद्धि-आकार में संकेत कैसे मान्य हो सकता है ? कदाचित् मान लिया जाय कि संकेत व्यवहारकाल तक अनुगामी है फिर भी व्यवहारकर्त्ताओं के बीच बुद्धिआकार में संकेत की मान्यता युक्तिसंगत सिद्ध नहीं होती । देखिये, व्यवहारी लोग सिर्फ व्यसनमात्र से शब्दध्वनियों का प्रयोग नहीं करते हैं किन्तु "हमारे कहे हुए 'अग्नि' आदि शब्दप्रयोग को सुन कर शीतादिअपनयन रूप अर्थक्रिया का अर्थी श्रोताजन शीतादिअपनयन के लिये समर्थ 'अग्नि' आदि अर्थ को जानेगा और उस के लिये प्रवृत्ति करेगा" ऐसा समझ कर ही व्यवहारी लोग अर्थप्रतिपादक शब्दों का प्रयोग करते हैं । यदि 'अग्नि' आदि शब्दों का संकेत बुद्धि-आकार स्वरूप विकल्प में ही मानेंगे तो श्रोता को अग्नि आदि शब्द से बुद्धि-आकार का ही भान होगा और प्रवृत्ति भी उस के लिये ही होगी न कि बाह्य 'अग्नि' के लिये । सब जानते हैं कि बुद्धि-आकार स्वरूप 'अग्नि' से कभी भी शीतअपनयन आदि वांछित कार्य के अर्थी को उस कार्य का सम्पादन शक्य नहीं है क्योंकि बुद्धि-आकार का अनुभव होने पर भी उस के लिये प्रवृत्ति और उस के द्वारा वांछितकार्य की उत्पत्ति होती नहीं है । निष्कर्ष, बुद्धिआकार में भी संकेत का सम्भव न होने से हमने जो पहले हमारे अनुमानप्रयोग में 'अकृतसमयत्व' हेतु कहा है वह असिद्ध नहीं है ।

★ शब्दों का प्रतिपाद्य है अस्ति-अर्थ ★

अब अस्ति-अर्थ, समुदायरूप अर्थ....इत्यादि को शब्दार्थ मानने वाले अलग अलग मत मतवादियों का क्रमशः कहना है कि - अस्ति अर्थ......इत्यादि ही शब्दवाच्य अर्थ है और उन के वाचक शब्दों में संकेत की पूरी सम्भावना होने से 'अकृतसमयत्व' यह हेतु असिद्ध है ।

प्रथम अस्ति-अर्थवादी कहता है 'अस्ति अर्थः' 'कुछ अर्थ है' ऐसा जो शब्द श्रवण के बाद अर्थसामान्य प्रतीत होता है वही शब्दमात्र का प्रतिपाद्य अर्थ है, और कोई विशेष पदार्थ शब्द का वाच्य नहीं होता । उदा०

* [illegible]

नार्थाकारं विशेषं बुद्धिषु सन्निवेशयन्ति केवलं तत्रैतावत् प्रतीयते 'सन्ति केऽप्यर्थाः येष्वपूर्वादयः शब्दाः प्रयुज्यन्ते' तथा दृष्टार्थेष्वपि गवादिशब्देष्वेतत् तुल्यम्, यतस्तेभ्योऽप्येवं प्रतीतिरुपजायते 'अस्ति कोऽप्यर्थो यो गवादिशब्दाभिधेयो गोत्वादिः', यस्तु तत्राकारविशेषपरिग्रहः केषाञ्चिदुपजायते स तेषां सिद्धान्तबलात् न तु शब्दात् ।

[२-समुदायार्थवादिमतम्]

अपरे "ब्राह्मणादिशब्दैस्तपो-जाति-श्रुतादिसमुदायो विना विकल्प-समुच्चयाभ्यामभिधीयते यथा वनादिशब्दैर्धवादयः" इत्याहुः । तथाहि 'वनम्' इत्युक्ते 'धवो (वा) खदिरो वा' इति न विकल्पेन प्रतीतिरुपजायते नापि 'धवश्च खदिरश्च' इति समुच्चयेन अपि तु सामस्त्येन प्रतीयन्ते धवादयः । तथा 'ब्राह्मणः' इत्युक्ते 'तपो वा जातिर्वा श्रुतं वा' 'तपश्च जातिश्च श्रुतं च' इति न प्रतिपत्तिर्भवति, अपि तु साकल्येन सम्बन्ध्यन्तरव्यवच्छिन्नास्तपःप्रभृतयः संहताः प्रतीयन्त इति । बहुष्वनियतैकसमुदायिभेदावधारणं विकल्पः, एकत्र युगपदभिसम्बध्यमानस्य नियतस्यैकस्य (स्यानेकस्य) स्वरूपभेदावधारणं समुच्चयः, तद्व्यतिरेकेणात्र प्रतिपत्तिर्लोकप्रतीतैव ।

जिस वस्तु का कभी दर्शन नहीं हुआ वैसे अपूर्व (अदृष्ट) अथवा देवतादि के वाचक शब्दों से कोई विशेष अर्थाकार बुद्धि में आरूढ नहीं होता सिर्फ 'अपूर्व' आदि शब्दों को सुन कर वहाँ इतना ही भास होता है कि "ऐसे कुछ अर्थ हैं कि जिनके लिये अपूर्व-आदि शब्द प्रयुक्त होते हैं । इस उदाहरण की तरह धेनु आदि अर्थों के लिये प्रयुक्त गौ-आदि शब्दों में भी समानता है क्योंकि यहाँ भी गौ आदिशब्दों से भी ऐसी ही प्रतीति उत्पन्न होती है कि "है कोइ ऐसा गोत्वादि अर्थ जो गौ-आदिशब्द का प्रतिपाद्य है ।" हाँ यहाँ जो विशिष्ट आकार आदि का भी सह भान होता है वह केवल अपने सिद्धान्त की वासना के बल से ही होता है न कि शब्द से । मतलब यह है कि "अमुक विशिष्ट आकार वाले पिण्ड को गौ कहते हैं" ऐसा सिद्धान्त (या पूर्वशिक्षा) जो अपने मनमें रूढ हो गया होता है उसकी वासना के बल से ही विशिष्ट आकार का भान होता है न कि 'गौ' शब्द से ।

★ २ - समुदाय ही शब्दार्थ है ★

अन्य पंडितों का कहना है कि – 'ब्राह्मण' आदि शब्दों से, न तो विकल्प से या न तो समुच्चयरूप से किन्तु समग्रतारूप से तप, जाति, श्रुत आदि गुणों के समुदाय का निरूपण होता है । उदा० 'वन' आदि शब्दों से धवादि का निरूपण होता है । जैसे देखिये – 'वन' शब्द बोलने पर, 'धव अथवा खदिर का वृक्ष' इस प्रकार कोई वैकल्पिक प्रतीति नहीं होती । एवं 'धव और खदिर' ऐसे समुच्चय की भी प्रतीति नहीं होती (विकल्प और समुच्चय की व्याख्या अभी आगे लिखते हैं) किन्तु समग्रतारूप से धवादि के समुदाय की प्रतीति होती है । इसी तरह 'ब्राह्मण' शब्द बोलने पर 'तप अथवा जाति या श्रुत' ऐसी वैकल्पिक प्रतीति नहीं होती । एवं 'तप और जाति और श्रुत' ऐसे समुच्चय की भी प्रतीति नहीं होती । किंतु संपूर्णरूप से युद्धप्रियता आदि अन्य क्षत्रियादिसम्बन्धि गुणों से विलक्षण ऐसे तप आदि समुदित हो कर समग्रता रूप से भासित होते हैं ।

विकल्प का अर्थ यह है कि – अनेक पदार्थों के समुदाय में से अनियतरूप से – यानी इच्छानुसार समुदायान्तर्गत विशेषपदार्थ का निर्देश करना । जैसे कि धव को देखो या खदिर के वृक्ष को देखो ।

समुच्चय का तात्पर्य यह है कि – किसी एक क्रिया के साथ एक साथ अन्वित होने वाले नियत अनेक

[३. असत्यसम्बन्धपदार्थवादिमतम्]

अपरं "द्रव्यत्वादिभिरनिर्धारितरूपैर्यः सम्बन्धो द्रव्यादीनां स शब्दार्थः"• स च सम्बन्धिनां शब्दार्थत्वेनासत्यत्वादसत्य इत्युच्यते । यद्वा तपःश्रुतादीनां मेचकवर्णवदैक्येन भासनादेषामेव परस्परमसत्यः संसर्गः । तथाहि – एते प्रत्येकं समुदिता वा न स्वेन रूपेणोपलभ्यन्ते किन्त्वलातचक्रवदेषां समूहः स्वरूपमुत्क्रम्यावभासते इति ।

[४. असत्योपाधिसत्यपदार्थवादिमतम्]

अन्ये त्वाहुः "यद् असत्योपाधि सत्यं स शब्दार्थः" तत्र स(?) शब्दार्थत्वेनाऽसत्या उपाधयो विशेषा वलयाऽङ्गुलीयकादयो यस्य सत्यस्य सर्वभेदानुपातिनः सुवर्णादिसामान्यात्मनस्तत् सत्यमसत्योपाधि शब्दप्रवृत्तिनिमित्तमभिधेयम् ।

पदार्थों में से एक एक का भिन्न भिन्न स्वरूप से निर्देश करना । जैसे कि, धव को भी देखो और खदिर को भी देखो – यहाँ एक ही दर्शनक्रिया में कर्मरूप से अन्वित होने वाले नियत अनेक पदार्थ धव और खदिर का भिन्न भिन्न स्वरूप से निर्देश किया गया है ।

वन और ब्राह्मण शब्द को बोलने पर अनियत रूप से या नियत एक एक रूप से धवादि की अथवा तपादि की वैकल्पिक या समुच्चयरूप से नहीं किंतु उस से सर्वथा विलक्षण समग्रतारूप से ही प्रतीति होती है, यह बात लोगों में भी प्रसिद्ध है ।

☆ ३ – असत्यसम्बन्ध और ४ – असत्योपाधिसत्य शब्दार्थ ★

अन्य विद्वानों का यह कहना है कि विवादास्पद स्वरूपवाले द्रव्यत्व जाति आदि के साथ जो द्रव्यादि का सम्बन्ध माना जाता है वही शब्द का वाच्यार्थ है । इस सम्बन्ध को असत्य कहा जाता है, क्योंकि उस के सम्बन्धिभूत द्रव्यत्वादि शब्दार्थरूप न होने से, शब्दार्थरूप से वे सत्य नहीं है । यही कारण है कि उन का सम्बन्ध भी सत्य नहीं है । अथवा शब्द से जो तप-जाति-श्रुत आदि का भान होता है वह न तो एक एक का पृथक् पृथक् रूप से होता है, न तो समुदायान्तर्गत एक एक समुदायि के रूप में होता है, किन्तु रंगबिरंगे वर्णों की भाँति सब मिल कर एकात्मक रूप से भासित होते हैं । इसलिये उनके परस्पर संसर्ग को असत्य कहा जाता है । जैसे अलातचक्र में एक ही ज्वाला होती है किन्तु परिभ्रमण के कारण असत्यभूत अनेक ज्वालाओं का एकरूप में भान कराने वाला असत्यभूत संसर्ग भासित होता है । वैसे ही असत्य द्रव्यत्वादि का द्रव्य के साथ असत्य संसर्ग शब्द से भासित होता है । कुछ विद्वान कहते हैं – असत्य उपाधियों के अन्तर्गत जो सत्य छीपा रहता है वही शब्दार्थरूप है । तात्पर्य यह है कि वलयावस्था, अंगुठी अवस्था इत्यादि जो सुवर्ण के विशेष पर्याय होते है वे असत्य उपाधि रूप है क्योंकि अस्थायी होते हैं इसी लिये शब्दार्थरूप नहीं है । जब कि उन सभी विशेषों में अन्तर्गत सामान्यरूप सुवर्ण सत्य होता है क्योंकि वह त्रिकालस्थायी होता है । इसलिये असत्य उपाधियों में छीपा हुआ जो सत्य है वही शब्द का प्रवृत्ति निमित्त है, वाच्यार्थ है । यानी सर्वोपाधिव्यापक जो सामान्य है वही शब्दार्थ है ।

•. [illegible] [वाक्य. कां० ३ पृ. ३० श्लोक १२६ [illegible]]

[५ - अभिजल्पपदार्थवादिमतम्]

अन्ये तु ब्रुवते - "शब्द एवाभिजल्पत्वमागतः शब्दार्थः" इति । स चाभिजल्पः 'शब्द एवार्थः' इत्येवं शब्दे अर्थस्य निवेशनम् 'सोऽयम्' इत्यभिसम्बन्धः, तस्माद् यदा शब्दस्यार्थेन सहैकीकृतं रूपं भवति तं स्वीकृतार्थाकारं शब्दमभिजल्पमित्याहुः ।

[६ - बुद्ध्यारूढाकारपदार्थवादिमतम्]

अन्ये तु "बुद्ध्यारूढमेवाकारं बाह्यवस्तुविषयं बाह्यवस्तुतया गृहीतं बुद्धिरूपत्वेनाऽविभावितं शब्दार्थम्" आहुः । तथाहि - यावद् बुद्धिरूपमर्थेष्वप्रत्यस्तं 'बुद्धिरूपमेव' इति तत्त्वभावनया गृह्यते तावत् तस्य शब्दार्थत्वं नावसीयते तत्र क्रियाविशेषसम्बन्धाभावात् । न हि 'गामानय' 'दधि खाद' इत्यादिकाः क्रियास्तादृशि बुद्धिरूपे सम्भवन्ति, क्रियायोगसम्भवी चार्थः शब्दैरभिधीयते, अतो बुद्धिरूपतया गृहीतोऽसौ न शब्दार्थः, यदा तु बाह्ये वस्तुनि प्रत्यस्तो भवति तदा तस्मिन् प्रतिपत्ता बाह्यतया विपर्यस्तः क्रियासाधनसामर्थ्यं तस्य मन्यत इति भवति शब्दार्थः ।

★ ५. अभिजल्पप्राप्त शब्द ही शब्दार्थ है ★

अन्य कुछ पंडित कहते हैं – 'अभिजल्पत्व को प्राप्त हुआ शब्द ही शब्दार्थ है ।' – इस विधान में अभिजल्प का अर्थ यह है कि 'यह वही है' इस प्रकार के अध्यासात्मक अनुसन्धान से 'शब्द ही अर्थ है' इस प्रकार का जो शब्द में अर्थ का अभिनिवेश (यानी शब्द में अर्थ का बौद्धिक एकीकरण) फलतः शब्द का अर्थ के साथ एकीकरणात्मक जो रूप है उस रूप को यानी एकीकरण द्वारा अर्थाकार को धारण कर लेने वाले शब्द को ही 'अभिजल्पत्व को प्राप्त हुआ' (ऐसा) कहा जाता है । इसलिये वह अभिजल्पात्मक शब्द ही शब्दार्थ है । तात्पर्य, अर्था भेदारोपारूढ जो शब्द है वही शब्दार्थ है ।

★ ६ - बाह्यवस्तुरूप से अध्यस्त बुद्धिगताकार शब्दार्थ ★

अन्य पंडितों का कहना है कि - बुद्धि में आरूढ जो बाह्यवस्तुविषयक अर्थाकार होता है वही जब बुद्धिरूप से अज्ञात रहकर बाह्य वस्तुरूप से ही भासता है तब शब्दार्थ कहा जाता है । जैसे सोचिये – बुद्धिरूप वह अर्थाकार जब बाह्यवस्तुरूप में न भासता हुआ 'यह तो बुद्धिरूप ही है' इस प्रकार के तात्त्विक दर्शन से बुद्धिरूप से यानी स्व-रूप से ही पहचाना जाता है तो उस में शब्दार्थता का भास नहीं हो सकता क्योंकि बुद्धिरूप से अवगत अर्थाकार में वास्तविक या आभिमानिक आनयनादि क्रियाविशेष का सम्बन्ध विद्यमान ही नहीं होता । 'गौ को लाओ' 'दहीं को खाओ' यहाँ लाने की या खाने की क्रिया जो भासित होती है वह बुद्धि में तो हो नहीं सकती । दूसरी और यह हकीकत है कि शब्दों से ऐसा ही अर्थ प्रतिपादित होता है जिस में क्रियासम्बन्ध का सम्भव हो । इसलिये बुद्धिरूप जब स्व-रूप से पहचाना जाय तब तो शब्दार्थरूप नहीं हो सकता । किन्तु जब वह भासमान (बुद्धिरूप) आकार बाह्यवस्तु में ही होने का अभिमान हो जाय तब ज्ञाता को बाह्य वस्तुरूप से ही उस का भ्रमज्ञान होता है, अतः उस वक्त उस में लाने-खाने की क्रिया का सामर्थ्य भी ज्ञाता मान बैठता है । इस लिये बाह्यवस्तुरूप से ज्ञात बुद्धिरूप आकार ही शब्दार्थ हो सकता है ।

★ बुद्धिगताकारवाद और अपोहवाद में भेद ★

प्रश्न : 'बुद्धिआकार शब्दार्थरूप है' यह मत और 'अन्यापोह ही शब्दार्थ है' यह मत इन दोनों में क्या

ननु चापोहवादिपक्षादस्य को विशेषः ? तथाहि – अपोहवादिनाऽपि बुद्ध्याकारो बाह्यरूपतया गृहीतः शब्दार्थ इतीष्यत एव । यथोक्तम् –

● 'तद्रूपारोपमन्यान्यव्यावृत्त्याधिगतेः पुनः । शब्दार्थोऽर्थः स एवेति वचने न विरुध्यते ॥ इति ।

नैतदस्ति, अयं हि बुद्ध्याकारवादी बाह्ये वस्तुन्यभ्रान्तं सविषयं द्रव्यादिषु पारमार्थिकेष्वायत्तं बुद्ध्याकारं परमार्थतः शब्दार्थमिच्छति न पुनरा(न तु निरा)लम्बनं भिन्नेष्वभेदाध्यवसायेन प्रवृत्तेर्भ्रान्तमितरेतरभेदनिबन्धनमभ्युपैति, यदा तु यथाऽस्माभिरुच्यते–

*[सः] सर्वो मिथ्यावभासोयमर्थे [इतीष्यत एव यथोक्ते]ष्वेकात्मकग्रहः । इतरेतरभेदोऽस्य बीजं संज्ञा यदर्थिका ॥ [त०सं० पंजिका पृ० २८५] इति तदा सिद्धसाध्यता । यद् वक्ष्यति –

"इतरेतरभेदोऽस्य बीजं चेत् पक्ष एव नः" ॥ [त०सं० का० १०४] इति ।

भेद रहा ? अपोहवादी भी बुद्धिरूप से नहीं किन्तु बाह्यरूप से गृहीत बुद्धि-आकार को ही शब्दार्थरूप मानते हैं । जैसे कि प्रमाणवार्त्तिक में कहा है –

'तद्रूप' यानी अर्थ के अंशभूत अपोह की आरोपगति से यानी 'एक ही है' ऐसे अध्यवसाय से अन्यव्यावृत्त अर्थ की अधिगति यानी बोध होता है इसलिये वह अपोह ही शब्दार्थ है फिर भी वहाँ आरोप के प्रभाव से बुद्धिआकार ही व्यावृत्त अर्थरूप से प्रतीत होने के कारण बुद्धिआकार ही (स एव) अर्थ यानी शब्दार्थ है ऐसा कहने में कुछ विरोध नहीं है ।'

इस तरह प्रमाणवार्त्तिक में भी बुद्धिआकार को शब्दार्थ मानने की बात है । तो प्रस्तुत बुद्धिआकार-वादी और अपोहवादी में क्या अंतर पड़ा ? कुछ नहीं !

उत्तर : नहीं, ऐसा नहीं है । यह जो बुद्धिआकार को शब्दार्थ माननेवाला वादी है वह तो बुद्धिआकार को बाह्यवस्तुस्पर्शी होने से अभ्रान्त, सविषयक और पारमार्थिक सद्भूत द्रव्यादि से सम्बद्ध मानता है और उसे पारमार्थिक शब्दार्थरूप मानता है, काल्पनिक नहीं । जब कि अपोहवादी के मत में अपोहात्मकशब्दार्थ असत् होने से बुद्धिआकार निर्विषयक होता है और भिन्न भिन्न स्वलक्षण में अभेदालम्बी होने से भ्रान्त भी होता है, वह पारमार्थिक स्वलक्षण से जन्य नहीं होता किन्तु विपर्यासिपना परस्पर व्यावृत्ति से जन्य होता है । हाँ – यदि अपोहवादी का तात्पर्य सिर्फ इतना ही कहने में हो कि 'भिन्न भिन्न अर्थों में एकरूपता यानी सामान्यरूपता का ग्रह मिथ्यावभासरूप है' तो यहाँ वह सिद्ध को ही साध्य कर रहा है क्योंकि हम भी ऐसा कहते ही हैं कि – "अर्थों में एकात्मता को विषय करने वाला ग्रहणात्म मिथ्यावभासरूप है और अन्योन्यव्यावृत्ति ही उस का बीज है, संज्ञा यानी शब्द भी उसी अर्थ में यानी सामान्यविषयी रूप में संकेतित है" – तथा आगे भी कहा जायेगा कि – "यदि अन्योन्यव्यावृत्ति को उस का बीज मानते हो तो यह तो हमारा ही पक्ष है ।

स्पष्ट बात यह है कि अपोहवादी पारमार्थिक रूप से किसी भी बुद्धिआकार या अन्य किसी चीज को शब्दार्थरूप मानता ही नहीं । वह कहता है कि सामान्यबुद्धि में अध्यवसाय के [illegible]

● [illegible]

* [illegible]

न चापोहवादिना परमार्थतः किञ्चिद् वाच्यं बुद्ध्याकारोऽन्यो वा शब्दानामिष्यते । तथाहि – यदेव शाब्दे प्रत्ययेऽध्यवसीयमानतया प्रतिभासते स शब्दार्थः । न च बुद्ध्याकारः शाब्दप्रत्ययेनाऽध्यवसीयते । किं तर्हि ? बाह्यमेवार्थक्रियाकारि वस्तु । न चापि तेन बाह्यं परमार्थतोऽध्यवसीयते यथातत्त्वमनध्यवसायाद् यथाध्यवसायमतत्त्वाद्, अतः समारोपित एव शब्दार्थः । यच्च समारोपितं तन्न किञ्चिद् भावतोऽभिधीयते शब्दैः । यत् पुनरुक्तम् 'शब्दार्थोऽर्थः स एवेति' तत् समारोपितमेवार्थमभिसन्धाय, बुद्ध्याकारवादिना तु बुद्ध्याकारः परमार्थतो वाच्य इष्यत इति महान् विशेषः ।

[७ – प्रतिभापदार्थवादिमतम्]

अन्ये त्वाहुः– "अभ्यासात् प्रतिभाहेतुः शब्दो न तु बाह्यार्थप्रत्यायकः" इति । शब्दस्य क्वचिद् विषये पुनः पुनः प्रवृत्तिदर्शनमभ्यासः, नियतसाधनावच्छिन्नक्रियाप्रतिपत्त्यनुकुला प्रज्ञा प्रतिभा, सा प्रयोगदर्शनावृत्तिसहितेन शब्देन जन्यते, प्रतिवाक्यं प्रतिपुरुषं च सा भिद्यते, यथैव ह्यंकुशादिघातादयो हस्त्यादीनामर्थप्रतिपत्तौ क्रियामाणायां प्रतिभाहेतवो भवन्ति तथा शब्दार्थ(सर्वेऽर्थ)वत्त्वसंमता वृक्षादयः शब्दा

को शब्दार्थ मानना चाहिये । बुद्धिआकार अध्यवसायविषय के रूप में शाब्दबुद्धि में नहीं भासता किंतु [आपाततः] अर्थक्रियाकारि बाह्य वस्तु ही अध्यवसित होती है । परमार्थ से तो वह बाह्य वस्तु भी अध्यवसित नहीं होती, क्योंकि बाह्य वस्तु तो अत्यन्त विलक्षण स्वलक्षणात्मकरूप होती है और उस विशेषरूप से तो अध्यवसाय शाब्दबुद्धि में होता नहीं है । शाब्दबुद्धि में तो सामान्यरूप से अध्यवसाय होता है किन्तु वह पारमार्थिक तत्त्व नहीं है । इस का मतलब यही हुआ कि शब्दार्थरूप से जो अध्यवसित होता है वह वासना से आरोपित यानी कल्पित ही होता है । कल्पित वस्तु तो सर्वथा असत् है इसलिये परमार्थदृष्टि से तो शब्दों के द्वारा कुछ भी प्रतिपादित नहीं होता है । फिर भी पहले जो तद्रूपारोप.....कारिका में कहा था कि 'शब्दार्थोऽर्थ स एव' यानी 'बुद्धि आकार ही शब्दार्थ है' वह तो कल्पित अर्थ को लक्ष्य में रख कर ही कहा है । एक ओर अपोहवादी इस प्रकार शब्दवाच्य कुछ भी नहीं मानता, जब कि बुद्धिआकारवादी तो परमार्थरूप से बुद्धिआकार को ही शब्दवाच्य मानता है – यह उन दोनों में महान् अन्तर है ।

★ ७ – प्रतिभापदार्थ शब्दार्थ है ★

अन्य लोगों का कहना है कि 'अभ्यास के माध्यम से शब्द प्रतिभा को उत्पन्न करता है, इतना ही तथ्य है और वही वाच्यार्थ है ।' अभ्यास = किसी एक विषय के सम्बन्ध में अमुक शब्द की प्रवृत्ति होती हुयी बार बार देखना – इस को अभ्यास कहते हैं । प्रतिभा = अमुक ही प्रकार के नियत (घटादिरूप) साधन से विशिष्ट जलाहरणादि कर्त्तव्य का बोध करानेवाली प्रज्ञा को प्रतिभा कहते हैं । शब्दप्रयोग के दर्शन की बार बार पुनरावृत्ति के द्वारा शब्द से ही यह प्रतिभा उत्पन्न होती है । मतलब यह हुआ कि शब्द सिर्फ प्रतिभा के उत्पादन में चरितार्थ है । अर्थ के साथ उस का कोई सम्बन्ध नहीं है । भिन्न भिन्न वाक्य से भिन्न भिन्न प्रतिभा उत्पन्न होती है इतना ही नहीं एक वाक्य से भी भिन्न भिन्न श्रोता को भिन्न भिन्न प्रतिभा उत्पन्न होती है । जैसे हाथी, बैल आदि को कुछ अर्थबोध कराते समय अंकुशप्रहार आदि किये जाते हैं तो उन से हाथी आदि को कुछ प्रतिभा उत्पन्न होती है, (कि अब मुझे रुक जाना चाहिये – चलना चाहिये.....इत्यादि) इसी तरह अर्थसभर माने जाने वाले सभी वृक्षादि शब्द पूर्वाभ्यास के मुताबिक सिर्फ प्रतिभा उत्पादन के हेतु

यथाभ्यासं प्रतिभामात्रोपसंहारहेतवो भवन्ति न त्वर्थं साक्षात् प्रतिपादयन्ति, अन्यथा हि कथं परस्पर-व्याहताः प्रवचनभेदा उत्पादकथाप्रबन्धाश्च स्वविकल्पोपरचितपदार्थभेदद्योतकाः स्युरिति ?

[१ - अस्त्यर्थवादिमतनिरसनम्]

अत्र प्रतिविदधति – यद्यस्त्यर्थः पूर्वोदितस्वलक्षणादिस्वभाव ईष्यते तदा पूर्वोदितदोषप्रसंगः । किं च, अनिर्धारितविशेषरूपत्वादस्त्यर्थस्य तस्मिन् केवले शब्दैः प्रतिपाद्यमाने 'गौः' 'गवयः' 'गजः' इत्यादिर्भेदेन व्यवहारो न स्यात् तस्य शब्दैरप्रतिपादितत्वात् । न च गोशब्दात् गोत्वविशिष्टस्यार्थस्य सत्ता-मात्रस्य शाबलेयत्वादिभेदरहितस्य प्रतीतेर्भेदेन व्यवहारो भविष्यतीति प्रतिपादयितुं शक्यम्, अभ्युपगम-विरोधात् – गोशब्दादस्त्यर्थमात्रपरित्यागेन गवादिविशेषस्य प्रतिपत्त्यभ्युपगमात् । अथ विषाणादेर्विशेषस्य

होते हैं । अर्थों के साथ उनका निरूपणादि कोई सम्बन्ध नहीं होता । अगर वास्तव में ही शब्द किसी नियत अर्थ का निरूपण करने वाला होता तो भिन्न भिन्न दर्शनों में जो एक ही शब्द का परस्परविरुद्ध अर्थ समझा जाता है यह कभी न होता, एवं अपने अपने अभिप्रायों के अनुसार रचे गये (यानी माने गये) पदार्थों में भेद का सूचक जो विविध नवीन नवीन कथा-प्रबन्ध देखे जाते हैं वे भी कैसे होते ?

★ १ – अस्ति अर्थ शब्दार्थ नहीं है ★

उपरोक्त सात मतों का अब निरसन क्रमशः दीखाते हुए कहते हैं –

शब्द का जो 'अस्ति' रूप अर्थ बताया है वह पूर्वोक्त स्वलक्षणादिरूप [यानी स्वलक्षण, जाति, जातियोग, जातिमान या बुद्धिआकार] अभिप्रेत हो तब तो उन में जो पहले दोष कहा गया है (१७८-२५) संकेत का असम्भव – वह यहाँ भी लब्धावकाश रहेगा । तदुपरांत मात्र 'अस्ति' रूप अन्तिमसामान्य मात्र को ही शब्द वाच्य मानेंगे तो 'गो' आदि विशेषरूप का अवधारण न होने से लोक में जो गौ – गवय – हस्ति इत्यादि का भिन्न भिन्न व्यवहार होता है वह अशक्य बन जायेगा क्योंकि शब्द से गोत्वादि विशेषरूप का भान तो होता नहीं । यदि ऐसा कहें कि – "शब्द का सामान्य अर्थ सत्तामात्र होने पर भी गोशब्द से गोत्वविशिष्ट सत्तामात्ररूप अर्थ की प्रतीति होती है उस समय श्वेत या काला ऐसा विशेषरूप प्रतीत नहीं होता है – इसलिये प्रतिनियत श्वेत या काले गोपिंड का व्यवहार न होने पर भी गोत्वविशिष्ट का भिन्न व्यवहार हो सकेगा" – तो यह कहना भी आपके लिये असंगत है – क्योंकि आपने शब्दमात्र से सिर्फ 'अस्ति' रूप अर्थ की ही प्रतीति होने का कहा है उसके साथ विरोध होगा, क्योंकि अब तो आपने गोशब्द से 'अस्ति' मात्र अर्थ को छोड़ कर गोत्वादिविशिष्ट अस्ति – अर्थ का प्रतिपादन मंजुर कर लिया ।

यदि ऐसा कहें कि –"गोशब्द से विषाणादि अवयवविशेष की प्रतीति न मान कर सिर्फ 'गो के अस्तित्व' को ही हम गोशब्द का वाच्य मानते हैं" – तो इस का मतलब यह हुआ कि आप को गोशब्द से गोत्वविशिष्ट अस्ति-अर्थ का प्रतिपादन मंजुर है । तात्पर्य यह हुआ कि आप गोत्वादि जातिमान् अर्थ को शब्दार्थ मानते हैं । किन्तु आप जानते हैं कि जाति और उस के समवाय सम्बन्ध का पहले ही हमने निषेध कर दिया है, इसलिये जातिमान् अर्थ ही स्वयं असम्भवग्रस्त है तो उसमें संकेत का असम्भवस्वरूप पूर्वोक्त दोष तैयार हो बैठा है । उपरांत यदि उस जातिमान् अर्थ को आप सामान्यरूप मानेंगे तो उसमें पहले जो दोष दिखाये हैं – संकेत का असम्भव, व्यवहारबाधकता और सामानाधिकरण्य का न होना वे यहाँ भी लगे रहेंगे । अगर उस जातिमान् अर्थ

गोशब्दादप्रतीतेरस्त्यर्थवाचकत्वं शब्दस्याभिप्रेतम्, नन्वेवं यदा गोत्वादिना विशिष्टमर्थमात्रमुच्यते इति मतं तदा तद्वतोऽर्थस्याभिधानमङ्गीकृतं स्यात्, तत्र च जातेस्तत्समवायस्य च निषेधात् तद्वतोऽर्थस्यासम्भवः इति पूर्वोक्तो दोषः । किंच तद्वतोऽर्थस्य स्वलक्षणात्मकत्वादशक्यसमयत्वमव्यवहार्यत्वमस्पष्टावभासप्रसङ्गश्च पूर्ववदापद्यत एव, स्वलक्षणादिव्यतिरेकेणान्योऽस्त्यर्थो निरूप्यमाणो न बुद्धौ प्रतिभातीत्यस्याऽसत्त्वमेव ।

[२ – समुदायपदार्थवादिमतनिरसनम्]

समुदायाभिधापक्षे तु जातेर्भेदानां च तपःप्रभृतीनामभिधानमङ्गीकृतमिति प्रत्येकाभिधानपक्षभाविनो दोषाः सर्वे युगपत् प्राप्नुवन्तीति न तत्पक्षाभ्युपगमोऽपि श्रेयान् ।

[३–४ असत्यसम्बन्ध-असत्योपाधिसत्यपदार्थनिरसनम्]

'असत्यसम्बन्ध-असत्योपाधिसत्य'इति पक्षद्वये च संयोगसमवायलक्षणस्य सम्बन्धस्य निषिद्धत्वात् सामान्यस्य च त्रिगुणात्मकस्य सत्यस्याऽव्यतिरिक्तस्य, व्यतिरिक्तस्याप्यसम्भवात् नासत्यः संयोगः नाप्यसत्योपाधि सामान्यं शब्दवाच्यं सम्भवति ।

[५–६ अभिजल्पबुद्ध्यारूढाकारपदार्थवादिमतद्वयनिरसनम्]

अभिजल्पपक्षेऽपि यदि शब्दस्य कश्चिदर्थः सम्भवेत् तदा तेन सहैकीकरणं भवेदपि, स्वलक्षणा-

---

को आप स्वलक्षण से भिन्न मानेंगे तो वह असत् ही होगा क्योंकि स्वलक्षणभिन्न कोइ अस्तिरूप अर्थ शब्दवाच्य हो ऐसा कभी बुद्धि में आया नहीं है ।

★ २ – समुदाय शब्दार्थ नहीं है ★

ब्राह्मणादिशब्दों से तप-जाति-श्रुतादि का समुदाय ध्वनित होता है – इस पक्ष में जाति और तप आदि का प्रतिपादन मान्य किया गया है, किन्तु इस पक्ष की मान्यता भी श्रेयस्करी नहीं है चूँकि जाति आदि एक एक के पक्ष में जो दोष पहले दिखाये गये हैं वे सब एक साथ इस पक्ष में लग जायेंगे । स्वलक्षण की तरह जाति या जातिमान आदि में संकेत का सम्भव नहीं है इत्यादि दोष पहले कह दिये हैं ।

★ ३–४ असत्यसम्बन्ध, असत्योपाधिसत्य शब्दार्थ नहीं ★

तीसरे पक्ष में कहा था कि अनिर्धारित स्वरूपवाले द्रव्यत्वादि के साथ जो द्रव्यादि का सम्बन्ध होता है वही शब्द का वाच्य है । एवं चौथे पक्ष में कहा था कि सत्य उपाधियों के अन्तर्गत जो सत्य छीपा रहता है वही शब्द का वाच्यार्थ है – ये दोनों पक्ष ठीक नहीं हैं । कारण तीसरे पक्ष में संयोग या समवायरूप कोई भी सम्बन्ध कहा जाय, किन्तु हमने पहले ही उस का प्रतिषेध कर दिया है इसलिये असत्य संयोग (या समवाय) शब्द का वाच्यार्थ नहीं हो सकता । चौथे पक्ष में असत्य उपाधियों के बीच छीपे हुए सत्य को यदि सामान्यतत्त्व के रूप में स्वीकार करेंगे तो बात यह है कि सांख्य की तरह सत्त्वरजस्तमस की साम्यावस्था रूप सामान्य को उन उपाधियों से अभिन्न मानेंगे या नैयायिकों की तरह भिन्न ? किसी भी विकल्प में ऐसे सामान्यरूप सत्य की सम्भावना शक्य न होने से असत्य उपाधियों में छीपे हुए सत्य को शब्द का वाच्यार्थ कहना सम्भव नहीं है ।

★ ५–६ अभिजल्प और बुद्धि-आकार शब्दार्थ नहीं है ★

पाँचवे अभिजल्प पक्ष में जो 'शब्द का अर्थ के साथ एकीकरण' की बात कही है वह तभी संभव

दिस्वरूपस्य च शब्दार्थस्याऽसम्भवः प्राक् प्रदर्शित इति कथं तेनैकीकरणम् ? अपि चायमभिजल्पो बुद्धिस्थ एव । तथाहि – बाह्यार्थयोः (बाह्ययोः) शब्दार्थयोर्भिन्नेन्द्रियग्राह्यत्वादिभ्यो भेदस्य सिद्धेस्तयोरैक्यापादनं परमार्थतोऽयुक्तमेवेति बुद्धिस्थयोरेव शब्दार्थयोरेकबुद्धिगतत्वादेकीकरणं युक्तम् । तथाहि – उपगृहीताभिधेयाकारतिरोभूतशब्दस्वभावो बुद्धौ विपरिवर्त्तमानः शब्दात्मा स्वरूपानुगतमर्थमविभागेनान्तःसंनिवेशयन्नभिजल्प उच्यते, स च बुद्धेरात्मगत एवाकारो युक्तो न बाह्यः, तस्यैकान्तेन परस्परं विविक्तस्वभावत्वात्, ततश्च बुद्धिशब्दार्थपक्षादनन्तरोक्तादस्य न कश्चिद् भेदः, उभयत्रापि बौद्ध एवार्थः । एतावन्मात्रं तु भिद्यते – 'शब्दार्थयोरेकीकृतौ' इति । दोषस्तु समान एव "ज्ञानादव्यतिरिक्तं च कथमर्थान्तरं व्रजेत्" ? [प्र० वा० ३-७१ पृष्ठ २८२] इति ।

[७ - प्रतिभापदार्थवादिमतनिरसनम्]

प्रतिभापक्षे तु यदि सा परमार्थतो बाह्यार्थविषया तदेकत्र वस्तुनि शब्दादौ विरुद्धसमयावस्थायिनां विचित्राः प्रतिभा न प्राप्नुवन्ति, एकस्यानेकस्वभावाऽसम्भवात् । अथ निर्विषया तदार्थे प्रवृत्ति-प्रतिपत्ती

है जब शब्द का वास्तविक कोई अर्थ हो । पहले ही कह दिया है कि स्वलक्षण, जाति आदि में से कोई भी शब्द का वाच्यार्थ घटता नहीं है तो फिर किस के साथ एकीकरण को मानेंगे ? उपरांत, यह भी ज्ञातव्य है कि 'अभिजल्प' बुद्धि में ही अन्तर्गत है । देखिये – बाह्य शब्द और बाह्य अर्थ दोनों भिन्न भिन्न इन्द्रियों का विषय है – बाह्य शब्द श्रोत्रेन्द्रिय का विषय है जब कि बाह्य अर्थ चक्षु आदि इन्द्रिय का विषय है – इसलिये बाह्य अर्थ और बाह्य शब्द में भेद सिद्ध होने से, उन में एकीकरण सिद्ध करने का प्रयास वास्तव में अयुक्त है । हाँ, बुद्धिगत (अभिजल्पात्मक) शब्द और बुद्धिगत अर्थ – ये दोनों एक ही बुद्धि में अन्तःस्थित होने से उन दोनों का ऐक्य किया जाय तो वह युक्त है । वह इसलिये कि, बुद्धि में विवर्त्तमान शब्द जब अपने शब्दात्मक स्वरूप को गौण बना कर अभिधेयस्वरूप अर्थाकार को धारण कर लेता है और अपने स्वरूप से तादात्म्यापन्न अर्थ को अपृथग्भाव से बुद्धि में संनिहित करता है तब उसे ही अभिजल्प कहा जाता है । ऐसा अभिजल्पस्वरूप शब्द बुद्धि के स्वगत आकार के रूप में ही घट सकता है, बाह्यपदार्थ रूप में नहीं क्योंकि बाह्यपदार्थ से तो उसका स्वभाव अत्यन्त भिन्न है । जब इस प्रकार अभिजल्पात्मक शब्द बुद्धि में ही अन्तःस्थित है तो फिर जिस छट्ठे पक्ष में बुद्धि को ही शब्द का वाच्यार्थ माना गया है उस पक्ष से इस अभिजल्प पक्ष में क्या अन्तर रहा ? दोनों पक्ष में बुद्धिगत अर्थ ही शब्द का वाच्यार्थ फलित होता है । हाँ भेद है तो सिर्फ इतना ही है कि अभिजल्प पक्ष में 'बुद्धिगत शब्द के बुद्धिगत अर्थ के साथ एकीकरण' की बात है जो बुद्धि-शब्दार्थ पक्ष में नहीं है । दोष तो दोनों पक्ष में समान ही है और वह यही है कि एक बुद्धि या अर्थ से अभिन्न ऐसे शब्द या अर्थ का अन्य बुद्धि या अर्थ के प्रति गमन तो होना नहीं है अर्थात् उन के साथ कोई सम्बन्ध तो होना नहीं तो फिर एक शब्द से संकेत काल वर्तमान में किसी एक अर्थ की प्रतीति होने पर भी अन्य समानाकार शब्द से कालान्तर में अन्य अर्थों की प्रतीति का होना कैसे शक्य होगा ?

★ ७ – प्रतिभा शब्दार्थ नहीं है ★

प्रतिभावाद में जो कहा गया है कि – 'शब्द साक्षात् अर्थ का प्रतिपादन नहीं करता किन्तु प्रतिभा को ही जन्म देता है' – यह भी ठीक नहीं क्योंकि यहाँ प्रश्न होगा कि प्रतिभा बाह्यार्थविषयक होती है या नहीं ? यदि प्रतिभा वास्तव में बाह्यार्थ को स्पर्श करती है तो एक ही शब्दादि वस्तु में परस्पर विरुद्ध विविध प्रति-

न प्राप्नुतः, अतद्विषयत्वाच्छब्दस्य । अथ स्वप्रतिभासो(से)ऽनर्थेऽर्थाध्यवसायेन भ्रान्त्या ते प्रवृत्ति-प्रतिपत्ती भवतस्तदा भ्रान्तः शब्दार्थः प्राप्नोति, तस्याश्च बीजं वक्तव्यम्, अन्यथा सा सर्वत्र सर्वदा भवेत् । यदि पुनर्भावानां परस्परतो भेद एव बीजमस्यास्तदाऽस्मत्पक्ष एव समर्थितः स्यादिति सिद्धसाध्यता ।

किंच सर्वमेतत् स्वलक्षणादिकं शब्दविषयत्वेनाभ्युपगम्यमानं क्षणिकम् अक्षणिकं वेति ? आद्यपक्षे संकेतकालदृष्टस्य व्यवहारकालाननवयान्न तत्र समयः सप्रयोजनः । अक्षणिकपक्षे च 'नाक्रमात् क्रमिणो भावः' [प्र० वा० १-४५ पृष्ठ - २३] इति शब्दार्थविषयस्य क्रमिकज्ञानस्याभावप्रसक्तिः ।

[विवक्षापदार्थवादिमतमुल्लिख्य तन्निरसनम्]

अन्ये त्वाहुः – 'अर्थविवक्षां शब्दोऽनुमापयति' इति । यथोक्तम् 'अनुमानं विवक्षायाः शब्दादन्यत्र विद्यते' [ ] इति । अत्रापि यदि परमार्थतो विवक्षा पारमार्थिकशब्दार्थविषयेष्यते, तदसिद्धम्,

---

शब्द से विचित्र यानी भिन्न भिन्न प्रतिभा का जन्म होता है – वह कैसे बनेगा ? एक शब्द एक ही प्रतिभा का जनक स्वभाव हो सकता है, भिन्न भिन्न प्रतिभा जनक अनेक स्वभाव एक ही शब्द में कैसे हो सकता है ?

यदि प्रतिभा को निर्विषय मानेंगे तो उस को वाह्यार्थ के साथ कुछ भी सम्बन्ध न होने से प्रतिभा के द्वारा शब्द से जो वाह्यार्थ में प्रतीति और प्रवृत्ति होती है ये दोनों नहीं हो सकेगी क्योंकि शब्द प्रतिभा के द्वारा तत्तदर्थविषयक है नहीं ।

अगर ऐसा कहें कि – शब्द से जो स्वविषयक प्रतिभास होता है वह वाह्यार्थस्पर्शी होने पर भी उसमें भ्रान्ति से वाह्यार्थ का अध्यवसाय हो जाने से, इस प्रकार शब्द से प्रतीति और प्रवृत्ति दोनों शक्य है – तो इसका मतलव यह हुआ कि शब्द से जो अर्थवोध होता है वह भ्रमरूप है, अव यहाँ दीखाना पडेगा कि इस भ्रम का वीज = हेतु क्या है ? अगर विना हेतु के ही भ्रम होता रहेगा तो ऐसा भ्रम प्रति समय हर विषय के वारे में होता चलेगा । अगर कहें कि (शब्द से प्रतीत होने वाली) पदार्थों में रही हुई परस्पर भिन्नता ही ऐसे भ्रमों का हेतु है तो अव हमारे पक्ष का ही आपने शरण ले लिया क्योंकि हम यही कहते हैं कि परस्पर व्यावृत्ति वास्तव में शब्दवाच्य होती है और उन व्यावृत्तियों के वोध से ही व्यावृत्त अर्थों का भान होता है जिसे आप भ्रम कहते हो ।

तदुपरांत, यह मुख्य प्रश्न है कि शब्द के वाच्य रूप में माने जाने वाले ये सभी स्वलक्षणादि अर्थ क्षणिक हैं या अक्षणिक (यानी चिरस्थायी) ? प्रथम पक्ष में संकेत निष्प्रयोजन हो जाने की आपत्ति होगी क्योंकि जिस व्यक्ति को संकेतकाल में देखी है वह व्यवहारकाल में तो गायव हो जाने वाली है । यदि अक्षणिक मानेंगे तो 'नाक्रमात् क्रमिणो भावः' इस प्रमाणवार्त्तिक की उक्ति के अनुसार वे क्रमिक न होने से, उन से होनेवाले कार्य भी क्रमिक न हो कर एक साथ ही सभी कार्यों की उत्पत्ति प्रसक्त होगी । तात्पर्य, उन पदार्थों से एक साथ ही शब्दवाच्य सभी अर्थों का ज्ञान हो जायेगा ।

★ शब्द से अर्थविवक्षा का अनुमान ★

अन्य वादियों का कहना है कि शब्द से वक्ता की अर्थविवक्षा का अनुमान होता है । जैसे कि कहा गया है – 'शब्द से विवक्षा का अनुमान होता है और कुछ नहीं' ।

स्वलक्षणादेः शब्दार्थस्य कस्यचिदसम्भवात्, अतो न क्वचिदर्थे परमार्थे विवक्षाऽस्ति, अन्वयिनोऽर्थस्याभावात् । नापि तत्प्रतिपादकः शब्दः सम्भवति । यदाह – 'क्व वा श्रुतिः' [त० सं० १०७]

न च विवक्षायां प्रतिपाद्यायां शब्दाद् बहिरर्थे प्रवृत्तिः प्राप्नोति, तस्याऽप्रेरितत्वात्, अर्थान्तरवत् । न च विवक्षापरिवर्त्तिनो बाह्यस्य च सारूप्यादप्रेरितेऽपि तत्र ततः प्रवृत्तिर्यमलकवत् सर्वदा बाह्ये प्रवृत्तेरयोगात्, कदाचित् विवक्षापरिवर्त्तिन्यपि प्रेरिते प्रवृत्तिप्रसक्तेर्यमलकयोरिव । अथ परमार्थतः स्वप्रतिभासानुभवेऽपि वक्तुरेवमध्यवसायो भवति 'मयाऽस्मै बाह्य एवार्थः प्रतिपाद्यते' श्रोतुरप्येवमध्यवसायः 'ममायं बाह्यमेव प्रतिपादयति' इति अतस्तैमिरिकद्वयद्विचन्द्रदर्शनवदयं शाब्दो व्यवहार इति । यद्येवमस्मत्पक्ष एव समाश्रित इति कथं न सिद्धसाध्यता ? शब्दस्तु लिङ्गभूतो विवक्षामनुमापयतीत्यभ्युपगम्यत एव यथा धूमोऽग्निम् ।

इस मत में यह विकल्प है कि यदि अर्थ को वास्तविकरूप से शब्दवाच्य मान कर अनुमित विवक्षा को तथाविधशब्दार्थविषयक भी मानेंगे तो यह सिद्ध नहीं है, क्योंकि शब्द का कोई भी स्वलक्षणादि वास्तविक वाच्यार्थ है नहीं तो फिर वास्तविक रूप से तथाविधशब्दार्थ को स्पर्शने वाली विवक्षा भी कैसे घट सकती है? जब कि विवक्षा और शब्द दोनों का सम्बन्धि हो ऐसा कोई साधारण अर्थ तो है नहीं जिससे शब्द का अर्थ विवक्षा का भी विषय बने । जब इस तरह अर्थविवक्षा ही असंगत है तो शब्द विवक्षा का प्रतिपादक यानी अनुमानकारक भी नहीं मान सकते हैं ? जैसे कि तत्त्वसंग्रहकार ने कहा है 'क्व वा श्रुतिः' ? अर्थात् श्रुति (शब्द) को किस विषय में, कौन से अर्थ में माना जाय ?

दूसरी बात यह है कि विवक्षा को शब्द का प्रतिपाद्य मानेंगे तो श्रोता की प्रवृत्ति (विवक्षा में होगी किन्तु) बाह्य अर्थ के लिये नहीं होगी, क्योंकि बाह्यार्थ में शब्द द्वारा कोई प्रेरणा (सूचना) होती नहीं । उदा० शब्द के द्वारा वस्र के लिये प्रेरणा की जाय तो मिट्टी (जो कि शब्द से अप्रेरित है उस) के लिये कोई प्रवृत्ति नहीं होती है ।

यदि कहें कि – 'विवक्षावर्ती' अर्थ और बाह्य अर्थ दोनों में आकारादि का साम्य है, इसलिये बाह्य अर्थ साक्षात् शब्दप्रेरित न होने पर भी विवक्षित अर्थ के साम्य के कारण बाह्यार्थ में प्रवृत्ति हो सकेगी । जैसे एकसाथ नवजात शिशु युगल में अन्योन्य अत्यधिक साम्य रहने से, शब्द के द्वारा एक का निर्देश करने पर, दूसरे में प्रवृत्ति देखी जाती है ।' – तो यह भी ठीक नहीं है । कारण, बाह्यार्थ में ही सदा ऐसी भ्रान्त प्रवृत्ति होती रहे ऐसा कोई नियम न होने से किसी बार शब्द से साक्षात् प्रेरित विवक्षावर्त्तिअर्थ के लिये भी प्रवृत्ति होने की आपत्ति हो सकती है । जैसे कि नवजात शिशुयुगल में किसी एक का शब्द से निर्देश करने पर श्रोता की उस निर्दिष्ट शिशु के प्रति ही प्रवृत्ति होती है ।

यदि ऐसा कहा जाय कि – ''वास्तव में शब्द के द्वारा वक्ता एवं श्रोता को क्रमशः अपने अपने विवक्षा या अनुमिति के प्रतिभास का ही अनुभव होता है । फिर भी निश्चयतः वक्ता को ऐसा अध्यवसाय (अभिमान) होता है कि 'मैं इस (श्रोता) को बाह्य अर्थ के प्रति निर्देश कर रहा हूँ' । तथा श्रोता को भी ऐसा अध्यवसाय होता है कि 'यह (वक्ता) मुझे बाह्य अर्थ के प्रति निर्देश कर रहा है' । जैसे तिमिर रोग वाले को अनुभूति में दो चन्द्र दिखाई देता है तब परस्पर व्यवहार भी दो चन्द्र का ही चलता है, [illegible] । इसी तरह वक्ता और श्रोता के भी परस्पर बाह्यार्थविषयक व्यवहार चलता रहता है ।'' – तो [illegible]

[वैभाषिकमतं निर्दिश्य तन्निरसनम्]

एतेन वैभाषिकोऽपि शब्दविषयं नामाख्यमर्थचिह्नरूपं विप्रयुक्तं संस्कारमिच्छन्निरस्तः । तथाहि – तन्नामादि यदि क्षणिकं तदाऽन्वयाऽयोगः । अक्षणिकत्वे क्रमिज्ञानानुपपत्तिः, बाह्ये च प्रवृत्त्यभावः, सारूप्यात् प्रवृत्तौ न सर्वदा बाह्य एव प्रवृत्तिः ।

अशक्यसमयो ह्यात्मा नामादीनामनन्यभाक् । तेषामतो न *चान्यत्वं कथञ्चिदुपपद्यते ॥[ ]

इत्यादेः सर्वस्य समानत्वात् । तदेवम् 'अशक्यसमयत्वात्' इत्यस्य हेतोर्नासिद्धता । नाप्यनैकान्तिकत्वविरुद्धत्वे । तत् सिद्धम् 'अपोहकृच्छब्दः' इति ।

हमारे पक्ष की ही शरणागति सिद्ध होती है क्योंकि शब्द का बाह्यार्थ के साथ कुछ भी सम्बन्ध न होने पर भी भ्रान्ति से तद्विषयक व्यवहार होने की बात पहले ही कह आये हैं तो यहाँ सिद्धसाध्यता का दोष क्यों नहीं होगा ? जैसे धूम से अग्निमात्र की अनुमिति होती है, वह अग्नि तृणजनित है या पर्णजनित इत्यादि की अनुमिति नहीं होती, इसी तरह शब्द रूप लिंग से सिर्फ विवक्षा (वक्ता को कुछ कहने की इच्छा है इतने) मात्र की अनुमिति होती है किन्तु वह विवक्षा वस्त्रसंबन्धि है या मिट्टीसम्बन्धि ऐसा कुछ भान अनुमिति में नहीं होता – इतना तो हम भी मानते हैं ।

☆ नामसंज्ञक संस्कार शब्दविषय–वैभाषिक ★

वैभाषिक बौद्ध लोग जो यह मानते हैं कि – 'अर्थ के चिह्नरूप 'नाम'संज्ञक (या निमित्तसंज्ञक) संस्कार जो कि अर्थ से विभिन्न है वही शब्द का विषय है ।' – यह भी निरस्त हो जाता है क्योंकि ये नामादि अगर क्षणिक मानेंगे तो संकेतकालीन नामादि का व्यवहारकाल में अन्वय न होने से शब्द का उस नामादि में किया गया संकेत व्यर्थ होगा । यदि नामादि अक्षणिक मानेंगे तो पहले कह आये हैं कि अक्रमिक कारण से क्रमिक ज्ञानादि कार्यों की उपपत्ति न होगी । तथा नामादि शब्द के विषय होने पर बाह्यार्थ में प्रवृत्ति भी नहीं घटेगी । साम्य के कारण बाह्यार्थ में प्रवृत्ति मानेंगे तो सदा के लिये बाह्यार्थ में ही प्रवृत्ति हो ऐसा नहीं हो सकेगा क्योंकि क़दाचित् नामादि में भी प्रवृत्ति होने की सम्भावना निर्बाध है । तथा 'नामादि का आत्मा (स्वरूप) अन्यभाक् यानी परावलम्बी नहीं है इसलिये (संकेतावलम्बी भी न होने से) उन में संकेत अशक्य है । संकेत अशक्य होने से उनमें किसी भी रीति से (अवाच्य से अन्यत्व यानी) वाच्यत्व घट नहीं सकता'' । इत्यादि पूर्वोक्त सभी दूषण इस वैभाषिक के पक्ष में समानरूप से लब्धावकाश हैं ।

इस तरह स्वलक्षणादि किसी भी अर्थ में संकेत शक्य न होने का दिखा कर (अपोहवादी कहता है कि) हमने जो हमारे पूर्वोक्त अनुमान में 'संकेत शक्य न होने से' ऐसा हेतु कहा था वह असिद्ध नहीं है । न तो वह अनैकान्तिक (साध्यद्रोही) है क्योंकि किसी भी विपक्ष में रहता नहीं है । तात्पर्य, संकेत की शक्यता से शुन्य होने पर भी कोई अर्थ शब्द से प्रतिपादित होता हो ऐसा कहीं भी दिखता नहीं है । तथा 'संकेतकृत न होने से' यह हेतु सपक्ष में रहता है इसलिये विरुद्ध भी नहीं है । देखिये, अश्व आदि शब्द से गोपिण्डादि

---

*. 'वाच्यत्वम्' इति पाठः सम्यक् । अस्मिन् संदर्भे प्रमाणवार्त्तिक– २-२४९ श्लोकः तत्त्वसंग्रहे १२६३ श्लोकश्च विचारणीयौ ।

['निषेधमात्रमेव अन्यापोहः' इति मत्वा कुमारिलकृताक्षेपोपन्यासः]

अत्र परो 'निषेधमात्रमेव किलान्यापोहोऽभिप्रेत' इति मन्यमानः प्रतिज्ञायाः प्रतीत्यादिविरोधमुद्भावयन्नाह – [त० सं० -९१०-९११]

[1]नन्वन्यापोहकृच्छब्दो युष्मत्पक्षे नु वर्णितः । निषेधमात्रं नैवेह प्रतिभासेऽवगम्यते ॥

किन्तु गौर्गवयो हस्ती वृक्ष इत्यादिशब्दतः । विधिरूपावसायेन मतिः शाब्दी प्रवर्त्तते ॥

यदि गौरित्ययं शब्दः समर्थोऽन्यनिवर्त्तने । जनको गवि गोबुद्धेर्मृग्यतामपरो ध्वनिः ॥

[का० लं० ६/१७]

ननु ज्ञानफलाः शब्दा न चैकस्य फलद्वयम् । अपवाद-विधिज्ञानं फलमेकस्य वः कथम् ? ॥

[का० लं० ६-/१८]

प्रागगौरिति विज्ञानं गोशब्दश्राविणो भवेत् । येनागोः प्रतिषेधाय प्रवृत्तो गौरिति ध्वनिः ॥

[का० लं० ६/१९)

यदि गोशब्दोऽन्यव्यवच्छेदप्रतिपादनपरस्तदा तस्य तत्रैव चरितार्थत्वात् सास्नादिमति पदार्थे गोशब्दात् प्रतीतिर्न प्राप्नोति । ततश्च सास्नादिमत्पदार्थविषयाया गोबुद्धेर्जनकोऽन्यो ध्वनिरन्वेषणीयः । अथैकेनैव गोशब्देन बुद्धिद्वयस्य जन्यमानत्वान्नापरो ध्वनिर्मृग्यः । (तत्र,) नैकस्य विधिकारिणः प्रतिषे-

---

अर्थ प्रतिपादित नहीं होता है इसलिये वह सपक्ष है और उस में अशक्यसंकेत का अभाव रूप हेतु भी रहता है । इस प्रकार स्वलक्षणादि अर्थ से निवृत्त शब्दवाच्यता अपोह = तदन्यव्यावृत्ति फलित होने से – यह सिद्ध हुआ कि शब्द अपोहकारक यानी तदन्यव्यावृत्तिबोधजनक ही है ।

★ निषेधमात्र अन्यापोह में विरोधादि प्रदर्शन ★

यहाँ जो वादी ऐसा समझता है कि अपोहवाद में अन्यापोह का अर्थ सिर्फ निषेधमात्र ही अभिप्रेत है वह वादी 'शब्द अपोहकारक है' इस पूर्वोक्त प्रतिज्ञा में विरोध आदि का उद्भावन करता हुआ अपोहवादी को कहता है कि ''आपके मत में शब्द को सिर्फ अन्यापोहकारक कहा गया है; किन्तु (गो आदि शब्द जनित) प्रतिभास में निषेधमात्र का भान ही नहीं होता है । – गो, गवय, हस्ती आदि शब्दों से तो विधिमुख से (गो आदि पिण्ड का) ही शब्दबोध होता है ।'' [त० सं० ९१०-९११]

★ अपोहवाद में 'गो' शब्द से गोबुद्धि का अनुदय ★

(काव्यालंकार के तीन श्लोकों के बाद उस का अर्थ भी व्याख्याकार ने स्पष्ट किया है – इस लिये श्लोकों का अलग अर्थ यहाँ नहीं किया है) यदि अपोहवाद में 'गो' शब्द को गोभिन्न के व्यवच्छेद का प्रतिपादक माना जाता है तो सिर्फ उसमें चरितार्थ हो जाने से, गोशब्द द्वारा सास्नादिवाले पदार्थ की प्रतीति हो नहीं सकेगी । फलतः सास्नादिवाले पदार्थ को विषय करनेवाली 'गोबुद्धि' को जन्म देने वाला कोई और ही शब्द ढूंढना पडेगा । यदि कहें कि – 'एक ही 'गो' शब्द से गोभिन्न अर्थ के व्यवच्छेद की बुद्धि और सास्नादिवाले

---

1 [illegible]

धकारिणो वा शब्दस्य युगपद्विज्ञानद्वयलक्षणं फलमुपलभ्यते, नापि परस्परविरुद्धमपवादविधिज्ञानं फलं युक्तम् । यदि च गोशब्देनाऽगोनिवृत्तिर्मुख्यतः प्रतिपाद्यते तदा गोशब्दश्रवणानन्तरं प्रथमं 'अगौः' इत्येषा श्रोतुः प्रतिपत्तिर्भवेत् । यत्रैव ह्यव्यवधानेन शब्दात् प्रत्यय उपजायते स एव शाब्दोऽर्थः, न चाव्यवधानेनाऽगोव्यवच्छेदे मतिः । अतो गोबुद्ध्यनुत्पत्तिप्रसङ्गात् प्रथमतरमगोप्रतीतिप्रसङ्गाच्च नापोहः शब्दार्थः ।

अपि च अपोहलक्षणं सामान्यं वाच्यत्वेनाभिधीयमानं कदाचित् [A]पर्युदासलक्षणं वाऽभिधीयते [B]प्रसज्यलक्षणं वा ? तत्र [A]प्रथमपक्षे सिद्धसाध्यता प्रतिज्ञादोषः, अस्माभिरपि गोत्वाख्यं सामान्यं गोशब्दवाच्यमित्यभ्युपगम्यमानत्वात् – यदेव ह्यगोनिवृत्तिलक्षणं सामान्यं गोशब्देनोच्यते भवता तदेवाऽस्माभिर्भावलक्षणं सामान्यं तद्वाच्यमभिधीयते, अभावस्य भावान्तरात्मकत्वेन स्थितत्वात् । तदुक्तम् – [श्लो० वा० अभाव परि० श्लो० २-३-४-८]

क्षीरे दध्यादि यन्नास्ति प्रागभावः स उच्यते ॥
नास्तिता पयसो दध्नि प्रध्वंसाभावलक्षणम् । गवि योऽश्वाद्यभावश्च सोऽन्यान्योभाव उच्यते ॥ ३ ॥

पदार्थ की बुद्धि – दोनों बुद्धि का जन्म मान लेंगे अतः और किसी शब्द को नहीं ढूँढना पडेगा ।' – तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि कोई एक शब्द या तो विधिकारक (यानी विधिरूप से = पोझीटीवली अर्थज्ञानरूप फल का जनक) हो सकता है, या तो प्रतिषेधकारक । इसलिये वैसे कोई एक शब्द से एक साथ विधि-प्रतिषेध उभयकारक बुद्धिद्वय की उत्पत्ति दीखाई नहीं देती । तथा एक ही शब्द से अपवाद (प्रतिषेध) ज्ञान और विधिज्ञान ऐसे दो परस्पर विरुद्ध ज्ञानरूप फल का जन्म भी संगत नहीं है । तथा, यदि 'गो' शब्द से अगो की निवृत्ति का बोध मुख्यरूप से मानेंगे तो यह शक्य नहीं है क्योंकि सब से पहले तो निवृत्ति के प्रतियोगीभूत गोभिन्न पदार्थ का बोध मानना पडेगा, क्योंकि प्रतियोगी के ज्ञान के विना अभाव का ज्ञान शक्य नहीं है । इसलिये यह मानना पडेगा कि गो शब्द के श्रवण के बाद सत्वर ही श्रोता को 'गोभिन्न' अर्थ का बोध होता है । अब यह नियम है कि शब्दश्रवण के बाद विना व्यवधान के जिस अर्थ का बोध उत्पन्न हो वही उस शब्द का अर्थ होता है । फलतः गो शब्द से सिर्फ गोभिन्न अर्थ की ही प्रतीति मानने की आपत्ति होगी और 'गो' की प्रतीति का तो उद्भव ही नहीं होगा – ऐसे अनिष्ट का वारण करने के लिये यही मानना होगा कि शब्द अपोहकारक नहीं है ।

★ पर्युदासरूप अपोह होने पर सिद्धसाधन दोष ★

तदुपरांत अपोहरूप सामान्य ही शब्द का वाच्य है – ऐसा माननेवाले को ये दो प्रश्न हैं कि अपोह यानी अगोनिवृत्ति को आप [A]पर्युदासरूप मानते हैं या [B]प्रसज्यस्वरूप ? पर्युदास का अर्थ होगा अगो से भिन्न कोई वस्तु – यदि यह पहला पक्ष मानेंगे तो आपकी प्रतिज्ञा में सिद्धसाधन दोष आयेगा क्योंकि हम भी अगो से भिन्न गोत्वजातिरूप सामान्य को 'गो' शब्द का वाच्य मानते ही हैं । तात्पर्य यह है कि आप अगोनिवृत्तिरूप सामान्य को शब्द का वाच्य दिखाते हैं हम भी उसी को भावात्मक सामान्यरूप में शब्द का वाच्य दिखाते हैं, क्योंकि पर्युदासपक्ष में अभाव भावान्तर रूप ही होता है, निषेधरूप नहीं होता । श्लोकवार्त्तिक के अभावपरिच्छेद में कहा भी है कि –

"दूध में जो दहीं–मक्खन आदि का नास्तित्व है वही प्रागभाव कहा जाता है । दहीं आदि में जो

शिरसोऽवयवा निम्ना वृद्धि-काठिन्यवर्जिताः । शशशृंगादिरूपेण सोऽत्यन्ताभाव उच्यते ॥४ ॥

न चाऽवस्तुन एते स्युर्भेदास्तेनाऽस्य वस्तुता । (८ पूर्वार्धम्)

एतेन क्षीरादय एव दध्यादिरूपेण अविद्यमानाः प्रागभावादिव्यपदेशभाज इत्युक्तं भवति । अगो-निवृत्तिश्चान्योन्याभावः तस्या अश्वादिव्यवच्छेदरूपत्वात्, तस्मात् सा वस्तु । तत्रैवमभावस्य भावान्तरात्म-कत्वे कोऽयं भवद्भिरश्वादिनिवृत्तिस्वभावोऽभावोऽभिप्रेत इति ? ।

अथ गवादिस्वलक्षणात्मैवाऽसौ । न, तत्र सर्वविकल्पप्रत्ययास्व(?त्यस्त)मयात् विकल्पज्ञानगोचरः सामान्यमेवेष्यते, असाधारणस्त्वर्थः सर्वविकल्पानामगोचरः । यथोक्तम् —

स्वसंवेद्यमनिर्देश्यं रूपमिन्द्रियगोचरः। [ ]

यथैव हि भवतामसाधारणो विशेषोऽश्वादिनिवृत्त्यात्मा गोशब्दाभिधेयो नेष्टस्तथैव शाबलेयादिः शब्दवाच्यतया नेष्टः असामान्यप्रसङ्गतः । यदि हि गोशब्दः शाबलेयादिवाचकः स्यात् तदा तस्यानन्वयात्र सामान्यविषयः स्यात् । यतश्चाश्वादिनिवृत्त्यात्मा भावोऽसाधारणो न घटते तस्मात् सर्वेषु सजातीयेषु शाबलेयादिपिण्डेषु यत् प्रत्येकं परिसमाप्तं तन्निबन्धना गोबुद्धिः, तच्च गोत्वाख्यमेव सामान्यम्, तस्याऽगोऽपोहशब्देनाभिधानात् केवलं नामान्तरमिति सिद्धसाध्यता प्रतिज्ञादोषः ।

दूध आदि का नास्तित्व है यही प्रध्वंसाभाव का स्वरूप है । गो में जो अश्वादिरूपता का अभाव है उसे अन्योन्याभाव कहते हैं । और खरगोश आदि के मस्तक में जो वृद्धि और कठिनता से रहित निम्न अवयव होते हैं वे शशशृंगादि रूप न होने से अत्यन्ताभाव कहा जाता है जो सर्वथा वस्तुरूप नहीं होता उस के कोई भेद नहीं होते, इसलिये प्रागभावादि जिस के भेद हैं वह मूलतत्त्व अभाव वस्तुरूप है, अवस्तुरूप नहीं ।''

इस से यही ध्वनित होता है कि दहीं आदि रूप से अविद्यमान जो दूध आदि वस्तु है वही प्रागभावादिशब्द का वाच्य है ।

यहाँ अगोनिवृत्ति रूप जो अभाव है वह अगो=अश्वादि के व्यवच्छेदरूप होने से अन्योन्याभावरूप है और इसीलिये वह तुच्छ अपोह रूप न होकर वस्तुरूप है । इसप्रकार जब यहाँ अभाव भावान्तरस्वरूप ही सिद्ध होता है तो फिर गोत्वादि से अतिरिक्त (अगो=)अश्वादिनिवृत्तिस्वरूप कौन सा अभाव इष्ट है ?

★ पर्युदासरूप अपोह गो-आदि स्वलक्षणात्मक नहीं है ★

अपोहवादीः- हम 'गो' आदि स्वलक्षण पदार्थ को ही अश्वादिनिवृत्तिरूप से पर्युदासात्मक अभाव से कहना चाहते हैं ।

सामान्यवादीः- यह संभव नहीं है, क्योंकि आप के मत से स्वलक्षणरूप पदार्थ सिर्फ निर्विकल्पज्ञान का ही विषय है, सविकल्प सभी ज्ञान उस के ग्रहण में असमर्थ हैं । शब्दजन्यज्ञान तो विकल्पज्ञान का विषय होता है । कहा भी है – 'स्वसंविदित हो और (शब्द से) निर्देश के अयोग्य हो ऐसा रूप (=अर्थ) ही इन्द्रिय का (यानी इन्द्रियजन्य निर्विकल्प प्रत्यक्ष का) विषय होता है ।

इस का मतलब यह हुआ कि आप को अश्वादिनिवृत्तिस्वरूप असाधारण विशेष पदार्थ ही शब्द के वाच्यार्थरूप में इष्ट नहीं है । और इसी तरह 'शाबलेय गौ' आदि अर्थ भी शब्द के वाच्यार्थरूप में मान्य नहीं हो सकता,

तथा चाह कुमारिलः – [श्लो० वा० अपोह० १-२-३-१०]

अगोनिवृत्तिः सामान्यं वाच्यं यैः परिकल्पितम् । गोत्वं वस्त्वेव तैरुक्तमगोपोहगिरा स्फुटम् ॥

भावान्तरात्मकोऽभावो येन सर्वो व्यवस्थितः । तत्राश्वादिनिवृत्त्यात्माऽभावः क इति कथ्यताम् ॥

नेष्टोऽसाधारणस्तावद् विशेषो निर्विकल्पनात् । तथा च शावलेयादिरसामान्यप्रसङ्गतः ॥

तस्मात् सर्वेषु यद्रूपं प्रत्येकं परिनिष्ठितम् । गोबुद्धिस्तन्निमित्ता स्याद्गोत्वादन्यच्च नास्ति तत् ॥

Bअथ प्रसज्यलक्षणमिति पक्षस्तदा पुनरप्यगोऽपोहलक्षणाभावस्वरूपा शून्यता गोशब्दवाच्या प्रसक्ता वस्तुस्वरूपापह्नवात्, तत्र च शाब्दबुद्धीनां स्वांशग्रहणं प्रसक्तम् बाह्यवस्तुरूपाग्रहात्, ततश्चापोहस्य वाच्यत्वं मुधैवाभ्युपगतं परेण बुद्ध्याकारस्याम(?न)पेक्षितबाह्यार्थालम्बनस्य विधिरूपस्यैव शब्दार्थत्वापत्तेः । इत्य-

---

क्योंकि उसको शब्द का वाच्य मानेंगे तो सामान्यरूप अर्थ का वाचक न हो कर विशेष रूप अर्थ का वाचक हो जायेगा । कारण, यदि 'गो' शब्द 'कवचितरा गो' आदि विशेष का वाचक होगा तो वह प्रत्येक 'गो' पदार्थ में अनुगत न होने से, सामान्य रूप से कोई भी गोपदार्थ शब्द का विषय न रहेगा । तात्पर्य, असाधारण भाव अश्वादिनिवृत्तिरूप घट सकता नहीं, अतः सभी 'कवचितरा' आदि सजातीय अर्थों में प्रत्येक में रहनेवाला जो (सामान्य) तत्त्व है वही गोशब्द से होनेवाली गोबुद्धि का निमित्त है । और वही गोत्वजातिरूप सामान्य है क्योंकि 'अगोअपोह' शब्द से विचार करने पर उसी का प्रतिपादन होता है । हाँ, आप उसको गोत्व न कह कर 'अगोअपोह' कहते हैं यह सिर्फ संज्ञान्तर है । इस प्रकार आप की प्रतिज्ञा में सिद्धसाध्यता दोष सिद्ध हुआ । कुमारील ने भी श्लोकवार्त्तिक में कहा है –

जिन लोगों ने अगोनिवृत्तिरूप सामान्य को शब्दवाच्य माना है उन्होंने प्रगटरूप से अपोह शब्द से गोत्वरूप वस्तु का ही निरूपण किया है ॥ क्योंकि (पर्युदास पक्ष में) सभी अभाव भावान्तरस्वरूप होता है, तो अश्वादिनिवृत्तिरूप अभाव कौन सा भाव है यह कहिये ॥ असाधारण विशेष अर्थ तो निर्विकल्पग्राह्य होने से शब्दवाच्य हो नहीं सकता तथा कबचीतरा आदि भी शब्दवाच्य हो नहीं सकता क्योंकि तब शब्द सामान्यवाचक न रहेगा । इसलिये सभी अर्थों में जो प्रत्येक में अनुगत हो वही गोबुद्धि का निमित्त है और वह गोत्व जाति से भिन्न संभव नहीं है ॥

★ प्रसज्यरूप अपोह-पक्ष में प्रतिज्ञाबाध ★

Bअब अगोनिवृत्ति में निवृत्तिरूप अभाव को प्रसज्य-निषेधरूप ग्रहण करेंगे तो अगोअपोहरूप अभाव का पर्यवसान शून्यता में होगा क्योंकि प्रसज्यपक्ष में अन्य किसी वस्तु का विधान नहीं होता, सिर्फ वस्तुस्वरूप का अपह्नव यानी निषेध ही किया जाता है । फलतः शून्यता ही शब्द का वाच्यार्थ हुई । इसलिये यहाँ 'गो' शब्द से किसी भी बाह्यवस्तु की बुद्धि न होकर जो बुद्धि होगी वह अपने ज्ञानांश मात्र को ही ग्रहण करने वाली होगी न कि विषयांश को । जब इसप्रकार शब्द से ज्ञानांश मात्र का ही भान होता है तो अपोहवादी ने जो अपोह को शब्द का वाच्य बताया वह निकम्मा है क्योंकि उसको बाह्यार्थ आलम्बन से निरपेक्ष विधिरूप बुद्धि-आकार ही शब्द का वाच्यार्थ मानने की आपत्ति है । फलतः अपोहवादी को उसके मत में ही विरोध प्रसक्त है ।

यदि ऐसा कहें कि – "वह 'गो' शब्द से उत्पन्न होने वाला बुद्धिआकार उस से भिन्नजातीय 'अगो' बुद्धि आकार से व्यावृत्तरूप वाला होने से, अपोह के वाच्य होने की कल्पना असंगत नहीं है" – तो यह

भ्युपगमबाधा प्रतिज्ञायाः परस्य । अथ बुद्ध्याकारालम्बनाऽपि सा बुद्धिर्विजातीयगवादिबुद्धिभ्यो व्यावृत्तरूपा प्रवर्त्तते तेनापोहकल्पना युक्तैव । असदेतत्, यतो यद्यपि बुद्धिर्बुद्ध्यन्तराद् व्यवच्छिन्ना तथापि सा न बुद्ध्यन्तरव्यवच्छेदावसायिनी जायते, किं तर्हि ? अश्वादिष्वर्थेषु विधिरूपाध्यवसायिनी, तेन वस्त्वेव विधिरूपं वाच्यं कल्पयितुं युक्तिमत् नापोहः, बुद्ध्यन्तरस्य बुद्ध्यन्तरानपोहकत्वात् ।

किञ्च, योऽयं भवद्भिरपोहः पदार्थत्वेन कल्पितः स वाक्यादपोद्धृत्य कल्पितस्य पदस्यार्थं इष्टः वाक्यार्थस्तु प्रतिभालक्षण एव । यथोक्तम् –

➤"अपोद्धारपदस्यायं वाक्यादर्थो विवेचितः । वाक्यार्थः प्रतिभाख्योऽयं तेनादावुपजन्यते ॥[ ]

स चायुक्तः शब्दार्थस्य विधिरूपताप्रसक्तेः । तथापि बाह्येऽर्थे शब्दवाच्यत्वेनाऽसत्यपि वाक्यार्थो भवद्भिः प्रतिभालक्षण एव वर्ण्यते नापोहः, तदा पदार्थोऽपि वाक्यार्थवत् प्रतिभालक्षण एव प्रसक्त इति द्वयोरपि पद-वाक्यार्थयोर्विधिरूपत्वम् । अथ प्रतिभायाः प्रतिभान्तराद् विजातीयाद् व्यवच्छेदोऽस्तीत्यपोहरूपता । न सम्यगेतत्, यतो यद्यपि बुद्धेर्बुद्ध्यन्तराद् व्यावृत्तिरस्ति तथापि न च तत्र शब्दव्यापारः । तथाहि – शब्दादसावुत्पद्यमाना न स्वरूपोत्पादव्यतिरेकेणान्यं बुद्ध्यन्तरव्यवच्छेदलक्षणं शब्दादवसीयमा-

भी ठीक नहीं है । कारण, वह बुद्धि हालाँ कि अन्यबुद्धि से अवश्य व्यावृत्त है किन्तु फिर भी अन्यबुद्धि से व्यवच्छिन्न = व्यावृत्तरूप से वह शब्दकृत संवेदन का विषय नहीं होती । "तो कौन उस का विषय होता है ?" इस का उत्तर यह है कि अश्वादिशब्द से होने वाले संवेदन उन अश्वादि में अश्वत्वादि विधिस्वरूप धर्मों को ही विषय करने वाले होते हैं । इस का अर्थ यही हुआ कि विधिस्वरूप वस्तुभूत अर्थ ही शब्द का वाच्य मानना युक्तिसंगत है, अपोह नहीं, क्योंकि एक बुद्धि का अन्य बुद्धि से व्यावृत्तरूप में ग्रहण नहीं होता ।

★ प्रतिभास्वरूप वाक्यार्थ के पक्ष में प्रतिज्ञा में बाध ★

दूसरी बात यह है कि आपने जो अपोह की पदार्थरूप से संकल्पना की है वह वाक्यान्तर्गत पद को वाक्य में से (बुद्धिद्वारा) पृथक् होने की कल्पना कर के की है, वास्तव में आप के मत में वाक्य ही सार्थक होता है और प्रतिभा ही वाक्य का अर्थ होती है । जैसे कि कहा है "वाक्य में पद का विभाग कर के आपने उस का अर्थ कहा है । प्रथम तो 'प्रतिभा' संज्ञक वाक्यार्थ ही उत्पन्न होता है ।"

किन्तु अपोहवादी का यह मत असंगत है क्योंकि ऐसा मानने पर अपोह के बदले विधिस्वरूप ही शब्दार्थ प्रसक्त होगा । तात्पर्य यह है कि जब बाह्य अर्थ शब्द का वाच्य न होने पर भी प्रतिभा का वाक्यार्थ रूप से आप निरूपण करते हैं न कि अपोह का । जब वाक्यार्थ प्रतिभारूप है तो वाक्य के अंशभूत पद का अर्थ भी प्रतिभारूप ही मानना चाहिये । फलतः पद और वाक्य दोनों का अर्थ विधिरूप ही सिद्ध हुआ । यदि ऐसा कहें कि – "वाक्यार्थ प्रतिभारूप होने पर भी एक प्रतिभा विजातीय अन्य प्रतिभा से व्यावृत्त भी होती है, इसलिये प्रतिभान्तरव्यावृत्तिस्वरूप अपोह को शब्दार्थ मान सकते हैं ।" – तो यह सम्यक् नहीं है । कारण, एक बुद्धि विजातीय अन्य बुद्धि से व्यावृत्त होने पर भी शब्द उस का व्यावृत्तरूप से भान कराने में समर्थ नहीं होता । देखिये – जब शब्द से उत्पन्न बुद्धि का अनुभव होता है तब बुद्धि के स्वरूप मात्र का उस स्वरूप से उसकी उत्पत्ति का ही वेदन होता है, अन्य बुद्धि से व्यावृत्तिरूप कोई भी अंश शब्द से उत्पन्न बुद्धि में

➤ [illegible]

नमंशं बिभ्राणा लक्ष्यते, किं तर्हि ? विधिरूपावसायिन्येवोत्पत्तिमती । न च शब्दादनवसीयमानो वस्त्वंशः शब्दार्थो युक्त अतिप्रसंगादिति प्रतीतिबाधितत्वं प्रतिज्ञायाः ।

अपि च, ये भिन्नसामान्यवचना गवादयः ये च विशेषवचनाः शाबलेयादयस्ते भवदभिप्रायेण पर्यायाः प्राप्नुवन्ति, अर्थभेदाभावात् वृक्ष-पादपादिशब्दवत् । स च अवस्तुत्वात् । वस्तुन्येव हि संसृष्टत्व-एकत्व-नानात्वादिविकल्पाः सम्भवन्ति, नाऽवस्तुन्येवापोहाख्ये परस्परं संसृष्टतादिविकल्पो युक्त इति कथमेषां भेदः ? तदभ्युपगमे वा नियमेन वस्तुत्वापत्तिः । तथाहि – 'ये परस्परं भिद्यन्ते ते वस्तुरूपाः, यथा स्वलक्षणानि, परस्परं भिद्यन्ते चापोहाः' इति स्वभावहेतुः, इति विधिरेव शब्दार्थः । एतेनानुमानबाधितत्वं प्रतिज्ञायाः प्रतिपादितम् ।

अथाऽवस्तुत्वमभ्युपगम्यतेऽपोहानां तदा नानात्वाभावात् पर्यायत्वप्रसंग इत्येकान्त एषः । न चापोह्यभेदात् स्वतो भेदाऽभावेऽपि तस्य भेदादपर्यायत्वम् । स्वतस्तस्य नानात्वाभावेऽभावैकरूपत्वात् परतोऽप्यसौ भवन् काल्पनिकः स्यात् । न हि स्वतोऽसतो भेदस्य परतः सम्भवो युक्तः । यथा

अन्तर्गत हो ऐसा उस वक्त लक्षित नहीं होता है । सिर्फ बुद्धि के विधिस्वरूप का वेदन ही वहाँ शब्द से उत्पन्न हुआ बोधित होता है । जब व्यावृत्तिरूप अंश का शब्द से कुछ भान ही नहीं होता है तो उस को शब्दार्थ क्यों माना जाय ? अगर मानेंगे तो फिर सारे जगत् को प्रत्येक शब्द के अर्थरूप में मानने का अतिप्रसंग होगा । जब इस प्रकार व्यावृत्तिरूप नहीं किन्तु विधिरूप अर्थ शब्दजन्य प्रतीति का विषय सिद्ध होता है तो ''शब्द अपोहकारक है'' यह आपकी प्रतिज्ञा प्रतीतिविरुद्ध सिद्ध होती है ।

☆ गो-शाबलेय आदि शब्दो में पर्यायवाचित्व आपत्ति ☆

अपोहवाद में, गोत्व-अश्वत्वादि भिन्न भिन्न सामान्य के वाचक जो 'गो' आदि शब्द हैं और 'गोविशेष' आदि के वाचक 'शाबलेय' आदि शब्द हैं उन के अर्थों में कुछ भी भेद न होने से, परवादी की दृष्टि में पर्यायवादी ही होने चाहिये । उदा० 'वृक्ष' और 'पादप' शब्द अर्थभेद न होने से पर्यायवाची होते हैं । 'गो' और 'शाबलेय' शब्द अपोहवाद में किसी वस्तु का नहीं किंतु अपोहात्मक तुच्छ अवस्तु का वाचक है – इसलिये उन में अर्थभेद नहीं हो सकता । अगर कोई वस्तु होती है तो उस में ये विकल्प हो सकते हैं कि वह अन्यसंसर्गी है या नहीं, एक है या अनेक है....इत्यादि । अपोह तो अवस्तु है इसलिये उन में एक-दूसरे से संसृष्टतादि किसी विकल्प को अवकाश नहीं है, फिर चाहे वह अगोअपोह हो या अशाबलेयापोह हो क्या भेद रहा ? यदि उन में भेद मानने जायेंगे तो बलात् वस्तुरूप मानने की आपत्ति आयेगी । जैसे यह अनिष्टप्रसंग हो सकेगा– ''जो एकदूसरे से भिन्न हैं वे वस्तुरूप ही है, उदा० 'गोस्वलक्षण और अश्वस्वलक्षण' । अपोह भी परस्पर भिन्न हैं इसलिये वस्तुरूप हैं ।'' इस प्रकार भेदरूप स्वभावात्मक हेतु से विधिरूप ही शब्दार्थ फलित होने पर 'शब्द अपोहकारक है' इस प्रतिज्ञा का उक्त अनिष्टप्रसंजक अनुमान से बाध होगा ।

★ अवस्तुभूत अपोहपक्ष में पर्यायता की आपत्ति ध्रुव ★

यदि ऐसा कहें कि – 'नहीं हम, किसी भी स्थिति में अपोह को वस्तुरूप मानने के लिये उद्यत नहीं है' – तो अगो आदि अपोह के वाचक 'गो' आदि शब्द और अशाबलेयादिअपोह के वाचक शाबलेयादि शब्द, उन में कोई फर्क न रहने से गो और शाबलेय आदि शब्द पर्यायवाची बन जाने की विपत्ति अटल रहेगी यह

हि संसर्गिणः शाबलेयादय आधारतयाऽन्तरङ्गा अपि तं स्वरूपतो भेत्तुमशक्ताः – बहुष्वपि शाबलेयादिष्वेकस्याऽगोव्यवच्छेदलक्षणस्यापोहस्य तेष्वभ्युपगमात् – तथा बहिरंगभूतैरश्वादिभिरपोह्यैरसौ भिद्यते इत्यपि साहसम् । न हि यस्यान्तरंगोऽप्यर्थो न भेदकस्तस्य बहिरंगो भविष्यति बहिरंगत्वहानिप्रसंगात् ।

'अथान्तरंगा एवाधारास्तस्य भेदकाः' । असदेतत्, अवस्तुनः सम्बन्धिभेदाद् भेदानुपपत्तेः, वस्तुन्यपि हि सम्बन्धिभेदाद् भेदो नोपलभ्यते किमुताऽवस्तुनि निःश्भावोत्तहा हि – देवहिकमेकपि (?निःस्वभावे? तथाहि – देवदत्तादिकमेकमपि) वस्तु युगपत् क्रमेण वाऽनेके(?कै)रासनादिभिरभिसम्बध्यमानमनासादितभेदमेवोपलभ्यते किं पुनर्यदन्यव्यावृत्तिरूपमवस्तु, तत्त्वादेव च क्वचिदसम्बद्धं, विजातीयाच्चाऽव्यावृत्तम्,

---

सुनिश्चित है ।

यदि कहें कि – ''आकाश सर्वत्र एकरूप होने पर भी घट-पटादि उपाधियों के भेद से घटाकाश-पटाकाश ऐसा भेद होता है इसी तरह अपोह स्वयं एकरूप होने पर भी अगो अशाबलेय आदि अपोहनीय अर्थों के भेद से अगोअपोह- अशाबलेयअपोह ऐसा भेद होता है इसलिये उनमें पर्यायवाचिता की विपत्ति नहीं होगी'' – तो यह ठीक नहीं है क्योंकि उपाधियों से होने वाला भेद वास्तविक नहीं, काल्पनिक-औपचारिक होता है । इसलिये जब तक स्वयं भिन्नता नहीं है तब तक एकरूपता होने से परकीय संसर्ग से अपोह में भेद मानेंगे तो वह भी काल्पनिक ही होगा । तात्पर्य, स्वयं भिन्नता न होने पर परकीयसंग से वास्तविक भेद का सम्भव ही नहीं है ।

दूसरी बात यह है कि शाबलेयादि गोसामान्य के आधार रूप होने से अन्तरंग = अवान्तर तत्त्व है फिर भी आप उस अन्तरंग तत्त्वों से गो आदि का भेद मान्य नहीं करते हैं क्योंकि आप तो अनेक शाबलेयादि पिण्डों में अगोव्यवच्छेद रूप अपोह को एकरूप ही मानते हैं तो फिर जो अश्वादिरूप (अगो-अपोह) बहिरंग पदार्थ हैं उन के भेद से भेद मानना नितान्त अपसाहस है । अन्तरंग पदार्थ जिस का भेदक नहीं होता, बहिरंग पदार्थ उसका भेदक नहीं हो सकता, यदि उसे भेदक मानेंगे तो वह बहिरंग नहीं हो सकेगा किन्तु उस को अन्तरंग मानने की विपदा आयेगी ।

★ अन्तरंग आधार से अपोह का भेद असिद्ध ★

यदि कहें कि ''बहिरंग तत्त्व यदि भेदक नहीं हो सकता तो हम अन्तरंग आधारों यानी गो आदि सामान्य के आश्रयों को ही भेदक मान लेंगे ।'' तो यह शक्य नहीं है । कारण, अन्तरंग संबन्धियों के भेद से कदाचित् वस्तु में भेद सिद्ध हो सकता है, अवस्तु (अपोह) में नहीं । वास्तव में तो सम्बन्धि के भेद से सर्वत्र वस्तु में भी भेद उपलब्ध नहीं होता तो स्वभावशून्य अपोहरूप अवस्तु में तो भेद होने की बात ही कहाँ ? देखिये- देवदत्तनाम की एक वस्तु एकसाथ अथवा तो क्रमशः अनेक पृथग् पृथग् सम्बन्धिरूप आसन पर बैठायी जाय तब वह देवदत्तवस्तु तो एकरूप ही उपलब्ध होती है, भेद तो उसमें मिलता ही नहीं । तो फिर जो अन्यापोह रूप अवस्तु है उसमें कैसे सम्बन्धिभेदप्रयुक्त भेद मान लिया जाय ? और यह जब वस्तु ही नहीं है तो गोआदि किसी के भी साथ सम्बद्ध भी कैसे हो सकती है ? और उसका विजातीय भी कौन है जिस से उसकी व्यावृत्ति कही जाय ? जो अवस्तु है वह वस्तुरूप न होने से उसमें किसी भी विशेषता का भान शक्य ही नहीं है । ऐसी अवस्तु में सम्बन्धि (आश्रय) के भेद से किस तरह भेद स्वीकार किया जाय ?

अत एवानधिगतविशेषांशं तादृशं सम्बन्धिभेदादपि कथमिव भेदमश्नुवीत ? किंच, भवतु नाम सम्बन्धिभेदाद् भेदस्तथापि वस्तुभूतसामान्यानभ्युपगमे भवतां स एवापोहाश्रयः सम्बन्धी न सिद्धिमासादयति यस्य भेदात् तद्भेदोऽवकल्प्यते । तथाहि– यदि गवादीनां वस्तुभूतं सारूप्यं प्रसिद्धं भवेत् तदाऽश्वाद्यपोहाश्रयत्वमेषामविशेषेण सिद्ध्येत(त्) नान्यथा, अतोऽपोह*विषयत्वमेषामिच्छताऽवश्यं सारूप्यमङ्गीकर्त्तव्यम्, तदेव च सामान्यं वस्तुभूतं शब्दवाच्यं भविष्यतीत्यपोहकल्पना व्यर्थैव ।

अपोह्यभेदेनापोहभेदोऽपि वस्तुभूतसामान्यमन्तरेण न सिद्धिमासादयति । तथाहि – यद्यश्वादीनामेकः कश्चित् सर्वव्यक्तिसाधारणो धर्मोऽनुगामी स्यात् तदा ते सर्वे गवादिशब्दैरविशेषेणापोह्येरन् नान्यथा, विशेषाऽपरिज्ञानात् । साधारणधर्माभ्युपगमे चापोहकल्पनावैयर्थ्यम् ।

अपि च अपोहः शब्द-लिङ्गाभ्यामेव प्रतिपाद्यत इति भवद्भिरिष्यते । शब्दलिङ्गयोश्च वस्तुभूतसामान्यमन्तरेण प्रवृत्तिरनुपपन्नेति नातोऽपोहप्रतिपत्तिः । तथाहि – अनुगतवस्तुव्यतिरेकेण न (शब्दलिङ्गयोः प्रवृत्तिः, न च) शब्दलिङ्गाभ्यां विनाऽपोहप्रतिपत्तिः । न चाऽसाधारणस्यान्वयः, तदेवमपोहकल्पनायां

कुछ देर तक मान ले कि 'गो आदि में सम्बन्धिभेद से भेद होता है'' तो भी यह सोचना जरूरी है कि भिन्नरूपता और समानरूपता एकदूसरे के अविनाभावि तत्त्व हैं । इसलिये गोआदि पिण्डों में वास्तविक (गोत्वादि) सामान्य तत्त्व को न मानने पर अगो-अपोह के भिन्नरूपता के आश्रय रूप गो आदि पदार्थ की ही सिद्धि होना दुष्कर है (क्योंकि गो पिण्डोंमें गोत्वरूप समानता के विना तदविनाभावि अगोभेद भी सिद्ध नहीं हो सकता) तो जब गो आदि की आश्रयरूप में सिद्धि ही नहीं है तो उनके भेद से अपोह के भेद की कल्पना भी नहीं हो सकती है । देखिये – गो आदि पिण्डों में वस्तुभूत समानरूपता मानी जाय तो (अगो यानी अश्वादि के अपोह की आश्रयता भी तदविनाभावि होने से समानता की तरह सिद्ध की जा सके अन्यथा तो उस की सिद्धि दुष्कर है । इसलिये जिस को गो आदिमें अपोहविषयता यानी अपोहाश्रयता मानना हो उस को अनिवार्य रूप से समानरूपता भी मान्य करना ही चाहिये । वह समानरूपता ही वस्तुभूत सामान्य है जो शब्द का वाच्यार्थ बन सकता है, अतः अपोह की कल्पना निकम्मी है ।

★ अपोह्य के भेद से अपोहभेद असम्भव ★

अब ऐसा कहें कि 'सम्बन्धि के भेद से नहीं, तो हम अपोह्य अगो=अश्वादि के भेद से अपोह का भेद मानेंगे' तो यह अपोहभेद तभी सिद्ध हो सकता है जब कि अश्व आदि में वस्तुभूत सामान्य (अश्वत्वादि) को मान्य करें । देखिये – अश्वादि सकल व्यक्ति में रहने वाला कोई एक अनुगामी धर्म मौजूद रहेगा तो गो आदिशब्दों से सामान्यधर्मावच्छेदेन उन सभी के अपोह का – भेद का प्रतिपादन शक्य हो सकता है अन्यथा नहीं हो सकता, क्योंकि एक शब्द से पृथग् पृथग् एक एक के भेद का निरूपण तो शक्य नहीं है क्योंकि एक एक व्यक्ति का स्वतंत्र भान तो हम लोगों को होता नहीं । अब यदि अपोह्य अश्वादि में अश्वत्वादि सामान्य धर्म का अंगीकार कर लिया जाय तो उसी से काम चल जाने से अपोह की कल्पना निरर्थक है ।

तथा दूसरी बात यह है आप मानते हैं कि शब्द या लिंग (अनुमापक) इन दोनों से ही अपोह का निरूपण होता है । तो यह भी ज्ञातव्य है कि वस्तुगत सामान्यधर्म के विना न तो लिंग (=हेतु) से अनुमान

* 'विषयशब्दोऽत्राश्रयवचनः जलविषया मत्स्या इति यथा' ।[त० सं० पंजिका]

शब्दलिङ्गयोः प्रवृत्तिरेव न प्राप्नोति, प्रवृत्तौ वा प्रामाण्यमभ्युपगतं हीयेत । तथाहि – प्रतिपाद्यार्थाऽव्यभिचारित्वं तयोः प्रामाण्यं, अपोहश्च प्रतिपाद्यत्वेन भवताऽभ्युपगम्यमानोऽभावरूपत्वान्निःस्वभाव इति क्व तयोरव्यभिचारित्वम् ? न च विजातीयाऽदर्शनमात्रेणैव शब्दलिङ्गे अगृहीतसाहचर्ये एव स्वमर्थं गमयिष्यतः, विजातीयादर्शनमात्रेण गमकत्वाभ्युपगमे 'स्वार्थः परार्थ' इति विशेषानुपपत्तेः । तथा च स्वार्थमपि न गमयेत् तत्र अदृष्टत्वात् परार्थवत् । तदेवं शब्दलिङ्गयोरप्रामाण्याभ्युपगमप्रसङ्गान्नापोहः शब्दार्थो युक्तः ।

यदि वा असत्यपि सारूप्ये शाबलेयादिष्वगोऽपोहकल्पना तदा गवाश्वस्यापि कस्मान्न कल्प्येतासौ अविशेषात् । तदुक्तं कुमारिलेन [श्लो० वा० अपो० ७६]–

अथाऽसत्यपि सारूप्ये स्यादपोहस्य कल्पना । गवाश्वयोरयं कस्मादगोऽपोहो न कल्प्यते ॥

हो सकता है, न शब्द की ही प्रवृत्ति हो सकती है । फलतः शब्द या लिंग से अपोह का भान नहीं कराया जा सकता । देखिये – अग्नि आदि में अग्नित्व आदि सामान्य धर्म के बिना शब्द और लिंग (अनुमान) की प्रवृत्ति शक्य नहीं है और शब्द-अनुमान की प्रवृत्ति बिना अपोह का भान शक्य नहीं । कारण, शब्द या अनुमान का अपुनोत्पन्न असाधारण स्वलक्षण व्यक्ति के साथ कोई अन्वय (=सम्बन्ध) संभव नहीं है, सम्भव हो तो सिर्फ तद्गत सामान्य धर्म के साथ ही सम्बन्ध का संभव है । इस लिये अपोह की कल्पना करने पर शब्द और लिंग की प्रवृत्ति घटती नहीं है । अपोह में शब्द या अनुमान की प्रवृत्ति असंगत होते हुये भी मान लेंगे तो वैसे शब्द या अनुमान को प्रमाणभूत नहीं मान सकेंगे क्योंकि उसका विषय अपोह असत् है । जैसे देखिये – शब्द और अनुमान में प्रामाण्य क्या है ? – प्रतिपाद्य अर्थ का अव्यभिचार । आपने जिस को प्रतिपाद्य माना है वह अपोह तो अभावरूप होने से सर्वस्वभावशून्य है अर्थात् वह प्रतिपाद्य ही नहीं है, तो फिर उस के अव्यभिचार-रूप प्रामाण्य भी उन दोनों में कैसे आयेगा ?

यदि ऐसा कहें कि – ''अव्यभिचार दृष्ट न होने पर भी उस के विजातीय यानी व्यभिचार का भी दर्शन कहाँ है ? व्यभिचार के अदर्शनमात्र से शब्द और लिङ्ग (=अनुमान) स्वार्थ का = अपने अर्थों का बोध करा सकेगा ।'' – तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि व्यभिचार का अदर्शन शब्द और लिङ्ग में जैसे स्वार्थ के साथ है वैसे पर अर्थ के साथ भी व्यभिचार का अदर्शन तुल्य है । इस स्थिति में यह स्वार्थ (अर्थात् 'घट' शब्द का घट रूप अर्थ स्वार्थ है) और यह (पटादि) परार्थ है ऐसा विभाग ही व्युच्छिन्न हो जायेगा । फलतः, व्यभिचार का अदर्शन होने पर भी जैसे शब्द और लिंग से परार्थ का बोध नहीं होता वैसे ही स्वार्थ का भी बोध नहीं हो सकेगा । इस के फल स्वरूप शब्द और लिंग को सर्वथा अप्रमाण मानने की आपत्ति होने के कारण, अपोह को शब्द का वाच्यार्थ मानना असंगत है ।

★ सामान्य के बिना अश्व में भी अगोऽपोह की आपत्ति ★

अगर ऐसा बोले कि – ''शाबलेय-बाहुलेयादि पिंडो में कुछ भी सारूप्य=सामान्य न होने पर भी उन से अगोऽपोह की कल्पना कर सकते हैं'' – तो यह अनुचित है क्योंकि सामान्य का अभाव जैसे गोपिंडो में है वैसे अश्वादि में भी है, इसलिये गोपिंडो में अगोऽपोह मानने पर अश्वादि में भी वह क्यों न माना जाय ? [illegible] कि कोई विशेषता तो है नहीं । कुमारिल ने श्लोकवार्त्तिक में यही कहा है कि – ''सारूप्य के न होने पर भी यदि अगोऽपोह की कल्पना करते हैं तो गौ और अश्वादि में दोनों में [illegible]

'गवाश्वयोः' इति 'गवाश्वप्रभृतीनि च' [पाणि० २-४-११ सिद्धान्तकौ० पृ० २०-८] इत्येकवद्भावलक्षणाऽस्मरणादुक्तम् ।

अविशेषप्रतिपादनार्थं स एव पुनरप्युक्तवान् -[श्लो० वा० अपो० ७७]

शावलेयाच्च भिन्नत्वं वाहुलेयाश्वयोः समम् । सामान्यं नान्यदिष्टं चेत् क्वागोऽपोहः प्रवर्त्तताम् ? ॥

यथैव हि शावलेयाद्वैलक्षण्यादश्वे न प्रवर्त्तते तथा वाहुलेयस्यापि ततो वैलक्षण्यमस्तीति न तत्राप्यसौ प्रवर्त्तेत, एवं शावलेयादिष्वपि योज्यम् सर्वत्र वैलक्षण्याऽविशेषात् ।

अपि च यथा स्वलक्षणादिषु समयाऽसम्भवाद् न शब्दार्थत्वम् तथाऽपोहेऽपि । तथाहि – निश्चितार्थो हि समयकृत् समयं करोति, न चापोहः केनचिदिन्द्रियैर्व्यवसीयते, व्यवहारात् पूर्वं तस्याऽवस्तुत्वात् इन्द्रियाणां च वस्तुविषयकत्वात् । न चान्यव्यावृत्तं स्वलक्षणमुपलभ्य शब्दः प्रयोक्ष्यते, अन्यापोहादन्यत्र शब्दवृत्तेः

कि दोनों में कोई अन्तर नहीं है ।''

कुमारिलने इस श्लोक में जो 'गवाश्वयोः' ऐसा द्विवचनान्त प्रयोग किया है वह ठीक नहीं है क्योंकि यहाँ एकवद्भावमूलक 'गवाश्वस्य' ऐसा एकवचननान्त प्रयोग 'गवाश्वप्रभृतीनि च' इस पाणीनि सूत्र से, सिद्धहेम० में 'गवाश्वादिः' ३-१-१८८ सूत्र से प्राप्त होता है, फिर भी द्विवचनान्त प्रयोग हुआ है इस के लिये व्याख्याकार कहते हैं कि उस पाणीनिसूत्र का स्मरण न रहने से ऐसा हो गया है ।

'दोनों में कोई अन्तर नहीं है' इसी वात की स्पष्टता करते हुए कुमारिलने ही कहा है कि वाहुलेय और अश्व दोनों में शावलेयपिण्ड का भेद समान ही है यदि (वाहुलेय में) कुछ भी समानता नहीं है (तो वाहुलेय में भी अगोऽपोह न रहने से) अगोअपोह की प्रवृत्ति कहाँ होगी ?

तात्पर्य यह है कि अगोअपोह अश्व में प्रवृत्त नहीं होता इस का कारण यह है कि वह शावलेय से विलक्षण है । तो वाहुलेय भी शावलेय से विलक्षण होने से उस में भी अगोअपोह की प्रवृत्ति नहीं हो सकेगी । [शावलेय-वाहुलेय में वस्तुभूत गोत्वादिरूप समानता मानी जाय तव तो यह कह सकते हैं कि वाहुलेय में गोत्व के होने से अगोअपोह की प्रवृत्ति हो सकती है, अश्व में वह न होने से अगोअपोह की प्रवृत्ति नहीं हो सकती है]

★ स्वलक्षणादिवत् अपोह में भी संकेत का असम्भव ★

एक वात यह है कि अपोहवादी संकेत का असम्भव दिखा कर स्वलक्षणादि में शब्दार्थत्व का निषेध करता है और अपोह को शब्दार्थ कहता है । किन्तु अपोह में भी संकेत का सम्भव नहीं है इस लिये वह भी शब्द का अर्थ नहीं हो सकता । जैसे देखिये – संकेत करने वाला पुरुष पहले तो उस अर्थ का अन्य प्रमाणों से निश्चय करता है, वाद में उसमें किसी शब्द का संकेत कर सकता है । अपोह में संकेत करना हो तो उस का भी पहले किसी अन्य प्रमाण से निश्चय आवश्यक है । किन्तु वात यह है कि इन्द्रियों के द्वारा उस का भान होता नहीं; कारण, अपोह का शाब्दिक व्यवहार किया जाय तो उसके पहले तो वह वस्तुरूप से सिद्ध ही नहीं है, अवस्तु है, इन्द्रियों का अवस्तु में प्रवर्त्तन शक्य नहीं है ।

यदि ऐसा कहें कि – ''अन्यापोह का भले ही इन्द्रिय से भान न होता हो किन्तु स्वलक्षण का तो इन्द्रिय से भान होता है और स्वलक्षण तो अन्यव्यावृत्त ही होता है इस लिये स्वलक्षण में शब्दप्रवृत्ति के द्वारा अन्यापोह

प्रवृत्त्यनभ्युपगमात् । नाप्यनुमानेनापोहाध्यवसायः, ''न चान्वयविनिर्मुक्ता प्रवृत्तिः शब्दलिंगयोः'' इत्यादिना (५०-१०) तत्प्रतिषेधस्य तत्रोक्तत्वात् । तस्मात् 'अकृतसमयत्वात्' इत्यस्य हेतोरनैकान्तिकत्वमपोहेन, अकृतसमयत्वेऽप्यपोहे शब्दप्रवृत्त्यभ्युपगमात् ।

इतश्चापोहे संकेताऽसम्भवः अतिप्रसक्तेः । तथाहि – कथमश्वादीनां गोशब्दानभिधेयत्वम् ? 'सम्बन्धानुभवक्षणेऽश्वादेस्तद्विषयत्वेनाऽदृष्टेः' इति चेत् ? असदेतत् । यतो यदि यद् गोशब्दसंकेतकाले उपलब्धं ततोऽन्यत्र गोशब्दप्रवृत्तिर्नेष्यते तदैकस्मात् संकेतेन विषयीकृतात् शाबलेयादिकाद् गोपिण्डादन्यद् बाहुलेयादि गोशब्देनापोह्यं भवेत् ततश्च 'सामान्यं वाच्यमि'त्येतन्न सिद्ध्येत् ।

इतरेतराश्रयदोषप्रसक्तेश्चापोहे संकेतोऽशक्यक्रियः । तथाहि – अगोव्यवच्छेदेन गोः प्रतिपत्तिः, सचागोर्गोनिषेधात्मा, ततश्च 'अगौः' इत्यत्रोत्तरपदार्थो वक्तव्यः यो 'न गौरगौः' इत्यत्र नञा प्रतिषिध्येत, न ह्यनिर्ज्ञातस्वरूपस्य निषेधः शक्यते विधातुम् । अथापि स्यात् किमत्र वक्तव्यम् – अगोनिवृत्त्यात्मा

में शब्दप्रवृत्ति हो सकेगी ।'' – तो यह भी ठीक नहीं है । कारण आप के मत से अन्यापोह को छोड कर और किसी में भी शब्दवृत्ति की प्रवृत्ति शक्य ही नहीं है तो 'स्वलक्षण में शब्दप्रवृत्ति के द्वारा.... इत्यादि कहने का क्या अर्थ ?

अनुमान प्रमाण से भी अपोह का भान शक्य नहीं है क्योंकि ''शब्द या अनुमान की प्रवृत्ति वृत्ति या व्याप्ति रूप सम्बन्ध की अपेक्षा विना नहीं होती'' इस वचन के अनुसार अपोह के साथ किसी की भी व्याप्ति न होने से अनुमान की प्रवृत्ति का अपोह में प्रतिषेध पहले ही कर दिया है । इस प्रकार अन्यप्रमाण की प्रवृत्ति न होने से अपोह में संकेत का सम्भव नहीं है । निष्कर्ष– 'अकृतसमयत्व' हेतु अपोह में ही साध्यद्रोही है क्योंकि अपोह में 'अकृतसमयत्व' रूप हेतु रहता है फिर भी 'वह शब्द का वाच्य नहीं होता' यह साध्य अपोह में अपोहवादी के मत में नहीं है क्योंकि वह अपोह को शब्द से वाच्य मानता है ।

★ अपोह में संकेत की अशक्यता का बोधक अतिप्रसंग ★

एक अतिप्रसंग के कारण भी अपोह में संकेत का सम्भव नहीं है । देखिये – अपोहवादी को यह प्रश्न है कि अश्वादि गोशब्द का अभिधेय क्यों नहीं होता ? यदि इस के उत्तर में वह कहेगा कि – ''गोशब्द के संकेतकाल में संकेत के विषयरूप में अश्वादि दृष्टिगोचर नहीं हुआ – इसलिये ''तो यह ठीक नहीं है क्योंकि इस का मतलब यदि ऐसा हो कि जो 'गो'शब्द के संकेतकाल में दृष्टिगोचर हुआ था, उस से भिन्न किसी भी पदार्थ में गोशब्द की प्रवृत्ति इष्ट नहीं है - तो यहाँ यह अतिप्रसंग होगा कि गोशब्द के संकेतकाल में यदि शाबलेयादि गोपिण्ड दृष्टिगोचर रहा होगा तो उस से भिन्न बाहुलेयादि गोपिण्ड दृष्टिगोचर न होने से अश्वादि की भाँति अपोह्य हो जायेगा (अर्थात् गोशब्द का अभिधेय (=वाच्य) नहीं बन सकेगा) इस का दुष्परिणाम यह होगा कि सामान्य ही (चाहे वह विधिरूप माना जाय अथवा अपोहरूप) वाच्य होता है यह सिद्धान्त सिद्ध नहीं हो सकेगा ।

अन्योन्याश्रय दोष के कारण भी अपोह में संकेतक्रिया अशक्य है । जैसे देखिये – आप 'गो'शब्द से अगोव्यवच्छेदरूप से गौ का भान मानते हैं, व्यवच्छेद का प्रतियोगी जो 'अगौ' है वह गोनिषेधरूप है, तो यहाँ 'अगौ' इस समास में उत्तरपदार्थ गौ क्या है जिस का आप नञ् से प्रतिषेध करते हैं [illegible] [illegible]

गौः, नन्वेवमगोनिवृत्तिस्वभावत्वाद् गोरगोप्रतिपत्तिद्वारेणैव प्रतीतिः अगोश्च गोप्रतिषेधात्मकत्वात् गोप्रतिपत्तिद्वारिकैव प्रतीतिरिति गोप्रतिषेधात्मत्वात् गोप्रतिपत्तिद्वारिकैव प्रतीतिरिति स्फुटमितरेतराश्रयत्वम् ।

अथाप्यगोशब्देन यो गौर्निषेध्यते स विधिरूप एव अगोव्यवच्छेदलक्षणापोहसिद्ध्यर्थम् तेनेतरेतराश्रयत्वं न भविष्यति । यद्येवं 'सर्वस्य शब्दस्यापोहार्थः' इत्येवमपोहकल्पना वृथा, विधिरूपः शब्दार्थः प्रसिद्धोऽङ्गीकर्त्तव्यः। तदनङ्गीकरणे चेतरेतराश्रयदोषो दुर्निवारः। तदुक्तम् [श्लो० वा० अपो० ८३-८४-८५]–

सिद्धश्चागौरपोह्येत गोनिषेधात्मकश्च स । तत्र गौरेव वक्तव्यो नञा यः प्रतिषिध्यते ॥

स चेदगोनिवृत्त्यात्मा भवेदन्योन्यसंश्रयः । सिद्धश्चेद् गौरपोहार्थं वृथाऽपोहप्रकल्पनम् ॥

गव्यसिद्धे त्वगौर्नास्ति तदभावेऽपि गौः कुतः ? ।

"नीलोत्पलादिशब्दा अर्थान्तरनिवृत्तिविशिष्टानर्थानाहुः" इत्याचार्यदिग्नागेन विशेष्य-विशेषणभावसमर्थनार्थं यदुक्तं तदयुक्तमिति दर्शयन्नाह भट्टः – "नाधाराधेयवृत्त्यादिसम्बन्धश्चाप्यभावयोः ॥" [श्लो०

है - गौ तो अगोनिवृत्तिस्वरूप ही है' – ऐसा अगर कहेंगे तो अब देखिये कि 'गौ' अगोनिवृत्तिरूप होने से 'अगौ' के भान के विना उसकी निवृत्ति रूप गौ का भान नहीं होगा, और 'अगौ' गोनिषेधरूप होने से 'गौ' के भान के विना अगौ का भान शक्य नहीं होगा । इस तरह स्पष्ट ही यहाँ एक दूसरे की प्रतीति एक दूसरे पर अवलम्बित होने से अन्योन्याश्रय दोष प्रसक्त होगा ।

☆ विधिस्वरूप शब्दार्थ की प्रसिद्धि ☆

अब अन्योन्याश्रय दोष को टालने के लिये यदि ऐसा कहें कि "अगोव्यवच्छेदरूप अपोह की स्वतन्त्ररूप से सिद्धि के लिये हम मानेंगे कि 'अगौ' शब्द में जिस गौ का निषेध किया जाता है वह विधिरूप अर्थ है।" – तो 'सभी शब्दों का अर्थ सिर्फ अपोह है' ऐसी अपोह की कल्पना निरर्थक ठहरेगी । कारण, अगोअपोह को शब्दवाच्य दिखाते हुए आप को उस के घटकभूत विधिरूप गौ अर्थ को भी वाच्य कहना ही पडेगा । इस प्रकार विधिस्वरूप भी अर्थ (न केवल अपोह,) शब्द का वाच्य होने का फलित होने से, आप को किसी एक शब्द का विधिरूप अर्थ भी प्रसिद्ध है यह स्वीकारना होगा । फिर शब्दमात्र के अर्थरूप में अपोह की कल्पना निरर्थक क्यों न होगी ? यदि आप विधिरूप अर्थ को शब्दवाच्य मानने के लिये उद्यत नहीं है तब तो पूर्वोक्त अन्योन्याश्रय दोष अटल ही रहेगा । कुमारिल ने श्लोकवार्त्तिक में कहा है –

'अगौ' किसी प्रकार सिद्ध हो तभी उस का अपोह किया जा सकता है । लेकिन 'अगौ' गोनिषेधरूप है । तो जिस का निषेध किया जाता है वह 'गौ' क्या है ? यह पहले कहना पडेगा । यदि वह 'गौ' अगोनिषेधरूप है तब तो स्पष्ट ही अन्योन्याश्रय हुआ । यदि कहें कि अपोह की सिद्धि के लिये विधिरूप से प्रसिद्ध 'गौ' ही है वह, तब तो (वह विधिरूप 'गौ' भी शब्दवाच्य हो जाने से) अपोह की कल्पना व्यर्थ ठहरी । यदि 'गौ' कोई विधिरूप अर्थ ही नहीं है तब तो 'अगौ' भी नहीं हो सकता । और 'अगौ' के अभाव में (उस के निषेध) रूप से 'गौ' भी कैसे सिद्ध होगा ?

★ अनील-उत्पल शब्दों में विशेषण-विशेष्यभाव असंगत ★

'अपोह-अपोह का विशेषण-विशेष्यभाव घटेगा नहीं' ऐसा समझ कर दिग्नाग बौद्ध आचार्यने नील और

वा० अपो० श्लो० ८५] । यस्य हि येन सह कश्चिद् वास्तवः सम्बन्धः सिद्धो भवेत् तत् तेन विशिष्टमिति युक्तं वक्तुम् । न च नीलोत्पलयोरनीलानुत्पलव्यवच्छेदरूपत्वेनाभावरूपयोराधाराधेयादिः सम्बन्धः सम्भवति, नीरूपत्वात् । आदिग्रहणेन संयोगसमवायैकार्थसमवायादिसम्बन्धग्रहणम् । न चासति वास्तवे सम्बन्धे तद्विशिष्टस्य प्रतिपत्तिर्युक्ता, अतिप्रसङ्गात् । अथापि स्यात् नैवास्माकमनीलादिव्यावृत्त्या विशिष्टोऽनुत्पलादिव्यवच्छेदोऽभिमतः यतोऽयं दोषः स्यात्; किं तर्हि ? अनीलानुत्पलाभ्यां व्यावृत्तं वस्त्वेव तथाऽव्यवस्थितं तदर्थान्तरनिवृत्त्या विशिष्टं शब्देनोच्यत इत्ययमर्थोऽत्राभिप्रेतः । असदेतत्; स्वलक्षणस्याऽवाच्यत्वात् तत्पक्षभाविदोषप्रसंगाच्च । न च स्वलक्षणस्यान्यनिवृत्त्या विशिष्टत्वं सिध्यति यतो न वस्त्वपोहः, असाधारणं तु वस्तु; न च वस्त्ववस्तुनोः सम्बन्धो युक्तः, वस्तुद्वयाधारत्वात् तस्य ।

भवतु वा सम्बन्धस्तथापि विशेषणत्वमपोहस्याऽयुक्तम्; नहि सत्तामात्रेणोत्पलादीनां नीलादिविशेषणं

उत्पल शब्दों के विशेषण-विशेष्यभाव की उपपत्ति करने के लिये जो कहा है कि– नील शब्द अनीलव्यावृत्ति का नहीं किन्तु अनीलव्यावृत्तिविशिष्ट अर्थ का वाचक है और उत्पल शब्द अनुत्पलव्यावृत्ति का नहीं किन्तु अनुत्पलव्यावृत्तिविशिष्ट अर्थ का वाचक है । (ये दोनों वस्तुरूप होने से विशे०विशेष्यभाव घट सकेगा)'' – यह भी युक्त नहीं है – इस बात का निर्देश करते हुए भट्ट कुमारिल कहता है कि – ''दो अभावों के बीच आधाराधेयभाव आदि सम्बन्ध सम्भव नहीं है ।'' जिस के साथ जिस का पारमार्थिक सम्बन्ध सिद्ध हो वह उस से 'विशिष्ट' दिखाना युक्ति-युक्त है । अपोहवाद में नील और उत्पल पदों का अर्थ यदि अनीलव्यवच्छेद इष्ट हो तब तो वे दोनों अभावरूप–अवस्तुरूप होने से, उन में आधाराधेय आदि कोई सम्बन्ध सम्भवता नहीं, क्योंकि वे स्वभाव रहित है । 'आदि' शब्द का तात्पर्य यह है कि आधाराधेय की तरह संयोग समवाय या एकार्थ समवाय (एक अर्थ में समानाधिकरण्य) आदि कोई भी सम्बन्ध उनमें सम्भवित नहीं है । जहाँ तक सम्बन्ध वास्तविक न हो वहाँ तक एक से विशिष्ट अन्य का भान शक्य ही नहीं । यदि मानेंगे तो असत् गगनपुष्प से विशिष्ट वन्ध्यापुत्र भी मानने की विपदा आयेगी ।

अब यदि (जाह दिग्नाग के कथनानुसार) ऐसा कहें कि – हम 'अनीलव्यावृत्ति से विशिष्ट अनुत्पलव्यावृत्ति' ऐसा नहीं मानते जिस से कि उपर प्रदर्शित दोष हो सके । तो क्या मानते हैं ? मानते यह हैं कि अनील से व्यावृत्त (यानी अनीलव्यावृत्तिविशिष्ट) जो वस्तु है और जो अनुत्पल से व्यावृत्त वस्तु है ये दोनों विशेषण-विशेष्यरूप सम्बन्ध से अवस्थित है । इस लिये नील और उत्पल शब्द से हमें क्रमशः अनीलव्यावृत्ति से विशिष्ट और अनुत्पलव्यावृत्ति से विशिष्ट तत्तद् वस्तु रूप अर्थ ही अभिप्रेत है । – तो यह भी गलत है । कारण, तत्तद् व्यावृत्ति से विशिष्ट वस्तु यदि स्वलक्षण रूप है तो वह तो आप के मतानुसार शब्द से वाच्य ही नहीं है । यदि उसे शब्दवाच्य मानेंगे तो आपने ही जो उस पक्ष में दोषनिरूपण किया है वह प्रसक्त होगा । दूसरी बात यह है कि स्वलक्षण अन्यव्यावृत्ति से विशिष्ट सिद्ध नहीं हो सकता । कारण, अन्यव्यावृत्ति तो अवस्तु रूप है जब कि यह असाधारण स्वलक्षणरूप अर्थ तो वस्तुरूप है; वस्तु और अवस्तु इन दोनों में कोई सम्बन्ध ही घट नहीं सकता (जिस से कि वस्तु को अवस्तु से विशिष्ट कहा जा सके) क्योंकि सम्बन्ध तो वस्तुभूत दो अर्थों पर निर्भर है ।

★ अपोह की विशेषणता का असम्भव ★

कदाचित् मान ले कि अवस्तु का भी सम्बन्ध होता है । तथापि अपोह में विशेषणस्वरूपता घटित हो सकत

भवति । किं तर्हि ? ज्ञातं सद् यत् स्वाकारानुरक्तया बुद्धया विशेष्यं रञ्जयति तद् विशेषणम् । न चापोहेऽयं प्रकारः सम्भवति । न ह्यश्वादिबुद्ध्याऽपोहोऽध्यवसीयते, किं तर्हि ? वस्त्वेव, अतोऽपोहस्य बोधाऽसम्भवाद् न तेन स्वबुद्धया रज्यते अश्वादि । न चाऽज्ञातोऽप्यपोहो विशेषणं भवति । न ह्यगृहीतविशेषणा विशेष्ये बुद्धिरुपजायमाना दृष्टा । भवतु वाऽपोहज्ञानम् तथापि वस्तुनि तदाकारबुद्धयभावात् तस्य तद्विशेषणत्वमयुक्तम् । सर्वमेव हि विशेषणं स्वाकारानुरूपां विशेष्ये बुद्धिं जनयद् दृष्टम् न त्वन्यादृशं विशेषणमन्यादृशीं बुद्धिं विशेष्ये जनयति । न हि नीलमुत्पले 'रक्तम्' इति प्रत्ययमुत्पादयति दण्डो वा 'कुण्डली' इति । न चात्राश्वादिष्वभावानुरक्ता शाब्दी बुद्धिरुपजायते, किं तर्हि ? भावाकाराध्यवसायिनी । यदि पुनर्विशेषणाननुरूपतयाऽन्यथा व्यवस्थितेऽपि विशेष्ये साध्वी विशेषणकल्पना तथा सति सर्वमेव नीलादि सर्वस्य विशेषणमित्यव्यवस्था स्यात् । नाप्यपोहेनापि स्वबुद्धया विशेष्यं वस्त्वनुरज्यत इति वक्तव्यम्, तथाभ्युपगमेऽभावरूपेण वस्तुनः प्रतीतेर्वस्तुत्वमेव न स्यात् भावाभावयोर्विरोधात् ।

नहीं होती । ऐसा नहीं है कि नीलादि सत् है इतने मात्र से उत्पलादि का विशेषण हो जाय । तो ? ''ज्ञात होते हुये जो अपने आकार से अनुरक्त बुद्धि के द्वारा विशेष्य को उपरञ्जित करे'' अर्थात् विशेष्यनिष्टप्रत्यासत्ति से विशेष्यों में जो स्वप्रकारक बुद्धि को उत्पन्न करे वही विशेषण कहा जाता है । अपोह में यह बात सम्भवित नहीं हैं क्योंकि अश्वादि को देखते हैं तब अपोह का कुछ भी भान नहीं होता । (उस की गन्ध भी नहीं आती ।) तो किसका भान होता है ? अश्वादि वस्तु का । इस लिये अपोह का भान उस वक्त न होने से, अपोह अपनी बुद्धि के माध्यम से अश्वादि को उपरञ्जित नहीं कर सकता । फलतः अश्वादिबुद्धिकाल में अज्ञात अपोह अश्वादि का विशेषण नहीं हो सकता । यह प्रसिद्ध है कि विशेषण अगृहीत रहने पर विशेष्य में (अर्थात् अश्वादि की विशेष्यरूप में) बुद्धि उत्पन्न होती नहीं दीखाई देती । इस लिये अपोह और अश्वादि का विशेषण-विशेष्यरूप से भान संभवित नहीं है ।

यदि कहें कि – 'अपोह का सर्वथा भान नहीं होता ऐसा तो नहीं है – अपोह की प्रतीति होती है' – तो भी अश्वादि वस्तु में अपोहाकार (यानी अपोहप्रकारक) बुद्धिं न होने से अपोह को विशेषण मानना अयुक्त है । स्पष्ट दीखता है कि जो कोई विशेषण होता है वह अवश्य विशेष्य में (यानी अश्वादिविशेष्यक) अपने आकार के अनुरूप (यानी स्वप्रकारक) बुद्धि को उत्पन्न करता है । (तभी तो वह विशेषण कहा जाता है ।) विशेषण कुछ ओर हो ओर विशेष्य में कुछ ओर आकार की बुद्धि उत्पन्न हो ऐसा कभी नहीं होता । कमल में 'नील' विशेषण कभी रक्ताकार प्रतीति को उत्पन्न करता नहीं है एवं दण्डात्मक विशेषण कभी 'यह कुंडली है' ऐसी कुण्डली-आकार प्रतीति उत्पन्न नहीं करता है । इसी तरह अश्वादि पद के उच्चारण से अभावाकार अश्वादि का शाब्दबोध नहीं होता है, किन्तु विधिरूप भावाकार अश्व का ही बोध होता है ।

★ अननुरूप विशेषण होने की सम्भावना में क्षति ★

विशेष्य में (हंसादि में) न घट सके ऐसे (नीलादि) विशेषण के लिये वह विशेष्य अनुरूप यानी योग्य न होने पर भी अर्थात् निःशंकतः उस से विरुद्ध प्रकार के हि विशेषण से युक्त होने पर भी उस विशेष्य में अननुरूप विशेषण होने की कल्पना को युक्त माना जाय तब तो हर कोई नीलादि पदार्थ वस्तुमात्र का भले अननुरूप विशेषण हो सकेगा –फिर कैसे यह व्यवस्था रहेगी कि शृंग महिष का विशेषण है और अश्व का नहीं

एतदेवाह —— [श्लो० वा० अपो० श्लो० ८६ तः ९१]

न चाऽसाधारणं वस्तु गम्यतेऽपोहवत् तया । कथं वा परिकल्प्येत सम्बन्धो वस्त्ववस्तुनोः ॥
स्वरूपसत्त्वमात्रेण न स्याद् किंचिद् विशेषणम् । स्वबुद्ध्या रज्यते येन विशेष्यं तद् विशेषणम् ॥
न चाप्यश्वादिशब्देभ्यो जायतेऽपोहबोधनम् । *विशेष्यबुद्धिरिष्टेह न चाऽज्ञातविशेषणा ॥
न चान्यरूपमन्यादृक् कुर्याज् ज्ञानं विशेषणम् । कथं चान्यादृशे ज्ञाने तदुच्यते विशेषणम् ॥
अथान्यथा विशेष्येऽपि स्याद् विशेषणकल्पना । तथा सति हि यत् किंचित् प्रसज्येत विशेषणम् ॥
अभावगम्यरूपे च न विशेष्येऽस्ति वस्तुता । विशेषितमपोहेन वस्तु वाच्यं न तेऽस्त्यतः ॥

अथान्यव्यावृत्ते वस्तुनि शब्दलिङ्गयोः प्रवृत्तिर्दृश्यते नापोहरहिते, अतोऽपोहः शब्द-लिङ्गाभ्यां प्रतिपाद्यत इत्यभिधीयते न प्रसज्यप्रतिषेधमात्रप्रतिपादनात्, अत एव न प्रतीत्यादिविरोधोद्भावनं युक्तम् । असदेतत्; यतो यदि नाम तद् वस्त्वन्यतो व्यावृत्तं तथापि तत्रोत्पद्यमानः शब्दलिङ्गोद्भवो बोधोऽन्यव्यावृत्तिं

है ? ऐसा नहीं मान सकते कि 'अपोह भी अपने आकार की बुद्धि से अश्वादि विशेष्यरूप वस्तु को उपरञ्जित करता है' । यदि मानेंगे तब तो अश्वादि की प्रतीति भावरूप से (वस्तुरूप से) न होकर अभावरूप से (अवस्तुरूप से) होने के कारण, अश्वादि में वस्तुत्व का उच्छेद हो जायेगा, क्योंकि भावाकार और अभावाकार परस्पर विरुद्ध होता है । (इसलिये अश्वादि को अभावाकार बुद्धि विषय मानने पर उसकी भावरूपता का लोप प्रसक्त होगा ।)

यही बात कुमारिल करता है ——

"शाब्दिकप्रतीति से ऐसा भान नहीं होता कि असाधारण वस्तु अपोहविशिष्ट है तथा, वस्तु के साथ अवस्तु के सम्बन्ध की कल्पना भी कैसे हो सकती है ? अपनी सत्ता मात्र से कोई 'विशेषण' नहीं बन सकता । जो अपनी बुद्धि से विशेष्य को उपरञ्जित करे वही विशेषण होता है । 'अश्व' आदि शब्दों से अपोह का तो बोध नहीं होता । जब उस का विशेषणरूप से बोध न हो तब तक विशेष्य का (यानी विशिष्ट का) भान भी शक्य नहीं है । एकस्वरूपवाला विशेषण अन्यस्वरूपविषयक ज्ञान करा नहीं सकता । ज्ञान अगर अन्यस्वरूपविषयक हो तो वह एकस्वरूपवाला कैसे 'विशेषण' कहा जाय ? यदि अन्यस्वरूप (वस्तुरूप) विशेष्य होने पर भी अवस्तुरूप अपोह 'विशेषण' होने की कल्पना की जायेगी तो कोई भी किसी का विशेषण होने का अतिप्रसंग होगा । और 'विशेष्य' यदि अभावरूप से ज्ञात होगा तब तो विशिष्ट वस्तु शब्दवाच्य हो नहीं सकती ।"

★ अन्यव्यावृत्ति शब्द-लिंग का विषय नहीं ★

अपोहवादी : शब्द और लिंग की प्रवृत्ति जब जब होती है तब अन्यव्यावृत्त गोआदि वस्तु में ही होती है, अव्यावृत्त में यानी अपोहशून्य में नहीं होती । यही कारण है कि हम अपोह को शब्द और लिंग का प्रगट मानते हैं । सिर्फ प्रसज्यप्रतिषेध मात्र का प्रतिपादक होने से हम अपोह को वाच्य दिखाते हैं – ऐसा नहीं है इसीलिये प्रसज्यप्रतिषेधादि को ले कर आपने जो प्रतीतिविरोधादि दोषों का उद्भावन किया है वह युक्त नहीं है ।

मीमांसक : यह बात गलत है । कारण, ठीक है कि वह 'गो' आदि वस्तु अन्य अश्वादि से व्यावृत्त ही होती है, किन्तु उस का मतलब यह नहीं है कि जब शब्द या लिंग से गो आदि की बुद्धि उत्पन्न हो तब उस में रही हुई अन्यव्यावृत्ति भी विषयरूप से भासित हो । तो क्या मतलब है ? मतलब यह है कि शब्द

* श्लोकवार्तिके 'विशेष्यबुद्धिरिष्टेह' इति पाठान्तरम् ।

सतीमपि नावलम्वते, किं तर्हि ? वस्त्वंशमेवाभिधावति, तत्रैवानुरागात् । य एव चांशो वस्तुनः शाब्देन लैङ्गिकेन वा प्रत्ययेनावसीयते स एव तस्य विषयः नानवसीयमानः सन्नपि । न हि मालतीशब्दस्य गन्धादयो विद्यमानतया वाच्या व्यवस्थाप्यन्ते । न चाप्येतदु(द्यु)क्तम् यद् अन्यव्यावृत्ते वस्तुनि शब्दलिंगयोः प्रवृत्तिः, यतोऽन्यव्यावृत्तं वस्तु भवता मतेन स्वलक्षणमेव भवेत्, न च तत् शब्दलिङ्गजायां बुद्धौ विपरिवर्त्तते इति, तस्य निर्विकल्पबुद्धिविषयत्वात्, भवदभिप्रायेण शब्दलिङ्गजबुद्धेश्च सामान्यविषयत्वात् । न चाऽसाधारणं वस्तु शाब्दलिङ्गजप्रत्ययाधिगम्यम्, तत्र विकल्पानां प्रत्यस्तमयात् । तथाहि – विकल्पो जात्यादिविशेषणसंस्पर्शेनैव प्रवर्त्तते न शुद्धवस्तूपग्रहणे, न च शब्देनागम्यमानमप्यसाधारणं वस्तु व्यावृत्त्या विशिष्टमभिधातुं शक्यम् । यतः

शब्देनाऽगम्यमानं च विशेष्यमिति साहसम् । तेन सामान्यमेष्टव्यं विषयो बुद्धि-शब्दयोः ॥ [श्लो० वा० अपो० श्लो० ९४]

इतश्च सामान्यं वस्तुभूतं शब्दविषयः, यतो व्यक्तीनामसाधारणवस्तुरूपाणामवाच्यत्वान्नापोह्यता अनुक्तस्य निराकर्त्तुमशक्यत्वात्, अपोह्येत सामान्यम् तस्य वाच्यत्वात्, अपोहानां त्वभावरूपतयाऽपोह्यत्वाऽसम्भवात् तत्त्वे वा वस्तुत्वमेव स्यात् । तथाहि– यद्यपोहानामपोह्यत्वं भवेत् तदैषामभावरूपत्वं

और लिंग 'गो' आदि के गोत्वादि वस्तुरूप अंश को ही स्पर्श करते हैं, क्योंकि उसी में उन का अनुराग (= संकेतसम्बन्ध) होता है । यह नियम है कि वस्तु का जो अंश शब्दजन्य या लिंगजन्य प्रतीति में भासित होता है वही उस प्रतीति का विषय होता है । दूसरे अंश वस्तु में होते हुये भी भासित न होने पर उस प्रतीति का विषय नहीं होता । जैसे - 'मालती' शब्द से मालतीपुष्प की प्रतीति होने से वही उस शब्द का वाच्य माना जाता है, सुरभिगन्धादि वहुत से उस के धर्म उस में विद्यमान होते हैं फिर भी 'मालती' शब्द से उन का भान नहीं होता है इसलिये वे 'मालती' शब्द के वाच्य नहीं माने जाते ।

यह भी समझ लो कि अन्यव्यावृत्त वस्तु में शब्द और लिंग की प्रवृत्ति मानना आप के मत में युक्तिसंगत नहीं है । कारण, आप के मत से अन्यव्यावृत्त वस्तु क्या है ? स्वलक्षण ही है, वह तो शाब्दिक या लैङ्गिक प्रतीति का विषय ही नहीं होता, क्योंकि आप के मत में स्वलक्षण सिर्फ निर्विकल्पप्रत्यक्ष से ही ग्राह्य होता है और शब्दलिंगजन्य बुद्धि का विषय तो सिर्फ (कल्पित) सामान्य ही होता है । इसलिये असाधारण स्वलक्षण वस्तु का शब्दजन्य या लिंगजन्य प्रतीति से भान ही नहीं होता क्योंकि विकल्पमात्र की वहाँ पहुँच नहीं है । देखिये, विकल्पज्ञान तो जाति-सम्वन्ध आदि विशेषणों को स्पर्शते हुए ही वस्तु का वोध कराता है, शुद्ध वस्तु का वोध नहीं कराता । इस प्रकार जव यह असाधारण वस्तु शब्दजन्यप्रतीति का विषय ही नहीं है तो अन्यव्यावृत्तिविशिष्ट वस्तु उस प्रतीति का विषय होने की वात कहाँ ? इसलिये यह जो कुमारिलने कहा है वही आप को मानना पडेगा कि – "शब्द से जिस का वोध नहीं होता उसको विशेष्य कहना (या मानना) साहस (अविचारिकृत्य) है, इसलिये सामान्य को भी गोआदिबुद्धि और शब्द का विषय मान लेना चाहिये ।"

शब्द का विषय वस्तुभूत सामान्य है इस तथ्य की इस प्रकार भी सिद्धि होती है कि – असाधारण वस्तुरूप व्यक्ति ली जाय तो वह शब्द का वाच्य न होने से उस का अपोह (=निषेध) भी शक्य नहीं है क्योंकि जव तक किसी भी प्रकार शब्द से उस व्यक्ति का उल्लेख न किया जाय तब तक उसका निषेध भी कैसे हो

विप्रतिषिद्धं भवेत्; प्रतिषेधे च सति अभावैरभावरूपत्वं त्यक्तं स्यात्; ततश्चाऽभावानामपोहलक्षणानामभावरूपत्यागाद् वस्तुत्वमेव भवेत्, तच्च न शब्दविषयः । यद्वाऽभावानामभावाभावात् न ह्यभावस्वभावा अपोह्या अपोह्या युज्यन्ते, वस्तुविषयत्वात् प्रतिषेधस्य । तस्मादश्वादौ गवादेरपोहो भवन् सामान्यस्यैवेति निश्चीयते इति सिद्धमपोह्यत्वाद् वस्तुत्वं सामान्यस्य । तदुक्तम् - [श्लो० वा० अपो० ९५-९६]

यदा वा शब्दवाच्यत्वात्र व्यक्तिनामपोह्यता । तदाऽपोहेत सामान्यं तस्यापोहाच्च वस्तुता ॥

नापोह्यत्वमभावानामभावाभाववर्जनात् । व्यक्तोऽपोहान्तरेऽपोहस्तस्मात् सामान्यवस्तुनः ॥

अपि च, अपोहानां परस्परतो वैलक्षण्यमवैलक्षण्यं वा ? तत्राद्ये पक्षेऽभावस्यागोशब्दस्याभिधेयस्या-

सकता है ? [बौद्ध तो मानता है कि शब्द से विकल्प होता है और विकल्प का विषय सामान्य होता है] फलतः व्यक्ति को छोड कर जाति का ही अपोह मानना होगा क्योंकि वह शब्दवाच्य होती है । [यदि कहें कि सामान्य भले अपोह माना जाय किन्तु इतने मात्र से वह सामान्य 'वस्तुरूप' होने की सिद्धि कैसे हुई ? तो इसका उत्तर यह है कि-] यदि उस सामान्य को वस्तुरूप न मान कर अपोहरूप मानेंगे तो उस का अपोह (=निषेध) शक्य ही नहीं रहेगा क्योंकि अपोह स्वयं ही निषेधरूप होने से उसका अपोह (=निषेध) सम्भवित ही नहीं है । यदि उस का निषेध सम्भव मानेंगे तो अभावरूप अपोह का अपोह करने पर उसकी भावरूपता यानी वस्तुरूपता स्वतः सिद्ध हो जायेगी । तात्पर्य यह है कि 'गो' शब्द से अगो (अश्व) का अपोह करना है और 'अगो' यदि अश्वत्वादिरूप न मान कर गो-अपोह रूप मानेंगे तो उस अपोह का अपोह करने से गोत्व रूप वस्तु ही 'गो' शब्द की वाच्य सिद्ध होगी क्योंकि अभाव का अभाव वस्तुरूप होता है । देखिये - अपोह को जब आप अपोह का विषय बनाते हैं तब अपोह की अभावरूपता का ही निषेध कर रहे हैं और निषेध करने पर अपोह की अभावरूपता का त्याग होगा । फलतः अभावस्वरूप अपोहों की अभावरूपता के त्याग से वस्तुरूपता सिद्ध होगी और यदि उसे व्यक्तिरूप मानेंगे तो वह शब्द का विषय नहीं है इस लिये उस वस्तु को सामान्य (जाति)रूप मानना पडेगा । इस प्रकार सामान्य की वस्तुरूपता सिद्ध होगी ।

['अथवा' कर के अब अन्य विद्वानों का अभिप्राय दिखाते हैं ।]

अथवा सामान्य वस्तुभूत इस लिये सिद्ध होता है कि अभावों का अभाव नहीं होता । मतलब अभावरूप स्वभाव जिन का हो उन का अपोह (=निषेध) युक्त नहीं है क्योंकि निषेध सर्वदा वस्तु को ही विषय करता है । इसलिये अश्वादि में जो गोआदि का अपोह (=निषेध) होगा वह गोत्व आदि रूप सामान्य का ही सिद्ध होता है । जैसे कि कुमारिलने कहा है —

"जब व्यक्तियाँ शब्दवाच्य न होने से अपोह का विषय सिद्ध नहीं होती, तो सिद्ध होता है कि अपोह का विषय सामान्य होता है और उसमें रही हुई अपोह्यविषयता ही उस की वस्तुरूपता को प्रकाशित करती है ।" (अपोह विषयता से वस्तुत्व कैसे ? उत्तर:-) अभाव की अभावरूपता का भंग होने के अतिप्रसंग से अपोह का विषय अभावात्मक नहीं हो सकता । इसलिये (अपोहरूप) एक अपोह का अपोह करना है तो उसे वस्तुभूत (गोत्वादि) सामान्य को ही अपोहविषय मानना होगा ।"

★ अपोहों में परस्पर वैलक्षण्य-अवैलक्षण्य विकल्प ★

यह भी अपोहवादी को प्रश्न है कि अपोह एकदूसरे से विलक्षण होते हैं या नहीं होते ? विलक्षण-पक्ष

भावो गोशब्दाभिधेयः । स चेत् पूर्वोक्तादभावाद् विलक्षणस्तदा भाव एव भवेत् अभावनिवृत्तिरूपत्वाद् भावस्य । न चेद् विलक्षणस्तदा गौरप्यगौः प्रसज्येत, तदवैलक्षण्येन तादात्म्यप्रतिपत्तेः । स्यादेतत् गवाश्वादिशब्दैः स्वलक्षणान्येव परस्परतो व्यावृत्तान्यपोह्यन्ते नाभावः, तेनाऽपोह्यत्वेन वस्तुत्वप्रसङ्गापादनं नानिष्टम् । असदेतत् – यद्यपि सच्छब्दादन्येषु गवादिशब्देषु वस्तुनः पर्वतादेरपोह्यता सिध्यति, सच्छब्दस्य त्वभावाख्यादपोह्यान्नान्यदपोह्यमस्ति असद्व्यवच्छेदेन सच्छब्दस्य प्रवृत्तत्वात्; ततश्च पूर्ववदभावाभाववर्जनाद् असतोऽपोहे वस्तुत्वमेव स्याद् इत्यपोहवादिनोऽभ्युपगमविरुद्धाऽसद्वस्तुत्वप्रसक्तिः ।

अथा'ऽस्त्वभावस्यापि वस्तुत्वम् ।' न, अभावस्यापिसि(स्याऽसि)द्धौ कस्यचिद् भावस्यैवाऽसिद्धेः, अभावव्यवच्छेदेन तस्य भवन्मतेन स्थितलक्षणत्वात् । अभावस्य वाऽपोह्यत्वे सति वस्तुत्वप्रसंगेन स्वरूपाऽसिद्धेरसत्त्वमपि न सिध्यति तस्य सत्त्वव्यवच्छेदरूपत्वात् सत्त्वस्य च यथोक्तेन प्रकारेणाऽयोगात् । न चात्र ''अपोह्यैः स बहिःसंस्थितैर्भिद्यते''* इत्यादौ ''अवस्तुत्वादपोह्यानां नैव भेदः'' इत्यादौ (पृ०

में अगोशब्द से वाच्य अभाव का अपोह गो-शब्द का वाच्यार्थ बनेगा । अब यह गोशब्दवाच्य अभाव यदि अगोशब्दवाच्य अभाव से विलक्षण होगा तो गोशब्दवाच्य अपोह भावरूप मानना पडेगा क्योंकि अभाव की निवृत्ति (अर्थात् गोअपोह का अपोह) भावस्वरूप होना न्यायप्राप्त है । अविलक्षण-पक्ष में तो गौ और अगौ एक बन जाने की विपदा होगी । कारण, अगोशब्दवाच्य गोअपोह और उसका अपोह जो कि गोशब्दवाच्य है दोनों अविलक्षण-पक्ष में अभिन्न होने से तादात्म्यापन्न हो जाते हैं, इसलिये गोशब्दवाच्य और अगोशब्दवाच्य में कोई भेद नहीं रहता ।

यदि मन में ऐसा हो कि – ''गो-अश्वादि शब्दों के द्वारा अभावों का अपोह नहीं होता किन्तु परस्पर व्यावृत्त गो-अश्वादि स्वलक्षणों का ही अपोह किया जाता है । [गो शब्द अश्वात्मक स्वलक्षण का और अश्वशब्द से गोस्वलक्षण का अपोह होता है] इस लिये आपने जो पहले अपोह के विषय में वस्तुत्व प्रसक्त होने की विपदा बतायी थी वह कोई अनिष्टरूप है नहीं ।'' – तो यह गलत है । हालाँकि 'सत्' शब्द को छोड कर दूसरे गो-अश्वादिशब्दों के द्वारा एक-दूसरे वस्तु को अपोह का विषय मानना ठीक है, तथापि 'सत्' शब्द के द्वारा अपोह का विषय अभाव को छोड कर और तो कोई स्वलक्षण है नहीं, क्योंकि असत् के ही व्यवच्छेदरूप में 'सत्' शब्द की प्रवृत्ति होती है । फलतः 'सत्' शब्द से असत् का अपोह मानना होगा जैसे कि पहले 'अभावाभाववर्जनात्' इस वाक्य से दिखाया गया है । जब असत् का अपोह मानेंगे तो अपोह का विषय होने से असत् में वस्तुत्व की प्रसक्ति होगी जो अपोहवादी के मत से स्पष्ट विरुद्ध है ।

★ अभाव को वस्तुरूप मानने पर अन्योन्याश्रय ★

यदि कहें कि – 'अभाव को हम वस्तुरूप ही मान लेगें' – तो यहाँ अन्योन्याश्रय दोष इस प्रकार है कि अभाव को वस्तुरूप मानने से उस को 'सत्' रूप अर्थात् भावरूप ही मानना पडेगा । फलतः अभाव की अभावरूप से सर्वथा असिद्धि हो जायेगी । जब अभाव असिद्ध हो जायेगा तो किसी भी भाव की सिद्धि भी नहीं हो सकेगी क्योंकि आप के मत से अभावव्यवच्छेद द्वारा ही भाव की स्थिति होती है । अपोह का विषय मानने पर अभाव में वस्तुत्व की आपत्ति होने से अभाव अपने निषेधस्वरूप को खो बैठेगा । फलतः किसी असत्त्व (=अभाव) की भी सिद्धि न हो सकेगी । इस प्रकार अभाव की सिद्धि होने पर भाव की सिद्धि और

*. 'इत्यपि साहसम्' इति शेषः द्रष्टव्य पृ० ४९-३ ।

४८ पं० ४) च – 'न खल्वपोहभेदादाधारभेदाद् वाऽपोहानां भेदः, अपि त्वनादिकालप्रवृत्तविचित्रवि-तथार्थविकल्पवासनाभेदान्वयैस्तत्त्वतो निर्विषयैरप्यभिन्नविषयालम्बिभिर्भिन्नैरिव प्रत्ययैर्भिन्नेष्वर्थेषु बाह्येषु भिन्ना इवार्थात्मान इवाऽस्वभावा अप्यपोहाः समारोप्यन्ते । ते चैवं तथा तैः समारोपिताः भिन्नाः सन्तश्च प्रतिभासन्ते येन वासनाभेदाद् भेदः सद्रूपता वाऽपोहानां भविष्यति' – इत्ययं परिहारो वक्तुं युक्तः, यतो न ह्यवस्तुनि वासना सम्भवति, वासनाहेतोर्निर्विषयप्रत्ययस्याऽयोगात्, तदभावाद् वितथार्थानां वि-कल्पानामसंभवात् आलम्बनभूते वस्तुन्यसति निर्विषयज्ञानाऽयोगेन वासनाधायकविज्ञानाभावतो न वासना, ततश्च वासनाऽभावात् कुतो वासनाकृतोऽपोहानां भेदः सद्रूपता वा ? अतो वाच्याभिमतापोहाभावः ।

तथा वाचकाभिमतस्यापि तस्याभाव एव । *तथापि(?थाहि) शब्दानां भिन्नसामान्यवाचिनां विशे-

भाव की सिद्धि होने पर अभाव की सिद्धि–अन्योन्याश्रय दोष प्रसक्त होगा । कारण, असत्त्व सत्त्वव्यवच्छेदरूप है और सत्त्व की सिद्धि उपरोक्त रीति से अभाव वस्तुरूप हो जाने पर संभव नहीं है ।

★ वासनाभेद अपोहभेद का प्रयोजक होना असम्भव ★

अपोहवादी : अपोह का खंडन करते हुए जो आपने कहा था [पृ० ४९-१४] की 'बहिरंगभूत अपोहों के भेद से अपोहों का भेद नहीं हो सकता' तथा यह जो कहा था कि (पृ.४८-२१) 'अपोह वस्तुरूप न होने से उन में भेद नहीं हो सकता' – इस के सामने हमारा कहना यह है कि हम अपोह्य (अर्थादि) के भेद से या आश्रयभेद से अपोहों का भेद नहीं मानते किन्तु वासनाभेद से मानते हैं । देखिये – परस्परव्यावृत्त अर्थों में अनुगत कोई वस्तु नहीं होती । फिर भी अनादिकाल से अवस्तुरूप अनुगत असदर्थविषयक विकल्प होता आया है और उन विकल्पों से वैसी वासना भी होती आयी है । इन वासनाओं के भेद का, उन से होने वाली प्रतीतियों में भी अन्वय होता है । फलतः वास्तव में निर्विषयक होने पर भी उन प्रतीतियों में भिन्नविषयावलम्बिता भासित होती है । इस प्रकार वासनाजन्य प्रतीतियों के द्वारा गो-अश्व आदि बाह्य अर्थों में निःस्वभाव होने पर भी अपोहों का ऐसा आरोपात्मक भान होता है कि वे भिन्न हैं और मानों कि अर्थरूप वास्तव ही हैं । इस तरह आरोपात्मक भान में वे (अपोह) भिन्न भिन्न और 'सत्' रूप भासित होते हैं । इसलिये वासनाभेद के प्रभाव से अपोहों में भिन्नता और काल्पनिक 'सद्रूपता' हो सकती है ।

सामान्यवादी : यह समाधान बोलने जैसा भी नहीं है । कारण, जो अवस्तुरूप है उस के विषय में किसी को भी कोई वासना नहीं होती । समानविषयक प्रतीति से समानविषयक वासना के जन्म का नियम है । जब इस प्रकार निर्विषयक वासना का सम्भव नहीं है तो उससे असदर्थविषयक विकल्पों के जन्म की तो बात ही कहाँ ? विषयभूत वस्तु के न होने पर निर्विषयकज्ञानोत्पत्ति का सम्भव न होने से, वासना का आधान करने वाले विज्ञान के अभाव में वासना का जन्म असम्भव है । जब इस प्रकार वासना का सम्भव नहीं है, तो उस के भेद से अपोहों में भिन्नता और सद्रूपता भी कैसे हो सकती है ?

निष्कर्ष : वाच्यरूप से अभिमत अपोह असिद्ध है ।

★ अपोह के वाचक अपोहात्मक शब्द का अभाव ★

जब वाच्यरूप से अपोह की सिद्धि नहीं है तब उस के वाचकरूप से शब्द की सिद्धि भी शक्य नहीं

*. [illegible]

पवाचिनां च परस्परतो भेदो वासनाभेदनिमित्तो वा स्यात् वाच्यापोहभेदनिमित्तो वा ? ननु प्रत्यक्षत एव शब्दानां कारणभेदात् विरुद्धधर्माध्यासाच्च भेदः प्रसिद्ध एवेति प्रश्नानुपपत्तिः । असदेतत्; यतो वाचकं शब्दमङ्गीकृत्य प्रश्नः । न च श्रोत्रज्ञानावसेयः स्वलक्षणात्मा शब्दो वाचकः, संकेतकालानुभूतस्य व्यवहार-काले चिरविनष्टत्वात् तस्य, न तेन व्यवहार इति न स्वलक्षणस्य वाचकत्वं भवदभिप्रायेण, अविवादश्चात्र । यथोक्तम् –

"नार्थशब्दविशेषस्य वाच्यवाचकतेष्यते । तस्य पूर्वमदृष्टत्वात् सामान्यं तूपदेक्ष्यते ॥"[ ]

तस्मात् वाचकं शब्दमधिकृत्य प्रश्नकरणाददोषः ।

"तत्र शब्दान्तरापोहे सामान्ये परिकल्पिते । तथैवावस्तुरूपत्वाच्छब्दभेदो न कल्प्यते ॥ [श्लो० वा० अपोह० १०४]

यथा पूर्वोक्तेन विधिना 'संसृष्टैकत्वनानात्व' – (पृ. ४८ पं.४) इत्यादिना वाच्यापोहानां परस्परतो भेदो न घटते तथा शब्दापोहानामपि नीरूपत्वान्नासौ युक्तः । यथा च वाचकानां परस्परतो भेदो न संगच्छते एवं वाच्यवाचकयोरपि मिथो भेदोऽनुपपन्नः, निःस्वभावत्वात् । न चापोह्यभेदाद् भेदो भविष्यति 'न विशेषः स्वतस्तस्य' इत्यादिना प्रतिविहितत्वात् । तदेवं प्रतिज्ञायाः प्रतीत्यभ्युपेतबाधा व्यवस्थिता ।

है । फिर भी वाचक शब्द के ऊपर कुछ विचारणा कर ले – गोत्व–अश्वत्व आदि भिन्न भिन्न सामान्य के वाचक और गगनादि व्यक्ति विशेष के वाचक शब्दों में भेद तो सिद्ध ही है । [सभी शब्द सभी अर्थ के वाचक नहीं हैं ।] यहाँ अपोहवादी इस शब्दभेद को वासनाभेदमूलक मानता है या वाच्य अपोहों के भेद के कारण ?

अपोहवादी : शब्दों में अपने अपने प्रयत्नादि कारणों के भेद से और कत्व-खत्वादि विरुद्धधर्मों का अध्यास होने से, प्रत्यक्ष से ही भेद सिद्ध है इसलिये उक्त प्रश्न निरवकाश है ।

सामान्यवादी : आप की बात गलत है, क्योंकि हम प्रत्यक्षसिद्ध भेद वाले शब्द के लिये प्रश्न नहीं ऊंठाते किन्तु जिन को (=अगोशब्दापोहादि को) आप अपोह के वाचक मानते हैं उन शब्दों के लिये हमारा प्रश्न है । [ये दोनों एक नहीं है, कारण] जो श्रोत्रजन्यप्रत्यक्ष से सिद्ध स्वलक्षणात्मक शब्द है उस को तो आप वाचक मान ही नहीं सकते, क्योंकि संकेतकाल में जिस शब्द का प्रत्यक्ष किया है वह चिरविनष्ट होने से व्यवहारकाल में मौजुद ही नहीं है तो उस (प्रत्यक्षीकृत) शब्दस्वलक्षण से वाच्यार्थों का व्यवहार अशक्य है इस लिये स्वलक्षणरूप शब्दों को वाचक नहीं मान सकते – इस बात में कोई विवाद नहीं है । कहा भी है कि

"अर्थविशेष और शब्दविशेष के बीच वाच्य-वाचकभाव जचता नहीं, क्योंकि वे दोनों पहले (संकेतकाल में) अज्ञात थे । इसलिये दोनों के सामान्य में वह कहा जाता है ।"[ ]

इसलिये वाचक शब्द को लेकर पूर्वोक्त प्रश्न करने में कोई दोष नहीं है । "अब सामान्य को यदि वाचक मानेंगे तो वह तो आप के मत से अपोहरूप है इस लिये अगोशब्दापोह को ही वाचक मानना होगा । तब तो वाचक की तरह वस्तुरूप न होने के कारण वाचकरूप से अभिमत अपोहात्मक शब्दों में भेदकल्पना अशक्य हो जायेगी ।" तात्पर्य, पहले बताये हुये ढंग से – अवस्तु में संसृष्टत्व-एकत्व या पृथक्त्व आदि संगत न होने से वाच्यापोह में परस्पर भेद संगत नहीं – इसी प्रकार वाचक शब्दापोह में भी परस्पर भेद घट नहीं सकेगा क्योंकि अपोहरूप होने से स्वभावशून्य है । इस प्रकार 'अपोह ही शब्दार्थ है' इस प्रतिज्ञा में प्रतीतिबाध और स्वमान्यताविरोध स्पष्ट है ।

साम्प्रतं वाच्य-वाचकत्वाभावप्रसंगापादनादभ्युपेतबाधादिदोषं प्रतिपिपादयिषुः प्रमाणयति – ये अवस्तुनी न तयोर्गम्य-गमकत्वमस्ति यथा खपुष्प-शशशृंगयोः, अवस्तुनी च वाच्य-वाचकापोहौ भवतामिति व्यापकविरुद्धोपलब्धिः । ननु च मेघाभावाद् वृष्ट्यभावप्रतीतेर्हेतोरनैकान्तिकता । अयुक्तमेतत्; यस्मात् तद्विविक्ताकाशाऽऽलोकात्मकं च वस्तु मत्पक्षेऽपि प्रयोगेऽस्त्येव, अभावस्य वस्तुत्वप्रतिपादनात् । भवत्पक्षे तु न केवलमपोह्योर्विवादास्पदीभूतयोर्गम्यगमकत्वं न युक्तम् अपि त्वेतदपि वृष्टिमेघाभावयोर्गम्यगमकत्वमयुक्तमेव ।

किंच, यदेतद् भवद्भिरन्वयोपसर्जनयोर्व्यतिरेकप्रधानयोः स्वविषयप्रतिपादकत्वं शब्द-लिंगयोर्वर्ण्यते, यच्च
"अदृष्टेरन्यशब्दार्थे स्वार्थस्यांशेऽपि दर्शनात् । श्रुतेः सम्बन्धसौकर्यं न चास्ति व्यभिचारिता ॥"[ ]
इत्यादि वर्णितम् तदप्यपोहाभ्युपगमेऽसंगतम् । यतः [श्लो० वा० अपो० – ११०]
"विधिरूपश्च शब्दार्थो येन नाभ्युपगम्यते । न भवेद् व्यतिरेकोऽपि तस्य तत्पूर्वको ह्यसौ" ॥

उपरोक्त रीति से वाच्य-वाचक भाव की अभाव प्रसक्ति के आपादन से बौद्धमत में होनेवाले बाधादि दोषों का निरूपण करने के लिये अनुमान प्रमाण का प्रयोग इस प्रकार है — "जो (वाचकापोह और वाच्यापोह) वस्तुरूप नहीं है उन में गम्य-गमक भाव नहीं होता, जैसे गगनपुष्प और शशविषाण में । आप के अभिमत वाच्यापोह और वाचकापोह वस्तुरूप नहीं है ।" बौद्ध को अपोहयुगल में जो गम्य-गमक भाव अभिमत है उसका व्यापक है वस्तुत्व । उस के विरोधी वस्तुत्व की यहाँ अपोहयुगल में उपलब्धि है–यह व्यापकरूप वस्तुत्व की उपलब्धि की निवर्त्तक होने से गम्य-गमकभाव की भी निवृत्ति सिद्ध करती है ।

अपोहवादी : अवस्तुरूप होने पर भी मेघाभाव और वृष्टिके अभाव में क्रमशः गमक–गम्य भाव होता है इसलिये आप का अवस्तुत्व हेतु अनैकान्तिक (=साध्यद्रोही) ठहरेगा ।

सामान्यवादी : यह बात गलत है । कारण, हमारे मत में तो मेघरहित जो गगन या आलोक रूप वस्तु है वही मेघाभाव और वृष्टि-अभाव रूप है अर्थात् अभाव हमारे मत में अधिकरण वस्तुरूप ही है । इसलिये हमारे पक्ष में मेघाभाव से वृष्टि-अभाव साधक प्रयोग में वस्तु ही वस्तु का गमक है, अवस्तु अवस्तु का गमक नहीं है । आप के पक्ष में एक संकट तो यह है ही कि विवादग्रस्त अपोह-अपोह में गम्य-गमकत्व घटित नहीं होता, दूसरा संकट यह आपने ही याद कराया कि वृष्टिअभाव और मेघाभाव में भी गम्य–गमकभाव नहीं घटेगा, क्योंकि आप अभाव को तुच्छ = अवस्तुरूप मानते हैं ।

तथा अन्वय (=विधिरूप) को गौण कर के व्यतिरेक (=व्यावृत्तिरूप) को प्रधानता देकर जो आपने शब्द और लिंग में अपने अपने विषय की सूचकता दिखायी है — तथा,

"अन्य शब्दार्थ के न देखने से [अर्थात् गो से अन्य अश्वादि के लिये गोशब्दप्रयोग और गो के लिये अन्य अश्वादिशब्दों का प्रयोग न दिखाई देने से] एवं अपने (गोशब्द के) अर्थभूत गो के अंश(भूत अन्यापोह) के लिये (गो)शब्द का प्रयोग दिखाई देने से शब्द का (अर्थ के साथ) सम्बन्ध बिना कठिनाई के सूचित होता है, कोई व्यभिचारिता नहीं है।"

ऐसा जो आपने कहा है वह भी अपोहवाद में संगत नहीं हो सकता । कारण, (जैसा कि श्लो० वा० में कहा है)

विधिनिवृत्तिलक्षणत्वाद् व्यतिरेकस्येति भावः ।

किंच, नीलोत्पलादिशब्दानां विशेषण-विशेष्यभावः समानाधिकरण्यं च यदेतल्लोकप्रतीतं तस्याऽपह्नवोऽपोहवादिनः प्रसक्तः । यच्चेदं विशेषण-विशेष्यभावसामानाधिकरण्यसमर्थनार्थमुच्यते —

अपोह्यभेदाद् भिन्नार्था स्वार्थभेदगतौ जडा । एकत्वा(?त्रा)ऽभिन्नकार्यत्वाद् विशेषण-विशेष्यता ॥

X तन्मात्राकांक्षणाद् भेदः स्वसामान्येन नोज्झितः । नोपात्तः संशयोत्पत्तेः सैव चैकार्थता तयोः ॥

तदप्यनुपपन्नम्, यतः परस्परं व्यवच्छेदा(द्य)व्यवच्छेदकभावो विशेषण-विशेष्यभावः, स च वाह्य-(वाक्य) एव व्यवस्थाप्यते यथा 'नीलो(नीलमु)त्पलम्' इति । (तथा) व्यधिकरणयोरपि यथा 'राज्ञः पुरुषः' इत्यादौ । भिन्ननिमित्तप्रयुक्तयोस्तु शब्दयोरेकस्मिन्नर्थे वृत्तिः सामानाधिकरण्यम्, तच्च 'नीलोत्पलम्' इत्यादौ वृत्तावेव व्यवस्थाप्यते । न च नीलोत्पलादिशब्देषु शवलार्थाभिधायिषु तत्सिद्धिः, शवलार्थाभिधायित्वं च तेषाम्–

"जिसे विधिरूप शब्दार्थ अमान्य है वह व्यतिरेकरूप शब्दार्थ भी नहीं मान सकता क्योंकि व्यतिरेक तत्पूर्वक ही शक्य होता है ।" तत्पूर्वक यानी विधिरूपपूर्वक । मतलब व्यतिरेक विधि का ही निषेधरूप होता है । विधि का अपलाप करने पर किस के निषेध को व्यतिरेक बतलायेंगे ?

★ विशेषण–विशेष्यभाव, सामानाधिकरण्य की अनुपपत्ति ★

और एक बात यह है कि – लोकप्रसिद्ध जो नील और उत्पल आदि शब्दों में विशेषण-विशेष्यभाव और सामानाधिकरण्य (यानी दोनों पद की समानविभक्ति अथवा मिल कर एकार्थ की वोधकता) है, अपोहवादी को उस के अपलाप का दोष सिर पर आयेगा । उन्होंने विशेषण-विशेष्यभाव और सामानाधिकरण्य की उपपत्ति के लिये जो यह कहा है कि –

"विशेषण-विशेष्यवाचक पद अपने अपने अपोह्य के भेद से भिन्न भिन्न अर्थवाले होते हैं, फिर भी मिलकर एक अभिन्न अपोहात्मक अर्थ का प्रकाशन कार्य करते हैं इस लिये तब अपने अपने भिन्न भिन्न अपोहात्मक अर्थ के प्रकाशन में उदासीन हो जाते हैं – यही विशेषण-विशेष्य भाव है; क्योंकि वहाँ उस अभिन्न अपोहमात्र अर्थ प्रकाशन की आकांक्षा होती है । अतः अपने अपने सामान्यभूत (भिन्न भिन्न अपोह) से जो भेद रहता है उस का संशयोत्पत्ति के कारण न तो ग्रहण होता है न त्याग । यही उन की एकार्थता (सामानाधिकरण्य) है"

– वह ठीक नहीं है – विशेषणविशेष्यभाव का मतलब है एक–दूसरे का व्यवच्छेद्य-व्यवच्छेदक होना । जैसे 'नील' शब्द श्वेतादि उत्पलों का व्यवच्छेदक है और 'उत्पल' शब्द नीलवर्ण वाले मषी आदि का व्यवच्छेदक है – दोनों एक–दूसरे के व्यवच्छेदक एवं व्यवच्छेद्य हैं । यह विशेषण-विशेष्यभाव शुद्ध पद में तो शक्य नहीं है जब वे वाक्य के अंग बन जाय तभी होता है जैसे कि "यह नील कमल है" इस वाक्य में नील–कमल यहाँ तो समानाधिकरण पद है लेकिन व्यधिकरण (=भिन्न विभक्ति वाले) पदों में भी (जब कि वें वाक्यान्तर्गत हो तब) विशेषण-विशेष्यभाव होता है – जैसे "यह राजा का पुरुष है" यहाँ 'राजा का' यह षष्ठीअन्त पद 'राजकीय' – राजसम्बन्धि इस अर्थ में प्रथमान्त 'पुरुष' पद का विशेषण है ।

सामानाधिकरण्य का अर्थ यह है कि – जिन दो शब्दों का प्रवृत्तिनिमित्त ('नील' का नीलरूपवत्त्व

X. 'तन्मात्रा' इति तत्त्वसंग्रह श्लो० ९६६ – पंजिकायाम् । तयोः = विशेषण–विशेष्यकयोः शाब्दयोरित्यर्थः ॥

"न हि तत् केवलं नीलं न च केवलमुत्पलम् । समुदायाभिधेयत्वात्" [ ] इत्यादिना प्रतिपादितम् । यतः अनीलत्वव्युदासेऽनुत्पलत्वव्युदासो नास्ति, नाप्यनुत्पलप्रच्युतावनीलव्युदास इति नानयोः परस्परमाधाराधेयसम्बन्धोऽस्ति नी(ल?)रूपत्वात्; न चाऽसति सम्बन्धे विशेषण-विशेष्यभावो युक्तः अतिप्रसङ्गात्, अतो युष्मन्मतेनाभाववाचित्वात्केवलार्थाभिधायित्वासम्भवान्न विशेषण-विशेष्यभावो युक्तः । अभिधेयद्वारेणैव हि तदभिधायिनोः शब्दयोर्विशेषणविशेष्यभाव उपचर्यते, अभिधेये च तस्याऽसम्भवेऽभिधानेऽपि कुतस्तदारोपः ?

सामानाधिकरण्यमपि नीलोत्पलशब्दयोर्न सम्भवति, तद्वाच्ययोरनीलानुत्पलव्यवच्छेदलक्षणयोरपोहयोर्भिन्नत्वात् । तच्च भवद्भिरेव 'अपोहभेदाद् भिन्नार्थाः'...(पृ. ६४ पं. ४) इत्यभिधानादवसीयते ।

और 'उत्पल' का उत्पलत्व) भिन्न भिन्न हो ऐसे दो शब्द समास में प्रयुक्त हो कर एक ही विशिष्ट अर्थ में वाच्यत्वसम्बन्ध से वृत्ति हो और यह सिर्फ वृत्ति में ही होता है । समास, तद्धित आदि को वृत्ति कहते हैं । 'नीलोत्पल' समास के द्वारा नील पद भी विशेषणविधया उसी का वाचक है जिस का 'उत्पल' शब्द से निदर्शन होता है । नीलोत्पल आदि शब्द तो चित्र-विचित्र अर्थ के निरूपक हैं – उन में सामानाधिकरण्य बौद्ध के मत से संभवित नहीं है । 'न हि तत्.....इत्यादि कारिका से इतना तो स्पष्ट है कि नीलोत्पलादि शब्द संकीर्ण अर्थ के वाचक हैं जैसे कि कारिका में कहा है कि "केवल 'नील' नीलोत्पलशब्द का अभिधेय नहीं है, केवल 'उत्पल' (=कमल) भी वैसा नहीं है किन्तु उन का समुदाय नीलोत्पल शब्द का अभिधेय है ।"

इस प्रकार जो संकीर्ण अर्थ प्रतिपादक शब्द है उनमें सामानाधिकरण्य अपोहवाद में नहीं घट सकता क्योंकि सामानाधिकरण्य के लिये दोनों शब्द एक ही अर्थ के निरूपक होने चाहिये – वह अपोहवाद में शक्य नहीं है । कारण, नील शब्द अनील का व्युदास करेगा लेकिन सभी अनुत्पल अनील नहीं होते जिससे कि नीलशब्द से अनीलव्युदास के साथ सभी अनुत्पल का भी व्युदास हो जाय । इसी तरह अनील सभी अनुत्पल रूप नहीं होते, अत एव उत्पल शब्द से अनुत्पल के व्यवच्छेद के साथ सभी अनील का व्युदास शक्य नहीं है – इस का अर्थ यह हुआ कि नील और उत्पल शब्द एकार्थवृत्ति नहीं बन सकते । तथा, उनमें कोई आधाराधेयभावरूप सम्बन्ध भी घट नहीं सकता क्योंकि अनुत्पलापोह और अनीलापोह नीरूप = तुच्छ है, तुच्छ में कोई सम्बन्ध संभवता नहीं ।

जब अपोहों में किसी सम्बन्ध का ही संभव नहीं है तो विशेषण-विशेष्य भाव कैसे घटेगा ? वह भी तो एक सम्बन्ध है जो वस्तु-वस्तु के बीच हो सकता है । प्रतिपादक माने जाने वाले शब्दों में जो विशेषण-विशेष्यभाव कहा जाता है वह तो उन के प्रतिपाद्य अर्थों में रहे हुए विशेषण-विशेष्य भाव का वहाँ उपचार कर के कहा जाता है । किन्तु अपोहवाद में जब प्रतिपाद्य अर्थों में ही विशेषणादि भाव घट नहीं सकता तो प्रतिपादक शब्दों में उस के उपचार=आरोप की बात ही कहाँ ?

★ नीलोत्पल शब्द में सामानाधिकरण्य असंभव ★

तथा अपोहवाद में नील और उत्पल शब्दों का सामानाधिकरण्य भी घटता नहीं । कारण, नील शब्द का वाच्य अनीलापोह और उत्पल शब्द का वाच्य अनुत्पलापोह है जो स्वयं अपोहवाद में एक अर्थरूप नहीं किन्तु भिन्न भिन्न है, सामानाधिकरण्य के लिये एकार्थवृत्तिता होनी चाहिये । अपोहवादी ने ही कहा है कि "अपोह

प्रयोगः न नीलोत्पलादिशब्दाः सामानाधिकरण्यव्यवहारविषयाः, भिन्नविषयत्वात्, घटादिशब्दवत् । न च यत्रैव ह्यर्थेऽनुत्पलव्युदासो वर्त्तते तत्रैवानीलव्युदासोऽपीति नीलोत्पलशब्दवाच्ययोरपोहयोरेकस्मिन्नर्थे वृत्तेः अर्थद्वारकं सामानाधिकरण्यं शब्दयोरपीति वक्तुं युक्तम्, अपोहयोर्नीरूपत्वेन क्वचिदवस्थानाऽसम्भवतो वास्तवाधेयताऽयोगाद् वन्ध्यासुतस्येव ।

भवतु वा नीलोत्पलादिष्वर्थेषु तयोराधेयता, तथापि सा विद्यमानाऽपि न शब्दैः प्रतिपाद्यते, यतस्तदेवाऽसाधारणत्वान्नीलोत्पलादि वस्तु न शब्दगम्यम्, स्वलक्षणस्य सर्वविकल्पातीतत्वात् तदप्रतिपत्तौ च तदधिकरणयोरपोहयोस्तदाधेयता कथं ग्रहीतुं शक्या धर्मिग्रहणनान्तरीयकत्वाद् धर्मग्रहणस्य ? न चाऽसाधारणवस्तुव्यतिरेकेण तयोरन्यदधिकरणं सम्भवति भवदभिप्रायेण । न चाऽप्रतीयमानं सदपि सामानाधिकरण्यव्यवहाराङ्गम् अतिप्रसंगात् । न च व्यावृत्तिमद् वस्तु शब्दवाच्यम् – यतो व्यावृत्तिद्वयोपाधिकयोः शब्दयोरेकस्मिन्नपोहवति वस्तुनि वृत्तेः सामानाधिकरण्यं भवेत् – परतन्त्रत्वाद् नीलादिशब्दस्येतरभेदानाक्षेपकत्वात् स हि व्यावृत्त्युपसर्जनं तद्वन्तमर्थमाह न साक्षात् । ततश्च साक्षादनभिधानात्

अनीलादि के भेद से अनीलापोहादि भी भिन्न होते हैं ।'' अनुमान प्रयोग यहाँ कर सकते हैं कि नील-उत्पलादि शब्द समानाधिकरण व्यवहार के योग्य नहीं है क्योंकि दोनों का वाच्य विषय भिन्न है, जैसे कि घटपटादि शब्द ।

यदि कहें कि – ''अनुत्पलापोह जिस अर्थ में रहता है उसी अर्थ में अनीलापोह भी रहता है क्योंकि नील और उत्पल शब्दों से वाच्य अपोह अनीलादि व्यावर्त्त्य के भेद से भिन्न होने पर भी एक ही नीलोत्पलरूप अर्थ के आश्रित होते हैं – इस प्रकार वाच्यभूत अर्थों की दृष्टि से एकार्थवृत्तिता सम्पन्न हो जाने से उन के वाचक शब्दों में भी सामानाधिकरण्य कह सकेंगे'' – तो यह नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अपोह तो तुच्छ-निःस्वभाव-नीरूप है इसलिये वे कहीं रहते हो ऐसा बन नहीं सकता । वन्ध्यापुत्र असत् होने से किसी भी गृह या जंगल में नहीं रहता, इस तरह वास्तविक आधेयस्वभाव न होने से अपोह भी कहीं नहीं रह सकता ।

★ अनीलापोहादि की आधेयता में शब्दवाच्यत्व असम्भव ★

अथवा, मान लेते हैं कि अपोह असत् होने पर भी नील-उत्पलादि अर्थों की अनीलापोह और अनुत्पलापोह में आधेयता होती है । फिर भी, उस के होते हुए भी शब्दों से तो उसका निरूपण संभव नहीं है । कारण, आधार स्वरूप वह नील-उत्पलादि पदार्थ असाधारण (यानी अननुगत व्यक्तिविशेषरूप) होने से शब्दवाच्य नहीं होते, क्योंकि स्वलक्षण शब्दजन्य या शब्देतरजन्य किसी भी विकल्प से ग्राह्य नहीं है; जब आधार स्वयं अगृहीत है तो उनमें रहनेवाले अपोहों का उस के आधेयरूप में ग्रहण कैसे हो सकता है ? यह नियम है कि धर्मि (=आधार) के ग्रहण विना धर्मों का ग्रहण नहीं हो सकता । तथा, अपोहवादी के मतानुसार असाधारण स्वलक्षण वस्तु को छोड कर और तो कोई अपोहों का आधार मान्य नहीं है । अतः अपोह की आधेयता मान लेने पर भी अर्थात् उस के होते हुए भी जब तक उस की प्रतीति न हो तब तक वह सामानाधिकरण्य के व्यवहार का निमित्त हो नहीं सकती । प्रतीत न होने पर भी यदि उस आधेयतावाले अपोहों को व्यवहार का निमित्त मानेंगे तो वन्ध्यापुत्र अप्रतीत होने पर भी अथवा विद्यमान अप्रतीत किसी अन्य वस्तु को भी, व्यवहार निमित्त मानने की आपत्ति हो सकेगी ।

यदि कहें कि – व्यावृत्ति (=अपोह) नहीं किन्तु व्यावृत्तिवाला अर्थ शब्दवाच्य है –तो यहाँ भी सामानाधिकरण्य

तद्गतभेदाक्षेपो न सम्भवति, यथा मधुरशब्देन शुक्लादेः । यद्यपि शुक्लादीनां मधुरादिभेदत्वमस्ति तथापि शब्दस्य साक्षादभिहितार्थगतस्यैव भेदस्याक्षेपे सामर्थ्यम् न तु पारतन्त्र्येणाभिहितार्थगतस्य । ततश्च नीलादिशब्देन तद्गतभेदानाक्षेपात् उत्पलादीनामतद्भेदत्वं स्यात् । अतद्भेदत्वे च न सामानाधिकरण्यम्, तेन जातिमन्मात्रपक्षे यो दोषः प्रतिपादितो भवता "तद्वतो न वाचकः शब्दः अस्वतन्त्रत्वात्" [ ] इति, स व्यावृत्तिमन्मात्रपक्षेऽपि समानः – तत्रापि हि सच्छब्दो व्यावृत्त्युपसर्जनं द्रव्यमाह न साक्षादिति तद्गतभेदानाक्षेपोऽत्रापि समान एव । को ह्यत्र विशेषः जातिर्व्यावृत्तिर्जातिमथ्या(?जातिमान् व्या)वृत्तिमानिति ।

न च लिङ्ग-सङ्ख्या–क्रिया-कालादिभिः सम्बन्धोऽपोहस्याऽवस्तुत्वाद् युक्तः एषां वस्तुधर्मत्वात् । न च लिङ्गादिविविक्तः पदार्थः शक्यः शब्देनाभिधातुम्, अतः प्रतीतिबाधप्रसंगः प्रतिज्ञायाः । न च

की उपपत्ति न होने से व्यावृत्तिवाला अर्थ शब्दवाच्य नहीं माना जा सकता । कारण, भिन्न भिन्न दो व्यावृत्तिरूप उपाधियों के आधार पर प्रयुक्त होने वाले दो शब्द एक ही अपोहवाली वस्तु में वृत्ति होवे तभी सामानाधिकरण्य बन सकता है, किन्तु 'नीलोत्पल' आदि में इस का संभव नहीं है । कारण, अनीलव्यावृत्तिवाले पदार्थ के अनेक भेद हैं जैसे नील-वस्त्र, नील-मणि नील-उत्पलादि । फिर भी नीलादिशब्द परतन्त्र होने से, अनीलव्यावृत्तिवाले पदार्थ के भेदस्वरूप उत्पलादि अर्थों के निरूपण तक उन की पहुँच ही नहीं है । नीलादि शब्द परतन्त्र इस लिये हैं कि वे व्यावृत्तिवाले अर्थ का निरूपण, गौणरूप से भी व्यावृत्ति का अभिधान करने द्वारा ही कर सकते है साक्षात् नहीं । (यही परतन्त्रता है ।) जब साक्षात् व्यावृत्तिवाले अर्थ का निरूपण ही अशक्य है तो फिर उन के भेद के यानी उत्पलादि के निरूपण तक उस की पहुँच कैसे होगी ? जैसे – 'मधुर' शब्द साक्षात् मधुररसवान् अर्थ का निरूपक नहीं होता किन्तु मधुर रस के निरूपण द्वारा तद्वान् अर्थ का निरूपक होता है । फलतः मधुररसवद् अर्थ के अभिधान से शुक्लादि का निरूपण नहीं हो सकता – इस लिये मधुर शब्द का शुक्ल के साथ सामानाधिकरण्य नहीं हो सकता । हालाँकि शुक्लादि अर्थ मधुरादि के भेदों में अन्तर्गत ही है, फिर भी शब्द तो जिस अर्थ का साक्षाद् अभिधान करता हो उस के ही भेदों का अभिधान करने में समर्थ होता है, व्यावृत्तिवाले अर्थ का अभिधान तो परतन्त्रता से होता है साक्षात् नहीं । फलतः नीलादिशब्द से अनील व्यावृत्तिवाले पदार्थ के उत्पलादि भेद का अभिधान न होने से उत्पलादि को तद्गतभेदरूप नहीं मान सकेंगे । और तद्गतभेदरूपता न होने पर तो सामानाधिकरण्य नहीं हो सकता । निष्कर्षः – बौद्धभिक्षु ने "शब्द जातिमान् अर्थ का वाचक नहीं हो सकता क्योंकि परतन्त्र है" ऐसा कह कर जातिमान मात्र वाचकता पक्ष में जो दोष दिखाया है वह बौद्धभिक्षु के व्यावृत्तिवाले अर्थ की वाच्यता के पक्ष में भी समान है । उसने जैसे कहा है वैसे हम भी कहेंगे कि 'सत्' शब्द तो गौणरूप से भी व्यावृत्ति के अभिधान द्वारा ही (तद्वान् अर्थात्) द्रव्य का निरूपण करता है, साक्षात् नहीं । इसलिये तद्गतभेद के निरूपण के असामर्थ्य की बात यहाँ भी समान ही है । अब जाति को शब्दवाच्य कहिये या व्यावृत्ति को, अथवा जातिमान् को शब्दवाच्य कहे या व्यावृत्तिवाले अर्थ को, शब्दभेद के सिवा क्या नया है ?

★ अपोह में लिंग-संख्यादि का सम्बन्ध अशक्य ★

यह भी ज्ञातव्य है कि शब्द से सिर्फ अर्थ ही नहीं किन्तु उस से सम्बद्ध लिंग-संख्या-क्रिया और काल

व्यावृत्त्याधारभूतायाः व्यक्तेर्वस्तुत्वाल्लिङ्गादिसम्बन्धात् तद्द्वारेणापोहस्याप्यसौ व्यवस्थाप्यः व्यक्तेर्निर्विकल्पज्ञानविषयत्वाल्लिङ्गसंख्यादिसम्बन्धेन व्यपदेष्टुमशक्यत्वात् अपोहस्य तद्द्वारेण तद्व्यवस्थाऽसिद्धेः ।

अव्यापित्वं चापोहशब्दार्थव्यवस्थायाः, 'पचति' इत्यादिक्रियाशब्देष्वन्यव्यवच्छेदाऽप्रतिपत्तेः । यथा हि घटादिशब्देषु निष्पन्नरूपं पटादिकं निषेध्यमस्ति न तथा 'पचति' इत्यादिषु, प्रतियोगिनो निष्पन्नस्य कस्यचिदप्रतीतेः । अथ मा भूत् पर्युदासरूपं निषेध्यम्, 'न पचति' इत्येवमादि प्रसज्यरूपं 'पचति' इत्यादेर्निषेध्यं भविष्यति । असदेतद् – 'तन्न (?न न) पचति' इत्येवमुच्यमाने प्रसज्यप्रतिषेधस्य निषेध एवोक्तः स्यात्, ततश्च प्रतिषेधद्वयस्य विधिविषयत्वाद् विधिरेव शब्दार्थः प्रसक्तः ।

आदि की भी प्रतीति होती हैं । अपोह को शब्दवाच्य मानने पर यह नहीं घटेगा, क्योंकि अपोह अवस्तु है जब कि लिंगादि तो वस्तु के धर्म हैं । वस्तु धर्मों का – लिंगादि का अवस्तुभूत अपोह के साथ कोई सम्बन्ध मेल नहीं खाता । दूसरी ओर लिंगादि के ऊपर पर्दा डाल के सिर्फ अर्थ का भान कराने के लिये शब्द समर्थ नहीं है । फलतः 'अपोह ही शब्दवाच्य है' इस प्रतिज्ञा का शब्दजन्य लिंगादिप्रतीति से बाध प्रसक्त होगा ।

अपोहवादी : व्यावृत्ति का आधार तो आखिर नीलादि स्वलक्षण वस्तु ही है, उस के साथ तो लिंगादि का वास्तविक सम्बन्ध है । इसलिये आधार के साथ लिंगादि के सम्बन्ध को उपचार से आधारभूत व्यावृत्ति के साथ जोड कर प्रतीति को बना सकेंगे ।

सामान्यवादी : स्वलक्षण व्यक्ति निर्विकल्पज्ञानमात्र का ही विषय होती है, सविकल्पज्ञान का नहीं । लिंगादि के सम्बन्ध का भान निर्विकल्पज्ञान से शक्य न होने से स्वलक्षण का भी लिंगादिसम्बन्धिरूप से व्यवहार बन सकता नहीं तो फिर उस के द्वारा अपोह का लिंगादिसम्बन्धिरूप से व्यवहार कैसे बना सकते हैं ?

★ अपोहशब्दार्थ की अव्यापकता ☆

तथा आप जो व्यवस्था करना चाहते हैं कि 'शब्द का वाच्यार्थ अपोह है' वह अपने लक्ष्य में व्यापक नहीं है । कारण, 'पचति' (=पकाता है) इत्यादि क्रिया वाचक शब्दों से क्रिया की प्रतीति होती है, अन्यव्यवच्छेदरूप अपोह की नहीं । घटादिशब्दों से तो परिपूर्णस्वरूप को प्राप्त वस्त्रादि का निषेध कदाचित् मान सकते हैं किन्तु 'पचति' आदि में यह शक्य नहीं है क्योंकि चालु पाकक्रिया के काल में (पाक कुछ हुआ है, कुछ नहीं हुआ है उस काल में जब 'पचति' शब्दप्रयोग होता है तब) और तो कोई क्रिया निष्पन्न = परिपूर्ण है नहीं जिस की व्यवच्छेद के प्रतियोगी के रूप में यहाँ प्रतीति हो सके ।

अपोहवादी : 'पचति' आदि स्थलों में और कोई व्यवच्छेद–प्रतियोगी प्रतीत न होता हो तो वहाँ पर्युदास रूप व्यवच्छेद्य नहीं मानेंगे, सिर्फ 'न पचति' (= पाक नहीं करता) इस प्रसज्यरूप का प्रतिषेध 'पचति' आदि शब्दों से मानेंगे ।

सामान्यवादी : यह गलत है । कारण, 'पचति' का अर्थ 'न न पचति' = नहीं पकाता – ऐसा नहीं (किन्तु पकाता है)' ऐसा करेंगे तो इस का मतलब यही होगा कि आप प्रसज्यप्रतिषेध (अभाव) का निषेध कर रहे हैं । इस से तो विधिरूप ही शब्दार्थ सिद्ध होगा क्योंकि दो निषेध विधि का आक्षेप करता है ।

किंच, 'पचति' इत्यादौ साध्यत्वं प्रतीयते, यस्यां हि क्रियायां केचिदवयवा निष्पन्नाः केचिद-निष्पन्नाः सा पूर्वापरीभूतावयवा क्रिया साध्यत्वप्रत्ययविषयः । तथा, 'अभूत्-भविष्यति' इत्यादौ भूतादि-कालविशेषप्रतीतिरस्ति, न चापोहस्य साध्यत्वादिसम्भवः निष्पन्नत्वादभावैकरसत्वेन । तस्मादपोहशब्दार्थपक्षे साध्यत्वप्रत्ययो भूतादिप्रत्ययश्च निर्निमित्तः प्राप्नोतीति प्रतीतिबाधा । न च विध्यादावन्यापोहप्रतिपत्तिरस्ति पर्युदासरूपस्य निषेध्यस्य तत्राभावात् । 'न न पचति देवदत्तः' इत्यादौ च नञोऽपरेण नञा योगे नैवाऽपोहः, प्रतिषेधद्वयेन विधेरेव संस्पर्शात् ।

अपि च, चादीनां निपातोपसर्गकर्मप्रवचनीयानां पदत्वमिष्टम्, न चैषां नञा सम्बन्धोऽस्ति असत्त्ववचनत्वात् । तथाहि – यथा हि पटादिशब्दानाम् 'अपटः' इत्यादौ नञा सम्बन्धेऽर्थान्तरस्य पटादेः परिग्रहात् तद्व्यवच्छेदेन नञा रहितस्य पटशब्दस्यार्थोऽवकल्पते न तथा चादीनां नञा सम्बन्धो-

★ साध्यत्व और भूतकाल की प्रतीति का बाध ★

तथा, 'पचति' आदि शब्द से क्रिया में सिद्ध भाव नहीं किन्तु साध्यभाव प्रतीत होता है । जिस क्रिया के कुछ अंश सिद्ध हो चुकने पर भी कुछ अंश अभी सिद्ध होने वाले शेष हो – इस तरह पूर्वापर भाव में अवस्थित अंश वाली वह क्रिया ही साध्यत्व-प्रतीति का विषय होती है । तथा, 'हो चुका-होने वाला है' – ऐसे प्रयोगों में भूत एवं भावि काल प्रतीति का विषय होता है । अपोह तो सर्वदा एकमात्र अभावस्वरूपवाला होने से सदानिष्पन्न– सदासिद्ध है (या सदा असिद्ध है) इसलिये उस में साध्यत्व का सम्भव ही नहीं है । 'पूर्व में हो, अभी न हो' वह भूतकालीन है और 'अभी न हो, भावि में होनेवाला हो' उसे भाविकालीन कहते हैं । अपोह तो सदा सिद्ध (या असिद्ध) होने से भूत-भाविकाल विषयक प्रतीति का विषय बन नहीं सकता । फलतः अपोह को शब्दवाच्य मानने में साध्यत्व की और भूतकालादि की प्रतीति निमित्तशून्य (आलम्बन शून्य) बन जायेगी । दूसरी बात यह है कि विध्यर्थ प्रयोगों में (जैसे कुर्यात्–पायात् इत्यादि में) विधि प्रत्यय से इष्टसाधनता – निमन्त्रणादि अर्थों की ही प्रतीति होती है अन्यापोह की नहीं होती, क्योंकि वहाँ कोई पर्युदासरूप निषेध्य नहीं होता । "देवदत्त नहीं पकाता ऐसा नहीं" इत्यादि में एक निषेध का अन्य निषेध के साथ प्रयोग किया जाता है तब वहाँ अपोह की प्रतीति का सम्भव नहीं रहता क्योंकि दो निषेधों से विधिरूप अर्थ का ही उल्लेख किया जाता है ।

★ 'च' आदि निपात के बारे में अपोहवाद निरर्थक ★

'च' 'वा' इत्यादि निपात, प्र-उप आदि उपसर्ग और जिन की कर्मप्रवचनीय संज्ञा की गई है वे पदविशेष – इन सभी को 'पद' संज्ञा प्राप्त है । फिर भी नकार के साथ इन का सम्बन्ध नहीं होता क्योंकि वे असत्त्ववाचक पद हैं । देखिये – पटादि शब्दों का नकार के साथ योग होने पर जो 'अपट' इत्यादि पद बनते हैं उन से पटादि का ग्रहण होता है; इसलिये जब नकार का योग न हो, तब केवल 'पट'शब्द के अन्यव्यवच्छेदरूप अर्थ की कल्पना आप कर सकते हैं । किन्तु 'च' 'वा' इत्यादि पदों का नकार के साथ सम्बन्धित ही नहीं, इसलिये नकार के साथ सम्बन्ध न होने का इतना होता है । नकार के साथ सम्बन्ध की सम्भावना जब नहीं है तो फिर उसका अन्यापोह भी कैसे किया जा सकता है ? नहीं किया जा सकता । इस से यह फलित होता है कि

ऽस्ति, न चांऽसम्बन्ध्यमानस्य, नञाऽपोहनं युक्तम्, अतश्चादिष्वपोहाभावः । अपि च, कल्माषवर्ण-नवच्छवलैक्य(?क)रूपो वाक्यार्थ इति नान्यनिवृत्तिस्तत्त्वेन व्यपदेष्टुं शक्या, निष्पन्नरूपस्य प्रतियोगिनोऽप्रतीतेः । या तु 'चैत्र ! गामानय' इत्यादावचैत्रादिव्यवच्छेदरूपाऽन्यनिवृत्तिरवयवपरिग्रहेण वर्ण्यते सा पदार्थ एव स्यात् न वाक्यार्थः *तस्यावयवस्येत्थं विवेकुमशक्यत्वात् – इत्यव्यापिनी शब्दार्थव्यवस्था ।

किं च 'न अन्यापोह अनन्यापोहः' इत्यादौ शब्दे विधिरूपादन्यद् वाच्यं नोपलभ्यते, प्रतिषेधद्वयेन विधेरेवावसायात् । अत्र च 'नञश्चापि नञा योगे' (६९-५) इत्यनेनार्थस्य गतत्वेऽपि 'अन्यापोहः शब्दार्थः' इत्येवंवादिनां स्ववचनेनैव विधिरिष्ट इति ज्ञापनार्थं पुनरुक्तम् । तथाहि – अनन्यापोहशब्दस्यान्यापोहः शब्दार्थो व्यवच्छेद्यः, स च विधेर्नान्यो लक्ष्यते । ये च प्रमेय-ज्ञेयाऽभिधेयादयः शब्दास्तेषां न किञ्चिदपोह्यमस्ति, सर्वस्यैव प्रमेयादिस्वभावत्वात् । तथाहि – यन्नाम किंचिद् व्यवच्छेद्यमेषां कल्प्यते तत् सर्वं व्यवच्छेद्याकारेणालम्ब्यमानं ज्ञेयादिस्वभावमेवावतिष्ठते, न ह्यविषयीकृतं व्यवच्छेत्तुं शक्यम्

यहाँ चादिशब्दो में अपोह शब्दार्थ नहीं है । दूसरी वात यह है कि शब्दसमूह से वाक्य वनता है इसलिये वाक्यार्थ भी विविध अर्थों के समूह रूप होता है – वैविध्यपूर्ण होता है, उस में 'च' आदि पद भी अन्तर्गत होने से परमार्थतः किसी भी वाक्यार्थ को अन्यनिवृत्तिरूप मान नहीं सकते क्योंकि उसमें निष्पन्न स्वरूपवाले किसी एक नियत प्रतियोगी का भान होता नहीं है । 'हे चैत्र ! धेनु को ले आओ' ऐसे वाक्यों में एक एक अवयव को लेकर जो अचैत्रव्यावृत्ति आदि का वर्णन कोई अपोहवादी करता है वह भी वाक्यार्थरूप व्यावृत्ति का नहीं किन्तु पदार्थरूप व्यावृत्ति का ही वर्णन है । वाक्यार्थ के निरवयव होने से उस के अवयवों का इस रीति से विभाग ही नहीं किया जा सकता ।

निष्कर्ष : शब्दार्थव्यवस्था अपोह-शब्दार्थवादी के मत में अपूर्ण ही रह जाती है ।

☆ अन्यापोहशब्द से विधिरूप वाच्य की सिद्धि ☆

तदुपरांत, 'अन्यापोह नहीं = अनन्यापोह' इत्यादि समासविधि में 'अन्यापोह' शब्द से विधिरूप ही वाच्यार्थ की उपलब्धि अनिवार्यतया मान्य करना होगा । कारण, दो निषेध के फलस्वरूप विधि का ही भान होता है । हालाँकि यह वात– एक नकार के साथ दूसरे नकार के योग में विधि का ही प्रतिपादन होता है – इत्यादि पहले अभी कह चुके हैं, फिर भी 'अन्यापोह शब्दार्थ है' ऐसा वोलने वाले अपोहवादी के अपने वचन से ही विधिरूप शब्दार्थ फलित होने का यहाँ लक्ष पर लाना है, इस लिये फिर से कहा है । देखिये – 'अनन्यापोह' शब्द से अन्यापोह का व्यवच्छेद ही शब्दार्थरूप मानना होगा । अन्यापोह का व्यवच्छेद तो विधिरूप ही हो सकता है और तो कोई लक्ष में नहीं आता ।

यह भी उस को सोचना चाहिये कि 'प्रमेय-ज्ञेय-अभिधेय' आदि शब्दों का तो कोई व्यवच्छेद्य ही प्रसिद्ध नहीं है, क्योंकि वस्तुमात्र प्रमेयादिस्वरूप ही होती है । देखिये – 'ज्ञेय' आदि शब्द से 'अज्ञेय' आदि की व्यवच्छेद्य रूप में कल्पना करनी पडेगी, वहाँ वह अज्ञेय 'व्यवच्छेद्यरूप से ज्ञान का विषय' करना पडेगा, अर्थात् उस को ज्ञेय ही मानना पडेगा, क्योंकि व्यवच्छेद्यरूप से ज्ञान का विषय किये विना कैसे उस का व्यवच्छेद कर सकेंगे ? परिणाम यह आयेगा कि 'ज्ञेय' शब्द का व्यवच्छेद्य भी ज्ञेयरूप हो जाने से वास्तव में कोई व्यवच्छेद्य

---

*. 'तस्याऽनवयवस्येत्थं' इति तत्त्वसंग्रहपञ्जिकायाम्

अतोऽपोह्याभावादव्यापिनी व्यवस्था ।

ननु हेतुमुखे निर्दिष्टम् "अज्ञेयं कल्पितं कृत्वा तद्व्यवच्छेदेन ज्ञेयेऽनुमानम्" [हेतु०] इति तत् कथमव्यापित्वं शब्दार्थव्यवस्थायाः ? नैतत्, यतो यदि ज्ञेयमप्यज्ञेयत्वेनापोह्यमस्य कल्प्यते तदा वरं वस्त्वेव विधिरूपं शब्दार्थत्वेन कल्पितं भवेत् यदध्यवसीयते लोकेन, एवं ह्यदृष्टाध्यारोपो दृष्टापलापश्च न कृतः स्यात् ।

[विकल्पप्रतिविम्बार्थमतनिरूपण-निरसनम्]

ये त्वाहुः – "विकल्पप्रतिविम्बमेव सर्वशब्दानामर्थः, तदेव चाभिधीयते व्यवच्छिद्यत इति च" [ ] तेऽपि न युक्तकारिणः । निराकारा बुद्धिः आकारवान् बाह्योऽर्थः "स बहिर्देशसम्बन्धो स्पष्टमुपलभ्यते"[ ] इत्यादिना ज्ञानाकारस्य निषिद्धत्वात् आन्तरस्य बुद्ध्यारूढस्याकारस्याऽसत्त्वात् तदवसायकत्वं शब्दानामयुक्तम्, अत एव तस्यापोह्यत्वमप्यनुपपन्नम् । ये च 'एवम्-इत्थम्' इत्यादयः शब्दास्तेषामपि न किंचिदपोह्यम्, प्रतियोगिनः पर्युदासरूपस्य कस्यचिदभावात् । अथ 'नैवम्' इत्यादिप्रसज्य-रूपं प्रतिषेध्यमत्रापि । न, उक्तोत्तरत्वात् (६८-६) ।

ही सिद्ध नहीं होगा । आखिर 'ज्ञेय' शब्द से 'ज्ञान का विषय' ऐसा विधिरूप ही अर्थ मान्य करना पड़ेगा । यहाँ अपोहात्मक अर्थ न घटने से 'अपोह ही शब्दार्थ होता है' यह व्यवस्था अपूर्ण ही सिद्ध होगी ।

प्रश्न : 'हेतुमुख' प्रकरण में कहा तो है कि अज्ञेयरूप व्यवच्छेद्य (असत् पदार्थ) की कल्पना कर के, 'ज्ञेय' शब्द से उसका व्यवच्छेद करने द्वारा 'ज्ञेय' शब्द का भी अपोह ही वाच्यार्थ है' यह अनुमान कर सकेंगे – तो हमारी शब्दार्थव्यवस्था अपूर्ण क्यों रहेगी ?

उत्तर : प्रश्न गलत है । जब 'ज्ञेय' शब्द से असत् अज्ञेय की व्यवच्छेद्यरूप में कल्पना ही करना है तो इस से बेहतर है कि 'ज्ञेय' शब्द का सीधा ही विधिआत्मक वस्तुरूप अर्थ मान लिया जाय, जिस से कि असत् अर्थ की कल्पनारूप विडम्बना न प्राप्त हो । लोक में भी शब्दों से विधिरूप अर्थ का ही अध्यवसाय प्रसिद्ध है । आप उस को मान लीजिये जिस से दृष्ट यानी लोकसिद्ध वस्तु का अपलाप कर के अदृष्ट = असिद्ध वस्तु की कल्पना करने का अपराध न करना पड़े ।

★ विकल्पगत प्रतिबिम्ब शब्दार्थ नहीं ★

कुछ लोगों का यह कहना है कि – "विकल्पगत प्रतिबिम्ब (अर्थात् अर्थ की प्रतिच्छाया जैसा कुछ) ही शब्दमात्र का अर्थ है । शब्द से उसी का व्यवच्छेद्यरूप में निरूपण होता है इसलिये वह प्रतिबिम्ब वाच्य भी है और व्यवच्छेद्य भी वही है" – किन्तु यह कथन अयुक्त है । कारण, बुद्धि का अपना कोई आकार नहीं होता, आकार तो बाह्य अर्थ का होता है । "जो बुद्धि में भासता है वह तो स्पष्ट ही बाह्यदेश के साथ ही सम्बद्ध उपलब्ध होता है" इत्यादि कथन से पूर्वपक्षी ने ही ज्ञान के आकार का निषेध किया है । बाह्य अर्थ के निमित्त से बुद्धि में आकार नहीं होता । एवं अभ्यन्तर किसी निमित्त से भी बुद्धि में आकार का प्रवेशन खपुष्पवत् असत् है । इसलिये आकाररूप प्रतिबिम्ब को शब्दार्थ दिखाना गलत है । यही कारण है कि उस को शब्द के द्वारा अपोह्य भी नहीं माना जा सकता ।

'एवम्-इत्थम्' (= इस ढंग से, इस रीति से) इत्यादि शब्दों का भी कोई अपोह्य नहीं है, क्योंकि पर्युदासरूप कोई निषेध्य प्रतियोगी ही यहाँ मौजूद नहीं है । यदि कहें कि – 'एवम् न' = (ऐसा नहीं) – इस अर्थ

"न नैवमिति निर्देशे निषेधस्य निषेधनम् । एवमित्यनिषेध्यं तु स्वरूपेणैव तिष्ठति" [ ] इति न्यायात् ।

[अपोहपक्षे उद्योतकरकृताक्षेपाणामुपन्यासः]

उद्द्योतकरस्त्वाह — "अपोहः शब्दार्थः – इत्ययुक्तम् अव्यापकत्वात् । यत्र द्वैराश्यं भवति तत्रेतरप्रतिषेधादितरः प्रतीयते, यथा 'गौः' इतिपदात् गौः प्रतीयमानः अगौर्निषिध्यमानः । न पुनः सर्वपदे एतदस्ति । न ह्यसर्वं नाम किञ्चिदस्ति यत् सर्वशब्देन निवर्त्तेत । अथ मन्यसे एकादि असर्वम् तत् सर्वशब्देन निवर्त्तत इति । तन्न, स्वार्थापवाददोषप्रसङ्गात् । एवं ह्येकादिव्युदासेन प्रवर्त्तमानः सर्वशब्दोऽङ्गप्रतिषेधादङ्गव्यतिरिक्तस्याङ्गिनोऽनभ्युपगमादनर्थकः स्यात् । अङ्गशब्देन ह्येकदेश उच्यते, एवं सति

का प्रसज्यरूप प्रतिषेध तो यहाँ हो सकता है" – तो यह सम्भव नहीं है, कारण पहले कह दिया है। 'पचति'.....इत्यादि संदर्भ में पहले कहा है कि प्रसज्य प्रतिषेध मानने पर तो विधिरूप अर्थ ही फलित होता है । उपरांत यह न्याय है कि 'एवम् न (इति) न' (ऐसा नहीं है ऐसा नहीं) इस प्रकार निर्देश करने पर निषेध का निषेध होता है। फलतः 'ऐसा' शब्द से भासित होने वाला अर्थ स्वरूपतः अनिषेध्य ही रह जाता है ।" [यहाँ तक अपोहवाद प्रति कुमारिल मीमांसक के आक्षेपों का निरूपण हुआ– अब उद्द्योतकर के आक्षेपों की बात करते हैं]

★ उद्द्योतकर के आक्षेप ★

अपोह के बारे में उद्द्योतकर (नैयायिक) ने अपने न्यायवार्त्तिक में समीक्षा करते हुए यह कहा है कि – 'अपोह शब्दार्थ है' यह बात गलत है क्योंकि वह व्यापक नहीं है । हाँ, जहाँ 'तद् और तदितर' ऐसा द्वन्द्व संभवित हो वहाँ एक के प्रतिषेध से अन्य की प्रतीति की जा सकती है जैसे – 'गौ' पद से अगौ के निषेध की और गौ की प्रतीति होती है। किन्तु सर्वत्र ऐसी द्वन्द्वात्मक सम्भावना पाना कठिन है । जैसे 'सर्वपद' में द्वन्द्व का उपलम्भ शक्य नहीं है। 'सर्व' पद के अर्थ में विश्ववर्त्ती सकल पदार्थ समा जाते हैं अतः 'असर्व' पद से सर्वभिन्न किसी भी वस्तु की प्रतीति सम्भव नहीं रहती क्योंकि ऐसा कोई 'असर्व' अर्थ ही शेष नहीं रहता जिस की 'सर्व' पद से व्यावृत्ति हो सके ।

अपोहवादी : हम 'एक आदि' वस्तु को 'असर्व' मानेंगे जिस की 'सर्व' शब्द से व्यावृत्ति हो सकेगी । जो एक है वह 'सर्व' नहीं है इसलिये उसको असर्व मान कर उसकी 'सर्व' पद से व्यावृत्ति मानना अशक्य नहीं है ।

उद्द्योतकर : ऐसा शक्य नहीं है। कारण 'सर्व' पद के अर्थ में एक आदि भी समाविष्ट ही है इसलिये जो सर्वपद का ही अर्थ है उस का सर्वपद से अपवाद – व्यावर्त्तन करने की विपदा आयेगी । परिणाम यह होगा कि सर्वपद अपने अर्थ के अंगभूत एक दो आदि प्रत्येक 'असर्व' अर्थों के निषेध में प्रवृत्त होगा तो अपना तो कुछ अंगी जैसा अर्थ ही नहीं बचेगा । कहने का मतलब यह है कि 'सर्व' शब्द समस्त अर्थसमुदाय का वाचक होता है, एक-दो आदि अर्थ उस समुदाय के ही एक एक अंग हैं – इन एक एक अंगो का 'सर्व' पद से निषेध मानने पर पूरे अङ्गी = समुदाय का (एक एक कर के) निषेध हो जायेगा, क्योंकि अंगों को छोड कर और तो कोई स्वतन्त्र अङ्गी होता नहीं । अङ्ग यानी किसी समुदाय का एक अंश, समुदायवाचक सर्व-सकल आदि पदों से अगर उन एक एक अंगरूप 'असर्व', 'असकल' आदि का व्यावर्त्तन मानेंगे तो, समुदाय

सर्वे समुदायशब्दा एकदेशप्रतिषेधरूपेण प्रवर्त्तमानाः समुदायिव्यतिरिक्तस्यान्यस्य समुदायस्याऽनभ्युपगमादनर्थकाः प्राप्नुवन्ति । द्व्यादिशब्दानां तु समुच्चयविषयत्वादेकादिप्रतिषेधे प्रतिषिध्यमानार्थानामसमुच्चयत्वादनर्थकत्वं स्यात्'' [अ० २ आ० २० सू० ६७ न्या० वा० पृ० ३२९ पं० १२-२३]

यश्चायमगोऽपोहोऽगौर्न भवति – इति गोशब्दस्यार्थः स किञ्चिद् भावः, अथाभावः ? भावोऽपि सन् किं गौः अथाऽगौरिति ? यदि गौः, नास्ति विवादः । अथाऽगौः 'गोशब्दस्यागौरर्थः' इत्यतिशब्दार्थकौशलम् । अथाभावः तत्र युक्तम्, प्रैष-सम्प्रतिपत्त्योरविषयत्वात् । न हि शब्दश्रवणादभावे प्रैषः – प्रतिपादकेन श्रोतुरर्थे विनियोगः – प्रतिपादकधर्मः सम्प्रतिपत्त(त्ति)श्च श्रोतृधर्मो भवेत् । अपि च शब्दार्थः प्रतीत्या प्रतीयते, न च गोशब्दादभावं कश्चित् प्रतिपद्यते'' [न्यायवा० पृ० ३२९ पं ५-१९.]

किंच, ''क्रियारूपत्वादपोहस्य विषयो वक्तव्यः । तत्र 'अगौर्न भवति' इत्ययमपोहः किं गोविषयः अथाऽगोविषयः ? यदि गोविषयः कथं गोर्गव्येवाभावः ? अथाऽगोविषयः कथमन्यविषयादपोहादन्यत्र

अर्थों = अंशो से भिन्न स्वतंत्र समुदाय, मान्य न होने से समुदायवाची शब्द का अपना कुछ भी अर्थ न रहेगा – वे निरर्थक बन जायेंगे । दो-तीन अर्थों के समुच्चय के वाचक द्वि-त्रि आदि शब्दों से भी एक दो आदि अर्थों की व्यावृत्ति मानने पर द्वि आदि शब्द अर्थशून्य बन जायेंगे, क्योंकि द्विआदि समुच्चय तो असमुच्चयात्मक एक और एक मिल कर ही होता है और उन का तो असमुच्चयरूप से द्वि आदि शब्दों के द्वारा निषेध मानते हैं ।

★ 'गौ' शब्द से अगौप्रतिषेध असंगत ★

तदुपरांत, गो शब्द का – 'अगौ नहीं' इस प्रकार जो अगोऽपोहरूप अर्थ कहते हैं वह कुछ भावरूप है या अभावरूप ? ये प्रश्न हैं । भावरूप कहें तो गो-रूप है या अगौ-रूप ? गोरूप भावात्मक गोशब्द का अर्थ कहें तो कोई विवाद नहीं रहता । अगौ-रूप भाव को गोशब्द का अर्थ मानते हैं तो आप के शब्दार्थविषयक कौशल को बहुत ही धन्यवाद । अभावात्मक शब्दार्थ मानेंगे तो वह प्रैष और सम्प्रतिपत्ति का विषय नहीं बन सकेगा । 'वक्ता के द्वारा श्रोता का किसी प्रवृत्ति में नियोग किया जाय' उस को प्रैष कहते हैं । यह विनियोजन वक्ता का धर्म है । उस नियोग का भान सम्प्रतिपत्ति है जो श्रोता का धर्म है । किंतु शब्द से अभाव प्रतिपाद मानने पर ये दोनों सम्भव नहीं है क्योंकि अभाव में कोई नियोगादिरूप प्रवृत्ति शक्य नहीं तो उस का भान भी कैसे होगा ? दूसरी बात यह है कि शब्दजन्य प्रतीति में भासने वाला अर्थ शब्दार्थ कहलाता है । गोशब्द से किसी भी श्रोता को अभाव रूप अर्थ की प्रतीति का अनुभव नहीं होता ।

★ अपोहक्रिया के विषय पर प्रश्न ★

तथा अपोहन = निराकरण रूप क्रिया ही अपोह है इस लिये 'अपोह किस का ?' उस का विषय दिखाना चाहिये । मतलब 'अगौ नहीं होता' इस अपोहक्रिया का विषय 'गौ' है या अगौ – ये प्रश्न है । गोपिण्ड को अगोऽपोह का विषय मानने पर सहज ही तर्क उठेगा कि गोपिण्ड के ही प्रति गौ का निषेध कैसे ? यदि अगौ को अपोह का विषय मानेंगे तो यह प्रश्न उठेगा कि अन्यविषयक (यानी अगोविषयक) अपोह से अन्य की (गौ की) बुद्धि कैसे होगी ? ऐसा तो कभी नहीं होता कि खदिर का छेद करने पर पलाश का भी छेद हो जाय ।

[स्वपक्षाक्षेपप्रतिविधाने पूर्वमपोहवादिकृता स्वमतस्पष्टता]

अत्र सौगताः प्रतिविदधति – द्विविधोऽस्माकमपोहः पर्युदासलक्षणः प्रसह्यप्रतिषेधलक्षणश्च । पर्युदासलक्षणोऽपि द्विविधः – बुद्धिप्रतिभासोऽर्थेष्वनुगतैकरूपत्वेनाध्यवसितो बुद्ध्यात्मा, विजातीयव्यावृत्त-स्वलक्षणार्थात्मकश्च । तत्र यथा हरीतक्यादयो वहवोऽन्तरेणापि सामान्यलक्षणमेकमर्थं ज्वरादिशमनं कार्यमुपजनयन्ति तथा शावलेयादयोऽप्यर्थाः सत्यपि भेदे प्रकृतैकाकारपरामर्शहेतवो भविष्यन्त्यन्तरेणापि वस्तुभूतं सामान्यम् । तदनुभवबलेन यदुत्पन्नं विकल्पज्ञानं तत्र यदर्थाकारतयाऽर्था(र्थ)प्रतिविम्बकं ज्ञानादभिन्नमाभाति तत्र 'अन्यापोहः' इति व्यपदेशः । न (? स) चासावर्थाभासो ज्ञानतादात्म्येन व्यव-स्थितः सन् बाह्यार्थाभावेऽपि तस्य तत्र प्रतिभासनाद् बाह्यकृतः ।

न चापोहव्यपदेशस्तत्र निर्निमित्तः [A]मुख्य-[B]गौणभेदभिन्नस्य निमित्तस्य सद्भावात् । तथाहि – [A]विकल्पान्तरारोपितप्रतिभासान्तरोद्भावन(? राद् भेदेन) स्वयं प्रतिभासानात् मुख्यस्तत्र तद्व्यपदेशः 'अपोह्य-त इत्यपोहः अन्यस्मादपोहः अन्यापोहः' इति व्युत्पत्तेः । [B]उपचारात् तु त्रिभिः कारणैस्तत्र तद्व्यपदेशः

★ अपोहशब्दार्थवादी का स्वमतस्पष्टीकरण ★

अब अपोहवादी वौद्धों की और से कुमारिल आदि के लिये हुए आक्षेपों का प्रतिकार शुरू होता है –

हमारे मत में अपोह की दो विधाएँ है । १ - पर्युदासरूप २. प्रसज्यप्रतिषेधरूप ।

पर्युदास की भी दो विधाएँ है । १ - बुद्धिप्रतिभास, जो कि बुद्धिरूप ही होता है फिर भी अर्थों में अनुगत एकरूपतारूप से वह अध्यवसित होता है । २ - विजातीयों से व्यावृत्त स्वलक्षणरूप अर्थ ।

वात यह है कि 'हरडे' आदि अनेक विभिन्न औषधों में कोई एक सर्वसाधारण सामान्य तत्त्व न होने पर भी ज्वरशमनादि एक साधारण कार्य उन सभी से होता है । इसी प्रकार शावलेय आदि गोपिण्डों मे परस्पर भेद होने पर भी एवं सर्वसाधारण एक वास्तविक सामान्य (जाति) न होते हुये भी विचाराधीन एकाकार परामर्श के हेतु बन सकेंगे । मतलव, एक विधिरूप सामान्य मानने की जरूर नहीं है । स्वलक्षण के अनुभवबल से जो विकल्पज्ञान उत्पन्न होता है उस में ज्ञान से अभिन्न जो अर्थाकाररूप से अर्थप्रतिच्छाया अनुभूत होती है वही 'अन्यापोह' संज्ञा को धारण करती है । ज्ञान से अभेद रखता हुआ यह अर्थाभास वाह्य अर्थ रूप (जातिरूप) न होने पर भी उस का वहाँ वाह्यार्थ में होने का प्रतिभास होता है इसलिये उपचार से वाह्यकृत माना जा सकता है ।

★ अपोह के व्यपदेश के मुख्य-गौण निमित्त ★

उक्त अपोहों में 'अपोह' शब्दप्रयोग सर्वथा निर्निमित्त (प्रवृत्ति निमित्त के विना)ही है – ऐसा मत मान लेना, क्योंकि एक मुख्य और तीन गौण (वास्तविक और औपचारिक) दोनों प्रकार के चार प्रवृत्तिनिमित्त यहाँ मौजूद है । देखिये (१) अर्थप्रतिविम्ब रूप जो अपोह है वह स्वयं अन्य विकल्प से उपस्थापित जो अन्य अर्थप्रतिभास है उससे भिन्नरूप से स्वतः भासित होता है इसलिये उसके लिये मुख्य रूप से 'अपोह' शब्द प्रयुक्त होता है । अपोह की जो व्युत्पत्ति है – 'अपोहनं अपोहः = अपोहनक्रियारूप होना यही अपोह, अन्य से अपोह यही अन्यापोह' यह व्युत्पत्ति पूर्णरूप से सार्थक है । उपचार के आश्रयण से तीन निमित्तों से 'अपोह'

(१) कारणे कार्यधर्मारोपाद् वा अन्यव्यावृत्तवस्तुप्राप्तिहेतुतया, (२) कार्ये वा कारणधर्मोपचाराद् अन्यविविक्तवस्तुद्वारायाततया, (३) विजातीयापोढ(?ह)पदार्थेन सहैक्येन भ्रान्तैः प्रतिपत्तृभिरध्यवसितत्वाच्चेति । अर्थस्तु विजातीयव्यावृत्तत्वाद् मुख्यतस्तद्व्यपदेशभाक् ।

प्रसज्यप्रतिषेधलक्षणस्त्वपोहः [तत्त्व० सं० का० १०१०]

प्रसज्यप्रतिषेधस्तु गौरगौर्न भवत्ययम् । इति विस्पष्ट एवायमन्यापोहोऽवगम्यते ॥

तत्र य एव हि शाब्दे ज्ञाने साक्षाद् भासते स एव शब्दार्थो युक्तः । न चात्र प्रसज्यप्रतिषेधावसायः वाच्याध्यवसितस्य बुद्ध्याकारस्य शब्दजन्यत्वात् । नापीन्द्रियज्ञानवद् वस्तुस्वलक्षणप्रतिभासः, किं तर्हि ? बाह्यार्थाध्यवसायिनी केवलशाब्दी बुद्धिरुपजायते तेन तदेवार्थप्रतिबिम्बकं शाब्दे ज्ञाने साक्षात् तदात्मतया प्रतिभासनाच्छब्दार्थो युक्त इति अपोहत्रये प्रथमोऽपोहव्यपदेशमासादयति ।

*यद्यपि शब्दस्यार्थेन सह वाच्यवाचकभावलक्षणसम्बन्धः प्रसिद्धो नासौ कार्यकारणभावादन्योऽव-

शब्द का प्रयोग होता है – (१) अन्य व्यावृत्त वस्तु (स्वलक्षण गोपिण्डादि) की प्राप्ति रूप कार्य का कारण होने से, कार्यधर्म का कारण में आरोप कर के वहाँ 'अपोह' शब्द की प्रवृत्ति होती है । (२) अन्य से व्यावृत्त वस्तु के बल से अन्यव्यावृत्त विकल्पप्रतिबिम्ब का जन्म होता है इसलिये कारणधर्म का कार्य में उपचार कर के 'अपोह' शब्द सार्थक होता है । (३) भ्रान्त ज्ञाताओं के द्वारा भ्रान्ति से, विजातीयव्यावृत्त वस्तु और अर्थप्रतिबिम्बरूप अपोह दोनों के ऐक्य का भान किया जाता है इसलिये भी उस को 'अपोह' कहा जाता है ।

अर्थ तो स्वयं विजातीयव्यावृत्त ही होता है इसलिये उस में 'अपोह'शब्दप्रयोग मुख्यता से ही हो सकता है ।

प्रसज्यप्रतिषेधरूप अपोह का तत्त्वसंग्रह कारिका में यह लक्षण है – "गौ अगौ नहीं होता – इस प्रकार स्पष्ट रूप से जिस अन्यापोह का भान होता है वही प्रसज्य प्रतिषेधरूप अपोह है ।"

★ अर्थ प्रतिबिम्ब ही शब्दवाच्य मुख्य अपोह है ★

तीन प्रकार के अपोह में से कौन सा शब्दवाच्य है यह समीक्षा करें तो पहले इतना जान लेना होगा कि शब्दजन्य ज्ञान में जो साक्षात् प्रतीत हो उसी को शब्दार्थ मानना युक्तियुक्त कहा जायेगा । वाच्यरूप से अध्यवसित बुद्धि आकार ही शब्दजन्य प्रतीति में भासता है, प्रसज्यप्रतिषेधरूप अपोह का शाब्द बुद्धि में साक्षात् भान नहीं होता इसलिये उसको शब्दार्थ नहीं मान सकते । इन्द्रियजन्यज्ञान में तो स्वलक्षण का स्पष्ट भान होता है किन्तु शब्दजन्य बुद्धि में नहीं होता इसलिये वह भी शब्दार्थरूप नहीं है । तो फिर शब्दार्थ क्या है ? शब्द से बाह्यार्थ का अध्यवसाय करने वाली शाब्दबुद्धि ही उत्पन्न होती है, इसलिये उस शाब्द बुद्धि में तदात्मरूप से जो अर्थप्रतिबिम्ब भासित होता है वही शब्दार्थ है । फलतः तीन अपोहों में प्रथम प्रकार का अपोह ही शब्दवाच्य 'अपोह' कहा जाता है ।

शब्द के साथ अर्थ का जो वाच्य-वाचकभावरूप संबन्ध कहा जाता है वह कार्य-कारणभाव से और कुछ दूसरा कुछ नहीं । क्योंकि, शब्द का वाच्यार्थ अर्थप्रतिबिम्बरूप है और वह शब्द से ही उत्पन्न होता है

* तत्त्व० सं० का० १०१२ ।

प्रतिपत्तिः ? नहि खदिरे छिद्यमाने पलाशे छिदा भवति । अथागोर्गवि प्रतिषेधो 'गौरगौर्न भवति' इति, केनाऽगोत्वं प्रसक्तं यत् प्रतिषिध्यते'' इति ॥[न्यायवा० पृ०३२९ पं०२४-पृ०३३० पं० ४]

''इतश्चायुक्तोऽपोहः विकल्पानुपपत्तेः । तथाहि–योऽयमगोरपोहो गवि स किं गोव्यतिरिक्तः आहोश्वि-द्व्यतिरिक्तः ? यदि व्यतिरिक्तः – स किमाश्रितः अथाऽनाश्रितः ? यद्याश्रितस्तदाऽऽश्रितत्वाद् गुणः प्राप्तः । ततश्च गोशब्देन गुणोऽभिधीयते न 'गौः' इति 'गौस्तिष्ठति' 'गौर्गच्छति' इति न सामानाधिकरण्यं प्राप्नोतीति । अथानाश्रितस्तदा केनार्थेन 'गोरगोपोहः' इति षष्ठी स्यात् ? अथाव्यतिरिक्त-स्तदा गौरेवासौ इति न किञ्चित् कृतं भवति ।''[न्यायवा० पृ० ३३० पं० ८-१८४]

''अयं चापोहः प्रतिवस्त्वेकः अनेको वेति वक्तव्यम् । यद्येकस्तदानेकगोद्रव्यसम्बन्धी गोत्वमेवासौ भवेत् । अथानेकस्ततः पिण्डवदानन्त्यादाख्यानानुपपत्तेरवाच्य एव स्यात् ।'' [न्यायवा० पृ० ३३० पं०

अपोहवादी : हम सिर्फ 'अगौ का निषेध' नहीं दिखलाते किन्तु गौ में अगौ का निषेध दिखलाते हैं – इस लिये अगौ के निषेध द्वारा गौ में गो की बुद्धि होती है।

उद्योतकर : अरे ! पहले तो यही प्रश्न है कि गौ में किस शब्द से अगौ का प्रसञ्जन हुआ था जिस से आप को 'गौ' शब्द के द्वारा अगौ का निषेध गौ में दिखलाने की कुचेष्टा करनी पडती है ? प्रसक्त का ही निषेध होता है, अप्रसक्त का नहीं।

★ अगोअपोह गो से पृथक् या अपृथक् ? ★

इसलिये भी अपोह गलत है कि उस के ऊपर कोई विकल्प घटता नहीं। देखिये – गो में अगो के अपोह की बात जो कही गई, क्या वह गो से पृथक् है या अपृथक् ? पृथक् है तो गो में आश्रित है या नहीं है ? यदि आश्रित मानेंगे तो आश्रित होने के कारण उस को गुणात्मक मानना होगा। तब 'गो' शब्द से गुण का निरूपण होगा किन्तु गोपिण्ड का नहीं। फलतः 'गो खडा है' 'गो जा रहा है' ऐसे प्रयोगों में जो सामानाधिकरण्य – एक दूसरे का अभेदान्वय प्रतीत होता है वह नहीं होगा। कारण गोशब्दार्थभूत गुण में स्थान-गमनादि क्रिया का बाध है इस लिये स्थितिवान् या गमनवान् अर्थ में गोपिण्ड का अभेदान्वय शक्य नहीं। यदि गो में अगोपोह को अनाश्रित मानेंगे तो पृथक् होने पर उस के साथ कोई सम्बन्ध न रहने से 'गो का (में) अगोऽपोह' इस प्रकार छट्ठी विभक्ति का प्रयोग असंगत हो जायेगा। कौन सा वह अर्थ होगा जो सम्बन्ध बन कर षष्ठी के प्रयोग को संगत करेगा ? यदि गो में अगो के अपोह को अपृथक् – अभिन्न ही मानेंगे तब तो अगोपोह के निरूपण से गो का ही प्रतिपादन फलित हुआ – इस में सिर्फ द्रविडप्राणायाम के सिवा आपने और क्या बडा काम किया ?

यह भी बताईये कि वस्तु में अपोह सर्वत्र एक ही है या अलग अलग ? यदि एक है तब तो अनेक गोपिण्डों के साथ सम्बन्ध रखनेवाले गोत्व-सामान्य से वह भिन्न नहीं है–चाहे अपोह कहीये या गोत्व, एक ही बात है। यदि व्यक्तिओं की तरह प्रतिव्यक्ति अपोह भी भिन्न भिन्न ही है तब तो संख्या से अनन्त होने के कारण किसी एक शब्द से उनका प्रतिपादन अशक्य होने से अपोह अवाच्य बन जायेगा।

यह भी प्रश्न आप के समक्ष आयेगा कि अपोह वाच्य है या अवाच्य ? वाच्य है तो विधिरूप से वाच्य है या अन्यव्यावृत्तिरूप से ? यदि अपोह को विधिरूप से वाच्य मानेंगे तो 'शब्द का अर्थ अन्यापोह ही है'

१५-१७] किंच ''इदं तावत् प्रष्टव्यो भवति भवान् – किमपोहो वाच्यः अथावाच्य इति । वाच्यत्वे विधिरूपेण वाच्यः स्यात् ? अन्यव्यावृत्त्या वा ? तत्र यदि विधिरूपेण तदा नैकान्तिकः शब्दार्थः 'अन्यापोहः शब्दार्थः' इति । अथान्यव्यावृत्त्येति पक्षस्तदा तस्याप्यन्यव्यवच्छेदस्यापरेणान्यव्यवच्छेदरूपेणाभिधानम् तस्याप्यपरेणेत्यव्यवस्था स्यात् । अथाऽवाच्यस्तदा 'अन्यशब्दार्थापोहं शब्दः करोति' इति व्याहन्येत'' [न्यायवा० पृ० ३३० पं० १८-२२]

आचार्यदिग्नागोक्तम् – ''सर्वत्राभेदादाश्रयस्यानुच्छेदात् कृत्स्नार्थपरिसमाप्तेश्च यथाक्रमं जातिधर्मा एकत्व-नित्यत्व-प्रत्येकपरिसमाप्तिलक्षणा अपोह एवावतिष्ठन्ते; तस्माद् गुणोत्कर्षादर्थान्तरापोह एव शब्दार्थः साधुः'' [ ] इत्येतदाशंक्य कुमारिल उपसद(संहर)न्नाह – [श्लो० वा० अपो० श्लो० १६३-१६४]

अपि चैकत्व-नित्यत्व-प्रत्येक समवायित्वाः (ताः) । निरुपाख्येष्वपोहेषु कुर्वतोऽसूत्रकः पटः ॥

तस्माद् येष्वेव शब्देषु नञ्योगस्तेषु केवलम् । भवेदन्यनिवृत्त्यंशः स्वात्मैवान्यत्र गम्यते ॥

'स्वात्मैव' इति स्वरूपमेव विधिलक्षणम् । ''अन्यत्र' इति नञा रहिते । तन्नापोहः शब्दार्थ इति भट्टोद्योतकरादयः ।

ऐसा शब्दार्थ के बारे में एकान्त नियम नहीं हो सकेगा क्योंकि अपोह को तो विधिरूप से ही वाच्य मानते हैं। यदि अपोह को भी अन्यापोहरूप से ही वाच्य मानेंगे तो अन्यव्यवच्छेदस्वरूप अपोह का भी द्वितीय अन्यव्यवच्छेदरूप से निरूपण करना पडेगा, उसका भी तृतीय अन्यव्यवच्छेदरूप से, उस का भी चतुर्थ अन्यव्यवच्छेदरूप से... इस प्रकार अन्त ही नहीं आयेगा, फलतः प्रथम अपोह का भी ठीकाना नहीं रहेगा। यदि अपोह को अवाच्य मानेंगे तो 'एक शब्द अन्य शब्द के अर्थ के अपोह को करनेवाला है' इस प्रतिज्ञा का व्याघात प्रसक्त होगा, एक ओर कहना कि अपोह अवाच्य है, दूसरी ओर अन्यशब्दार्थ अपोह को ही आप वाच्य बता रहे हैं।

★ जाति के गुणधर्म अपोह में असम्भव ★

दिग्नाग (बौद्ध) आचार्यने कहा है – जाति (सामान्य तत्त्व) में तीन गुण माने जाते हैं – [1]सर्वव्यक्तिओं में रहते हुए भी भिन्न भिन्न न होने से, [2]तथा प्रवाहतः व्यक्तिरूप आश्रय का उच्छेद न होने से और [3]प्रत्येक व्यक्तिओंमें परिपूर्णरूप से समवेत हो कर रहने से इन तीन हेतुओं से जाति में, क्रमशः जो ये तीन गुणधर्म माने जाते हैं – एकत्व, नित्यत्व और प्रत्येकवृत्तित्व – ये सभी गुणधर्म अपोह में भी अवस्थित हैं। इसलिये जाति को शब्दार्थ मानने की अपेक्षा अपोह को शब्दार्थ मानने के पक्ष में ज्यादा गुण = लाभ (गौरवादिपरिहाररूप) होने के कारण सिद्ध होता है कि 'अर्थान्तरापोह ही सच्चा शब्दार्थ है'।

दिग्नाग की ओर से ऐसी आशंका करके कुमारिल ने उस के प्रत्युत्तर में उपसंहार करते हुए यह कहा है कि ''अपोह सर्वथा निरुपाख्य = तुच्छ (सर्वआख्याबाह्य) है उस में एकत्व, नित्यत्व, प्रतिव्यक्तिसमवेतता आदि धर्मों की कल्पना बिना सूत के वस्त्र बुनने जैसी है।'' ''इसलिये जिन शब्दों में नञ्प्रयोग हो वहाँ ही उनमें ही अन्यनिवृत्ति अंश की कल्पना ठीक हो सकती है। अन्यत्र (जहाँ नञ्प्रयोग न हो वहाँ) तो अपनी आत्मा ही भासित होती है।'' यहाँ अन्यत्र यानी 'जहाँ नञ्प्रयोग नहीं है वहाँ' और 'अपनी आत्मा' यानी 'विधिरूप अर्थ' समझना।

निष्कर्ष : भट्ट, उद्योतकर आदि का अभिमत यही है कि ''अपोह शब्दार्थ नहीं है''।

[स्वपक्षाक्षेपप्रतिविधाने पूर्वमपोहवादिकृता स्वमतस्पष्टता]

अत्र सौगताः प्रतिविदधति – द्विविधोऽस्माकमपोहः पर्युदासलक्षणः प्रसह्यप्रतिषेधलक्षणश्च । पर्युदासलक्षणोऽपि द्विविधः – बुद्धिप्रतिभासोऽर्थेष्वनुगतैकरूपत्वेनाध्यवसितो बुद्ध्यात्मा, विजातीयव्यावृत्त-स्वलक्षणार्थात्मकश्च । तत्र यथा हरीतक्यादयो बहवोऽन्तरेणापि सामान्यलक्षणमेकमर्थं ज्वरादिशमनं कार्यमुपजनयन्ति तथा शावलेयादयोऽप्यर्थाः सत्यपि भेदे प्रकृतैकाकारपरामर्शहेतवो भविष्यन्त्यन्तरेणापि वस्तुभूतं सामान्यम् । तदनुभवबलेन यदुत्पन्नं विकल्पज्ञानं तत्र यदर्थाकारतयाऽर्था(र्थ)प्रतिबिम्बकं ज्ञानादभिन्नमाभाति तत्र 'अन्यापोहः' इति व्यपदेशः । न (? स) चासावर्थाभासो ज्ञानतादात्म्येन व्यव-स्थितः सन् बाह्यार्थाभावेऽपि तस्य तत्र प्रतिभासनाद् बाह्यकृतः ।

न चापोहव्यपदेशस्तत्र निर्निमित्तः [A]मुख्य-[B]गौणभेदभिन्नस्य निमित्तस्य सद्भावात् । तथाहि – [A]विकल्पान्तरारोपितप्रतिभासान्तरोद्भावन(? राद् भेदेन) स्वयं प्रतिभासानात् मुख्यस्तत्र तद्व्यपदेशः 'अपोह्यत इत्यपोहः अन्यस्मादपोहः अन्यापोहः' इति व्युत्पत्तेः । [B]उपचारात् तु त्रिभिः कारणैस्तत्र तद्व्यपदेशः

★ अपोहशब्दार्थवादी का स्वमतस्पष्टीकरण ★

अब अपोहवादी बौद्धों की ओर से कुमारिल आदि के लिये हुए आक्षेपों का प्रतिकार शुरू होता है –

हमारे मत में अपोह की दो विधाएँ है । १ - पर्युदासरूप २. प्रसज्यप्रतियेधरूप ।

पर्युदास की भी दो विधाएँ है । १ - बुद्धिप्रतिभास, जो कि बुद्धिरूप ही होता है फिर भी अर्थों में अनुगत एकरूपतारूप से वह अध्यवसित होता है । २ - विजातीयों से व्यावृत्त स्वलक्षणरूप अर्थ ।

बात यह है कि 'हरडे' आदि अनेक विभिन्न औषधों में कोई एक सर्वसाधारण सामान्य तत्त्व न होने पर भी ज्वरशमनादि एक साधारण कार्य उन सभी से होता है । इसी प्रकार शावलेय आदि गोपिण्डों मे परस्पर भेद होने पर भी एवं सर्वसाधारण एक वास्तविक सामान्य (जाति) न होते हुये भी विचाराधीन एकाकार परामर्श के हेतु बन सकेंगे । मतलब, एक विधिरूप सामान्य मानने की जरूर नहीं है । स्वलक्षण के अनुभवबल से जो विकल्पज्ञान उत्पन्न होता है उस में ज्ञान से अभिन्न जो अर्थाकाररूप से अर्थप्रतिच्छाया अनुभूत होती है वही 'अन्यापोह' संज्ञा को धारण करती है । ज्ञान से अभेद रखता हुआ यह अर्थाभास बाह्य अर्थ रूप (जातिरूप) न होने पर भी उस का वहाँ बाह्यार्थ में होने का प्रतिभास होता है इसलिये उपचार से बाह्यकृत माना जा सकता है ।

★ अपोह के व्यपदेश के मुख्य-गौण निमित्त ★

उक्त अपोहों में 'अपोह' शब्दप्रयोग सर्वथा निर्निमित्त (प्रवृत्ति निमित्त के विना)ही है – ऐसा मत मान लेना, क्योंकि एक मुख्य और तीन गौण (वास्तविक और औपचारिक) दोनों प्रकार के चार प्रवृत्तिनिमित्त यहाँ मौजूद है । देखिये (१) अर्थप्रतिबिम्ब रूप जो अपोह है वह स्वयं अन्य विकल्प से उपस्थापित जो अन्य अर्थप्रतिभास है उससे भिन्नरूप से स्वतः भासित होता है इसलिये उसके लिये मुख्य रूप से 'अपोह' शब्द प्रयुक्त होता है । अपोह की जो व्युत्पत्ति है – 'अपोहनं अपोहः = अपोहनक्रियारूप होना यही अपोह, अन्य से अपोह यही अन्यापोह' यह व्युत्पत्ति यहाँ पूर्णरूप से सार्थक है । उपचार के आश्रयण से तीन निमित्तों से 'अपोह'

(१) कारणे कार्यधर्मारोपाद् वा अन्यव्यावृत्तवस्तुप्राप्तिहेतुतया, (२) कार्ये वा कारणधर्मोपचाराद् अन्यविविक्तवस्तुद्वारायाततया, (३) विजातीयापोढ(?ह)पदार्थेन सहैक्येन भ्रान्तैः प्रतिपत्तृभिरध्यवसितत्वाच्चेति । अर्थस्तु विजातीयव्यावृत्तत्वाद् मुख्यतस्तद्व्यपदेशभाक् ।

प्रसज्यप्रतिषेधलक्षणस्त्वपोहः [तत्त्व० सं० का० १०१०]

प्रसज्यप्रतिषेधस्तु गौरगौर्न भवत्ययम् । इति विस्पष्ट एवायमन्यापोहोऽवगम्यते ॥

तत्र य एव हि शाब्दे ज्ञाने साक्षाद् भासते स एव शब्दार्थो युक्तः । न चात्र प्रसज्यप्रतिषेधावसायः बाह्याध्यवसितस्य बुद्ध्याकारस्य शब्दजन्यत्वात् । नापीन्द्रियज्ञानवद् वस्तुस्वलक्षणप्रतिभासः, किं तर्हि ? बाह्यार्थाध्यवसायिनी केवलशाब्दी बुद्धिरुपजायते तेन तदेवार्थप्रतिबिम्बकं शाब्दे ज्ञाने साक्षात् तदात्मतया प्रतिभासनाच्छब्दार्थो युक्त इति अपोहत्रये प्रथमोऽपोहव्यपदेशमासादयति ।

*यच्चापि शब्दस्यार्थेन सह वाच्यवाचकभावलक्षणसम्बन्धः प्रसिद्धो नासौ कार्यकारणभावादन्योऽय-

---

शब्द का प्रयोग होता है – (१) अन्य व्यावृत्त वस्तु (स्वलक्षण गोपिण्डादि) की प्राप्ति रूप कार्य का कारण होने से, कार्यधर्म का कारण में आरोप कर के वहाँ 'अपोह' शब्द की प्रवृत्ति होती है । (२) अन्य से व्यावृत्त वस्तु के बल से अन्यव्यावृत्त विकल्पप्रतिबिम्ब का जन्म होता है इसलिये कारणधर्म का कार्य में उपचार कर के 'अपोह' शब्द सार्थक होता है । (३) भ्रान्त ज्ञाताओं के द्वारा भ्रान्ति से, विजातीयव्यावृत्त वस्तु और अर्थप्रतिबिम्बरूप अपोह दोनों के ऐक्य का भान किया जाता है इसलिये भी उस को 'अपोह' कहा जाता है ।

अर्थ तो स्वयं विजातीयव्यावृत्त ही होता है इसलिये उस में 'अपोह'शब्दप्रयोग मुख्यता से ही हो सकता है ।

प्रसज्यप्रतिषेधरूप अपोह का तत्त्वसंग्रह कारिका में यह लक्षण है – "गौ अगौ नहीं होता – इस प्रकार स्पष्ट रूप से जिस अन्यापोह का भान होता है वही प्रसज्य प्रतिषेधरूप अपोह है ।"

★ अर्थ प्रतिबिम्ब ही शब्दवाच्य मुख्य अपोह है ★

तीन प्रकार के अपोह में से कौन सा शब्दवाच्य है, यह समीक्षा करे तो पहले इतना जान लेना होगा कि शब्दजन्य ज्ञान में जो साक्षात् प्रतीत हो उसी को शब्दार्थ मानना युक्तियुक्त कहा जायेगा । बाह्यरूप से अध्यवसित बुद्धि आकार ही शब्दजन्य प्रतीति में भासता है, प्रसज्यप्रतिषेधरूप अपोह का शाब्द बुद्धि में साक्षात् भान नहीं होता इसलिये उसको शब्दार्थ नहीं मान सकते । इन्द्रियजन्यज्ञान में तो स्वलक्षण का स्पष्ट भान होता है किन्तु शब्दजन्य बुद्धि में नहीं होता इसलिये वह भी शब्दार्थरूप नहीं है । तो फिर शब्दार्थ क्या है ? शब्द से बाह्यार्थ का अध्यवसाय करने वाली शाब्दबुद्धि ही उत्पन्न होती है, इसलिये उस शाब्द बुद्धि में तदाकाररूप से जो अर्थप्रतिबिम्ब भासित होता है वही शब्दार्थ है । फलतः तीन अपोहों में प्रथम प्रकार का अपोह ही मुख्यतया 'अपोह' कहा जाता है ।

शब्द के साथ अर्थ का जो वाच्य-वाचकभावरूप संबन्ध कहा जाता है वह कार्य-कारणभाव [illegible] कर दूसरा कुछ नहीं । [illegible], शब्द का वाच्यार्थ अर्थप्रतिबिम्बरूप है और वह शब्द से ही उत्पन्न [illegible]

---

* - तत्त्व० सं० का० [illegible] ।

तिष्ठते, वाह्यरूपतयाऽध्यवसितस्य बुद्ध्याकारस्य शब्दजन्यत्वाद् वाच्यवाचकलक्षणसम्बन्धः कार्यकारणभावात्मक एव । तथा च शब्दस्तस्य प्रतिविम्वात्मनो जनकत्वाद् वाचक उच्यते प्रतिविम्वं च शब्दजन्यत्वाद् वाच्यम् ।

[अपोहमाक्षिप्तवतः कुमारिलस्य प्रतिक्षेपः]

तेन यदुक्तम् — 'निषेधमात्रं नैवेह शाब्दे ज्ञानेऽवभासते' इति (४३-४) – तदसंगतम्, निषेधमात्रस्य शब्दार्थत्वानभ्युपगमात् । एवं तावत् प्रतिविम्वलक्षणोऽपोहः साक्षाच्छब्दैरुपजन्यवाद् मुख्यः शब्दार्थो व्यवस्थितः शेषयोरप्यपोहयोर्गौणं शब्दार्थत्वमविरुद्धमेव । तथाहि – [तत्त्व सं० १०१३]

साक्षादपि च एकस्मिन्नेवं च प्रतिपादिते । प्रसज्यप्रतिषेधोऽपि सामर्थ्येन प्रतीयते ॥

सामर्थ्यं च गवादिप्रतिविम्वात्मनोऽपरप्रतिविम्वात्मविविक्तत्वात् तदसंयुक्ततया प्रतीयमानत्वम्, तथातत्प्रतीतौ प्रसज्यलक्षणापोहप्रतीतेरप्यवश्यं सम्भवात् अतस्तस्यापि गौणशब्दार्थत्वम् । स्वलक्षणस्यापि गौणशब्दार्थत्वमुपपद्यत एव । तथाहि – प्रथमं यथावस्थितवस्त्वनुभवः ततो विवक्षा ततस्ताल्वादिपरिस्पन्दः, ततः शब्द इत्येवं परम्परया यदा शब्दस्य वाह्यार्थेष्वभिसम्वन्धः स्यात् तदा विजातीयव्यावृत्तस्यापि वस्तुनोऽर्थापत्तितोऽधिगम इत्यन्यव्यावृत्तवस्त्वात्माऽपोहः शब्दार्थ इत्युपचर्यते । तदुक्तम् – [त० सं० १०१४-१५]

उस बुद्धि में वाह्यार्थरूप से प्रतीत होता है । इसलिये वाच्यवाचकभाव कहिये या कार्यकारणभाव संबंध कहिये एक ही है । निष्कर्ष, प्रतिविम्बरूप वाच्यार्थ का जनक होने से शब्द वाचक होता है और अर्थप्रतिविम्व शब्दजन्य होने से वाच्य कहा जाता है ।

हम विधिरूप अर्थप्रतिविम्व को शब्दार्थ मानते हैं – इसलिये यह जो पहले (पृ० ४३-२०) कहा था – 'मात्र निषेधरूप अपोह यहाँ शाब्दबुद्धि में नहीं भासता है'' – यह गलत ठहरता है । कारण, हम निषेधमात्र को शब्दार्थ नहीं मानते हैं । उपरोक्त रीति से हमने यह वता दिया है कि प्रतिविम्व स्वरूप अपोह साक्षात् शब्दजन्य होने से वही मुख्य शब्दार्थ घटता है । तीन में से शेष दो अपोहों को गौणरूप से हम शब्दार्थ मानते हैं वह भी अविरुद्ध है । देखिये —

''जन्यत्व के कारण एक अपोह में साक्षात् शब्दार्थरूपता प्रतिपादन करने पर प्रसज्यप्रतिषेध(रूप अपोह) भी सामर्थ्य के जरिये प्रतीत हो सकता है ।''

सामर्थ्य का मतलब यह है कि – गोपिण्डादि के प्रतिविम्व का स्वरूप अन्य (अश्वादि) के प्रतिविम्व के स्वरूप से व्यावृत्त होने से, अन्यप्रतिविम्व के साथ असंवद्धरूप से भी गोप्रतिविम्व का भान होता है । और अन्यव्यावृत्ति का भान होने पर अवश्यमेव प्रसज्यप्रतिषेधरूप अपोह का भान होना अनिवार्य है क्योंकि उस के विना व्यावृत्ति की प्रतीति शक्य नहीं है । इसलिये प्रसज्यप्रतिषेध-अपोह भी परम्परया गौणरूप से शब्दार्थ घट सकता है । स्वलक्षण को भी उपचार से शब्दार्थ मानना युक्तिसंगत है । देखिये – शब्दोत्पत्ति का क्रम ऐसा है कि पहले प्रतिपाद्यरूप अभिमत यथार्थ वस्तु का अनुभव (निर्विकल्प ज्ञान) होगा । उस के वाद उस के निरूपण की इच्छा उठेगी । उस इच्छा से ओष्ठ-तालु आदि में क्रिया पैदा होगी, तव शब्दप्रयोग होगा । इस प्रकार परम्परया अग्नि आदि स्वलक्षण वस्तु के साथ शब्द का सम्बन्ध घटित रहेगा । उस सम्बन्ध से विजातीयव्यावृत्त स्वलक्षण रूप वस्तु का शब्दज्ञानमूलक अर्थापत्ति से (अर्थात् यह अभ्रान्त गोशब्द का प्रयोग गो-स्वलक्षण के

न तदात्मा परात्मेति सम्बन्धे सति वस्तुभिः । व्यावृत्तवस्त्वधिगमोऽप्यर्थादेव भवत्यतः ॥
तेनाऽयमपि शब्दस्य स्वार्थ इत्युपचर्यते । न च साक्षादयं शब्दैर्द्विविधोऽपोह उच्यते ॥ इति ॥

[दिग्नागवचनतात्पर्यप्रकाशेनोद्द्योतकरोक्तदूषणनिरसनम्]

तेनाचार्यदिग्नागस्योपरि यदुद्द्योतकरेणोक्तम् – "यदि शब्दस्यापोहोऽ(?ना)भिधेयोऽर्थस्तदाऽभिधेयार्थव्यतिरेकेणास्य स्वार्थो वक्तव्यः । अथ स एव स्वार्थस्तथापि व्याहतमेतत् 'अन्यशब्दार्थापोहं हि स्वार्थे कुर्वती श्रुतिरभिधत्त इत्युच्यते' इति, अस्य हि वाक्यस्यायमर्थस्तदानीं भवत्य(न्यदन)भिदधाना(?नो)भिधत्त इति" [न्यायवा० पृ० ३३० पं० २२ – पृ० ३३१ पं० ३] तदेतद् वाक्यार्थाऽपरिज्ञानादुक्तम् । तथाहि – स्वलक्षणमपि शब्दस्योपचारात् स्वार्थ इति प्रतिपादितम् (   ) । अतः स्वलक्षणात्मके स्वार्थेऽर्थान्तरव्यवच्छेदं प्रतिबिम्बान्तराद् व्यावृत्तं प्रतिबिम्बात्मकमपोहं कुर्वती श्रुतिरभिधत्ते इत्युच्यते इत्येतदाचार्यीयं वचनमविरोधि ।

अयमाचार्यस्याशयः – न शब्दस्य बाह्यार्थाध्यवसायिविकल्पप्रतिबिम्बोत्पादव्यतिरेकेणान्यो बाह्यार्थाभिधानव्यापारः, निर्व्यापारत्वात् सर्वधर्माणाम् । अतो बाह्यार्थाध्यवसायेन प्रवृत्तं विकल्पप्रतिबिम्बं

अनुभव के विना अशक्य है – इस प्रकार) भान होगा इस लिये अन्यव्यावृत्त वस्तुरूप अपोह को भी उपचार से शब्दार्थ मान सकते हैं । कहा है कि – "गौप्रतिबिम्बात्मा अश्वप्रतिबिम्बात्मक नहीं है (इस प्रकार प्रसज्यप्रतिषेधरूप अपोह का शब्दार्थ रूप से भान होगा, तथा) वस्तु के साथ (परम्परया) शब्दसम्बन्ध होने पर व्यावृत्तवस्तु का भी अर्थापत्ति से भान होता है । (इस प्रकार व्यावृत्तवस्तुस्वरूप अपोह का भी भान हुआ) इसलिये यह भी उपचार से शब्द का अपना अर्थ है यह कह सकते हैं । ये दोनों अपोह शब्द के साक्षात् अभिधेय नहीं है ।"

★ उद्द्योतकर के आक्षेपों का प्रत्युत्तर ★

जब इस प्रकार अपोहवाद संगत है, तब आचार्य दिग्नाग के ऊपर उद्द्योतकर ने यह कहा है कि "शब्द का वाच्यार्थ यदि अपोह है तो दिग्नागवचन में प्रयुक्त स्वार्थ शब्द का अभिधेय अर्थ से पृथक् अपना कोई अर्थ दिखाना चाहिये । यदि अपोह ही उस का अपना अर्थ है ऐसा मानेंगे तो दिग्नागने जो यह कहा है कि 'अन्य शब्दार्थ का अपने अर्थ में अपोह करती हुई श्रुति अभिधान (= प्रतिपादन) करती है' इस कथन का व्याघात होगा । कारण, यहाँ 'स्वार्थ' से यदि अपोह ही अपेक्षित होगा तब इस वाक्य का यही अर्थ निकलेगा कि अपोह का अभिधान करती हुई श्रुति अभिधान करती है । यहाँ अपोह का ही अपोह करने की बात परस्पर व्याहत है ।"

ऐसा जो उद्द्योतकर ने कहा है वह दिग्नागकथन का अर्थ बिना समझे ही कह दिया है । क्योंकि स्वलक्षण भी उपचार से 'स्वार्थ' ही है यह कहा ही है । इसलिये दिग्नागाचार्य के कथन का जो यह तात्पर्य है – "स्वलक्षणात्मक अर्थ में अन्य प्रतिबिम्ब से व्यावृत्त तदर्थप्रतिबिम्बरूप अर्थान्तरव्यवच्छेद यानी अपोह करती हुई श्रुति अभिधान करती है" – इस में कोई विरोध नहीं है ।

इस कथन में आचार्य का मुख्य आशय यह है कि बाह्यार्थ रूप से अध्यवसित विकल्पगत अर्थप्रतिबिम्ब को उत्पन्न करने के अलावा और कोई शब्द का बाह्यार्थाभिधान व्यापार नहीं होता क्योंकि सभी वस्तुएँ स्व की उत्पत्ति के लिये निर्व्यापार होते हैं । इसी लिये ऐसा कहते हैं कि बाह्यार्थ के अध्यवसायरूप से उदित विकल्पप्रतिबिम्ब

जनयन्ती श्रुतिः स्वार्थमभिधत्त इत्युच्यते, न तु विभेदिनं सजातीयविजातीयव्यावृत्तं स्वलक्षणमेषा स्पृशति । तथाविधप्रतिविम्बजनकत्वव्यतिरेकेण नापरा श्रुतेरभिधाक्रियाऽस्तीत्यर्थः । एवंभूते चापोहस्य स्वरूपे न परोक्तदूषणावकाशः ।

तेन यदुक्तम् – 'यदि गौरिति शब्दश्च' इत्यादि (पृ. ४३ पं.६) तत्र गोबुद्धिमेव हि शब्दो जनयति, अन्यविश्लेषस्तु सामार्थ्याद् गम्यते न तु शब्दात्, तस्य गोप्रतिविम्बस्य प्रतिभासान्तरात्मरहितत्वात् – अन्यथा नियतरूपस्य प्रतिपत्तिरेव न स्यात् – तेनापरो ध्वनिर्गोबुद्धेर्जनको न मृग्यते, गोशब्देनैव गोबुद्धेर्जन्यमानत्वात् ।

यदपि – 'ननु ज्ञानफलाः शब्दाः'... इत्यादि (पृ. ४३ पं. ८) कुमारिलवचनम् – तदप्यसारम् यतो यथा 'दिवा न भुंक्ते पीनो देवदत्तः' इत्यस्य वाक्यस्य साक्षाद् दिवाभोजनप्रतिषेधः स्वार्थः, अभिधानसामर्थ्यगम्यस्तु रात्रिभोजनविधिर्न साक्षात्, तद्वत् 'गौः' इत्यादेरन्वयप्रतिपादकस्य शब्दस्यान्वयज्ञानं साक्षात् फलम् व्यतिरेकगतिस्तु सामर्थ्यात्, यस्मादन्वयो विधिरव्यतिरेकवान्नास्ति विजातीयव्यवच्छेदाव्यभिचारित्वात् तस्य । इत्येकज्ञानस्य फलद्वयमविरुद्धमेव । यतो यदि साक्षादेकस्य शब्दस्य विधि-प्रतिषेधज्ञानलक्षणं फलद्वयं युगपदभिप्रेतं स्यात् तदा भवेद् विरोधः, यदा तु दिवाभोजनवाक्यवदेकं साक्षात् अपरं सामर्थ्यलभ्यं फलमभीष्टं तदा को विरोधः ?

को जन्म देने वाली श्रुति अपने अर्थ का अभिधान करती है । सर्वथा भिन्न स्वभाववाले सर्व सजातीयों और विजातीयों से व्यावृत्त स्वलक्षण को तो वह स्पर्श भी नहीं करती है । विकल्प में वाह्यार्थ के प्रतिविम्ब को उत्पन्न करने के अलावा और कोई अभिधान क्रिया श्रुति की नहीं होती । इस ढंग से निरूपित अपोह के स्वरूप में किसी भी अन्यकथित दूषण को अवकाश नहीं है ।

★ गो-बुद्धिजनन के लिये अन्य शब्द अनावश्यक ★

इस प्रकार जब अपोहवाद युक्तिसिद्ध है तब पहले (पृ.४३-२८) जो यह कहा था कि 'गोशब्द अन्यव्यावृत्तिपरक होने से, गोवुद्धि के लिये और कोई शब्द ढूँढना पडेगा' यह गलत है । कारण, 'गोशब्द तो गोवुद्धि (गोरूप अर्थ के वुद्धिप्रतिविम्ब) का जनक है ही, अन्यव्यावृत्ति तो शब्द से नहीं किन्तु प्रतिविम्ब के सामर्थ्य से = अर्थापत्ति से प्रतीत होती है क्योंकि वह गोप्रतिविम्ब स्वयं अन्य अश्वादिप्रतिविम्ब सें व्यावृत्त होता है, यदि अन्य व्यावृत्तरूप से 'गो' की प्रतीति नहीं मानेंगे तव तो 'यह गो ही है' ऐसी नियतस्वरूप की प्रतीति ही नहीं हो सकेगी । तात्पर्य, गोवुद्धि गोशब्द से ही जन्य होने से गोवुद्धिजनक और किसी शब्द ढूँढना नहीं पडेगा ।

कुमारिलने जो यह कहा था — ''शब्द ज्ञानफल होते हैं'', किन्तु निषेधकारक या विधायक एक शब्द से एकसाथ अनुवृत्ति और व्यावृत्ति विषयक दो वुद्धि नहीं होती है... इत्यादि'' – यह भी निःसार है । कारण, जैसे ''स्थूल देवदत्त दिन में नहीं खाता'' इस वाक्य का साक्षात् अर्थ दिवाभोजन-निषेध है जो उस का स्वार्थ कहा जाता है, तथा अपने अर्थ के प्रतिपादन का यह सामर्थ्य होता है कि उस से रात्रिभोजन का निरूपण अर्थात् हो जाता है भले साक्षात् न हो । ठीक इसी तरह अन्वयप्रतिपादक 'गो' शब्द का साक्षात् फल अन्वय का ज्ञान होता है कि 'यह गौ है'; किन्तु अश्वादिव्यावृत्ति का भान तो उस के सामर्थ्य से होता है । कारण, व्यतिरेक के विना अन्वय के विधि का भान शक्य ही नहीं होता, विजातीय व्यवच्छेद का नियमतः सहचारी

यच्चोक्तम् – 'प्रागगौरिति' (पृ० ४३ पं.१०) ज्ञानम् इत्यादि तदपि निरस्तम्, अनभ्युपगमात् । न ह्यगोप्रतिषेधमाभिमुख्येन गोशब्दः करोतीत्यभ्युपगतमस्माभिः । किं तर्हि ? सामर्थ्यादिति ।

यच्चोक्तम् – 'अगोनिवृत्तिः सामान्यम्' इत्यादि (पृ० ४६ पं. २) तदप्यसत्, बाह्यरूपतयाऽध्यस्तो बुद्ध्याकारः सर्वत्र शाबलेयादौ 'गौर्गौः' इति समानरूपतयावभासनात् सामान्यमित्युच्यते । बाह्यवस्तुरूपत्वमपि तस्य भ्रान्तप्रतिपत्तृवशाद् व्यवस्थितं, न परमार्थतः ।

ननु च यदि कदाचित् मुख्यं वस्तुभूतं सामान्यं बाह्यवस्त्वाश्रितमुपलब्धं भवेत् तदा तत्साधर्म्यदर्शनात् तत्र सामान्यभ्रान्तिर्भवेत् यावता मुख्यार्थासम्भवे सैव भवतामनुपपन्ना । असदेतत् – साधर्म्यदर्शनाद्यनपेक्षद्विचन्द्रादिज्ञानवत् अन्तरुपप्लवादपि तज्ज्ञानसम्भवात् । न हि सर्वा भ्रान्तयः साधर्म्यदर्शनादेव भवन्ति । किं तर्हि – अन्तरुपप्लवादपीत्यदोषः, इति सिद्धसाध्यतादोषो न भवति (पृ० ४५ पं०-१३) । स एव बुद्ध्याकारो बाह्यतयाऽध्यस्तोऽपोहो बाह्यवस्तुभूतं सामान्यमिवोच्यते वस्तु-

---

अन्तर्य होने से एक के ज्ञान से अन्य का भान – इस प्रकार दो फल में कोई विरोध नहीं है । हाँ, एक ही शब्द से विधि-प्रतिषेध उभय ज्ञान को एक साथ यदि हम मानते तो विरोध को अवकाश था, किन्तु जब दिवाभोजननिषेधवाक्य की तरह एक अर्थ का साक्षात् और दूसरे का सामर्थ्य से बोध फल मानते हैं तो किसी भी विरोध को अवकाश नहीं है ।

यह जो कहा था कि – (पृ० ४४ पं० १०) 'गो' शब्द को सुन कर पहले 'अगो' का भान होगा'.....इत्यादि यह भी निरस्त हो जाता है, क्योंकि हम 'गोशब्द अगोव्यवच्छेद का साक्षात् भान कराता है' ऐसा मानते ही नहीं । हम तो 'गोबुद्धि' को गोशब्द से साक्षात् जन्य मान कर सामर्थ्य से ही व्यावृत्ति का भान मानते हैं ।

तथा यह जो कहा था – ''आप गोशब्द से अगोनिवृत्तिरूप सामान्य को वाच्य मानते हैं उस का मतलब भावरूप सामान्य को वाच्य मानते हैं.....इत्यादि (पृ० ४६ पं० १७)'' वह भी गलत है । कारण, हम सामान्य को निवृत्ति रूप नहीं मानते किन्तु बाह्यवस्तुरूप से अध्यस्त बोधाकार ही शाबलेयादिव्यक्तों में 'यह गौ है – यह गौ है' इस प्रकार समानधर्मरूप से भासता हुआ हमारे मत में सामान्य कहा जाता है । वस्तुतः वह बाह्य नहीं है फिर भी भ्रान्त बुद्धिवाले लोगों को बाह्यरूप से दिखता है इसलिये उस का बाह्यरूप से व्यवहार चलता है । परमार्थ से वह बाह्य नहीं होता ।

★ मुख्यार्थ के बिना भी सामान्यभ्रान्ति ★

शंका : बाह्य वस्तुओं में मुख्य वास्तविक सामान्य किसी समय किसी को अगर उपलब्ध रहता है तब उस के साधर्म्य को देख कर अन्य असामान्यभूत पदार्थ में सामान्य की भ्रान्ति होना ठीक है । लेकिन आप के अपोहवाद में तो ऐसा कोई मुख्य वास्तविक सामान्य संमत नहीं है तो फिर अर्थशून्यविकल्प में सामान्य का भ्रान्त अध्यवसाय कैसे घटेगा ?

उत्तर : यह शंका गलत है । साधर्म्य दर्शन के बिना भी आन्तरिक दोष की महिमा से सामान्य की भ्रान्ति हो सकती है, जैसे गगन में कभी किसीने दो चन्द्र नहीं देखा, फिर भी (उस के साधर्म्य दर्शन के बिना) गगन में दो चन्द्र का भ्रान्त दर्शन दूषित नेत्र से होता ही है । ऐसा नहीं है कि सभी भ्रान्तियाँ साधर्म्य को देख कर ही होवे । तो कैसे होती है ? आन्तरिक कामादि उपप्लवात्मक दोषों के उपप्लव से भी भ्रान्ति होती

रूपत्वेनाध्यवसायात्, शब्दार्थत्वापोहरूपत्वयोः प्रागेव कारणमुक्तम् – "बाह्यार्थाध्यवसायिन्या बुद्धेः शब्दात् समुद्भवात्" (पृ० ७७ पं० ६) "प्रतिभासान्तराद् भेदात्" (पृ० ७६ पं० १०) इत्यादिना। कस्मात् पुनः परमार्थतः सामान्यमसौ न भवति ? बुद्धेरव्यतिरिक्तत्वेनार्थान्तरानुगमाभावात्। तदुक्तम् – 'ज्ञानादव्यतिरिक्तं च कथमर्थान्तरं व्रजेत्।' न च भवद्भिर्बुद्ध्याकारो गोत्वाख्यं सामान्यं वस्तुरूपमिष्टम्। किं तर्हि ? बाह्यशावलेयादिगतमेकमनुगामि गोत्वादि सामान्यमुपकल्पितम् अतः कुतः सिद्धसाध्यता ?।

यच्चोक्तम् – 'निषेधमात्ररूपश्च' इत्यादि (पृ० ४६ पं० ६), तस्यानभ्युपगतत्वादेव न दोषः। यच्चेदमुक्तम् – 'तस्यां चाश्वादिबुद्धीनाम्' (पृ. ४६ पं० ७) इत्यादि, तदप्यसत् – यतः उक्तम् (त.सं. का.१०२६) "यद्यप्यव्यतिरिक्तोऽयमाकारो बुद्धिरूपतः। तथापि बाह्यरूपत्वं भ्रान्तैस्तस्यावसीयते ॥"

यदपि *'शब्दार्थोऽर्थानपेक्षः' (पृ. ४७ पं० ८) इति, तत्र – यत्र हि पारम्पर्याद् वस्तुनि

है। इसलिये मुख्य सामान्य न मानने पर कोई दोष नहीं है और सामान्य की भ्रान्ति की उपपत्ति के लिये मुख्य सामान्य की सिद्धि मानने पर होने वाले सिद्धसाध्यता दोष को भी अब अवकाश नहीं है। हमारे मत में तो बाह्यवस्तुरूप में अध्यस्त बोधाकारात्मक अपोह को ही अन्यदर्शनस्वीकृत बाह्यवस्तुरूप सामान्य के जैसा माना गया है, क्योंकि उस का बाह्य वस्तु के रूप में भ्रमात्मक भान होता है। ऐसे बोधाकार को हम क्यों शब्दार्थरूप और अपोहरूप मानते हैं इस का कारण तो पहले ही हमने यह कह कर के दिखाया है कि (पृ० ७७ पं० २३) बाह्यार्थाध्यवसायि बुद्धि शब्द से उत्पन्न होती है इसलिये जन्य-जनकभावात्मक वाच्य-वाचकभावसम्बन्ध से उस बुद्धि-आकार को शब्दार्थ कहा जाता है। एवं अन्य अर्थप्रतिभास से स्वतःव्यावृत भासता होने के कारण उस को अपोहरूप कहा जाता है। (पृ० ७६ पं० २९)

'आप क्यों उस को पारमार्थिक सामान्यरूप से नहीं मान लेते ?' इस प्रश्न का उत्तर यह है कि बुद्धिआकार रूप अपोह बुद्धि से अभिन्न होने से अन्य अर्थों में उस की अनुवृत्ति शक्य नहीं है। कहा है कि – 'जो ज्ञान से अपृथक् है वह अन्य अर्थ के प्रति कैसे जायेगा ?'

'आपने बुद्धिआकार को गोत्वसंज्ञक सामान्य वस्तु तत्त्व रूप नहीं माना है। तो क्या माना है ? बाह्य शावलेय-बाहुलेय पिण्डों में अनुयायि एक गोत्वसामान्य को माना है जो बुद्धि-आकार रूप नहीं है। तो फिर सिद्धसाध्यता कैसे होगी ?।'

★ विविध आक्षेपों का प्रत्युत्तर ★

यह जो कहा था – 'अपोह निषेधमात्रस्वरूप (प्रसज्यप्रतिषेधरूप) है (पृ. ४६ पं० २४)' – ऐसा तो हम मानते ही नहीं इस लिये वहाँ जो शून्यता में वाच्यत्व की आपत्ति कही गई है वह निरवकाश है। तथा यह जो कहा था – अश्वादिबुद्धि बाह्यवस्तुग्राही सिद्ध न होने से सिर्फ बुद्धि का अपना अंश ही ग्राह्य सिद्ध हुआ इत्यादि (पृ० ४६ पं० २६) – वह भी गलत है क्योंकि 'वह प्रतिबिम्बाकार बुद्धिस्वरूप से अपृथग् होने पर भी भ्रान्त लोगों को तो वह बाह्यरूप से ही अध्यवसित होता है।' इसलिये बाह्यवस्तुग्राहिता सर्वथा असिद्ध नहीं है।

*. यह तत्त्वसंग्रह कारिका ९२० का अंश सम्मतिटीकाकारने पहले छोड दिया है, फिर भी यहाँ तत्त्वसंग्रह कारिका १०२६ की पंजिका का अनुवाद करते समय उल्लेखित कर दिया है।

प्रतिबन्धोऽस्ति तस्य भ्रान्तस्यापि सतो विकल्पस्य मणिप्रभायां मणिबुद्धिवद् न बाह्यार्थानपेक्षत्वमस्ति, अतोऽसिद्धं बाह्यार्थानपेक्षत्वम् । यच्च 'वस्तुरूपावभासा(रूपा च सा) बुद्धिः' (पृ० ४७ पं० २) इत्यादि, तत्र यद्यपि वस्तुरूपा सा बुद्धिस्तथापि तस्यास्तेन बाह्यात्मना बुद्ध्यन्तरात्मना च वस्तुत्वं नास्तीति प्रतिपादितम् (पृ० ७९ पं० १) । तेन 'बुद्धेर्बुद्ध्यन्तरापोहो न गम्यते' (पृ० ४७ पं० ११) इत्यसिद्धम् सामर्थ्येन गम्यमानत्वात् ।

'असत्यपि च बाह्येऽर्थे' (पृ. ४७ पं० ८) इत्यत्र यथैव हि प्रतिबिम्बात्मकः प्रतिभाख्योऽपोहो वाक्यार्थोऽस्माभिरुपवर्णितस्तथैव पदार्थोऽपि, यस्मात् पदादपि प्रतिबिम्बात्मकोऽपोह उत्पद्यत एव, पदार्थोऽपि स एव, अतो न केवलं वाक्यार्थ इति विप्रतिपत्तेरभावाद् नोप(पा)लम्भो युक्तः ।

'बुद्ध्यन्तराद् व्यवच्छेदो न बुद्धेः प्रतीयते' (पृ० ४७ पं० ११) इत्यादावपि, यत एव हि स्वरूपोत्पादनमात्रादन्यमंशं सा न बिभर्ति तत एव स्वभावव्यवस्थितत्वाद् बुद्धेर्बुद्ध्यन्तराद् व्यवच्छेदः प्रतीयते, अन्यथाऽन्यस्वरूपं बिभ्रती कथं ततो व्यवच्छिन्ना प्रतीयते ?

तथा यह जो कहते हैं – 'अर्थनिरपेक्ष अपोह को शब्दार्थ बताना अयुक्त है' – इस के लिये हमें यह कहना होगा कि जिस विकल्प को परम्परया भी वस्तु के साथ सम्बन्ध रहता है वह विकल्प भ्रान्त होने पर भी *मणिप्रभा में भ्रान्त मणिबुद्धि की तरह अर्थसापेक्ष ही होता है, निरपेक्ष नहीं होता । इसलिये अर्थनिरपेक्षता असिद्ध है ।

यह जो कहा है – 'बुद्धिरूप वस्तु ही वाच्य है, अपोह नहीं' इत्यादि (पृ० ४७ पं० १८) – वहाँ कहना होगा कि, यद्यपि वह वाच्यबुद्धि वस्तुरूप ही है फिर भी बाह्यार्थरूप से तो वह वस्तुरूप नहीं है, अन्यबुद्धिरूप से भी वस्तुरूप नहीं है, यह पहले ही स्पष्ट किया है । तात्पर्य यह है कि वाच्य वस्तुरूप बुद्धि अन्यबुद्धिरूप या बाह्यार्थरूप से अवस्तु यानी अपोहात्मक होने से यह जो कहा था कि 'एक बुद्धि में अन्य का अपोह ज्ञात नहीं होता' यह बात असिद्ध है, क्योंकि वह भी साक्षात् नहीं किन्तु सामर्थ्य से तो ज्ञात होता ही है यह पहले कह दिया है ।

★ प्रतिभात्मक पदार्थ अपोहरूप भी है ★

यह जो कहा था – (पृ० ४७ पं० २३) 'बाह्यार्थ न होने पर भी वाक्यार्थ की तरह पदार्थ भी प्रतिभारूप प्रगट होता है न कि अपोहरूप ।' यह भी बिना समझे कहा है । कारण, हम वाक्यार्थरूप से प्रतिभा को दिखाते हैं वह पूर्ववर्णित प्रतिबिम्बात्मक अपोहरूप ही है और इसी तरह पद से भी प्रतिबिम्ब का उदय होता है और वही उस पद का वाच्य पदार्थ होता है जो कि पूर्ववर्णित रीति से अपोहरूप ही है, सिर्फ वाक्यार्थ ही मानते हैं ऐसा नहीं है इसलिये अब कोई विवाद नहीं रहता । जिस से कि हमें उपालम्भ दिया जा सके ।

यह जो कहा था (पृ० ४७ पं० २७) 'एक बुद्धि अन्य बुद्धि से व्यावृत्त होने पर भी व्यावृत्ति उपलब्ध नहीं होती' – यहाँ भी कहना होगा कि अपने स्वरूप की उत्पत्ति के अलावा अन्य किसी भी अंश = स्वरूप को जब वह बुद्धि धारण नहीं करती है, तो वह [illegible] के [illegible] से होने से वह बुद्धि जब [illegible] होगी तब उस के साथ उस से [illegible] भी [illegible] होगा । [illegible] है ।

---

*. [illegible]
[illegible] ।

'भिन्नसामान्यवचना' (पृ० ४८ पं० ३) इत्यादावपि यथैव ह्यपोहस्य निःस्वभावत्वादरूपस्य परस्परतो भेदो नास्तीत्युच्यते तथैवाऽभेदोऽपि इति कथमभिन्नार्थाभावे पर्यायत्वाऽऽसञ्जनं क्रियते ? अभेदो ह्येकरूपत्वम् तच्च नीरूपेष्वेकरूपत्वं नास्तीति न पर्यायता ।

स्यादेतत् 'यदि नाम नीरूपेष्वेकरूपत्वं भावो(?वतो) नास्ति तथापि काल्पनिकस्य तस्य भावात् पर्यायतासञ्जनं युक्तमेव' नन्वेवं पर्यायाऽपर्यायव्यवस्था शब्दानां कथं युक्ता ? उक्तं च – (त.सं. १०३१-३२) "रूपाभावेऽपि चैकत्वं कल्पनानिर्मितं यथा । विभेदोऽपि तथैवेति कुतः पर्यायता ततः ?॥

भावतस्तु न पर्याया न(ना)पर्याय(या)श्च वाचकाः । न ह्येकं वाच्यमेतेपामनेकं चेति वर्णितम् ॥"

यदि परमार्थतो भिन्नमभिन्नं वा किञ्चिद् वाच्यं वस्तु शब्दानां स्यात् तदा पर्यायाऽपर्यायता भवेत् यावता – (१९-७) 'स्वलक्षणं जातिस्तद्योगो जातिमांस्तथा' (त० सं० ८७०) इत्यादिना वर्णितम् – यथैषां न किञ्चिद् वाच्यमस्तीति । पर्यायादिव्यवस्था तु अन्तरेणाऽपि सामान्यम् सामान्यादिशब्दत्वस्य व्यवस्थापनात् । तस्य चेदं निबन्धनं यद् बहूनामेकार्थक्रियाकारित्वम् प्रकृत्या केचिद् भावा बहवोऽप्येकार्थक्रियाकारिणो भवन्ति, तेपामेकार्थक्रियासामर्थ्यप्रतिपादनाय व्यवहर्तृभिर्लाघवार्थमेकरूपाध्यारोपेणैका श्रुतिर्निवेश्यते यथा बहुषु रूपादिषु मधूदकाहरणलक्षणैकार्थक्रियासमर्थेषु 'घटः' इत्येका श्रुतिर्निवेश्यते ।

तथा, यह जो कहा था – 'पृथक् पृथक् सामान्यवाची 'गो' आदि शब्द और विशेषवाची शावलेयादि शब्द सभी का अर्थ अपोह होने पर सामान्य विशेषवाची शब्द एक-दूसरे के पर्यायवाची बन जायेंगे'....इत्यादि – यहाँ यह कहना है कि जब स्वभावहीन होने से अपोहों में परस्पर भेद का निषेध किया जाता है तो उसी तरह स्वभावरहित होने के कारण उनमें अभेद का भी निषेध क्यों नहीं होगा ? जब इस तरह अभिन्न अर्थ भी नहीं है तो फिर पर्यायवाची बन जाने की आपत्ति कैसे हो सकती है ?! अभेद का मतलब है एकरूपता । निःस्वरूप अर्थ में एकरूपता नहीं है इसलिये पर्यायता भी नहीं हो सकती ।

★ सामान्य के विना भी पर्यायादिव्यवस्था ★

आशंका : हालाँ कि निःस्वरूप अपोहों में भावात्मक यानी वास्तविकरूपता नहीं है फिर भी आप काल्पनिक एकरूपता को मानते हैं इसलिये हम पर्यायवाचिता का प्रसंजन करते हैं वह युक्त है ।

उत्तर : जब आप काल्पनिक एकरूपता पर पर्यायता का प्रसञ्जन करेंगे तो फिर पर्यायता-अपर्यायता की कोई नियत व्यवस्था कैसे घटेगी ? **तत्त्वसंग्रह** में कहा है कि – "स्वरूप के विना भी जैसे एकत्व, कल्पना से स्वीकृत है तो कल्पना से ही विभेद भी स्वीकृत है तो पर्यायता कैसे आयेगी ? ॥ परमार्थ से तो कहा जाता है कि वाचकध्वनि न पर्याय है न अपर्याय है, एवं उनके वाच्य भी न एक हैं न अनेक हैं ॥" —

इसी कथन को उस की व्याख्या में स्पष्ट करते हुए यह कहा है कि पारमार्थिकरूप से भिन्न या अभिन्न ऐसी कोई शब्दों की वाच्य वस्तु होती तब तो वाचकध्वनियों में पर्यायता-अपर्यायता भी वास्तव में हो सकती थी । किन्तु पहले ही कह आये हैं कि स्वलक्षण, जाति, जाति का सम्बन्ध या जातिमान् इन में से कोई भी शब्दवाच्य नहीं है ।

तब लोकप्रसिद्ध पर्यायादि व्यवस्था कैसे होगी ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि सामान्य के न होने पर

कथं पुनरेकेनानुगामिना विना बहुष्वेका श्रुतिर्नियोक्तुं शक्या ? इति न वाच्यम्, इच्छाधीनप्रतिबद्धत्वात् शब्दानामर्थप्रतिनियमस्य । तथाहि – चक्षूरूपाऽऽलोक-मनस्कारेषु रूपविज्ञानैकफलेषु यदि कश्चिद् विनाप्येकेनानुगामिना सामान्येनेच्छावशादेकां श्रुतिं निवेदयेत् तत् किं तस्य कश्चित् प्रतिरोद्धा भवेत् ? न हि तेषु लोचनादिष्वेकं चक्षुर्विज्ञानजनकत्वं सामान्यमस्ति यतः सामान्य-समवाय-विशेषा अपि भवद्भिः चक्षुर्ज्ञानजनका अभ्युपगम्यन्ते, न च तेषु सामान्यसमवायोऽस्ति निःसामान्यत्वात् सामान्यस्य, समवायस्य च द्वितीयसमवायाभावात् ।

न च घटादिकार्यस्योदकाहरणादेस्तज्ज्ञानस्य च स्वलक्षणरूपत्वेन भिन्नत्वात् कथमेककार्यकारि-

---

भी यह शब्द सामान्यवाचक है ऐसी व्यवस्था का निमित्त यह है – अनेक वस्तु का एक–अर्थक्रिया–कारित्व । स्वभाव से ही कुछ पदार्थों की अर्थक्रिया एकसी होती है । व्यवहारी लोग उन का एक–अर्थक्रिया–कारित्व दिखाने में लाघव करने के लिये एकरूपता का अध्यारोप कर के एक शब्द को नियत करते हैं । उदा० रूप-रस-मिट्टी-आकार आदि अनेक वस्तुसमूह मधु-आनयन या जलानयन आदि एक अर्थक्रिया मिल कर करते हैं तो उनमें घटत्व का अध्यारोप कर के 'घट' शब्द से उन का व्यवहार करते हैं ।

प्रश्न : जब उन में कोई वास्तविक एक अनुगत घटत्वादि है ही नहीं तो एक शब्द को नियत कैसे कर सकते हैं ?

उत्तर : ऐसा पूछने की जरूर नहीं है । स्वयं देखिये – शब्दों का अर्थों के साथ प्रतिनियत भाव इच्छाधीन ही होता है । जैसे चक्षु, रूप, प्रकाश और मन आदि एक ही रूपविज्ञान को उत्पन्न करते हैं, यह देख कर उन में कोई सामान्य न होने पर भी स्वतन्त्र इच्छा से कोई उन के लिये एक ही शब्द का प्रयोग करे तो क्या कोई उसे रोक सकता है ? जानते ही हैं कि लोचन आदि में कोई एक चाक्षुषज्ञानजनकत्व सामान्य नहीं है । आपके मत से सामान्य, समवाय (संनिकर्ष) और विशेष ये सब चाक्षुषज्ञानजनक माने जाते हैं; उन में किसी एक सामान्य का समवाय तो होता नहीं है । कारण, सामान्य में सामान्य अनवस्था के कारण नहीं माना जाता और समवाय का दूसरा समवाय भी नहीं माना जाता ।

★ घटादिस्वलक्षण में एककार्यकारित्व असिद्ध नहीं ★

प्रश्न : घटादि को एककार्यकारी कैसे कह सकते हैं ? जब कि उन के कार्य जलानयन या तद्विषयक ज्ञान तो स्वलक्षणरूप होने से प्रतिक्षण एक दूसरे से सर्वथा भिन्न होते हैं ?

उत्तर : ऐसा मत पूछीये । कारण, यह ठीक है कि स्वलक्षण का भेद होने से तद्रूप कार्य भी भिन्न भिन्न होता है, फिर भी जो ज्ञानरूप कार्य है वह प्रतिक्षण पृथक् पृथक् होने पर भी 'एक ही अर्थ को देख रहा हूँ' ऐसे एकार्थाध्यवसायि परामर्शप्रत्यय का हेतु बनता है इसलिये उनको एक माना जा सकता है; एवं एकार्थाध्यवसायि प्रत्यय के हेतु होने वाले घटादि अर्थों को भी अभिन्न कहा जाता है । यदि ऐसा कहें कि "...जो यह परामर्श प्रत्यय है वह भी स्वलक्षणरूप होने से दूसरे प्रत्ययों से सर्वथा भिन्न ही होता है इस लिये उस में एकत्व असिद्ध है । यदि उसमें एकत्व दिखाने के लिये अन्य अन्य एकार्थाध्यवसायि परामर्शप्रत्ययों का आधार लिया जायेगा तो अनवस्था दोष लगेगा । इसलिये ज्ञानरूप कार्य भी एक सिद्ध न होने से कहीं भी अनेकों में एक शब्द को नियत करने की बात संगत नहीं हो सकती ।" ... तो यह ठीक नहीं है । कारण,

त्वम् ? इति वक्तव्यम्, यतो यद्यपि स्वलक्षणभेदात् तत्कार्यं भिद्यते तथापि ज्ञानाख्यं तावत् कार्यमेकार्थाध्यवसायिपरामर्शप्रत्ययहेतुत्वादेकम्, तज्ज्ञानहेतुत्वाच्चार्था घटादयोऽभेदिन इत्युच्यन्ते । न च योऽसौ परामर्शप्रत्ययस्तस्यापि स्वलक्षणरूपतया भिद्यमानत्वादेकत्वाऽसिद्धेरपरापरैकाकारपरामर्शप्रत्ययकार्यानुसरणतोऽनवस्थाप्रसङ्गतो ने(नै)ककार्यतया क्वचिदेकश्रुतिनिवेशो बहुषु सिद्धिमुपगच्छतीति वाच्यम्, यतो न परामर्शप्रत्ययस्यैककार्यकारितयैकत्वमुच्यते, किं तर्हि ? एकाध्यवसायितया स्वयमेव परामर्शप्रत्ययानामेकत्वसिद्धेर्नानवस्थाद्वारेणैकश्रुतिनिवेशाभावः, अत एकाकारपरामर्शहेतुत्वाद् ज्ञानाख्यं कार्यमेकम्, तद्धेतुत्वाद् घटादय एकत्वव्यपदेशभाजः । तेन, विनापि वस्तुभूतं सामान्यं, सामान्यवचना घटादयः सिद्धिमासादयन्ति ।

तथा, कश्चिदेकोऽपि प्रकृत्यैव सामग्र्यन्तरान्तःपातवशादनेकार्थक्रियाकारी भवति व्यतिरेकेणापि वस्तुभूतसामान्यधर्मभेदम् । तत्रातत्कार्यपदार्थभेदभूयस्त्वात् अनेकश्रुतिसमावेशः अनेकधर्मसमारोपात् । यथा स्वदेशे परस्योत्पत्तिप्रतिबन्धकारित्वाद् रूपं सप्रतिघम् – सह निदर्शनेन चक्षुर्ज्ञानजनकत्वेन वर्त्तते इति सनिदर्शनं च तदेवोच्यते, यथा वा शब्द एकोऽपि प्रयत्नाऽनन्तरज्ञानफलतया 'प्रयत्नाऽनन्तरः' इत्युच्यते, श्रोत्रज्ञानफलत्वाच्च श्रावणः – 'श्रुतिः श्रवणं श्रोतृ(त्र)ज्ञानम् तत्प्रतिभासतया तत्र भवः श्रावणः,

---

परामर्शप्रत्ययों का एकत्व एककार्य-कारिता के आधार पर हम नहीं दिखाते । तो कैसे दिखाते हैं ? सभी परामर्श प्रत्यय एकार्थाध्यवसायि होते हैं – इसी से स्वयमेव उसमें एकत्व सिद्ध होता है । इस लिये अनवस्था दोष दिखा कर एक शब्दप्रयोग को नियत करने की बात असंगत नहीं, संगत ही है । तात्पर्य यह है कि एकाकार परामर्शप्रत्यय का हेतु होने वाला ज्ञानरूप घटादिजन्य कार्य एक कहा जाता है । तथा, वैसे एक कार्य करनेवाले घटादि अर्थों में भी एकत्व का व्यवहार होता है । इस प्रकार, वस्तुभूत सामान्य न मानने पर भी सामान्यवाची घटादिशब्दों की संगति-व्यवस्था सिद्ध होती है ।

★ सामान्यभेद विना भी विविध अर्थक्रिया ★

तदुपरांत, ऐसा भी होता है कि व्यक्ति एक हो फिर भी स्वभावतः भिन्न भिन्न कार्यसामग्री में कालभेद से जुट जाने पर अनेक विविध अर्थक्रिया करने लगता है । हालाँ कि उस में भिन्न भिन्न कार्य के प्रयोजक कोई वास्तविक सामान्यभेद होता नहीं है फिर भी स्वकार्य से भिन्न अतत्कार्य(=अस्वकार्य)भूत पदार्थ के भेद यानी व्यावृत्ति अनेक होने से उस एक व्यक्ति में अनेक धर्मों के समारोप होने के कारण, एक ही व्यक्ति में अनेक शब्दों का निवेश किया जाता है । देखिये – एक ही रूप को सप्रतिघ भी कहा जाता है और सनिदर्शन भी कहा जाता है । सप्रतिघ इसलिये कि वह अपने उपादानदेश में दूसरे रूप की उत्पत्ति का अवरोध करता है । सनिदर्शन (यानी निदर्शनवाला) इसलिये कि वह चाक्षुषज्ञानरूप निदर्शन का जन्मदाता है । अथवा शब्द का उदाहरण देखिये – शब्दज्ञान से शब्दोत्पादक प्रयत्न होता है तो उस प्रयत्न से शब्दज्ञान के फलरूप शब्द का जन्म होता है इसलिये शब्द को प्रयत्नानन्तर (=प्रयत्नजन्य) कहा जाता है । उसी शब्द को श्रावण भी कहा जाता है । 'श्रावण' के दो अर्थ संभवित है - १. श्रुति-श्रवण या श्रोत्रज्ञान ये सब एकार्थक हैं, श्रवण में प्रतिभासित होने के कारण तद्भव शब्द को 'श्रावण' कह सकते हैं, २ अथवा श्रवण (= श्रोत्रज्ञान) उस का फल है इसलिये भी शब्द को श्रावण कह सकते हैं । इस प्रकार अतत्कार्यभेद की बहुलता के कारण एक

यद्वा श्रवणेन गृह्यत इति श्रावणः' – एवमतत्कार्यभेदेनैकस्मिन्नप्यनेका श्रुतिर्निविश्यमानाऽविरुद्धा । अतत्कारणभेदेनापि क्वचित् तन्निवेशः, यथा भ्रामरं मधु क्षुद्रादिकृतमधुनो व्यावृत्त्या । तथा तत्कार्य-कारणपदार्थव्यवच्छेदमात्रप्रतिपादनेच्छया अन्तरेणापि सामान्यं श्रुतेर्भेदेन निवेशनं सम्भवति –

अश्रावणं यथा रूपं विद्युद्वाऽयत्नजा यथा ॥ [त. सं. का. १०४२]

इत्यादिना प्रभेदेन विभिन्नार्थनिबन्धनाः । व्यावृत्तयः प्रकल्प्यन्ते तन्निष्ठाः(ष्ठाः) श्रुतयस्तथा ॥ १०४३ ॥ यथासंकेतमेवातोऽसंकीर्णार्थाभिधायिनः । शब्दा विवेकतो वृत्ताः पर्याया न भवन्ति न (नः) ॥ १०४४) ॥

श्रोत्रज्ञानफलशब्दव्यवच्छेदेन 'अश्रावणं रूपम्' इत्युच्यते, प्रयत्नकारणघटादिपदार्थव्यवच्छेदेन 'विद्यु-दप्रयत्नजा' इत्यभिधीयते । अन्तरेणाऽपि सामान्यादिकं वस्तुभूतम् व्यावृत्तिकृतमेव शब्दानां भेदेन निवेशनं सिद्धम्, पर्यायत्वप्रसंगाभावश्च विभिन्नार्थनिबन्धनव्यावृत्तिनिष्ट(ष्ठ)त्वे श्रुतीनां सिद्धः ।

स्यादेतत् – मा भूत पर्यायत्वमेषाम् अर्थभेदस्य कल्पितत्वात्, सामान्यविशेषवाचित्वव्यवस्था तु विना सामान्य-विशेषाभ्यां कथमेषाम् ? उच्यते – (तत्त्वसं. का. १०४५)

ही व्यक्ति में अनेक शब्दों का निवेश अविरुद्ध है । अतत्कार्यभेद की तरह अतत्कारणभेद की बहुलता से भी एक व्यक्ति में अनेक शब्दों का निवेश होता है, जैसे – मध के अपने अनेक कारण है, भ्रमर, मधमक्खी, कुन्ती (आदि क्षुद्रजन्तु) । ये सब परस्पर भिन्न होने से उन सभी में भिन्न भिन्न अतत्कारणव्यावृत्ति रहती है इस लिये मध के लिये भ्रामर, माक्षिक, क्षौद्र आदि अनेक शब्दों का प्रयोग होता है । कभी कभी तो सामान्य के बिना भी सिर्फ अतत्कार्यपदार्थव्यावृत्ति मात्र के या अतत्कारणपदार्थव्यावृत्तिमात्र के प्रतिपादन की इच्छा से ही नञ्गर्भित शब्द का प्रयोग किया जाता है । जैसे - "रूप में श्रोत्रज्ञानफलकशब्द की व्यावृत्तिमात्र दिखाने के लिये रूप को 'अश्रावण' कहा जाता है । अथवा प्रयत्नकारणक घटादि की व्यावृत्तिमात्र को दिखाने के लिये बिजली को 'अयत्नजा' कहा जाता है ।"

"इस प्रकार व्यावृत्तअर्थमूलक भिन्नता जैसे व्यावृत्तिओं में प्रकल्पित है वैसे ही व्यावृत्तार्थ में निवेशित शब्दों में भी भिन्नता हो सकती है" व्यावृत्तिभेद के कारण संकेत के अनुसार शब्द भी पृथक् पृथक् असंकीर्ण अर्थों का अभिधान करने में सविवेक हैं इसलिये हमारे पक्ष में पर्यायवाचिता के प्रसंग को कोई अवकाश नहीं है ।"

सारांश यह है कि श्रोत्रज्ञानफलकशब्द का निषेध करने के लिये रूप को 'अश्रावण' कहा जाता है । प्रयत्नमूलक घटादि पदार्थ के निषेधार्थ बीजली को 'अप्रयत्नजा' कहते हैं । इस प्रकार पारमार्थिक सामान्य के न होने पर भी व्यावृत्ति के जरिये शब्दों का भिन्न भिन्न अर्थ में निवेश होता है । तथा, व्यावृत्त्यर्थमूलक व्यावृत्तियों में अभिन्न होने के कारण शब्दों में – यानी गवादिशब्द और शाबलेयादिशब्दों में पर्यायवाचिता का प्रसङ्ग अनिष्ट है ।

प्रश्न : पर्यायवाचिता का प्रसंग भले न हो, क्योंकि आपने अर्थभेद को कल्पित मान लिया है, किन्तु 'गो' आदि शब्द सामान्यवाचक है और शाबलेयादिशब्द विशेषवाचक है यह व्यवस्था सामान्य और विशेष के बिना कैसे होगी ?

वह्वल्पविषयत्वेन तत्संकेतानुसारतः* । सामान्य-भेदवाच्यत्वमप्येषां न विरुध्यते ॥

वृक्षशब्दो हि सर्वेष्वेव धव-खदिर-पलाशादिष्ववृक्षव्यवच्छेदमात्रानुस्यूतं प्रतिविम्बकं जनयति, तेनास्य बहुविषयत्वात् सामान्यं वाच्यमुच्यते, धवादिशब्दस्य तु खदिरादिव्यावृत्तकतिपयपादपाध्यवसायिविकल्पोत्पादकत्वाद् विशेषो वाच्यं उच्यते ।

यदुक्तम् 'अपोह्यभेदेन' (पृ० ५२ पं० ६) इत्यादि, तत्र – [तत्त्वसंग्रहे १०४६ तः १०४९]

ताश्च व्यावृत्तयोऽर्थानां कल्पनाशिल्पिनिर्मिताः । नापोह्याधारभेदेन भिद्यन्ते परमार्थतः ॥

तासां हि वाह्यरूपत्वं कल्पितं न तु वास्तवम् । भेदाभेदौ च तत्त्वेन वस्तुन्येव व्यवस्थितौ ॥

स्वबीजानेकविश्लिष्टवस्तुसङ्केतशक्तितः । विकल्पास्तु विभिद्यन्ते तद्रूपाध्यवसायिनः ॥

नैकात्मतां प्रपद्यन्ते न भिद्यन्ते च खण्डशः । स्वलक्षणात्मका अर्था विकल्पः प्लवते त्वसौ ॥

अस्य सर्वस्याप्ययमभिप्रायः – यदि हि पारमार्थिकोऽपोह्यभेदेनाधारभेदेन वाऽपोहस्य भेदोऽभीष्टः स्यात् तदैतद् दूषणं स्यात्, यावता कल्पनया सजातीय-विजातीयपदार्थभेदैरिव व्यावृत्तयो भिन्नाः कल्प्यन्ते न परमार्थतः । ततः ताश्च कल्पनावशादव्यतिरिक्ता• इव वस्तुनो भासन्ते न परमार्थतः । परमार्थतस्तु विकल्पा एव भिद्यन्ते अनादिविकल्पवासनाऽन्यविविक्तवस्तुसंकेतादेर्निमित्ताद् व्यावृत्तवस्त्वध्यवसायिनः, न

उत्तर : इस के लिये भी हमें सामान्य को मानने की जरूरत नहीं है । कारण, ''बहुत्वविषयक और अल्पत्वविषयक संकेत के अनुसार अमुक शब्द का वाच्य सामान्य और अमुक शब्द का वाच्य विशेष है यह व्यवस्था भी घट सकती है ।'' जैसे –

'वृक्ष' शब्द धव-खदिर-पलाशादि सभी वृक्षों में अवृक्षव्यावृत्तिसंश्लिष्ट प्रतिविम्ब को पैदा करता है, अतः बहुविषयक होने से, उस का वाच्य 'सामान्य' कहा जायेगा । 'धव' इत्यादिशब्द खदिरादि से भिन्न कुछ ही वृक्षों को विषय करने वाले विकल्प के उत्पादक होने से, उस का वाच्य 'विशेष' कहा जायगा ।

★ भेद या अभेद व्यावृत्तियों में नहीं, विकल्प में ★

पहले जो यह कहा था – 'वस्तुभूत सामान्य माने विना अपोह्यभेद से अपोहों का भेद सिद्ध नहीं हो सकता' – उस के उपर यह कहते हैं कि – (तत्त्वसंग्रह की ४ कारिका के बाद उन सभी का अभिप्राय भी टीकाकार ने उद्धृत किया है – इस लिये नीचे दोनों का पृथक् पृथक् नहीं, मिलितरूप से ही विवरण लिखा है–)

यदि हम अपोह्यभेद से या आधारभेद से अपोह के भेद को पारमार्थिक मानते तव तो वह दूषण लग सकता । किन्तु हम तो वैसे कल्पना से जैसे पदार्थों में सजातीयों के और विजातीयों के भेद की कल्पना करते हैं – वैसे कल्पना से ही व्यावृत्तियों का भी भेद मानते हैं, पारमार्थिक भेद नहीं मानते । तथा, कल्पनावश ही ये व्यावृत्तियाँ 'वाह्य वस्तु से अपृथक् हो' ऐसा भास होता है, वास्तव में ऐसा नहीं है क्योंकि परमार्थ से तो भेद या अभेद वस्तु में ही होते हैं अवस्तु में नहीं ।

व्यावृत्तियों का भेद तो काल्पनिक है । वास्तव में तो बीजभूत अनादिकालीन तथाविधविकल्पवासना, अन्य

*. 'तानुमानतः' इति मुद्रिते तत्त्वसंग्रहे । •. कल्पनावशाद् व्यतिरिक्ता - इति पाठः तत्त्वसंग्रहे ।

त्वर्थाः । तथाहि – वृक्षत्वादिसामान्यरूपेण नैकात्मतां धवादयः प्रतिपद्यन्ते, नापि क्षणिकाऽनात्मकादि-धर्मभेदेन खण्डशो भिद्यन्ते, केवलं विकल्प एव तथा प्लवते, न त्वर्थः । यथोक्तम् – [प्र.वा. ३/८६]

"संसृज्यन्ते न भिद्यन्ते स्वतोऽर्थाः पारमार्थिकाः । रूपमेकमनेकं वा तेषु बुद्धेरुपप्लवः ॥"

यच्चोक्तम् - 'न चाऽप्रसिद्धसारूप्य..' (पृ० ५० पं० ३) इत्यादि, तत्र – [तत्त्वसंग्रहे १०४९]

"एकधर्मान्वयाऽसत्त्वेऽप्यपोह्याऽपोह्यगोचराः । वैलक्षण्येन गम्यन्तेऽभिन्नप्रत्यवमर्शकाः ॥"

अपोह्याश्च अपोह्यगोचराश्चेति विग्रहः । तत्रापोह्या अश्वादयः गोशब्दस्य तदपोहेन प्रवृत्तत्वात्, अपोह्यगोचराः शाबलेयादयः तद्विषयत्वाद् अगोऽपोहस्य । तेन यद्यप्येकस्य सामान्यरूपस्यान्वयो नास्ति तथाप्यभिन्नप्रत्यवमर्शहेतवो ये ते प्रसिद्धसारूप्या भवन्ति, ये तु विपरीतास्ते विपरीता इति । स्यादेतद् – तस्यैवैकप्रत्यवमर्शस्य हेतवोऽन्तरेण सामान्यमेकं कथमर्था भिन्नाः सिद्ध्यन्ति ? उच्यते – [तत्त्वसंग्रहे - १०५०]

"एकप्रत्यवमर्शे हि केचिदेवोपयोगिनः । प्रकृत्या भेदवन्तोऽपि नान्य इत्युपपादितम् ॥"

अनेक पदार्थों से स्वतःव्यावृत्त वस्तु और उस का संकेत – इन के प्रभाव से व्यावृत्तियों में भेदाध्यवसायि विकल्प ही भिन्न भिन्न होते हैं न कि अर्थ । देखिये – वृक्षत्वादि (काल्पनिक) सामान्यरूप से धवादि कोई एकात्मभाव को प्राप्त नहीं हो जाते; तथा क्षणिकत्व, अनात्मकत्व आदि धर्मों के भेद से कोई एक धवादि खण्ड खण्ड भिन्न नहीं हो जाते हैं । सिर्फ तत्तदध्यवसायि विकल्प ही एक या अनेक रूप से उत्थित होता है । जैसे कि प्रमाणवार्त्तिक में कहा है कि – "पारमार्थिक अर्थ न तो अपने रूप से संसृष्ट होता है, न तो भिन्न रहता है, फिर भी उनमें एक गोत्वादि अनुगत धर्म का या कृतकत्वादि अनेक विशेषों का व्यवहार चलता है वह सब अनादिकालीनवासना से उत्थित विकल्पबुद्धि का उपप्लव है" ।

★ सामान्य के विना भी अभिन्नप्रत्यवमर्श से सारूप्य ★

पहले जो यह कहा था कि "गोसमूह में सारूप्य यानी एक सामान्यधर्म का अस्वीकार करने पर गोवर्ग ही अश्वादिव्यावृत्ति का आश्रयरूप कैसे सिद्ध हो सकेगा ?" इस के उत्तर में अब कहते हैं कि – "एकधर्म का अन्वय न होने पर भी अपोह्य और अपोह्यगोचर अभिन्नप्रत्यवमर्श के हेतु होने पर विलक्षण रूप में ज्ञात हो सकते हैं ।" – यहाँ अपोह्य का अर्थ है अश्वादि क्योंकि उन का अपोह करते हुए गोशब्द प्रवृत्त होता है; और अपोह्यगोचर का मतलब है शाबलेयादि गोवर्ग क्योंकि अगोऽपोह का वही विषय यानी आश्रय है । कथन का तात्पर्य यह है कि समस्त गोवर्ग में यद्यपि किसी एक गोत्वादि सामान्यधर्म का अन्वय हम नहीं मानते हैं, फिर भी जिस जिस पिण्ड से अभिन्नप्रत्यवमर्श यानी एक – समान विकल्प उत्पन्न होता है उन पिण्डों में (गोवर्ग में) सारूप्य – सामान्य का व्यवहार होगा और जिस पिण्ड में वैसा समान विकल्प नहीं उत्पन्न होता उनमें (अश्वादि में) वैलक्षण्य का व्यवहार होगा । इस तरह एक धर्मान्वय के अभाव में भी समानविकल्पमूलक सारूप्यव्यवहार हो सकता है ।

प्रश्न : एक सामान्यधर्म के अभाव में सर्वथा अन्योन्य भिन्न [illegible] ही गोपिण्डरूप अर्थ उस एक (समान) विकल्प के ही हेतुरूप में भी कैसे सिद्ध होंगे ?

उत्तर : "हमने यह पहले सिद्ध किया है कि सभी अर्थ अन्योन्य भिन्न होते हुए भी स्वभाव से ही

प्रतिपादितमेतत् सामान्यपरीक्षायाम् – 'यथा धात्र्यादयोऽन्तरेणापि सामान्यमेकार्थक्रियाकारिणो भवन्ति तथैकप्रत्यवमर्शहेतवो भिन्ना अपि भावाः केचिदेव भविष्यन्ति' इति ।

'न चान्वयविनिर्मुक्ताः'.. (पृ० ५० पं० १०) इत्यादावाह – यद्यपि सामान्यं वस्तुभूतं नास्ति तथापि विजातीयव्यावृत्तस्वलक्षणमात्रेणैवान्वयः क्रियमाणो न विरुध्यते ।

यस्मिन्नधूमतो भिन्नं विद्यते हि स्वलक्षणम् । तस्मिन्ननग्नितोऽप्यस्ति परावृत्तं स्वलक्षणम् ॥ यथा महानसे वेह विद्यतेऽधूमभेदि तत् । तस्मादनग्नितो भिन्नं विद्यतेऽत्र स्वलक्षणम् ॥ [तत्त्वसंग्रहे-१०५२-५३]

अवयवपंचकमपि स्वलक्षणेनान्वये क्रियमाणे शक्योपदर्शनमित्येवं प्रयोगप्रदर्शनं कृतम्, इदं च कार्यहेतावुदाहरणम् । स्वभावहेतावपि – यद् असतो व्यावृत्तं स्वलक्षणं तत् सर्वं स्थिरादपि व्यावृत्तम् यथा बुद्ध्यादि, तथा चेदं शब्दादि स्वलक्षणमसद्रूपं न भवतीति । अमुना न्यायेन विशेषाऽसंस्पर्शात् स्वलक्षणेनाऽन्वयः क्रियमाणो न विरुध्यते । यदि तर्हि स्वलक्षणेनैवान्वयः कथं सामान्यलक्षणविषयम-

---

अमुक ही (गोवर्गादिरूप) अर्थ समानविकल्प के उद्भव के हेतु होते हैं ।'' सामान्यपरीक्षा प्रकरण में यह कह दिया गया है कि जैसे धात्री (आँवला) आदि औषधों में एक सामान्यधर्म न होने पर भी वे रोगनाश आदि समानार्थक्रिया करते हैं, सब नहीं करते । उसी तरह सभी पदार्थ भिन्न होते हुये भी कुछ ही पदार्थ स्वभावतः ऐसे होते हैं जो समान विकल्प उत्पन्न करते हैं ।

★ स्वलक्षण से ही अन्वयकार्यसम्पादन ★

पहले जो यह कहा था (पृ० ५० पं० ३१) – 'अन्वय यानी वस्तुभूत सामान्य के विना शब्द और लिंग की प्रवृत्ति दुर्घट है' इस के सामने अब यह बात है कि, हालाँकि वस्तुभूत सामान्य हम नहीं मानते हैं, फिर भी विजातीयव्यावृत्तिविशिष्ट स्वलक्षणमात्र से अन्वय किया जाय तो कोई विरोध नहीं है । जैसे कि कहा है –

''जिस (पक्ष) में अधूमव्यावृत्तिवाला स्वलक्षण (यानी धूम) होता है उस में अनग्निव्यावृत्तिवाला स्वलक्षण भी रहता है ॥ जैसे कि पाकशाला में अधूमभेदवाला स्वलक्षण रहता है तो अनग्नि भिन्न स्वलक्षण भी वहाँ रहता ही है ।''

कहने का तात्पर्य यह है कि स्वलक्षणों से ही अतद्व्यावृत्तरूप से अन्वय किया जा सकता है । पहले यहाँ व्याप्ति का निरूपण कर के पाकशाला का दृष्टान्त दिया गया है यह एक संक्षिप्त अनुमानप्रयोग का ही निदर्शन है जिस में व्याप्तिसहित उदाहरणरूप अवयवप्रयोग किया गया है । और इस तरह पाँचो अवयवों का प्रयोग यहाँ किया जा सकता है । धूमस्वलक्षण अग्नि का कार्य है जो यहाँ हेतुरूप में निर्दिष्ट है – अतः यह कार्यहेतुक अनुमान हुआ । स्वभावहेतुक अनुमानप्रयोग भी हो सकता है । जैसे ''जो असत् से व्यावृत्त स्वलक्षण होता है वह सब स्थिर से भी व्यावृत्त (यानी क्षणिक) होता है । उदा० बुद्धि आदि स्वलक्षण असद्व्यावृत्त है तो स्थिरव्यावृत्त (क्षणिक) भी है । उसी तरह शब्दादि स्वलक्षण भी असद्व्यावृत्त होते हैं इसलिये स्थिरव्यावृत्त भी होने चाहिये । इन प्रयोगो में विशेष को छुए विना भी (एवं सामान्य के स्वीकार विना भी) सिर्फ व्यावृत्तिमुख स्वलक्षण से अन्वय का किया जाना अविरुद्ध है ।

नुमानम् ? तदेव हि स्वलक्षणमविवक्षितभेदं सामान्यलक्षणमित्युक्तम् 'सामान्येन भेदापरामर्शेन लक्ष्यतेऽध्यवसीयते' इति कृत्वा । तदुक्तम् – [ ]

अतद्रूपपरावृत्तवस्तुमात्रप्रसाधनात् । सामान्यविषयं प्रोक्तं लिंगं भेदाऽप्रतिष्ठितेः ॥

तेन साहचर्यमपि लिङ्गशब्दयोः स्वलक्षणेनैव कथ्यते । न चाप्यदर्शनमात्रेणास्माभिर्विपक्षे लिङ्गस्याभावोऽध्यवसीयते, किं तर्हि ? अनुपलम्भविशेषादेव ।

यच्चोक्तम् 'शाबलेय....' (पृ० ५२ पं० ४) इत्यादि तत्रेदं भवान् वक्तुमर्हति – ''शाबलेयाद् बाहुलेयाश्वयोस्तुल्येऽपि भेदे किमिति तुरङ्गमपरिहारेण गोत्वं शाबलेयादौ वर्त्तते नाश्वे ?'' इति । स्यादेतत् – ''किमत्र वक्तव्यम्, गोत्वस्याभिव्यक्तौ शाबलेयादिरेव समर्थो नाश्वादिः, अतस्तत्रैव तद् वर्त्तते नान्यत्र । न चायं पर्यनुयोगो युक्तः 'कस्मात् तस्याभिव्यक्तौ शाबलेयादिरेव समर्थः ?' यतो वस्तुस्वभावप्रतिनियमोऽयम्; न हि वस्तूनां स्वभावाः पर्यनुयोगमर्हन्ति तेषां स्वहेतुपरम्पराकृतत्वात् स्वभावभेदप्रतिनियमस्य'' इति ।

प्रश्न : जब आप अनुमान में अन्वय की उपपत्ति भी स्वलक्षण से ही करते हैं तब 'अनुमान सामान्यलक्षण(सामान्य धर्म) विषयक होता है' ऐसा क्यों आप कहते हैं ?

उत्तर : विशेषरूप से जिस की विवक्षा न की जाय वैसा वही स्वलक्षण ही सामान्यलक्षण है जो अनुमान का विषय होता है । (सामान्य धर्म को उस का विषय नहीं मानते) । सामान्य का मतलब है भेद का यानी विशेषरूप का अपरामर्श । इस प्रकार 'भेद का जिस में परामर्श न हो इस ढंग से जो लक्षित – अध्यवसित हो' इस व्युत्पत्ति से हम स्वलक्षण को ही सामान्य लक्षण कहते हैं । जैसे कि कहा है –

''अतद्रूप से व्यावृत्त वस्तुमात्र (स्वलक्षण) को सिद्ध करनेवाला लिंग सामान्यविषयक कहा गया है क्योंकि वह भेद विशेष को स्पर्श भी नहीं करता ।''

लिंग और शब्द का अपने प्रतिपाद्य के साथ जो साहचर्य दिखाया जाता है वह भी अविवक्षित भेदवाले धूम और अग्नि स्वलक्षण के द्वारा ही दिखाया जाता है । हम केवल विपक्ष में न देखने मात्र से ही लिंग के अभाव का यानी विपक्षव्यावृत्ति का निश्चय नहीं कर लेते हैं किन्तु अनुपलम्भ विशेष से उस का निश्चय करते हैं । तात्पर्य यह है कि जैसे स्वलक्षण के साहचर्य दर्शन से अन्वय का निर्णय करते हैं उसी तरह व्यावृत्तिमुक्त स्वलक्षणात्मक लिंग के अनुपलम्भ से ही हम व्यतिरेक (विपक्षावृत्तित्व) का निश्चय करते हैं ।

★ गोत्व अश्व में क्यों नहीं होता ? ★

यह जो कहा था (५२-१५)– ''शाबलेयभेद तो बाहुलेय और अश्व दोनों में समान ही है । जब गोत्व सामान्य नहीं मानते तो बाहुलेय और अश्व दोनों में से किस में अगोऽपोह मानेंगे ?'' इस के उत्तर में हम भी आप से पूछते हैं कि जब शाबलेय का भेद बाहुलेय और अश्व दोनों में समान है तब गोत्वसामान्य अश्व को छोड कर शाबलेय या बाहुलेय में ही क्यों रहता है, अश्व में क्यों नहीं रहता ?

सामान्यवादी : ''अरे ! इस में क्या पूछने का ? गोत्व की अभिव्यक्ति करने में शाबलेय-बाहुलेय पिण्ड ही समर्थ होता है, अश्वादि नहीं । यही कारण है कि गोत्व शाबलेयादि में ही रहता है, अश्वादि में नहीं, क्योंकि यह तो वस्तु का स्वाभाविक नियम है । वस्तु का स्वभाव ऐसा क्यों ? ऐसा प्रश्न उचित नहीं किया जा[illegible]

नन्वेवं यथा शाबलेयादिरेव गोत्वाभिव्यक्तौ समर्थस्तथा सत्यपि भेदे सामान्यमन्तरेणापि तुल्यप्रत्यवमर्शोत्पादने शाबलेयादिरेव शक्तो न तुरङ्गम इत्यस्मत्पक्षो न विरुध्यत एव । तेन –

ताद्दक् प्रत्यवमर्शश्च विद्यते यत्र वस्तुनि । तत्राभावेऽपि गोजातेरगोपोहः प्रवर्त्तते ॥[तत्त्वसंग्रहे का १०५९]

यच्चोक्तम् 'इन्द्रियैः'....(पृ० ५२ पं० ८) इत्यादि, तदसिद्धम्, तथाहि–स्वलक्षणात्मा तावदपोह इन्द्रियैरवगम्यत एव । यश्चार्थप्रतिबिम्बात्माऽपोहः स परमार्थतो बुद्धिस्वभावत्वात् स्वसंवेदनप्रत्यक्षत एव सिद्धः । प्रसह्यात्माऽपि सामर्थ्यात् प्रतीयत एव 'न तदात्मा परात्मा' इति (पृ० ७९ पं० १) न्यायात्, अतः स्वलक्षणादिरूपमपोहं दृष्ट्वा लोकः शब्दं प्रयुङ्क्त एव न वस्तुभूतं सामान्यम्, तस्याऽसत्त्वाद् अप्रतिभासनाच्च । यदेव च दृष्ट्वा लोकेन शब्दः प्रयुज्यते तेनैव तस्य सम्बन्धोऽवगम्यते नान्येन, अतिप्रसङ्गात् ।

यच्च 'अगोशब्दाभिधेयत्वं गम्यतां च कथं पुनः' (पृ० ५३ पं० ४) इति अत्र–

''ताद्दक् प्रत्यवमर्शश्च यत्र नैवास्ति वस्तुनि । अगोशब्दाभिधेयत्वं विस्पष्टं तत्र गम्यते'' ॥(त.सं. १०६२)

क्योंकि स्वभावविशेष का नियम अपने हेतुओं की परम्परा से वैसा होता है । जैसे कि अग्नि के हेतु अवयव उष्ण होते हैं तो उस का कार्य अग्नि भी उष्ण होता है ।''

अपोहवादी : अरे तव तो हमारे पक्ष में भी कोई विरोध नहीं है । जैसे आप के मत में शाबलेयादि ही स्वभावतः गोत्व की अभिव्यक्ति में समर्थ माने जाते हैं वैसे हमारे मत में बाहुलेय और अश्व दोनों में समानरूप से शावलेयभेद रहने पर भी और सामान्य को न मानते हुये भी समान (एक) प्रत्यवमर्श (समानविकल्प) के उत्पादन में शावलेय-वाहुलेयादि ही स्वभावतः समर्थ होते हैं, अश्वादि नहीं । इसलिये कहा है कि ''तथाविध (समान) प्रत्यवमर्श जिन जिन वस्तुओं में पैदा होता है उन में गोत्व जाति न मानने पर भी अगोअपोह की प्रवृत्ति होती है ।''

★ इन्द्रियादिजन्य बुद्धि में अपोह का भान ★

पहले (पृ० ५२ पं० २६) जो यह कहा था कि इन्द्रियों से अपोह का निश्चय होता नहीं...इत्यादि, वह तो जूठा है, क्योंकि हमने जो मुख्य-गौण अपोह दिखाये हैं उन में से स्वलक्षणरूप अपोह तो इन्द्रियों से प्रत्यक्ष ज्ञात होता ही है । बुद्धिगत अर्थप्रतिबिम्बात्मक अपोह तो वास्तव में बुद्धिस्वरूप ही होने से स्वप्रकाशप्रत्यक्ष से ही ज्ञात होता है । (बौद्ध मत में ज्ञान को स्वसंविदित ही माना जाता है ।) तथा, प्रसज्यप्रतिषेधरूप अपोह 'तद्रूप वस्तु अन्यस्वरूप नहीं है' इस प्रकार अर्थतः ज्ञात होता ही है । इसीलिये लोग स्वलक्षणादि स्वरूप अपोह को इन्द्रियादि से देख कर ही शब्दप्रयोग करते हैं । 'पारमार्थिक किसी सामान्य धर्म को देख कर शब्दप्रयोग करते हैं' ऐसा नहीं है क्योंकि वह ''सामान्य असत् है और बुद्धि में भासता भी नहीं । शब्द का सम्बन्ध भी उसी के साथ मानना चाहिये जिस को देख कर लोग शब्दप्रयोग करते हो, अन्य किसी के साथ नहीं मानना चाहिये । यदि अन्य किसी के साथ शब्दसम्बन्ध मानेंगे तब तो सभी चीजों के लिये हर किसी शब्द का प्रयोग चल पडने पर व्यवहारलोप का अतिप्रसंग हो जायेगा ।

तथा, यह जो पहले पूछा था (पृ० ५३-२२) – अश्वादि गो शब्द का अभिधेय है ऐसा किस प्रमाण से मानते हैं ? इस का उत्तर यह है कि – जिस वस्तु को देखने पर भी 'यह गौ है' ऐसा विमर्श पैदा नहीं होता उस के बारे में स्पष्ट ही भान होता है कि यह गोशब्द का वाच्य नहीं है ।

यच्चोक्तम् – 'सिद्धश्चागौरपोह्येत' (पृ० ५४ पं० ६) इत्यादि, तत्र स्वत एव हि गवादयो भावा भिन्नप्रत्ययमर्शं जनयन्तो विभागेन सम्यग् निश्चिताः, तेषु व्यवहारार्थं व्यवहर्तृभिर्यथेष्टं शब्दः सिद्धः प्रयुज्यते । तथाहि – यदि भिन्नं वस्तु स्वरूपप्रतिपत्त्यर्थमन्यपदार्थग्रहणमपेक्षते तदा स्यादितरेतरदोषः यावताऽन्यग्रहणमन्तरेणैव भिन्नं वस्तु संवेद्यते, तस्मिन् भिन्नाकारप्रत्ययमर्शहेतुतया विभागेन 'गौः गौः' इति च सिद्धे यथेष्टं संकेतः क्रियत इति कथमितरेतराश्रयत्वं भवेत् ?[द्रष्टव्यम् पृ० ५४ पं० ८ मध्ये]

यच्चोक्तं नाधाराधेय......(पृ० ५४ पं० १०) इत्यादि, तत्र – न हि परमार्थतः कश्चिदपोहेन विशिष्टोऽर्थः शब्दैरभिधीयते । (तेनैव) यतः प्रतिपादितमेतत्– 'यथा न किञ्चिदपि शब्दैर्वस्तु संस्पृश्यते, क्वचिदपि समयाभावात्' इति । तथाहि – शाब्दी बुद्धिरबाह्यार्थविषयाऽपि सती स्वाकारं बाह्यार्थतयाध्यवसन्ती जायते, न परमार्थतो वस्तुस्वभावं स्पृशति यथातत्त्वमनध्यवसायात् । यद्येवम् कथमाचार्येणोक्तम् – 'नीलोत्पलादिशब्दा अर्थान्तरनिवृत्तिविशिष्टानर्थानाहुः'' [ ] इति (पृ० ५४-९)

अर्थान्तरनिवृत्त्याह विशिष्टानिति यत्पुनः। प्रोक्तं लक्षणकारेण तत्रार्थोऽयं विवक्षितः॥

अन्यान्यत्वेन ये भावा हेतुना करणेन वा । विशिष्टा भिन्नजातीयैरसंकीर्णा विनिश्चिताः ॥

यह जो कहा था (पृ० ५४-२४) – 'अगौ' व्यक्ति सिद्ध होने पर उसके अपोह से गो का भान शक्य होगा और 'अगौ' तो गोनिषेधरूप होने से गो का भान होने पर 'अगौ' का भान होगा-यह अन्योन्याश्रय दोष है'' – इस के प्रतिकार में बौद्ध कहता है कि गो का भान अगो के अपोह से होता है ऐसा नहीं है. गो आदि पदार्थ तो अपने आप ही स्वविषयक स्वतन्त्र बुद्धि को उत्पन्न करते हुए एक दूसरे से विभागरूप से अच्छी तरह ज्ञात होते हैं । ज्ञात होने के बाद व्यवहारी लोग उन के व्यवहार के लिये इच्छा के अनुसार प्रसिद्ध शब्दप्रयोग करते हैं । देखिये – एक वस्तु के अपने स्वरूप के बोध के लिये अगर अन्य वस्तु के बोध की अपेक्षा रहे तो जरूर अन्योन्याश्रय दोष लग सकता है ! किन्तु यहाँ तो अन्यवस्तुबोध के बिना ही एक भिन्न वस्तु का संवेदन होता है । संवेदन होने पर उस भिन्नाकार विमर्श के हेतुरूप में स्वतंत्ररूप से गौ ही गोरूप जब सिद्ध होती है तब उस में कोई भी संकेत इच्छानुसार किया जा सकता है । इस में अन्योन्याश्रय का गन्ध भी कहाँ है ?

★ शब्द से अपोहविशिष्ट अर्थ का अभिधान कैसे ? ★

यह जो कहा था – अभावात्मक होने से अपोह में आधाराधेयभावादि सम्बन्ध सम्भव नहीं है और विशेषण-विशेष्यभाव भी संभव नहीं है... इत्यादि....(पृ० ५५-१३) इस के सामने यह बात है कि परमार्थतः देखा जाय तो शब्दों के द्वारा कोई अपोह से विशिष्ट अर्थ का प्रतिपादन होता ही नहीं है । कारण, हम कह चुके हैं कि शब्द किसी भी अर्थ को स्पर्श तक नहीं करता क्योंकि किसी भी अर्थ में शब्द का संकेत ही असम्भव है । देखिये – शब्दजन्य बुद्धि बाह्यार्थ विषयक न होने पर भी अपने ही आकार का बाह्यार्थ के रूप में अध्यवसाय कराती हुई उत्पन्न होती है, परमार्थतः वह वस्तुस्वभाव को स्पर्श ही नहीं करती, क्योंकि वस्तु जैसा वस्तुस्वभाव वैसा होता है वैसे स्वभाव में उस का भान कर शब्दजन्य बुद्धि करती नहीं है ।

प्रश्न : जब शब्द से विशिष्ट अर्थ का प्रतिपादन मान्य नहीं है तब आचार्य ने क्यों ऐसा कहा है कि – 'नीलोत्पल' आदि शब्द अर्थान्तर-व्यावृत्ति अर्थात् अन्यापोह विशिष्ट नीलोत्पलादि अर्थों का कथन करते हैं ?'

वृक्षादीनाह तान् ध्वानस्तद्भावाध्यवसायिनः । ज्ञानस्योत्पादनादेतज्जात्यादेः प्रतिषेधनम् ॥
बुद्धौ येऽर्था विवर्त्तन्ते तानाह जननादयम् । निवृत्त्या च विशिष्टत्वमुक्तमेषामनन्तरम् ॥
[तत्त्व० सं० का० १०६७ तः १०७०]

अस्य तात्पर्यार्थः – द्विविधो ह्यर्थः – बाह्यो बुद्ध्यारूढश्च । तत्र बाह्यस्य न परमार्थतोऽभिधानं शब्दैः, केवलं तदध्यवसायिविकल्पोत्पादनादुपचारादुक्तम् 'शब्दोऽर्थानाह' इति । उपचारस्य प्रयोजनं जात्यभिधाननिराकरणमिति । अवयवार्थस्तु 'अन्यान्यत्वेन' इति अन्यस्मादन्यत्वं व्यावृत्तिः तेनान्यान्यत्वेन हेतुना करणेन वा ये वृक्षादयो भावा विशिष्टा निश्चिता अन्यतो व्यावृत्त्या निश्चिता इति यावत् । एतेन 'अर्थान्तरनिवृत्तिविशिष्टान्' इत्यत्र पदे 'निवृत्ता' (? निवृत्त्या) इति तृतीयार्थो व्याख्यातः । 'ध्वानः' इति शब्दः । यस्तु बुद्ध्यारूढोऽर्थस्तस्य मुख्यत एव शब्दैरभिधानम् । 'अयम्' इति ध्वानः । अर्थान्तरनिवृत्तिविशिष्टत्वं कथमेषां योजनीयमित्याशङ्क्य 'निवृत्त्या विशिष्टत्वमुक्तमेषामनन्तरम्' इत्युक्तम् । एषामपि बुद्धिसमारूढानामर्थानामन्यतो व्यावृत्ततया प्रतिभासनादित्यभिप्रायः ।

ननु यदि न कश्चिदेव वस्त्वंशः शब्देन प्रतिपाद्यते तत् कथमुक्तमाचार्येण – "अर्थान्तरनिवृत्त्या

उत्तर : 'लक्षणकारने जो यह कहा है कि शब्द अर्थान्तरनिवृत्ति विशिष्ट अर्थ का प्रतिपादन करता है – उस का मतलब यह है – अर्थ के दो प्रकार हैं (१) बाह्य (२) और दूसरा बुद्धि-आरूढ । शब्द से परमार्थतः बाह्यार्थ का अभिधान नहीं होता, सिर्फ बाह्यार्थअध्यवसायी विकल्प को वह उत्पन्न करता है इसलिये उपचार से यह कहा गया है कि शब्द अर्थ का निरूपण करता है । 'उपचार से' ऐसा कहने से वास्तव में जाति के निरूपण का निषेध फलित हो जाता है ।

अन्यान्यत्वेन..इत्यादि श्लोक के अवयवों का अर्थ यह है कि अन्य से अन्यत्व यानी अन्यव्यावृत्ति । हेतुरूप या कारणभूत इस अन्यव्यावृत्ति से विशिष्ट जिन वृक्षादि अर्थों का भिन्नजातीय वस्तु से सर्वथा पृथक्रूप में निश्चय (किसी भी तरह पहले) कर लिया गया है उन्हीं वृक्षादि का शब्द से निरूपण होता है क्योंकि शब्द उसी भाव के अध्यवसायी ज्ञान को उत्पन्न करता है । इस श्लोकावयव से यह अर्थ स्पष्ट होता है जो 'अर्थान्तरनिवृत्तिविशिष्टानर्थान्' इस आचार्यवचन में निवृत्ति-पद की लुप्त तृतीया विभक्ति से प्रतिपादित है । श्लोक में 'ध्वान' शब्द का अर्थ है 'शब्द' । जो अर्थ बुद्धि-आरूढ है उस का तो मुख्य से ही (न कि उपचार से) शब्द द्वारा निरूपण होता है । श्लोक में 'अयम्' शब्द से 'ध्वान' का परामर्श समझना । अब यह शंका हो कि यहाँ 'अर्थान्तरनिवृत्तिवैशिष्ट्य' का योजन (जो कि पहले आशंकित था) वह कैसे फलित हुआ ? तो इस का उत्तर देने के लिये 'निवृत्त्या विशिष्टत्वमुक्तमेषामनन्तरम्' यह श्लोकार्ध कहा है । उस का यह तात्पर्य है कि बुद्धिसमारूढ अर्थों का अन्यव्यावृत्तरूप से स्पष्ट ही प्रतिभास शब्दों से होता है ।

सारांश, शब्द बाह्यार्थों का अन्यव्यावृत्तिविशिष्ट रूप से प्रतिपादन करता है– यह उपचार से कहा जाता है । और वास्तव में शब्द अन्यव्यावृत्तिविशिष्ट बुद्धिसमारूढ अर्थों का ही निरूपण करता है । यहाँ व्यावृत्तिरूप अपोह अभावात्मक नहीं किन्तु बुद्धिआरूढ अर्थस्वरूप होने से कोई दोष नहीं है ।

★ शब्द द्वारा वस्तु-अंश का अवबोध कैसे ? ★

प्रश्न : जब आप कहते हैं – शब्द कोई भी बाह्य वस्तु अंश का निरूपण नहीं करता तो फिर आचार्य

कश्चिदेव वस्तुनो भागो गम्यते'' [ ] इति । अर्थान्तरपरावृत्तदर्शनद्वारायातत्वात् बुद्धिप्रतिबिम्बकमर्थान्तरपरावृत्ते वस्तुनि भ्रान्तैस्तादात्म्येनाऽऽरोपितत्वाच्चोपचाराद् 'वस्तुनो भाग' इति व्यपदिष्टम् । ननु चार्थान्तरनिवृत्तिर्बाह्यवस्तुगतो धर्मः, सा कथं प्रतिबिम्बाधिगमे हेतुभावं करणभावं वा प्रतिपद्यते येन 'निवृत्ता' (? निवृत्त्या) इति उच्यते ? इति– उच्यते, यदि हि विजातीयाद् व्यावृत्तं वस्तु न स्याद् तदा न तत्प्रतिबिम्बकं विजातीयपरावृत्तवस्त्वात्मनाऽध्यवसीयेत । तस्मादर्थान्तरपरावृत्तेर्हेतुभावः करणभावश्च युज्यत एव ।

'न चान्यरूपमन्यादृक् कुर्याद् ज्ञानं विशेषणम्' (पृ० ५७ पं० ५) इत्यादावपि यदि ह्यन्यव्यावृत्तिरभावरूपा वस्तुनो विशेषणत्वेनाभिप्रेता स्याद् तदे(दै)तत् सर्वं दूषणमुपपद्यते, यावता वस्तुस्वरूपैवान्यव्यावृत्तिर्विशेषणत्वेनोपादीयते तेन विशेषणानुरूपैव विशेष्ये बुद्धिर्भवत्येव । तथाहि– अगोनिवृत्तिर्यो* गौरभिधीयते *सोऽश्वादिभ्यो यदन्यत्वं तत्स्वभावैव नान्या, ततश्च यद्यप्यसौ व्यतिरेकेणागोनिवृत्तिः 'गौः' इत्यभिधीयते भेदान्तरप्रतिक्षेपेण तन्मात्रजिज्ञासायाम् तथापि परमार्थतो गोरात्मगतैव सा यथाऽन्यत्वम् । न ह्यन्य(त्वं) नामान्यस्माद् वस्तुनोऽन्यत् अपि तु तदेव, अन्यथा तद्वस्तु ततोऽन्यन्न सिद्ध्येत् । तस्मात् विशेषणभावेऽप्यन्यव्यावृत्तेर्विशेष्ये वस्तुधीर्भवत्येव ।

ने क्यों ऐसा कहा है कि – 'अर्थान्तरव्यावृत्ति से कुछ ही वस्तु-अंश अवगत होता है ?'

उत्तर : शब्द से जो अर्थप्रतिबिम्ब उत्पन्न और अवगत होता है उसी को दृष्टिसमक्ष रख कर यह कहा गया है, क्योंकि बुद्धिगत प्रतिबिम्ब का अर्थान्तरव्यावृत्तवस्तुदर्शन के बल से ही उद्भव होता है और भ्रान्त लोगों के द्वारा अर्थान्तरव्यावृत्त वस्तु में उस के प्रतिबिम्ब का अभेद आरोप किया जाता है, इसीलिये उस प्रतिबिम्ब को उपचारतः 'वस्तु का भाग' कहा गया है ।

प्रश्न : आप जो कहना चाहते हैं कि – उपचारतः अर्थान्तरनिवृत्ति से कुछ वस्तुभाग अवगत होता है – यहाँ अर्थान्तरनिवृत्ति जो कि बाह्यवस्तु का धर्म है, वह प्रतिबिम्ब के अवगम में हेतु या कारण कैसे बन सकती है जिस से कि आप 'अर्थान्तरनिवृत्ति से' ऐसा तृतीया विभक्ति का प्रयोग करते हैं ?

उत्तर : 'वस्तु यदि विजातीयों से व्यावृत्त न होती तो उस का प्रतिबिम्ब विजातीयव्यावृत्तस्वरूप से अध्यवसित होता है यह नहीं हो सकता था ।' इस तर्क के आधार पर प्रतिबिम्ब के व्यावृत्तवस्तुरूप से होनेवाले अध्यवसाय में वस्तुधर्मभूत अर्थान्तरव्यावृत्ति भी हेतुरूप या कारणरूप मानी जा सकती है ।

★ वस्तुस्वरूप अन्यव्यावृत्ति की विशेषणता ★

पहले जो यह कहा था (पृ० ५७-२१) कि ''अभावात्मक विशेषण भावात्मकाकारि ज्ञान को उत्पन्न नहीं कर सकता''.....इत्यादि.... इस के सामने यह कहना है कि यदि हम अभावात्मक अन्यव्यावृत्ति को वस्तु का विशेषण मानते तब सभी दूषण सावकाश थे; किन्तु हम तो वस्तुरूप अन्यव्यावृत्ति को ही विशेषण मानते हैं, अतः 'विशेषण के अनुरूप ही विशेष्यबुद्धि होती है' यह नियम भी सुरक्षित रहता है । देखिये – गोशब्द से अगोनिवृत्ति बतायी जाती है वह कोई अश्वादिभेदस्वरूप ही है । इस लिये, हालाँ कि यहाँ अन्य विशेष (अश्वादि) के निषेधमात्र की जिज्ञासा रहने पर गौ से अगोनिवृत्ति [illegible] से निर्दिष्ट की जाती है, फिर भी वह परमार्थ से तो गौ का आत्मस्वरूप ही है जैसे कि अश्वादिभेदस्वरूप भी उस [illegible] है ।

---

*. [illegible] पृ० ११४ पं० १० ।

अथ व्यतिरिक्तमेव विशेषणं लोके प्रसिद्धम् यथा दण्डः पुरुषस्य, व्यावृत्तिश्चाव्यतिरिक्ता वस्तुनः तत् कथमसौ तस्य विशेषणम् ? असदेतत्, न हि परमार्थेन किञ्चित् कस्यचिद् विशेषणम् अनुपकारकस्य विशेषणत्वाऽयोगात्, उपकारकत्वे चाङ्गीक्रियमाणे कार्यकाले कारणस्यानवस्थानाद् अयुगपत्कालभाविनोर्विशेषण-विशेष्यभावोऽनुपपन्नः; युगपत्कालभावित्वेऽपि तदानीं सर्वात्मना परिनिष्पत्तेर्न परस्परमुपकारोऽस्तीति न युक्तो विशेषण-विशेष्यभाव इति सर्वभावानां स्वस्वभावव्यवस्थितेरयःशलाकाकल्पवात् कल्पनयामीषां मिश्रीकरणम् । अतः परमार्थतो यद्यपि व्यावृत्ति-तद्वतोरभेदस्तथापि कल्पनारचितं भेदमाश्रित्य विशेषण-विशेष्यभावोऽपि भविष्यति ।

यच्चोक्तम् – 'यदा वाऽशब्दवाच्यत्वान्न व्यक्तीनामपोह्यता' (५८-१०) इत्यादि' तत्र 'व्यक्तीनामवाच्यत्वात्' (५८-१०) इत्यसिद्धम् । तथाहि – यद् व्यक्तीनामवाच्यत्वमस्माभिर्वर्णितं तत् परमार्थचिन्तायाम् न पुनः संवृत्यापि, तया तु व्यक्तीनामेव वाच्यत्वमविचारितरमणीयतया प्रसिद्धमिति कथं नासिद्धो हेतुः ? अथ पारमार्थिकमवाच्यत्वं हेतुत्वेनोपादीयते तदाऽपोह्यत्वमपि परमार्थतो व्यक्तीनां नेष्टमिति सिद्धसाध्यता ।

'अन्यत्व' यह अन्य वस्तु से भिन्न नहीं होता, यदि उस को भिन्न मानेंगे तो एक घटादि वस्तु अन्य पटादि से भिन्न सिद्ध न हो सकेगी क्योंकि घटादिगत पटादि से भेद तो घटादिस्वभाव न हो कर उस से अन्य मानना है ! निष्कर्ष, अन्यव्यावृत्तिरूप विशेषण होने पर भी विशेष्य के लिये वस्तुतत्त्वावगाहि बुद्धि हो सकती है, क्योंकि अन्यव्यावृत्ति तद्वस्तुस्वरूप ही होती है ।

प्रश्न : लोक में विशेषण तो विशेष्य से भिन्न ही होने का प्रसिद्ध है । उदा० दण्डरूप विशेषण पुरुषात्मक विशेष्य से भिन्न होता है । अन्यव्यावृत्ति विशेष्यवस्तु से जब अभिन्न है तो वह उस का विशेषण कैसे बन सकेगी ?

उत्तर : आप का प्रश्न ही गलत है । वास्तविक रूप से देखा जाय तो कोई किसी का विशेषण ही नहीं होता – इस की उपपत्ति दो प्रकार से है – १. जो किसी वस्तु का उपकारक नहीं होता वह उस वस्तु का विशेषण नहीं बन सकता । २. विशेषण मानने के लिये उस को उपकारक मानेंगे तो वह कारण बन जाने से (क्षणिकवाद में) उपकार्य वस्तुक्षण में नहीं रह सकेगा, फलतः विशेषण नहीं बन सकता, क्योंकि जो समानकालीन नहीं होते उन में विशेषण-विशेष्यभाव घट नहीं सकता । यदि कारण को कार्यसमानकालीन मान कर विशेषण-विशेष्यभाव घटाना चाहेंगे तो वह भी असम्भव है क्योंकि कार्यक्षण में कार्य पूर्णरूप से निष्पन्न हो चुका है इसलिये उस क्षण में कारण का कोई उपकार न होने से वह उस का विशेषण नहीं बन सकेगा । मतलब, विशेषण-विशेष्यभाव ही अयुक्त है क्योंकि प्रत्येक भाव अपने स्वभाव में अवस्थित होते है । हाँ, पृथग् पृथग् लोहशलाकाओं का जैसे मिश्रण किया जाता है वैसे ही व्यवहार के लिये कल्पना से विशेषण और विशेष्य का मिश्रण किया जाता है । फलितार्थ यह हुआ कि व्यावृत्ति और व्यावृत्तिवान् में परमार्थ से भेद नहीं होता फिर भी काल्पनिक भेद को लेकर उनमें विशेषण-विशेष्यभाव की कल्पना हो सकती है ।

★ व्यक्तिओं में अपोह्यत्व का समर्थन ★

यह जो पहले कहा था (पृ० ५८-३१) "व्यक्ति शब्दवाच्य न होने से अपोह्य नहीं हो सकती तब जाति को ही अपोह्य मानना होगा और अपोह्य होने से जाति को वास्तविक भी मानना पडेगा.." इत्यादि – इस

यच्चोक्तम् – 'तदपोहेत सामान्यम्' (५८-११) इत्यादि, तत्रापि 'अपोह्यत्वात्' इत्यस्य हेतोरसिद्धत्वमनैकान्तिकत्वं च व्यक्तीनामेवापोह्यस्य प्रतिपादितत्वात् । न चापोहेऽपि वस्तुता, साध्यविपर्यये हेतोर्बाधकप्रमाणाभावात् । यदपि 'अभावानामपोह्यत्वं न' ...(५८-१२) इत्यादि, तत्र [त० सं० १०८०-८१] "नाभावोऽपोह्यते ह्येवं नाभावो भाव इत्ययम् । भावस्तु न तदात्मेति तस्यैवमपोह्यता ॥ यो नाम न यदात्मा हि स तस्यापोह्य उच्यते । न भावोऽभावरूपश्च तदपोहे न वस्तुता ॥"

'नाभावः' इत्येवमभावो नापोह्यते येनाभावरूपतायास्त्यागः स्यात्, किं तर्हि ? भावो यः स विधिरूपत्वादभावरूपविवेकेनावस्थित इति सामर्थ्यादपोह्यत्वं तस्याभावस्येष्टत्वम्(ष्टम्) तदेव स्पष्टीकृतम् 'यो नाम'..इत्यादिश्लोकेन । 'तदपोहे' इति तस्याभावस्यैवमपोहे सति न वस्तुता प्राप्नोति । अत्रोभयपक्षप्रसिद्धोदाहरणप्रदर्शनेनाऽनैकान्तिकतामेव स्फुटयति –

प्रकृतीशादिजन्यत्वं न हि वस्तु प्रसिद्ध्यति ॥ [त० सं० १०८२]

नातोऽसतोऽपि भावत्वमिति क्लेशो न कश्चन । [त० सं० १०८३]

के सामने यह कहना है कि 'व्यक्ति शब्दवाच्य नहीं है' यह बात ही जूठ है । देखिये – हमने जो व्यक्ति वाच्य होने का कहा है वह परमार्थ को सोचते हुए कहा है । मतलब, व्यक्ति में पारमार्थिक शब्दवाच्यत्व नहीं है, किन्तु व्यक्ति में काल्पनिक शब्दवाच्यत्व का हमने निषेध नहीं किया है । भले विचार करने पर तात्त्विक न लगे फिर भी कल्पना से व्यक्तिओं में ही अतात्त्विक शब्दवाच्यत्व प्रसिद्ध है । इसलिये व्यक्ति में अपोह्यत्व के अभाव की सिद्धि के लिये बनाया गया 'शब्द-अवाच्यता' हेतु असिद्ध ठहरा । यदि कहें कि – "हम 'पारमार्थिक अवाच्यता' को हेतु करते हैं इस लिये वह असिद्ध नहीं ठहरेगा" – तो यहाँ सिद्धसाध्यता दोष होगा क्योंकि व्यक्तिओं में पारमार्थिक अपोह्यता का अभाव तो हमें इष्ट ही है । (काल्पनिक अपोह्यता का तो हम ने निषेध नहीं हो जाता ।)

तथा यह जो कहा कि – 'व्यक्ति अपोह्य न मान सकने के कारण जाति ही अपोह्य ठहरेगी और उस में वस्तुता प्रसक्त होगी' – यहाँ भी अपोह्यत्व हेतु असिद्ध है या तो साध्यद्रोही है । व्यक्ति में काल्पनिक अपोह्यत्व मान लेने से, जाति में वस्तुतासाधक अपोह्यत्व हेतु असिद्ध बनेगा । तथा हेतु साध्यद्रोही भी सिद्ध होगा क्योंकि 'वस्तुता न रहे वहाँ अपोह्यत्व रहे' ऐसी साध्यशून्य में हेतु की कल्पना करने में कोई बाधक प्रमाण नहीं है ।

★ अभाव में अपोह्यत्व का उपपादन ★

यह जो कहा था – 'अभावों में अपोह्यता संभव नहीं, अभाव का यदि अपोह (निषेध) मानेंगे तो अभाव की अभावरूपता का त्याग हो जायेगा' – इस के सामने यह बात है कि 'अभाव अभाव नहीं है' इस ढंग से हम अभाव का अपोह नहीं दिखलाते हैं जिस से कि अभाव की अभावरूपता का त्याग प्रसक्त हो ! किन्तु जब 'भाव विधिरूप होने से अभावरूप के त्याग (निषेध) से अवस्थित है' ऐसा कहा जाता है तब 'अभावरूप के त्याग' इन शब्दों से अर्थतः (भाव से) अभाव का अपोह सिद्ध हो ही जाता है । यही बात 'यो नाम न यदात्मा'... इस श्लोक से कही गयी है । जो जिस स्वरूप नहीं होता वह उस का अपोह (यानी भाव अभाव का अपोहरूप) कहा जाता है । 'भाव अभावरूप नहीं है' इस प्रकार 'तदपोहे' यानी अभाव के अपोह करने पर अपोह में वस्तुता प्रसक्त होने की कोई आपत्ति नहीं है ।

तथाहि – प्रकृति-ईश्वर-कालादिकृतत्वं भावानां भवद्भिर्मीमांसकैरपि नेष्यत एव तस्य च प्रतिषेधे सत्यपि यथा न वस्तुत्वमापद्यते तथा अपोह्यत्वेऽप्यभावस्य वस्तुत्वापत्तिर्न भविष्यतीत्यनेकान्तः । यदुक्तम् 'तत्रासतोऽपि वस्तुत्वमिति क्लेशो महान् भवेत्' (६०-७) इति तदप्यनेनैवानैकान्तिकत्वप्रतिपादनेन प्रतिविहितमिति दर्शयति 'नातो असतोऽपि'........ इत्यादिना ।

'तदसिद्धौ न सत्ताऽस्ति न चासत्ता प्रसिद्धयति' (तत्त्व० ९५८) इत्यत्र (६०-७) अभावस्य यथोक्तेन प्रकारेणाऽसिद्धावपि भावस्य सत्ता सिद्धयत्येव, तस्य स्वस्वभावव्यवस्थितत्वात् । या च भावस्य यथोक्तेन प्रकारेण सिद्धिः सैव सत्तेति प्रसिद्धयति । एतदेवोक्तम् – (तत्त्व० सं० १०७८)

''अगोतो विनिवृत्तश्च गौर्विलक्षण इष्यते । भाव एव ततो नायं गौरगौर्मे प्रसज्यते ॥

'भाव एव भवेत्' (५९-७) इत्येतद् नानिष्टापादनम् इष्टत्वात्। तथाहि–अगोरूपादश्वादेर्गोर्भावविशेषरूप एव विलक्षण इष्यते नाभावात्मा, तेन भाव एव भवेत्, अगोतश्च गोर्वैलक्षण्यस्येष्टत्वादगोर्न गोत्वप्रसङ्गः । एतेन यदुक्तम् 'अभावस्य च योऽभावः' (५९-७) इत्यादि तत् प्रतिविहितम् । यच्चोक्तम् 'न ह्यवस्तुनि

अभाव में अपोह्यता को हेतु वना कर वस्तुत्व सिद्ध करने का जो प्रयास किया गया है वहाँ अव उभयपक्षसिद्ध उदाहरण को प्रस्तुत कर के 'प्रकृतीशा०'....श्लोक से साध्यद्रोह दिखाया जाता है – (यह वात मीमांसकों के सामने कही जाती है) मीमांसको की ओर से पदार्थसमूह में प्रकृतिजन्यत्व या ईश्वरजन्यत्व या कालादिंजन्यत्व नहीं माना जाता किंतु उनका निषेध (अपोह) किया जाता है, किन्तु इतने मात्र से प्रकृतिजन्यत्व या ईश्वरादिजन्यत्वरूप निषेध्य में वस्तुता तो नहीं मानी जाती । तो इसी तरह असत्‌रूप अपोह का निषेध किया जाय इतने मात्र से अपोह में भावत्व का क्लेशापादन निरवकाश है । अर्थात् मीमांसकमत में प्रकृतिआदिजन्यत्व में अपोह्यता होने पर भी वस्तुत्व न होने से उक्त अनुमान के हेतु में साध्यद्रोह दोष स्पष्ट है । मीमांसक ने जो पहले कहा था कि 'असत् में भी वस्तुत्वप्रसक्ति का महान् क्लेश होगा' इस का भी इस साध्यद्रोहनिरूपण से ही प्रतिकार हो जाता है – यह वात 'नातो असतोऽपि भावत्वमिति क्लेशो न कश्चन' (= असत् में वस्तुत्व की आपत्ति का कोई क्लेश नहीं है) इस श्लोकार्ध से कही गयी है ।

★ अभाव के विना भी भावसिद्धि शक्य ★

यह जो कहा था कि – ''अभाव के अपोह्य होने से वस्तुरूप मान लेने पर अभाव अभावरूप से असिद्ध हो जानेसे भाव की सत्ता भी सिद्ध न होगी क्योंकि भावसत्ता अभावव्यवच्छेदावलम्वी है । तथा सत्ता सिद्ध न होने पर असत्ता भी लुप्त हो जायेगी क्योंकि सत्ता के न होने पर किस के निषेध से असत्ता सिद्ध हो ?'' – यहाँ यह कहना है कि अभाव की आप के कथनानुसार असिद्धि हो जाने पर भी भाव की सत्ता सिद्ध होने में कोई आपत्ति नहीं है क्योंकि अभाव न होने पर भी भाव तो अपने स्वभाव में अवस्थित रह ही सकता है । और अभावनिरपेक्ष जो भाव की सिद्धि है वही सत्ता के रूप में प्रसिद्ध है । यही बात तत्त्वसंग्रह श्लो० १०८९ में कहते हैं ''अगोरूप अभाव का निवृत्तिरूप अभाव पूर्व अभाव से विलक्षण गौरूप ही माना जाता है इसलिये वह भावरूप ही है । अतः गौ और अगौ समान वन जाने का प्रसंग नहीं हो सकता'' । मतलव यह है कि जो पहले श्लो० ९५३ (त० सं०) में कहा था कि 'अभाव का अभाव यदि विलक्षण होगा तो वह भावरूप ही होगा' यह कथन हमारे लिये इष्टापत्तिरूप होने से अनिष्टकारक नहीं है । देखिये – अगोरूप

वासना' इति (६१-५) तदसिद्धम् अनैकान्तिकं च । यतः "अवस्तुविषयेऽप्यस्ति चेतोमात्रविनिर्मिता । विचित्रकल्पनाभेदरचितेष्विव वासना ॥ ततश्च वासनाभेदाद् भेदः सद्रूपताऽपि वा । प्रकल्प्यतेऽप्यपोहानां कल्पनारचितेष्विव ॥" (तत्त्व० सं० १०८५-८६) 'अवस्तुविषयं चेतो नास्ति' इति (६१-५) एतदसिद्धम् । तथाहि – उत्प्रावकथाविषयसमुद्भूतसत्त्वाकारसमारोपेण प्रवर्त्तत एव चेतः, तथा(त्वा)ऽनागतसजातीयविकल्पोपपत्तये अनन्तरचेतसि वासनामाधत्ते एव । यतः पुनरपि सन्तानपरिपाकवशात् प्रबोधकप्रत्ययमासाद्य तथाविधमेव चेतः समुपजायते, तद्वदपोहानामपि परस्परतो भेदः सद्रूपता च कल्पनावशाद् भविष्यतीत्यनैकान्तिकता ।

यच्च – 'शब्दभेदोऽप्यपोहनिमित्तो न युक्तः' (६२-८) इति – अत्र "यादृशोऽर्थान्तरापोहः = 'प्रतिबिम्बात्मको' वाच्योऽयं प्रतिपादितः शब्दान्तरव्यपोहोऽपि तादृगेव = 'प्रतिबिम्बात्मक' एवावगम्यते ॥" (त० सं० १०८७) इति वाचकापोहपक्षेऽपि दूषणं विस्तरतः प्रतिपादितमयुक्तं द्रष्टव्यम् ।

अश्वादि से विलक्षण गोपिण्ड भावरूप ही माना गया है, अभावरूप नहीं, इस लिये उस की भावरूपता ही होने दो । तथा गोपिण्ड में अश्वो का वैलक्षण्य भी मानते हैं, इसलिये अश्वो में गोत्वापत्ति निरवकाश है । इसलिये (त० सं० श्लो० ९५३ में) पहले जो यह कहा है कि अभाव का अभाव यदि भाव रूप होगा तो.. इत्यादि वह सब निरस्त हो जाता है ।

★ असत् की वासना का सम्भव ★

यह जो कहा था – "आलम्बनभूत वस्तु असत् होने पर तद्विषयक वासना का भी सम्भव नहीं है" – यह असिद्ध और अनैकान्तिक भी है, क्योंकि – "विचित्र कल्पनाओं के भेद से कल्पित वस्तुओं की तरह अवस्तुभूत अर्थ के बारे में चित्तमात्र से निर्मित वासना होती है । इसलिये अपोहों में वासनाभेद प्रयुक्त भेद की और सद्रूपता की कल्पना की जा सकती है: जैसे कि कल्पना से कल्पित वस्तुओं में कल्पनाप्रयुक्त भेद होता है ।" तात्पर्य यह है कि अवस्तु –(तुच्छ वस्तु) सम्बन्धि चित्त ही नहीं होता – यह बात असिद्ध है । देखिये – उत्प्राव यानी भावि में रची जाने वाली कथा के विषय में मान लो कि 'सचमुच ऐसा हो गया न हो' इस ढंग से वस्तु-आकार का आरोप करता हुआ चित्त प्रवृत्त होना ही है । और वह चित्त अपने भावि सजातीय विकल्प को उत्पन्न करने के लिये अग्रिमचित्त में वासना का भी आधान करता है । जिससे कि फिर से भी पारम्परिक परिपाक के प्रभाव से उद्बोधक निमित्त को प्राप्त कर, वैसा ही चित्त उत्पन्न हो जाता है । ठीक इसी प्रकार अपोहों में भी परस्पर भेद कल्पना के प्रभाव से हो सकेगा, और उनमें सद्रूपता भी काल्पनिक बन सकेगी । अतः अवस्तु में वासना नहीं होती यह नियम अनैकान्तिक सिद्ध हुआ ।

★ वाचकापोह पक्ष में दूषणों का निरसन ★

यह जो कहा था – शब्दभेद भी अगर अपोहमूलक मानेंगे तो वह युक्त नहीं – इस के सामने यह कहेंगे कि प्रतिबिम्बात्मक अर्थान्तरापोह से जैसे वाच्य की उत्पत्ति की गयी है वैसे ही प्रतिबिम्बात्मक शब्दान्तरापोह मान कर वाचक की उत्पत्ति हो सकती है । इसलिये वाचकापोह पक्ष में जो सविस्तर दोषारोपण किया गया है, वह युक्तिहीन सिद्ध होता है ।

अब पहले जो कहा था – अर्थापोह एवं शब्दापोह दोनों असत्स्वरूप है इसलिये उन के बीच वाच्य वाचक

'अगम्यगमकत्वं स्यात्'...इत्यत्र (६३-२) प्रयोगेऽपि यदि 'अवस्तुत्वात्' इति सामान्येनो- पादीयते तदा हेतुरसिद्धः, यतः प्रतिबिम्बात्मनोर्वाच्य-वाचकापोहयोर्बाह्यवस्तुत्वेन भ्रान्तैरवसितत्वात् सांवृतं वस्तुत्वमस्त्येव । अथ पारमार्थिकमवस्तुत्वमाश्रित्य हेतुरभिधीयते तदा सिद्धसाध्यता । नहि परमार्थतोऽस्माभिः किञ्चिद् वाच्यं वाचकं चेष्यते । यत उक्तम् [तत्त्वसंग्रहे] —

"न वाच्यं वाचकं चास्ति परमार्थेन किञ्चन । क्षणभंगिषु भावेषु व्यापकत्ववियोगतः ॥१०८९॥"

क्षणिकत्वेन संकेतव्यवहारकालव्यापकत्वाऽभावात् स्वलक्षणस्येति भावः ।

स्यादेतत् – नाऽस्माभिस्तात्त्विको वाच्यवाचकभावो निषिध्यते, किं तर्हि ? तात्त्विकीमपोहयोरवस्तुतामाश्रित्य सांवृतमेव गम्य-गमकत्वं निषिध्यते न भाविकम् तेन (न) हेतोरसिद्धता पि (ता, नापि) सिद्धसाध्यता प्रतिज्ञादोषो भविष्यति, द्वयोरपि हि सांवृतत्वे तात्त्विकत्वे वाऽऽश्रीयमाणे स्यादेतद्दोषद्वयमिति । नैवम् – हेतोरनैकान्तिकताप्रसक्तेः, कल्पनारचितेषु हि महाश्वेतादिष्वर्थेषु तद्वाचकेषु च शब्देषु परमार्थतो वस्तुत्वाभावेऽपि सांवृतस्य वाच्यवाचकभावस्य दर्शनात् । स्यादेतत् – तत्रापि महा-

भाव नहीं घटेगा – यहाँ कहना यह है 'अवस्तुरूप है इसलिये' इस हेतुप्रयोग में पारमार्थिक या काल्पनिक विशेषण के विना सामान्यतः अवस्तुत्व को यदि हेतु करेंगे तो वह असिद्ध होगा क्योंकि प्रतिबिम्बात्मक जो वाच्यापोह और वाचकापोह हैं उन में भ्रान्त लोगों को बाह्यवस्तुत्वबुद्धि होती है इसलिये काल्पनिक वस्तुत्व तो उनमें सिद्ध ही है । अगर पारमार्थिक अवस्तुत्व को हेतु करेंगे तो सिद्धसाध्यता दोष होगा क्योंकि परमार्थ से न तो हम किसी को वाच्य (गम्य) मानते हैं न वाचक (गमक) । कहा भी है - "परमार्थ से तो न कोई वाचक है न कोई वाच्य, क्योंकि क्षणभंगुर भावों में एकाधिकक्षणव्यापकत्व ही नहीं है ।" – तात्पर्य यह है कि स्वलक्षण शब्द या अर्थ संकेतकाल में रहेंगे तो व्यवहारकाल में नहीं रहेंगे, व्यवहारकालमें रहेंगे तो संकेतकाल में नहीं होंगे – क्योंकि वस्तुमात्र क्षणभंगुर है ।

★ अवस्तुत्व हेतु से काल्पनिक गम्यगमकभाव का निषेध ★

सामान्यवादी : अवस्तुत्व हेतु से हम वास्तविक गम्य-गमक भाव का निषेध प्रदर्शित नहीं करते हैं । तो ? अर्थापोह और शब्दापोह रूप दो असद् वस्तु में तात्त्विक अवस्तुत्व को हेतु कर के काल्पनिक भी गम्य-गमक भाव का निषेध करते हैं । भावात्मक अर्थ और शब्द में उस का निषेध नहीं करते हैं । अतः हेतु असिद्ध नहीं है, और सिद्धसाध्यता यह प्रतिज्ञादोष भी निरवकाश है । हाँ, यदि हम साध्य (गम्यगमकभाव निषेध) और हेतु दोनों को काल्पनिक लेते तब तो अवस्तुभूत अपोहयुगल में काल्पनिक अवस्तुत्व न होने से (अर्थात् काल्पनिक वस्तुत्व होने से) हेतु में असिद्धता दोष सावकाश होता । तथा यदि हम साध्य और हेतु दोनों को पारमार्थिक लेते तब पारमार्थिक गम्यगमक भाव के निषेध से सिद्धसाध्यता दोष होता । किन्तु हम तो तात्त्विक अवस्तुत्व हेतु से काल्पनिक गम्य-गमकभाव का निषेध करते हैं तो कोई दोष नहीं है ।

अपोहवादी : यह बात गलत है क्योंकि ऐसे तो हेतु में साध्यद्रोह दोष प्रसक्त होगा । कारण, कादम्बरी आदि काव्यों में जो वाच्यभूत महाश्वेतादि पात्र हैं वे काल्पनिक होने से अवस्तु ही हैं और वे काल्पनिक होने से उन के वाचक महाश्वेतादि शब्द भी काल्पनिक ही होंगे । इस प्रकार इन दोनों में अवस्तुत्व होने पर भी काल्पनिक वाच्यवाचकभाव तो रहता है इसलिये अवस्तुत्व हेतु साध्याभावसमानाधिकरण हो गया ।

श्वेतादिषु सामान्यं वाच्यं वाचकं च परमार्थतोऽस्त्येव ततो न तैर्व्यभिचारः । असदेतत्, सामान्यस्य विस्तरेण निरस्तत्वात् (प्र० खं० पृ० ४५२) न तेषु सामान्यं वाच्यं वाचकं वा महाश्वेतादिष्वस्तीति कथं नानैकान्तिकता हेतोः ? स्यादेतत् यद्यपि तत्र वस्तुभूतं नास्ति सामान्यं वाच्यम्, वाचकं (तु) महाश्वेतादिशब्दस्वलक्षणमस्त्येव । न, सर्वपदार्थव्यापिनः क्षणभंगस्य प्रसाधितत्वान्न शब्दस्वलक्षणस्य वाचकत्वं युक्तम्, क्षणभङ्गित्वेन तस्य संकेताऽसम्भवात् व्यवहारकालानन्वयाच्चेति प्रतिपादितत्वात् (२०-५) ।

"तस्मात्तद्रूपमेष्टव्यं प्रतिबिम्बादि सांवृतम् । तेषु तद्व्यभिचारित्वं दुर्निवारमतः स्थितम् ॥" [त०सं०१०९३]

'रूपम्' इति वाच्यं वाचकं च, 'प्रतिबिम्बादि' इति 'आदि'शब्देन निराकारज्ञानाभ्युपगमेऽपि स्वगतं किञ्चित् प्रतिनियतमनर्थेऽर्थाध्यवसायिरूपत्वं विज्ञानस्यावश्यमङ्गीकर्तव्यमिति दर्शयति, 'तेषु' इति कल्पनोपरचितेष्वर्थेषु, 'तद्' इति तस्मात् तस्य वा हेतोर्व्यभिचारित्वं तद्व्यभिचारित्वम् ।

सामान्यवादी : यहाँ भी महाश्वेतादि पात्र व्यक्तिरूप से काल्पनिक होने पर भी सामान्यरूप से वाच्य और वाचक दोनों वास्तविक है । तात्पर्य, 'महाश्वेता' आदि शब्दसामान्य महाश्वेतागत स्त्रीत्वादिसामान्य का वाचक बन सकता है । इसलिये साध्यद्रोह नहीं होगा ।

अपोहवादी : यह बात भी गलत है क्योंकि सामान्य जैसा कोई वास्तविक अर्थ है ही नहीं, विस्तार से उस का निरसन प्रथमखंड में किया जा चुका है । अतः महाश्वेतादि कल्पित पात्रों में न तो कोई सामान्य वाच्य है न तो कोई शब्द सामान्य उस का वाच्य हो सकता है । तो फिर अवस्तुत्व हेतु काल्पनिक वाच्यवाचकभाववाले महाश्वेतादि में रहने से साध्यद्रोह क्यों नहीं होगा ?

सामान्यवादी : भाई देखो, महाश्वेतादि अवश्य काल्पनिक है इसलिये वाच्य भले ही असत् हो, किन्तु वाचकरूप से अभिमत महाश्वेतादि शब्द स्वलक्षण तो प्रत्यक्ष ही हैं, सामान्य को भले आप न मानिए किन्तु शब्दस्वलक्षण में वास्तविक वाचकत्व को क्यों नहीं मान सकते ? अब वास्तविक महाश्वेतादि में न तो काल्पनिक वाचकत्व है, न अवस्तुत्व, तो साध्यद्रोह कैसे होगा ?

अपोहवादी : अरे भाई ! पहले ही हमने सर्वपदार्थों में क्षणिकत्व की स्थापना को सिद्ध कर दिया है तो क्षणिक शब्दस्वलक्षण में वाचकत्व कैसे घटेगा ? क्षणिकता के कारण न तो उस में संकेत का संभव है, न तो वह व्यवहारकाल तक जीने वाला है यह सबसे पहले कहा जा चुका है ।

निष्कर्ष, "उन दोनों को प्रतिबिम्बादि रूप मान कर काल्पनिक वाच्य और वाचक होने का मानना पड़ेगा । अतः उन काल्पनिक अर्थों में अवस्तुत्व हेतु करने पर उन में साध्यद्रोह रूप दोष भी अटल रहेगा – यह सिद्ध होता है ।"

यहाँ जो तत्त्वसंग्रह का तस्मात् तद्रूप.... श्लोक है, उसमें 'रूप' शब्द का अर्थ है वाच्य और वाचक । 'प्रतिबिम्बादि' शब्द में 'आदि' शब्द यह दिखाता है कि ज्ञान को निराकार मानने के मत में भी अर्थ जो नहीं है उस में 'अर्थ है' ऐसा अध्यवसाय उत्पन्न करने वाला, कोई नियतरूप विज्ञान में स्वीकारना अवश्य मानना होगा । 'तेषु' शब्द का मतलब है कल्पना से कल्पित अर्थों में, और 'तद्व्यभिचारित्व' इस समास में 'तद्' शब्द से यह कहना है कि 'तस्मात् हेतोः' अथवा 'तस्य हेतोः' अर्थात् 'उस हेतु का' । तद् शब्द का व्यभिचारित्व के साथ समास होने से यह अर्थ हो सकता है कि हेतु में साध्यद्रोह होगा ।

'विधिरूपश्च शब्दार्थो येन नाभ्युपगम्यते' (त० सं० १०९५) (६३-१०) इत्यत्रापि न ह्यस्माभिः सर्वथा विधिरूपः शब्दार्थो नाभ्युपगम्यते – येनैतद् भवताऽनिष्टत्वप्रसङ्गापादनं क्रियते – किन्तु शब्दा(द)र्थाध्यवसायिनश्चेतसः समुत्पादात् संवृतो विधिरूपः शब्दार्थोऽभ्युपगम्यत एव । तत्त्वतस्तु न किंचिद् वाच्यमस्ति शब्दानामिति विधिरूपस्तात्त्विको निषिध्यते, तेन सांवृतस्य विधिरूपस्य शब्दार्थस्येष्टत्वात् स्वार्थाभिधाने विधिरूपे सत्यन्यव्यतिरेकस्य सामर्थ्यादधिगतेवि(र्वि)धिपूर्वको व्यतिरेको युज्यत एव । स्यादेतद् – यदि विधिरूपः शब्दार्थोऽभ्युगम्यते कथं तर्हि हेतुमुखे लक्षणकारेण "असम्भवो विधिः" [हेतु०] इत्युक्तम् ?– सामान्यलक्षणादेर्वाच्यस्य वाचकस्य वाऽसम्भवात् परमार्थतः, शब्दानां विकल्पानां च परमार्थतो विषयाऽसम्भवात् परमार्थमाश्रित्य विधेरसम्भव उक्त आचार्येण इत्यविरोधः ।

'अपोहमात्रवाच्यत्वम्' (६४-६) इत्यादावपि एकमेवानीलानुत्पलव्यावृत्तार्थाकारमुभयरूपं प्रति- बिम्बकं नीलोत्पलशब्दादुदेति नाभावमात्रम् अतः शबलार्थाऽध्यवसायित्वमध्यवसायवशान्नीलोत्पलादिशब्दानामस्त्येवेति तदनुरोधात् सामानाधिकरण्यमुपपद्यत एव ।

★ विधिस्वरूप शब्दार्थ का स्वीकार ★

यह जो कहा था – "जो लोग विधिरूप शब्दार्थ को नहीं मानते उन के मतमें व्यतिरेक (=व्यावृत्ति)रूप शब्दार्थ भी नहीं घट सकता" – इस के सामने यह कहना है कि हम सर्वथा विधिरूप शब्दार्थ नहीं मानते ऐसा है ही नहीं जिस से कि आप को अनिष्ट प्रसंगापादन करने का अवसर मिले ! हम तो मानते हैं कि शब्द से अर्थाध्यवसायि विकल्पज्ञान का उदय होता है इसलिये काल्पनिक विधिरूप शब्दार्थ है ही । परमार्थ से तो शब्दों का कोई वाच्य नहीं है यह पहले ही कह दिया है, अतः तात्त्विक विधिरूप शब्दार्थ का ही निषेध हम करते हैं । काल्पनिक विधिरूप शब्दार्थ हमें इष्ट ही है, इसीलिये शब्द के द्वारा काल्पनिक विधिरूप अपना शब्दार्थ निरूपित हो जाने पर अन्यव्यावृत्तिरूप अर्थ भी सामर्थ्य से ज्ञात हो सकता है, अतः विधिपूर्वक व्यावृत्ति का बोध हमारे मत में संगत ही है ।

प्रश्न : यदि आप विधिरूप शब्दार्थ मानते हैं तो फिर हेतुमुखसंज्ञक प्रकरण में लक्षणकारने 'विधि अर्थ असम्भव है' ऐसा क्यों कहा है ?

उत्तर : वास्तवमें कोई सामान्यादिरूप वाच्य या वाचक सम्भवित नहीं है । शब्द और विकल्प का कोई पारमार्थिक विषय नहीं होता है, इसलिये आचार्यने हेतुमुख में पारमार्थिक विधिरूप शब्दार्थ का ही निषेध करने के लिये विधिअर्थ का असम्भव दिखाया है । इसलिये कोई विरोध नहीं है ।

★ अपोहवाद में सामानाधिकरण्य उपपत्ति ★

पहले जो कहा था – अपोहमात्र को शब्दवाच्य मानेंगे तो विशेषण-विशेष्य का सामानाधिकरण्य घटेगा नहीं...इत्यादि यहाँ हम कहेंगे कि नीलोत्पल शब्द से सिर्फ अभावमात्र की प्रतीति नहीं होती किन्तु एक ऐसे प्रतिबिम्ब का उदय होता है जो अनील-अनुत्पल उभय से व्यावृत्त उभयरूप अर्थाकारात्मक होता है और वही उस का प्रतिपाद्य अर्थ है । इसलिये नीलोत्पलादि शब्दों में भी अध्यवसाय के बल से विविध रूपवाले अर्थ का भान कराने की ताकात अपोहपक्ष में है ही और ऐसे विविध रूपवाले एक अर्थ का भान कराने से वहाँ नील और उत्पल शब्द में सामानाधिकरण्य भी संगत होता है ।

यच्चोक्तम् – 'अथान्यापोहवद् वस्तु वाच्यमित्यभिधीयते' (६६-१०) इति, तत्रापि यदि हि व्यावृत्ताद् भावाद् व्यावृत्तिर्नामान्या भवेत् स्यात् तदा तद्वत्पक्षोदितदोषप्रसंगः यावता नान्यतो व्यावृत्ताद् भावादन्या व्यावृत्तिरस्ति अपि तु व्यावृत्त एव भावो भेदान्तरप्रतिक्षेपेण तन्मात्रजिज्ञासायां तथाऽभिधीयते, तेन यथा जातौ प्राधान्येन वाच्यायां पारतन्त्र्येण तद्वतोऽभिधानात् तद्गतभेदानाक्षेपात् तैः सह सामानाधिकरण्यादेरभावप्रसङ्ग उक्तः (६७-४) तद्वदपोहपक्षे नावतरति, व्यतिरिक्तान्यापोहवतोऽनभिधानात् ।

न ह्यस्मन्मते परपक्ष इव सामानाधिकरण्याभावः । तथाहि 'नीलम्' इत्युक्ते पीतादिव्यावृत्तपदार्थाध्यवसायि भ्रमरकोकिलाऽञ्जनादिषु संशय्यमानरूपं विकल्पप्रतिबिम्बकमुदेति, तच्चोत्पलशब्देन कोकिलादिभ्यो व्यवच्छिद्यानुत्पलव्यावृत्तवस्तुविषये व्यवस्थाप्यमानं परिनिश्चितात्मकं प्रतीयते, तेन परस्परं यथोक्तबुद्धिप्रतिबिम्बकापेक्षया व्यवच्छेद्यव्यवच्छेदकभावान्नीलोत्पलशब्दयोर्विशेषण-विशेष्यभावो न विरुध्यते, द्वाभ्यां वाऽनीलानुत्पलव्यावृत्तैकप्रतिबिम्बात्मकवस्तुप्रतिपादनादेकार्थवृत्तितया सामानाधिकरण्यं च भवतीति। परपक्षे तु तद्व्यवस्था दुर्घटा । तथाहि – विधिशब्दार्थवादिपक्षे नीलादिशब्देन नीलादिस्वलक्षणेऽभिहिते

यह जो कहा था – ''यदि अन्यापोह नहीं किन्तु अन्यापोहवाली वस्तु को शब्दार्थ मानेंगे तो परतन्त्रता के कारण नीलादि शब्द से उत्पलादि के भेद का निरूपण नहीं हो सकेगा'' – इस के ऊपर यह कहना है कि व्यावृत्ति को यदि हम व्यावृत्तभाव से भिन्न मानते तब अन्यापोहवाली वस्तु की शब्दार्थता के पक्ष में जो दोष कहा है वह उचित होता । किन्तु, हमारे मतमें व्यावृत्ति व्यावृत्त भाव से भिन्न नहीं होती, अन्य भेदों का प्रतिक्षेप कर के किसी एक शुद्ध भाव मात्र की जिज्ञासा हो तब वही भाव व्यावृत्ति कहा जाता है । हाँ, सिर्फ अकेली जाति को ही शब्दार्थ माने तो जातिवाचक शब्द से जातिवान् का सीधा निरूपण न हो कर जातिपारतन्त्र्येण होने से जातिमद् पदार्थ के भेदों का निरूपण शक्य न होगा अतः उन के साथ सामानाधिकरण्य आदि के अभाव का प्रसंग जाति-शब्दार्थ पक्ष में लग सकता है । किन्तु अपोहपक्ष में उस प्रसंगदोष को अवकाश नहीं है । कारण, अपोह से भिन्न अन्यापोहवाली वस्तु का अभिधान हम नहीं मानते किन्तु अपोहात्मक ही व्यावृत्तवस्तु रूप प्रतिबिम्ब का अभिधान मानते हैं ।

★ सामानाधिकरण्य स्वपक्ष-परपक्ष में कैसे ? ★

दूसरे के पक्ष की तरह हमारे पक्ष में सामानाधिकरण्य न घट सके ऐसा नहीं है । देखिये – 'नील' शब्द सुन कर श्रोता को ऐसा एक विकल्पात्मक प्रतिबिम्ब खडा होता है जो पीतश्वेतादिव्यावृत्त पदार्थ का निश्चायक होते हुए भी 'भ्रमर होगा या कोयल होगी या कज्जल होगा' इस प्रकार संशयास्पद होता है । फिर जब 'कमल' शब्द को सुनता है तो कोयलादि का व्यवच्छेद होने से अकमल व्यावृत्त वस्तु के विषय में व्यवस्थित निश्चयात्मक प्रतिबिम्ब प्रतीत होता है । इस ढंग से परस्पर पूर्वोक्त बुद्धिप्रतिबिम्बों की अपेक्षा से व्यवच्छेद्य-व्यवच्छेदक भाव व्यक्त होने से नील और कमल शब्दों में विशेष्य-विशेषण भाव मानने में कोई विरोध नहीं होता । अथवा दोनों शब्द से अनीलव्यावृत्त और अकमलव्यावृत्त एक ही प्रतिबिम्बात्मक वस्तु का प्रतिपादन मान लेने से एकार्थवृत्तित्व घट सकता है और इससे सामानाधिकरण्य भी घट जाता है ।

अन्य दर्शनों में ऐसी व्यवस्था दुर्घट है । देखिये – विधिरूप शब्दार्थ मानने वालों के पक्ष में नीलादिशब्द से नील आदि स्वलक्षण का प्रतिपादन मानने पर उसी के अन्य विशेषों के बारे में [illegible]

'किमुत्पलम् आहोस्विद् अञ्जनम्' इत्येवमज्ञानं विशेषान्तरे न प्राप्नोति, सर्वात्मना तस्य वस्तुनः प्रतिपादितत्वात् । एकस्यैकदैकप्रतिपत्त्रपेक्षया ज्ञाताऽज्ञातत्वविरोधान्न धर्मान्तरे संशयविपर्यासावित्युत्पलादिशब्दान्तरप्रयोगाकाङ्क्षा प्रयोक्तुरपि न प्राप्नोति – यदर्थमुत्पलादिशब्दोच्चारणम् – तस्य नीलशब्देनैव कृतत्वात् । अथापि स्यात् तद् वस्त्वेकदेशेनाभिहितं नीलशब्देन न सर्वात्मना, तेन स्वभावान्तराभिधानायापरः शब्दोऽन्वेष्यते । असदेतत्, न ह्येकस्य वस्तुनो देशाः सन्ति येनैकदेशेनाभिधानं स्यात् एकत्वानेकत्वयोः परस्परपरिहारस्थितलक्षणत्वात्, इति यावन्तस्त एकदेशास्तावन्त्येव भवता वस्तूनि प्रतिपादितानीति नैकमनेकं सिद्ध्येत् ।

स्यादेतत् – न नीलशब्देन द्रव्यमभिधीयते, किं तर्हि ? नीलाख्यो गुणः तत्समवेता वा नीलत्वजातिः । उत्पलशब्देनाप्युत्पलजातिरेवोच्यते न द्रव्यम् । तेन भिन्नार्थाभिधानादुत्पलादिशब्दान्तराकांक्षा युज्यत एव । नन्वेवं परस्परभिन्नार्थप्रतिपादकत्वेन नितरां नीलोत्पलशब्दयोर्न सामानाधिकरण्यम् वकुलोत्पलशब्दयोरिवैकस्मिन्नर्थे वृत्त्यभावात् । अथ नीलशब्दो यद्यपि गुणविशेषवचनस्तथापि तद्द्वारेण

क्या मालुम ?' इस प्रकार अज्ञान शेष न रह पायेगा, क्योंकि वह नील अगर कमल हो तो उसका उस रूप से, और कज्जल हो तो उस रूप से यानी सर्वात्मना विधिरूप से प्रतिपादन हो जायेगा ।

यदि ऐसा कहें कि नीलादिशब्द से सर्वात्मना नीलस्वलक्षण ज्ञात नहीं होता इस लिये कमल या कज्जल के बारे में अज्ञान शेष रह सकता है तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि एक ज्ञाता को एक काल में एक ही स्वलक्षण में एक धर्म की ज्ञातता और अन्यधर्म की अज्ञातता इन दो धर्मों का समावेश विरुद्ध होने से, अन्य धर्म के बारे में संशय या भ्रम की सम्भावना ही नहीं रहती । अतः प्रयोक्ता को कमलादि शब्दान्तर के प्रयोग करने की कांक्षा भी होने का सम्भव नहीं है । कारण, जिस के लिये 'कमल' आदि शब्द का प्रयोग करना है वह तो नीलशब्द से ही प्रतिपादित हो चुका है । यदि कहें कि – "नीलादिशब्द से वस्तु का एक अंश में ही प्रतिपादन होता है न कि सर्वांश में । अतः अनुक्त अन्यस्वभाव का निरूपण करने के लिये 'कमल' आदि अन्य शब्द का प्रयोग अपेक्षित होता है ।" – तो यह गलत बात है, क्योंकि वस्तु को जब आप 'एक' मानेंगे तब उस एक वस्तु के अनेक अंश सम्भव नहीं है जिस से कि यह माना जा सके कि एक अंश का निरूपण होता है..इत्यादि । कारण, एकत्व और अनेकत्व में 'एक–दूसरे को छोड कर रहना' इस ढंग का विरोध होता है, इसलिये एक वस्तुमें अनेक अंश की बात शक्य नहीं है । अगर आप कहते हैं तो इस का मतलब आप जितने अंश मानते हैं उतनी वस्तु का यानी अनेक वस्तु का ही निरूपण कर रहे हैं ऐसा सिद्ध होगा । फलतः एक वस्तु में अनेकता की सिद्धि नहीं होगी । निष्कर्ष, नील शब्द से पूरे स्वलक्षणरूप एक वस्तु का निरूपण हो जाने से 'कमल' शब्द निरर्थक ठहरने से सामानाधिकरण्य या विशेषण-विशेष्यभाव गगनपुष्प जैसा हो जायेगा ।

☆ नीलत्व या नीलवर्ण की वाच्यता पर आक्षेप ☆

सामान्यवादी : द्रव्य को हम नीलशब्द का वाच्यार्थ नहीं मानते हैं । 'तो किस को मानते हैं ?' नीलवर्णात्मक गुण को या नीलत्व जाति को नीलशब्दवाच्य मानते हैं । अब तो कमलादिभिन्न अर्थ का ही नीलशब्द से निरूपण होगा, अतः कमलादि के निरूपण के लिये 'कमल' आदि शब्द की आकांक्षा होना उचित है ।

अपोहवादी : अरे, ऐसा मानेंगे तो परस्पर भिन्न अर्थों का ही निरूपण करने के कारण 'नील' और 'कमल' शब्द में तनिक भी सामानाधिकरण्य सम्भव नहीं होगा, क्योंकि 'वकुल' और 'कमल' शब्दों में जैसे

नीलगुण-तज्जातिभ्यां सम्बद्धं द्रव्यमप्याह, तथोत्पलशब्देनापि जातिद्वारे(ण) तदेव द्रव्यमभिधीयत इति तयोरेकार्थवृत्तिसम्भवात् सामानाधिकरण्यं भविष्यति न बकुलोत्पलशब्दयोरिति । असदेतत् – नील-गुण-तज्जातिसम्बद्धस्य द्रव्यस्य नीलशब्देन प्रतिपादनात् सर्वात्मना उत्पलश्रुतेर्वैयर्थ्यप्रसंगात् । स्यादेतत् – यद्यपि नीलशब्देन गुणतज्जातिमद् द्रव्यमभिधीयते तथापि नीलशब्दस्यानेकार्थवृत्तिदर्शनात् प्रतिपत्तु-रुत्पलार्थ(र्थे) निश्चितरूपा न बुद्धिरुपजायते कोकिलादेरपि नीलत्वात् – अतोऽर्थान्तरसंशयव्यवच्छेदायो-त्पलश्रुतेः प्रयोगः सार्थक एव । तदप्यसम्यक् प्रकृतार्थानभिज्ञतयाभिधानात् । विधिशब्दार्थपक्षे हि सामानाधिकरण्यं न सम्भवतीत्येतदत्र प्रकृतम् । यदि चोत्पलशब्दः संशयव्यवच्छेदायैव व्याप्रियते न द्रव्यप्रतिपत्तये, न तर्हि विधिः शब्दार्थः स्यात् उत्पलशब्देन भ्रान्तिसमारोपिताकारव्यवच्छेदमात्रस्यैव प्रतिपादनात् । परस्परविरुद्धं चेदमभिधीयते 'नीलशब्देनोत्पलादिकं द्रव्यमभिधीयते अथ न प्रतिपत्तुस्तत्र निश्चयो न जायते' इति । न हि यत्र संशयो जायते स शब्दार्थो युक्त अतिप्रसंगात्, नापि निश्चयेन विषयीकृते वस्तुनि संशयोऽवकाशं लभते, निश्चयाऽऽरोपम- नसोर्बाध्य-बाधकभावात् ।

एकार्थवृत्तित्व (एकार्थवाचकत्व) नहीं है वैसे अब तो नील और कमल शब्दों में भी वह नहीं है ।

सामान्यवादी : यद्यपि नीलशब्द गुणविशेष का ही वाचक है, फिर भी गुणनिरूपण द्वारा नीलगुण और नीलत्व जाति से सम्बद्ध (कमलरूप) द्रव्य का भी परम्परया वाचक है । इसी तरह 'कमल' शब्द भी कमलत्वजाति के निरूपण द्वारा कमलद्रव्य का अभिधान करता है । इस प्रकार 'नील' और 'कमल' शब्द भिन्न भिन्न अर्थनिरूपण के द्वारा परम्परया एक द्रव्य का निरूपण करता है इसलिये एकार्थवृत्ति हो जाने से उन में सामानाधिकरण्य घट सकेगा । जब कि 'बकुल' और 'कमल' शब्द परम्परया एकार्थवृत्ति न होने से उन में सामानाधिकरण्य न हो तो कोई चिन्ता नहीं ।

अपोहवादी : यह बात गलत है । कारण जब नीलशब्द से नीलगुण और नीलत्वजाति के निरूपण द्वारा तत्सम्बद्ध द्रव्य का पूर्णरूपसे प्रतिपादन हो जायेगा तो 'कमल' शब्द का प्रयोग व्यर्थ ठहरेगा ।

सामान्यवादी : 'नील' शब्द से गुण और जाति के द्वारा यद्यपि द्रव्य का अभिधान होता है, किन्तु ऐसे 'नील' शब्द अनेक अर्थ में वृत्ति (=अनेक अर्थों का वाचक) होने का दिखाई देने से श्रोता को 'कमल' रूप एक निश्चित अर्थ की बुद्धि का जनक ('कमल' शब्दप्रयोग के बिना) नहीं हो सकता । कारण, कमल नील होता है वैसे कोयल आदि भी नील होते हैं । अतः अन्य कोयल आदि अर्थ के बारे में संशय रहेगा । उस को दूर करने के लिये 'कमल' शब्द का प्रयोग सार्थक होगा ।

अपोहवादी : यह बात भी ठीक नहीं । कारण, जो कुछ आपने कहा वह प्रस्तुत बात को समझे बिना ही कह दिया है । प्रस्तुत बात यह है कि 'विधिरूप शब्दार्थवादी के मत में सामानाधिकरण्य नहीं घटता है ।' अगर आप सिर्फ 'यह नील द्रव्य कमल है या कोयल' ऐसे संशय को मिटाने के लिये ही कमल-शब्द का प्रयोग करते हैं, द्रव्य का प्रतिपादन करने के लिये नहीं, तब तो 'कमल' शब्द से विधिरूप अर्थ फलित नहीं हुआ क्योंकि आपने तो सिर्फ भ्रान्ति से आरोपित कोयलादि आकार के व्यवच्छेद के लिये ही उस का प्रयोग किया है । तो क्या आप के इस कथन में परस्पर विरोध नहीं दीखता ? कि – एक ओर कहते हैं कि 'नील शब्द से कमल द्रव्य का अभिधान होता है' और दूसरी ओर यह कहते हैं कि 'नील' शब्द से श्रोता

स्यादेतत् – यद्यपि नीलोत्पलशब्दयोरेकस्मिन्नर्थे वृत्तिर्नास्ति तदर्थयोस्तु (जाति ?)गुणजात्योरेकस्मिन् द्रव्ये वृत्तिरस्तीत्यतोऽर्थद्वारकमनयोः सामानाधिकरण्यं भविष्यति । तदेतदयुक्तम् अतिप्रसंगात् । एवं हि रूप-रसशब्दयोरपि सामानाधिकरण्यं स्यात् तदर्थयो रूपरसयोरेकस्मिन् पृथिव्यादिद्रव्ये वृत्तेः । किंच, तर्हि 'नीलोत्पलम्' इत्येकार्थविषया बुद्धिर्न प्राप्नोति एकद्रव्यसमवेतयोर्गुण-जात्योर्द्वाभ्यां पृथक् पृथगभिधानात् । न चैकार्थविषयज्ञानानुत्पादे शब्दयोः सामानाधिकरण्यमस्तीत्यलमतिप्रसंगेन । अथापि स्यात् यदेव नीलगुण-तज्जातिभ्यां सम्बद्धं वस्तु न तदेवोत्पलशब्देनोच्यते, तेनोत्पलश्रुतिर्व्यर्था न भविष्यति । नन्वेवं भिन्नगुणजात्याश्रयद्रव्यप्रतिपादकत्वान्नीलोत्पलशब्दयोः कुतः सामानाधिकरण्यम् ? अथ यद्यपि द्रव्यं नीलशब्देनोच्यते उत्पलशब्देनापि तदेव, तथापि नीलशब्दो नोत्पलजातिसम्बन्धिरूपेण द्रव्यमभिधत्ते, किं तर्हि ? नीलगुण-तज्जाति सम्बन्धिरूपेणैव, तेनोत्पलत्वजातिसम्बन्धिरूपत्वमस्याभिधातुमुत्पलश्रुतिः प्रवर्त्तमाना नां(ना)नर्थिका भविष्यति । असदेतत् – न हि नीलगुण-तज्जातिसम्बन्धिरूपत्वादन्यदेवो-

को 'कमल' का निश्चय नहीं होता (संशय होता है) । आप यह सोचिये कि शब्द से जिस अर्थ में संशय उत्पन्न होगा वह कभी शब्दार्थ नहीं माना जा सकता, क्योंकि संशयारूढ अर्थ को यदि शब्दार्थ मानेंगे तो 'अश्व' शब्द से शेर का संशय उत्पन्न होने पर शेर को भी अश्व शब्द का वाच्यार्थ मानना पडेगा – यह अतिप्रसंग दोष होगा । दूसरी वात यह है कि अगर नील शब्द से किसी द्रव्य का निश्चय होना मानेंगे तो निश्चयविषयीकृत द्रव्य के वारे में संशयोत्पत्ति को अवकाश ही नहीं रहेगा क्योंकि निश्चयचित्त और आरोपात्मक (संशयात्मक) चित्त ये दोनों आपस में वाध्य-वाधक हैं । अर्थात् निश्चय वाधक है, आरोप (संशय) वाध्य है ।

★ वाच्यार्थों का सामानाधिकरण्य अनुपयोगि ★

यदि यह कहा जाय कि – "नील और कमल शब्द यद्यपि एक अर्थ में वृत्ति (यानी स्ववाच्यत्वरूप सम्वन्ध से एकार्थवृत्तित्व) नहीं है फिर भी उन के वाच्यार्थ क्रमशः नीलगुण और कमलत्व जाति ये दोनों एक ही कमलद्रव्य में रहते हैं, अतः वाच्यार्थ समानाधिकरण होने से उन के द्वारा वाचक शब्दो में सामानाधिकरण्य हो सकता है" – तो यह वात गलत है । कारण, रूप एवं रस ये दो वाच्यार्थ भी एक द्रव्य में रहने वाले हैं अतः उन के द्वारा वाचक रूप–रस शब्दों मे भी सामानाधिकरण्य मानना पडेगा । फलतः नीलकमल की तरह 'रूप–रस' ऐसा अनिष्ट कर्मधारय समास आ पडेगा ।

दूसरी वात यह है कि नील एवं कमल शब्दों के द्वारा एकद्रव्य में समवेत गुण-और जाति का पृथक् पृथक् प्रतिपादन मानेंगे तव 'नील-कमल' एक सामासिक शब्द से जो एकार्थविषयकअनुभव होता है वह कभी नहीं होगा । तथा जव तक एकार्थानुभव नहीं होगा तव तक उन शब्दों में सामानाधिकरण्य की भी उपपत्ति नहीं हो सकेगी । अधिक दोषों की वात जाने दो ।

'कमल' शब्द की सार्थकता घटाने के लिये यदि ऐसा कहें कि – "नीलगुण या नीलत्व जाति से सम्वद्ध जो वस्तु है वही कमलशब्द का वाच्य है ऐसा हम नहीं मानते जिस से कि कमलशब्द निरर्थक हो जाय ! (कमलशब्द से हम कमलत्वजातिसम्वन्धि वस्तु का प्रतिपादन मानते हैं)" – तो यह भी ठीक नहीं है । कारण 'नील' शब्द कमलशब्दवाच्य कमलत्वजातिमद् से भिन्न ही नीलगुण या नीलत्वजाति के आश्रय भूत द्रव्य का प्रतिपादक होने से यहाँ सामानाधिकरण्य की गन्ध भी कहाँ ? यदि कहें कि – "कमल शब्द से उसी द्रव्य

त्पलत्वजातिसम्बन्धिरूपत्वं येन नील-तज्जातिसम्बन्धिरूपत्वाभिधाने द्रव्यस्योत्पलत्वजातिसम्बन्धिरूपत्वाभिधानं (न) भवेत्, एकस्माद् द्रव्याद् द्वयोरपि सम्बन्धिरूपत्वयोरव्यतिरेकात् तयोरप्येकत्वमेवेत्येकमेकरूपाभिधानेऽपररूपस्यानभिधानम् । भवतु वोत्पलत्वसम्बन्धिरूपत्वं नीलतज्जातिसम्बन्धिरूपत्वादन्यत् तथाप्युत्पलश्रुतिरनर्थिकैव । तथाहि – यत् तद् अनंशं वस्तु उत्पलजात्या सम्बद्धं तदेव नीलगुण-तज्जातिभ्यां सम्बद्ध्यते, तच्चानंशत्वात् सर्वात्मना नीलश्रुत्यैवाभिहितम् किमपरमनभिहितमस्य स्वरूपमस्ति यदभिधानायोत्पलश्रुतिः सार्थिका भवेत् ?!

उद्द्योतकरस्त्वाह – 'निरंशं वस्तु सर्वात्मना विषयीकृतं नांशेन' इत्येवं विकल्पो नावतरति, सर्वशब्दस्यानेकार्थविषयत्वात् एकशब्दस्य चावयववृत्तित्वात् – इति ।

असदेतत् वाक्यार्थाऽपरिज्ञानत एवमभिधानात् । तथाहि – 'प्रथमेनैव नीलशब्देन सर्वात्मना तत् प्रकाशितम्' इत्यस्यायमर्थो विवक्षितः – यादृशं तद् वस्तु तादृशमेवाभिहितम् न तस्य कश्चित् स्वभावस्त्वपरः यदभिधानायोत्पलश्रुतिर्व्याप्रियते निरंशत्वात् तस्य । इति वाक्छलमेतत् – 'कृत्स्नैकदेशवि-

का प्रतिपादन होता है जिस का नील शब्द से प्रतिपादन किया जाता है, तथापि (कमलशब्द निरर्थक नहीं है, क्योंकि) नीलशब्द कमलत्वजाति के आश्रयरूप में द्रव्य का निरूपण नहीं करता, किन्तु नीलगुण या नीलत्व जाति के आश्रय रूप में द्रव्यनिरूपण करता है, अत एव कमलत्वजाति के आश्रयरूप में द्रव्यनिरूपण करने के लिये 'कमल' शब्द का प्रयोग निरर्थक नहीं होगा ।'' – तो यह बात भी ठीक नहीं है । कारण, नीलगुण या नीलत्व जाति की सम्बन्धिरूपता और कमलत्वजातिसम्बन्धिरूपता इन दोनों में कोई भेद नहीं है जिस से कि नील शब्द से नील गुण या नीलत्वजाति की आश्रयरूपता का प्रतिपादन होने पर कमलत्वजाति की आश्रयरूपता का प्रतिपादन शेष बचे । एक द्रव्य में रही हुई दो आश्रयरूपता उस द्रव्य से भिन्न या पृथक् न होने से परस्पर भी उन दोनों आश्रयरूपता में भेद होना असम्भव है । अतः एक के प्रतिपादन में दूसरे का प्रतिपादन हो ही जाता है, शेष नहीं रहता ।

अथवा मान लिया कि कमलत्वजातिसम्बन्धिरूपता और नीलगुण या नीलत्वजाति की सम्बन्धिरूपता एक नहीं है भिन्न है, तो भी 'कमल' शब्दप्रयोग निरर्थक ही है । देखिये – एक ही निरंश वस्तु जो कमलत्व जाति से सम्बद्ध है वही नीलगुण या नीलत्व जाति से सम्बद्ध है । मतलब, भिन्न भिन्न जाति से सम्बद्ध होने पर भी वस्तु तो एक और निरंश ही है । निरंश वस्तु का आंशिक प्रतिपादन असम्भव है इसलिये नीलशब्द से जिस वस्तु का प्रतिपादन होगा वह सम्पूर्णरूप से ही होगा, किसी एक अंश से नहीं क्योंकि प्रतिपाद्य वस्तु निरंश है । जब नीलशब्द से सम्पूर्णतया उस वस्तु का निरूपण हो गया तो अब कौन सा स्वरूप शेष बचा (अकथित रहा) जिस के निरूपण के लिये 'कमल' शब्द का प्रयोग सार्थक कहा जा सके ? !

★ उद्द्योतकर के प्रत्युत्तर का निरसन ★

उद्द्योतकरने जो यह कहा है कि – ''निरंश वस्तु के बारे में 'एक अंशरूप से नहीं किन्तु संपूर्णरूप से विषय बनती है' ऐसे किसी विकल्प को अवकाश नहीं है । कारण, 'सर्व' शब्द वस्तु के अनेक अर्थों (= अवयवों) का वाचक होता है और एक शब्द वस्तु के एक अवयव का वाचक होता है, निरंश वस्तु निरवयव होने से इसलिये उस के बारे में 'एक अंश से या सर्वांश से विषय बनती है' ऐसे विकल्प को स्थान ही नहीं है ।''

उद्द्योतकर की यह बात गलत है । वाक्यार्थ को समझे बिना ही यह कह दिया है । देखिये – ''प्रथम

कल्पानुपपत्तिस्तत्र' इति । एवमन्येषामप्यनित्यादिशब्दानां प्रयोगोऽनर्थकः प्रयोगे वा पर्यायत्वमेव स्यात् तरु-पादपादिशब्दवत् । उक्तं च – "अन्यथैकेन शब्देन व्याप्त एकत्र वस्तुनि । बुद्ध्या वा नान्यविषय इति पर्यायता भवेत् ॥" (द्रष्टव्यम् प्र० वा० ३-५१) इति ।

अथ 'भवत्पक्षेऽप्येकेन शब्देनाभिहिते वस्तुनि भेदान्तरे संशय-विपर्यासाभावप्रसंगः शब्दान्तरप्रवृत्तिप्रसंगश्च कस्मान्न भवति ?'– संवृत्या शब्दार्थाभ्युपगमान्नास्माकमयं दोषः । तथाहि – नीलशब्देनानीलपदार्थव्यावृत्तमुत्पलादिषूपप्लवमानरूपतया तेषामप्रतिक्षेपकमध्यवसितवाह्यरूपं विकल्पप्रतिविम्वकमुपजायते पुनरुत्पलश्रुत्या तदेवानुत्पलव्यावृत्तमारोपितवाह्यैकवस्तुस्वरूपमुपजन्यते, तदेवं क्रमेणानीलानुत्पलव्यावृत्तमध्यवसितवाह्यैकरूपं भ्रान्तं विकल्पप्रतिविम्वकमुपजन्यत इति तदनुरोधात् सांवृतं सामानाधि-

---

नीलशब्द से वस्तु का सम्पूर्णरूप से प्रकाशन हो गया' हमारे इस वाक्य का विवक्षित अर्थ यह है कि नील शब्द से वस्तु जैसी है वैसा ही उस का प्रतिपादन हो गया । कोई ऐसा स्वभाव उस वस्तु का नहीं रह जाता जो नील शब्द से अनुक्त रह गया हो और उसके लिये 'कमल' शब्दप्रयोग की आवश्यकता खडी रहे । कारण, वस्तु निरंश होती है, इसलिये एक नीलादि शब्द से उस का पूरा प्रतिपादन हो सकता है अधूरा नहीं । अतः उद्द्योतकर आदि नैयायिक जो यह बोलते हैं कि 'निरंश वस्तु में सर्व या एकदेश के विकल्प संगत नहीं है', यह सिर्फ वाक्छल के अलावा और कुछ नहीं है चूँकि सर्व शब्द से हम क्या कहना चाहते हैं वह पहले समझना चाहिये ।

तथा, कमलशब्द का प्रयोग जैसे नैयायिक मत में निरर्थक ठहरा वैसे 'घट अनित्य' इत्यादि वाक्यों में अनित्यादिशब्दों का प्रयोग भी सार्थक सिद्ध होना कठिन है । फिर भी यदि करते हैं तो वहाँ पर्यायता ही प्रसक्त होती है जैसे वृक्ष शब्द के वाद 'तरु' शब्द का प्रयोग करे तो वह पर्यायवाची से अतिरिक्त कुछ नहीं है । प्रमाणवार्त्तिककार ने भी यही कहा है –

"एक शब्द या वुद्धि सर्वरूप से यदि किसी एक वस्तु को विषय करेगा तो वह सर्वरूप से ज्ञात हो जाने के कारण और कोई विषय शेष न रहने से दूसरे शब्द का प्रयोग (निरर्थक हो जायेगा या) सिर्फ पर्यायतादर्शक ही रहेगा ।"

★ अपोहवाद में सांवृत सामानाधिकरण्य ★

यदि हमारे सामने कोई ऐसा कहें कि – "वौद्धमत में भी अपोहवाद में नीलादि एक शब्द से सम्पूर्ण वस्तु का निरूपण हो जाने पर कमलादि अन्य स्वरूप के वारे में न तो संशय होगा, न भ्रम हो सकता है । फलतः 'कमल' आदि शब्दों की निरर्थकता (प्रवृत्ति अभाव) का प्रसंग आप के मत में क्यों नहीं होगा ?" – तो इस का उत्तर यह है कि अपोहवाद में काल्पनिक शब्दार्थ माना गया है इसलिये उपरोक्त दोष निरवकाश है । तात्पर्य यह है कि – हमारे मतानुसार, 'नील' शब्द से वाह्यरूप से अध्यवसित विकल्पात्मक प्रतिविम्व पैदा होता है जो अनील से व्यावृत्त होता है किन्तु कमलादि के वारे में अनिश्चयात्मक होने से उन का व्यावर्त्तक नहीं होता । अतः जव 'कमल' शब्द का प्रयोग होता है तव 'अकमल' व्यावृत्ति प्रतिविम्व पैदा होता है जिस में वाह्य वस्तुस्वरूप आरोपित रहता है । इस प्रकार क्रमशः अनीलव्यावृत्त और अकमलव्यावृत्त विकल्पप्रतिविम्व पैदा होते हैं जिन में वाह्यरूपता आरोपित होने के कारण ये भ्रमात्मक होते हैं, और इन में वैसे ही कल्पनानुसार

करण्यं युज्यत एव ।

यदुक्तम् –'लिङ्गसंख्यादिसम्बन्धो न चापोहस्य विद्यते' (६७-८) इति–अत्र वस्तुधर्मत्वं लिङ्ग-संख्यादीनामसिद्धम् स्वतन्त्रेच्छाविरचितसंकेतमात्रभावित्वात् । प्रयोगः – यो यदन्वय-व्यतिरेकौ नानुविधत्ते नासौ तद्धर्मः, यथा शीतत्वमग्नेः, नानुविधत्ते च लिङ्गसंख्यादिर्वस्तुनोऽन्वय-व्यतिरेकाविति व्यापका-नुपलब्धिः । न चायमसिद्धो हेतुः, यतो यदि लिंगं वस्तुतो वस्तु स्यात् तदैकस्मिंस्तटाख्ये वस्तुनि 'तटः तटी तटम्' इति लिंगत्रययोगिशब्दप्रवृत्तेरेकस्य वस्तुनस्त्रैरूप्यप्रसक्तिः स्यात् । न चैकस्य स्त्री-पुं-नपुं-सकाख्यं स्वभावत्रयं युक्तम् एकत्वहानिप्रसंगात् विरुद्धधर्माध्यासितस्याप्येकत्वे सर्वविश्वमेकमेव वस्तु स्यात्; ततश्च सहोत्पत्ति-विनाशप्रसंगः ।

किञ्च सर्वस्यैव वस्तुन एकशब्देन शब्दान्तरेण वा लिंगत्रयप्रतिपत्तिदर्शनात् तद्विषयाणां सर्वचेतसां मेचकादिरत्नवच्छबलाभासताप्रसंगः । अथ सत्यपि लिंगत्रययोगित्वे सति सर्ववस्तूनां यदेव रूपं वक्तुमिष्टं

सामानाधिकरण्य भी घट सकता है ।

★ शब्दयोगि लिंग तात्त्विक नहीं होता ★

यह जो पहले कहा था – अपोह के साथ लिंग और संख्या आदि का सम्बन्ध असत् है (पृ० ६७ पं० ३२) – उस के बारे में इस तथ्य को समझना चाहिये कि लिंग या संख्या आदि ये कोई वास्तविक वस्तुधर्म ही नहीं है । कारण, लिंग आदि सिर्फ वक्ता की स्वतन्त्र ईच्छा के मुताबिक ही संकेतित किये जाते हैं । यहाँ अनुमान प्रयोग सुनिये – जो जिसके साथ अन्वय-व्यतिरेक धारण नहीं करता वह उस वस्तु का धर्म नहीं होता, उदा० शैत्य अग्नि का । लिंग-संख्या आदि भी वस्तु के अन्वय-व्यतिरेक को धारण नहीं करते, अतः वे भी वस्तु के धर्म नहीं है । वस्तु के अन्वय-व्यतिरेक वस्तुधर्मत्व के व्यापक हैं, उन की अनुपलब्धि को हेतु बना कर यहाँ व्याप्य का अभाव सिद्ध किया है । इस हेतु को कोई असिद्ध नहीं कह सकता । कारण यह है कि लिंग अगर वास्तव में वस्तुरूप होता तो संस्कृत भाषा में जो एक ही 'तट' नामक वस्तु के लिये 'तटः, तटी, तटम्' इस प्रकार तीन लिंगो के सूचक पदों की प्रवृत्ति होती है इस के आधार पर एक ही 'तट' वस्तु में (लिंग वास्तविक होने पर) परस्पर विरुद्ध तीन लिंगो की प्रसक्ति होगी । एक ही वस्तु में स्त्रीत्व-पुंस्त्व और नपुंसकत्व ये तीन स्वभाव युक्तिसंगत नहीं है फिर भी मानेंगे तो उन की आधारभूत वस्तु के एकत्व का भंग होगा । विरुद्ध धर्मों से अध्यासित वस्तु को यदि 'एक' मानने का आग्रह रखेंगे तो फिर विश्व में कहीं भी भेद सुरक्षित न रहने से सारा विश्व एक वस्तुरूप मानना पड़ेगा । फलतः किसी एक वस्तु के उत्पाद-विनाश होने पर पूरे विश्व का सहोत्पाद – सहविनाश मानने की आपत्ति होगी ।

★ लिंगत्रय के सांकर्य की आपत्ति ★

दूसरी बात यह है कि हर किसी वस्तु में एक या दूसरे शब्द से तीनों लिंगो का निरूपण होता है, उदा० संस्कृत भाषा में 'वस्तु' शब्द से प्रत्येक चीज का नपुंसकरूप से, पदार्थशब्द से पुरुषरूप से और व्यक्तिशब्द से स्त्रीरूप से प्रतिपादन होता है । फलतः हर हर वस्तु [illegible] (चितकबरा) [illegible] तीनों लिंग से संकीर्ण स्वभाववाले मानने की आपत्ति होगी । यदि कहें – 'वस्तुगत लिंगत्रयप्रतिनियम होने पर भी वक्ता का जिस लिंग के प्रतिपादन में तात्पर्य होगा, [illegible]

प्रतिपादकेन तन्मात्रावभासान्येव विवक्षावशाच्चेतांसि भविष्यन्ति न शवलाभासानि – ननु यदि 'विवक्षावशादेकरूपाणि चेतांसि भवन्ति' इत्यंगीक्रियते तदा तानि त्र्यात्मकवस्तुविषयाणि न प्राप्नुवन्ति तदाकारशून्यत्वात्, चक्षुर्विज्ञानवत् शब्दविषये ।

योऽपि मन्यते – संस्त्यान-प्रसव-स्थितिषु यथाक्रमं स्त्री-पुं-नपुंसकव्यवस्था(?स्थे)ति – तस्यापि तन्न युक्तम्, यतो यदि स्थित्याद्याश्रया लिंगव्यवस्था तदा तट-शृंखलादिवत् सर्वपदार्थेष्वविभागेन त्रिलिंगताप्रसक्तिः स्थित्यादेर्विद्यमानत्वात्, अन्यथा 'तटः तटी तटम्' इत्यादावपि लिंगत्रयं न स्यात् विशेषाभावात्, इत्यतिव्यापिता लक्षणदोषः । व्यभिचारदर्शनाद् वाऽव्यापिता च, असत्यपि हि स्थित्यादिके शशविषाणादिष्वसद्रूपेसु(?षु) 'अभावः' – 'निरुपाख्यम्' – 'तुच्छता' इत्यादिभिः शब्दैः लिंगत्रयप्रतिपत्तिदर्शनात् । इतश्चाऽव्यापिनी – स्थित्यादिष्वेव प्रत्येकं लिंगत्रययोगिशब्दप्रवृत्तिदर्शनात् । तथाहि – प्रसवः = उत्पादः संस्त्यानं = विनाशः आत्मस्वरूपं च स्थितिः, तत्र प्रसवे स्थिति–संस्त्यानयोरभावात् कथं 'उत्पादः उत्पत्तिः जन्म' इत्यादेः स्त्री-पुं-नपुंसकलिंगस्य शब्दस्य प्रवृत्तिर्भवेत् ? तथा, संस्त्याने स्थि-

---

की विवक्षा के अधीन उत्पन्न होगा, अतः चित्तमें लिंगत्रय संकीर्णता मानने की आपत्ति नहीं होगी' – तो इतना कहने से काम नहीं चलेगा, क्योंकि 'विवक्षा के अनुरूप एक-एक स्वभाववाले ही चित्त उत्पन्न होने' की वात को मान लेंगे तो उसका मतलव यही होगा कि वे चित्त तीन लिंग वाले वस्तु को विषय नहीं करते हैं क्योंकि लिंगत्रयाकार से शून्य हैं, जैसे कि चाक्षुष ज्ञान शब्दाकारशून्य होने से शब्दात्मक वस्तु को विषय नहीं करता । परिणामस्वरूप, वस्तु में वास्तवधर्मरूप लिंग–संख्यादि को मानना निरर्थक है ।

★ संस्त्यान आदि के आधार पर लिंग-व्यवस्था असंगत ★

ऐसा जो मानते हैं कि संस्त्यान (=विनाश) सूचित करने के लिये स्त्रीलिंग, प्रसव (=उत्पत्ति) के लिये पुल्लिंग और स्थिति के लिये नपुसंकलिंग का प्रयोग करने की व्यवस्था है – तो यह भी ठीक मान्यता नहीं है । कारण, जव स्थिति-प्रसवादि के आधार पर लिंग की व्यवस्था करेंगे तो तट और शृंखलादि शब्दों की तरह हर किसी शब्द में तीनों लिंग की आपत्ति आयेगी क्योंकि उन शब्दों के वाच्यार्थों में स्थिति आदि तीनों की विद्यमानता अवाधित है । फिर भी आप उनमें तीनों लिंग नहीं मानेंगे तो तट आदि शब्दों में जो 'तटः तटी तटम्' तीन लिंगो का प्रयोग होता है वह नहीं हो पायेगा क्योंकि स्थिति आदि को छोड कर और कोई विशेषता तो उन में है नहीं । तात्पर्य, संस्त्यानादि लक्षण के आधार पर की जाने वाली लिंगव्यवस्था अलक्ष्य में भी प्रसक्त होने से अतिव्याप्तिदोषग्रस्त है । उपरांत, लक्ष्य के कुछ भाग में अभाव होने के कारण अव्याप्ति दोष भी प्रसक्त है, जैसे कि शशशृंगादि असत् पदार्थों के वारे में 'अभावः निरुपाख्यम्, तुच्छता' इत्यादि शब्दों से तीनों लिंग का प्रतिपादन तो सर्वमान्य है किन्तु वहाँ स्थिति आदि एक भी लक्षण नहीं है अतः अव्याप्ति स्पष्ट है । तदुपरांत दूसरे ढंग से भी अव्याप्ति देखिये – स्थिति-प्रसव आदि के लिये तीनों लिंग का प्रयोग सर्वमान्य है, किन्तु स्थिति में प्रसव-विनाश नहीं होते अतः अव्याप्ति होगी । विशेष स्पष्टता के लिये यह ध्यान में रखा जाय कि प्रसव का मतलव है उत्पाद, संस्त्यान का विनाश और स्थिति आत्मस्वरूपावस्था रूप होती है । अव यह प्रश्न उठेगा कि प्रसव में न तो संस्त्यान है न स्थिति, तो प्रसव के लिये 'उत्पादः, उत्पत्तिः, जन्म' इस प्रकार तीनों लिंग वाले शब्दों की प्रवृत्ति कैसे होगी ? वैसे ही, संस्त्यान में स्थिति और प्रसव नहीं है, तो उस के लिये 'तिरोभूतिः, विनाशः, तिरोभवनम्' ऐसे तीन लिंगो की शब्दप्रवृत्ति कैसे होगी – और

तिप्रसवयोरभावात् कथं 'तिरोभूतिः' 'विनाशः' तिरोभवनम्' इत्यादिभिः शब्दैर्व्यपदिश्यते 'संस्त्यानम्' इत्यनेन च ? तथा, स्थितौ संस्त्यानप्रसवयोरसंभवात् 'स्थितिः' 'स्थानम्' 'स्वभावः' चेत्यादिभिः शब्दैः कथमुच्येत ? अथ स्थित्यादीनां परस्परमविभक्तरूपत्वात् प्रत्येकमेषु लिंगत्रययोगिता । ननु परस्परमविभक्तं रूपं तदेकमेव परमार्थतो लिंगं स्यात् न लिंगत्रयम् ।

अन्यस्त्वाह – "स्त्रीत्वादयो गोत्वादय इव सामान्यविशेषाः" [ ] तत्र पक्षे सामान्य-विशेषाणामभावा(त्) स्त्रीत्वादीनामपि तद्रूपाणामभावः इत्यसम्भवि लक्षणम् । किञ्च, तेष्वेव सामान्यविशेषेष्वन्तरेणाप्यपरं सामान्यविशेषं 'जातिः भावः सामान्यम्' इत्यादेः स्त्री-पुं-नपुंसकलिङ्गस्य प्रवृत्तिदर्शनात् अव्यापिता च लक्षणस्य । न हि सामान्येष्वपराणि सामान्यानि "निःसामान्यानि सामान्यानि"[ ] इति वैशेषिकसिद्धान्तात् । यदा तु सामान्यस्याप्यपराणि सामान्यानीष्यन्ते वैयाकरणैः, यथोक्तम् – (वाक्यप० तृ० का० श्लो० ११)

'संस्त्यानम्' इस नपुंसकलिंगशब्दप्रवृत्ति भी कैसे होगी ? वैसे ही – स्थिति में प्रसव और संस्त्यान संभव नहीं होते, तो 'स्थितिः स्थानम्, स्वभावः' इस प्रकार लिंगत्रयवाले शब्दों की प्रवृत्ति कैसे हो सकेगी ?

अगर कहें कि – स्थिति-प्रसव-संस्त्यान ये तीनों एक दूसरे से अविभक्त रूप वाले हैं अतः स्थिति आदि में प्रसव आदि विद्यमान होने से उनमें तीनों लिंगो की प्रवृत्ति हो सकती है – तब तो निष्कर्ष यही फलित होगा कि एक-दूसरे से अविभाक्त रूप वाले तीनों लिंग वास्तव में एक ही है तीन पृथक् पृथक् लिंग नहीं है । सिर्फ कल्पना से तीन लिंग माने जाय तो हमें कोई बाध नहीं है क्योंकि पहले ही हमने कहा है कि लिंग-संख्यादि वास्तविक नहीं है किन्तु काल्पनिक हैं ।

★ स्त्रीत्व आदि लिंग सामान्यविशेषरूप नहीं हैं ★

अन्य कोई कहता है – स्त्रीत्व, पुंस्त्व आदि ये गोत्व–अश्वत्व की तरह सामान्यविशेष (उभयरूप) है । सकल गो में रहने के कारण गोत्व सामान्यरूप भी है और अश्वादि व्यावृत्त होने के कारण वह विशेषरूप भी है इसी तरह स्त्रीत्वादि में भी समझ सकते हैं ।

बौद्ध कहता है कि इस पक्ष में भी स्त्रीत्वादि की वास्तविकता सिद्ध नहीं हो सकती । कारण, जब सामान्य विशेष (उभयात्मक) वस्तु भी परमार्थतः सिद्ध नहीं है तो सामान्यविशेषात्मक स्त्रीत्वादि कैसे सिद्ध हो सकते हैं ? ! फिर स्त्रीत्वादि के लक्षण का तो सम्भव भी कहाँ ? दूसरी बात यह है कि गोत्वादि सामान्यविशेषों के लिये भी 'जाति' 'भाव' 'सामान्य' ऐसे तीनों लिंगो का प्रयोग होता है, अतः उन गोत्वादि में भी स्त्रीत्वादि सामान्यविशेष की कल्पना करनी पडेगी किन्तु यह तो सम्भव नहीं है तो फिर सामान्य-विशेष के बिना उन में तीन लिंगों का प्रयोग कैसे शक्य होगा ? और स्त्रीत्वादि का लक्षण भी उन में कैसे घटेगा ? गोत्वादि में लिंगप्रयोग निर्बाध होता है और सामान्यविशेष रूप लक्षण तो उन में है नहीं अतः लक्षण में अव्याप्ति दोष प्रसक्त होगा । ऐसा नहीं कह सकते कि – सामान्य में भी और सामान्य का सद्भाव मान लेंगे – क्योंकि वैशेषिकों की यह मान्यता है कि 'सामान्य' सामान्यशून्य होता है ।

वैयाकरण लोग कहते हैं कि हम तो सामान्य में भी और सामान्य मानते हैं जैसे कि वाक्यपदीय के

"अर्थजात्यभिधानेऽपि सर्वे जातिविधायिनः"* । व्यापारलक्षणा यस्मात् पदार्थाः समवस्थिताः ॥"

न हि शास्त्रान्तरपरिदृष्टा जातिव्यवस्था नियोगतो वैयाकरणैरभ्युपगन्तव्या, प्रत्ययाभिधानान्वयव्यापारकार्योन्नीयमानरूपा हि जातयः, न हि तासामियत्ता काचित्, अतो यथोदितकार्यदर्शनात् सामान्याधारा जातिः सम्प्रतिज्ञायते तथाभूतप्रत्यय-शब्दनिवन्धनम् । 'व्यापारलक्षणा' इति अभिधानप्रत्ययव्यापारतो व्यवस्थितलक्षण इत्यर्थः । – तदाऽनन्तरोक्तमेव दूषणम् – 'सामान्यस्याभावात्' इत्यादि । अपि च न हि असत्सु शशविषाणादिसु जातिरस्ति वस्तुधर्मत्वात् तस्याः, इति तेषु 'अभाव'आदिशब्दप्रयोगो न स्यात् । तस्मादव्यापिनी लिंगव्यवस्थेतीच्छारचितसंकेतमात्रभाविन्येवेयं लिंगत्रयव्यवस्थेति स्थितम् ।

संख्याया अपि वस्तुगतान्वयव्यतिरेकानुविधानाभावो नासिद्धः । तथाहि – सा मायिक्ये(व) न वास्तवी दारादिष्वसत्यपि वास्तवे भेदे विवक्षावशेनोपकल्पितत्वात्, अन्यथा बहुत्वैकत्वादिसंख्या वस्तु-

कहा है "कुछ शब्दों में से अर्थगत जाति का निरूपण होने पर शब्द मात्र से भी जाति का निरूपण होता है (अर्थात् गोत्वादि जातिवाचक शब्द भी गोत्वादिजातिगत जाति का ही निरूपण करता है) क्योंकि अपने कार्यों के अनुरूप ही पदार्थ स्थित होता है" अतः वैशेपिक आदि अन्य शास्त्रकारों के द्वारा की गयी जाति सम्बन्धि व्यवस्था मानने के लिये व्याकरणशास्त्री कोई वचनवद्ध नहीं है । समानाकार प्रतीति और समान नामप्रयोग का अन्वय ये दो व्यापारात्मक कार्य लिंग बन कर जाति की अनुमिति को जन्म देते हैं । इन अनुमितिसिद्ध जातियों की संख्या में कोई इयत्ता (= नियन्त्रणा) नहीं है । इसलिये समानाकारप्रतीति आदि कार्य के दर्शन से जाति को भी जाति के अधिकरणरूप में व्याकरणशास्त्री घोपित करते हैं । अतः जाति भी स्त्रीत्वादि के रूप में प्रतीत होती है और उस के लिये तीनों लिंगो का प्रयोग भी संगत होता है । वाक्यपदीय के श्लोक में जो 'व्यापार-लक्षणा पदार्थाः' कहा है उस का मतलब यह है कि तुल्यनामप्रयोग और समानाकार प्रतीतिरूप व्यापार के द्वारा पदार्थों का लक्षण सुज्ञात होता है ।

बौद्ध यहाँ कहता है कि जो दूषण हमने वैशेपिक मत में अभी दिखाया था वही – सामान्य कोई वास्तविक अर्थ ही नहीं है – यही दूषण व्याकरणशास्त्री के मत में भी तदवस्थ ही है । यह भी सोचने जैसा है कि शशशृंग आदि असत् पदार्थोंमें तो जाति का अस्तित्व ही नहीं होता, क्योंकि जाति तो सद्भूत अर्थ का धर्म होती है अतः उन असत् पदार्थों के लिये स्त्रीत्वादि जाति के विरह में 'अभाव' ऐसा पुल्लिंग शब्दप्रयोग नहीं हो सकेगा । निष्कर्ष, वैशेपिकादि कल्पित जातिव्यवस्था अपने सभी लक्ष्यों तक पहुँच सके ऐसी व्यापक नहीं है, अतः सिद्ध होता है कि तीन लिंगो की व्यवस्था सिर्फ इच्छा–कल्पना से किये गये संकेत पर ही अवलम्बित है ।

★ लिंग की तरह संख्या भी काल्पनिक ★

"लिंग – संख्यादि का अपोह के साथ सम्बन्ध नहीं हैं क्योंकि लिंगादि वस्तुधर्म हैं" – इस के सामने अपोहवादी आगे कहता है कि लिंग की तरह संख्या भी वस्तु के साथ अन्वय–व्यतिरेक का अनुकरण करने वाली नहीं है । और यह बात असिद्ध भी नहीं है, देखिये – संख्या मायारचित ही है, वास्तविक नहीं है, क्योंकि वास्तविक भेद होने पर भी विवक्षावश संख्या (बहुत्वादि की) कल्पना से प्रयुक्त की जाती है, जैसे – "दारा' इत्यादि शब्द जब एक पत्नी के लिये प्रयुक्त होता है तब व्यक्ति भेद (यानी अनेकता) न होने

*. 'जात्यभिधायिनः' इति मुद्रितवाक्यपदीये ।

गताभेदाभेदलक्षणा यदि स्यात् तदा 'आपः' 'दाराः' 'सिकताः' 'वर्षाः' इत्यादावसत्यपि वस्तुनो भेदे बहुत्वसंख्या कथं प्रवर्त्तेत ? तथा, 'वनम्' 'त्रिभुवनम्' 'जगत्' 'षण्णगरी' इत्यादिष्वसत्यप्यभेदेऽर्थस्यैकत्वसंख्या न व्यपदिश्येत, अतो नासिद्धता हेतोः । नाप्यनैकान्तिकः सर्वस्य सर्वधर्मत्वप्रसङ्गात्, सपक्षे भावाच्च न विरुद्धः ।

अत्र च कुमारिलो हेतोरसिद्धतां प्रतिपादयन्नाह – दारादिशब्दः कदाचित् जातौ प्रयुज्यते कदाचित् व्यक्तौ । तत्र यदा जातौ तदा व्यक्तिगतां संख्यामुपादाय वर्त्तते, व्यक्तयश्च बाहुल्यो योषितः । यदा तु व्यक्तौ प्रयुज्यते तदा तद्व्यक्त्यवयवानां पाणि-पादादीनां बहुत्वसंख्यामादाय वर्त्तते । वनशब्देन तु धव-खदिर-पलाशादिलक्षणा व्यक्तयस्तत्सम्बन्धिभूतवृक्षत्वजातिगतसंख्याविशिष्टाः प्रतिपाद्यन्ते तेन 'वनम्' इत्येकवचनं भवति जातिगतैकसंख्याविशिष्टद्रव्याभिधानात् । अथवा धवादिव्यक्तिसमाश्रिता जातिरेव – 'वन'शब्देनोच्यते तेनैकवचनं भवति जातेरेकत्वादिति ।

नन्वेवं 'वृक्षः' 'घटः' इत्यादावप्येकवचनमुच्छिन्नं स्यात् सर्वत्रैवास्य न्यायस्य तुल्यत्वात् । तथाहि – अत्रापि शक्यमेवं वक्तुम् ''जातौ व्यक्तौ वा वृक्षादिश्चेत् प्रयुज्यते' इत्यादि । अथ मतम् – ''वृक्षादौ

पर भी बहुवचन में ही प्रयुक्त किया जाता है । इस अनुमान से संख्या की कृत्रिमता सिद्ध होती है । बहुत्वादि संख्या यदि वस्तुगत भेद या अभेद के साथ वस्तुतः संलग्न होती तब तो संस्कृत भाषा में जलवाचक 'आपः' शब्द, पत्नी वाचक 'दाराः' शब्द, बालू का वाचक 'सिकताः' और वृष्टि का वाचक 'वर्षाः' – शब्द ये सभी बहुवचन में प्रयुक्त न हो कर एकवचन में ही प्रयुक्त होते, क्योंकि जलादि अर्थ में कोई स्वगत भेद नहीं है, तो उन में बहुवचन का प्रयोग कैसे ? तथा वन – त्रिभुवन – जगत् – षण्णगरी इत्यादि शब्दों में स्वगत अभेद न होने पर भी एकवचन का ही प्रयोग होता है वह भी नहीं हो सकेगा, क्योंकि वन आदि पदार्थ अनेक वृक्षादि स्वरूप है । निष्कर्ष, उपरोक्त अनुमान प्रयोग में 'विवक्षावश-कल्पितत्व' हेतु असिद्ध नहीं है । साध्यद्रोही भी नहीं है, क्योंकि विवक्षावशकल्पितत्व हेतु यदि साध्यशून्य में अर्थात् वास्तव पदार्थ में रहेगा तब तो सर्व धर्मियों में विवक्षा वश सर्व धर्मों की कल्पना शक्य होने से सर्वत्र सर्व धर्मों को पानी आग आदि में शैत्यादि को भी वास्तविक मानने की आपत्ति होगी । विवक्षावशकल्पितत्व हेतु दारादि तथा वनादि के लिये प्रयुक्त संख्यारूप सपक्ष में विद्यमान होने से साध्यविरुद्ध होने की तो गन्ध भी नहीं है ।

★ विवक्षावशकल्पितत्व हेतु में असिद्धि का आक्षेप ★

कुमारिल मीमांसक यहाँ 'विवक्षावशकल्पितत्व' हेतु की असिद्धि दिखाते हुए कहता है – दारादिशब्दों को दृष्टान्त बना कर संख्या में विवक्षावशकल्पितत्व हेतु कहा गया है उस की असिद्धि इस प्रकार है – 'दारा' आदि शब्दों का प्रयोग कभी तो जाति के लिये होता है और कभी व्यक्ति के लिये । जब जाति के लिये होता है तब उसके आश्रयभूत व्यक्तियों में रही हुई संख्या को लेकर बहुवचनान्त 'दारा' शब्द प्रयुक्त होता है, क्योंकि स्त्रीव्यक्ति अनेक ही है । जब वह व्यक्ति के लिये ही प्रयुक्त होता है तब उस व्यक्ति के हस्त-पैर आदि अवयवों की बहुत्व संख्या को लेकर बहुवचनान्त 'दाराः' शब्द प्रयुक्त होता है । इसी तरह वनशब्द से [illegible] वृक्षजाति में रही हुई एकत्वसंख्या से विशिष्ट धव-खदिर-पलाशादि वृक्षों का प्रतिपादन होता है, [illegible] [illegible] एकवचनान्त प्रयोग करने से [illegible] 'वनम्' का प्रयोग होता है । अथवा, [illegible] वनशब्द से धवादि वृक्षव्यक्तियों में [illegible] [illegible] जाति का ही प्रतिपादन [illegible]

व्यक्तेरवयवानां च संख्याविवक्षा नास्ति'' – यद्येवं, न तर्हि वस्तुगतान्वयाद्यनुविधायिनी संख्या, विवक्षाया एवान्वयव्यतिरेकानुविधानात् । ततश्च सैव 'दाराः' इत्यादिषु बहुवचनस्य निबन्धनमस्तु, भेदाभावेऽप्येकमपि वस्तु बहुत्वेन विवक्ष्यते, इति नासिद्धता हेतोः ।

यच्चोक्तम् – 'वनशब्दो जातिसंख्याविशेषिता व्यक्तीराह' इति, तत्र न जातेः संख्याऽस्ति द्रव्यसमाश्रितत्वादस्याः ।

अथ वैशेषिकप्रक्रिया नाश्रीयते तदा भावे संख्यायास्तया कथं धवादिव्यक्तयो विशेषिताः सिद्ध्यन्ति ? स्यादेतत् – सम्बद्धसम्बन्धात् तत्सम्बन्धतो वा सिद्ध्यन्ति । तथाहि – यदा जातेर्व्यतिरेकिणी

है और जाति एक होती है इसलिये 'वन' शब्द का एकवचनान्त प्रयोग होता है ।

★ असिद्धि के आक्षेप का निराकरण ★

'दारा' में बहुवचन की उपपत्ति के लिये कुमारिलने जो उपरोक्त वात की है उस के सामने अपोहवादी कहता है कि इस तरह तो 'वृक्ष' और 'घट' इत्यादिशब्दों में भी बहुवचन की प्रसक्ति होने से एकवचन का तो उच्छेद ही आ पडेगा, क्योंकि आप का दिखाया हुआ तरीका सर्वत्र प्रयुक्त हो सके ऐसा है । देखिये–वृक्षादि में भी ऐसा कह सकते हैं कि 'वृक्ष' शब्द का प्रयोग जब वृक्षत्वजाति के लिये होगा तब उसके आश्रयभूत व्यक्तियाँ अनेक होने से वहाँ बहुवचन घट सकेगा । और जब वह व्यक्ति के लिये प्रयुक्त होगा तब उस के शाखादि अवयव अनेक होने से बहुवचन घट सकेगा ।

यदि कहें कि – 'दारा' शब्द की तरह वृक्षादि में बहुवचनप्रयोग के लिये अनेक व्यक्तिओं की या उस के अवयवों की बहुत्व संख्या विवक्षित न होने पर एकवचन का प्रयोग सावकाश होगा' – तो इस का मतलब यह हुआ कि संख्या विवक्षा के अन्वय-व्यतिरेक का अनुकरण करती है किन्तु वस्तुगत किसी वास्तवधर्म के अन्वय-व्यतिरेक का अनुसरण नहीं करती । जब विवक्षा हि यहाँ मुख्य है तब 'दाराः' आदि शब्दों में भी विवक्षा को ही बहुवचनप्रयोग का निमित्त मान लीजिये, भेद (यानी अनेकता) न होने पर भी एक वस्तु की अनेकरूप से संख्या में विवक्षाकल्पितत्व हेतु कहा था वह असिद्ध नहीं है ।

दूसरी वात जो कुमारिल ने कही थी – 'वन' शब्द से वृक्षत्वजातिगत संख्या से विशेषित व्यक्ति का निरूपण होता है' – वह भी ठीक नहीं है क्योंकि न्याय-वैशेषिक मान्यतानुसार तो संख्या गुण होने से द्रव्याश्रित ही होती है, जाति आश्रित कभी नहीं होती, अतः जातिगत संख्या को लेकर एकवचन की वात कतई युक्त नहीं है ।

★ जातिगत संख्या से व्यक्ति में वैशिष्ट्य कैसे ? ★

कुमारिल कदाचित् ऐसा कहें कि – 'हम तो मीमांसक हैं, न्याय-वैशेषिक की प्रक्रिया को न मान कर जाति में भी संख्या मानेंगे' – तो यहाँ अपोहवादी का प्रश्न है कि जातिगत संख्या से तो जाति विशेषित हो सकती है किन्तु धवादिव्यक्ति उससे विशेषित कैसे सिद्ध होगी ?

तब इस प्रश्न के उत्तर में कुमारिल ऐसा कहें कि – ''संख्या से सम्बद्ध जाति के सम्बन्ध से, या साक्षात् संख्या के सम्बन्ध से व्यक्ति विशेषित सिद्ध हो सकती है । देखिये – जातिगत संख्या जाति से (भिन्न होगी

संख्या तदेकत्वसंख्यासम्बद्धया जात्या धवादिव्यक्तीनां सम्बन्धात् पारम्पर्येण तया धवादिव्यक्तयो विशेष्यन्ते, यदा तु जातेरव्यतिरिक्तैव संख्या तदा साक्षादेव सम्बन्धात् तया विशेष्यन्ते इति जातिसंख्याविशेषिताः सिद्ध्यन्ति । असदेतत् – यतो यदि सम्बद्धसम्बन्धात् सम्बन्धतो वा धवादिव्यक्तिषु वनशब्दस्य प्रवृत्तिः तदेकोऽपि पादपो 'वनम्' इत्युच्येत प्रवृत्तिनिमित्तस्य विद्यमानत्वात् । तथाहि – बहवोऽपि धवादयो जातिसंख्यासम्बन्धादेव 'वन'मित्युच्यते नान्यतः, स च सम्बन्धः एकस्मिन्नपि पादपेऽस्तीति किमिति न तथोच्येत । अथवा धवादिव्यक्तिसमाश्रिता इत्यत्रपक्षे एकस्यापि तरोः 'वनम्' इत्यभिधानं स्यात् । तथाहि – यैवासौ वनशब्देन जातिर्बहुव्यक्त्याश्रिताऽभिधीयते सैवैकस्यामपि धवादिव्यक्तौ व्यवस्थिता ततश्च वनधियो निमित्तस्य सर्वत्र तुल्यत्वाद् एकत्रापि पादपे किमिति वनधीर्न भवेत् ?

क्रिया-कालादीनां त्वसत्त्वादेवायुक्तं वस्तुधर्मत्वम् (६७-८) । भवतु वा वस्तुधर्मत्वमेषां तथापि प्रतिबिम्बलक्षणस्यापोहस्य भ्रान्तैर्बाह्यव्यक्तिरूपत्वेनावसितत्वादध्यवसायवशाद् व्यक्तिद्वारको लिंग-संख्यादि-

---

या अभिन्न होगी – दो पक्ष में से प्रथम पक्ष में यदि) भिन्न है तो एकत्वसंख्या से सम्बद्ध जाति (वृक्षत्व), और उस जाति का धवादिव्यक्ति के साथ सम्बन्ध है ही इसलिये परम्परया सम्बद्ध-सम्बन्ध से व्यक्ति विशेषित होगी । यदि संख्या जाति से अभिन्न ही है तब तो धवादि व्यक्ति के साथ जाति का जैसे साक्षात् सम्बन्ध है वैसे तद्भिन्न संख्या का भी साक्षात् सम्बन्ध होने से, जाति का जैसे साक्षात् सम्बन्ध है वैसे तद्भिन्न संख्या का भी साक्षात् सम्बन्ध होने से जातिगत संख्या से धवादिव्यक्ति साक्षात् सम्बन्ध से विशेषित सिद्ध होगी ।'' –

तो यह कथन भी गलत है । कारण, जाति-संख्या के सम्बद्धसम्बन्ध से या साक्षात् सम्बन्ध से अगर धवादिव्यक्तिओं में 'वन' शब्द की प्रवृत्ति को युक्त मानेंगे तो किसी एक वृक्ष के लिये भी 'वन' शब्दप्रयोग युक्त हो जायेगा, क्योंकि वहाँ भी वन शब्द का प्रवृत्तिनिमित्त निर्बाध विद्यमान है । देखिये – चाहे कितने भी धवादि हो, जातिगत संख्या के सम्बन्ध से ही वे 'वन' कहे जाते हैं, और किसी से नहीं । अब जातिगतसंख्या का सम्बन्ध तो जैसे अनेक धवादि वृक्षों में है वैसे किसी एक वृक्षव्यक्ति में भी विद्यमान है, तो एक वृक्षव्यक्ति को 'वन' क्यों न कहा जाय ? अथवा.... कर के जो कुमारिलने कहा था कि – 'वन' शब्द का प्रयोग धवादिव्यक्तिओं में आश्रित जाति के लिये ही होता है और जाति एक होने से एकवचनान्त 'वन' शब्द ठीक है ।' – तो इस पक्ष में भी एक वृक्षव्यक्ति के लिये वनशब्द का प्रयोग प्रसक्त है । देखिये – अनेक धवादिव्यक्ति आश्रित (वृक्षत्व) जाति के लिये 'वन' शब्द प्रयुक्त होता है वही जाति किसी एक धवादि वृक्षव्यक्ति में भी आश्रित है । इस प्रकार 'वन' शब्द का प्रवृत्तिनिमित्त भूत (वृक्षत्व) जाति एक या अनेक व्यक्तियों में समानरूप से जब विद्यमान है तो फिर एक वृक्षव्यक्ति में 'वन' ऐसी बुद्धि (या व्यपदेश) क्यों न हो ?! – यह आपत्ति कुमारिल मत में अटल है । सारांश, लिंग की तरह संख्या भी वस्तुधर्म नहीं है ।

★ क्रिया-काल आदि का अपोह के साथ सम्बन्ध ★

'लिंग-संख्या की तरह क्रिया और काल भी वस्तुधर्म होने से अपोह में नहीं हो सकता' ऐसा जो अपोहवाद के विरोध में पहले (९६७-६८) कहा था उस के सामने अपोहवादी कहता है कि क्रिया और काल में वस्तुधर्मत्व स्वतः अयुक्त है क्योंकि क्रिया और काल जैसी कोई वस्तु ही नहीं है [illegible] के अतिरिक्त न तो कोई क्रिया है न कोई काल है इसलिये [illegible] से वे कैसे असत् है ।

सम्बन्धो भविष्यति । तेन यदुक्तम् – 'व्यक्तेश्चाऽव्यपदेश्यत्वात् द्वारेणापि नास्त्यसौ' (६८-१) इति – तदनैकान्तिकम्, संवृतिपक्षे चाऽसिद्धम् – [त० संग्रहे – ११४३]

"व्यक्तिरूपावसायेन यदि वापोह उच्यते । तल् लिंगाद्यभिसम्बन्धो व्यक्तिद्वारोऽस्य विद्यते ॥'

'अपोह उच्यते' इति 'शब्देन' इति शेषः, 'तद्' इति तस्मात्, अस्य= इत्यपोहस्य ।

"आख्यातेषु न च" (पृ० ६८-३) इति – अत्र ' आख्यातेष्वन्यनिवृत्तिर्न सम्प्रतीयते' इत्यसिद्धम् । तथाहि – जिज्ञासिते कस्मिंश्चिदर्थे श्रोतुर्बुद्धेर्निवेशाय शब्दः प्रयुज्यते व्यवहर्तृभिः न व्यसनितया; तेनाभीर्थ्प्रतिपत्तौ सामर्थ्यादनभीष्टव्यवच्छेदः प्रतीयत एव, अभीष्टानभीष्टयोरन्योन्यव्यवच्छेदरूपत्वात् । सर्वमेवाभीष्टं यदि स्यात् तदा प्रतिनियतशब्दार्थो न प्राप्नोति इति या च कस्यचिदर्थस्य परिहारेण श्रोतुः क्वचिदर्थे शब्दात् प्रवृत्तिः सा न प्राप्नोति; तस्मात् 'सर्वमेवाभीष्टम्' इत्येतदयुक्तम्, अतः 'पचति' इत्यादिशब्दानामभीष्टव्यवच्छेदः सामर्थ्यात् स्फुटमवगम्यत एव ।

कथंचिद् मान ले कि लिंगादि सभी वस्तुधर्म हैं, तो अपोह के साथ भी उस का सम्बन्ध व्यक्ति द्वारा घट सकता है, क्योंकि भ्रान्त लोगों के द्वारा पूर्वोक्त प्रतिविम्ब स्वरूप अपोह भी वाह्यव्यक्तिरूप से अध्यवसित है । अतः वाह्यव्यक्तिरूप से किये गये अध्यवसाय के प्रभाव से प्रतिविम्वात्मक अपोह में अध्यवसित वाह्यव्यक्तिगत लिंगादि का सम्वन्ध घट सकता है । इस लिये यह जो पहले कहा था – "व्यक्ति व्यपदेशअयोग्य होने से व्यक्ति द्वारा भी अपोह के साथ लिंगादि का सम्वन्ध नहीं घट सकता" – वह उपरोक्त रीति से अपोह में सम्वन्ध घट जाने से अनैकान्तिक सिद्ध होता है । तथा लिंगादि को काल्पनिक मानने के पक्ष में तो वह वात असिद्ध भी है क्योंकि काल्पनिक लिंगादि का सर्वत्र अपोह में काल्पनिक संवन्ध मानने में कोई वाध नहीं है । तत्त्वसंग्रह में (का० ११४२में) यही कहा है कि – "वाह्यव्यक्तिरूप से अध्यवसित अपोह का जव शब्द से प्रतिपादन हो सकता है तव अपोह में उस वाह्यव्यक्ति-अध्यवसाय से उस के लिंगादि का सम्वन्ध भी हो सकता है ।"

★ आख्यातप्रयोगों से अन्यापोह की प्रतीति ★

पहले जो कहा था – 'पचति' इत्यादि आख्यात शब्दों में अन्यापोह का अनुभव नहीं होता इसलिये अपोह शब्दार्थव्यवस्था अपूर्ण है" – उस के सामने अव अपोहवादी कहता है कि आख्यातों (=क्रियापदों) में अन्यापोह का अनुभव नहीं होता यह वात असिद्ध है । देखिये – व्यवहारी लोग सिर्फ शौख के लिये शब्दप्रयोग नहीं करते हैं किन्तु श्रोता की बुद्धि में किसी अर्थ को वैठाने के लिये करते हैं । इस प्रकार किसी इष्ट अर्थ का श्रोता को वोध होने पर अर्थतः अनभीष्ट अर्थ का व्यवच्छेद श्रोता को स्वतः अवगत हो जाता है (उदा० 'यह औषध खा जाना' ऐसा कहने पर श्रोता को यह भी पता चल जाता है कि खाने का कहा है मालिश करने का या फेंक देने का नहीं कहा है) क्योंकि इष्ट और अनिष्ट अर्थ एक दूसरे के व्यवच्छेदरूप होते हैं । यदि वक्ता या श्रोता को सभी अर्थ इष्ट ही होते हैं तो किसी भी शब्द से नियत अर्थ का वोध होने का सम्भव ही नहीं रहता । इसका नतीजा यह आता कि अन्य अर्थों से निवृत्त हो कर श्रोता की जो अमुक नियत ही अर्थ में शब्दश्रवणमूलक प्रवृत्ति होती है वह शक्य नहीं रहती । इसी से यह स्पष्ट होता है कि 'श्रोता को सव कुछ इष्ट होता है' यह वात गलत है । इसलिये सिद्ध होता है 'पचति = पकाता है' इत्यादि शब्दोंसे अर्थतः अन्यापोह भी स्पष्ट ही अवगत होता है । जैसे कि तत्त्वसंग्रह में भी कहा है – 'पचति' ऐसा वोलने

''तथाहि – पचतीत्युक्ते नोदासीनोऽवतिष्ठते । भुंक्ते दीव्यति वा नेति गम्यतेऽन्यनिवर्त्तनम् ॥'' [त० सं० ११४५]

तेन 'पर्युदासरूपं हि निषेध्यं तत्र न विद्यते' इति यदुक्तं (६८-४) तदसिद्धम् । यच्च 'पचतीत्यनिषिद्धं तु स्वरूपेणैव तिष्ठति' इति – तत्र स्ववचनव्याघातः । तथाहि – 'पचति' इत्येतस्यार्थं 'स्वरूपेणैव' इत्यनेनावधारणेनावधारितरूपं दर्शयता 'पचति' इत्येतस्यान्यरूपनिषेधेनात्मस्थितिरिति दर्शितं भवति, अन्यथा 'स्वरूपेणैव' इत्येतदवधारणं भवत्प्रयुक्तमनर्थकं स्यात् व्यवच्छेद्याभावात् ।

''साध्यत्वप्रत्ययश्च'' इति (६९-१) अत्रापि यद्यपोहो भवता निरुपाख्यस्वभावतया गृहीतस्तत्पमिदमुच्यते 'निष्पन्नत्वात्' इति (६९-३) ? न ह्याकाशोत्पलादीनां क्वचिदस्ति निष्पत्तिः, सर्वोपाख्याविरहलक्षणत्वात् तेषाम् । स्यादेतत् – ''यद्यप्यसौ निरुपाख्यः परमार्थतस्तथापि भ्रान्तैः प्रतिपत्तृभिरारोपितरूपतयाऽध्यवसितत्वादसौ सोपाख्यात्वेन ख्याति ।' ननु यद्यसौ सोपाख्यात्वेन ख्याति तथापि किमत्र प्रकृतार्थानुकूलं जातम् ? ''वस्तुभिस्तुल्यधर्मत्वम्, एतेन यथा वस्तु निष्पन्नरूपं प्रतीयते

पर इस प्रकार अन्यव्यवच्छेद बुद्धिगत होता है कि वह पकानेवाला निष्क्रिय खडा नहीं रहा है, न खाता है, न क्रीडा करता है (किन्तु पकाता है)'' (का० ११४५)

उपरोक्त वक्तव्य से अब यह कथन भी असिद्ध फलित होता है जो पहले कहा गया था कि – 'पचति' इत्यादि में पर्युदासरूप निषेध्य विद्यमान नहीं है'' – असिद्ध इसलिये कि उपरोक्त रीति से भोजन आदि रूप पर्युदास निषेध्य निर्विवाद सिद्ध है ।

तथा इसी प्रसंग में जो यह कहा था कि ''पचति' ऐसा सुनने पर निषेधविहीन सिर्फ स्वरूप से ही पाकक्रिया का बोध होता है'' – इस कथन में तो स्पष्ट ही वदतो व्याघात है, क्योंकि यहाँ 'पचति' का अर्थ दिखाता हुआ परवादी 'स्वरूप से ही' इस प्रकार जो अवधारण कर के 'पचति' का अवधारित (= अन्यव्यावृत्त) अर्थ दीखाता है तब अवधारण के रूप में अन्य भोजनादिक्रिया के निषेधपूर्वक ही पाकक्रिया रूप आत्मीय अर्थ का निर्देश करता है । यदि यह मान्य नहीं करेंगे तो 'स्वरूप से ही' इस प्रकार परवादीप्रयुक्त अवधारण निरर्थक ठहरेगा क्योंकि आप के मत में यहाँ कोई व्यवच्छेद्य तो है ही नहीं ।

★ अपोह में साध्यत्व प्रतीति का उपपादन ★

पहले अपोहविरोधीने जो यह कहा था – 'पचति' इत्यादि में साध्यत्व की प्रतीति होती है.....(पृ.) इत्यादि – उसके सामने अपोहवादी कहता है कि अपोह को निरुपाख्य तुच्छ स्वभाव समझ कर आप उस में साध्यत्व का जब निषेध करते हो तो फिर ऐसा क्यों कहते थे कि 'अपोह तो निष्पन्न (सिद्ध) ही है उसमें बनाने का (= साध्यत्व) कुछ भी शेष नहीं है ?' [मतलब यह है कि जब आप अपोह को तुच्छ समझते हैं तो फिर उस को सिद्ध (= निष्पन्न) कैसे कहते हैं ?] आकाशकुसुमादि असत् (तुच्छ) पदार्थों की निष्पत्ति कभी भी नहीं होती है क्योंकि तुच्छ तो किसी भी सार्थक उपाख्या (= संज्ञा) से शून्य होता है । यदि आप को इष्ट हो ऐसा होता कि – ''हालाँ कि अपोह वास्तव में तो निरुपाख्य (= उपाख्यारहित) ही होता है किन्तु भ्रान्त श्रोताओं [illegible] में आरोपित हो जाता है इसलिये उस की 'सोपाख्यत्व' (= उपाख्या सहित) रूप से

तथापोहोऽपि वस्तुभिस्तुल्यधर्मतया ख्याते(तो) निष्पन्न इव प्रतीयते इति सिद्धं 'निष्पन्नत्वात्' इति वचनम्'' । यद्येवं भवत्यै(तै)व साध्य(त्व)प्रत्ययस्य भूतादिप्रत्ययस्य च निमित्तमुपदर्शितमिति न वक्तव्यमेतत् 'निर्निमित्तं प्रसज्यते' (६९-४) इति ।

यद्यपि 'विध्यादावर्थराशौ च नान्यापोहनिरूपणम्' इति (६९-४) परेणोक्तम् तत्र विध्यादे- रर्थस्य निषेध्यादपि व्यावृत्ततयाऽवस्थितत्वात् तत्प्रतिपत्तौ सामर्थ्यादविवक्षितं नास्तितादि निषिध्यत इत्य- स्त्येवात्र 'अन्यापोहनिरूपणम्' ।

'नञश्चापि नञा युक्तौ....' (६९-५) इत्यत्रापि [तत्त्वसंग्रहे का० ११५६-५७]

''नासौ न पचतीत्युक्ते गम्यते पचतीति हि । औदासीन्यादियोगश्च तृतीये नञि गम्यते ।।

तुर्ये तु तद्विविक्तोऽसौ पचतीत्यवसीयते । तेनात्र विधिवाक्येन सममन्यनिवर्त्तनम् ।।''

'तुर्ये' इति चतुर्थे 'चतुरश्छयतौ आद्यक्षरलोपश्च' [पाणिनी-५-२-५१ वार्तिक सिद्धान्त० पृ० २९९]

जूठी ख्याति हो गई है । (और उस जूठी ख्याति में वह 'सिद्ध' होने से उसमें साध्यत्व का निषेध करते हैं)'' किन्तु यह बात अच्छी नहीं है । कारण मान लो कि वह सोपाख्यरूप से ख्यात है, तो भी आप की प्रस्तुत बात को उस से क्या समर्थन मिला ? इस प्रश्न का यदि ऐसा उत्तर हो कि ''सोपाख्यरूप से ख्यात होने के कारण वह वस्तु का समानधर्मी, यानी वस्तु जैसा ही हो गया । जब वह वस्तुतुल्य ही प्रसिद्ध हुआ तो हम जो उस में साध्यत्व का निषेध कर के निष्पन्नत्व (= सिद्धत्व) का निरूपण करते हैं वह संगत सिद्ध हुआ ।'' अहो ! इस जवाब से तो आपने ही साध्यत्वप्रत्यय और भूत-भविष्यत् आदि प्रत्यय (=प्रतीति) का स्पष्ट निमित्त पेश कर दिया । मतलब, 'पचति' पद प्रयोग के पहले जो पचनभिन्न क्रियाओं का अपोह साध्यबाह्य था उस को आपने साध्यत्व कोटि में लाने के लिये वस्तुतुल्यत्वरूप निमित्त स्पष्ट कर दिया । इस लिये अब आप ऐसा नहीं कह सकते कि – ''साध्यत्वबोधक और भूत-भविष्यादिकाल बोधक 'ति, स्यति' आदि प्रत्यय असंगत हैं'' क्योंकि अब तो अपोह वस्तुतुल्य हो जाने के कारण 'ति' आदि प्रत्ययों के द्वारा साध्यत्वप्रतीति की उपपत्ति हो सकती है ।

☆ विधि आदि में भी अन्यापोह का निरूपण ☆

पहले जो यह कहा था (पृ०) – विधि-आमन्त्रण आदि अर्थराशि के प्रतिपादक वाक्य से अन्यापोह का प्रतिपादन नहीं होता – यहाँ अपोहवादी कहता है, विधि आदि अर्थ निषेध्य आदि अर्थों से व्यावृत्तरूप से ही विद्यमान होते हैं, अतः विधि आदि अर्थ का अवबोध होने पर, अर्थतः उन का निषेध हो जाता है जो नास्तित्वादि निषेध्य अर्थ विवक्षित नहीं रहते । इस प्रकार यहाँ अन्यापोह का प्रतिपादन निर्बाध है ।

पहले जो कहा था कि एक नकार का दूसरे नकार के साथ प्रयोग होने पर, दो निषेध मिल कर विधि का ही प्रतिपादन करते हैं, उस वक्त अपोह का निरूपण नहीं होता – यहाँ अपोहवादी कहता है – ''यह नहीं पकाता ऐसा नहीं' ऐसा कहने पर 'पकाता है' ऐसी प्रतीति होती है, अगर इस में तीसरा नकार डाल दे तो 'निष्क्रिय है (पकाता नहीं)' ऐसी बुद्धि होती है । अगर उसमें चौथा नकार डाल दे तो निष्क्रिय से विपरीत यानी 'पकाता है' ऐसा भान होता है । इस प्रकार निषेधद्वययुक्त वाक्य से भी विधिवाक्य के समान ही अन्य (औदासीन्यादि की) व्यावृत्ति का बोध होता है, नहीं होता ऐसा नहीं है ।''

इत्यनेन पूरणार्थे 'यत्'प्रत्ययविधानात् ।' 'तद्विविक्तोऽसौ' इति औदासीन्यादिविविक्तः, 'विधिवाक्येन समगन्यनिवर्त्तनम्' इति यथा 'पचति' इत्यादि विधिवाक्ये सामर्थ्यादौदासीन्यादिनिवृत्तिर्गम्यते तथा द्वितीयेऽपि नञि इति सिद्धमत्राप्यन्यनिवर्त्तनम् । स्पष्टार्थं तु नञ्चतुष्टयोदाहरणम् । (११८-८)

'चादीनां नञ्योगो नास्ति' (६९-७) इत्यत्र – [त० सं० का० ११५८]

''समुच्चयादिर्यश्चार्थः कश्चिच्चादेरभीप्सितः । तदन्यस्य विकल्पादेर्भवेत् तेन व्यपोहनम् ॥''

आदिशब्देन 'वा'शब्दस्य विकल्पोऽर्थः 'अपि'शब्दस्य पदार्था(?र्थ)सम्भावनाऽन्ववसर्गादयः, 'तु'शब्दस्य विशेषणम्, एवकारस्यावधारणमित्यादेर्ग्रहणम् । 'तदन्यस्य' इति तस्मात् समुच्चयादन्यस्य, 'तेन' इति चादिना ।

'वाक्यार्थेऽन्यनिवृत्तिश्च व्यपदेष्टुं न शक्यते' इति (६९-७) अत्रापि कार्यकारणभावेन सम्बद्धा एव पदार्था वाक्यार्थः, यतो न पदार्थव्यतिरिक्तो निरवयवः शबलात्मा वा कल्माषवर्णप्रख्यो वाक्यार्थो-

---

(यहाँ जो तत्त्वसंग्रह की दो कारिकाओं का उद्धरण है उन कारिकाओं के कुछ पदों का व्याख्याकार अर्थनिरूपण करते हुए कहते हैं कि) दूसरी कारिका में 'तुर्य' पद है उस का अर्थ है 'चौथे नकार का प्रयोग करने पर'; क्योंकि यहाँ 'चतुरश्छयतौ आद्यक्षरलोपश्च' इस पाणिनिसूत्र के वार्त्तिक के अनुसार पूरण अर्थ में 'य' प्रत्यय है और आदि अक्षर 'च' का लोप किया गया है । तथा, कारिका में 'तद्विविक्तोऽसौ' इस अंश का मतलब यह है कि 'निष्क्रियतादि से विपरीत' । तथा 'विधिवाक्येन समगन्यनिवर्त्तनम्' इस वाक्य का मतलब यह है कि जैसे 'पकाता है' इस विधिवाक्य से अर्थतः निष्क्रियता का निषेध बुद्धिगत होता है वैसे ही दो नकारप्रयोग से भी अन्य का निषेध अर्थतः बुद्धिगत हो जाता है । यद्यपि यहाँ दो नकार के दिखलाने से ही काम चल सकता है फिर भी स्पष्टता के लिये चार नकार को उदाहरण किया है ।

★ 'च' आदि अव्ययों से अर्थतः अपोह का भान ★

पहले जो यह कहा था – 'च –वा' आदि अव्ययों के साथ कभी नकार का अन्वय न होने से उन अव्ययों से अपोह का निरूपण शक्य नहीं – यहाँ अपोहवादी कहता है कि – ''चादि अव्ययों का जो समुच्चयादि अभिप्रेत अर्थ है उन के प्रतिपादन के साथ ही विकल्पादि का अपोह अर्थतः हो जाता है ।'' [तात्पर्य, समुच्चय को जताने के लिये जब 'च' का प्रयोग होता है तब यह सूचित होता है कि 'रामः लक्ष्मणश्च' यहाँ 'राम और लक्ष्मण' का समुच्चय लेना है, 'राम या लक्ष्मण' ऐसा विकल्प अभिप्रेत नहीं है ।]

यहाँ ग्रन्थकारने जो तत्त्वसंग्रह की कारिका उद्धृत की है उस के कुछ पदों का विवरण इस प्रकार है – 'चादि' में 'आदि' पद से 'वा' 'अपि' 'तु' और एवकार आदि का ग्रहण है । 'वा' का अर्थ है विकल्प । 'अपि' शब्द का पदार्थसम्भावना, अन्ववसर्ग-प्रश्न इत्यादि अर्थ है । 'तु' शब्द का विशेषण अर्थ है । एवकार का अवधारण अर्थ है । कारिका में जो 'तदन्यस्य' है उसका अर्थ है समुच्चय से अन्य । 'तेन' पद का अर्थ है चादि अव्ययों के द्वारा ।

तथा, यह जो पहले कहा था – [illegible] वाक्य से निरवयवरूप वाक्यार्थ का ही प्रतिपादन होता है, अपोह का निरूपण वाक्य से अशक्य है – यहाँ अपोहवादी कहता है – वाक्यार्थ क्या है ? कार्य-कारणभाव से सम्बद्ध अनेक पदार्थ ही वाक्यार्थ होता है ; पदार्थों से भिन्न कोई [illegible] [illegible]

ऽस्ति, उपलब्धिलक्षणप्राप्तस्य तादृशस्यानुपलब्धेः पदार्थस्य चापोहरूपत्वं सिद्धमेव। तथाहि – 'चैत्र! गामानय' इत्यादिवाक्ये (७०-३) चैत्रादिपदार्थव्यतिरेकेण बुद्धौ नान्योऽर्थः परिवर्त्तते चैत्राद्यर्थगतौ च सामर्थ्याद् चैत्रादिव्यवच्छेदो गम्यते; अन्यथा यद्यन्यकर्त्रादिव्यवच्छेदो नाभीष्टः स्यात् तदा चैत्रादीनामुपादानमनर्थकमेव स्यात् । ततश्च न किञ्चित् कश्चिद् व्यवहरेदिति निरीहमेव जगत् स्यात् ।

'अनन्यापोहशब्दादौ वाच्यं न च निरूप्यते' (७०-५) इति – अत्र; न ह्यत्र भवदभिमतो जा- त्यादिलक्षणो विधिरूपः शब्दार्थः परमार्थतोऽवसीयते, जात्यादेर्निषिद्धत्वात् । – [त० सं० ११६३]

'किन्तु विध्यवसाय्यस्माद् विकल्पो जायते ध्वनेः । पश्चादपोहव्दार्थनिषेधे जायते मतिः ॥'

– यद्यनपोहशब्दादपोहशब्दार्थनिषेधे मतिर्जायते इतीष्यते न तर्ह्यपोहशब्दार्थोऽभ्युपगन्तव्यः तस्य निषिद्धत्वात् – असदेतत्, (त० सं० ११६४)

"स त्वसंवादकस्तादृग्वस्तुसम्बन्धहानितः । न शाब्दाः प्रत्ययाः सर्वे भूतार्थाध्यवसायिनः ॥

'सः' इति अनन्यापोहशब्दादिः, 'असंवादकः' इति न संवदतीत्यसंवादकः, न विद्यते त्रा(वा)

जैसा कोई वाक्यार्थ है ही नहीं । अगर होता तो उपलब्धि योग्य होने से उस का उपलम्भ भी अवश्य होता, किन्तु नहीं होता है, अतः स्वतन्त्र वाक्यार्थ असिद्ध है । जब वाक्यार्थ पदार्थमय ही है तो पदार्थ को तो हमने अपोहरूप सिद्ध कर ही दिया है । देखिये – 'हे चैता ! गौ को ले आव' ऐसे वाक्य में चैता व्यक्ति, गौ आदि पदार्थों से भिन्न कोई वाक्यार्थ, बुद्धि में प्रतिबिम्बित नहीं होता । और 'चैता' आदि पदार्थ बुद्धिगत होने पर अर्थतः चैताभिन्न 'मैता' आदि का व्यवच्छेद भासता ही है । यदि वाक्यार्थ में प्रस्तुत कर्त्ता से भिन्न कर्त्ता आदि का व्यवच्छेद अभिप्रेत न होता तो 'चैता' कहने पर भी मैतादि का व्यवच्छेद इष्ट न होने से उन को भी गौ-आनयनादि के लिये प्रेरणा फलित हो जाती, फलतः वाक्यप्रयोग ही व्यर्थ हो जाने से कोई भी किसी पद-वाक्य का प्रयोग-व्यवहार ही कर नहीं पाता और जगत् अवाक् यानी विवक्षादि इच्छा से शून्य हो जाता ।

☆ अनन्यापोहशब्द से अपोह के निषेध का भान ☆

यह जो कहा था – 'अनन्यापोह' शब्द से अन्यापोह का निषेध होने से विधिरूप अर्थ ही वाच्य बनेगा, अन्यापोह वाच्य नहीं बन सकेगा – यहाँ अपोहवादी कहता है – जाति आदि का तो पहले निरसन हो गया है इस लिये परवादिमान्य जाति आदि विधिरूप अर्थ तो वास्तव में यहाँ ('अनन्यापोह' शब्द से) भासित हो नहीं सकता । तब क्या भासता है ? इस प्रश्न का उत्तर एक कारिका से यह दिया गया है कि "अनन्यापोह शब्द से सिर्फ (काल्पनिक) विधिरूप अर्थ को स्पर्श करने वाला (वस्तु-अस्पर्शी) विकल्प ही उत्पन्न होता है और उस के बाद 'यहाँ अपोह शब्दार्थ नहीं है' ऐसा निषेध ही (अनन्यापोह शब्द से) ज्ञात होता है ।" यदि शंका हो कि – यदि वहाँ 'अपोह शब्दार्थ नहीं है' ऐसी बुद्धि होती है तब तो अपोह को शब्दार्थ नहीं मानना चाहिये, क्योंकि उस का तो निषेध हुआ है । – तो यह शंका गलत है, इस का कारण एक कारिका से दिखाया गया है, उस की व्याख्या में उस कारिका के पदों का अर्थ ऐसा लिखा है – 'सः' यानी 'अन्यापोह' शब्द आदि । 'असंवादकः' शब्द का अर्थ दो तरह से कहा है -१ जो कुछ भी संवादन नहीं करता, अथवा २ जिस का किसी के साथ कुछ संवाद ही नहीं है । कारिका का तात्पर्यार्थ यह है कि 'अनन्यापोह' शब्द किसी

संवादो(स्येत्यसंवा)दकः। कस्मात्? 'वस्तुसम्बन्धहानितः' = तथाभूतवस्तुसम्बन्धाभावात् पूर्वं हि जात्यादिलक्षणस्य शब्दार्थवस्तुनो निषिद्धत्वात् (३०-४)। यद्येवं तर्हि कथमन्यापोहशब्दादिभ्योऽपोहशब्दार्थनिषेधे मतिरुपजायत इति? उच्यते, वितथविकल्पाभ्यासवासनाप्रभवतया हि केचन शाब्दाः प्रत्ययाः असद्भूतार्थनिवेशिनो जायन्त एव इति न तद्वशाद् वस्तूनां सदसत्ता सिद्ध्यति।

यच्च 'प्रमेय-ज्ञेयशब्दादेः' (७०-८) इति, अत्र कस्य प्रमेयादिशब्दस्यापोह्यं नास्तीत्यभिप्रीयते? यदि तावदवाक्यस्थप्रमेयादिशब्दमाश्रित्योच्यते तदा सिद्धसाध्यता, केवलस्य प्रयोगाभावादेव निरर्थकत्वात्। यतः श्रोतृजनानुग्रहाय प्रेक्षावद्भिः शब्दः प्रयुज्यते न व्यसनितया, न च केवलेन प्रयुक्तेन श्रोतुः कश्चित् संदेह-विपर्यासनिवृत्तिलक्षणोऽनुग्रहः कृतो भवेत्। तथाहि – यदि श्रोतुः क्वचिदर्थे समुत्पन्नौ संशय-विपर्यासौ निवर्त्य निस्संदिग्धप्रत्ययमुत्पादयेत् प्रतिपादकः, एवं तेनानुग्रहः कृतो भवेद् नान्यथा। न च केवलेन शब्देन प्रयुक्तेन तथाऽनुग्रहः शक्यते कर्तुम्, तस्मात् संशयादिनिवर्त्तने निश्चयोत्पादने च श्रोतुरनु-

---

भी अर्थ का संवादक=वाचक नहीं है यानी अर्थशून्य है। उस का कारण यह है कि ऐसे शब्दों का किसी भी वस्तु के साथ कोई सम्बन्ध ही नहीं होता, जाति आदि को उस के अर्थरूप में ग्रहण करना अशक्य है क्योंकि शब्दार्थरूप से अभिप्रेत जाति आदि कोई वस्तु है ही नहीं, पहले ही उस का निषेध हो चुका है।

प्रश्न : जब अनन्यापोह शब्द निरर्थक है तो उस से 'अपोहशब्दार्थ के निषेध' रूप अर्थ का भान कैसे होता है?

उत्तर : कुछ शाब्दिक प्रतीतियाँ ऐसी होती हैं जो मिथ्या विकल्पों का अधिकतर अभ्यास पड़ जाने पर उस की वासना से उत्पन्न होने के कारण अपारमार्थिक अर्थों को अध्यवसित कर लेती हैं, लेकिन उन से किसी वस्तु का सत्त्व या असत्त्व सिद्ध नहीं हो सकता।

★ प्रमेय आदि शब्दों का वाक्यबाह्य प्रयोग नहीं ★

तथा यह जो कहा था – वस्तुमात्र प्रमेयस्वरूप होने से 'प्रमेय' आदि शब्दों का कोई अपोह्य ही न होने से 'अपोह' उस का वाच्य नहीं बनेगा – यहाँ अपोहवादी कहता है कि १ 'प्रमेय' शब्द का वाक्य के बाहर ही स्वतन्त्र प्रयोग किया जाय तब की यह बात है या २ - वाक्य के अन्तर्गत उस का प्रयोग हो तब की?

पहले विकल्प में, वाक्य-बहिर्भूत 'प्रमेय' शब्द को लेकर अगर आप उस के अपोह्य न होने की बात करते हैं, तो यहाँ सिद्धसाधन दोष है। कारण, जिस का कोई न कोई अपोह्य रहता है उसी शब्द का स्वतन्त्र प्रयोग होता है जैसे 'कमल' आदि शब्द, क्योंकि उस से अकमल आदि के बारे में उत्पन्न संशय या विपर्यास की निवृत्ति होती है। जिन के प्रयोग से किसी संशयादि की निवृत्ति नहीं होती, ऐसे 'प्रमेय' आदि शब्दों का स्वतन्त्ररूप से प्रयोग निरर्थक होने से कोई करता नहीं है। कारण, शिष्ट लोक सिर्फ शौक के लिये शब्दप्रयोग नहीं करते हैं किन्तु श्रोता को कुछ संशयादिनिवृत्तिस्वरूप लोपानुग्रह करने के लिये शब्दप्रयोग करते हैं। केवल 'प्रमेय' आदि शब्दप्रयोग करने से श्रोता को न तो कोई संशय दूर होता है, न कुछ भ्रम दूर होने का अनुग्रह होता है। इसलिये, श्रोता को यदि किसी प्रमेय के बारे में संदेह होने का प्रसंग आ खड़ा हुआ है तो उस को दूर कर के असंदिग्ध प्रतीति कराने के लिये वक्ता प्रयत्न करे तो इस प्रकार ही श्रोता का अनुग्रह हो सकता

ग्रहात् शब्दप्रयोगसाफल्यमिति वाक्यस्थस्यैवास्य प्रयोगः ।

अथ वाक्यस्थमेव ज्ञेयादिशब्दमधिकृत्योच्यते, तद् असिद्धम्, तत्र हि वाक्यस्थेन प्रमेयादिशब्देन यदेव मूढमतिभिः संशयस्थानमिष्यते तदेव निवर्त्त्यत इत्यतोऽसिद्धमेतत् 'प्रमेयादिशब्दानां निवर्त्त्यं नास्ति' इति; अन्यथा, यदि श्रोता न क्वचिदर्थे संशेत तत् किमिति परस्मादुपदेशमपेक्षते ? निश्चयार्थी हि परं पृच्छति अन्यथोन्मत्तः स्यात् । 'यदि नाम श्रोतुराशंकास्थानमस्ति तथापि शब्देन तत्र निवर्त्त्यते' इत्येतच्च न वक्तव्यम्, श्रोतृसंस्कारायैव शब्दानां प्रयोगात् तदसंस्कारकं वदतो वक्तुः – अन्यथा – उन्मत्तताप्रसक्तिः । तथाहि – 'किं क्षणिकाऽनात्मादिरूपेण ज्ञेया भावाः, आहोश्विन्न' 'किं सर्वज्ञचेतसा ग्राह्या उत न' इत्यादिसंशयोद्भूतौ 'क्षणिकत्वादिरूपेण ज्ञेयाः सर्वधर्माः' तथा 'सर्वज्ञज्ञानविज्ञेयाः' इति संशयव्युदासार्थं शब्दाः प्रयुज्यन्त इति । यदि(द)क्षणिकत्वाऽज्ञेयत्वादि समारोपितं तद् निवर्त्त्यते, क्षणिकत्वादिरूपेण तेषां प्रमाणसिद्धत्वात् ।

है, दूसरे किसी ढंग से अनुग्रह शक्य नहीं है । किन्तु अप्रमेय का कभी संशय और भ्रम किसी को होता नहीं है, अतः केवल 'प्रमेय' शब्द के प्रयोग से श्रोता को तथाविध अनुग्रह करना शक्य ही नहीं है । निष्कर्ष, संशयादि की निवृत्ति और निश्चय के उत्पादन के द्वारा श्रोता पर अनुग्रह करने से शब्दप्रयोग की सफलता होती है, जो केवल 'प्रमेय' शब्दप्रयोग करने से शक्य न होने के कारण वाक्य-अन्तर्गत ही उस का प्रयोग सार्थक होता है ।

☆ वाक्यस्थ प्रमेयादिशब्दों का निवर्त्त्य ☆

दूसरे विकल्प में, वाक्यान्तर्गत 'प्रमेय' आदि शब्दों का कोई अपोह्य नहीं है – ऐसा यदि कहते हैं, तो वह असिद्ध है । कारण, मूढमतियों के द्वारा प्रमेयादि के बारे में जो कुछ संशयापन्न कर दिया गया हो वही उस का निवर्त्त्य होता है । (कैसे ? यह अभी कुछ पंक्ति के बाद बतायेंगे ।) यदि ऐसा न हो – श्रोता को उस के बारे में कुछ भी संशय ही न हो तो वह क्यों उसके बारे में वक्ता के कथन की अपेक्षा करेगा ? जिस को कुछ विषय में शंका हो और उस बारे में निश्चय की इच्छा हो वही दूसरे को पूछेगा, निश्चय की इच्छा के विना ऐसे ही पूछेगा तो लोग उसे पागल समझेंगे । ऐसा कहें कि– 'यद्यपि श्रोता को कुछ शंकास्थान जरूर हो सकता है किन्तु वक्ता के शब्दप्रयोग से उसकी निवृत्ति नहीं होती'– तो ऐसा कहना अनुचित है, क्योंकि कोई भी प्रवुद्ध वक्ता श्रोता को सत्य हकीकतों का संस्कार देने के लिये ही शब्दों का प्रयोग करता है । संस्कारप्रदानरूप प्रयोजन के विना ही वक्ता ऐसा कुछ वोल देगा जिस से श्रोता को कुछ भी संस्कार लाभ न हो– तो ऐसे वक्ता को भी लोग पागल मानेंगे । तात्पर्य, शंका स्थानरूप निवर्त्त्य की निवृत्ति के लिये ही वक्ता शब्दप्रयोग करता है । प्रस्तुत में उदाहरणरूप से देखिये, किसी को ऐसी शंका है – 'पुद्गलादि भाव क्षणिकत्वरूप से या अनात्मत्वरूप से ज्ञेय है ? या नहीं है ?' अथवा ऐसी शंका है- 'वे पदार्थ सर्वज्ञज्ञान से ग्राह्य(=ज्ञेय) हैं ? या नहीं ?' इस प्रकार संशय होने पर, उस ज्ञेयत्वाभावरूप संशयारूढ निवर्त्त्य की निवृत्ति के लिये वक्ता ऐसा शब्दप्रयोग करता है कि 'सर्व धर्म (=पदार्थ) क्षणिकत्वादिरूप से ज्ञेय हैं' । या 'सर्वज्ञज्ञान से विज्ञेय हैं' । ऐसे वाक्यों में 'ज्ञेय' शब्द के प्रयोग से, श्रोता द्वारा वस्तु में आरोपित अक्षणिकत्व या अज्ञेयत्वादि संशयारूढ स्थानों की स्पष्टतः निवृत्ति हो जाती है; क्योंकि वस्तुमात्र क्षणिकत्वादिरूप से प्रमाणसिद्ध (=प्रमेय) है ।

अथ 'किमनित्यत्वेन शब्दाः प्रमेया इति आहोस्विन्न'इति प्रस्तावे 'प्रमेयाः' इति प्रयोगे प्रकरणानभिज्ञस्यापि प्रतिपत्तुः 'प्रमेयाः'इति केवलं शब्दश्रवणात् प्रथमानरूपा शब्दादिबुद्धिरुपजायत एव । तद् यदि केवलस्य शब्दस्यार्थो नास्त्येव तत् कथमर्थप्रतिपत्तिर्भवति ? नैव केवलशब्दश्रवणादर्थप्रतिपत्तिः, किमिति(? किन्तु) वाक्येषूपलब्धस्यार्थवतः शब्दस्य सादृश्येनापहृतबुद्धेः केवलशब्दश्रवणादर्थप्रतिपत्त्यभिमानः । तथाहि – येष्वेव वाक्येषु 'प्रमेय'शब्दमुपलब्धवान् श्रोता तदर्थेष्वेव सा बुद्धिरप्रतिष्ठितार्था प्रथमानरूपा समुपजायते, तच्च घटादिशब्दानामपि तुल्यम् । तथाहि – 'किं घटेनोदकमानयामि उताञ्जलिना' इति प्रयोगे प्रस्तावानभिज्ञस्य यावत्सु वाक्येषु तेन 'घटेन' इति प्रयोगो दृष्टस्तावत्स्वर्थेषु आकांक्षावती पूर्ववाक्यानुसारादेव प्रतिपत्तिर्भवतीति घटादिशब्दा (इव) विशिष्टार्थवचनाः प्रमेयादिशब्दाः ।

यदुक्तम् – 'अपोहकल्पनायां च' इत्यादि (७१-३), तत्र वस्त्वेव ह्यध्यवसायवशाच्छब्दार्थत्वेन

★ स्वतन्त्र 'प्रमेय' शब्द का अर्थबोध कैसे ? ★

प्रश्न :- 'शब्द अनित्यत्वादिरूप से प्रमेय है या नहीं है' इस जिज्ञासा के समाधान में किसीने प्रमेय है ऐसा कह दिया । उस वक्त प्रकरणादि को (कौन से प्रश्न का यह उत्तर है- ऐसा कुछ भी) न जाननेवाला भी सिर्फ 'प्रमेय' ऐसा उत्तर सुनता है । सुनने के बाद उस को उस शब्द से अनिश्चयात्मक शब्दादिअर्थविषयक बुद्धि उत्पन्न होती है । यहाँ अपोहवादी को प्रश्न है कि जब स्वतन्त्र 'प्रमेय' शब्द का कोई अर्थ ही नहीं है तब प्रकरणादि न जानने वाले को जो केवल 'प्रमेय' शब्द से अर्थबोध होता है वह कैसे होता है ?

उत्तर :- यहाँ केवल 'प्रमेय' शब्द सुनने मात्र से अर्थबोध नहीं होता, किन्तु पूर्वकाल में सुने हुए, वाक्यान्तर्गत 'प्रमेय' शब्द के सादृश्य से यहाँ श्रोता की बुद्धि उपप्लावित हो जाने के कारण, पूर्वश्रुत वाक्यान्तर्गत 'प्रमेय' शब्दजनित अर्थबोध के तुल्य अर्थबोध का, प्रस्तुत में केवल 'प्रमेय' शब्द सुनने पर अभिमान (=भ्रम) हो जाता है । देखिये – श्रोताने पहले जिन वाक्यों में प्रमेय शब्द को सुन कर जिस अर्थ का अनुभव किया होता है, उन्हीं वाक्यों के अर्थों में, 'प्रमेय' शब्द का जो अर्थ बोध किया हो उसी अर्थ में अनिश्चयात्मक बुद्धि केवल 'प्रमेय' शब्द को सुन कर जाग्रत होती है । और ऐसा तो घटादिशब्दों के लिये भी हो सकता है तो 'प्रमेय' शब्द में क्या विशेषता ? देखिये- किसीने पूछा कि 'घडे से जल लाऊँ या अंजलि से' ? अब प्रस्तुत क्या है यह नहीं जाननेवाले श्रोता ने सिर्फ 'घट से' इतना ही सुना है । ऐसे श्रोता को 'घट से' इस पद से क्या भान होगा ? पहले जिन वाक्यों में उसने 'घट से' ऐसा पद सुना होगा, उन वाक्यों में, अन्यपदार्थों के साथ जिस प्रकार की अन्यपाकांक्षा से घटित 'घट से' इस पद से जैसा बोध हुआ होगा, वैसा ही बोध अभी उसको होता है । तात्पर्य, केवल घटादि शब्दों के श्रवण से, जैसे पूर्वानुभव के अनुसार विशिष्ट अर्थ का ही बोध होता है और तदन्य का अपोह होता है, उसी प्रकार केवल 'प्रमेय' आदि शब्दश्रवण में भी पूर्वानुभव के अनुसार विशिष्ट अर्थ का ही बोध होता है और तदन्य का अपोह होता है ।

★ अपोहवाद में शब्दार्थव्यवस्था की व्यापकता ★

पहले जो यह कहा था कि अपोह की कल्पना करने में अपोह्य तो वस्तु ही है [illegible] शब्दार्थ [illegible] [illegible] है यहाँ अपोहवादी कहता है कि [illegible] के द्वारा पूर्व-पूर्वतर अध्यवसाय के [illegible] से शब्दार्थरूप से वस्तु

कल्पितं यद् विवक्षितं नाऽवस्तु, तेन तत्प्रतीतौ सामर्थ्यादविवक्षितस्य व्यावृत्तिरधिगम्यत एवेति नाऽव्यापिणी शब्दार्थव्यवस्था । यदेव च मूढमतेराशंकास्थानं तदेवाधिकृत्योक्तमाचार्येण (७१-२) "(अ)ज्ञेयं कल्पितं कृत्वा तद्व्यवच्छेदेन ज्ञेयेऽनुमानम्" [हेतु०-] इति। 'ज्ञानाकारनिषेधाच्च' इत्यादौ (७१-८) ज्ञानाकारस्य स्वसंवेदनप्रत्यक्षसिद्धत्वात् कथमभावः ? तथाहि – स्वप्नादिषु अर्थमन्तरेणापि निरालम्बनमगृहीतार्थाकारसमारोपकं ज्ञानमागोपालमतिस्फुटं स्वसंवेदनप्रत्यक्षसिद्धम् । न च देश-कालानन्तरावस्थितोऽर्थस्तेन रूपेण संवेद्यत इति युक्तं वक्तुम्, तस्य तद्रूपाभावात् । न चान्येन रूपेणान्यस्य संवेदनं युक्तम्, अतिप्रसंगात् । किञ्च, अवश्यं भवद्भिर्ज्ञानस्यात्मगतः कश्चिद् विशेषोऽर्थकृतोऽभ्युपगन्तव्यः येन बोधरूपतासाम्येऽपि प्रति विषयं 'नीलस्येदं संवेदनम् न पीतस्य' इति विभागेन विभज्यते ज्ञानम् । तदभ्युपगमे च सामर्थ्यात् साकारमेव ज्ञानमभ्युपगतं स्यात् आकारव्यतिरेकेणान्यस्य स्वभावविशेषत्वेनावधारयितुमशक्यत्वात्, अतो भवता 'स्वभावविशेषः' इति स एव शब्दान्तरेणोक्तः अस्माभिस्तु 'आकारः' इति केवलं नाम्नि विवादः ।

'एवमित्थम्' इत्यादावपि (७१-१०) 'एवमेतन्नैवम्' इति वा प्रकारान्तरमारोपितमेवम् इत्या-

---

ही कल्पित की गयी है जो उस को विवक्षित होती है, अवस्तु कभी विवक्षित नहीं होती । अतः उक्त उपालम्भ निरर्थक है । विवक्षाके अनुसार जब विवक्षित वस्तु का भान होता है तब अर्थतः अविवक्षित वस्तु का व्यवच्छेद भी अवगत हो जाता है । अतः अपोह को शब्दार्थ मानने पर कहीं भी शब्दार्थव्यवस्था का भंग नहीं होता । हेतुमुखप्रकरणकार आचार्य ने भी, मुग्ध बुद्धिवाले लोगों को जिस की शब्दार्थरूप से आशंका पैदा हुयी हो उसको सामने रखकर कहा है कि- 'शब्दप्रयोग से पूर्वकल्पित (यानी शब्दार्थरूप से आशंकित) अज्ञेय के व्यवच्छेद करने द्वारा ज्ञेय वस्तु का अनुमान कराया जाता है ।'

यह जो कहा था – 'आन्तरिक पदार्थ होने से ज्ञान का कोई आकार नहीं होता अतः उसका प्रतिपादन या व्यवच्छेद शब्द से शक्य नहीं'– यहाँ अपोहवादी प्रश्न करता है कि ज्ञानाकार जब अपने संवेदन से प्रत्यक्षसिद्ध है तब उसका निषेध कैसे ? देखिये – स्वप्न में किसी अश्वादि अर्थ के विना ही, अर्थरूप आलम्बन से शून्य होने पर भी मान लो कि अर्थ के आकार का समारोप ही ग्रहण कर लिया न हो – ऐसा ज्ञान अल्पज्ञ ग्वाल आदि को भी अत्यन्त स्पष्टरूप से होता है यह अपने अपने संवेदन से प्रत्यक्षसिद्ध बात है । यदि नैयायिकादि अन्यथाख्यातिवादी यहाँ ऐसा कहें कि 'स्वप्नज्ञान निरालम्बन नहीं होता, भिन्न देश-कालवर्त्ती' अश्वादि पदार्थ ही वहाँ तत्कालीन और तद्देशीयरूप से अनुभूत होता है'– तो यह अयुक्त है, क्योंकि भिन्न देशकालवर्त्ती अश्वादि में तत्कालीनत्व और तद्देशीयत्वस्वरूप की गन्ध भी नहीं है । जो रूप जिस में नहीं है, यदि उस रूप से भी उसका संवेदन मान्य किया जाय तब तो मनुष्यादि का गर्दभादिरूप से संवेदन..... इत्यादि बहु असमञ्जस मानना पडेगा ।

दूसरी बात यह है कि सालम्बन ज्ञान में अर्थकृत कुछ न कुछ विशेष तो आप लोगों को भी मानना पडेगा जिस से कि ज्ञानरूपता समान होने पर भी विषयभेद होने पर ज्ञानों का ऐसा स्पष्ट विभाग किया जा सके कि 'यह ज्ञान पीत का है' और 'यह नील का' । जब ऐसे किसी विशेष को मानेंगे तब उसके फलस्वरूप ज्ञान की साकारता भी मान्य हो जायेगी । कारण, अर्थकृत स्वभावविशेष का, आकार के विना अन्य किसी रूप से पीछान कराना अशक्य है । यह तो शब्दभेदमात्र ही हुआ कि आप जिसको 'स्वभावविशेष' कहते हैं हम उसको ही 'आकार' कहते हैं, अर्थभेद तो कुछ है नहीं, तब सिर्फ नाममात्र का विवाद रहा ।

द्विशब्दैर्व्यवच्छिद्यमानं स्फुटतरमवसीयते चेति नाऽव्यापिता शब्दार्थव्यवस्थायाः । एवं कुमारिलेनोक्तं दूषणं प्रतिविहितम् ।

इदानीमुद्द्योतकरेणोक्तं प्रतिविधीयते– तत्र यदुक्तम् 'सर्वशब्दस्य कस्तार्थो व्यवच्छेद्यः प्रकल्प्यते' इति, (७२-४) अत्रापि द्वेयादिपदवत् केवलस्य सर्वशब्दस्याऽप्रयोगात् वाक्यस्थस्यैव नित्यं प्रयोगः इति यदेव मूढमतेराशंकास्थानं तदेव निवर्त्त्यमस्ति । तथाहि– [त० सं० ११८५]

''सर्वे धर्मा निरात्मानः सर्वे वा पुरुषा गताः । सामस्त्यं गम्यते तत्र कश्चिदंशस्त्वपोह्यते ॥''

कोऽसावंशो योऽपोह्यतेऽत्र इति चेत् ? उच्यते – [त० सं० ११८६]

''किंचिदेव निरात्मानो बाह्या इष्टा घटादयः । गमनं कस्यचिच्चैव भ्रान्तेस्तद्विनिवर्त्त्यते ॥''

'एकाद्यसर्वम्' इत्यादावपि (७२-६) यदि हि सर्वस्याङ्गस्य प्रतिषेधो वाक्यस्थे सर्वशब्दे विवक्षितः स्यात् तदा स्वार्थो[र्था]पोहः प्रसज्यते यावता यदेव मूढधिया शंकितं तदेव निषिध्यते इति कुतः स्वार्थापवादित्वदोषप्रसंगः ? एवं द्व्यादिशब्देष्वपि वाच्यम् ।

यह जो कहा था– 'एवम्-इत्थम्' इत्यादि शब्दों का कोई अपोह्य ही नहीं है अतः अपोह शब्दार्थव्यवस्था का भंग होगा'– यह बात भी गलत है । कारण, 'एवम्' या 'इत्थम्' शब्द का अर्थ यह किया जाता है कि 'इस प्रकार का यह है, अन्य प्रकार का नहीं' । यहाँ 'एवम्' इत्यादि शब्दों से, आरोपित प्रकारान्तर का व्यवच्छेद अधिक स्पष्टरूप से ही अवगत होता है । अतः अपोह शब्दार्थ-व्यवस्था यहाँ भी व्यापक ही है ।

इस तरह – (पृ० ४३-३) नन्वन्यापोहकृच्छब्दो.... से लेकर 'इति न्यायात्' (पृ० ७२-२) पर्यन्त कुमारिल ने जो अपोहवाद में दोषारोपण किया था उसका विस्तार से प्रतिकार पूरा हुआ ।

★ उद्द्योतकर के आक्षेपों का प्रतिकार ★

अब उद्द्योतकर के कथन का प्रतिकार किया जाता है । उसने जो कहा था- 'सर्व'शब्द का व्यवच्छेद्य क्या मानेंगे ? इस का उत्तर पहले द्वेय-द्वेयादि के बारे में जैसा हमने बताया है वही है कि केवल 'सर्व' शब्द के प्रयोग का कोई अर्थ नहीं होता, वाक्यान्तर्गत ही उसका हरहमेश प्रयोग किया जाता है । अतः मूढमति नर का जो आशंकित स्थान होता है वही 'सर्व' पद का निवर्त्त्य होता है । देखिये – (तत्त्वसंग्रह में कहा है-) 'सभी' धर्म आत्मविकल होते हैं- सभी पुरुष गये... इत्यादि में 'सभी' पद से समस्तभाव का अवगम होता है और कश्चिदंश यानी कुछ अंश का अपोह होता है ।

'वह कौनसा अंश है जिस का 'सभी' पद से अपोह होता है ?' इसका उत्तर यह है कि (तत्त्वसंग्रह में कहा है) यह भ्रान्ति ही सर्वपद का निवर्त्त्य है । [तात्पर्य, भ्रान्ति से आशंकित 'कुछ' पदार्थ 'सभी' पद का निवर्त्त्य है ।]

★ स्वार्थापवाद आदि दोषों का निराकरण ★

पहले जो यह कहा था कि- ''एकादि असर्ववस्तु का 'सर्व शब्द से अपोह मानेंगे तो उससे 'सर्व' शब्द के अपने अर्थ का ही अपवाद = अपोह प्रसक्त होगा'' – यहाँ भी अपोहवादी कहता है, वास्तव में 'सर्व' शब्द के द्वारा यदि पूरे अंशों का निषेध किया जाय तब तो सर्वशब्द के वाच्यार्थ के अपोह की प्रसक्ति की बात ठीक है, लेकिन हम तो 'सर्व' शब्द से सिर्फ उसी अंश का निषेध करते हैं जो किसी मूढमति के द्वारा सर्वशब्द के अर्थरूप में आशंकित है, तब यहाँ स्वार्थापवादित्व की आपत्ति कहाँ हुयी ? 'द्वि' आदि शब्दों के भी इसी तरह मूढमति द्वारा शंकित अंश का निषेध मानने से कोई आपत्ति नहीं रहती ।

यच्चोक्तम् – 'किं भावोऽथाभावः' इत्यादि (७३-४) तत्रापि यथाऽसौ बाह्यरूपतया भ्रान्तैरवसीयते न तथा स्थित इति बाह्यरूपत्वाभावान्न भावः, न चाभावो बाह्यवस्तुतयाऽव्य(ध्य)वसितत्वात् इति कथं 'यदि भावः स किं गौः' इत्यादि(दे)र्भावपक्षभाविनः (७३-५) 'प्रैष-सम्प्रतिपत्त्योरभावः' इत्यादेश्चाभावपक्षभाविनो (७३-६) दोषस्यावकाशः ? अथ पृथक्त्वैकत्वादिलक्षणः कस्मान्न भवति ? व्यतिरेको(काऽ) व्यतिरेकाश्रिताऽनाश्रितत्वादिवस्तुगतधर्माणां कल्पनाशिल्पिघटितविग्रहेऽपोहेऽसम्भवात् ।

यच्चोक्तम् – 'क्रियारूपत्वादपोहस्य विषयो वक्तव्यः' इति, (७३-९) तदसिद्धम्; शब्दवाच्यस्यापोहस्य प्रतिविम्बात्मकत्वात् । तच्च प्रतिबिम्बकमध्यवसितबाह्यवस्तुरूपत्वाद् न प्रतिषेधमात्रम्; अत एव 'किं गोविषयः अथाऽगोविषय(त?)ः इत्यस्य (७३-९) विकल्पद्वयस्यानुपपत्तिः गोविषयत्वेनैव तस्य विधिरूपतयाऽध्यवसीयमानत्वात् ।

यच्चोक्तम् – 'केन ह्यगोत्वमासक्तं गोर्येनैतदपोह्यते' इति, (७४-२) अत्रापि, यदि हि प्रा-

---

और जो यह कहा था [पृ० ७३-१७] गोशब्द का अर्थ [जो 'अगो रूप नहीं', ऐसा पहले दिखाया है वह] भावात्मक है या अभावात्मक... इत्यादि, यहाँ अपोहवादी यह कहता है कि गोशब्दार्थ जिस प्रकार 'भ्रान्त लोगों के द्वारा बाह्यार्थ के रूप में अनुभूत होता है वैसा तो वह है नहीं क्योंकि [प्रतिविम्बादिरूप] अपोह में बाह्यरूपता है ही नहीं अतः उसको भावात्मक [यानी बाह्यभावात्मक] नहीं मानते हैं। फिर भी वह बाह्यवस्तुरूप से भ्रान्त लोगों को अनुभूत होता है इसलिये अभावरूप भी नहीं हो सकता, क्योंकि जो तुच्छ है वह कभी अनुभूति का विषय नहीं हो सकता। तब जो पहले भावपक्ष में ये दोष बताये गये थे कि गोशब्दार्थ भावरूप होगा तो गोस्वरूप होगा या अगोस्वरूप ? यदि अगोस्वरूप कहते हैं तो आपके कौशल्य को धन्यवाद..... इत्यादि; तथा अभावपक्ष में जो दोष कहे गये थे कि अभावात्मक शब्दार्थ मानेंगे तो 'वक्ता के द्वारा श्रोता का किसी अर्थ में प्रेरण' रूप प्रैष और सम्प्रतिपत्ति [=श्रोता के द्वारा उसका अमल] इत्यादि नहीं घटेगा... ये उभयपक्ष के दोष अब कैसे सावकाश हो सकते हैं ?

प्रश्न :- गोआदि शब्द का पृथक्त्व या एकत्वादि अर्थ क्यों नहीं मान लेते ?

उत्तर :- पृथक्त्व यानी भेद और एकत्व यानी अभेद... तथा आश्रितत्व, अनाश्रितत्व आदि ये सब वस्तु के धर्म हैं, अवस्तुस्वरूप अपोह जो सिर्फ कल्पनारूप शिल्पी से ही बनाया गया है, उस में वस्तु के धर्मों का निवेश सम्भव नहीं है।

☆ अपोह क्रियात्मक नहीं प्रतिविम्बात्मक है ★

पहले जो यह कहा था – अपोह निषेधक्रियारूप होने से गो उस का विषय है या अगो ?... इत्यादि, यह सब निरर्थक है, चूँकि अपोहवाद में शब्दवाच्य अपोह क्रियारूप न हो कर प्रतिविम्बात्मक है यह पहले ही कह दिया है। तथा प्रतिविम्बात्मक अपोह बाह्य वस्तु का अध्यवसायी होने से निषेधात्मक हो नहीं सकता। फलतः 'वह गो का निषेध करता है या अगो का' ऐसे विकल्पयुगल को अवकाश ही नहीं है। कारण, प्रतिविम्बात्मक अपोह गोविषयक होने से विधिरूप से ही बाह्यार्थ का अध्यवसायी है।

और भी जो यह कहा था – 'गोअर्थ में अगोत्व का प्रसंजन किसने किया था कि जिससे, गोशब्द

धान्येनान्यनिवृत्तिमेव शब्दः प्रतिपादयेत् तदेतत् स्यात् यावतार्थं(र्था?)प्रतिबिम्बकमेव शब्दः करोति, तद्गतौ च सामर्थ्यादन्यनिवर्त्तनं गम्यत इति सिद्धान्तानभिज्ञतया यत्किंचिदभिहितम् । व्यतिरेकाऽव्यतिरेकादिविकल्पः पूर्वमेव निरस्तः ।

यदुक्तम् – 'किमयमपोहो वाच्यः' इत्यादि(७५-१); तत्रान्यापोहे 'वाच्यत्वम्' इति विकल्पो यद्यन्यापोहशब्दमधिकृत्याभिधीयते तदा विधिरूपेणैवासौ तेन शब्देन वाच्य इत्यभ्युपगमान्नानिष्टापत्तिः । तथाहि – 'किं विधिः शब्दार्थः आहोस्विदन्यापोहः' इति प्रस्तावे 'अन्यापोहः शब्दार्थः' इत्युक्ते प्रतिपत्तुर्यथोक्तप्रतिबिम्बलक्षणान्यापोहाध्यवसायी प्रत्ययः समुपजायते अर्थानु(त्तु) विधिरूपशब्दार्थनिषेधः । अथ घटादिशब्दमधिकृत्य, तत्रापि यथोक्तप्रतिबिम्बलक्षणोऽपोहः साक्षाद् घटादिशब्दैरुपजन्यमानत्वात् विधिरूप एव तैः प्रतिपाद्यते, सामर्थ्यात्त्वन्यनिवृत्तेरधिगम इति नानिष्टापत्तिः । न चाप्यनवस्था दोषः (७५

के द्वारा उस का अपोह (=निषेध) करने की चेष्टा करनी पड़े ? – यहाँ अपोहवादी कहता है कि 'शब्द मुख्यरूप से अन्य के निषेध का ही काम करता है' – इतना ही यदि हम मानते होते तब यह प्रश्न उचित था किन्तु हम तो यह मानते हैं कि शब्द मुख्यरूप से प्रतिबिम्ब को उत्पन्न करता है, और उस प्रतिबिम्ब का भान होने पर, अर्थतः अन्यनिवृत्ति का अवबोध होता है । हमारे इस सिद्धान्त को समझे बिना आपने जो कुछ कहा है वह निरर्थक है । तथा, यह जो पहले कहा था कि गो में अगो का अपोह गो से व्यतिरिक्त (पृथक्) है या अव्यतिरिक्त है... इत्यादि, इन विकल्पों का तो अभी ही निरसन कर आये हैं कि व्यतिरेकादि सब वस्तुधर्म होने से कल्पनाशिल्पी घटित अपोह में उस का प्रसंजन व्यर्थ है ।

★ अपोह के वाच्यत्व - अवाच्यत्व विकल्पों का उत्तर ★

पहले जो यह कहा था – "अपोह वाच्य है या अवाच्य ? वाच्य है तो विधिरूप से या अन्यव्यावृत्तिरूप से"- इत्यादि; यहाँ अपोहवादी कहता है – यदि 'अन्यापोह' शब्द से वाच्य अन्यापोह के बारे में वाच्यत्व का विकल्प (=प्रश्न) हो तो उत्तर यह है कि यह विधिरूप से ही वाच्य है, और इस में हमें कोई अनिष्ट प्राप्ति नहीं है । देखिये – 'विधि शब्दार्थ है या अन्यापोह ?' ऐसे प्रश्न के प्रस्ताव में जब यह उत्तर देंगे कि 'अन्यापोह शब्दार्थ है' तब श्रोता को पूर्वोक्तरीति से प्रतिबिम्ब स्वरूप अन्यापोहाध्यवसायी ज्ञान उत्पन्न होगा । इस प्रकार विधिरूप से अन्यापोह का वाच्यार्थरूप से भान होगा; दूसरी ओर 'अन्यापोह शब्दार्थ है' इस वाक्य के श्रवण से अर्थतः यह भी ज्ञान होगा कि वास्तविक 'कोई विधिरूप अर्थ शब्दार्थ नहीं है' । [जैसे कोई पूछे कि अश्व पशु है या पक्षी ? – उत्तर में 'पशु है' इतना कहने पर अर्थतः 'अश्व पक्षी नहीं है' ऐसा ज्ञान हो जाता है ।] प्रतिबिम्बस्वरूप विधिरूपशब्दार्थ के निषेधस्वरूप अन्यव्यावृत्ति का भी अवबोध होता है । इसमें कोई आपत्ति नहीं है ।

'घट शब्द के अर्थरूप में अन्यापोह वाच्य है या नहीं' – ऐसा अगर विकल्प (=प्रश्न) हो तो भी उत्तर यह है कि घटादिशब्दों के द्वारा उनके श्रवण से जो यथोक्त प्रतिबिम्बस्वरूप अपोह का साक्षात् उदय होता है उस का विधिरूप से ही घटादिशब्दों के द्वारा प्रतिपादन किया जाता है, इस प्रकार घटादि शब्दों से प्रतिबिम्बस्वरूप अपोह वाच्य होता है और वह भी विधिरूप से वाच्य होता है । दूसरी ओर, अर्थतः अन्यव्यावृत्ति का भी पूर्वोक्त रीति से भान होता है । यहाँ कुछ भी अनिष्टापत्ति नहीं है । पहले जहाँ अनवस्था दोष का उद्भावन किया था वह भी निरवकाश है क्योंकि अन्यव्यावृत्ति स्वरूप अपोह का प्रतिपादन साक्षात् न होकर अर्थतः होता है, साक्षात् वाच्यरूप से उसका प्रतिपादन हम नहीं मानते हैं । इस प्रकार, अवाच्य विकल्प के स्वीकार से

-४) सामर्थ्यादन्यनिवृत्तेर्गम्यमानत्वात् न तु वाच्यतया । अवाच्यपक्षस्यानङ्गीकृतत्वादेव न तत्पक्षभाविदोषोदयावकाशः ।

'अपि चैकत्व-नित्यत्व' (७५-९) इत्यादावपि; यदि पारमार्थिकैकत्वाद्युपवर्णनं कृतं स्यात् तदा हास्यकरणं भवतः स्यात् । यदा तु भ्रान्तप्रतिपत्त्रनुरोधेन काल्पनिकमेव तद् आचार्येणोपवर्णितं तदा कथमिव हास्यकरणमवतरति विदुषः ? किन्तु भवानेव विवक्षितमर्थमविज्ञाय दूषयन् विदुषामतीव हास्यास्पदमुपजायते ।

'तस्माद् येष्वेव शब्देषु नञ्योग' इत्यादावपि (७५-१०) 'न केवलं यत्र नञ्योगस्तत्रान्यविनिवृत्त्यंशोऽवगम्यते, यत्रापि हि नञ्योगो नास्ति तत्रापि गम्यत एव' इति स्ववाचैवैतद् भवता प्रतिपादितम्, 'स्वात्मैव गम्यते' (७५-१०) इत्यवधारणं कुर्वतः, अन्यथावधारणवैयर्थ्यमेव स्यात्, यतः 'अवधारणसामर्थ्यादन्यापोहोऽपि गम्यते' इति स्फुटतरमेवावसीयते । न च वन्ध्यासुतादिशब्दस्य बाह्यं

कोई त्रुटि नहीं है और अवाच्यत्व विकल्प स्वीकृत न होने से उस में दिये गये दोषों को भी अवकाश नहीं है।

उपरांत, कुमारिलने जो दिङ्नागाचार्यवचन का उपहास करते हुए कहा था कि (पृ० ७५-२०)– ''स्वरूपशून्य (तुच्छ) अपोह में जाति के एकत्व, नित्यत्व और सर्वाश्रयसमवेतत्व धर्मों का योजन – करना विना सूत्र-तन्तु के वस्त्र बुनने जैसा है'' – यहाँ अपोहवादी कहता है– एकत्वादि धर्मों को पारमार्थिक मान कर अगर हमने उन का अपोह में योजन किया होता तब तो उपहास करना युक्त है, किन्तु हकीकत ऐसी है कि भ्रान्त श्रोतावर्ग को शब्द से ज्ञात होने वाले अपोह में भ्रान्ति से काल्पनिक एकत्वादि का भी अध्यवसाय होता है इसलिये आचार्य ने भी काल्पनिक एकत्वादि का ही अपोह में योजन कर दिखाया है, इस में प्रबुद्ध विद्वान को हास्य का प्रसंग ही क्या है ? सच तो यह है कि आचार्य के विवक्षित अर्थ को विना समझे ही आपने (कुमारिलने) जो उपहास का साहस किया है वही हास्यास्पद हो गया है।

☆ नञ् पद के विना भी अन्यनिवृत्ति का भान शक्य ☆

कुमारिल ने उपसंहार में जो कहा था – ''जिन शब्दों का 'नञ्' के साथ प्रयोग हो, सिर्फ उन से ही अन्यव्यावृत्ति अंश का बोध होता है, अन्यत्र विधिरूप का ही भान होता है–'' यहाँ अपोहवादी कहता है– आपने जो यहाँ विधिरूप का 'ही' ऐसा भारपूर्वक प्रयोग किया है, इस अपने प्रयोग से ही आप अर्थतः इस बात का सूचन कर बैठे हैं कि जहाँ नञ्प्रयोग हो, सिर्फ वहाँ ही अन्यव्यावृत्तिअंश का बोध होता है ऐसा नहीं है, जहाँ नञ्प्रयोग न हो वहाँ भी उसका बोध हो सकता है। कारण, विधिरूप का 'ही' इस भारपूर्वक कथन से अर्थतः विधिरूपसे भिन्न यानी निषेधरूप अंश का आप स्वयं निषेध (=व्यावृत्ति) करना चाहते हैं। इस प्रकार अनिच्छया भी आप निषेधांशरूप अन्य की व्यावृत्ति का प्रतिपादन कर बैठे। यदि आप ऐसा नहीं मानेंगे तो आप का 'ही' यह भारपूर्वक वचन व्यर्थ हो जायेगा, क्योंकि भारपूर्वककथनात्मक अवधारण के बल से अन्यापोह भी बुद्धिगत होता है यह बात अत्यन्त स्पष्टरूप में अवगत होती है। यदि ऐसा कहा जाय– 'आप के मत में 'वन्ध्यापुत्र' आदि शब्द भी अन्यापोह के ही वाचक हैं, किन्तु वह घट नहीं सकता, क्योंकि वन्ध्यापुत्र जैसा कोई अर्थ विश्वमात्र में न होने से, 'वन्ध्यापुत्र' शब्द से वाच्य अन्यापोह का आश्रयभूत कोई भी बाह्य पुत्रादिपदार्थ तो है नहीं, तो निराश्रित अन्यापोह का वह वाचक कैसे होगा ?'- तो यह ठीक नहीं

सुतादिकं वस्त्वन्यव्यावृत्तमपोहाश्रयो नास्तीति किमधिष्ठानोऽपोहो वाच्य इति वक्तव्यम्; यतो न तद्विषयाः शब्दा जात्यादिवाचकत्वेनाशंक्याः 'वस्तुवृत्तीनां हि शब्दानां किं रूपमभिधेयम् आहोस्वित् प्रतिबिम्बम्' इत्याशंका स्यादपि, अभावस्तु वस्तुविवेकलक्षण एवेति तद्वृत्तीनां शब्दानां कथमिव वस्तुविषयत्वाशंका भवेत् इति निर्विषयत्वं स्फुटमेव तत्र शब्दानां प्रतिबिम्बकमात्रोत्पादादवसीयत एव ।

अत एव 'ये संकेतसव्यपेक्षास्तेऽर्थशून्याभिजल्पाऽऽहितवासनामात्रनिर्मितविकल्पप्रतिबिम्बमात्रावद्योतकाः, यथा वन्ध्यापुत्रादिशब्दाः, कल्पितार्थाभिधायिनः संकेतसव्यपेक्षाश्च विवादास्पदीभूता घटादिशब्दा' इति स्वभावहेतुः । यद्वा परोपगतपारमार्थिकजात्याद्यर्थाभिधायका न भवन्ति घटादिशब्दाः, संकेतसापेक्षत्वात्, कल्पितार्थाभिधानवत् । न च हेतोरनैकान्तिकता, क्वचित् साध्यविपर्ययेऽनुपलम्भात् अशक्यसमयत्वात् अनन्वयभाक्त्वाच्चेति । पूर्वं (३०-४) स्वलक्षणादौ संकेताऽसम्भवस्य संकेतवैफल्यस्य च प्रसाधितत्वान्न हेतोः संदिग्धविपक्षव्यतिरेकता ।

है । कारण, वन्ध्यापुत्रादि (काल्पनिक अर्थ) संबन्धी शब्दों के बारे में, 'ये जातिवाचक हैं या व्यक्तिआदि के वाचक' ऐसी आशंका को अवकाश ही नहीं होता है । किसी वस्तु के वाचक (यानी वस्तुसदृश प्रतिबिम्ब के उत्पादक) शब्दों के बारे में ही ऐसी शंका को अवकाश होता है कि 'उनका अर्थ कोई बाह्यरूप (अर्थ) है या प्रतिबिम्ब ?' वन्ध्यापुत्रादिरूप अभाव तो वस्तु से सर्वथा विलक्षण(=तुच्छ)स्वरूप होता है, अतः उन के वाचकरूप में कल्पित 'वन्ध्यापुत्र'आदि शब्दों के बारे में 'वे वस्तुस्पर्शी हैं या नहीं ऐसी शंका को अवकाश ही कहाँ है ? तात्पर्य, वे शब्द विषयातीत हैं और वैसे शब्दों से सिर्फ शब्दमात्र के ही प्रतिबिम्ब का उदय होता है उस से यह ज्ञात होता है कि वन्ध्यापुत्रादिशब्द वस्तुस्पर्शी नहीं है ।

★ संकेतसापेक्षता से विकल्पप्रतिबिम्ब के वाचकत्व का अनुमान ★

उपरोक्तरीति से 'वन्ध्यापुत्र' आदि शब्दों में सिर्फ कल्पनाजनित प्रतिबिम्बमात्र का वाचकत्व सिद्ध है, अत एव उस के दृष्टान्त से यह स्वभावहेतुक अनुमान किया जा सकता है कि जो शब्द संकेतसापेक्ष होते हैं वे अर्थशून्य अभिजल्प (शब्द) मात्र के बार बार प्रयोग से जनित जो वासना, उस के द्वारा उत्पन्न विकल्पप्रतिबिम्बमात्र के (वे शब्द) वाचक होते हैं । उदा० - 'वन्ध्यापुत्र' आदि शब्द कुछ न कुछ अर्थ बोधित कराने के लिये संकेतसापेक्ष होते हैं (संकेत के बिना उन से किसी भी अर्थ का बोध होता नहीं है) इसलिये वे सिर्फ अर्थास्पर्शी विकल्पप्रतिबिम्ब मात्र के ही वाचक होते हैं । विवादास्पद घटादिशब्द भी संकेतसापेक्ष ही होते हैं अतः वे भी कल्पित अर्थ (यानी अर्थाकार प्रतिबिम्ब) के ही वाचक हो सकते हैं । यहाँ संकेतसापेक्षता शब्दों का स्वभाव है, उसी को हेतु करके कल्पितार्थवाचकत्व का अनुमान किया जाता है ।

अथवा – अनुमानप्रयोग इस तरह भी हो सकता है- ''घटादि शब्द (पक्ष) परकल्पित पारमार्थिक जाति आदि अर्थों के वाचक नहीं होते (साध्य), क्योंकि वे संकेतसापेक्ष होते हैं (हेतु) । जैसे कल्पित अर्थ के वाचक 'वन्ध्यापुत्र' आदि अभिधान (=नाम या संज्ञा)'' (उदाहरण) । इस अनुमान में, हेतु में अनैकान्तिक दोष का संभव नहीं है, क्योंकि साध्य से उलटा यानी जात्यादिपारमार्थिकार्थवाचकत्व कोई भी सिद्ध ही नहीं है, जिस से कि उस में हेतु रह जाने से व्यभिचार का संभव हो सके । तथा, [illegible] के कारण [illegible] में संकेत का संभव ही नहीं है, फलतः [illegible] कोई हो नहीं सकता । तथा, [illegible]

अथ यथा स्वलक्षणादौ संकेताऽसम्भवः वैफल्यं च तथाऽपोहपक्षेऽपि, ततश्चाकृतसमयत्वात् तन्मात्रद्योतकत्वमपि शब्दानां न युक्तमित्यनैकान्तिकता प्रथमहेतोः । तथाहि– न प्रतिबिम्बात्मकोऽपोहः वक्तृश्रोत्रोरेकः सिध्यति । न ह्यन्यदीयं ज्ञानमपरोऽर्वाग्दर्शनः संवेदयते, प्रत्यात्मवेद्यत्वा(द्) ज्ञानस्य । अज्ञानव्यतिरिक्तश्च परमार्थतः प्रतिबिम्बात्मलक्षणोऽपोहः । ततश्च वक्तृ-श्रोत्रोरेकस्य संकेतविषयस्यासिद्धेः कुत्र संकेतः क्रियेत गृह्येत वा ? न ह्यसिद्धे वस्तुनि वक्ता संकेतं कर्तुमीशः, नापि श्रोता ग्रहीतुम् अतिप्रसंगात् । तथाहि – श्रोता यत् प्रतिपद्यते स्वज्ञानारूढमर्थप्रतिबिम्बकं न तद् व्यवहारकालेऽनुभूयते तस्य क्षणक्षयित्वेन चिरनिरुद्धत्वात्, यच्च व्यवहारकालेऽनुभूयते न तत् संकेतकाले दृष्टम् अन्यस्यैव

प्रसिद्ध ही है कि जिस शब्द को जिस अर्थ में संकेतित किया जाता है, उस से भिन्न अर्थ का वह शब्द वाचक नहीं हो सकता । [यही अनन्यभाक्त्व है ।] और हमने यह बता दिया है कि वास्तव में किसी भी स्वलक्षणादि अर्थ में संकेत करना सम्भव नहीं है और क्षणभंगुरता के कारण कदाचित् वर्त्तमान अर्थ में संकेत कर लिया जाय तो भी उस से भावि अर्थ का बोध संभव न होने से 'संकेत करना' निष्फल है । इस का मतलब यह हुआ कि 'कदाचित् कोई शब्द अकल्पितार्थ का भी वाचक क्यों न हो' ऐसा संदेह निरवकाश है । यदि ऐसे संदेह को अवकाश मिलता तो उस विपक्षरूप में संदिग्ध शब्द में संकेतसापेक्षता हेतु के रह जाने से विपक्षव्यावृत्ति भी संदिग्ध हो जाने पर हेतु में साध्यद्रोह की शंका को अवकाश मिल जाता, किन्तु विपक्ष का संदेह असंभव होने से संदिग्ध विपक्षव्यावृत्ति को भी यहाँ अवकाश नहीं है, अतः हेतु साध्यद्रोही भी नहीं है ।

☆ अपोहपक्ष में संकेताऽसम्भवादि की आशंका ☆

पूर्वपक्षी :- आपने शब्दों में संकेतसापेक्षत्व हेतु से प्रतिबिम्बात्मक अपोहमात्र–वाचकत्व को सिद्ध किया है किन्तु विचार करने पर शब्दों में अपोहमात्रवाचकत्व घट नहीं सकता । देखिये– स्वलक्षण में जैसे आपने संकेत का असंभव और वैफल्य दिखाया है वैसा अपोहपक्ष में भी है । तात्पर्य, अपोह में भी संकेत का असंभव और वैफल्य होने से अपोहमात्रवाचकत्व शब्दों में नहीं घटेगा, फिर भी आप का कहा हुआ संकेतसापेक्षत्व तो वहाँ रहेगा, इस प्रकार वह संकेतसापेक्षत्व प्रथम हेतु साध्यद्रोही ठहरा । इसको विस्तार से देखिये– वक्ता का तत्तत् शब्दजनक अपोह (प्रतिबिम्ब) और श्रोता का तत्तत्शब्दजन्य अपोह, ये दोनों एक नहीं हो सकते । कारण, एक व्यक्ति के ज्ञान का अन्य अल्पदर्शी व्यक्ति को संवेदन होता नहीं । ज्ञान तो ऐसा है कि जिस व्यक्ति में उत्पन्न होता है उसी को उसका संवेदन होता है । प्रतिबिम्बस्वरूप अपोह वास्तव में तो ज्ञानात्मक ही है, ज्ञान से भिन्न नहीं है । कहना यह है कि वक्ता और श्रोता, दोनों का साधारण ऐसा कोई एक अपोह रूप विषय ही न होने से विषयी यानी संकेत कहाँ किया जायेगा और कहाँ उस का ग्रहण हो सकेगा ? [वक्ता अपने प्रतिबिम्ब में संकेत करेगा तो श्रोता को उसका ग्रहण नहीं होगा, श्रोता का प्रतिबिम्ब वक्ता को अगृहीत होने से उसमें तो संकेत कर ही नहीं सकता ।] असिद्ध [यानी अज्ञात] वस्तु के बारे में न तो वक्ता संकेत करने के लिये समर्थ है और न श्रोता उस के ग्रहण के लिये समर्थ है यह वास्तविकता है, इसे अगर नहीं मानेंगे तो हर एक वस्तु में हर एक शब्द का संकेत कोई भी करने लग जायेगा और श्रोता को भी किसी एक शब्द का संकेत अज्ञात समस्त वस्तु में ग्रहण हो जायेगा– यह अतिप्रसंग अवारित रहेगा । देखिये– श्रोता अपने ज्ञान में आरूढ जिस अर्थप्रतिबिम्ब का बोध करता है उस प्रतिबिम्ब का वक्ता को संवेदन नहीं होता ।

तदानीमनुभूयमानत्वात् । न चान्यत्र संकेतादन्येन व्यवहारो युक्तः अतिप्रसंगात् ।

असदेतत् – यतो न परमार्थतो ज्ञानाकारोऽपि शब्दानां वाच्यतयाऽभीष्टः येन तत्र संकेतासम्भवो दोषः प्रेर्यते, यतः सर्व एवायं शाब्दो व्यवहारः स्वप्रतिभासानुरोधेन तैमिरिकद्वयद्विचन्द्रदर्शनवद् भ्रान्त इष्यते, केवलमर्थशून्याभिजल्पवासनाप्रबोधाच्छब्देभ्योऽर्थाध्यवसायिविकल्पमात्रोत्पादनात् तत्प्रतिबिम्बकं शब्दानां वाच्यमित्यभिधीयते जननात् न त्वभिधेयतया । तत्र यद्यपि स्वस्यैवावभासस्य वक्तृश्रोतृभ्यां परमार्थतः संवेदनम् तथापि तैमिरिकद्वयस्येव भ्रान्तिबीजस्य तुल्यत्वात् द्वयोरपि वक्तृ-श्रोत्रोर्बाह्यार्थैकत्वाध्यवसायः तुल्य एव । तथाहि – वक्तुरयमभिमानो वर्त्तते 'यमेवाहमर्थं प्रतिपद्ये तमेवायं प्रतिपद्यते'–

वक्ता को जिस अर्थप्रतिबिम्ब का संवेदन होता है उस का भान श्रोता को नहीं होता । कारण, दोनों को अपने अपने प्रतिबिम्ब का ही अवभास हो सकता है, एक दूसरे के प्रतिबिम्ब का नहीं । इस स्थिति में वक्ता के द्वारा अपने प्रतिबिम्ब में संकेत किया जायेगा तो वह व्यर्थ बनेगा । [इसी तरह श्रोता के द्वारा अपने प्रतिबिम्ब में संकेतग्रह किया जायेगा तो वह भी व्यर्थ बनेगा इस का कारण आगे लिखते हैं-] देखिये–संकेतकाल में श्रोता एवं वक्ता को जिस प्रतिबिम्ब का अनुभव होता है, व्यवहारकाल में उसका अनुभव नहीं होता क्योंकि वह क्षणभंगुर होने से चिरकालपूर्व नष्ट हो चुका है । अब व्यवहारकाल में जिस का अनुभव होता है वह पहले संकेतकाल में अनुभूत नहीं हुआ है, क्योंकि संकेतकाल में जो अनुभूत था वह तो इस से भिन्न ही था । इस स्थिति में, एक व्यक्ति में संकेत कर रखा हो तो भी दूसरी व्यक्ति के द्वारा व्यवहार की उत्पत्ति नहीं की जा सकती । इस वास्तविकता को नहीं मानेंगे तो पूर्वोक्त अतिप्रसंग अनिवार्य रहेगा ।

★ आशंका निवारण के लिये तैमिरिकयुगल-दृष्टान्त ★

अपोहवादीः – पूर्वपक्षी का यह कथन गलत है । कारण, हमारे मत में ज्ञानाकार भी वास्तव में शब्दवाच्य होने का मान्य नहीं, तब यहाँ संकेत-असंभव दोष के आपादन से क्या लाभ ? ज्ञानाकार में भी शब्दवाच्यता के निषेध का मूल यह है कि हमारे मत में समस्त शाब्दिक व्यवहार अपनी अपनी भ्रान्त प्रतीति मूलक होने के कारण भ्रान्त ही माना जाता है । उदाहरण के लिये समझिये कि तिमिर दोषवाला कोई एक आदमी दूसरे तिमिरदोषवाले आदमी को कहता है – देख ! गगन में दो चन्द्र हैं । दूसरा भी कहता है, हाँ ठीक बात है । यहाँ दोनों का अपना अपना प्रतिभास भ्रान्त होने से तन्मूलक शाब्दिक व्यवहार भी भ्रान्त होता है । वैसे ही समूचा शब्द-व्यवहार भी भ्रान्त ही होता है फिर भी सिर्फ अर्थशून्य अभिजल्प की पूर्व पूर्व वासना का प्रबोध होने से, शब्दों के द्वारा बाह्यार्थाध्यवसायी विकल्पमात्र की उत्पत्ति होने के कारण, शब्दजन्य उस विकल्पात्मक प्रतिबिम्ब को शब्दवाच्य माना जाता है- यहाँ सिर्फ उत्पादकता के कारण ही वाच्यता मानी जाती है, न कि वह प्रतिबिम्ब उसका अभिधेय है इस के कारण । वास्तव में तो यहाँ वक्ता-श्रोता को अपने अपने अवभास (प्रतिबिम्ब) का ही संवेदन होता है, फिर भी उपरोक्त तिमिररोगीओं में तिमिररोगात्मक भ्रान्तिबीज तुल्य होने के कारण जैसे असत्-चन्द्रयुगल के अवभास का भ्रम दोनों को होता है उसी तरह यहाँ भी [illegible] बाह्यार्थनिर्भास वक्ता-श्रोता दोनों में तुल्य होने के कारण दोनों वक्ता-श्रोता को बाह्यार्थ (एकत्व) [illegible] का ही होता है । तात्पर्य यह है कि वक्ता को [illegible] प्रतिबिम्ब [illegible] होता है

एवं श्रोतुरपि योज्यम् । 'एकार्थाध्यवसायित्वं कथं वक्तृ-श्रोत्रोः परस्परं विदितम्' इति न वाच्यम्, यतो यदि नाम परमार्थतो न विदितम् तथापि भ्रान्तिवीजस्य तुल्यत्वादस्त्येव परमार्थतः स्वसंविदितं प्रतिविम्बकम् । स्वप्रतिभासानुरोधेन च तैमिरकद्वयवद् भ्रान्त एव व्यवहारोऽयमिति निवेदितम्, तेनैकार्थाऽध्यवसायवशात् संकेतकरणमुपपद्यत एव। न चाप्यानर्थक्यं संकेतस्य, संकेतव्यवहारकालव्यापकत्व(म्) प्रतिविम्बे वक्तृश्रोत्रोरध्यवसायात् न परमार्थतः। यदुक्तम् – "व्यापकत्वं च तस्येदमिष्टमाध्यवसायिकम्। मिथ्यावभासिनो ह्येते प्रत्ययाः शब्दनिर्मिताः ॥" [त० सं० १२१३]

ततः स्थितमेतद् न शब्दस्याकल्पितोऽर्थः सम्भवति ।

[संविद्वपुरन्यापोहवादिप्रज्ञाकरमतोपन्यासः]

अपरस्त्वन्यथा प्रमाणयति-इह खलु यद् यत्र प्रतिभाति तत् तस्य विषयः, यथाऽक्षजे संवेदने परिस्फुटं प्रतिभासमानवपुरर्थात्मा नीलादिस्तद्विषयः । शब्द-लिंगान्वये च दर्शनप्रसवे बहिरर्थस्वतत्त्वप्रतिभासरहितं स्वरूपमेव चकास्ति, तत् तदेव तस्य विषयः । पराकृतवहिरर्थस्पर्शो च संविद्वपुरन्यापोहः वस्तुनि शब्दलिंगवृत्तेरयोगात् । तथाहि– जातिर्वा तयोर्विषयः, व्यक्तिर्वा तद्विशिष्टा ? तत्र न तावदाद्यः

कि 'जिस अर्थ को मैं ग्रहण करता हूँ उसी को यह (श्रोता) भी ग्रहण करता है ।' श्रोता को भी ऐसा ही भ्रम होता है कि 'जिस अर्थ को मैं ग्रहण करता हूँ उसी को यह (वक्ता) प्रतिपादन करता है ।'

प्रश्न :- वक्ता और श्रोता को एक अर्थ का भ्रान्त अध्यवसाय भले होता हो किन्तु उन्हें यह कैसे पता चला कि हम दोनों को एक ही अर्थ विज्ञात हुआ है ?

उत्तर :- ऐसा प्रश्न निरर्थक है । कारण, वास्तव में उन दोनों को एकार्थाध्यवसायिता का भले भान न हो, किन्तु भ्रान्तिबीज समान होने के कारण, अपने अपने वास्तविक प्रतिविम्ब का तो उन्हें संवेदन होता ही है । पहले ही हमने स्पष्ट कह दिया है कि तिमिररोगीयों की तरह अपने भ्रान्त प्रतिभास के कारण वे दोनों वैसे भ्रान्त शब्दव्यवहार करते हैं । इस प्रकार भ्रान्त एकार्थाध्यवसायिता के बल पर (भ्रान्त) संकेतक्रिया की भी उपपत्ति हो जाती है ।

क्षणभंगुरता को प्रस्तुत कर के यहाँ संकेतव्यर्थता का आपादन भी नहीं हो सकता, क्योंकि यद्यपि प्रतिविम्ब क्षणभंगुर ही है, फिर भी वक्ता-श्रोता दोनों को वासनाप्रभाव से स्व स्व प्रतिबिम्ब में संकेत-व्यवहारकालव्यापकता का भी भ्रान्त अध्यवसाय उत्पन्न होता है, परमार्थ से तो ऐसा है ही नहीं । तत्त्वसंग्रह में कहा है कि– "ये शब्दजन्य सभी बुद्धियाँ मिथ्याज्ञानरूप ही होती है और संकेतक्रिया की सार्थकता के लिये अपेक्षित संकेत-व्यवहारकालव्यापकत्व भी प्रतिबिम्ब में अध्यवसाय के बल से इष्ट है । (परमार्थरूप से इष्ट नहीं है ।)"

समूचे अपोहवाद का निष्कर्ष यही फलित होता है कि शब्द का वाच्य कोई अकल्पित (वास्तविक) अर्थ नहीं होता ।

★ संवेदनस्वरूप अन्यापोह की वाच्यता– प्रज्ञाकरमत ★

शब्द का कोई वास्तविक वाच्यार्थ नहीं है इस बात को अन्यवादी (=प्रज्ञाकर) इस ढंग से प्रमाणित

पक्षः, जातेरेवाऽसम्भवात् । तथाहि – दर्शने व्यक्तिरेव चकास्ति, पुरः परिस्फुटतयाऽसाधारणरूपानुभवात् । अथ साधारणमपि रूपमनुभूयते 'गौर्गौः' इति – तदसत्, शाबलेयादिरूपविवेकेनाऽप्रतिभासनात् । न च शाबलेयादिरूपमेव साधारणमिति शक्यं वक्तुम्, तस्य प्रति(पत्ति?)व्यक्ति भिन्नरूपोपलम्भात् । तथा च पराकृतमिदम् – [श्लो०वा०आकृ० ५-७] "सर्ववस्तुषु बुद्धिश्च व्यावृत्त्यनुगमात्मिका । जायते द्व्यात्मकत्वेन विना सा च न युज्यते ॥

न चात्रान्यतरा भ्रान्तिरुपचारेण चेष्यते । दृढत्वात् सर्वथा बुद्धेर्भ्रान्तिस्तद् भ्रान्तिवादिनाम् इति ॥"

'द्व्यात्मिका बुद्धिः' इति यदीन्द्रियबुद्धिमभिप्रेत्योच्यते तदयुक्तम्, तस्या असाधारणरूपत्वात्, न हि द्वयोर्बहिर्ग्राह्याकारतया परिस्फुटमुद्भासमानयोस्तदभिन्नं भिन्नं वा दर्शनारूढं साधारणं रूपमाभाति । अथ कल्पनाबुद्धेः द्व्याकारा अभिधीयते । तथाहि – यदि नामापास्तकल्पने दर्शने न जातिरुद्भाति

करता है– प्रस्तुत चर्चा में पहले तो इस बात पर ध्यान देना चाहिये कि जिस संवेदन में जो अवभासित होता हो उसीको उस संवेदन का विषय मानना चाहिये । जैसे- इन्द्रियजन्य प्रत्यक्षबोध में नीलादि आंशिकरूप स्पष्टरूप से भासित होता है, इस कारण नीलादि ही उसका विषय माना जाता है । शब्द और लिंग से प्रसूत होने वाले विकल्पात्मक बोध में उसका अपना स्वरूप ही भासित होता है, बाह्यार्थ का अपना कुछ भी अंश उसमें प्रतिभासित होता नहीं है । अतः ज्ञान के अपने स्वरूप को ही शब्द-लिंगजन्य बोध का विषय मानना चाहिये, बाह्यार्थ को नहीं । इस प्रकार, शब्द या लिंग से जन्य अन्यापोह कोई बाह्य वस्तु नहीं है, क्योंकि बाह्यार्थ में शब्द और लिंग का कोई संबंध ही नहीं है । बाह्यार्थ का जिसमें स्पर्श भी नहीं है ऐसा संविदनमात्र ही अन्यापोह है । जाति आदि बाह्यरूप में अभिमत पदार्थ को शब्द या लिंग से जन्य प्रतीति के विषय मानने पर ये प्रश्न हैं कि शब्द-लिंगजन्य प्रतीति का विषय जाति है या व्यक्ति ? पहला पक्ष इसलिये असंगत है कि जाति के अस्तित्व का ही सम्भव नहीं है । प्रत्यक्षदर्शनात्मक बोध में तो सिर्फ व्यक्ति (स्वलक्षण) का ही बोध माना जाता है, क्योंकि स्पष्टरूप से तत्तद् वर्णादिविशिष्ट व्यक्ति का ही वहाँ अनुभव होता है ।

जातिवादी :- 'गाय...गाय' इस प्रकार साधारणस्वरूप जाति का भी वहाँ अनुभव होता है ।

अपोहवादी :- यह गलत बात है । कारण, शाबलेय- बाहुलेयादि तत्तद् व्यक्ति को छोड कर और किसी (जाति) का भी वहाँ अनुभव नहीं होता । 'वे शाबलेयादि ही साधारण(जाति)रूप हैं' ऐसा कहना असंगत है क्योंकि 'शाबलेय' ही यदि साधारणरूप होता तब तो व्यक्ति-व्यक्ति में उस का एकरूप से अनुभव होता, किन्तु यहाँ तो एक शाबलेयरूप से तो दूसरा बाहुलेयरूप से, इस प्रकार भिन्न भिन्न रूप से अनुभव होता है ।

इस चर्चा से, श्लोकवार्तिकगत कुमारिल भट्ट के निम्नोक्त वचन का निरसन हो जाता है । कुमारिल भट्ट ने यह कहा है कि – "वस्तुमात्र में व्यावृत्ति (=विशेष) और अनुवृत्ति (=सामान्य) से अंकित स्वरूप बुद्धि होती है । अगर वस्तु उभयात्मक (सामान्य-विशेष द्वयात्मक) न होती तो बुद्धि भी द्वयात्मक न होती । उभय बुद्धि में से एक (मानों सामान्य बुद्धि) भ्रान्तरूप है या औपचारिक है ऐसा भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि दोनों बुद्धि दृढ यानी स्पष्ट निश्चयात्मक होती है । अतः 'इन में से एक को भ्रान्त कहना' ही भ्रान्ति है ।" – इस वचन का अब निरसन हो जाता है क्योंकि बुद्धि उभयात्मक नहीं किन्तु व्यावृत्ति-आत्मक ही होती है ।

कल्पना तु तामुल्लिखन्ती व्यवसीयते 'गौर्गौः' इति । एतदप्यसत्, कल्पनाज्ञानेऽपि जातेरनवभासनात् । तथाहि – कल्पनाऽपि पुरः परिस्फुटमुद्भासमानं व्यक्तिस्वरूपं व्यवस्यन्ती हृदि चाभिजल्पाकारं प्रतीयते, न च तद्व्यतिरिक्तः वर्णाकृत्यक्षराकारशून्यः प्रतिभासो लक्ष्यते वर्णादिस्वरूपरहितं च जातिस्वरूपमभ्युपगम्यते, तन्न कल्पनावसेयाऽपि जातिः । यच्च क्वचिदपि ज्ञाने नाऽवभाति तदसत् यथा शशविषाणम्, जातिश्च क्वचिदपि ज्ञाने परिस्फुटव्यक्तिप्रतिभासवेलायां स्वरूपेण नाभाति तन्न सती ।

अथापि शब्दलिंगजे ज्ञाने स्वरूपेण सा प्रतिभाति तत्र सम्बन्धप्रतिपत्तेः, स्वलक्षणस्य तत्राऽसाधारणरूपतया प्रतिभासनावसायात् सम्बन्धग्रहणासम्भवाच्च तद् न शब्दलिंगभूमिः । ननु तत्रापि परिस्फुटतरो व्यक्तेरेवाकारः शब्दस्य वा प्रतिभाति न तु वर्णाकाररहितोऽनुगतैकस्वरूपः प्रयोजनसामर्थ्यव्यतीतः कश्चिदाकारः केनचिदपि लक्ष्यते, शब्द-लिंगान्वयं हि दर्शनमर्थक्रियासमर्थतयाऽस्फुटदहनाकारमाद-

---

इन्द्रियजन्य बुद्धि को लेकर यदि उसे उभयात्मक कहते हो तो वह अयुक्त है, क्योंकि वह तो असाधारणरूप यानी व्यावृत्ति-आत्मक ही होती है । बुद्धि जव दो वाह्यार्थाकार को स्पष्टरूप से उद्भासित करती है तव उस समय उन से भिन्न या अभिन्न कोई भी साधारणरूप दर्शनारूढ निर्विकल्प ज्ञानारूढ हो ऐसा भान नहीं होता है । अर्थात् निर्विकल्प प्रत्यक्ष में जव वाह्य दो व्यक्ति का संवेदन होता है तव तीसरे साधारणरूप का दर्शन नहीं होता है ।

जातिवादी : हम विकल्पवुद्धि को उभयात्मक वता रहे हैं । सुनिये – कल्पनापोढ दर्शन में तो जाति का उल्लेख नहीं होता है किन्तु अनुव्यवसाय 'गाय... गाय' इस प्रकार साधारणरूप का उल्लेख करती हुई विकल्पवुद्धि को प्रकट करता है ।

व्यक्तिवादी :- यह वात गलत है, क्योंकि विकल्पवुद्धि में भी जाति का संवेदन नहीं होता है । देखिये– विकल्पवुद्धि भी स्पष्टरूप से असाधारण स्वरूप को उद्भासित करती हुइ और मनोगत अभिजल्पाकार का उल्लेख करती हुयी ही लक्षित होती है । असाधारणस्वरूप एवं अभिजल्पाकार से अतिरिक्त यानी वर्ण-आकृति–अक्षर[1] से अमुद्रित हो ऐसा कोई साधारण तत्त्व का प्रतिभास अनुभव में लक्षित नहीं होता है । साधारणरूप यानी जाति को तो आप वर्णादिरूप से रहित मानते हैं । निष्कर्ष, विकल्पवुद्धि से भी जाति का उद्भासन नहीं होता । किसी भी ज्ञान में जिस का भान न हो उस को मिथ्या ही मान लेना चाहिये, जैसे खरगोशशिंग ज्ञानमात्र में अभासित होने से मिथ्या माना जाता है । कोई भी ज्ञान लो, लेकिन उस में स्पष्ट रूप से हर वक्त व्यक्ति का ही भान होता है, किसी भी समय जाति का सामान्यरूप से वहाँ अनुभव नहीं होता है, इस लिये वह सत्स्वरूप नहीं है मिथ्या है ।

जातिवादी :- शब्द से या लिंग से उत्पन्न ज्ञाना में जाति का स्वरूपतः भान होता ही है, क्योंकि जाति नित्य होने से उस में सम्वन्ध(=संकेत) का ग्रहण शक्य है । स्वलक्षण तो शब्द और लिंग की क्रीडाभूमि नहीं वन सकता, उस के दो कारण हैं, एक– स्वलक्षण का तो असाधारण रूप से प्रतिभास होने का ही अनुभव होता है । दूसरा, क्षणिक होने से उस में सम्वन्ध का ग्रहण अशक्य है ।

जातिविरोधी :- शब्द से या लिंग से उत्पन्न ज्ञान में भी जाति का भान नहीं होता किन्तु व्यक्ति का

---

१. वर्ण=रूप, आकृति=संस्थान और अक्षर=गकार, औकार, विसर्गादि अभिप्रेत हैं ।

दानं प्रवर्त्तयति जनम्, तत् कथमन्यावभासस्य दर्शनस्यान्याकारो जात्यादिविषयः ? यदि च जात्यादिरेव लिंगादिविषयः तथा सति जातेरर्थक्रियासामर्थ्यविरहादधिगमेऽपि शब्द-लिंगाभ्यां न बहिरर्थे प्रवृत्तिर्जनस्येति विफलः शब्दादिप्रयोगः स्यात् । अथ जातेरर्थक्रियासामर्थ्यविरहेऽपि स्वलक्षणं तत्र समर्थमिति तदर्थं प्रवृत्तिरर्थिनाम् । ननु तत् स्वलक्षणं लिंगादिजे दर्शने सदपि न प्रतिभाति, न चात्मानमनारूढेऽर्थे विज्ञानं प्रवृत्तिं विधातुमलम् सर्वस्य सर्वत्र प्रवर्त्तकत्वप्रसंगात् । यत् तु तत्र प्रतिभाति सामान्यं न तद् दाहादियोग्यम्, यदपि ज्ञानाभिधानं तस्य फलं मतं तदपि पूर्वमेवोदितमिति न तदर्थाऽपि प्रवृत्तिः साध्वी ।

अथ प्रथमं शब्द-लिंगाभ्यां जातिरवसीयते ततः पश्चात् तया स्वलक्षणं लक्ष्यते तेन विना तस्या

ही अथवा शब्द का स्फुट आकार वहाँ भासित होता है । वर्ण या विशेष आकार से हीन, एक ही और अनेक में रहता हो ऐसे स्वरूपवाला, जिस का न कोई प्रयोजन है न कुछ सामर्थ्य है, ऐसा कोई भी सामान्याकार वहाँ (शब्दलिंगजन्य ज्ञान में) किसी को भी लक्षित नहीं होता । ऐसे तो देखा जाता है कि शब्द या लिंग से उत्पन्न दर्शन (यानी अस्पष्टाकार ज्ञान) दाहादि अर्थक्रिया करने में समर्थ ऐसे अस्फुट अग्नि-आकार को ग्रहण करता हुआ उष्णता के अर्थी पुरुष को उसमें प्रवृत्त करता है । मतलब यह है कि यहाँ अग्निरूप व्यक्ति का ही अवभास होता है । तब यहाँ प्रश्न ऊठता है कि अग्नि आदि जातिभिन्न वस्तु के प्रकाशक दर्शन का, जाति आदि अन्य आकार कैसे विषय हो सकता है ? पहले ही यह नियम कहा है कि जो जहाँ भासता है वही उस का विषय हो सकता है । इतना होते हुए भी यदि आप जाति आदि को ही लिंगादिजन्य ज्ञान का विषय मानेंगे तो ऐसा होने पर अर्थक्रिया सामर्थ्यशून्य जाति का ही उस से बोध होगा, और उसका बोध होने पर भी वह दाहादि सामर्थ्यशून्य होने के कारण, शब्द से या लिंग से जो परमार्थ बाह्यार्थ में लोगों की प्रवृत्ति होती है वह रुक जायेगी । फलतः शब्दादि का प्रयोग भी निरर्थक बन जायेगा ।

जातिवादी :- जाति में अर्थक्रिया-सामर्थ्य न होने पर भी प्रवृत्ति नहीं रुकेगी, क्योंकि स्वलक्षण अर्थक्रिया के लिये समर्थ है ।

जातिविरोधी :- स्वलक्षण समर्थ होने पर भी लिंगादिजन्य बोध में उसका भान कहाँ होता है ? नहीं होता है । जब तक कोई भी समर्थ पदार्थ विज्ञानारूढ नहीं होता तब तक उस अर्थ में विज्ञान के द्वारा प्रवृत्ति का होना शक्य नहीं है । फिर भी मानेंगे तो जो जो अर्थ जिन जिन विज्ञान का विषय नहीं हुआ ऐसे सभी विज्ञान के द्वारा उन उन अर्थों में प्रवृत्ति प्रसंग का अनिष्ट उपस्थित होगा । यह तो आप को भी मान्य है कि आप के मत में शब्दादिजन्य बुद्धि में भासित होने वाला सामान्य दाहादि अर्थक्रिया करने के लिये समर्थ नहीं होता । यद्यपि आप यह कहेंगे कि 'जाति का ज्ञान और उस के लिये किया जाने वाला 'सामान्य' शब्दप्रयोग (=अभिधान) ये दो फल उत्पन्न करने में जाति का सामर्थ्य होता ही है ।' किन्तु ऐसा कहने पर भी, ऐसे फल के लिये प्रवृत्ति का होना उचित नहीं माना जा सकता क्योंकि ये दो फल तो शब्दादिजन्य जातिविज्ञान बुद्धि के पहले ही उदित यानी उपस्थित रहता है ।

★ लक्षितलक्षणा द्वारा जातिभान से स्वलक्षणभान ★

जातिवादी :- 'लक्षित-लक्षणा' संज्ञक वृत्ति के द्वारा शब्द से स्वलक्षणरूप अर्थ का बोध हो सकता है । जैसे 'द्विरेफ' शब्द से पहले दो रेफ (यानी र) वाले 'भ्रमर' पद अभिप्रेत होता है फिर भ्रमर से [illegible]

अयोगादिति लक्षितलक्षणया प्रवृत्तिर्भवेत् । नैतदपि सम्यक्; नह्यत्र क्रमवती प्रतीतिः – पूर्वं जातिराभाति पश्चात् स्वलक्षणमिति । किञ्च, जात्यापि स्वलक्षणं प्रतिनियतेन वा रूपेण लक्ष्येत, साधारणेन वा ? तत्र न तावदाद्यः पक्षः, प्रतिनियतरूपस्य स्वलक्षणस्य प्रतिपत्तेरसंभवात्; न हि शब्दानुमानवेलायां जातिपरिमितं प्रतिनियतं स्वलक्षणमुद्भाति सर्वतो व्यावृत्तरूपस्याननुभवात्, अनुभवे वा प्रत्यक्षप्रतिभासाऽविशेषः स्यात् । न च प्रतिनियतरूपमन्तरेण जातिर्न सम्भवति, तत् कुतस्तया तस्य लक्षणम् ? अथापि साधारणेन रूपेण तया स्वलक्षणं लक्ष्यते 'दाहादियोग्यं वह्निमात्रमस्ति' इति । तदप्यसत्, साधारणस्यापि रूपस्यार्थक्रियाऽसम्भवात् प्रतिनियतस्यैव रूपस्य तत्र सामर्थ्योपलब्धेः, ततश्च तत्प्रतिपत्तावपि कथं प्रवृत्तिः ? पुनस्तेनापि साधारणेनाऽपरं साधारणं रूपं प्रत्येतव्यम् तेनाप्यपरमिति साधारणरूपप्रतिपत्तिपरम्परा निरवधिर्भवेत्; तथा चार्थक्रियासमर्थरूपानधिगतेर्वृत्त्यभाव एव ।

लक्षणा से 'भ्रमर' पद के द्वारा भ्रमररूप अर्थ का बोध होता है । [द्विरेफ शब्द सीधा भ्रमर का वाचक नहीं बनता किंतु दो रेफ वाले 'भ्रमर' पद का स्मरण कराने द्वारा भ्रमर-अर्थ का बोध कराता है ।] तो इसी तरह शब्द से पहले तो जाति का भान होता है, किन्तु व्यक्ति के विना जाति का अवस्थान या भान शक्य न होने से शब्द से जातिभान के द्वारा स्वलक्षणरूप व्यक्ति का भी भान होता है । 'द्विरेफ' शब्द की तरह, यहाँ भी इस प्रकार लक्षितलक्षणा से स्वलक्षण का बोध एवं स्वलक्षण में प्रवृत्ति घट सकती है । लिंग से भी इस प्रकार परम्परया जातिभान द्वारा स्वलक्षण का भान शक्य है ।

जातिविरोधी :- यह वात ठीक नहीं है । कारण, शब्द से होने वाले बोध में ऐसे किसी क्रम का अनुभव नहीं होता कि पहले मुझे जाति का भान हुआ और उस के वाद तुरंत स्वलक्षण-व्यक्ति का । दूसरी चर्चास्पद वात यह है कि जाति-भान के द्वारा स्वलक्षण का वोध किसी एक प्रतिनियत (यानी असाधारण अथवा विशिष्ट) रूप से होता है या साधारणरूप से ही होता है ? पहला पक्ष विश्वस्य नहीं है, क्योंकि जातिभान के द्वारा असाधारणस्वरूपवाले स्वलक्षण का वोध संभव ही नहीं है । शाब्दवोध या अनुमिति करते समय स्वलक्षण का जाति से अनुविद्ध और फिर भी असाधारण स्वरूप से भान होने का अनुभव में नहीं आता है, क्योंकि शब्द को सुन कर सर्व सजातीय-विजातीय से व्यावृत्त ऐसे असाधारणरूप का अनुभव होता नहीं है । यदि ऐसे असाधारणरूप का अनुभव मान्य करेंगे तव तो शाब्दवोध-अनुमिति और प्रत्यक्षप्रतिभास, इनमें कुछ भी भेद नहीं रह पायेगा । उपरांत, आपने जो यह कहा कि 'असाधारणव्यक्तिस्वरूप के विना जाति का अवस्थान शक्य नहीं' यह भी ठीक नहीं है । असाधारणरूप के विना भी जाति का अवस्थान मानने में कोई वाध नहीं है । [क्योंकि हम तो जाति को काल्पनिक मानते हैं और जाति की वास्तविकता अव तक विवादग्रस्त है] जब ऐसा है तव जाति-भान के वाद लक्षणा से स्वलक्षण के बोध की तो वात ही कहाँ ? यदि दूसरा पक्ष ले कर कहें कि जाति द्वारा साधारणरूप से स्वलक्षण का बोध होता है, जैसे ऐसा उल्लेख होता है कि 'दाहादिक्रिया कर सके ऐसा सामान्य अग्नि वहाँ है'– तो यह पक्ष भी गलत है, क्योंकि सर्वसाधारण स्वरूप (यानी सामान्य) से कोई भी विशिष्ट अर्थक्रिया होने का सम्भव नहीं होता । असाधारण स्वरूप का ही दाहादि अर्थक्रिया करने का सामर्थ्य होता है । अतः साधारणरूप से स्वलक्षण का बोध होने पर भी तदर्थी की प्रवृत्ति वहाँ संभवित नहीं है । उपरांत, इस पक्ष में यह अनवस्था दोष संभव है कि– जिस साधारणरूप से स्वलक्षण का बोध किया गया है उस साधारणरूप

किञ्च, यदि नाम जातिराभाति शब्द-लिंगाभ्याम् व्यक्तेः किमायातम् येन सा तां व्यनक्ति? 'तयोः सम्बन्धादि'ति चेत्? सम्बन्धस्तयोः किं तदा प्रतीयते उत पूर्वं प्रतिपन्नः? न तावत् तदा भात्यसौ व्यक्तेरनधिगतेः; केवलैव हि तदा जातिर्भाति, यदि तु व्यक्तिरपि तदा भासेत तदा किं लक्षितलक्षणेन ? सैव शब्दार्थः स्यात्, तदनधिगमे न तत्सम्बन्धाधिगतिः । अथ पूर्वमसौ तत्र प्रतीतः तथापि तदैवासौ भवतु; न ह्येकदा तत्सम्बन्धेऽन्यदापि तथैव भवति अतिप्रसंगात् । अथ जातेरिदमेव रूपम् यदुत विशेषनिष्ठता । ननु 'सर्वदा सर्वत्र जातिर्विशेषनिष्ठा' इति किं प्रत्यक्षेणावगम्यते, यद्वाऽनुमानेन? तत्र न तावत् प्रत्यक्षेण; सर्वव्यक्तीनां युगपदप्रतिभासनान्नैकदा तन्निष्ठता तेन गृह्यते । क्रमेणापि व्यक्तिप्रतीतौ निरवधेर्व्यक्तिपरम्परायाः सकलायाः परिच्छेत्तुमशक्यत्वात् तन्निष्ठता न जातेरधिगन्तुं शक्या ।

का बोध असाधारणरूप से होता है या अन्य साधारणरूप से ? यहाँ पूर्ववत् पहले पक्ष में संगति न होने से आप दूसरे पक्ष का आश्रय करेंगे, तब फिर से वही प्रश्न आयेगा, उस का पूर्ववत् उत्तर करने पर साधारणरूप से अपर अपर साधारण रूप के बोध की परम्परा का अन्त ही नहीं आयेगा । फलतः अर्थक्रियासमर्थ किसी सुनिश्चित साधारणरूप का स्पष्ट भान न होने से 'लक्षितलक्षणा' वृत्ति की तुच्छता ही फलित होगी । [अथवा तदर्थी की प्रवृत्ति अनुपपन्न ही रह जायेगी ।]

★ जातिभान से व्यक्तिप्रकाशन असंगत ★

दूसरी बात यह है कि शब्द या लिंग से आप जाति का भान मानते हैं उसमें व्यक्ति के साथ लेना-देना क्या है कि जिस से जाति व्यक्ति का प्रकाशन करने लग जाय ? यदि उत्तर में ऐसा कहें कि– ''जाति और व्यक्ति के बीच अविनाभाव या ऐसा कुछ सम्बन्ध मौजुदा होता है इसी लिये जाति व्यक्ति को प्रकाशित करती है ।'' – तो यहाँ फिर से प्रश्न होगा कि यह संबन्ध जातिभान के काल में ही विज्ञात होता है या उस से पूर्व ही उस को विज्ञात कर रखा होता है ? 'जातिभान के काल में यह विज्ञात होता है' इस विकल्प का स्वीकार शक्य नहीं है क्योंकि सम्बन्ध दो वस्तु की प्रतीति होने पर प्रतीत हो सकता है, यहाँ तो सिर्फ जाति का ही भान हुआ है, व्यक्ति का नहीं, तो उन के सम्बन्ध का ज्ञान कैसे हो सकता है ? अगर जाति का भान होते समय सम्बन्धज्ञान की उपपत्ति करने हेतु उस वक्त व्यक्ति का भी भान स्वीकार कर लेंगे तब तो शब्द और लिंग से सीधा ही व्यक्ति का ज्ञान हो गया, अब लक्षितलक्षणा से व्यक्ति का भान मानने की क्या आवश्यकता रही ? अब तो व्यक्ति स्वयं ही शब्दार्थ बन जायेगी । ऐसा यदि नहीं मानेंगे तो उस के सम्बन्ध का भान शक्य नहीं होगा ।

यदि कहें कि 'सम्बन्ध को पहले से ही विज्ञात कर लिया होता है,' – तो पूर्वविज्ञात सम्बन्ध से पूर्वकाल में व्यक्ति का भान मान लो, लेकिन जातिभान के काल में पूर्वविज्ञात सम्बन्ध से व्यक्ति का भान मानने में कोई युक्ति नहीं है । एक बार सम्बन्ध का ज्ञान कर लेने पर अन्य काल में उस से व्यक्ति का भान होता रहे ऐसा मान लेने की कोई [illegible] नहीं है फिर भी ऐसा मानेंगे तो [illegible] व्यक्ति का भान मानने पर अतिप्रसंग होने से, [illegible] जिस का [illegible] किया है, [illegible] ।

★ 'व्यक्ति में रहना' ऐसा जातिस्वभाव असंगत ★

यदि कहें कि [illegible]

कादाचित्के तु जातेर्व्यक्तिनिष्ठाऽधिगमे 'सर्वदा न तन्निष्ठता' इत्युक्तम् । तन्न प्रत्यक्षेण जातेस्तन्निष्ठता प्रतिपत्तुं शक्या । नाप्यनुमानेन, तत्पूर्वकत्वेन तस्य तदभावेनाऽप्रवृत्तेः । तन्न जात्यापि तदभावे व्यक्तेरधिगमः कर्त्तुं शक्यः ।

किंच, यदि जातिरभिधानगोचरः तथा सति नीलत्वजातिरुत्पलत्वजातिश्च द्वयमपि परस्परभिन्नं प्रतीतमिति न सामानाधिकरण्यं भवेत्; न हि परस्परविभिन्नार्थप्रतीतौ तद्व्यवस्था 'घटः पटः' इति दृश्यते । अथ गुण-जाती प्रतिनियतमेकाधिकरणं बिभ्राते ततस्तद्द्वारेणैकाधिकरणता शब्दयोः । ननु गुण-जातिप्रतीतौ शब्दजायां न तदधिकरणभाभाति तस्य शब्दाऽगोचरत्वात्, न चानुद्भासमानवपुरधिकरणं सन्निहितमिति न समानाधिकरणताव्यवस्था अतिप्रसङ्गात् । पुनरपि तदेव वक्तव्यम् – 'श-

---

अन्तःप्रविष्ट होने से स्वरूपान्तर्गत व्यक्ति का भान भी अवश्य हो जायेगा ।' – तो इस के ऊपर प्रश्नविकल्प हैं कि 'हर स्थान में हर काल में जाति स्वयं व्यक्तिनिष्ठ ही होती है' ऐसा प्रत्यक्ष से ज्ञात किया या अनुमान से ? प्रत्यक्ष से तो वैसा ज्ञान नहीं होता, क्योंकि हर काल में और हर स्थान में रहे हुये असंख्य व्यक्तियों का एक साथ प्रत्यक्ष होना संभव नहीं है तो फिर उन व्यक्तियों में अवस्थित जाति का भी एक साथ एक काल में प्रत्यक्ष कैसे होगा ? – ''एक साथ भले प्रत्यक्ष न हो सके किंतु प्रत्यक्ष कर के, जाति की व्यक्ति में अवस्थिति का प्रत्यक्ष कर लेंगे–'' ऐसा भी कहना व्यर्थ है, क्योंकि व्यक्तियों का सन्तान सीमातीत हैं, उन सभी का क्रमशः प्रत्यक्ष करने जायेंगे तो असंख्य काल वीत जायेगा, फिर भी अन्त नहीं आयेगा, इस लिये वैसा प्रत्यक्ष सम्भववाह्य होने से व्यक्ति में जाति की अवस्थिति का भान अशक्य है । यदि कहें कि– 'सर्वकाल में सर्व स्थान में, व्यक्ति में जाति-अवस्थिति का प्रत्यक्ष असंभव होने पर भी किसी एक काल में किसी एक स्थान में तो वैसा प्रत्यक्ष शक्य है, उसी से व्यक्ति में जाति-अवस्थिति की सिद्धि हो जायेगी'– तो यह भी अयुक्त है क्योंकि वैसा प्रत्यक्ष होने पर भी प्रत्येक काल में प्रत्येक स्थान में व्यक्ति में जाति की अवस्थिति का प्रत्यक्षभान प्राप्त न होने से 'व्यक्ति में अवस्थिति' यह जाति का स्वरूप होने की वात सिद्ध नहीं हो पायेगी ।

अनुमान से भी यह वात सिद्ध नहीं होगी, क्योंकि पूर्वकालीन प्रत्यक्ष के विना वैसे साध्य की सिद्धि में अनुमान समर्थ नहीं है । अनुमान तो साध्य और लिंग का सहचार प्रत्यक्ष से देख लेने के वाद ही कभी प्रवृत्त हो सकता है, अतः 'व्यक्ति में जाति की अवस्थिति' रूप साध्य के प्रत्यक्ष के अभाव में अनुमान की प्रवृत्ति रुक जायेगी । निष्कर्ष, उपरोक्त प्रत्यक्ष और अनुमान के अभाव में 'व्यक्ति में जाति अवस्थिति' रूप जाति का स्वरूप सिद्ध न होने पर जाति के द्वारा व्यक्ति का भान उपपन्न नहीं हो पायेगा ।

★ नील-उत्पल के सामानाधिकरण्य की असंगति ★

और एक आपत्ति यह है– जव आप जाति को शब्दवाच्य मानना चाहते हैं तव, नील और उत्पल शब्दों का सामानाधिकरण्य (सहोचार होने पर नीलवर्णविशिष्ट कमलरूप एक अर्थ का वोधकत्व) नहीं घटेगा । कारण, अव तो 'नील' पद नीलत्वजाति का और 'उत्पल'पद उत्पलत्व जाति का वाचक वना, ये दोनों जाति परस्पर भिन्न हैं इस लिये नील और उत्पल पद परस्पर भिन्न अर्थ के वोधक वन गये । जिन दो पदों से परस्पर भिन्न अर्थ की प्रतीति होती है उन में सामानाधिकरण्य की व्यवस्था सम्मत नहीं है । उदा० 'घट' पद और 'पट' पद, परस्पर भिन्न घटत्व-पटत्व जाति के बोधक हैं, यहाँ 'घटः पटः' ऐसा सामानाधिकरण्य किसी को भी सम्मत नहीं है ।

शैरनभिधीयमानमधिकरणं तदभिहितैर्जात्यादिभिराक्षिप्यमाणं तद्व्यवस्थाकारि' इति, तत्र च समाधिः न सामर्थ्यापातमधिकरणमेकाधिकरणतां शब्दयोः कर्तुमलम् घटपटशब्दयोरपि ताभ्यामभिहिताभ्यामेकस्य भूतलादेराधारस्याऽऽक्षेपादेकार्थताप्रसंगात् ।

तथा, जातिपक्षे धर्म-धर्मिभावोऽप्यनुपपन्न एव । यदि हि व्यक्तावाश्रिता जातिः प्रतीयेत तदा तद्धर्मः स्यात्, यदा तु व्यक्तिः सत्यपि नाभाति शब्दजे ज्ञाने तदा जातेरेव केवलायाः प्रतिभासनात् कथं जाति-जातिमतोर्धर्मधर्मिभावः ? न हि नीलादिः केवलं प्रतीयमानः कस्यचिद्धर्मो धर्मी वा । यदापि प्रत्यक्षे द्वयं प्रतिभाति तदापि भेदप्रतिभासे सति न धर्म-धर्मिभावः, सर्वत्र तथाभावप्रसंगात् । अथ प्रत्यक्षे ताद्रूप्यं प्रतिभाति जाति-व्यक्त्योः तेनायमदोष इति चेत् ? अत्रोच्यते – ताद्रूप्येण विज्ञानमिति किं व्यक्तिरूपतया जातेरधिगतिः, अथ जातिरूपतया व्यक्तेरिति ? तत्र यद्यायः पक्षः तथा सति

यदि कहें – ''नीलपदवाच्य नीलत्व जाति यद्यपि उत्पलत्व जाति से भिन्न है, तथापि (नीलत्वजाति का आश्रय गुणात्मक नीलरूप है और) नीलरूप एवं उत्पलत्व जाति ये दोनों भिन्न होते हुये भी नीलवर्णवाले एक ही कमलरूप अधिकरण में रहते हैं, इस प्रकार नीलत्वजातिवाले नीलगुण और उत्पलत्व जाति के सामानाधिकरण्य के द्वारा, नीलत्व जाति वाचक नीलपद और उत्पलत्व जातिवाचक उत्पल पद का सामानाधिकरण्य घट सकता है ।''– तो इस के सामने अन्यापोहवादी कहता है– आपके मतानुसार शब्दजन्य प्रतीति में नीलत्वजातिवाले नीलगुण का और उत्पलत्व जाति का भान होने पर भी उन दोनों के अधिकरण का भान तो हो नहीं सकता, क्योंकि यहाँ व्यक्ति नहीं किन्तु जाति शब्दवाच्य है यह पक्ष चल रहा है, उसमें अधिकरण व्यक्ति तो शब्द का गोचर मान्य ही नहीं है । गुण और जाति के सामानाधिकरण्य की व्यवस्था के लिये नीलपद और उत्पलपद से अधिकरण सन्निहित यानी उपस्थित होना चाहिये, किन्तु जब नीलपद और उत्पलपद से अधिकरण का स्वरूप ही भासता नहीं तो उस की उपस्थिति के द्वारा नीलपद और उत्पल पद के सामानाधिकरण्य की व्यवस्था कैसे मानी जाय ? किसी ठोस आधार के बिना ही अगर ऐसी व्यवस्था मान ली जाय तब तो घट और पट पदों में भी यह प्रसक्त होने की आपत्ति खडी है । इस से बचने के लिये फिर से आप कहेंगे कि – 'शब्दों से अनुक्त अधिकरण भी शब्दाभिहित जाति आदि से उसके आधाररूप में आक्षिप्त होता है और इससे सामानाधिकरण्य भी हो जाता है'– तो इस के प्रत्युत्तर में यही समाधान कहना होगा कि सामर्थ्य से आक्षिप्त अधिकरण के द्वारा शब्दों की एकाधिकरणता का होना अशक्य है, अन्यथा घट-पट शब्द से भी भूतलरूप अधिकरण का आक्षेप कर के घट-पट शब्द का सामानाधिकरण्य प्रसक्त होगा ।

★ जातिवाच्यतापक्ष में धर्म-धर्मिभाव की अनुपपत्ति ★

जातिवादी के पक्ष में धर्म-धर्मिभाव भी घट नहीं सकता । कारण, जाति-व्यक्ति में धर्म-धर्मिभाव की व्यवस्था के लिये जाति व्यक्ति में आश्रित होने की प्रतीति होनी चाहिये, तभी जाति को व्यक्ति का धर्म और व्यक्ति को जाति का धर्मी कह सकते हैं, किन्तु वैसी प्रतीति ही नहीं होती । जाति को शब्दवाच्य मानेंगे तो शब्दजन्य प्रतीति में, व्यक्ति स्वयं सद्भूत होने पर भी उस का भान होता नहीं, तब सिर्फ जाति का ही भान होगा, किन्तु एकमात्र जाति का ही ज्ञान होने पर, जाति और व्यक्ति के बीच धर्म-धर्मिभाव का व्यवहार कैसे होगा ? जब नीलादि एक ही वस्तु का प्रतिभास होता है तब वह किसी के धर्म या धर्मी के रूप में प्रतीत नहीं होता, सिर्फ 'यह नील है' इतना ही भान होता है । जब दो वस्तु (धर्म और धर्मी) का [illegible]

व्यक्तिरेव गृहीता न जातिः, द्वितीयेपि जातिरूपाधिगतिरेव न व्यक्तिरिति न सर्वथा धर्म-धर्मिभावः । तन्न जातिः शब्द-लिंगयोर्विषयः ।

अथाकृ(?अथ जा)तिविशिष्टा व्यक्तिस्तयोरर्थः । तदप्यसत्, तस्याः प्रतिभासाभावात् । न हि शब्दलिंगप्रसवे विज्ञाने व्यक्ति(क्त)रूपतया प्रतिभाति, तदभावेऽपि तस्योदयात् अव्यक्ताकारानुभवाच्च । अथापि व्यक्तेरेवाकारद्वयमेतत्– व्यक्तरूपमव्यक्तरूपं चेति । तत्र व्यक्तरूपमिन्द्रियज्ञानभूमिः अव्यक्तं च शब्दपथः । ननु रूपद्वयं व्यक्तेः केन गृह्यते ? न तावदभिधानजेन ज्ञानेन तत्र स्पष्टरूपानवभासनात्, अस्पष्टरूपं हि तदनुभूयते । नापीन्द्रियज्ञानेन व्यक्तेराकारद्वयं प्रतीयते, तत्र व्यक्ताकारस्यैव प्रतिभासनात् ।

हैं तब भी अगर उन दोनों में भेद का प्रतिभास होता है तो वहाँ भी एक का धर्मरूप में और दूसरे का धर्मीरूप में प्रतिभास नहीं होता । उदा० घट और वस्त्र एक दूसरे से भिन्न रूप में जब प्रत्यक्ष होते हैं तब उन में धर्म-धर्मीभाव प्रतीत नहीं होता । फिर भी आप वहाँ धर्म-धर्मिभाव मान लेंगे तब तो सारे जगत् के प्रत्येक भावों में परस्पर धर्म-धर्मीभाव मानना पडेगा ।

जातिवादी :- प्रत्यक्ष बोध में जाति और व्यक्ति की तद्रूपता (=एकरूपता) का ही अवभास होता हैं, भेदरूप से अवबोध नहीं होता, इस लिये उन में धर्म-धर्मिभाव की गैरव्यवस्था का दोष नहीं रहेगा ।

अपोहवादी :- 'तद्रूपता का अवभास' इस का क्या मतलब है– जाति का (तद् यानी व्यक्ति, अतः) व्यक्ति रूप से अवभास ? या व्यक्ति का (तद् यानी जाति, अतः) जातिरूप से अवभास ? प्रथम विकल्प में, व्यक्तिरूप से अवभास का यही मतलब है की व्यक्ति का अवभास होता है, जाति का नहीं । तब धर्म-धर्मिभाव कैसे हो सकेगा ? दूसरे विकल्प में, जातिरूप से अवभास का मतलब यही निकलेगा कि जाति का भान होता है व्यक्ति का नहीं । तब भी धर्म-धर्मिभाव कैसे होगा ? दोनों पक्ष में धर्म-धर्मीभाव की व्यवस्था नितान्त अशक्य बन जाती है । उपर्युक्त सभी विमर्श का निष्कर्ष यह है कि जाति शब्द और लिंग से उत्पन्न बोध का विषय नहीं है ।

★ व्यक्ताकार प्रतीति शब्दबुद्धि में नामंजूर ★

'लिंग और शब्द का विषय जाति है' इस प्रथम पक्ष में विस्तार से दोष दिखाने पर यदि कहा जाय कि-आकृतिविशिष्ट व्यक्ति को शब्द और लिंग का विषय मानेंगे– तो यह दूसरा पक्ष भी गलत है । [यहाँ यद्यपि 'आकृतिविशिष्टा' ऐसा ही मूलपाठ उपलब्ध है, किंतु इस प्रज्ञाकर मत के उपन्यास के प्रारम्भ में 'जातिर्वा तयोर्विषयः व्यक्तिर्वा तद्विशिष्टा ?' ऐसा पाठ आ चुका हैं– उस से यह अनुमान है कि यहाँ भी 'अथाकृतिविशिष्टा' के स्थान में 'अथ जातिविशिष्टा' ऐसा ही पाठ होना चाहिये । या तो प्रारम्भ में 'व्यक्तिर्वा तद्विशिष्टा' के बदले में 'व्यक्तिर्वाकृतिविशिष्टा' ऐसा पाठ होना चाहिये] यह दूसरा पक्ष गलत होने का कारण यह है कि – व्यक्ति वह है जिस का व्यक्तिरूप से (या व्यक्ताकार) अनुभव हो, शब्द और लिंग से जन्य अनुभव में व्यक्तरूप से किसी का भान नहीं होता है, तो फिर वहाँ व्यक्ति को कैसे विषय माना जाय ? दूसरी बात यह है कि घट-पटादि पदों से घट-पट व्यक्ति के विना भी बोध उत्पन्न होता है और तीसरी बात यह है कि शब्द और लिंग से उत्पन्न बोध में अव्यक्त आकार का ही अनुभव होता है, अतः वहाँ व्यक्ति को विषय मानना गलत है ।

यदि कहें – 'व्यक्तरूप और अव्यक्तरूप ये दोनों व्यक्ति के दो आकार हैं; इन्द्रियजन्य ज्ञानमें व्यक्ति

न हि परिस्फुटप्रतिभासवेलायामविशदरूपाकारो व्यक्तिमारूढः प्रतिभाति, तत् कथं व्यक्तेरसावात्मा ? अथ 'श्रुतं पश्यामि' इति व्यवसायाद् दृश्य-श्रुतयोरेकता । ननु किं दृश्यरूपतया श्रुतमवगम्यते, श्रुतरूपतया वा दृश्यम् ? तत्राद्ये पक्षे दृश्यरूपावभास एव, न श्रुतगतिर्भवेत् । द्वितीयेऽपि पक्षे श्रुतरूपावगतिरेव व्यक्तेः, न दृश्यरूपसम्भवः । तस्मात् प्रतिभासरहितमभिमानमात्रमिन्द्रियशब्दार्थयोरध्यवसानम् न तत्त्वम्; अन्यथा दर्शनवत् शाब्दमपि स्फुटप्रतिभासं स्यात् ।

अथ तत्रेन्द्रियसम्बन्धाभावाद् व्यक्तिस्वरूपावभासेऽपि प्रतिपत्तिविशेषः स्यात् । नन्वक्षैरपि स्वरूपमुद्भा – सनीयम् तत्र यदि शब्दलिंगाभ्यामपि तदेव दर्श्यते तथा सति तस्यैवान्यूनातिरिक्तस्य स्वरूप-

के व्यक्तरूप का और शब्दजन्यज्ञान में उसके अव्यक्तरूप का अनुभव होता है । अर्थात् दोनों ज्ञान में भिन्न भिन्न आकार से (समान) व्यक्ति का अनुभव हो सकता है ।'' – इस के सामने अपोहवादी कहता है– व्यक्त और अव्यक्त ये दोनों एक ही व्यक्ति के दो रूप हैं यह कैसे जान पायेंगे ? शब्दजन्य ज्ञान से तो नहीं जान सकते, क्योंकि वहाँ स्पष्ट (=व्यक्त)रूप का अनुभव नहीं होता है, अस्पष्ट रूप का ही वहाँ अनुभव होता है । अर्थात् दोनों रूप का वहाँ एक व्यक्ति में अनुभव नहीं होता । इन्द्रियजन्य ज्ञान से भी यह नहीं जान सकते, क्योंकि वहाँ स्पष्टरूप का ही अवभास होता है, यहाँ स्पष्ट रूप के अनुभवकाल में व्यक्ति के भीतर रहे हुए अस्पष्टाकार का संवेदन नहीं होता है । तब कैसे यह जाना जाय कि इन्द्रियजन्यज्ञान में भासमान व्यक्ति अस्पष्टरूप भी धारण करने वाली है ?

अगर कहें – 'मैं सुनी हुई व्यक्ति को देखता हूँ' इस प्रकार का निश्चयात्मक अनुभव होता है । यहाँ पूर्वश्रुत व्यक्ति और वर्त्तमानकाल में दृश्यमान व्यक्ति में ऐक्य का अनुभव होता है । एक ही व्यक्ति का पूर्वश्रुत रूप से यहाँ अस्पष्टाकार का और दृश्यमानरूप से स्पष्टाकार का– दोनों का बोध अनुभवसिद्ध है ।' – इस के सामने अपोहवादी दो विकल्पप्रश्न खडा करता है कि यहाँ पूर्वश्रुत का दृश्यरूप से भान होता है या दृश्य का पूर्वश्रुत रूप से भान होता है ? प्रथम विकल्प में, दृश्यरूप से भान होता है तो यह दृश्यरूप का ही भान हुआ, श्रुत का नहीं हुआ । दूसरे विकल्प में, श्रुतरूप से जो भान होता है वह श्रुत का ही हुआ दृश्य का नहीं हुआ । तात्पर्य यह है कि 'मैं सुनी हुई व्यक्ति को देखता हूँ' यह प्रतिपादन अर्थशून्य वचनमात्र है, वास्तव में यहाँ वैसा कोई वास्तव अनुभव है नहीं, किन्तु वासना के कारण वैसा इन्द्रियगोचर स्पष्टरूप और शब्दगोचर अस्पष्टरूप का अध्यवसाय करता हूँ ऐसा मिथ्याभिमान हो जाता है कि 'मैं पूर्वश्रुत को देखता हूँ' । वास्तव में यहाँ वैसा अनुभव होता नहीं है । ऐसा अगर नहीं मानेंगे तो, 'पूर्वदृष्ट को सुन रहा हूँ' इस प्रकार के आभलाप से शाब्दबोध में भी स्पष्टाकार बोध की आपत्ति आ पड़ेगी । तब प्रत्यक्ष और शाब्दबोध में कोई भेद नहीं रह पायेगा ।

★ शाब्द और प्रत्यक्ष प्रतीति में प्रतिपत्तिभेद कैसे ? ★

यदि ऐसा कहें – ''प्रत्यक्ष के प्रति अर्थ के साथ इन्द्रियसंनिकर्ष कारण होता है और शब्द और लिंग से उत्पन्न होने वाले ज्ञान में कारण नहीं है । इस प्रकार दोनों प्रतीतियों में व्यक्ति के स्वरूप का अभेद होने पर भी, एक इन्द्रियसंनिकर्षजन्य है और दूसरी इन्द्रियसंनिकर्षजन्य नहीं है– यह कारणभेद स्पष्ट होने से प्रतिभासभेद वाली कार्यभेद जरूर होगा । अर्थात् दोनों प्रतीति में कारणभेदमूलक भेद सिद्ध होगा ।'' – इस के सामने अपोहवादी कहता है कि कारणभेद भले हो या न हो, जब शब्द और लिंग से व्यक्ति के उसी स्वरूप

स्याधिगमे कथं प्रतिपत्तिभेदः ? अन्यच्च प्रत्यक्षेऽपि साक्षादिन्द्रियसम्बन्धोऽस्तीति न स्वरूपेण ज्ञातुं शक्योऽसौ तस्याऽतीन्द्रियत्वात्, किन्तु स्वरूपप्रतिभासात् कार्या(त्) । तच्च वस्तुस्वरूपं यद्यनुमानेऽपि भाति तथा सति तत एव इन्द्रियसम्बन्धः समुन्नीयताम् । अथ तत्र परिस्फुटप्रतिभासाभावान्नासावनुमीयते, ननु तदभावस्तत्राक्षसंगतिविरहात् प्रतिपाद्यते तदभावश्च स्फुटप्रतिभासाभावादिति सोऽयमितरेतराश्रयदोषः ।

अथ व्यक्तिरूपमेकमेव नीलादित्व(?दिक)मुभयत्र प्रतीयते व्यक्ताव्यक्ताकारौ तु ज्ञानस्यात्मानौ । तत्रोच्यते यदि तौ ज्ञानस्याकारौ, कथं नीलप्रभृतिरूपतया प्रतिभातः ? तद्रूपतया च प्रतिभासनान्नीलाद्याकारावेतौ, नहि व्यक्तरूपतामव्यक्तरूपतां च मुक्त्वा नीलादिकमपरमाभाति, तदनवभासनात् ■तस्याभाव एव । व्यक्ताव्यक्तैकात्मनश्च■ नीलस्य व्यक्ताकारवद् भेदः, नहि प्रतिभासभेदेप्येकता अतिप्रस-

का प्रकाशन होता है जिस स्वरूप का प्रकाशन इन्द्रियों के द्वारा होता है, तब ऐसी स्थिति में दोनों प्रतीतियों में समान मात्रा में ही व्यक्ति के स्वरूप का प्रकाशन हुआ, न एक में कुछ कम, न दूसरे में अधिक, तब उनमें स्वरूपभेद क्या रहा ? तात्पर्य, कारणभेदमूलक भेद रहने पर भी अक्षजन्य और शब्दलिंगजन्य प्रतीतियों में कुछ भी फर्क नहीं होगा ।

दूसरी बात यह है कि प्रत्यक्ष के कारणरूप में इन्द्रियसंनिकर्ष की सिद्धि प्रत्यक्ष से तो नहीं होती क्योंकि इन्द्रियसंनिकर्ष स्वयं अतीन्द्रिय होता है इसलिये इन्द्रियजन्यप्रत्यक्ष का वह विषय न होने से तद्गत प्रत्यक्षकारणता का ज्ञान भी प्रत्यक्ष नहीं होता है, किन्तु स्पष्ट स्वरूपावभासरूप कार्यात्मक लिंग से उत्पन्न अनुमिति से यह उपलम्भ होता है कि यह विज्ञान इन्द्रियसंनिकर्षजन्य है (क्योंकि स्पष्टावभासी है) । अब आप कहते हैं कि शब्दलिंगजन्य प्रतीति में भी प्रत्यक्षतुल्य ही स्वरूपप्रकाशन होता है– तब तो वहाँ भी स्पष्टस्वरूप प्रकाशन रूप कार्यात्मक लिंग से इन्द्रियसंनिकर्ष का अनुमान होगा । फलतः, आपने जो कारणभेदमूलक भेद दिखाया है वह भी नहीं रहेगा क्योंकि अब तो दोनों प्रतीतियां इन्द्रियसंनिकर्षजन्य प्रसक्त है । यदि आप कहेंगे कि– शब्दलिंगजन्यप्रतीति में स्पष्ट स्वरूपावभास न होने से वहाँ इन्द्रियसंनिकर्ष का अनुमान नहीं हो सकेगा– तो इस बात पर अन्योन्याश्रय दोष लगेगा, देखिये– (पहले तो आपने शब्दलिंगजन्यप्रतीति में भी स्पष्ट स्वरूपबोध होने का मान लिया है फिर भी अब कहते हैं) स्पष्ट स्वरूपावभास नहीं है तो क्यों नहीं है ? इन्द्रियसंनिकर्ष नहीं है इसलिये नहीं है । अब इन्द्रियसंनिकर्ष नहीं है यह कैसे ज्ञात होगा ? स्पष्टस्वरूपावभास नहीं है इस से । तो स्पष्ट ही यहाँ इतरेतराश्रय दोष आ पडता है ।

★ शाब्द और अक्षजन्य प्रतीति में भिन्नविषयता ★

अब यदि आप कहें – "दोनों प्रतीतियों में एक ही व्यक्तिरूप नीलादि का भान होता है, पहले जो कहा था कि प्रत्यक्ष में व्यक्ताकाररूप से और शब्दलिंगजन्य प्रतीति में अव्यक्तरूप से व्यक्ति का अवभास होता है– उस का यह अभिप्राय नहीं है कि एक ही व्यक्ति के दो आकार भासित होते हैं, किन्तु अभिप्राय यह है कि एक ही व्यक्ति का प्रत्यक्षानुभव व्यक्ताकार होता है और परोक्षानुभव अव्यक्ताकार होता है । तात्पर्य, व्यक्ताकार और अव्यक्ताकार व्यक्ति में नहीं किन्तु ज्ञान के भीतर में रहने वाले हैं यानी ज्ञानात्मरूप ही है" – इस के ऊपर अपोहवादी पूछता है कि वे आकार जब ज्ञानात्मरूप हैं तो फिर उन का अनुभव ज्ञानाभिन्नतया

■ ■. 'तस्याभाव एव । व्यक्ताव्यक्तैकात्मनश्च' इस पाठ के स्थान में 'तस्याभाव एव व्यक्तः । अव्यक्तैकात्मनश्च' ऐसा पाठ शुद्ध होना चाहिये ।

द्वात् । तत्राक्ष-शब्दयोरेको विषयः ।

किंच, यदि व्यक्तिः शब्दलिंगयोरर्थः तथा सति सम्बन्धवेदनं विनैव ताभ्यामर्थप्रतीतिर्भवेत् । न हि तत्र तत् तयोः सम्भवति । व्यक्तिर्हि नियतदेशकालदशापरिगता न देशान्तरादिकमनुवर्त्तते नियतदेशादिरूपाया एव तस्याः प्रतीतेः, तथा चैकत्रैकदा सम्बन्धानुभवेऽन्यस्यार्थस्य कथं प्रतीतिः ? अथ व्यक्तीनामेकजात्युपलक्षिते रूपे सम्बन्धादनन्तरा भविष्यति, तदपि न युक्तम्, यतो जात्युपलक्षितमपि

होना चाहिये, उस के बदले ये नीलाभिन्नतया क्यों दिखाई देते हैं ? जिस रूप से जो चीज दिखाई दे वह रूप उसी चीज का माना जाता है, अतः व्यक्त-अव्यक्त आकार रूप से नीलादि व्यक्ति का अवभास होने से ये दोनों नीलादि के ही आकार मानना चाहिये । जब जब नील का प्रतिभास होता है तब तब या तो व्यक्तरूप का भास होता है या तो अव्यक्तरूप का; किन्तु व्यक्त-अव्यक्त आकार को छोड कर अन्य कोई नील भासता नहीं है; व्यक्त-अव्यक्त आकार से अतिरिक्त नील का प्रतिभास न होने से यही व्यक्त होता है कि व्यक्त और अव्यक्त रूप के अलावा और कोई नील है नहीं । अब मुख्य बात यह है कि जब व्यक्ताकार या अव्यक्ताकार नील के ही है, ज्ञान के नहीं, तब शब्दजन्य प्रतीति में भासमान अव्यक्तमात्र आकारवाले नील का प्रत्यक्ष में भासमान व्यक्ताकारवाले नील से भेद है, यानी वे दोनों नील भिन्न हैं । दोनों का प्रतिभास भिन्न होने पर भी आप अगर उन में ऐक्य मानने पर तुले हैं तब तो घट और पट को भी एक मानने का अतिप्रसंग आयेगा, भले ही उन दोनों का प्रतिभास भिन्न हो । निष्कर्ष, शब्दजन्यबोध और प्रत्यक्ष का विषय भिन्न भिन्न है, एक नहीं है, अतः शब्द और इन्द्रिय का भी क्षेत्र भिन्न भिन्न है, एक नहीं है ।

★ व्यक्तिपक्ष में सम्बन्धवेदन की अनुपपत्ति ★

यह भी विचारणीय है कि आप जाति पक्ष को छोड कर व्यक्ति को ही शब्द और लिंग का प्रतिपाद्य अर्थ मानते हैं तब जहाँ शब्द और लिंग से व्यक्तिरूप अर्थ का भान होगा तो भी सम्बन्ध के ज्ञान के बिना ही हो जाना चाहिये । कारण, शब्द और व्यक्ति के बीच, या लिंग और लिंगी (व्यक्ति) के बीच जो संकेत या अविनाभावादिरूप सम्बन्ध आप को अभिप्रेत है, उसका वेदन सम्भवित नहीं है । देखिये – व्यक्ति तो किसी नियत देश-काल और अवस्था में रही हुयी ही प्रतीत होती है इस लिये व्यक्तिविशेष का अवस्थान नियत देशकाल और अवस्था में ही मानना होगा, अन्य देश-काल में उसका होना युक्तियुक्त नहीं है । इस स्थिति में आप का अभिमत सम्बन्ध किसी एक काल में किसी एक स्थान में किसी एक व्यक्ति में जब अनुभूत होगा तब अन्य काल में और अन्य स्थान में किसी अन्य व्यक्ति में तो वह हो नहीं सकता, तब उस अन्य व्यक्ति की प्रतीति अगर सम्बन्धाधीन मानेंगे तो सम्बन्ध अनुभव के बिना उस की प्रतीति कैसे होगी ?

यदि ऐसा कहें कि- 'पूर्वकाल में जिस जाति से उपलक्षित व्यक्तित्व में सम्बन्ध ग्रहण किया था, वर्तमान व्यक्ति उसी जाति से उपलक्षित होने से उस में समान जाति द्वारा सम्बन्धग्रहण सुलभ होने से पूर्व व्यक्ति का कालान्तर में या देशान्तर में गमन न होने पर भी वर्तमान व्यक्तियों में भी सम्बन्ध का प्रतिसन्धान शक्य है, इसलिये उस की प्रतीति में भी सम्बन्धग्रहण आवश्यक बन जायेगा ।' – तो यह बात ठीक नहीं है, क्योंकि जाति के एक होने पर भी तदुपलक्षित व्यक्तिरूप तो भिन्न काल में भिन्न भिन्न होते हैं जिन को आप लिंग या शब्द का विषय मानना चाहते हैं । अतः पूर्व व्यक्ति में अनुभूत सम्बन्ध वर्तमान व्यक्ति में न होने से सम्बन्धग्रहण

रूपं तासां भिन्नमेव लिङ्गादिगोचरः, तस्याभेदे पूर्वोक्तदोषात्, तथा च सम्बन्धाननुभव एव स्यात् ।

किंच व्यक्तौ सम्बन्धवेदनं प्रत्यक्षेण अनुमानेन वा भवेत् ? न तावत् प्रत्यक्षेण, तस्य पुरःस्थितरूपमात्रप्रतिभासनात् ● शब्दस्य वचनयोर्वाच्यवाचकसम्बन्धस्तेन गृह्यते । अथेन्द्रियज्ञानारूढे एव रूपे सम्बन्धव्युत्पत्तिर्दृश्यते – 'इदमेतच्छब्दवाच्यम्' 'अस्य वेदमभिधानम्' इति । अत्र विचारः – 'अस्येदं वाचकम्' इति कोर्थः ? किं प्रतिपादकम्, यदि वा कार्यम्, कारणं वेति ? तत्र यदि प्रतिपादकम्, तत् किमधुनैव, यद्वाऽन्यदा ? तत्र यद्यधुनोच्यते शब्दरूपमर्थस्य प्रतिपादकं विशदेनाकारेणेति, तदयुक्तम्, अक्षव्यापारेणाधुना विशदाकारेण नीलादेरवभासनात्, ततश्चाक्षव्यापार एवाधुना प्रकाशकोऽस्तु न शब्दव्यापारः, तस्य तत्र सामर्थ्यानधिगतेः । अथान्यदा लोचनपरिस्पन्दाभावे शब्दोऽर्थानुद्भासयति तदा किं तेनैवाकारेणासौ तानर्थानवभासयति, यद्वा आकारान्तरेणेति विकल्पद्वयम् । यदि विशदेनाकारेण प्र-

---

के विना ही शब्द से व्यक्तिरूप की प्रतीति माननी होगी । यदि पूर्वव्यक्ति और वर्त्तमान व्यक्तिरूप को एक मानेंगे तब तो पहले दोष कहा ही है कि प्रत्यक्षविषय पूर्वव्यक्ति और शब्दविषय वर्त्तमानव्यक्ति में व्यक्ताकार और अव्यक्ताकार दोनों को मानने जायेंगे तो उन दोनों रूपों का एक व्यक्ति में ग्रहण शब्दजन्यवोध से होगा या इन्द्रियजन्य वोध से होगा... इत्यादि ।

★ प्रत्यक्ष से व्यक्ति में सम्वन्धवेदन अशक्य ★

जव आप सम्वन्ध ज्ञान के द्वारा ही अर्थप्रतीति मानते हैं तव सम्वन्धोपलब्धि के वारे में यह भी सोच लेना चाहिये कि व्यक्ति में शब्द या लिंग के सम्वन्ध का भान प्रत्यक्ष से होगा या अनुमान से ? प्रत्यक्ष से नहीं हो सकता, क्योंकि प्रत्यक्ष तो अपने सन्मुख अवस्थित वस्तु का ही प्रकाशन करता है, अतः अर्थ और वचन के वीच वाच्यवाचकभावरूप सम्वन्ध का भान प्रत्यक्ष से सम्भव नहीं । [सम्वन्धग्रहण के लिये सम्बन्धिद्वय का ग्रहण अपेक्षित होता है, जिस इन्द्रिय से अर्थ का प्रत्यक्ष होता है उसी इन्द्रिय से शब्द का प्रत्यक्ष समान काल में न होने से सम्वन्ध का ग्रहण कैसे माना जाय ?]

यदि कहें – ''इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष ज्ञान में जिस व्यक्तिरूप की उपलव्धि होती है उसी व्यक्ति में – 'यह इस शब्द का वाच्य है' अथवा 'यह इस का वाचक-है' इस प्रकार वाच्य-वाचक भावात्मक सम्बन्ध का ग्रहण देखा जाता है तव वह प्रत्यक्षगम्य क्यों नहीं मान सकते ?'' – ऐसे कथन के वारे में भी यह विचार करना चाहिये कि 'यह इस का वाचक है' इस प्रतिपादन में 'वाचक' का मतलव प्रतिपादक है या कार्य अथवा कारण है ? यह इस का वाचक यानी 'प्रतिपादक' है ऐसा अगर आप का अभिप्राय हो तो वहाँ भी दो विकल्प प्रश्न है– वाचक यानी प्रतिपादक किस काल में है, आधुनिक प्रत्यक्ष काल में या अन्य काल में ? यहाँ ऐसा कहना कि– अभी (प्रत्यक्ष काल में) शब्द अर्थ का स्पष्टाकार से प्रतिपादक है– यह गलत है क्योंकि जव इन्द्रियप्रवृत्ति ही वहाँ स्पष्टाकार से नीलादि अर्थ का प्रतिपादन (=प्रकाशन) कर रही है तव वहाँ उस आधुनिक काल में इन्द्रियप्रवृत्ति को ही अर्थप्रकाशक मानना होगा, शब्दप्रवृत्ति को नहीं, क्योंकि इन्द्रियप्रवृत्ति के आगे शब्दप्रवृत्ति दुर्वल होने से वहाँ अर्थप्रकाशन का सामर्थ्य शब्दप्रवृत्ति में उपलव्ध नहीं होगा । यदि दूसरा विकल्प मान कर कहेंगे कि – 'शब्द अन्यकाल में यानी जव चक्षुप्रवृत्ति नहीं है तव अर्थप्रकाशक है'– तो यहाँ भी दो विकल्पप्रश्न

●. यहाँ भिन्न भिन्न हस्तादर्शों में भिन्न भिन्न अशुद्ध पाठ है किंतु शुद्ध पाठ 'न ह्यर्थस्य वचनयोर्वा'... ऐसा होना चाहिये ।

तथाऽप्रतीत्युच्यते, तदसत्, यतस्तदाप्यसौ चक्षुरादिभिरेव विशदेनाकारेणोद्भास्यते न शब्देन, तस्य तत्र सामर्थ्याऽदर्शनात् दर्शनाकांक्षणाच्च । यदि तु शब्देनैव सोऽर्थः स्वरूपेणैव प्रतिपाद्यते तदाऽस्य सर्वथा प्रतिपन्नत्वात् किमर्थं प्रवृत्तिः ? नहि प्रतिपन्न एव तावन्मात्रप्रयोजना वृत्तिर्युक्ता, वृत्तेरविरामप्रसंगात् । अथ किंचिदप्रतिपन्नं रूपं तदर्थं प्रवर्त्तनम् । ननु यदप्रतिपन्नं व्यक्तिरूपं प्रवृत्तिविषयः तत् तर्हि न शब्दार्थः, तदेव च पारमार्थिकम् ततोऽर्थक्रियादर्शनात्, नाऽव्यक्तम् सर्वार्थक्रियाविरहात् । अथ कालान्तरे स्फुटेतरेणाकारेण व्यक्तीरुद्योतयन्ति शब्दाः । नन्वसावाकारस्तदा सम्बन्धव्युत्पत्तिकाले कालान्तरे वा नेन्द्रियगोचरस्तत् कथं तत्र शब्दाः प्रवर्त्तमानाः नयनादिगोचरेऽर्थे वृत्ता भवन्ति ? तत्राप्यक्षतः सम्बन्धवेदनम् ।

है, इन्द्रियप्रवृत्ति जैसे स्पष्टाकार से अर्थप्रकाश करती है वैसे शब्दप्रवृत्ति भी अन्यकाल में स्पष्टाकार से अर्थप्रकाश करती है या अस्पष्टाकार से ? यदि कहें कि स्पष्टाकार से अर्थप्रकाश करती है तो यह गलत बात है चूँकि अन्यकाल में भी स्पष्टाकार से अर्थप्रकाशन करने का सामर्थ्य चक्षु आदि इन्द्रियों में ही होता है, शब्द में नहीं होता है, क्योंकि शब्द से नीलादि अर्थप्रकाश होने पर भी वह नीलादि गेरा नील है या फीका-इत्यादि देखने की आकांक्षा उदित होती है, इन्द्रियप्रवृत्ति के बाद ऐसी आकांक्षा बनती नहीं है ।

यदि कहें कि – शब्द तो सिर्फ (सामान्य)स्वरूप से ही अर्थप्रकाश करता है– तो यहाँ भी प्रश्न उठेगा कि अर्थ का (सामान्य)स्वरूप तो प्रत्यक्ष से विशेषस्वरूपग्रहण के साथ ही पूरा गृहीत हो चुका रहता है, अब उसके ग्रहण के लिये शब्दप्रवृत्ति की क्या जरूर ? जिस स्वरूप का ग्रहण हो चुका है उतने मात्र स्वरूप का पुनर्ग्रहण यह कोई ऐसा प्रयोजन नहीं है जिस के लिये शब्द की प्रवृत्ति युक्त कही जाय । फिर भी यहाँ शब्द की प्रवृत्ति मानेंगे तो बार बार ऐसी अन्तहीन शब्दप्रवृत्ति मानने का अतिप्रसंग आ पड़ेगा । यदि कहें कि 'कुछ ऐसा भी रूप है जो पूर्वप्रतिपन्न नहीं हुआ है, ऐसे अप्रतिपन्नरूप के ग्रहण के लिये शब्दप्रवृत्ति सार्थक होगी' - तो यहाँ समझ लीजिये कि अप्रतिपन्नरूप के ग्रहण के लिये शब्दप्रवृत्ति सार्थक होने पर भी वह अप्रतिपन्नरूप शब्द का प्रतिपाद्य अर्थ नहीं होगा, क्योंकि स्वरूप अवाच्य होता है अतः जो अप्रतिपन्न स्वरूप है वह शब्द से भी प्रतिपन्नस्वरूप कैसे होगा ? और दूसरी बात यह है कि वह अप्रतिपन्नरूप शब्दप्रवृत्ति आकार अर्थक्रिया का जनक होने से यहाँ पारमार्थिक माना जायेगा, आप जो शब्दजन्य अस्पष्टाकार को भी पारमार्थिक मानना चाहते हैं वह किसी भी अर्थक्रिया का जनक न होने से पारमार्थिक नहीं माना जायेगा । [फलतः हम जो कहते हैं कि शब्द का पारमार्थिक वाच्य कोई नहीं है यह अनायास सिद्ध हो जायेगा ।]

यदि कहें कि – 'यह उस का वाचक है' इस का मतलब यह है कि शब्द कालान्तर में अस्पष्टरूप से व्यक्तियों को प्रकाशित करता है' – तो यहाँ इस बात पर ध्यान दीजिये कि जब 'यह उसका वाचक है' इस ढंग से सम्बन्धग्रहण किया जा रहा है उसी काल में या अन्य काल में वह अस्पष्टाकार इन्द्रियों से तो गृहीत ही नहीं हुआ है, इन्द्रियगृहीत अर्थ में ही यहाँ शब्दप्रवृत्ति हो रही है तब उसको कैसे शब्द का [illegible] इन्द्रियप्रत्यक्ष से जो व्यक्ति ज्ञात है उसी में 'यह उस का वाचक है' ऐसी शब्दप्रवृत्ति होती है । जिस सम्बन्धज्ञान के लिये शब्दप्रवृत्ति हो रही है, वह तो इन्द्रियगोचर है । निष्कर्ष, 'शब्द' से अस्पष्ट-[illegible] सम्बन्ध का ग्रहण युक्ति से सङ्गत नहीं है ।

नाप्यनुमानेन, तदभावे तदनवतारात् । अथाप्यर्थापत्त्या सम्बन्धवेदनम् – तथाहि, व्यवहारकाले शब्दार्थौ प्रत्यक्षे प्रतिभातः, श्रोतुश्च शब्दार्थप्रतीतिं चेष्टया प्रतिपद्यन्ते व्यवहारिणः, तदन्यथानुपपत्त्या तयोः सम्बन्धं विदन्ति । अत्रोच्यते – सिद्ध्यत्येवं काल्पनिकः सम्बन्धः, तथाहि – श्रोतुः प्रतिपत्तिः संकेतानुसारिणी दृश्यते, कलि-मार्यादिशब्देभ्यो हि द्रविडाऽऽर्ययोर्विपरीतत्प्रतिपत्तिदर्शनाद् न नियतः सम्बन्धो युक्तः । सर्वगते च तस्मिन् सिद्धेऽपि न नियतार्थप्रतिपत्तिर्युक्ता । प्रकरणादिकमपि नियमहेतुः नियतार्थसिद्धौ सर्वमनुपपन्नम् । तथाहि – □ प्रकरणादयः [a]शब्दधर्माः, [b]अर्थधर्माः, [c]प्रतिपत्तिधर्मो वा ? [a]शब्दधर्मे तस्मिन् शब्दरूपं नियतार्थप्रतिपत्तिहेतुरिष्टं स्यात्, तच्च सर्वार्थान् प्रति तुल्यत्वात् न युक्तम् । [b]अर्थोऽपि

☆ अनुमानादि से सम्बन्धवेदन अशक्य ☆

शब्द और अर्थ के बीच रहने वाले सम्बन्ध का बोध प्रत्यक्ष से शक्य नहीं है तो अनुमान से भी शक्य नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्ष से अगृहीत वस्तु के बोध के लिये अनुमान की प्रवृत्ति होती नहीं है ।

अर्थापत्तिप्रमाण भी सम्बन्धबोध के लिये असमर्थ है । यहाँ इस प्रकार अर्थापत्ति का सामर्थ्य यदि दिखाया जाय कि – ''वचनप्रयोग के अवसर पर बोलने वाले के शब्दानुसार सुनने वाले की प्रवृत्ति को देखते वक्त शब्द और उसके अर्थ का प्रत्यक्षबोध होता है । वचनप्रयोग करनेवाले, श्रोताओं की चेष्टा को देखकर समझ जाते हैं कि श्रोताओं को हमारे शब्दों से अर्थ का भान हो रहा है । शब्द और अर्थ के बीच विना किसी सम्बन्ध के इस अर्थभान की उपपत्ति (घटमानता) अशक्य है – इस अर्थापत्ति के फलरूप में सम्बन्ध का बोध सिद्ध होता है ।' – तो इस के ऊपर अपोहवादी कहता है कि अर्थापत्ति से सम्बन्धबोध सिद्ध होने पर भी सिद्ध होने वाले सम्बन्धबोध का विषयभूत सम्बन्ध काल्पनिक ही होना चाहिये । देखिये – श्रोता को शब्द सुन कर जो अर्थबोध होता है वह अपने अपने संकेतबोध के अनुसार ही होता है – इतना तो प्रसिद्ध ही है । उदा० द्रविड और आर्य प्रजा में कलि, मारी आदि शब्दों से, अपने अपने संकेतबोधानुसार एक-दूसरे से भिन्न ही अन्तकाल वर्षा-उपसर्ग आदि अर्थों का भान होता है यह देखा गया है । शब्द और अर्थ के बीच अगर कोई नियत वास्तविक सम्बन्ध होता तब तो चाहे द्रविड हो चाहे आर्य, सभी को नियत सम्बन्ध से नियत एक ही अर्थ का (समान अर्थ का) बोध होना जरूरी था, किन्तु होता नहीं है इसलिये यह सिद्ध है कि नियत कोई वास्तविक सम्बन्ध है ही नहीं, अतः अर्थापत्ति से अगर सम्बन्धबोध सिद्ध होता हो तो उस सम्बन्धबोध के विषय को काल्पनिक ही मानना पडेगा । सम्बन्ध को काल्पनिक मानने से सर्वत्र पृथक् पृथक् काल्पनिक सम्बन्ध से पृथक् पृथक् अर्थों का बोध घट सकता है । यदि किसी प्रकार सर्वत्र व्यापक एक वास्तविक सम्बन्ध सिद्ध हो जाय तो भी वास्तविक सम्बन्ध एक होने से सर्वत्र एक ही अर्थ का बोध होगा, किन्तु नियतरूप से भिन्न भिन्न प्रजा को भिन्न भिन्न अर्थ का बोध होता है उसकी संगति नहीं हो सकेगी ।

[प्रकरणादिकमपि नियमहेतुः नियतार्थसिद्धौ सर्वमनुपन्नम्—>] यदि कहें कि- 'सर्वत्र व्यापक एक वास्तविक सम्बन्ध होने पर भी भिन्न-भिन्न प्रकरणादि में अर्थबोध भिन्न-भिन्न होता है, वहाँ भिन्न भिन्न प्रकरणादि ही नियत रूप से भिन्न भिन्न अर्थबोध का नियामक होता है, इस प्रकार नियत एक वास्तविक सम्बन्ध के पक्ष में भी नियत अर्थबोध घट सकता है'–तो यहाँ अपोहवादी कहता है कि यह सब प्रकरणादि स्वयं असंगत है । देखिये– ये जो प्रकरणादि हैं वे [a]शब्दका धर्म है ? [b]अर्थ का धर्म है या [c]बोध का धर्म है ? यदि प्रकरणादि

□. संसर्गो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता । अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य संनिधिः॥ वाक्यप० का० २- श्लो० ३१७

न नियतरूपः सिद्धः इति न तद्धर्मोऽपि प्रकरणादिः । [c]प्रतिपत्तिधर्मस्तु यदीष्यतेऽसौ तदा काल्पनिक एवार्थनियमः न तात्त्विकः स्यात् । तस्मात् सर्वं परदर्शनं ध्यान्ध्यविजृम्भितम् मनागपि विचाराऽक्षमत्वात् ।

तदेवमवस्थितं विचारात् 'न वस्तु शब्दार्थः' इति, किंतु शब्देभ्यः कल्पना बहिरर्थांऽसंस्पर्शिन्यः प्रसूयन्ते, ताभ्यश्च शब्दा इति । शब्दानां च कार्य–कारणभावमात्रं तत्त्वम् न वाच्यवाचकभावः । तथाहि – न जाति-व्यक्त्योर्वाच्यत्वम्, पूर्वोक्तदोषात् । नापि ज्ञान-तदाकारयोः, तयोरपि स्वेन रूपेण स्वलक्षणत्वात् अभिधानकार्यत्वाच्च । शब्दाद् विज्ञानमुत्पद्यते न तु तत् तेन प्रतीयते, बहिरर्थाध्यवसायात् । कथं तर्हि अन्यापोहः शब्दवाच्यः कल्प्यते ? लोकाभिमानमात्रेण शब्दार्थोऽन्यापोह

को शब्दधर्म मानेंगे तो उस का मतलब यह होगा कि शब्दस्वरूप ही नियतअर्थबोध का हेतु मान्य है । अब यह देखना है कि कलि-मारी आदि शब्द जहाँ भिन्न भिन्न अर्थ का बोध कराता है वहाँ भी आनुपूर्वीआदि रूप से शब्दस्वरूप तो एकरूप ही होता है, अतः प्रकरणादि को शब्दधर्म मानने पर भी एकरूप शब्द से नियतार्थबोध की अनुपपत्ति टलती नहीं है । [b]यदि नियत अर्थबोध के नियामकरूप माने जाने वाले प्रकरणादि को अर्थधर्म कहा जाय तो वह संगत नहीं होगा, क्योंकि जब अर्थ ही नियतरूप से सिद्ध नहीं होता तब उसके धर्मरूप में प्रकरणादि को मान लेने पर भी कैसे नियत अर्थबोध हो सकेगा ? हाँ, भिन्न भिन्न अर्थबोध के नियमोऽनुकूल प्रकरणादि को शब्द या अर्थ का धर्म न मान कर अर्थबोधात्मक [c]प्रतिपत्ति का ही धर्म मान लिया जाय तो 'अमुकशब्द का अमुकअर्थ' ऐसा काल्पनिक नियम ही फलित होगा, वास्तविक नहीं । कारण, इसमें यह कल्पना पर ही है कि नियतार्थबोध का नियामक प्रकरणादि, प्रतिपत्ति का ही धर्म है ।

निष्कर्ष, अन्य दार्शनिकोंने जो शब्द और अर्थ के बीच तात्त्विक सम्बन्ध मान लिया है वह सब बौद्धिक अन्धेपन का विलास है, क्योंकि वह तात्त्विक विचारभार का अल्पांश भी झेल नहीं सकता ।

★ शब्द वस्तुस्पर्शी नहीं होता ★

शब्दार्थसम्बन्ध के बारे में किये गये समग्र विचार से यह निष्कर्ष प्राप्त हो रहा है कि वस्तुभूत अर्थ शब्दार्थ (शब्दवाच्य) नहीं है । शब्दों से तो सिर्फ ऐसी कल्पनाएँ (विकल्पबुद्धियाँ) पैदा होती है जिन को बाह्यार्थ का कोई स्पर्श नहीं होता । और शब्द भी ऐसी कल्पनाओं से ही उत्पन्न होते है । शब्द और अर्थ के बीच कोई पारमार्थिक वाच्य-वाचक भावात्मक सम्बन्ध नहीं होता, हाँ कार्य-कारणभावात्मक पारमार्थिक सम्बन्ध माना जा सकता है । वह इस प्रकार:- जाति या व्यक्ति शब्दवाच्य नहीं है क्योंकि उनको मानने पर बहुत दोष होते हैं जो पहले कह आये हैं । ज्ञान अथवा ज्ञानाकार भी शब्दवाच्य नहीं है क्योंकि वे दोनों अपने अपने स्वरूप से स्वलक्षणात्मक ही होते हैं और स्वलक्षण शब्द का विषय नहीं बनता (यह भी पहले कह आये हैं) । उपरांत, ज्ञान अथवा ज्ञानाकार तो शब्द के कार्यभूत है, जो शब्द का कार्य होता है वह उस का वाच्य नहीं होता । शब्द से विज्ञान की उत्पत्ति अवश्य होती है किंतु उस विज्ञान की प्रतीति शब्दाधीन नहीं होती, क्योंकि वह विज्ञान बाह्यार्थाध्यवसायात्मक होता है किंतु विज्ञानाध्यवसायात्मक नहीं होता ।

प्रश्न :- जब आप शब्द को किसी का वाचक नहीं मानते हैं तब अन्यापोह को शब्दवाच्य क्यों कहते हैं ?

उत्तर :- शब्द का कुछ वाच्य अवश्य होता है ऐसा लोगों को जो अभिमान रहता है उसके अनुसार

इष्यते । लौकिकानां हि शब्दश्रवणात् प्रतीतिः, प्रवृत्तिः, प्राप्तिश्च बहिरर्थे दृश्यते । 'यदि लोकाभिप्रायोऽनुवर्त्यते बहिरर्थस्तर्हि शब्दार्थोऽस्तु तदभिमानात्, नान्यापोहः तदभावात्' – अत्रोच्यते-बहिरर्थ एवान्यापोहः, तथा चाह- "य एव व्यावृत्तः सैव व्यावृत्तिः " [ ] ।

नन्वेवं सति स्वलक्षणं शब्दार्थः स्यात्, तदेव विजातीयव्यावृत्तेन रूपेण शब्दभूमिरिष्यतेसजातीयव्यावृत्तस्य रूपस्य शाब्दे प्रतिभासाऽभावात्-यदि, तर्हि विजातीयव्यावृत्तं शब्दैर्विकल्पैश्चोल्लिख्यते तथा सति तदव्यतिरेकात् सजातीयव्यावृत्तमपि रूपमधिगतं भवेत् । न, विकल्पानामविद्यास्वभावत्वाद् नहि ते स्वलक्षणसंस्पर्शभाजः । यतस्तै(?) सर्वाकारप्रतीतिदोषाः । केवलमभिमानमात्रं बहिरर्थाध्यवसायः तदभिप्रायेण वाच्यवाचकभावः शब्दार्थयोरित्यन्यापोहः शब्दभूमिरिष्टः ।

परमार्थतस्तु शब्दलिंगाभ्यां बहिरर्थसंस्पर्शव्यतीतः प्रत्ययः केवलं क्रियते इति तत्संस्पर्शाभावेऽपि च पारम्पर्येण वस्तुप्रतिबन्धादविसंवादः । तथाहि – पदार्थस्यास्तित्वात् प्राप्तिः न दर्शनात्, केशोन्दुकादेर्दर्शनेऽपि प्राप्त्यभावात् । अथ प्रतिभासमन्तरेण कथं प्रवृत्तिः ? ननु प्रतिभासेऽपि कथं

कर के यह कहा है कि अन्यापोह वाच्य है । लोगों में यह देखा जाता है कि शब्द श्रवण से कुछ ज्ञानोत्पत्ति होती है, उस ज्ञान से अभिमत बाह्य वस्तुप्राप्ति के लिये चेष्टा होती है और चेष्टा से बाह्यार्थ की प्राप्ति होती है ऐसा सीलसीला देख कर हमने अन्यापोह को शब्दवाच्य कहा हैं ।

प्रश्न :- जब आप लोकाभिप्राय का अनुसरण कर रहे हैं तब ऐसा क्यों नहीं मानते कि शब्द सुन कर श्रोता को बाह्यार्थ की प्रतीति का अभिमान होता है, न कि अन्यापोह का, इसलिये बाह्यार्थ ही शब्दवाच्य है, न कि अपोह ?

उत्तर :- आप जिस को बाह्यार्थ कहते हैं वास्तव में वह अन्यापोहरूप ही है । कहा है कि 'जो व्यावृत्त हैं वही व्यावृत्तिरूप है' ।

शब्दार्थवादी :- अरे ! ऐसे तो आपने व्यावृत्त और व्यावृंत्ति को एक दिखाकर स्वलक्षण को ही शब्दार्थ कह दिया । अब यदि आप कहें कि 'शाब्दबोध में सजातीय व्यावृत्ति का प्रतिभास नहीं होता, इसलिये विजातीयव्यावृत्त अर्थ ही शब्द का क्षेत्र मानते हैं' तो उस का मतलब यह होगा कि शब्दों से और विकल्पों से विजातीयव्यावृत्त अर्थ का उल्लेख होता है, और इस स्थिति में सजातीयव्यावृत्त अर्थ का भी भान मानना होगा क्योंकि वह विजातीय व्यावृत्त अर्थ से अतिरिक्त नहीं है, एक ही है ।

अपोहवादी :-नहीं, विकल्पमात्र अविद्यामूलक (=वासनामूलक) होते हैं इसलिये स्वलक्षण तो उन से अछूत ही रहता है । विकल्पों को स्वलक्षणस्पर्शी मानने पर बहुत दोष होते हैं । [यहाँ व्याख्या में 'यतस्तै सर्वाकारप्रतीतिदोषाः' – यह पंक्ति अशुद्धप्रायः होने से उसका विवरण हमने नहीं किया है ।] स्वलक्षण शब्दों से अछूत होने पर भी 'शब्द बाह्यार्थाध्यवसायी है' ऐसा अभिमान लोगों को होता है इतने मात्र अभिप्राय को मनोगत करके शब्द और अन्यापोह का वाच्यवाचकभाव होने का कहा है- इस ढंग से अन्यापोह शब्दक्षेत्र माना गया है ।

वास्तविक हकीकत यह है कि शब्द या लिंग से बाह्यार्थस्पर्शशून्य ही प्रतीति पैदा होती है, फिर भी कभी कभी वह अविसंवादिनी होती है उसका कारण यह है कि उस प्रतीति से चेष्टा और चेष्टा से (वस्तु

ष्वभेदाध्यवसायित्वलक्षणो हेतुरसिद्धः, भेदेष्वभेदाध्यवसायित्वस्य तत्रानुपपत्तेः । न च सामान्यस्याऽभिन्नस्य वस्तुरूपस्याभावान्नासिद्धता हेतोः, 'गौर्गौः' इत्यबाधितप्रत्ययविषयत्वेन तस्याभावाऽसिद्धेः । अथाऽबाधितप्रत्ययविषयस्याऽपि तस्याभावः तर्हि विशेषस्याप्यभावप्रसक्तिः तथाभूतप्रत्ययविषयत्वव्यतिरेकेणापरस्य तद्व्यवस्थानिबन्धनस्य तत्राप्यभावात् । यथा हि पुरोव्यवस्थितगोवर्गे व्यावृत्ताकारा बुद्धिरुपजायमाना सैव लक्ष्यते । न चानुगतव्यावृत्ताकारा बुद्धिर्द्व्यात्मकवस्तुव्यतिरेकेण घटते, अबाधितप्रत्ययस्य विषयव्यतिरेकेणापि सद्भावाभ्युपगमे ततो वस्तुव्यवस्थाऽभावप्रसक्तेः । न चानुगताकारत्वं बुद्धे-

---

शाब्द प्रतीति भ्रान्त होती है । भ्रान्तत्व की सिद्धि के लिये जो प्रमाण दिया गया था उसको उपस्थित कराते हुए अब व्याख्याकार अपोहवाद के निरसन का प्रारम्भ करते हैं ।

अपोहवादीने कहा था – अतत्स्वरूप पदार्थ में जो तत् ऐसी प्रतीति होती है वह भ्रान्त होती है, जेसे मरुदेश में अजलस्वरूप सूर्यकिरणों में जल की प्रतीति । शाब्दिक प्रतीति भी भिन्न पदार्थों में अभेद की प्रतीतिरूप होने से भ्रान्त है और भ्रान्त होने से शाब्दिक प्रतीति निर्विषय होती है । – इस के प्रति विध्यर्थवादी कहता है, 'भिन्न पदार्थों में अभेद की प्रतीति'रूप हेतु शाब्दिक प्रतीति में असिद्ध है । अतः वहाँ भ्रान्तत्व साध्य सिद्ध नहीं हो सकता । हेतु इस लिये असिद्ध है कि शाब्दिक प्रतीति भेद में अभेदाध्यवसायिनी नहीं होती [किन्तु अभेद में अभेदाध्यवसायिनी होती है ।]

अपोहवादी :- अभेदाध्यवसायी बुद्धि का विषयभूत अभिन्न=सामान्य पदार्थ वास्तविक नहीं है (काल्पनिक है) इस लिये वह बुद्धि अभेदशून्य में (भेद में) ही अभेदाध्यवसायी होने से हमारा हेतु असिद्ध नहीं है ।

सामान्यवादी :- 'यह गाय है यह गाय है' इस प्रकार सभी लोगों को अभेद की निर्बाध-अभ्रान्त प्रतीति अनुभव सिद्ध है इसलिये अभिन्न सामान्य पदार्थ निर्बाधप्रतीति का विषय होने से काल्पनिक नहीं वास्तविक है । अतः अपोहवादी का हेतु असिद्ध ही है । यदि निर्बाधप्रतीति का विषय होने पर भी सामान्य को आप असत् मानेंगे तो अपोहवादी अभिमत स्वलक्षणात्मक विशेष पदार्थ भी असत् मानना होगा । कारण, 'यह वास्तविक है' ऐसी व्यवस्था करने के लिये जो सर्वसम्मत निर्बाधप्रतीतिविषयत्व धर्म होना चाहिये वह तो जैसे विशेष में है वैसे सामान्य में भी है । तथा, निर्बाधप्रतीतिविषयत्व को छोड कर अन्य किसी धर्म को व्यवस्था-कारक मानेंगे तो वह सामान्य में नहीं रहेगा वैसे ही विशेष में भी नहीं होगा । जैसे संमुख अवस्थित गोवृन्द में, अश्वादि से व्यावृत्त आकार को लक्षित करने वाली, भेदबुद्धि उदित होती हे; वैसे ही 'यह गाय है वह भी गाय है' ऐसी अनुगताकार को लक्षित करती हुयी सामान्य बुद्धि भी उदित होती है । अत एव वस्तु सामान्य-विशेषोभयात्मक मानना जरूरी है क्योंकि सामान्य-विशेषोभयात्मकता के विना ऐसी अनुगत-व्यावृत्त उभयाकार बुद्धि का उदय शक्य नहीं । वस्तु के विना भी उस के विषय में निर्बाधप्रतीति हो सकती है ऐसा अगर मानेंगे तब तो 'यह वस्तु है और यह अवस्तु है' इत्यादि व्यवस्था का ही भंग प्रसक्त होगा ।

'भेदबुद्धि की अनुगताकारता अन्य प्रमाण से बाधित है' ऐसा कहना उचित नहीं है । कारण, सर्व देश-काल में एकजातीय पदार्थों में सामानाकार व्यवहार होता आया है और इस व्यवहार का निमित्तभूत अनुगताकार बोध भी अस्खलितरूप से चला आता दिखाई रहा है । सारांश, व्यावृत्ताकार बुद्धि आंशिक बुद्धि है जो वस्तु के विशेषात्मक एक अंश का अवगाहन करती है किंतु सामान्यात्मक अन्य अंश का अवगाहन नहीं करती, उस

संभ्यत इति वक्तुं युक्तम्, सर्वत्र देशादावनुगतप्रतिभासस्याऽस्खलद्रूपस्य तथाभूताकारव्यवहारहेतोर्दर्शना-त् । अतो व्यावृत्ताकारानुगतांशाऽनधिगतमाकारमवभासयन्त्यन्वयव्यतिरेकानुविधायिन्यबाधितरूपा बुद्धि-रनुभूयमानाऽनुगताकारं वस्तुभूतं सामान्यं व्यवस्थापयति ।

न च शाबलेयादिप्रतिनियतव्यक्तिरूपविवेकेन साधारणरूपस्यापरस्य भेदेनाऽप्रतिभासनाद् व्यक्ति-रूपाद् भिन्नमभिन्नं वा सामान्यं नाभ्युपगन्तुं युक्तमिति शक्यं वक्तुम्, यतः समानदेशसमानेन्द्रियग्राह्या-णामपि वाताऽऽतप-पट-पटादीनां प्रतिभासभेदान्नापरं भेदव्यवस्थापकम्; स च शाबलेयादिव्यक्ति-जात्योरपि समस्ति, शाबलेयादिव्यक्तिप्रतिभासाभावेऽपि बाहुलेयादिव्यक्तिप्रतिभासे 'गौर्गौः' इति साधारणावभासस्य तद्व्यवस्थानिबन्धनस्य संवेदनात् । एकान्ततो व्यक्त्यभेदे तु सामान्यस्य शाबलेयादिव्यक्तिस्वरूपस्येव तदभिन्नसाधारणरूपस्यापि बाहुलेयादिव्यक्त्यन्तरे प्रतिभासो न स्यात्, अस्ति च व्यक्त्यन्तरेऽपि 'गौर्गौः' इति साधारणरूपानुभवः, अतः कथं न भिन्नसामान्यसद्भावः ?

अन्य अंश को उद्भासित करने वाली दूसरी अनुगताकारबुद्धि सर्वजनअनुभवसिद्ध है, गोवृंद के साथ जब इन्द्रियसंनिकर्ष होता है तब यह अनुगताकार बुद्धि उत्पन्न होती है और जब उस के साथ इन्द्रियसंनिकर्ष नहीं रहता तब यह प्रत्यक्षात्मक अनुगताकारबुद्धि उत्पन्न नहीं होती– इस प्रकार यह अनुगताकार बुद्धि, विशेषग्राहिबुद्धि की भाँति इन्द्रिय के अन्वय और व्यतिरेक का व्यवस्थित अनुसरण करती है । उस को मिथ्या सिद्ध करने वाला और कोई प्रमाण भी नहीं है इस लिये यह बुद्धि अबाधित है । निर्बाध बुद्धि वस्तु की व्यवस्थापक (=सिद्धिकारक) होती है अतः सामान्याकार निर्बाध बुद्धि भी वास्तविक सामान्य पदार्थ को सिद्ध करती है । इसलिये अपोहवादी का हेतु असिद्ध है ।

अपोहवादी :- जब भी देखते हैं तो शाबलेय आदि अमुक नियत असाधारण व्यक्तिरूप ही नजर में आती है, उस से पृथक् होते हुए अन्य किसी साधारण रूप का पृथक् रूप से प्रतिभास वहाँ नहीं होता, अतः व्यक्ति से भिन्न सामान्य पदार्थ का अंगीकार अनुचित है, एवं व्यक्ति से अभिन्न सामान्य को मानने का कुछ विशेष फल नहीं है क्योंकि व्यक्तिअभिन्न सामान्य तो व्यक्तिरूप ही है, अर्थात् वह सामान्यात्मक नहीं किन्तु विशेषरूप होगा ।

सामान्यवादी :- यह कथन अनुचित है । प्रतिभासभेद ही सर्वत्र भेदसाधक होता है । वात और आतप तथा पट और वस्त्र समानदेश में एक ही इन्द्रिय से गृहीत होते हैं अतः वहाँ देशभेद या ग्राहकेन्द्रियभेद न होने पर भी प्रतिभासभेद होने से वस्तुभेद सिद्ध होता है । आप कहते हैं व्यक्ति से भिन्न जाति का भिन्न प्रतिभास नहीं होता यह गलत बात है क्योंकि शाबलेयादि व्यक्ति और गोसामान्य का भेदप्रतिभास प्रसिद्ध है, जैसे देखिये–जब दूर से [illegible] शाबलेय है या बाहुलेय ?" ऐसा व्यक्ति का प्रतिभास न होने पर भी सामने के [illegible] [illegible] "यह गौ है यह भी गौ है" ऐसा [illegible] गोसामान्य का [illegible] [illegible] [illegible]

न च व्यक्तिदर्शनवेलायां स्वेन वपुषा बुद्धिग्राह्याकारतया प्रतिपदमवतरन्ती जातिर्नाभाति व्यक्तिव्यतिरेकेणापरस्य बहिर्ग्राह्यावभासस्याऽभावादिति वक्तुं शक्यम्, व्यक्त्याकारेऽप्यस्य समानत्वात् । न च बुद्धिरेव 'गौर्गौः' इति समानाकारा बहिः साधारणनिमित्तनिरपेक्षा प्रतिभाति, तथाभ्युपगमे प्रतिनियतदेशकालाकारतया तस्याः प्रतिभासाभावप्रसंगात् । नचाऽसाधारणा व्यक्तय एव तद्बुद्धिनिमित्तम्, व्यक्तिनां भेदरूपतयाऽविशिष्टत्वात् [1]कर्कादिव्यक्तीनामपि 'गौर्गौः' इति बुद्धिनिमित्तत्वापत्तेः । न च व्यक्तीनां भेदाविशेषेऽपि यास्वेव 'गौर्गौः' इति बुद्धिरुपजायमाना समुपलभ्यते ता एव तामुपजनयितुं प्रभवन्ति, यथा यास्वेव गडूच्याद्योपधिषु भेदाऽविशेषेऽपि ज्वरादिशमनलक्षणं कार्यमुपलभ्यते ता एव तन्निमित्तं नान्या इति वक्तुं युक्तम्, साधारणनिमित्तव्यतिरेकेणापि तासूत्पत्तिप्रसक्तेर्न स्वलक्षणस्यापि व्यवस्था स्यात् ।

भी ''यह भी गौ है'' इस ढंग से समानाकार अनुभव होता है । तब फिर स्वतंत्र सामान्य पदार्थ को वस्तुरूप क्यों न माना जाय ?

★ जाति की सिद्धि में अडचनों का प्रतिकार ★

अपोहवादी :- जब व्यक्ति को देखते हैं तब ऐसी कोई जाति स्फुरित नहीं होती है जो अपने बुद्धिग्राह्याकारमय शरीर से दृष्टिपथ में उतर आती हो । व्यक्ति को छोड कर और किसी बुद्धिग्राह्य पदार्थ का वहाँ अवभास ही नहीं होता है ।

सामान्यवादी :-ऐसा कहना शक्य नहीं है, क्योंकि ऐसा तो व्यक्तिआकार के लिये भी समान ढंग से कहा जा सकता है । जैसेः यह कह सकते हैं कि दूर से गोजाति को देखते समय ऐसी कोई शाबलेयादि व्यक्ति स्फुरित नहीं होती जो अपने बुद्धिग्राह्याकारमय शरीर से दृष्टिपथ में उतर आती हो...इत्यादि ।

अपोहवादी :-'यह गौ है- गौ है' इस बुद्धि का बाह्य सामान्यात्मक निमित्त नहीं होता, किंतु अनुगतबुद्धि स्वयं ही यहाँ सामान्यरूप से समानाकार भासित होती है ।

सामान्यवादी :-यह बात ठीक नहीं, कर्योंकि समानाकार बुद्धि का निमित्त बाह्यदेशवर्त्ती, प्रतिनियतकालवर्त्ती न हो कर अभ्यन्तर बुद्धिरूप होता तब जो बाह्यदेशवर्त्ती और अमुकप्रतिनियत कालवर्त्ती आकार रूप से उस का जो प्रतिभास होता है वह न होने की आपत्ति आयेगी ।

यदि कहें कि – 'असाधारणस्वरूपधारी व्यक्ति स्वयं ही अनुगताकार बुद्धि का निमित्त है' – तो यह ठीक नहीं है क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति भेदात्मक यानी विशेषरूप होती है, जब गोव्यक्ति समानाकार बुद्धि का निमित्त हो सकती है तो वैसे ही असाधारण व्यक्तिरूप अश्व व्यक्ति भी अनुगताकार 'यह गौ है– गौ है' ऐसी बुद्धि का निमित्त होने की आपत्ति आयेगी, क्योंकि व्यक्तिमात्र की विशेषरूपता में कोई फर्क नहीं है ।

अपोहवादी – व्यक्ति – व्यक्ति की विशेषरूपता में कोई फर्क नहीं होने पर भी जिन शाबलेयादि व्यक्तियों को देख कर 'यह गाय है- गाय है'' ऐसी अनुगताकार बुद्धि उत्पन्न होती है उन व्यक्तियों को ही उस बुद्धि का हेतु समझना चाहिये, अश्वादि व्यक्ति से वैसी गाय की अनुगताकार बुद्धि उत्पन्न न होने से उन को उस बुद्धि का हेतु मानने की आवश्यकता नहीं है । कार्य-कारणभाव अन्वय-व्यतिरेक से निश्चित होता है । अगर आप कहें कि– 'जिन व्यक्तियों से अनुगताकार कार्य (बुद्धिरूप) होता है उनमें, अश्वादिव्यावृत्त समान धर्म न

१. 'कर्कः = श्वेताश्वः' प्रमेयक० टि० पृ० १३७ प्र० पं० १४ ।

तथाहि – परेणाप्येवं वक्तुं शक्यम् – अभेदाऽविशेषेऽप्येकमेव ब्रह्मादिस्वरूपं प्रतिनियतानेक-नीलाद्याभासनिबन्धनं भविष्यतीति किमपररूपादिस्वलक्षणपरिकल्पनया ? अथ रूप-रसाद्याभासज्ञानस्य तद्रूपस्वलक्षणमन्तरेणापि सम्भवेऽपरस्यार्थक्रियानिबन्धनार्थव्यवस्थापकस्याभावान्न प्रवृत्त्यादिलक्षणो व्यवहार इति स्वलक्षणाकारज्ञानस्य तन्निमित्तत्वेन तद्व्यवस्थापकत्वम् । एतत् सदृशाकारज्ञानेऽपि समानम् । न हि सामान्यमन्तरेणाऽपि भिन्नानामेककार्यकर्तृत्वं न सम्भवतीति तत् परिकल्प्यते, किन्तु समानाकार-प्रत्ययोऽबाधितरूपः तथाभूतविषयव्यतिरेकेणोपजायमानो मिथ्यारूपः प्राप्नोतीति विशेषप्रत्ययस्येवाऽबाधित-रूपस्य समानप्रत्ययस्यापि सामान्यमालम्बनभूतं निमित्तमभ्युपगन्तव्यमित्यस्ति वस्तुभूतं सामान्यम्, अन्यथा समानप्रतिभासाऽयोगात् ।

होने पर कैसे यह कार्य होगा ? तो इसका उत्तर गडूची आदि औषधों में देखा जा सकता है । गडूची आदि अनेक ऐसे औषध और उपचार आदि उपाय हैं जिन में कोई अनुगत धर्म न होने पर भी ऐसा एकविध बुखार-शमन का कार्य होता है जो रोटी-चावल आदि से नहीं होता । फिर भी आप वहाँ रोटी-चावल आदि से व्यावृत्त ऐसा कोई एक सामान्य धर्म गडूची-उपचार आदि में नहीं मानते तो फिर यहाँ ऐसा आग्रह क्यों ?

सामान्यवादी :- यह प्रश्न अनुचित है क्योंकि गडूची आदि में भी हमें ऐसा एक साधारण निमित्त अभीष्ट ही है [चाहे वह जातिरूप हो या अखंडोपाधिरूप या कैसा भी !] । किन्तु आप यदि किसी साधारण निमित्त के बिना ही भिन्न भिन्न देश-कालादि में रही हुयी अनेक व्यक्तियों में नियत रूपवाली समानाकार बुद्धि की उत्पत्ति होने का मानेंगे तब तो व्यक्ति के बारे में भी बिना किसी असाधारणनिमित्त ही असाधारणाकार (=विशेषाकार) बुद्धि की उत्पत्ति होने की आपत्ति प्रसक्त होगी । फलतः आप के मत में स्वलक्षण (=असाधारण व्यक्ति) की भी व्यवस्था लुप्त हो जायेगी ।

★ सदृशाकार ज्ञान से सामान्यव्यवस्था ★

देखिये – आप कहते हैं वैसा ब्रह्मादि-अद्वैतवादी भी कह सकता है, ब्रह्मादि एक ही वस्तु अभिन्न-अभेद एकरूप होते हुये भी व्यवस्थित नीलप्रतिभास-पीतप्रतिभास आदि अनेक भिन्न भिन्न प्रतिभासों का निमित्त बन सकती है, तब भिन्न भिन्न प्रतिभास के निमित्तरूप में भिन्न भिन्न नीलरूपस्वलक्षण या पीतरूप स्वलक्षणादि की कल्पना क्यों की जाय ?

अपोहवादी :- रूपस्वलक्षण, रसस्वलक्षणादि चार पृथक् पृथक् निमित्त के बिना ही यदि रूपाकारादि या रसाकारादि विज्ञान की उत्पत्ति मान ली जाय तब तो रूपविज्ञान से रूपार्थी का [illegible] के लिये जो प्रवृत्ति-निवृत्ति स्वरूप व्यवहार होता है वह नहीं बन सकेगा, क्योंकि रूपादिविज्ञानजन्य अभिमत रूपादिजन्य अर्थक्रिया का साधक बन सके ऐसा अर्थव्यवस्थापक [illegible] न तो बाह्य रूपादि है, न तो अन्य कोई अर्थ है ; अकेले ब्रह्म से तो भिन्न भिन्न अर्थक्रिया हो नहीं सकती, न प्रवृत्ति-निवृत्तिरूप पृथक् पृथक् व्यवहार भी सिद्ध हो सकता है ! अतः स्वलक्षणाकार (=विशेषाकार) ज्ञान स्वयं स्वलक्षणस्वरूप सिद्ध है तब स्वलक्षण [illegible] की व्यवस्था (=सिद्धि) कर देता है ।

सामान्यवादी :- विशेषाकार ज्ञान से स्वलक्षणरूप विशेष की व्यवस्था होती है इसी तरह सदृशाकार ज्ञान से सदृशाकार सामान्य की भी व्यवस्था अनिवार्य है । एक सामान्य पदार्थ के बिना भिन्न भिन्न व्यक्तियों में एककार्यकारिता घट नहीं सकती- इस कारण से हम सामान्य की कल्पना कर रहे हैं- ऐसा मत समझिये, किन्तु

'एककार्यतासादृश्येनैकत्वाध्यवसायादेकप्रतिभास' इति चेत् ? वाह-दोहादिकार्यस्य प्रतिव्यक्तिभेदात् कथमभेदः कार्याणाम् ? इति तत्राप्यपरैककार्यतासादृश्येनैकत्वाध्यवसायेऽनवस्थाप्रसक्तेः, एककार्यतया भावानामप्रतीतेः कथमभेदाध्यवसायादेकः प्रतिभासः येनैककार्यकारित्वम् अतत्कारिपदार्थविवेको वा सामान्यं तद्व्यवहारनिबन्धनं स्यात् ? एकसाधनतयाऽभेदोप्यत एव न सामान्यम्, वाहदोहादेरेकार्थत्वाभावेप्येकविज्ञानजनकत्वेनाभेदाध्यवसाये तद्विज्ञानस्यापि प्रतिव्यक्तिभिन्नत्वात् एकाकारपरामर्शज्ञानजनकत्वेनाऽभेदाध्यवसाये तत्परामर्शस्यापि प्रतिव्यक्ति भिन्नत्वात् अपरपरामर्शजनकत्वेनाभेदाध्यवसायेऽनवस्था । अथ

वात यह है कि निर्वाधरूप से उत्पन्न होने वाली सदृशाकार प्रतीति अगर एक सामान्यरूपनिमित्त के विना ही उत्पन्न होने का मानेंगे तो वह प्रतीति भ्रान्त वन जायेगी (और सामान्यमूलक जो प्रवृत्ति-निवृत्ति व्यवहार होता है वह भी ठप हो जायेगा) । अतः, निर्वाध विशेषाकार ज्ञान का जैसे विशेषरूप (स्वलक्षणात्मक) आलम्वन मान्य है वैसे ही सदृशाकार ज्ञान का निमित्त बनने वाला सामान्य पदार्थरूप पारमार्थिक आलम्वन भी स्वीकार लेना चाहिये । सारांश यह है कि विशेष की तरह सामान्य भी वास्तव पदार्थ है, उसका अस्वीकार करने पर समानाकार प्रतीति की संगति नहीं की जा सकेगी ।

★ एककार्यतारूप सादृश्य से समानप्रतिभास में अनवस्था ★

अपोहवादी :- समानप्रतिभास का कोई वस्तुभूत निमित्त नहीं है ऐसा हमारा कहना नहीं है । वस्तुभूत निमित्त होता है, किन्तु वह आपका माना हुआ जातिरूप सामान्य नहीं किन्तु एककार्यतारूप सादृश्य होता है । जैसे एक कमरे में दश दीप जलाया जाय तो उन सभी का प्रकाशरूप कार्य एक ही होता है, इस एककार्यतारूप सादृश्य के कारण एक अध्यवसाय वन जाता है कि ये सव दीप एक ही हैं, और इस अध्यवसाय से ही उन दीपों में अभेदप्रतिभास होता है ।

सामान्यवादी :- यह वात ठीक नहीं है, क्योंकि सकल गोव्यक्तियों में एककार्यतारूप सादृश्य होता नहीं, वलीवर्दादि का कार्य भारवहन होता है और गौआ सव दूध देने का (दोहन) कार्य करती है । इस प्रकार बलीवर्द और गौआ आदि भिन्न भिन्न व्यक्तियों में एककार्यतारूप सादृश्य ही कहाँ है ? अगर कहें कि – 'भारवहन दोहन आदि कार्य हालाँ कि एक नहीं है किन्तु उन कार्यों का एक सदृशकार्य होगा, जो पूर्व कार्यों में एकत्व का अध्यवसाय निपजायेगा'– तो यह भी गलत है क्योंकि आप के अभिमत एक कार्य की परीक्षा करने पर वहाँ भी जव वाह-दोहादि की तरह अनेक कार्य सिद्ध होंगे तव उन में फिर से एककार्यता की सिद्धि के लिये वाह– दोहादि कार्यों के कार्यों में भी एकत्व अध्यवसाय के लिये उन के कार्यों में एककार्यतारूप सादृश्य जताना पडेगा । इस प्रकार कार्य-कार्य का सीलसीला चलेगा, उसका अन्त न आने से अनवस्था दोष प्रसक्त होगा । फलतः व्यक्तियों में एककार्यतारूप सादृश्य की प्रतीति न होने से अभेदाध्यवसाय और उस के द्वारा एक रूपप्रतिभास की उपपत्ति ही जव शक्य नहीं है तव एककार्यकारित्व को या अतत्कार्यकारिव्यावृत्ति रूप अपोह को सामान्यरूप मान कर तन्मूलक समानाकार व्यवहार की उपपत्ति कैसे हो सकेगी ? जिन दोषों के कारण एककार्यकारित्वरूप सामान्य का होना असंगत है, उन्हीं दोषों के कारण एकसाधनता (यानी एक विज्ञानरूप कार्य की जनकता)को भी सामान्यरूप नहीं माना जा सकता । यदि कहें कि– 'वाह-दोहनादि कार्यों में एकार्थत्व यानी (एकः अर्थः कार्यरूपो येषां ते एकार्थाः तेषां भावः एकार्थत्वम्) एककार्यता न होने पर भी समानाकार एकविज्ञानजनकता

एकाकारपरामर्शज्ञानस्य स्यात् एवाभेदाध्यवसायरूपत्वादेकत्वमिति नाऽनवस्था, तज्जनकानुभवानां त्वेका-कारपरामर्शज्ञानहेतुत्वादेकत्वम् अनुभवनिमित्तव्यक्तीनां च तथाभूतानुभवजनकत्वेपोपचरितं तत् । नन्वेवं व्यक्तीनामेवाऽन्वयिनैकाकारपरामर्शहेतुत्वं वस्तुभूतं सामान्यमभ्युपगन्तव्यम् किं पारम्पर्यपरिश्रमेण ? यथा हि प्रत्यासत्त्या प्रतिव्यक्ति भिन्नानुभवा एकं परामर्शज्ञानं जनयन्ति तथैव प्रतिनियता व्यक्तयः स्व-गतसमानाकारार्पकत्वेन तद् जनयिष्यन्तीति न कश्चिद् दोषः । यथा ह्यनुभवज्ञानं भिन्नमपि पराम-र्शज्ञानं प्रतिनियतैकाकारतया विलक्षणं चिद्रूपतया तु समानं जनयदपि समानाऽसमानजनकाकार-द्वयाध्यासितमप्येकम् तथा व्यक्तयोऽपि समानाऽसमानजनकाकाराध्यवसायिप्रत्ययजनकं रूपद्वयं बिभ्राणा नैकरूपतया विरोत्स्यन्त इति ।

अथ सामान्यस्यानुगताकारज्ञानजनकत्वैकस्वभावत्वात् सर्वदा तज्ज्ञानप्रसक्तिः अनपेक्षस्याऽपेक्षाऽ-योगात्, सहकार्यपेक्षजनकत्वे वा सहकारिकृतोपकारस्य ततोऽभेदे तद्वत् कार्यत्वेनाऽनित्यताप्रसक्तिः, भेदे

रूप एककार्यजनकता के जरिये अभेदाध्यवसाय द्वारा अभेदप्रतिभास की उपपत्ति कर सकेंगे'- तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि वाह-दोहनादि कार्यों से उत्पन्न विज्ञान भी एक नहीं किन्तु तत्तत् कार्यव्यक्ति विषयक विज्ञान भी पृथक् पृथक् ही होता है । अगर उन विज्ञानों में भी एकाकारपरामर्शरूप (इदं ज्ञानमिदमपि ज्ञानम् ऐसे) ज्ञान की जनकता के जरिये अभेदाध्यवसाय संगत किया जाय तो यह भी शक्य नहीं है क्योंकि एकाकारपरामर्श भी तत्तद्विज्ञानव्यक्ति विषयक पृथक् पृथक् होता है । अगर उन परामर्शों में भी अन्य एकपरामर्शज्ञान की जनकता के द्वारा अभेदाध्यवसाय को संगत करने जायेंगे तब तो फिर से अनवस्था दोष प्रसक्त होगा ।

यदि कहें कि - 'एकाकार परामर्श के द्वारा अभेदाध्यवसाय की संगति करने की कोई आवश्यकता ही नहीं है क्योंकि एकाकारपरामर्शज्ञान स्वयं ही अभेदाध्यवसाय रूप है अतः उन के अभेदाध्यवसाय के लिये अन्य परामर्शज्ञान की आवश्यकतामूलक होने वाली अनवस्था को यहाँ कुछ अवकाश ही नहीं है । एवं उन परामर्शों के जनक विज्ञानात्मक अनुभवों में भी एकाकारपरामर्शजनकता के जरिये अभेदाध्यवसाय और तन्मूलक एकत्व उपपन्न होगा, तथा उन अनुभवों के निमित्तभूत वाह-दोहनादि व्यक्तियों में (या गो-बलीवर्दादि व्यक्तियों में) तुल्य अनुभवों की जनकता मूलक अभेदाध्यवसाय के द्वारा उपचरित एकत्व की उत्पत्ति हो सकेगी- इस प्रकार एककार्यजनकत्व सादृश्य अथवा एककार्यजनकतारूप सादृश्य को अभेदप्रतिभास का निमित्त बना सकते हैं ।

सामान्यवादी :-अरे ! ऐसी परम्परा की मायापच्ची की क्या जरूर है, व्यक्ति-व्यक्ति में ही एकाकारपरामर्श के हेतुरूप में सिद्ध होने वाले एक वास्तविक (अनेकरूप) सामान्य को मान लेने में क्यों हिचकते हैं ? प्रत्येक व्यक्तियों से अपना अपना भिन्न भिन्न अनुभव और उन अनुभवों से एकाकार परामर्श ज्ञान की उत्पत्ति के लिये, इस प्रकार परम्परया भिन्न भिन्न व्यक्तियों से एकाकार परामर्श ज्ञान की उत्पत्ति के लिये कुछ न कुछ [illegible] (संकेतकारक यानी) तो आपको दिखाना ही होगा, क्योंकि एक [illegible] के बिना [illegible] [illegible] भी घट नहीं सकती; तब क्यों एक [illegible] [illegible] के रूप में [illegible] [illegible] के द्वारा [illegible] [illegible] व्यक्तियों से, [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] को करते हुए एकाकार परामर्श की उत्पत्ति की जा सकती है, इस से [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] नहीं है और दूसरी ओर एक सामान्य भी सिद्ध हो जायेगा । [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] से [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]

वा सम्बन्धासिद्धिः । एककार्यकर्तृत्वलक्षणमपि सहकारित्वं नित्यानामसम्भवि तदवस्थाभाविनः स्वभावस्य प्राग् ऊर्ध्वं च तदवस्थानसद्भावात्, अभावे वाऽनित्यत्वम् स्वभावभेदलक्षणत्वात् तस्य । अजनकस्वभावत्वेन न कदाचिदपि तज्ज्ञानम्, यो ह्यजनकस्वभावः सोऽन्यसहितोऽपि न तद् जनयति, यथा शालिवीजं क्षित्याद्यविकलसामग्रीयुक्तमपि कोद्रवांकुरम्, अजनकस्वभावं च चेत् सामान्यम् परामर्शज्ञाने न प्रतिभासेत जनकाकारार्पकस्यैव ज्ञानविषयत्वात्, ज्ञानलक्षणमपि कार्यमनुपजनयदवस्तु स्याद् अर्थक्रियाकारित्वलक्षण-त्वाद् वस्तुनः । तदेवं सामान्यस्य नित्यत्वेन तद्विषयस्य ज्ञानस्य वाध्यमानतयाऽवाधितज्ञानविषयत्वमसिद्धम् ।

होता है फिर भी चित्स्वरूप होने के कारण उससे समान भी होता है, यहाँ अनुभवज्ञान एक होते हुये भी उस में समानज्ञानजनकत्व और असमानज्ञानजनकत्व रूप दो आकार से अधिष्ठित होता है; ठीक ऐसे ही भिन्न भिन्न व्यक्तियों में भी परस्पर एकरूपता हो सकती है क्योंकि वे भी सामानाकाराध्यवसायिज्ञानजनकत्व और असमानाकाराध्यवसायिज्ञानजनकत्व ऐसे दो रूप से अधिष्ठित हैं ।

☆ सामान्यखंडन के लिये विविध तर्क ☆

अब सामान्यविरोधी प्रतिवादी विस्तार से, सामान्य की निर्बाधज्ञानविषयता का खंडन करने की चेष्टा करता है – अनुगताकारज्ञानजनकता यही एक मात्र सामान्य का जो स्वभाव है वहाँ दो विकल्प हैं, अनुगताकारज्ञानजनकता सहकारिसापेक्ष है या सहकारिनिरपेक्ष ? अगर कहें कि सहकारिनिरपेक्ष है तब उस को ज्ञानोत्पाद के लिये सहकारिअपेक्षा व्यर्थ होने के कारण अपने स्वभाव के अनुरूप सतत अनुगताकार ज्ञानोत्पत्ति होने की आपत्ति आ पडेगी । सहाकारीसापेक्षता का दूसरा विकल्प लिया जाय तो वहाँ सहकारीकृत उपकार के अलावा और तो कोई सापेक्षता घटती नहीं, तब दो प्रश्न हैं कि वह उपकार सामान्य से भिन्न है या अभिन्न है ? अभिन्न मानेंगे तो उस उपकाररूप कार्य से अभिन्न सामान्य भी सहकारी का कार्य हो जाने से उसमें अनित्यत्व की आपत्ति आयेगी । और भिन्न मानेंगे तो वह 'सामान्य का उपकार' सिद्ध करने के लिये दोनों के बीच आवश्यक कोई भी सम्बन्ध घटेगा नहीं क्योंकि वैसा कोई सम्बन्ध सिद्ध नहीं है । यदि कहा जाय– 'हम सहकारिकृत उपकाररूप सापेक्षता नहीं मानते किन्तु सहकारी के साथ मिल कर एक कार्य उत्पन्न करने रूप सहकारीसापेक्षता मानते हैं ।' – तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि निम्नलिखित विकल्पों से फलित होगा कि वैसी सहकारीसापेक्षता सम्भवहीन है । विकल्प ये हैं कि– सहकारिमिलनअवस्था में उस का जो एककार्यकर्तृत्वरूप स्वभाव है वह उस अवस्था के पूर्व और पश्चात् काल में भी अगर रहेगा तो फिर से सदाकार्योत्पत्ति की आपत्ति होगी । अगर पूर्व-पश्चात् काल में वह स्वभाव नहीं है ऐसा मानेंगे तब तो फिर से अनित्यत्व की आपत्ति आयेगी क्योंकि स्वभावभेद से वस्तुभेद प्रसक्त होता है और वस्तु अगर पलट गई तो यही अनित्यता है । यदि कहें कि सामान्य में जनकस्वभावता ही नहीं है तब तो वह किसी ज्ञान का भी जनक न होने से उसका ज्ञान ही किसी को नहीं होगा तब उसकी सिद्धि कैसे होगी ? जिस में स्वतः जनक स्वभाव नहीं होता वह परतः यानी सहकारिसंनिधान में भी ज्ञानादि का जनक नहीं बन सकता, जैसे शालि का वीज कोद्रवांकुरजनकस्वभावी नहीं है तो वह क्षिति-जलादि परिपूर्णसामग्री के मध्यवर्त्ती होते हुये भी कोद्रवांकुर का उत्पाद नहीं करता है । उपरांत, आप पहले एकाकारपरामर्शहेतु के रूप में सामान्य की सिद्धि कर आये हैं किन्तु जब सामान्य में जनक स्वभाव ही नहीं तब वह परामर्शज्ञान में भासित भी नहीं हो सकेगा, क्योंकि ऐसा नियम है कि जो ज्ञान का उत्पादक होते हुये अपने आकार

यथा, यदि तत् सर्वसर्वगतमभ्युपगम्यते तदा व्यक्त्यन्तरालेऽप्युपलम्भप्रसक्तिः, न चाभिव्यक्तिहेतु-व्यक्त्यभावात् तत्रानुपलम्भः, प्रथमव्यक्तिप्रतिभासवेलायां तदभिव्यक्तस्य सामान्यस्य ग्रहणेऽभेदात् तस्य सर्वत्र सर्वदाऽभिव्यक्तत्वात्; अन्यथाऽभिव्यक्तानभिव्यक्तस्वभावभेदादनेकत्वप्रसक्तेरसामान्यरूपत्वापत्तिः तदन्तरालेऽप्यसंभाव्युपलम्भ इति उपलब्धिलक्षणप्राप्तत्वेनाभ्युपगतस्य तत्रानुपलम्भादसत्त्वमिति न सर्वसर्वगतं तत् । अथ स्वव्यक्तिसर्वगतं तदिति नायं दोषः, नन्वेवं प्रतिव्यक्ति तस्य परिसमाप्तत्वाद् व्यक्तिस्वरूपवत्

का ज्ञान में ग्रहण करे वही उस ज्ञान में भासित हो सकता है, अर्थात् उस ज्ञान का विषय हो सकता है । सामान्य जब उत्पादकस्वभाव ही नहीं तब वह कैसे ज्ञान का विषय बनेगा ? फलतः आप का अभिमत सामान्य आकाशकुसुम तुल्य असत् हो जायेगा, कारण सद् वस्तु का लक्षण है 'अर्थक्रियाकारित्व' । जो सत् पदार्थ होता है उससे अगर और कोई अर्थक्रिया नहीं होती तब आखिर ज्ञानोत्पाद रूप अर्थक्रिया तो होती ही है, किन्तु सामान्य में तो यह भी नहीं है तो वह कैसे वस्तुभूत कहा जायेगा ? निष्कर्ष, आप नित्यरूप से सामान्य पदार्थ की सिद्धि के लिये जिस अभेदाध्यवसाय ज्ञान का उल्लेख करेंगे उसका विषय नित्यरूप में अन्य प्रमाण से बाधित होता है । और बाधित होने के कारण सामान्य में निर्बाधज्ञानविषयता ही असिद्ध हो जाने से, हमने जो पहले हमारे अनुमान का हेतु प्रयुक्त किया था वह सिद्ध होता है ।

★ जाति की व्यक्तिव्यापकता पर आक्षेप ★

और भी अनेक विकल्पों से सामान्य पदार्थ का ज्ञान बाधित सिद्ध होता है । जैसे यह प्रश्न कि सामान्य सर्वत्र व्यापक है या नहीं ? यदि जातिरूप सामान्य सर्वव्यक्तियों के भीतर और बाहर सर्वत्र व्यापक होगा तब दूर दूर रहे हुए दो घट के मध्यवर्त्ती प्रदेश में भी घटत्वसामान्य दृष्टिगोचर होने की आपत्ति होगी । यदि कहें कि- 'जाति व्यक्ति से व्यंग्य होने के कारण, मध्यवर्त्ती देश में व्यक्ति के न होने पर जाति के दृष्टिगोचर होने की आपत्ति नहीं होगी'- तो यह ठीक नहीं है क्योंकि जाति निरंश होती है इसलिये उस में व्यक्तिप्रदेशवर्त्ती प्रदेश में अभिव्यक्ति और मध्यवर्त्ती प्रदेश में अनभिव्यक्ति ऐसे दो विरुद्ध धर्मों का सम्भव ही नहीं है, अतः जब पहले एक बार व्यक्ति का प्रतिभास हुआ उस वक्त व्यक्ति के माध्यम से जाति की भी अभिव्यक्ति हो गई । अब व्यक्ति-देश में और मध्यवर्त्ती देश में वही एक अभिन्न जाति विद्यमान होने से सर्वत्र [illegible] सामान्य, निरंश होने से सर्वत्र वह अभिव्यक्त हो जाना चाहिये । ऐसा अगर नहीं मानेंगे तो जाति में अभिव्यक्त स्वभाव और अनभिव्यक्तस्वभाव ऐसे दो विरुद्ध स्वभावों का भेद प्राप्त होने से जाति में अनेकत्व की आपत्ति आयेगी, उस से एकत्व का भंग हो जायेगा । उपरांत परिणामस्वरूप आप के अभिमत सामान्य में असामान्यरूपता की आपत्ति आयेगी । उस को टालने के लिये अगर स्वभावभेद का यानी अनभिव्यक्तस्वभाव का स्वीकार करेंगे तो वहाँ मध्यवर्त्ती देश में उस के उपलम्भ की आपत्ति अपरिहार्य हो जायेगी । किन्तु वहाँ उपलम्भ तो होता नहीं है, अतः यह मानना चाहिये कि जाति उपलब्धि के लिये योग्य होने पर भी मध्यवर्त्ती देश में उपलब्ध नहीं होती है अतः वहाँ उसका अभाव है । इस प्रकार जाति [illegible] व्यापक [illegible] हो सकता है ।

यदि कहें कि- 'जाति सर्वत्र व्यापक नहीं है किन्तु अपनी [illegible] व्यक्ति मात्र में [illegible] है, [illegible] होने के कारण मध्यवर्त्ती देश में [illegible] नहीं होता [illegible] वहाँ [illegible] व्यक्ति, [illegible] की [illegible] सर्वत्र [illegible] है [illegible]

तस्य भेद एव, अभेदे एकव्यक्तावभिव्यक्तस्य ग्रहणेऽन्यव्यक्तिस्थस्यापि तस्य तत्स्वरूपत्वात् प्रतिभासे – तदाधारप्रतिभासमन्तरेण तदाधेयताप्रतिभासस्यानुपपत्तेः– सर्वव्यक्तीनां युगपत् प्रतिभासप्रसक्तिः ।

कृत्स्नैकदेशवृत्तिविकल्पानुपपत्तेश्चासत्त्वम् ।

☆किंच, [A] एकव्यक्तिसमवेतं तद् अभिनवोत्पन्नव्यक्तौ निष्क्रियत्वात् न यादि, [B]न च तद् व्यक्त्युत्पत्तेः प्राक् तत्रासीत् व्यक्तिरहितस्य तस्यावस्थानानभ्युपगमात्; व्यक्त्युत्पत्त्युत्तरकालं तु व्यक्त्यन्तरादनागतस्यापि तस्य तत्र सद्भावः, सामान्यशून्याया व्यक्तेरसत्त्वाभ्युपगमात्, [C]न चांशवत् तत् एकेनांशेन प्रागुत्पन्नव्यक्तिव्यवस्थितमप्यपरेणांशेनोत्पद्यमानव्यक्तिसम्बन्धमनुभवति [D]न च निरंशत्वेऽपि प्राक्तनाधारपरित्यागेनाधारान्तरे वृत्तिमत् तत्परित्यक्तव्यक्तेरसत्त्वप्रसंगात् [E]न च यत्र प्रदेशे व्यक्तिर्व्यवस्थिता तद्देशेन तस्य सम्बन्धस्तद्व्यक्त्यानुसम्बध्यते इत्याद्यनेकबाधकसद्भावाद् व्यक्तिभिन्नसामान्यपक्षे कथमबाधितप्रत्ययविषयत्वात् तत्सत्त्वम् ? !

यैरपि – [श्लो० वा० आकृ० श्लो० ४७]

उसी में सीमित हो जाने से अन्य व्यक्ति में वही जाति नहीं पहुँच पायेगी, अतः आश्रयभूत व्यक्तिभेद की तरह आश्रित जाति में भी आश्रयभेदमूलक भेद प्रसक्त होगा । यदि प्रतिव्यक्ति उस का भेद नहीं किन्तु अभेद ही मानेंगे तब यह दोष होगा कि एक व्यक्ति में जब वह अभिव्यक्त हो कर गृहीत होगी तब उस के एकमात्र अभिव्यक्त स्वरूप के कारण अन्यव्यक्तियों में भी उसका प्रतिभास अनिवार्य बनेगा, यहाँ दोष यह है कि आश्रयभूत व्यक्ति के प्रतिभास के बिना तदाश्रित जाति का अवभास होता नहीं है इसलिये जब सर्वव्यक्तिगत सामान्य गृहीत होगा तब एक व्यक्ति के दृष्टि-गोचर होने पर सभी व्यक्ति का एक-साथ दर्शन होने की आपत्ति आयेगी ।

★ एकदेश-सर्वदेशवृत्तित्व के विकल्प ★

सामान्य के बारे में दो ऐसे विकल्प प्रश्न हैं जिन का समीचीन उत्तर भी नहीं है । व्यक्ति में रहनेवाली जाति अपने सर्वांश से वहाँ समाविष्ट हो जाती है या एकांश से ? अगर सर्वांश से वह एक व्यक्ति में समाविष्ट हो जायेगी तो अन्यव्यक्तियों में जातिशून्यता की आपत्ति होगी । यदि एकांश से रहने का मानेंगे तो जाति में सावयवत्व की आपत्ति होगी और यह प्रश्न आयेगा कि जाति अपने उस अंश (=अवयव) में सर्वांश से समाविष्ट होती है या एकांश से ? ऐसी विकल्पपरम्परा चलती रहेगी उसका अन्त नहीं आयेगा ।

जाति के बारे में और भी अनेक बाधक हैं, (A) किसी भी एक व्यक्ति में समवेत जाति स्वयं तो निष्क्रिय होती है तो अभिनवजात व्यक्ति में वह कैसे चली जायेगी ? (B) अभिनवजात व्यक्ति उत्पन्न होने के पहले वह वहाँ थी यह भी नहीं कह सकते क्योंकि व्यक्ति के बिना वहाँ उस की उपस्थिति को आप भी नहीं मानते हैं । अब वह अन्यव्यक्ति से वहाँ नहीं चली आती, फिर भी व्यक्ति की उत्पत्ति के बाद ऐसी ही अगम्य रीति से वहाँ उपस्थित हो जाती है ऐसा मानना पडेगा क्योंकि सामान्यरहित व्यक्ति तो सत्ताशून्य होने से असत् ही मानी जाती है । (C)वह सावयव भी नहीं है कि जिस से एक अंश से पूर्वोत्पन्न व्यक्ति के साथ जुडी रहे और अन्य अंश से अभिनवजात व्यक्ति के साथ सम्बन्धानुभव करे ! (D)निरवयव होने पर भी ऐसा मानना पडेगा कि पूर्वोत्पन्न व्यक्ति का त्याग किये बिना ही वह किसी अगम्य रीति से नवजात व्यक्ति से सम्बन्ध कर लेती है, क्योंकि सामान्य सम्बन्ध के बिना उस नवजात व्यक्ति को असत् मानने की आपत्ति खडी हो जायेगी ।

☆. द्रष्टव्य – प्रमाणवार्त्तिके पृ० ३०४, तृ० परि० श्लो० १५२ पूर्वार्ध – १५३

कस्मात् सास्नादिमत्स्वेवं गोत्वं यस्मात् तदात्मकम् ।
तादात्म्यमस्य कस्मात् चेत् स्वभावादिति गम्यताम् ॥

इति वचनाद् व्यक्तिस्वभावं सामान्यमभ्युपगतं तेषामपि व्यक्तिवत् तस्याऽसाधारणरूपत्वं व्य-क्त्युदय-विनाशयोश्च तद्योगित्वं प्रसक्तमिति न सामान्यरूपता । अथाऽसाधारणत्वमुत्पादविनाशयोगित्वं च तस्य नाभ्युपगम्यते तर्हि विरुद्धधर्माध्यासतो व्यक्तिभ्यस्तस्य भेदप्रसक्तिः । आह च—[ ]

तादात्म्यं चेद् मतं जातेर्व्यक्तिजन्मन्यजातता ।
नाशेऽनाशश्च केनेष्टस्तद्वत्त्वान्' त्वयो न किम् (?) ॥
व्यक्तिजन्मान्यजाता चेदागता नाश्रयान्तरात् ।
प्रागासीद् न च तद्देशे सा तया संगता कथम् ॥
व्यक्तिनाशेन चेन्नष्टा गता व्यक्त्यन्तरं न च ।
तत् शून्ये न स्थिता देशे सा जातिः क्वेति कथ्यताम् ॥

(E) ऐसा भी नहीं है कि जिस जिस देश में व्यक्ति रहती है उन देशों के साथ जाति का सम्बन्ध उस व्यक्ति द्वारा ही प्रयुक्त हो जाता है ।

जब व्यक्ति भिन्न सामान्य मानने के पक्ष में इतने बाधकों की परम्परा प्रसक्त है तब जाति में निर्बाधप्रतीति-विषयता कैसे ? और तत्प्रयुक्त अस्तित्व भी उसका कैसे सिद्ध होगा ?

★ सामान्य के व्यक्तिस्वभाव पक्ष में आक्षेप ★

कुछ लोगोंने श्लोकवार्तिकवचन के आधार पर सामान्य को व्यक्तिस्वरूप ही माना है । श्लो० वा० के वचन का अर्थ :- "गलगोदडी आदि अवयव विशिष्ट व्यक्ति में ही गोत्व होता है (अन्य में नहीं होता) ऐसा क्यों ? इस प्रश्न का यही उत्तर है कि गोत्व गोव्यक्तिआत्मक ही होता है । प्रश्न :- गोत्व गोव्यक्तिआत्मक ही क्यों है ? इस प्रश्न का यही उत्तर है :- स्वभाव ।" इस वचन के आधार पर सामान्य को व्यक्तिस्वरूप मानने वाले विद्वानों के मत में, जाति में व्यक्ति की भाँति असाधारणता और व्यक्ति के उत्पत्ति-विनाश से जाति में भी उत्पाद-विनाश प्रसक्त होगा । फलतः जाति की सामान्यरूपता का भंग हो जायेगा । यदि कहें कि हम जाति-व्यक्ति का अभेद मानेंगे लेकिन जाति में असाधारणता और उत्पाद-विनाश नहीं मानेंगे तब तो विरुद्धधर्माध्यास प्रसक्त होगा क्योंकि जाति-व्यक्ति तादात्म्यरूप एक ही पदार्थ में व्यक्तिरूपता के कारण असाधारणता और उत्पाद-विनाश भी रहेगा, एवं जातिरूपता के कारण उस का अभाव भी रहेगा । इस विरुद्धधर्माध्यास की प्रसक्ति के कारण जाति और व्यक्ति में भेद ही प्रसक्त होगा, अभेद नहीं रहेगा । कहा भी है-

"यदि व्यक्ति-जाति का तादात्म्य मानेंगे तो व्यक्ति का जन्म होने पर भी जाति का [illegible] और व्यक्ति का नाश होने पर भी जाति का अनाश [illegible] [illegible] असाधारणता क्यों प्रसक्त न होगी ?"

"यदि व्यक्ति के [illegible] [illegible]

[illegible]

व्यक्ति(क्ते)र्जात्यादियोगेऽपि यदि जातेः स नेष्यते ।
तादात्म्यं कथमिष्टं स्यादनुपप्लुतचेतसाम् ॥

अत एव-[श्लो० वा० आकृ० श्लो० ३५-३६]

"सामान्यं नान्यदिष्टं चेत् तस्य वृत्तेर्नियामकम् ।
गोत्वेनापि विना कस्माद् गोबुद्धिर्न नियम्यते ॥
यथा तुल्येऽपि भिन्नत्वे केषुचिद् वृत्त्यवृत्तिता ।
गोत्वादेरनिमित्ताऽपि तथा बुद्धेर्भविष्यति ॥"

इति पूर्वपक्षयित्वा यदुक्तं कुमारिलेन [श्लो० वा० आकृ० श्लो० ३७-३८]

"विषयेण हि बुद्धीनां विना नोत्पत्तिरिष्यते ।
विशेषादन्यदिच्छन्ति सामान्यं तेन तद् ध्रुवम् ॥
ता हि तेन विनोत्पन्ना मिथ्याः स्युर्विषयादृते ।
नत्वन्येन विना वृत्तिः सामान्यस्येह दुष्यति ॥"

नहीं हुआ, एवं उस देशमें पहले (व्यक्ति की उत्पत्ति के पहले) उस का अवस्थान भी नहीं था तव उसका व्यक्ति के साथ मिलन कैसे हो गया ?"

"न तो आश्रय (व्यक्ति)का नाश होने पर उस का नाश हुआ है, न तो अन्य व्यक्ति की ओर प्रस्थान हुआ है, और न उस व्यक्तिशून्य देश में (व्यक्तिनाश के वाद) उसकी स्थिति है, तव वह कहाँ रही या गई ?"

"यदि व्यक्ति में जन्म-विनाश का योग होते हुये भी तदभिन्न जाति में उत्पत्ति नहीं मानते हैं तो ऐसे तादात्म्य को अभ्रान्त चित्तवाले विद्वान कैसे मान लेंगे ?"

★ सामान्यबुद्धि में मिथ्यात्वापत्ति- इष्ट ★

अपोहवादी कहता है कि सामान्य में उपरोक्त वाधक प्रसक्त हैं इसी लिये, कुमारिलने श्लोकवार्तिक में पहले दो श्लोक से पूर्वपक्ष उपस्थित कर के वाद में जो दो श्लोक से उसका खंडन किया है वह भी परास्त हो जाता है। श्लोक० में पूर्वपक्ष में प्रतिवादी कहता है कि-

"कुछ ही व्यक्तियों के साथ सामान्य के योग का नियमन करने के लिये अगर सामान्यान्तर आवश्यक नहीं है, क्योंकि कुछ ही व्यक्तियों के साथ सामान्य के योग का नियामक उनका स्वभाव ही है तव गोत्वादि सामान्य के विना भी गोवुद्धि का नियमन, स्वभाव से क्यों नहीं होता ?"

"भिन्नता समान होने पर भी (यानी शावलेयादि में अश्वादि से एवं वाहुलेयादि पिण्डों से भिन्नता एकरूप होने पर भी) कुछ ही व्यक्तियों में '(शावलेय–वाहुलेयादि में) सामान्य वृत्ति होना माना जाता है तो वैसे ही गोत्वादि रूप निमित्त के न होने पर भी (अनुगताकार) गोवुद्धि की उत्पत्ति भी हो जायेगी।"

इस पूर्वपक्ष का परिहार करते हुए कुमारिलने कहा है, "विषय के विना वुद्धि की उत्पत्ति शक्य नहीं है इस लिये व्यक्तियों से पृथक् सामान्य अवश्य मानते हैं।"

"यदि वुद्धियाँ विषय के विना ही उत्पन्न हो जायेगी तो जरूर वे विषय के अभाव में मिथ्या बन जायेगी,

तन्निरस्तम् बाधकप्रत्ययनिबन्धनस्य मिथ्यात्वस्य सामान्यबुद्धौ प्रतिपादितत्वात् ।

असदेतत्- यतो यदि नित्यम् व्यापकं च व्यक्तिभ्य एकान्ततो भिन्नमभिन्नं वा सामान्यमभ्युपगम्येत तदा स्याद् यथोक्तबाधकावकाशः । यदा तु सदृशपरिणामलक्षणं सामान्यम्' विसदृशपरिणतिलक्षणस्तु विशेषः; तदात्मकं चैवं वस्तु तदाऽत्यन्तभेदाभेदपक्षभाविदोषानुषङ्गोऽनास्पद एव ।

अथ साधारणाऽसाधारणरूपस्यैकत्वविरोधोऽत्रापि बाधकम् । तथाहि – यद् यदाकारपरिहारावस्थितस्वरूपं तत् ततो भिन्नम्, यथा पटरूपपरिहारावस्थितस्वरूपः घटः, असाधारणरूपपरिहारावस्थितं च साधारणं रूपमिति कुतस्तयोरभेदः ? तथाप्यभेदे न किंचिदपि भिन्नं स्यात् अन्यस्य भेदव्यवस्थाहेतोरभावात् । कथंचिद् भेदाभेदाभ्युपगमेऽपि तयोर्येनाकारेण भेदस्तेन भेद एव येन चाभेदस्तेनाप्यभेद

जब कि अन्य सामान्य के बिना भी व्यक्तियों के साथ सामान्य का योग मान लिया जाय तो वैसा कोइ (बुद्धि में मिथ्यात्वप्रसक्ति जैसा) दोष प्रसक्त नहीं होता है''-

यह कुमारिल कथन अब परास्त हो जाता है क्योंकि पूर्वोक्त रीति से अभेदप्रतिभास में अनेक बाधकों का सम्पर्क सिद्ध होने से सामान्यबुद्धि में मिथ्यात्वप्रसक्ति का निरूपण विस्तार से कर दिया है ।

★ सामान्यविरोधवाद पूर्वपक्ष समाप्त ★

★ सामान्य सदृशपरिणामस्वरूप है- जैन मत ★

अपोहवादीने उपरोक्त रीति से जो सामान्यवादी के मतमें बाधक निरूपण किया है वह गलत है । कारण, यदि हम न्याय-वैशेषिक-मीमांसक वादियों की तरह सामान्य को एकान्ततः नित्य, व्यापक और व्यक्तियों से एकान्त भिन्न या अभिन्न होने का मानें तब तो उपरोक्त बाधकों को अवकाश प्राप्त हो जाय । किन्तु हम स्याद्वादी तो ऐसा मानते हैं कि वस्तुगत जो सदृशपरिणति है वही सामान्य है, विसदृशपरिणति ही विशेष है, और वस्तु मात्र कथंचित् (एकान्ततः नहीं) तथाविध सामान्य-विशेष उभयात्मक होती है । ऐसा मानने पर जाति-व्यक्ति के एकान्त भेदपक्ष और एकान्त अभेदपक्ष में होने वाले दोषों का स्पर्श यहाँ निरवकाश हो जाता है । कारण, एकान्तभेद पक्ष में जो बाधक हैं वे जैसे उन के अभेद को सिद्ध करता है, वैसे ही एकान्त अभेदपक्ष में जो बाधक हैं वे उन के भेद को सिद्ध करते हैं । इस प्रकार समान बलवाले उभयपक्षीय बाधकों से कथंचित् भेदाभेद पक्ष स्वयं फलित होता है ।

★ समान-असमानरूप में एकत्वविरोध की आशंका ★

अपोहवादी :- स्याद्वादी साधारण-असाधारण उभयरूपवाली वस्तु में यदि उभयरूपता को मानते हैं तो एकरूपता नहीं हो सकती क्योंकि उभयरूपता के साथ एकत्व का विरोध है । इस तरह विरोधरूप बाधक स्याद्वाद में भी प्रसक्त है । वह इस प्रकार:- यह नियम है कि जो जिस आकार को छोड़ कर रहने के स्वभाववाली है वह वस्तु परिहृताकारवाली चीज से भिन्न होती है । उदा० घट पटरूप का परिहार करके रहता है तो वह पट से सर्वथा भिन्न है । साधारणस्वरूप सामान्य भी असाधारणरूप को छोड़ कर रहता है [illegible] वह असाधारणरूप से अभिन्न कैसे हो सकता है ? और [illegible] के भी [illegible] निमित्त [illegible] [illegible] अभेद मानेंगे तो विश्व में कहीं भी भेद को अवकाश रहेगा नहीं, क्योंकि [illegible]

एव, नैकं साधारणाऽसाधारणधर्मद्वयात्मकं वस्तु, विरोधात् । अथ येन रूपेण भेदस्तेनापि नैकान्तेन भेद एव, किं तर्हि ? भेदाभेदः । ननु तत्रापि येनाकारेण भेदस्तेन भेद एव इत्यादिवचनादनवस्थाप्रसक्तिरित्यादि न कथं बाधकम् ?–

असदेतत्, समानाऽसमानाकारतया बहिः शावलेयादेः परिस्फुटप्रतिपत्तौ प्रतिभासमानस्यैकत्वेन विरोधाऽसिद्धेः, अन्यथा ग्राह्य-ग्राहकसंवित्तित्रितयाध्यासितं कथमेकं संवेदनं स्यात् ? चित्रज्ञानं वा परस्परविरुद्धनीलाद्यनेकाकारं कथमेकमभ्युपगम्येत, येनेदं वचः शोभेत- 'चित्रप्रतिभासाप्येकैव बुद्धिः, बाह्यचित्रविलक्षणत्वात्' [ ] इति ? अथ 'किं स्यात् सा चित्रतैकस्यां न स्यात् तस्यां मतावपि' [प्र० वा० २-२१० पूर्वार्धः] इति वचनात् साप्यनेकाकारैका नेष्यते इति नायं दोषः । नन्वेवमभ्युप-

और कोई भेदप्रयोजक नहीं है । यदि कहें कि– 'हम सर्वथा भेदाभेद नहीं मानते हैं किन्तु कथंचिद् भेदाभेद मानते हैं' – तो वहाँ भी विरोध तो तदवस्थ ही रहेगा, क्योंकि जिस आकार से वहाँ भेद है उस आकार से वहाँ अभेद नहीं रहेगा और जिस आकार से वहाँ अभेद रहेगा उस आकार को ले कर वहाँ भेद नहीं रह सकता, यहाँ भी एकआकारप्रयुक्त भेद और अभेद में विरोध खडा है, इसलिये एक वस्तु साधारण और असाधारण ऐसे विरोधि धर्मयुगल से आलिंगित हो नहीं सकती । यदि कहें कि – 'आकारविशेष को ले कर जो भेद है, वह भी सर्वथा भेदरूप नहीं किन्तु कथंचिद् भेदाभेद रूप ही है । तात्पर्य यह है कि A आकारविशेषप्रयुक्त भेद भी अन्य किसी एक C आकार से भेदात्मक और C तदन्य आकार को लेकर अभेदात्मक– इस प्रकार कथंचित् भेदाभेद होता है ।'– तो यहाँ फिर से वही पुनरावर्त्तन होगा, जिस B आकार से भेद है उस आकार को लेकर भेद ही है न कि अभेद... इत्यादि पुनः पुनः परम्परा जारी रहने पर अनवस्था दोष होगा । तब कैसे आप कहते हैं कि कथंचित् भेदाभेद में कोई बाधक नहीं है ?

★ चित्रज्ञान में एकत्व कैसे ? – उत्तर ★

स्याद्वादी : यह प्रश्न गलत है । स्पष्टानुभव में जो शावलेयादि बाह्य पदार्थ समानाकार रूप से भासता है वही पदार्थ स्पष्टानुभव में असमानाकार रूप से भी भासित होता है – इस प्रकार जब एक ही शावलेयादि पिंड उभयाकार से भासमान है तब उस में विरोध कैसा ? विरोध न होने पर भी आकारभेद को लेकर आप को वहाँ विरोध मानना ही है तब तो आपके मत में – एक ही संवेदन (स्वप्रकाश होने के कारण) ग्राह्याकार, अर्थग्राही होने के कारण ग्राहकाकार और स्फुरत् स्वरूप होने से संवेदनाकार ये तीन आकार माने गये हैं, वहाँ भी आकारभेद को लेकर संवेदन की एकता के भंग की आपत्ति होगी । उपरांत, बाह्य चित्रात्मक अर्थ को एक न मानते हुये भी तद्विषयक यानी परस्परविरुद्ध नील-पीतादि अनेकाकार चित्रज्ञान को क्यों एक मानते हैं ? जब आप शावलेयादि पिंड में आकारभेद से विरोध का उद्भावन करते हैं तब आप का यह वचन कैसे शोभास्पद ठरेगा कि – ''बाह्यचित्रात्मक अर्थ अनेक होते हुए भी तद्विषयक बुद्धि अपने विषय से विलक्षण स्वरूपवाली होने से चित्राकार प्रतिभासरूप होती हुयी भी एक ही होती है ।'' ?

बौद्धवादी : प्रमाणवार्त्तिक में कहा है कि – ''बुद्धि एक ही हो और उस में चित्रता (अनेकाकारता) भी मानी जाय, और ऐसी एक बुद्धि के विषयरूप चित्रात्मक द्रव्य भी एक माना जाय तो कैसा ? अरे (चित्र द्रव्य एक न होने से) हम बुद्धि में भी चित्रता नहीं मानेंगे, क्योंकि आकारवैविध्य ही भेदरूप है ।''

इस वचन के आधार पर हम अनेकाकार बुद्धि को भी एक नहीं किन्तु अनेकरूप मानते हैं । अतः

गच्छता ग्राह्य-ग्राहकाकारविविक्ता साऽभ्युपगता भवति, स्वसंवेदने च सा यदि तथैवावभाति तदा ग्राह्य-ग्राहकाकाराप्रतिभासः क्वचिदपि ज्ञाने न प्रतिभासते इत्यप्रवृत्तिकं जगत् स्यात् । अथ ग्राह्य-ग्राहकविनिर्मुक्तमात्मानं प्रच्छाद्य संवित्तिरियं स्वसंवेदने चैतन्यलक्षणं स्वभावमादर्शयति, कथं तदनेकान्तं सा प्रतिक्षिपेत् ? प्रतिभासमानाऽप्रतिभासमानयोश्च चैतन्य-ग्राह्यग्राहकाकारविवेकलक्षणयोर्धर्मयोरविरोधं च कथं न प्रकाशयेत् ?

अपि च द्विविधो वो विरोधः – सहानवस्थानलक्षणः, परस्परं परिहारस्थितिलक्षणश्च । स च द्विविधोऽप्येकोपलम्भेऽपरानुपलम्भाद् व्यवस्थाप्यते, साधारणाऽसाधारणाकारयोस्त्वध्यक्षेण भेदाभेदात्मतया प्रतीतेः कथं विरोधः ? तद्रूपाऽतद्रूपाकारते हि तयोर्भेदाभेदौ, तथावभासनमेव च तयोर्भेदाभेदग्रहणमिति कथं विरोधाऽनवस्थानादिदूषणावकाशः ? न च तयोः परस्परपरिहारस्थितलक्षणता सम्भवति अव्यवच्छेद-

---

आपने 'चित्रज्ञान को क्यों एक मानते हो' ऐसा कह कर जो दोषोद्भावन किया है वह दोषरूप नहीं है । (इष्टापत्ति ही है ।)

स्याद्वादी : अरे ! तब तो ग्राह्याकार एवं ग्राहकाकार से शून्य एक मात्र संवेदनाकार ही बुद्धि माननी होगी, क्योंकि स्वप्रकाश होने से प्रत्येक बुद्धि संवेदनाकार तो अनुभवसिद्ध है, फलतः किसी भी ज्ञान में ग्राह्याकार और ग्राहकाकार का प्रतिभास न होने पर सिर्फ ज्ञानाकार मात्र का ही संवेदन होने पर, बाह्यार्थ असंविदित रह जाने से उस के लिये होने वाली सम्पूर्ण प्रवृत्ति रुक जायेगी और सारा जगत् प्रवृत्तिशून्य हो जायेगा ।

बौद्धवादी : बुद्धि स्वयं ग्राह्यग्राहकाकारशून्य होने पर भी वह स्वसंवेदन में अपनी जात को उस स्वरूप में प्रदर्शित नहीं करती किन्तु (उस स्वरूप को आच्छादित कर के) सिर्फ अपने चैतन्यमय स्वभाव को ही प्रदर्शित करती है । ग्राह्यग्राहकाकारशून्य रूप से वह स्वसंविदित न होने के कारण वासनाजन्य बाह्यार्थ प्रवृत्ति की बाधक नहीं बन सकती, अतः प्रवृत्तिशून्यता की आपत्ति निरवकाश है ।

स्याद्वादी : जब आप एक ही बुद्धि में चैतन्यस्वरूप धर्म का प्रतिभास और ग्राह्यग्राहकाकारशून्यतारूप धर्म का अप्रतिभास, ऐसे परस्पर विरुद्ध दो धर्मों के समावेश वाली एक बुद्धि का अंगीकार करते हैं तब वह बुद्धि अनेकान्तवाद का प्रतिक्षेप कैसे कर पायेगी ? 'विरुद्ध दिखाई देने वाले अनेक धर्मों का एक धर्मी में समावेश' यही अनेकान्त है जो उस बुद्धि में भी दिखते हैं । उपरांत, वही बुद्धि प्रतिभासमान चैतन्य धर्म और अप्रतिभासमान ग्राह्यग्राहकाकारशून्यतात्मक धर्म इन दोनों के अविरोध को भी क्यों नहीं सिद्ध करेगी जब वह स्वयं उन दोनों धर्मों का अधिकरण है ?!

★ विरोध के दोनों प्रकार में भेदाभेदप्रतीति बाधक ★

आप मानते हैं विरोध के दो प्रकार हैं (१) सहानवस्थान स्वरूप जैसे शीत-उष्ण का (२) परस्परपरिहार कर के रहना जैसे अन्धकार-प्रकाश का । दोनों प्रकार के विरोध की इस मान्यता का मूल तो एक ही है – 'एक के कहीं उपलब्ध होने पर वहाँ दूसरे की उपलब्धि न होना ।' प्रस्तुत में, [illegible] और एवं [illegible] विशेष की एक ही आश्रय धर्मी में कथंचित् भिन्न एवं अभिन्न रूप से जब स्पष्ट प्रतीति हो रही है तब यहाँ विरोध का अवकाश शून्य हो जाता है । धर्मी में सामान्य-विशेष की तद्रूपता [illegible] होने पर कथंचित् अभेद है और अतद्रूपाकारता का [illegible] से कथंचित् भेद है, जब तद्रूपता एवं अतद्रूपता

रूपतया प्रत्यक्षे प्रतिभासनात् । न च सामान्यविशेषयोराकारनानात्वेऽप्यनानात्वेऽन्यत्राप्यन्यतोऽन्यस्याऽन्यत्वं न स्यात् इति वक्तुं युक्तम्, सामान्य-विशेषवत् तादात्म्येनान्यत्र प्रत्यक्षतोऽग्रहणात् ग्रहणे वा भवत्येवाकारनानात्वेऽपि नानात्वाभावः । न चाकारनानात्वेऽपि सामान्यविशेषयोरभेदप्रतिपत्तिर्मिथ्या, बाधकाभावात् । न च 'स्वभावभेदात् सामान्यविशेषयोर्घट-पटादिवद् भेद एव' इत्यनुमानं बाधकं प्रत्यक्षस्य, प्रत्यक्षेण बाधितत्वादत्रानुमानाऽप्रवृत्तेः ।

अथानुमानविषये न प्रमाणान्तरबाधा । नन्वेवं ध्वनेरश्रावणत्वेऽपि साध्ये सत्त्वादेर्यथोक्तलक्षणतया प्रमाणान्तराऽबाधितत्वेन प्रतिपत्तिः स्यात्, सपक्षे घटादौ सत्त्वाऽश्रावणत्वयोस्तादात्म्यस्याध्यक्षेणाधिगमात् ।

दोनों का एक ही व्यक्ति मे अवबोध होता है, यही तो भेदाभेद का ग्रहण है । इस स्थिति में न तो विरोध को अवकाश है न तो पूर्वोक्तस्वरूप (जिस आकार से भेद है उस आकार से भी यदि अन्याकार प्रयुक्त भेदाभेद होने पर) अनवस्थादि दूषण को स्थान है । अन्धकार-प्रकाश की तरह भेदाभेद में 'एक-दूसरे को छोड कर रहना' ऐसा भी नहीं है, क्योंकि सामानाधिकरण्यग्राही प्रत्यक्ष से ही यह देखा गया है कि भेद और अभेद एकदूसरे के व्यवच्छेदकारी नहीं है ।

यदि कहें – 'सामान्याकार और विशेषाकार में स्पष्ट ही स्वरूपभेद है, अतः वस्तु यदि सामान्याकार होगी तो विशेषाकार नहीं होगी एवं उस से उल्टा भी । ऐसी स्थिति में भी यदि आप दोनों को वस्तु से अभिन्न ही मानेंगे, तब तो दूसरी जगह भी एक वस्तु (घट) का अन्य (वस्त्र) वस्तु से अन्यत्व नहीं मान सकेंगे भले ही वहाँ दोनों के स्वरूप भिन्न भिन्न हो ।' – तो यह बोलने की जरूर नहीं है । कारण, प्रस्तुत में, एक वस्तु में सामान्य-विशेष उभय का तादात्म्य जैसे प्रत्यक्ष से गृहीत होता है वैसे दूसरी जगह घट और पट का तादात्म्य प्रत्यक्ष से गृहीत नहीं होता है । अथवा यदि ऐसी कोई दो वस्तु है जैसे मिट्टी और घट, और वहाँ प्रत्यक्ष से तादात्म्य गृहीत होता है तो वहाँ आकारभेद होने पर भी हमें अभेद स्वीकार्य ही है । ''सामान्य और विशेष में आकारभेद होने पर भी अगर आप अभेद की प्रतीति करेंगे तो वह मिथ्या होगी'' ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि मिथ्या सिद्ध करने के लिये आवश्यक कोई बाधक यहाँ है नहीं । यदि कहें कि – 'स्वभावभेदरूप हेतु और घट-पटादि के उदाहरण से सामान्यविशेष में भेद का अनुमान होगा, जो आप के अभिमत अभेद–प्रत्यक्षप्रतीति का बाध करेगा' – तो यह निष्फल है, क्योंकि बलवान अभेदप्रत्यक्षप्रतीति से प्रत्युत आप का अनुमान ही बाधित हो जाने से, उस की प्रवृत्ति ही नहीं होगी ।

★ अनुमान में प्रमाणान्तरबाधविरह की शंका का उत्तर ★

यदि कहें कि – 'जिसका अनुमान किया जाता है उस के बारे में अन्य प्रमाण बाधक नहीं हो सकता (क्योंकि संभव है कि बाधकरूप से उपस्थापित प्रमाण स्वयं प्रमाणाभास हो और अनुमान का विषय सत्य हो ।)' – तो यह ठीक नहीं क्योंकि अनुमान में प्रमाणान्तरबाध न मानने पर ध्वनि में सत्त्व हेतु और घट-उदाहरण से कोई अश्रावणत्व का अनुमान भी कर सकता है । इस अनुमान में सत्त्व हेतु प्रमाणान्तर बाधित होने पर भी आप के कथनानुसार वह अबाधित होने के कारण ध्वनि में अश्रावणत्व का बोध प्रामाणिक बन जायेगा । यहाँ घट सपक्ष है क्योंकि उस में सत्त्व हेतु और अश्रावण साध्य का सामानाधिकरण्यस्वरूप कथंचित् तादात्म्य प्रत्यक्षसिद्ध है ।

अथान्तर्व्याप्त्यभावात्तानयोर्व्याप्यव्यापकभावः तत् प्रकृतानुमानेऽपि तुल्यम् । 'पक्षस्याऽध्यक्षविरुद्धत्वादश्रावणत्वानुमानाऽप्रवृत्तिः' इति चेत् ? न तर्हि स्वभावभेदानुमानेऽपि प्रमाणान्तरबाधाविरहः, लक्षणयुक्ते बाधाऽसम्भवेऽन्यत्रापि तत्सम्भवात् । हेतोरसाध्येन श्रावणत्वेन विरोधाभावात् संशयितव्यतिरेकत्वाऽप्रयोजकत्वेऽन्यत्रापि कथंचित् स्वभावभेदस्याऽभेदेनाऽविरोधात् समानमुत्पश्यामः । सर्वथा स्वभावभेदस्य चाभेदविरोधिनो दृष्टान्तेऽप्यभावात् घटादेरपि केनचिदाकारेण सदृशत्वेनाऽभेदात् । यदि पुनः 'तादात्म्यरहिताऽत्यन्तस्वभाव भेदात्' इति हेत्वर्थो विवक्षितस्तदाऽसिद्धो हेतुः सामान्यविशेषयोः तादात्म्येनापि प्रत्य-

---

यदि कहा जाय – 'सत्त्व और अश्रावणत्व का घट में सामानाधिकरण्य होने पर भी सत्त्व में अश्रावणत्व की तर्कमूलक व्याप्ति के न होने से उन के बीच में व्याप्य-व्यापकभाव असिद्ध है अतः इस अनुमान की प्रवृत्ति नहीं होगी' – तो आप के प्रकृत अनुमान में भी यह बात समान है कि स्वभावभेद हेतु में सामान्यविशेष भेद की तर्कमूलक व्याप्ति न होने से यहाँ भी व्याप्यव्यापकभाव असिद्ध होने से आप के उक्त अनुमान की प्रवृत्ति नहीं होगी । अर्थात् सामान्य-विशेष में स्वभावभेद भी हो सकता है और परस्पर अभेद भी हो सकता है ।

यदि यह कहा जाय – ''अश्रावणत्व साध्य पक्षात्मक ध्वनि से अत्यन्त विरुद्ध है क्योंकि ध्वनि तो श्रावणत्वस्वरूप ही होता है, श्रावणत्व और अश्रावणत्व परस्पर विरुद्ध होता है अतः प्रमाणान्तर बाध न मानने पर भी यहाँ विरोध के कारण अनुमानप्रवृत्ति शक्य नहीं है ।'' – तो आपने जो स्वभावभेदहेतुक सामान्य-विशेषभेद साधक अनुमान प्रस्तुत किया है वहाँ भी प्रमाणान्तर के बाध का विरह आप नहीं कह सकते । बाध का लक्षण (= स्वरूप) है पक्ष में साध्य के अभाव का अन्य प्रमाण से निश्चय । इस निश्चय के होते हुए भी अगर आप को स्वभावभेदहेतुक अनुमान में बाध असमान्य है तो अन्यत्र सत्त्वादिहेतुक अश्रावणत्वादि के अनुमान में भी बाध असमान्य करने का पूरा सम्भव है ।

यदि ऐसा कहें कि – 'सत्त्व हेतु का साध्यविपरीत श्रावणत्व के साथ अगर विरोध होता तब तो उस की विपक्षव्यावृत्ति सुनिश्चित रहने से अनुमानप्रवृत्ति शक्य थी किन्तु सत्त्व का श्रावणत्व के साथ विरोध न होने से, उस की विपक्षव्यावृत्ति संशयग्रस्त होने की दशा में (अप्रयोजकत्वे...) बाधविरह का संभव नहीं है, अपितु प्रमाणान्तर बाध हो सकता है' – तो आप के अनुमान में भी यह प्रसक्त होगा, क्योंकि सर्वथा स्वभावभेद को अभेद के साथ विरोध हो सकता है किन्तु कथंचित् स्वभावभेद को अभेद के साथ विरोध न होने से यहाँ भी स्वभावभेद हेतु की विपक्षव्यावृत्ति संदिग्ध हो जाने से प्रमाणान्तर-बाध का विरह टल जाता है । यदि कहें कि – 'हमने कथंचित् नहीं किन्तु सर्वथा स्वभावभेद को ही हेतु किया है जो अभेद का विरोधी है' – तो आप के दृष्टान्त में भी वैसा हेतु सिद्ध नहीं है, क्योंकि घट और वस्त्र में भी किसी न किसी सत्त्व, द्रव्यत्व, भौतिकत्वादि रूप से सादृश्य अवश्य होने से कथंचित् अभेद होने के कारण सर्वथा स्वभावभेद नहीं रहता ।

यदि कहें कि – 'स्वभावभेदरूप हेतु का अर्थ तादात्म्यशून्य अत्यन्त स्वभावभेद है, जैसे कि, भिन्न भाव – और अभाव में तादात्म्यशून्य सर्वथा स्वभावभेद ही रहता है ऐसे स्वभावभेद को हेतु बनाने में उपरोक्त दोष नहीं होगा ।' – तो यहाँ हेतु ही असिद्ध होगा क्योंकि सामान्य-विशेष में तादात्म्य से भी कथंचित् अभेद की प्रतीति प्रसिद्ध है, अतः तादात्म्यशून्य स्वभावभेद रूप हेतु ही वहाँ नहीं रहेगा । यदि कहें कि – स्वभावभेद हेतुक हमारे अनुमान से सामान्य-विशेष में तादात्म्यशून्य भेद की सिद्धि होगी और उस अनुमान से सामान्य-विशेष

क्षतः प्रतीतेः । न च प्रकृतानुमानबाधनात् तत्तादात्म्यप्रतीतिर्भ्रान्तिरिति नासिद्धो हेतुः, इतरेतराश्रयदोषप्रसंगात् ।

तथाहि – प्रकृतानुमानस्य प्रवृत्तौ तन्मिथ्यात्वेन पक्षधर्मतानिश्चयः, तन्निश्चये चानुमानस्य प्रवृत्तिरिति व्यक्तमितरेतराश्रयत्वम् । प्रमाणान्तरेण तद्बाधने प्रकृतसाधनवैफल्यम्, तत एव तद्भेदसिद्धेः । 'सामान्य-विशेषयोर्भेद एव, भिन्नयोगक्षेमत्वात् हिमवद्-विन्ध्ययोरिति(व)' इत्येतदपि साधनं प्राक्प्रदर्शित साधनदोषं नातिवर्त्तते इत्ययुक्तमेव । भिन्नयोगक्षेमत्वस्य विपक्षेण साक्षादविरोधिनोऽनिश्चितव्यतिरेकस्य भेदेन व्याप्त्यसिद्धेश्च । अथाऽसाध्यस्य साधनविरुद्धैकयोगक्षेमत्वव्याप्तत्वाद् विरोधः पारम्पर्येण सिद्ध एव । भवेदेतत्

तादात्म्य साधक प्रत्यक्ष प्रतीति भ्रान्त सिद्ध होने पर हमारा तादात्म्यशून्य स्वभावभेद हेतु असिद्ध नहीं होगा' – तो यहाँ स्पष्ट ही अन्योन्याश्रय दोष प्रसक्त है ।

★ तादात्म्यशून्यस्वभावभेद पर अन्योन्याश्रय दोष ★

वह इस प्रकार : – तादात्म्यशून्य स्वभावभेदहेतुक अनुमान की प्रवृत्ति से प्रत्यक्ष प्रतीति में भ्रान्तता सिद्ध होने पर 'हेतु पक्षवृत्ति है' यह सिद्ध होगा और हेतु में पक्षवृत्तित्व सिद्ध होने के बाद अनुमान प्रवृत्त हो सकेगा – अन्योन्याश्रय स्पष्ट है ।

भेदवादी : 'सामान्य-विशेष भिन्न ही है, क्योंकि दोनों के योगक्षेम भिन्न भिन्न हैं । जैसे : हिमालय और विन्ध्याचल । हिमाचल में बारीश हो तब विन्ध्याचल में भी बारीश हो, हिमाचल में ठंड हो तब विन्ध्याचल में भी ठंड हो, हिमाचल में गर्मी हो तब विन्ध्याचल में भी गर्मी हो, ऐसा तुल्य [१]योग-क्षेम इन दोनों में न होने से, दोनों में भेद प्रसिद्ध है । इसी प्रकार सामान्यपदार्थ और विशेष पदार्थ इन दोनों के भी योगक्षेम भिन्न भिन्न हैं इसलिये इन दोनों में भी भेद ही हो सकता है ।''

भेदाभेदवादी : आप के इस अनुमान में भी पूर्वानुमान के हेतु में जैसे प्रमाणांतरबाध आदि दोष प्रदर्शित किये गये हैं वे सब यहाँ लागू होते हैं । अतः यह अनुमान भी गलत है । दूसरी बात यह है कि अभेदरूप विपक्ष के साथ भिन्न योग-क्षेमत्व का कोई साक्षात् विरोध सिद्ध नहीं है । (क्योंकि मिट्टी और घट के अभिन्न होते हुए भी घट से जलाहरण होता है, मिट्टी से नहीं होता....इत्यादि भिन्न भिन्न योगक्षेम देखा गया है) अतः विपक्षव्यावृत्ति जिस की शंकाग्रस्त है वैसे भिन्नयोगक्षेमत्व हेतु में भेद की व्याप्ति भी सिद्ध नहीं हो सकती ।

यदि ऐसा कहें कि – ''साध्यविरोधी जो अभेद है उस का व्याप्य जो तुल्य योगक्षेमत्व है वह हेतु का विरोधी है । अतः साध्यविरोधी के व्याप्य का विरोधी हेतु होने से परम्परया असाध्य (विपक्ष) का भी विरोध हेतु के साथ सिद्ध हुआ । इस प्रकार हेतु में विपक्षवृत्तित्व की शंका टल जाने से व्याप्ति सिद्ध हो जायेगी ।'' – तो यह ऐसा तभी कह सकते हैं जब व्यापक (साध्य) के विरोधी अभेद के साथ उक्त रीति से व्याप्य का विरोध सिद्ध माना जाय । देखिये – विरोध के दो प्रकार हैं उन में से, अभेद (व्यापकविरोधी) और भिन्न योगक्षेमत्व का सहानवस्थान रूप पहला विरोध नहीं है क्योंकि मिट्टी और घट की बात अभी कर आये हैं । एवं 'एक दूसरे को छोड कर रहना' यह दूसरा विरोध भी यहाँ अभेद और भिन्नयोगक्षेमत्व के बीच नहीं है

१. यहाँ अप्राप्त की प्राप्ति=योग और प्राप्त की रक्षा=क्षेम, ऐसा अर्थ नहीं लेना है; किन्तु जो बात एक के लिये वह दूसरे के लिये भी अर्थात् समान अर्थक्रिया अथवा लाभ-हानि अथवा समानरुचि इत्यादिस्वरूप योग-क्षेम की बात है । यहाँ सामान्य-विशेष में एक साथ उत्पत्ति, एक साथ विनाश इत्यादि योगक्षेम ले सकते हैं ।

यदि तत्रापि व्याप्यस्य व्यापकविरोधिना विरोधः सिध्येत्; स चाऽसिद्धः विरोधद्वयस्याप्यसिद्धेः । भिन्न-योगक्षेमस्याप्यभेदाभ्युपगमे भेदः क्वचिदपि न सिध्येदिति विश्वमेकं स्यादिति चेत् ? स्यादेतत् यद्यभ्यां भेदाभेदव्यवहारव्यवस्था भवेत्; सा तु भेदाभेदप्रतिभासवशादिति सामान्यविशेषयोरसहोत्पादविनाशेऽप्यभेदप्रतिभासादभेदो न विरुद्ध इति कथं न वस्तुभूतसामान्यसद्भावः ?

न च यदेव शाबलेयव्यक्तौ सदृशपरिणतिलक्षणं सामान्यं तदेव बाहुलेयव्यक्तावपि, व्यापकस्यैकस्य सर्वगोव्यक्त्यनुयायिनः तस्याऽनभ्युपगमात् । तदनभ्युपगमश्च शाबलेयादिव्यक्तीनां बाहुलेयादिव्यक्तिसदृशतया प्रतिभासेऽप्येकानुगतसामान्यक्रोडीकृतत्वेनाऽप्रतिभासनात् । परेणापि हि 'समाना इति तद्ग्रहात्' [प्र० वा० ३-१०७] इति ब्रुवता स्वहेतुभ्य एव केचिच्छाबलेयादिव्यक्तिविशेषाः सदृशाः उत्पन्ना इत्यभ्युपगतमेव, केवलं सदृशपरिणतिलक्षणस्तासां धर्मः कथंचिदभिन्नो वस्तुभूतोऽभ्युपगन्तव्यः, अन्यथाऽपारमार्थिक(त्वे)विजा-

क्योंकि वे एक-दूसरे के अभाव रूप नहीं है ।

यदि कहा जाय – 'जिन दोनों के योगक्षेम भिन्न भिन्न हैं उन में भी यदि भेद स्वीकार नहीं करेंगे तब तो विश्व में भेद का अस्तित्व ही लुप्त हो जायेगा, फलतः सारा विश्व ही एक हो जायेगा, क्योंकि चाहे कितना भी भिन्न योगक्षेम हो, कहीं भी भेद नहीं मानना है ।' – तो यह आपत्ति भी तब प्रमाण हो सकती जब ऐसा माना जाय कि भेद और अभेद के व्यवहार की व्यवस्था भिन्न भिन्न योगक्षेम के ऊपर निर्भर हो । वास्तव में, भेदाभेदव्यवहार की व्यवस्था भेदप्रतिभास और अभेदप्रतिभास पर निर्भर है न कि भिन्न योगक्षेम के ऊपर । अतः सामान्य और विशेष में, एक साथ उत्पत्ति, एक साथ विनाश इत्यादि समान योगक्षेम के न होने पर भी दोनों का अभेदप्रतिभास विख्यात है इसलिये उन दोनों में अभेद मानने में कोई विरोध नहीं है । जब इस प्रकार वस्तु विशेष से कथंचिद् अभिन्न ऐसे सामान्य की सिद्धि निर्बाध होती है तब सामान्य को वस्तुभूत क्यों न माना जाय ?!

★ व्यापक एक सर्वव्यक्तिनिष्ठ सामान्य अमान्य ★

अपोहवादीने एक व्यापक सामान्य की मान्यता में जो बाधक दिखलाये हैं वे भी स्याद्वाद में निरवकाश हैं । कारण शाबलेयादि पिण्डों में जो सदृशपरिणतिरूप सामान्य है वही बाहुलेयादि पिण्डों में हो ऐसा हम नहीं मानते हैं । हम नैयायिकों की तरह सकल गाय में रहने वाले व्यापक एक गोत्वादि रूप सामान्य को नहीं मानते हैं । नहीं मानने का कारण यह है कि शाबलेयादि पिण्डों में बाहुलेयादि पिण्डों का सादृश्य भासित होने पर भी एक ही अनुगत गोत्वादि सामान्य के द्वारा सकल गोव्यक्तियाँ आक्रान्त हों ऐसा प्रतिभास नहीं होता है । [हमारे मत में तो सदृशाकार परिणतिरूप सामान्य तद् तद् व्यक्तिगत पृथक् पृथक् परिणामरूप ही होता है लेकिन वह परिणाम दोनों व्यक्ति की तरह अन्य सापेक्ष होने के कारण समानाकार बुद्धि को जन्म देता है ।] अन्य वादियोंने भी "ये सब पिण्ड समान हैं इस तरह बुद्धि होती है" ऐसा कहते हुये यह तो स्वीकार किया है कि कुछ शाबलेय-बाहुलेयादि पिण्ड अपने अपने हेतुओं से सदृशरूपवाले ही उत्पन्न होते हैं । फिर इतना अधिक स्वीकार [illegible] कि शाबलेयादि पिण्डों का वह सदृशपरिणामात्मक धर्म उन पिण्डों से कथंचिद् अभिन्न है और वस्तुभूत है । यह नहीं [illegible] कि यह [illegible] बुद्धि [illegible] है [illegible] है वैसे ही [illegible] भी [illegible] ही होते हैं, इस स्थिति में [illegible]

तीयव्यावृत्तिनिबन्धन(त्वे)सादृश्यपरिणतेः सजातीयव्यावृत्तिनिबन्धनस्याप्यत्यन्तभिन्नरूपस्याऽपारमार्थिकत्वात् तत्परिणतिव्यतिरेकेण चापररस्य स्वलक्षणस्याऽसंभवात् तदाकारज्ञानस्वलक्षणस्याप्यभाव इति सर्वशून्यताप्रसक्तिः । न च 'सैवाऽस्तु' इति वक्तुं युक्तम्, अप्रामाणिकयास्तस्या अप्यनभ्युपगमनीयत्वात् । तस्मात् समानाऽसमानपरिणामात्मनः शाबलेयादिवस्तुनोऽबाधिताकारप्रत्यक्षप्रतिपत्तौ प्रतिभासनाद् विशेषवद् न सामान्याभावः ।

एतेन – [प्र० वा० ३/१८२ उत्तरार्ध – १८३-१८४ पू०]

''सर्वस्योभयरूपत्वे तद्विशेषनिराकृतः ।

चोदितो दधि खादेति किमुष्ट्रं नाभिधावति ?। अथास्त्यतिशयः कश्चिद् येन भेदेन वर्त्तते ॥

स एव दधि सोऽन्यत्र नास्तीत्यनुभयं परम् ।

इत्यादि यदुक्तं धर्मकीर्त्तिना, तदपि पराकृतं द्रष्टव्यम् । न ह्यस्माभिर्दध्युष्ट्रयोरेकं तिर्यक् सामान्यं वस्तुत्वादिकं व्यक्त्यभेदेन व्यवस्थितं तथाभूतप्रतिभासाभावादभ्युपगम्यते, यादृग्भूतं तु प्रतिव्यक्ति 'स-

---

अपारमार्थिक होता है (अर्थात् विजातीय व्यावृत्ति का निमित्त बनने वाला सादृश्य अपारमार्थिक है) ऐसा अगर मानेंगे तब सजातीय व्यावृत्ति प्रयोजक जो अत्यन्त भेदात्मक (यानी व्यक्तिविशेष) रूप है उस को भी क्यों अपारमार्थिक न माना जाय ? यदि इस को भी अपारमार्थिक मानेंगे तब तो स्वलक्षण पदार्थ अत्यन्तभेद परिणाम से पृथक् तत्त्व रूप न होने से स्वलक्षण भी अपारमार्थिक हो जायेगा, एवं बाह्य स्वलक्षणाकार ज्ञानात्मक स्वलक्षण भी अपारमार्थिक हो जाने से आखिर सर्वशून्यता सीर उठायेगी । 'उठाने दो, क्या गया ?' ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि सर्वशून्यता का समर्थक कोई प्रमाण न होने से वह मानने योग्य नहीं हैं ।

निष्कर्ष : - समान एवं असमान, उभयपरिणात्मात्मक शाबलेयादि वस्तु अबाधिताकार से प्रत्यक्ष अनुभूति का विषय हो रही है तब सिर्फ विशेष का ही स्वीकार करे यह उचित नहीं है, विशेष का अभाव जैसे अमान्य है वैसे ही सामान्य का भी अभाव मान्य नहीं हो सकता ।

★ सर्व वस्तु की उभयरूपता के ऊपर आक्षेप का प्रतिकार ★

धर्मकीर्त्ति ने अपने प्रमाणवार्त्तिक में, वस्तु की उभयरूपता के ऊपर जो आक्षेप किया है – ''समस्त वस्तु यदि उभयरूप है और 'दधि ही दधि है न कि ऊँट' एवं 'ऊँट ही ऊँट है न कि दधि' इस प्रकार के भेद को यदि अमान्य करते हैं तब 'दहीं खाओ' ऐसा सुनने वाला ऊँट को खाने के लिये क्यों दौडता नहीं (जब कि आप के मत में दधि उभयरूप है यानी ऊँट स्वरूप भी है) ।'' यदि कहें कि – ''ऊँट में दधि की अपेक्षा कुछ ऐसा अतिशय है जिस से प्रेरित हो कर श्रोता 'ऊँट शब्द से ही ऊँट के लिये प्रवृत्ति' इत्यादि प्रतिनियत रूप से प्रवृत्त होता है'' – तब तो वही दधिस्वरूप विशेष अन्यत्र ऊँट में न होने से वस्तु उभयस्वरूप नहीं है यह सिद्ध हुआ ।'' – यह धर्मकीर्त्ति का आक्षेप निरस्त हो जाता है । कारण, हम सामान्यविशेष उभयस्वरूप वस्तु मानते हैं उस में जो सामान्य है वह दधि और ऊँट दानों में रहने वाला और उन दोनों व्यक्तियों से अभिन्न एवं एक ही हो ऐसा कोई वस्तुत्वादिरूप तिर्यक् सामान्य हमने नहीं माना है, क्योंकि वैसे उभयनिष्ठ एक सामान्य का प्रतिभास होता नहीं है । हम तो 'ये सब समान हैं' ऐसी प्रतीति के आधार पर उस के विषयरूप में सिद्ध होने वाले ऐसे सामान्य को स्वीकार करते हैं जो दधि उष्ट्र आदि प्रत्येक व्यक्तियों में भिन्न

मानाः' इति प्रत्ययविषयभूतमभ्युपगम्यते तथाभूतस्य तस्य शब्देनाभिधाने त्रिशित्यन्यत्र प्रेरितोऽन्यत्र खा-दनाय धावेत यदुन्मत्तो न स्यात् ।

अत एव – ''वर्णाकृत्यक्षराकारशून्यं गोत्वं हि गीयते'' [द्र० प्र०वा० २-१४७ तत्त्वसं०का० ७३८ उ० तथा अपोहसि० प्र० पृ० १२- पं० ५] न च निर्विकल्पकेऽक्षप्रभवे प्रत्यक्षे पुरःस्थ-वस्थितव्यक्तिद्वयप्रतिभासव्यतिरेकेण परो यथाव्यावर्णितस्वरूपः सामान्याकारः प्रतिभाति, नाऽपि सवि-कल्पके 'गौर्गौः' इत्युल्लेखवति व्यक्तिस्वरूपं बहिरुद्धारसमानमन्तश्चाभिजल्पाकारमपहायान्यः सामान्यात्मा यथाव्यावर्णितस्वरूपः प्रतिभाति, न चान्यावभासमन्याकारार्थव्यवस्थापकं ज्ञानं तद् भवति अतिप्रसङ्गात् – इत्येतदपि निरस्तम्; अवर्णाकृत्याद्याकारव्यतिरेकेण सादृश्यपरिणामात्मनः सामान्यस्याक्षजप्रतिप-त्तिविषयस्य व्यक्त्यात्मतया दाहाद्यर्थक्रियाकारिणोऽभ्युपगमात् ।

न च शाबलेयादेः सादृश्यं बाहुलेयाद्यपेक्षमिति तदप्रतीतौ तदपेक्षस्य तस्याप्यप्रतिपत्तिरिति वक्तुं

भिन्न होता है । फलतः 'दधि' शब्द से ऊँट से व्यावृत्त दधि में रहने वाले ही सामान्य का बोध होने से श्रोता दधिग्रहण के लिये ही प्रेरित होता है फिर ऊँट के लिये दौडने की बात ही कैसे ? हाँ, पागल की बात अलग है ।

इस के साथ यह भी निरस्त हो जाता है जो प्रमाणवार्तिक में वर्णाकृति०....इत्यादि से कहा है – ''गोत्वरूप सामान्य 'वर्ण(=रूप), संस्थान और ग-औ-विसर्ग इत्यादि अक्षरों की मुद्रा' से शून्य है । इन्द्रियजन्य निर्विकल्पप्रत्यक्ष में संमुखवर्त्ती प्रतिनियत दो गाय व्यक्ति का ही अवभास होता है, किन्तु उस गोव्यक्तिद्वय के अलावा वर्णादिशून्य उन दोनों में वर्तमान किसी सामान्याकार का भास नहीं होता । सविकल्प प्रत्यक्ष में भी बाह्यरूप से स्फुरद् आकार आन्तर रूप से अभिजल्पाकार व्यक्तिस्वरूप का ही 'यह गौ है गौ है' इतना उल्लेख होता है किन्तु इस से अधिक अनेक व्यक्ति में अनुगत, वर्णादिआकारशून्य ऐसे किसी एक सामान्याकार भासित नहीं होता है । एक आकार वाले ज्ञान से अन्याकार अर्थ की व्यवस्था होना शक्य नहीं है, अन्यथा अश्वाकार ज्ञान से गर्दभाकार अर्थ की प्रतिष्ठा का प्रारम्भ हो जाने का अतिप्रसंग आयेगा ।'' – यह इस लिये अब निरस्त हो जाता है कि हम वैसे सामान्य का स्वीकार नहीं करते, किन्तु वर्णादिआकार से मुद्रित व्यक्ति से अभिन्न होने के कारण दाह-पाकादि अर्थक्रियाकारी एवं इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष में भासमान ऐसे सादृश्य परिणतिस्वरूप सामान्य को ही हमने अंगीकार किया है ।

★ सादृश्य दृष्टिगोचर न होने के आक्षेप का उत्तर ★

सादृश्य के विरोध में प्रतिवादी यदि ऐसा कहे – 'शाबलेयादि पिण्डों में जो बाहुलेयादि पिण्डों के सादृश्य आपने माना है वह बाहुलेयादि के सापेक्ष होने से, बाहुलेयादि दृष्टिबाह्य होने पर, शाबलेयादि में उस का सादृश्य भी दृष्टिगोचर नहीं होगा' – तो ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि आपने जो शाबलेयादि में [illegible] का [illegible] (आकृति के रूप में) स्वीकृत किया है वह भी [illegible] वस्तु के सापेक्ष [illegible] होने से, [illegible] वस्तु के दृष्टि बाहर रहने पर दृष्टिगत नहीं हो सकेगा – दोनों पक्ष में यह बात समान है । यदि ऐसा कहा जाय कि – '[illegible] ही आकृति, शाबलेयादि [illegible] ही होने से अतः शाबलेयादि दृष्टिगोचर होने पर वह आकृति भी दृष्टिगोचर बन जायेगी, [illegible]

शक्यम् अशेषपदार्थवैलक्षण्यप्रतिपत्तावप्यस्य समानत्वात् । न च सर्वतो व्यावृत्तिः व्यावृत्तपदार्थस्वरूपमेवेति तत्प्रतिपत्तौ साऽपि प्रतीयते व्यावृत्त्या(वर्त्त्या)र्थप्रतिपत्तिमन्तरेणापीति वक्तव्यम् सादृश्यप्रतिपत्तावप्यस्य समानत्वात् ।

अथ सजातीयविजातीयव्यावृत्तं निरंशं वस्तु तत्सामर्थ्यभाविनि च प्रत्यक्षे तत् तथैव प्रतिभाति, तदुत्तरकालभाविनस्त्ववस्तुसंस्पर्शिनो विकल्पाः व्यावर्त्यवस्तुवशविभिन्नव्यावृत्तिनिबन्धनान् सामान्यभेदान् व्यावृत्ते वस्तुन्युपकल्पयन्तः समुपजायन्ते न तद्वशात् तद्व्यवस्था युक्ता, अतिप्रसङ्गात् । तदुक्तम् – [प्र० वा० ३ । ४०-४१]

"सर्वे भावाः स्वभावेन । स्वस्वभावव्यवस्थितेः । स्वभाव-परभावाभ्यां यस्माद् व्यावृत्तिभागिनः ॥"

"तस्माद् यतो यतोऽर्थानां व्यावृत्तिस्तन्निबन्धनाः । जातिभेदाः प्रकल्प्यन्ते तद्विशेषावगाहिनः ॥"

– इत्यादि ।

ननु 'स्व-स्वभावव्यवस्थितेः' इत्येतस्य हेतोः स्वसाध्येन व्याप्तिः किं प्रत्यक्षेण प्रतीयते, आहोस्विदनुमानेन ? न तावदनुमानेन, प्रत्यक्षाऽविषयत्वेन सर्वभावानां धर्मिणोऽसिद्धेस्तदनुत्थानात् व्याप्ति-

---

– तो यह बात समानरूप से सादृश्य के लिये भी समझ लो कि बाहुलेयादि सापेक्ष सादृश्य शाबलेयादिपिण्डस्वरूप ही होता है अतः शाबलेयादि के दृष्टिगोचर होने पर वह सादृश्य भी दृष्टिगोचर हो जाता है, भले ही वहाँ बाहुलेयादि का ग्रहण न होता हो ।

★ स्वलक्षण सर्वसजातीयविजातीयों से व्यावृत्त कैसे ? ★

बौद्ध : अश्वादि स्वलक्षण वस्तु स्वयं निरंश होती है और अत एव सर्वसजातीय-विजातीय पदार्थों से व्यावृत्त (विलक्षण) होती है । ऐसा इस लिये कि उस के आलम्बन से उत्पन्न होने वाले निर्विकल्पप्रत्यक्ष में उस का ऐसा ही भान होता है । निर्विकल्प के उत्तर काल में जो विकल्पज्ञान उत्पन्न होते हैं ये विकल्प, व्यावृत्त अश्वादि वस्तु में व्यावर्त्त्य अश्व-बैलादि वस्तु के भेद से भिन्न भिन्न जो अश्वेतरादिव्यावृत्तियाँ हैं तन्मूलक भिन्न भिन्न सामान्य, व्यावृत्त वस्तु में होने की कल्पना जाग्रत करते हैं, किन्तु उन के सामर्थ्य से सामान्य की स्थापना युक्त नहीं होती क्योंकि कल्पनाविहारी होने के कारण ये विकल्पज्ञान वस्तुस्पर्शी नहीं होते हैं । यदि कल्पनात्मक विकल्प से वस्तुसिद्धि मानी जाय तब तो 'खरविषाण' शब्दजन्य विकल्प से खरविषाण की भी सिद्धि होने का अतिप्रसंग हो सकता है । प्रमाणवार्त्तिक में कहा है –

"सभी भाव स्वभाव से ही अपने अपने स्वरूप से व्यवस्थित होने के कारण वे सब स्वभाव (= यानी सजातीय) और परभाव (यानी विजातीय) पदार्थों से व्यावृत्ति वाले (अत्यन्त भेदधारी) ही होते हैं । (किसी अन्य भाव से मिश्रस्वभाव नहीं होते ।) इसीलिये जिन जिन अतद्रूप पदार्थों से उन अर्थों की व्यावृत्ति होती है उन व्यावृत्तियों के बल पर तत् तत् स्वलक्षण के आश्रित के रूप मे कल्पित जातिभेदों की कल्पना विकल्पों से स्थापित होती है । " इत्यादि ।

स्याद्वादी :- आपने जो सजातीय विजातीय व्यावृत्ति को दिखाने के लिये 'अपने अपने स्वरूप से व्यवस्थित होने के कारण' यह हेतु निर्देश किया है – यहाँ प्रश्न यह है कि सर्वभावों में, स्वस्वभावव्यवस्थिति हेतु में अपने साध्यभूत सजातीयविजातीयव्यावृत्ति की व्याप्ति को आपने कैसे गृहीत किया ? प्रत्यक्ष से या अनुमान से ? अनुमान से तो सम्भव नहीं है क्योंकि सभी भाव प्रत्यक्ष के विषय होते नहीं है तब जिन सर्वभावों में उपरोक्त

प्रसिद्धौ चानुमानं प्रवर्त्तते । न च साध्य-साधनयोः सर्वोपसंहारेण व्याप्तिरन्यतःऽनुमानात् सिध्यति, तत्राप्यनुमानान्तरापेक्षणेनानवस्थाप्रसक्तेः । नाऽपि प्रत्यक्षेण, तस्य सन्निहितविषयग्राहकत्वेन देशादिविप्रकृष्टाशेषपदार्थालम्बनत्वानुपपत्तेः ।

अथ पुरोऽवस्थितेषु भावेष्वक्षजप्रत्ययेन 'स्वस्वभावव्यवस्थितेः' इत्यस्य हेतोः सर्वोपसंहारेण भेदेन व्याप्तिं प्रतिपद्यत इति प्रत्यक्षव्यापार एवायम् । असदेतत्, यतो यत्रैव स्वव्यापारानुसारिणमनन्तरं विकल्पमाविर्भावयत्यध्यक्षं तत्रैवास्य प्रामाण्यं भवद्भिरभ्युपगम्यते, सर्वतो व्यावृत्तात्मनि त न (न त)द्बलात् तदुत्पत्तिः, सर्वदा अनुवृत्त-व्यावृत्ताकारावसायिन एव तस्योत्पत्तेः । अन्यथा 'सजातीयाद् भेदः' इत्यभिधानानर्थक्यापत्तेः, क्षणक्षयानुमानस्य च वैयर्थ्यम् अक्षणिकादिव्यावृत्तेः स्वलक्षणानुभवप्रभवविकल्पे-

व्याप्ति का अनुमान करना है उसका धर्मभूत सर्वभाव ही सिद्ध न होने से उस अनुमान का उत्थान ही शक्य नहीं है । और अनुमान प्रवृत्ति तो व्याप्ति सिद्ध होने पर ही हो सकेगी । यदि कहें कि - 'जिस व्याप्ति के अग्रहण से उपरोक्त अनुमान की प्रवृत्ति का अभाव आप दिखा रहे हैं उस व्याप्ति का, यानी सर्व व्यक्ति को विषय करते हुये उन में साधन-साध्य की व्याप्ति का ग्रहण अन्यअनुमान से करेंगे' – तो यहाँ अनवस्था दोष होगा क्योंकि उस अन्य अनुमान की भी बिना व्याप्ति के प्रवृत्ति न होने से, उसकी प्रवृत्ति के लिये आवश्यक व्याप्तिग्रह के लिये और एक अनुमान करना होगा, उस के लिये भी और एक अनुमान.....इस प्रकार अन्तहीन परम्परा चलेगी । यदि कहें कि – 'पूर्वोक्त व्याप्ति का ग्रहण प्रत्यक्ष से कर लेंगे' तो यह भी शक्य नहीं है क्योंकि प्रत्यक्ष तो सन्निहित भावों का ही ग्राहक होता है अतः देश-काल व्यवहित सर्वभाव उस के विषय ही नहीं होते ।

★ भेद के साथ व्याप्ति का प्रत्यक्ष से ग्रहण अशक्य ★

यदि बौद्ध ऐसा कहें कि – 'सर्वभाव तो यद्यपि प्रत्यक्षालम्बन नहीं होते किन्तु जितने भाव सन्मुख उपस्थित होते हैं उन में तो 'स्वस्वभावव्यवस्थिति' रूप हेतु की भेद (सजातीय-विजातीय व्यावृत्ति) के साथ व्याप्ति का ग्रह हो सकता है, और उस भेद के गर्भ में सर्व पदार्थ रहे हुये हैं इस लिये सब को लेकर भेद के साथ व्याप्ति ग्रह होगा – इस प्रकार प्रत्यक्ष से ही व्याप्तिग्रह सिद्ध होता है ।' – तो यह गलत बात है । कारण, निर्विकल्पक प्रत्यक्ष आप के मत में उसी विषय में प्रमाणित होता है जिस विषय को निर्विकल्पव्यापार से जनित सविकल्प ज्ञान स्पर्श करता है । अब देखना यह है कि सविकल्प ज्ञान तो सर्वदा अनुवृत्त-व्यावृत्ताकार प्रकाशन करता हुआ ही उत्पन्न होता है, सर्वतो व्यावृत्ति का प्रकाशन वह नहीं करता है तब कैसे कहा जाय कि निर्विकल्प प्रत्यक्ष से सर्वतो व्यावृत्ति गृहीत होती है ? यदि आप इस बात का इन्कार करेंगे कि सविकल्प ज्ञान अनुवृत्तव्यावृत्ताकारप्रकाशक नहीं होता है – तब शास्त्रनिर्दिष्टानुसार 'सजातीय से भेद' ऐसे शब्दप्रयोग की भी संगति नहीं हो सकेगी । क्योंकि 'सजातीय' शब्द अनुवृत्ताकारविशिष्ट का संकेत करता है और भेद-शब्द व्यावृत्ति का, और आप तो इस प्रत्यक्ष का विषय सिर्फ व्यावृत्ति को दिखलाना चाहते हैं, जब कि दूसरी ओर 'सजातीय (विजातीय) व्यावृत्ति' ऐसे शब्दप्रयोग से सजातीयव्यावृत्ति को मान्य [illegible] कर रहे हैं । दूसरी बात यह है कि अगर निर्विकल्प से उत्पन्न होने वाला सविकल्पज्ञान सिर्फ व्यावृत्ति को प्रकाशित कर सकता है, तब तो क्षणिकत्व का अनुमान भी व्यर्थ हो जायेगा, क्योंकि अक्षणिक व्यावृत्ति भी स्वलक्षण के अनुभव से उत्पन्न सविकल्प से सिद्ध है क्योंकि

नाध्यवसायात्, स्वलक्षणविषयत्वं च विकल्पानां सर्वतो व्यावृत्ताकाराध्यवसायिनां प्रसज्यते । तथाहि – इदमेव स्वलक्षणगोचरत्वमध्यक्षस्य यत् तस्य नियतरूपानुकरणम् सर्वतो व्यावृत्ताकारग्राहिणां विकल्पानामपि चेद् इदमस्ति, कथं स्वलक्षणविषयत्वम् ?

अथाऽविशदावभासित्वादस्याऽस्वलक्षणविषयत्वम् । ननु दूरव्यवस्थितपादपादिस्वरूपग्राह्यध्यक्षमप्यविशदावभासमिति स्वलक्षणविषयत्वं तस्यापि न स्यात् । अथाऽयथार्थाकारग्राहिणस्तस्य भ्रान्तत्वादिष्टमेवाऽस्वलक्षणविषयत्वम् । न, तस्य प्रमाणान्तरत्वप्रसक्तेः । तथाहि – अनधिगतार्थाधिगमाऽविसंवादाभ्यां तस्य प्रामाण्यम्, न च प्रत्यक्षत्वम् भ्रान्तत्वाभ्युपगमात् । नाप्यनुमानत्वम् अलिङ्गजत्वात् । प्रत्यक्षानुमानव्यतिरिक्तस्य चापरस्य प्रमाणस्याऽनिष्टेः कथं नास्य प्रमाणान्तरत्वम् ? न च विकल्पः येनाधिगतार्थाधिगमादप्रमाणम् विकल्पकारणमन्तरेणापि वाह्यार्थसंनिधिवलेनोपजायमानत्वात् । न चाध्यक्षविषयीकृतस्वलक्षणाध्यवसायित्वादस्याऽप्रामाण्यम्, तथाभ्युपगमेऽध्यक्षेक्षितशब्दविषये क्षणक्षयानुमानस्याप्यप्रा-

---

और निर्विकल्पप्रकाशित विषय को विकल्प प्रत्यक्ष प्रमाणित करता है अतः निर्विकल्प प्रत्यक्ष ही अक्षणिकव्यावृत्ति के रूप में क्षणिकत्व का ग्राहक हो जायेगा, फिर क्षणिकत्व के लिये अनुमान की जरूरत नहीं रहेगी । उपरांत, वौद्ध तो सविकल्पज्ञान को सामान्यलक्षण पदार्थग्राही मानता है, अव तो सर्वतो व्यावृत्ति का अध्यवसायी होने के कारण विकल्प को निर्विकल्प के समान ही स्वलक्षणग्राही मानना पडेगा । ऐसा इस लिये कि निर्विकल्प का स्वलक्षणविषयत्व यही है कि स्वलक्षण को नियत = व्यावृतरूप से ग्रहण करना । सर्वतो व्यावृत्ताकारग्राही विकल्प भी ऐसा ही है, तव वह स्वलक्षणसमान विषयग्राही क्यों न होगा ?

★ अविशद अवभास में स्वलक्षणविषयत्वनिषेध अशक्य ★

यदि यह कहें कि – 'सर्वतो व्यावृत्ताकार का ग्राहक विकल्प है किन्तु वह निर्विकल्प की तरह स्पष्टावभासी नहीं है अतः वह स्वलक्षणविषयक बन जाने की आपति नहीं होगी ।' – तो इस पर भी यह आपत्ति आयेगी कि दूर रहे हुए वृक्षादि स्वलक्षण के स्वरूप का ग्रह करने वाला जो निर्विकल्प है वह भी दूरत्व के कारण स्पष्टावभासी न होने से उस का स्वलक्षणविषयत्व लुप्त हो जायेगा । यदि ऐसा कहें – 'दूर रहे हुए वृक्षादि को ग्रहण करने वाला ज्ञान यथार्थआकारग्राही न होने से (आम्र-निम्वादि वृक्ष का जो यथार्थआकार है उस का ग्राहक न होते हुये सिर्फ वृक्षाकारग्राही होने से) हम उसे भ्रान्त मानते हैं । अतः उस में आम्रादिस्वलक्षणविषयता का लोप इष्टापत्ति है ।' – तो यह ठीक नहीं है चूँकि ऐसा मानने पर उस ज्ञान को एक स्वतन्त्र प्रमाण मानने की आपत्ति आयेगी । (वौद्ध मत में अनुमान यद्यपि सामान्यग्राही होने से भ्रान्त ही होता है किन्तु परम्परया अर्थप्रापक होने से या समारोपव्यवच्छेदक होने से उसे प्रमाण माना जाता है, इस तरह के स्वतन्त्र प्रमाण की यहाँ आपत्ति है ।) दूरस्थवृक्षादि का ज्ञान पूर्व में अज्ञात अर्थ का ग्राहक होने से, और निकट जाने पर वृक्षप्राप्ति स्वरूप अविसंवाद होने से (भ्रान्त होने पर भी अनुमान की भाँति उपचार से उस में) प्रामाण्य का स्वीकार करना ही पडेगा । किन्तु आप इसे भ्रान्त मानते हैं, इसलिये उसे (निर्विकल्प) प्रत्यक्ष रूप तो नहीं मान सकते (क्योंकि 'कल्पनापोढमभ्रान्तं प्रत्यक्षं' यह आप का सिद्धान्त है ।)

दूरस्थवृक्षज्ञान लिंगजन्य न होने से, उसे अनुमान स्वरूप भी नहीं मान सकते । प्रत्यक्ष और अनुमान के अलावा और तो कोई आप के मत में उपमान या शब्द प्रमाण मान्य नहीं है जिस में इस का अन्तर्भाव

माण्यप्रसक्तेः । अथाऽनिश्चितार्थाध्यवसायादनुमानस्यानधिगतार्थाधिगन्तृत्वात् प्रामाण्यम्, निश्चितो ह्यध्यक्षविषयः, क्षणक्षयस्य चाऽनिश्चयादध्यक्षतो न तद्विषयत्वम् । नन्वेवमध्यक्षानुसारिविकल्पस्याप्यनिश्चितार्थाध्यवसायित्वात् क्षणक्षयानुमानवत् प्रामाण्यप्रसक्तिः ।

अपि च, विकल्पाऽनुमानविषयार्थयोः समः विषमो वा प्रतिभासोऽभ्युपगम्येत ? यदि विषमः कथमसदृशप्रतिभासयोस्तयोरभेदः ? अभिन्नाकारावभासि च कथं शब्दस्य रूपम् ? अथ समः, विकल्पेषु को विद्वेषः तानविषयीकुर्वतः । अथ यत्रांशे निश्चयोत्पादनसमर्थं प्रत्यक्षं तत्र प्रतिभासाऽविशेषेऽपि प्रत्यक्षगृहीतांशग्राहितया विकल्पो न प्रमाणम् अनुमानं त्वगृहीतार्थाधिगन्तृत्वात् प्रमाणम्, तद्विषयेऽर्थेऽध्यक्षस्य निश्चयोत्पादनाऽसामर्थ्यात् । ननु कथमेकमनुभवज्ञानं स्वार्थे निश्चयोत्पत्तौ समर्थमसमर्थं चोपपद्यते विरोधात्, एकत्राकाराऽविशेषाच्च ? न चाविशेषेऽपि तस्यैकत्र सामर्थ्यमेवाऽपरत्राऽसामर्थ्यम्, परेण संनिकर्षेऽप्येवं

हो सके । फलतः क्यों इस को स्वतन्त्र प्रमाण न माना जाय ? ''यह तो विकल्परूप है और विकल्प तो गृहीतग्राही होने से प्रमाण ही नहीं होता'' – ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि विकल्प का कारण निर्विकल्प प्रत्यक्ष होता है, जब कि यह तो उस के बिना ही साक्षात् बाह्यार्थ के संनिधान(= संनिकर्ष) रूप बल पर खड़ा हुआ है । (अगर आप को यहाँ पहले दूरस्थ वृक्ष का निर्विकल्प प्रत्यक्ष मान्य है तब तो विवाद ही समाप्त हो जाता है और अस्पष्टावभासी होने से उसमें स्वलक्षणविषयता के लोप की आपत्ति ज्यों की त्यों रहेगी ।) यदि यह कहा जाय कि – ''यद्यपि दूरस्थवृक्षज्ञान प्रत्यक्षपूर्वक नहीं है तथापि पहले कभी वह वृक्ष स्वलक्षण अध्यक्ष से गृहीत रहा है और अब दूर से उस का अध्यवसाय किया जा रहा है, अतः गृहीताध्यवसायी होने से वह अप्रमाण हो जाने की आपत्ति आयेगी क्योंकि शब्द भी अध्यक्ष का विषय पहले हो जाने पर बाद में वहीं अनुमान की प्रवृत्ति होती है अतः वह भी गृहीतग्राही ही है । यदि ऐसा कहें कि – 'प्रत्यक्ष का शब्दात्मक विषय अध्यक्ष से निश्चित है किन्तु उस की क्षणिकता निश्चित नहीं है अतः अगृहीत क्षणिकत्व का ग्राहक अनुमान अप्रमाण नहीं बनेगा ।' – ऐसा कहने पर तो क्षणिकत्व के अनुमान की तरह प्रत्यक्षपूर्वक होने वाला विकल्प भी प्रमाण बन जायेगा, क्योंकि उस का भी सामान्यलक्षण विषय अध्यक्षनिश्चित नहीं होता है अतः विकल्प भी अगृहीतार्थाध्यवसायी ही है ।

★ विकल्प में प्रामाण्य दुर्निवार ★

यह भी विचारने जैसा है कि विकल्पविषयभूत अर्थ और अनुमानविषयभूत अर्थ, दोनों का प्रतिभास सम होता है या विषम होने का मानते हैं ? विषम मानते हैं तब प्रतिभास असदृश होने हुए उन दोनों को समानविषयक यानी सामान्यविषयक कैसे माना जा सकता है ? और शब्द का स्वरूप भी अन्यापोहात्मक सामान्यलक्षणरूपी के बजाय अनुमान में विषम यानी भिन्नाकार अवभासी कैसे हो सकता है ? यदि दोनों का प्रतिभास सम होने का मानते हैं तब अनुमान की तरह विकल्पों को भी प्रमाणरूप [illegible] मानने के बदले उन को [illegible] से [illegible] क्यों कर रहे हैं – क्या विद्वेष है आप को विकल्पों के ऊपर ? (विषय = प्रमाणरूप) ।

यदि कहें – "प्रत्यक्ष जिस अंश का निश्चय उत्पन्न करने में समर्थ है उस अंश का प्रतिभास यद्यपि [illegible] नहीं है फिर भी विकल्प तो प्रत्यक्ष से गृहीत उस अंश का ग्राहक होता है इस लिये वह अप्रमाण है । जब कि अनुमान तो प्रत्यक्ष से अगृहीत अर्थ का ग्राहक होता है; इसलिये वह प्रमाण है, यहाँ अर्थ प्रत्यक्ष

वक्तुं शक्यत्वात् । तथाहि – सर्वात्मनेन्द्रियार्थसंनिकर्षवादिनाऽपि शक्यमेवं वक्तुम् – संनिकर्षस्याऽविशेषेऽपि सर्वात्मना न भावस्य ग्रहणम् क्वचिदेवांशे सामर्थ्यात् एकत्र सामर्थ्यमेवान्यत्राऽसामर्थ्यमिति ।

न च समारोपव्यवच्छेदकत्वेनानुमानस्य प्रामाण्यम् न पुनः प्रत्यक्षपृथग्(?ष्ठ)भाविनो विकल्पस्येति वक्तुं युक्तम्; तस्य तद्व्यवच्छेदकत्वानुपपत्तेः । तथाहि – क्षणिकेऽक्षणिकज्ञानं समारोपः, तच्चानुमानप्रवृत्तेः प्रागिव पश्चादप्यविकलमिति कथं तथापि तस्य प्रामाण्यम् ? 'पश्चादस्खलत्प्रवृत्तेः समारोपस्याऽप्रवृत्तेरस्त्येव तद्वैकल्यमिति चेत् ? न, तदा स्खलद्वृत्तेरक्षणिकप्रत्ययात् स्वपुत्रादौ प्रवृत्तिर्न स्यात् । समारोपप्रतिषेधश्चाभावत्वेनाहेतुकः स कथमनुमानेनान्येन वा क्रियते ज्ञाप्यते वा, अभावेन सह कस्यचित् सम्बन्धाभावात् तस्य तथाऽप्रतिपत्तेश्च ? अथ प्रवृत्तसमारोपस्य स्वत एवाभावात् अनुमानात् क्षणिकत्वनिश्चये भाविनश्चाऽ-

से अगृहीत इसलिये रहता है कि पर्वत के पृष्ठभाग में रहे हुवे अग्नि आदि के साक्षात्कार में प्रत्यक्ष सक्षम नहीं है।'' – तो यहाँ और एक प्रश्न है कि एक ही अनुभव ज्ञान अपने अर्थ के रूप-रसादि अंशके निश्चय को उत्पन्न करने के लिये सक्षम भी है और क्षणिकत्वादि अंश के निश्चय में अशक्त भी है। यहाँ स्पष्ट ही विरोध है तब ऐसा कैसे हो सकता है ? अगर ऐसा मानेंगे तो विरोध तो है ही, उपरांत एक अर्थ में तो आकारभेद भी नहीं होता है अतः आकारभेद से विरोध को टाल भी नहीं सकते । कुछ भी विशेषता न होने के बावजुद एक अनुभवज्ञान को एक के प्रति सक्षम और अन्य के प्रति अशक्त मानेंगे तो दूसरा वादी संनिकर्ष के लिये भी यह कह सकता है । जैसे इन्द्रिय का वस्तु के साथ सर्वात्मना संनिकर्ष मानने वाला वादी ऐसा कह सकेगा कि संनिकर्ष सर्वात्मना होने में कोई विशेष न होने पर भी भाव का सर्वात्मना ग्रहण नहीं होता है क्योंकि संनिकर्ष का ऐसा ही स्वरूप है कि कुछ एक अंश के ग्रहण में ही सक्षम होता है, और कुछ एक अंश के ग्रहण का सामर्थ्य स्वभाव ही अन्य अंशो के ग्रहण का असामर्थ्य है । इसलिये स्वभावभेद भी प्रसक्त नहीं है ।

☆ अनुमान से समारोपव्यवच्छेद की अनुपपत्ति ☆

यदि कहें कि – 'अनुमान समारोपव्यवच्छेदक होने से प्रमाण होता है । पर्वत में अनग्निसमारोप का अग्नि अनुमान से व्यवच्छेद होता है । प्रत्यक्ष के अनंतर होने वाला विकल्प तो प्रत्यक्षगृहीत अर्थ को ही नाम-जात्यादि से योजित कर के ग्रहण करता है, किसी भी समारोप का विच्छेदक नहीं होता, अतः वह प्रमाण नहीं माना जाता ।' – तो यह भी बोलने जैसा नहीं, क्योंकि अनुमान में समारोप की व्यवच्छेदकता ही युक्ति से संगत नहीं होती । देखो – समारोप यानी क्षणिक में अक्षणिकत्व का भान होना । क्षणिकत्वानुमान के उदय के पहले जैसे वह भान होता आया है वैसे ही उस अनुमान के बाद भी वस्तु को देखने पर अक्षणिकत्व यानी स्थायिपन का पूर्ववत् ही ज्ञान होता रहता है । तब समारोप का व्यवच्छेद कैसे हुआ ? फिर कैसे अनुमान को प्रमाण कह सकते हैं ? यदि कहें कि – 'उस में कुछ फर्क जरूर हो जाता है । मतलब, अनुमान के पहले जो स्थायिपनं का भान होता है वह दृढविश्वासगर्भित होता है, किन्तु अनुमान के बाद जो स्थायिपन का भान होता है वह दृढविश्वासयुक्त नहीं होता । अतः दृढविश्वासयुक्त स्थायिपन के भान का व्यवच्छेद करने वाला होने से अनुमान प्रमाण होता है ।' – तो यह भी विश्वसनीय नहीं है । कारण, अगर अनुमान के बाद अपने पुत्र-परिवार आदि में स्थायिपन की बुद्धि दृढ विश्वासयुक्त न होती तब तो उन के बाहर जाने पर उन की प्रतीक्षा आदि प्रवृत्ति

क्षणिकत्वसमारोपस्यानुत्पत्तेः समारोपव्यवच्छेदकत्वं क्षणिकानुमानस्योच्यते । न साक्षाद्भूतसमारोपनिषेधात् (इति चेत् ?) कथमविकल्पे समारोपे प्रबन्धेनोपजायमाने क्षणविवेकनिश्चयः येन ततोऽक्षणिकत्वसमारोपस्य भाविनोऽनुत्पत्तिः स्यात् ? निश्चयाऽऽरोपमनसोर्विरोधाभ्युपगमात्; अन्यथा प्रत्यक्षपृष्ठभाविनः क्षणिकनिश्चयस्याप्युत्पत्तिप्रसंगः ।

तथा परस्यापि निश्चयात्मना प्रत्ययेन सर्वात्मनाऽर्थस्वरूपनिश्चयेऽपि समारोपप्रवृत्तौ तद्व्यवच्छेदाय प्रवर्त्तमानं प्रमाणान्तरमनर्थकं न स्यात् । तत्र क्षणविवेकनिश्चयः, निश्चये वा विरोधादेव नाऽक्षणिकत्वसमारोपः । 'दृढरूपस्याऽक्षणिकत्वसमारोपस्यास्त्येव व्यावृत्तिः, सादृश्यनिमित्तस्तु स्खलद्रूपारोपः स्यादी'ति चेत् ? असदेतत् अनवधारितविशेषस्यानवधारितविशेषलक्षणसादृश्याऽसम्भवात् कथं समारोपः तन्निबन्धनोऽपि स्या-

जो पूर्वोक्त करते हैं वह नहीं करते ।

दूसरी बात यह है कि समारोप का प्रतिषेध तो अभाव स्वरूप है इसीलिये वह अहेतुक होता है । अभाव के साथ भावात्मक अनुमान को कोई भी सम्बन्ध नहीं होता, न वैसा (उस के साथ सम्बन्ध) उपलब्ध होता है । तब यह कैसे कह सकते हैं कि 'अनुमान समारोपप्रतिषेध का हेतु है या उस का प्रकाशक है' ? यहाँ यदि ऐसा उत्तर दिया जाय कि – "अनुमान के पूर्व में प्रवृत्त जो समारोप है वह तो स्वयं क्षणभंगुर होने से अनुमानक्षण में नष्ट हो जाता है । किन्तु जब क्षणिकत्व का अनुमान होता है तब उस के बाद अक्षणिकत्व के समारोप की उत्पत्ति में ही प्रतिरोध हो जाता है, इसी को कहते हैं कि समारोप का व्यवच्छेद, जो क्षणिकत्व के अनुमान से प्रयुक्त है न कि साक्षाद् उत्पन्न समारोप का विरोधी होने से यहाँ समारोप का व्यवच्छेद कहा गया है ।" – तो यह उत्तराभास है क्योंकि जब अपने अपने हेतुओं से वैकल्पिक स्थायित्व का समारोप परिपूर्णरूप से परम्परा से उत्पन्न होता आया है तब बीच में अनुमानादि द्वारा क्षणक्षय के निश्चय को उत्पन्न होने का अवकाश ही कहाँ है जिस से कि यह कहा जा सके कि अनुमान के बाद समारोप की उत्पत्ति का प्रतिरोध हो जाता है ?! आपने ही तो प्रमाणवार्त्तिक के तीसरे परिच्छेद (श्लो० ४९) में कहा है कि 'निश्चय और आरोपमन (यानी समारोप) इन दोनों के बीच बाध्यबाधकभावात्मक विरोध होता है ।' तब समारोप के रहते हुये विरोधी अनुमान कैसे उत्पन्न हो सकेगा ? फिर भी अगर उस की उत्पत्ति मान्य करना है तब तो वस्तु के स्वलक्षण का प्रत्यक्ष होने के बाद क्षणिकत्व के निश्चय की उत्पत्ति भी हो जाने की आपत्ति आयेगी, क्योंकि अब तो आप को विरोधी की उपेक्षा ही करना है !

★ अक्षणिकत्वसमारोप की दुर्घटता तदवस्थ ★

दूसरी बात यह है कि – आप मानते हैं कि समारोप की परम्परा चलते रहने पर भी बीच में अनुमान प्रवृत्त होता है और उस से समारोप का व्यवच्छेद होता है इस लिये अनुमान प्रमाण है । तब तो दूसरा वादी कहेगा – निश्चयात्मक प्रतीति से अर्थस्वरूप का सर्वांशतया से निश्चय होने के बाद भी (यानी अक्षणिकत्व का निश्चय हो जाने पर भी) समारोप प्रवृत्त होने पर उसके व्यवच्छेद के लिये प्रवृत्त प्रमाणान्तर निरर्थक प्रमाण क्यों नहीं, सार्थक होगा । (बौद्ध तो प्रत्यक्ष और अनुमान दो ही प्रमाण मानते हैं ।) निष्कर्ष यह है कि बौद्ध के मत में, समारोपात्मक विरोधी मत के उत्पन्न होते हुये बीच में क्षणिकत्व के निश्चय (= अनुमान) को कोई अवकाश नहीं है । यदि निश्चय और समारोप का [illegible] मानते हैं तो उनके विरोध के कारण उसके बाद अक्षणिकत्व समारोप

यी युक्तः ? समारोपनिमित्तसादृश्यविरोधिविवेकावधारणसद्भावात् वह्निसन्निधानाद् रोमहर्षादिविशेषवद् यथार्थनिश्चये विपर्यासानुपलब्धेश्च । अथ यथा निश्चितैकत्वस्यापि पुंसो द्विचन्द्रादिभ्रान्तिरक्षजत्वान्न निवर्त्तते, तथाऽक्षणिकभ्रान्तिरपि । नन्वेवमक्षणिकभ्रान्तेरक्षजत्वे न किञ्चिदपि प्रत्यक्षमभ्रान्तं स्यात् । 'पश्यन्नपि न पश्यति' [ ] इति च धर्मकीर्त्तिवचनं विरुध्येत ।

अथाऽक्षणिकत्वभ्रान्तिर्मानसी मरीचिकाचक्रे तोयादिभ्रान्तिवत् । तथापि नावधारितविशेषस्योत्पद्येत, अनवधारितविशेषस्यैव तदुत्पत्तेः । अक्षणिकावभासस्य मानसत्वे वस्त्वन्तरस्मरणसमये उत्पत्तिश्च न स्यात्, विकल्पद्वयस्य युगपदनुत्पत्तेः, उत्पत्तौ वाऽश्वं विकल्पयतोऽपि गोदर्शनाद् दर्शने कल्पनाविरहसिद्धिरयुक्ता स्यादिति क्षणविवेकनिश्चयेऽवश्यंभाव्यक्षणिकसमारोपाभावः । तत्सद्भावे च न क्वचिदनुमानान्निश्चितनानात्वस्याऽऽत्माऽऽत्मीयभावयोः प्रवृत्तिर्युक्ता ।

को अवकाश नहीं होगा ।

यदि ऐसा कहा जाय कि- 'क्षणिकत्व के अनुमान से उस अक्षणिकसमारोप की निवृत्ति तो हो जाती है जो पहले दृढता से भरपूर था, लेकिन फिर भी पूर्वोत्तर क्षण के सादृश्य के कारण ऐसा अक्षणिक समारोप उत्पन्न होता रहता है जो स्खलित यानी शिथिल स्वरूप वाला होता है (यानी जिस में 'यह ऐसा ही है' ऐसी दृढता नहीं होती) अर्थात् अनुमानात्मक निश्चय और स्खलित समारोप में विरोध नहीं मानते ।'- तो यह गलत कथन है; क्योंकि पूर्वोत्तर क्षण में भेद का अवधारण न होना यही सादृश्य है, क्षणिकत्वानुमान से जब भेद का अवधारण हो गया तब ऐसे सादृश्य का सम्भव ही नहीं है तो फिर उसके आधार पर स्थायित्व के समारोप की उत्पत्ति को अवकाश ही कहाँ है ? जैसे जाडे की ऋतु में शर्दी से रोंगटे खडे होते हैं किन्तु अग्नि के सांनिध्य में नहीं होते क्योंकि अग्नि उसका विरोधी है, इसी प्रकार, समारोप के निमित्तभूत (भेदानवधारणस्वरूप) सादृश्य के विरोधी क्षणविवेक यानी भेद का अवधारण संनिहित हो तब क्षणिकत्व निश्चय के यथार्थ होने से वहाँ अक्षणिकत्व के विपर्यास की सम्भावना ही नहीं हो सकती ।

यदि ऐसा कहा जाय– 'चन्द्र एक है' ऐसे दृढ निश्चयवाले पुरुष को भी (अवस्थाविशेष में) अपने नेत्र से दो चन्द्र दिखाई देते हैं, यद्यपि यह भ्रान्ति है किन्तु इन्द्रियजन्य होने के कारण पूर्वकालीन एक चन्द्र का ज्ञान उसका बाधक नहीं होता । मतलब, इन्द्रिय के कारण ही ऐसी भ्रान्ति स्थायित्व की भी हो सकती है ।'– तो यहाँ बडी आपत्ति होगी, यदि आप इन्द्रियजन्यता के आधार पर अक्षणिकत्व की भ्रान्ति की उपपत्ति करना चाहते हैं तब तो कोई भी प्रत्यक्ष अभ्रान्त नहीं रहेगा क्योंकि पूरा प्रत्यक्ष इन्द्रिय जन्य ही होता है । उपरांत, 'पश्यन्नपि न पश्यति' = देखता हुआ भी (मानो) नहीं देखता है' इस धर्मकीर्त्ति के वचन का भी यहाँ विरोध उपस्थित होगा । [कारण, धर्मकीर्त्ति को यह कहना है कि (पश्यन्नपि=) यथार्थ निश्चय होने पर, विपर्यास की सामग्री दृष्टा में उपस्थित रहने पर भी (न पश्यति=) विपर्यासदर्शन नहीं होता है ।]

★ मानसिक अक्षणिकत्वभ्रम की भी दुर्घटता ★

यदि ऐसा कहा जाय कि – 'अक्षणिकत्व का भ्रम जो होता है वह चाक्षुषादि प्रत्यक्ष रूप नहीं किन्तु मानस प्रत्यक्षरूप होता है जैसे कि मरुधर की सूर्यकिरणतप्त चमकिली रेतभूमि में जल का भ्रम होता है'–तो इस पर भी वही बात है कि भले आप इस भ्रम को मानसरूप मानें, किन्तु जिसने विशेष का (क्षणिकत्व

न ह्यात्मनाऽनुमानान्नानात्वनिश्चयलक्षणे नैरात्म्यदर्शने सति एकत्वप्रत्ययलक्षणमात्मदर्शनं सम्भवति विवेकाऽविवेकग्रहणयोरेकत्वविरोधात्, तदभावान्नात्मीयग्रहः, तदभावे च तत्पूर्वकस्य रागादेरनुत्पत्तेः कथमभिलषिताऽनभिलषितसाधनयोस्तदध्यवसायेन प्राप्ति-परिहाराय प्रवृत्तिरुपपद्येत ?। अनाश्रवचित्तोत्पत्तिप्रबन्धलक्षणमुक्तिहेतौ च मुमुक्षोर्यत्नो विफलः स्यात् नैरात्म्याद्यभ्यासमन्तरेणाप्यनुमानात् क्षणिकत्वनिश्चयमात्रेणैव मुक्तिसिद्धेः । 'आत्मदर्शनस्य सहजस्याऽहानेस्तन्निमित्तात्मीयस्नेहपूर्वकसुखाभिलाषवतः सुख-दुःखसाधनेष्वादान-परिहारार्था प्रवृत्तिः अविरुद्धा' इति चेत् ? स्यादेतत् यदि तत्सहजमात्मदर्शनमेकत्वप्रत्ययलक्षणं

का) अवधारण कर लिया है उस को उसके विरोध के कारण तथाविध अक्षणिकत्व का भ्रम हो नहीं सकता, जिस को विशेष का अवधारण न हो उसे ही वह उत्पन्न होना चाहिये । उपरांत, अक्षणिकत्व अवभास को यदि आप मानसरूप मानेंगे तो अन्य किसी वस्तु का स्मरण होगा उस वक्त अक्षणिकत्व का अवभास उत्पन्न नहीं हो सकेगा । कारण, एक साथ दो ज्ञान की उत्पत्ति नहीं मानी जाती । स्मरण भी मानस और अक्षणिकत्व का अवभास भी मानस, दो मानस विकल्प की एक साथ उत्पत्ति नहीं होने का नियम है । यदि एक साथ दो ज्ञानों की उत्पत्ति मान कर लेंगे तो अश्व विकल्प की उत्पत्ति के समय में ही गाय दर्शन की सामग्री गायदर्शन को भी उत्पन्न करेगी और यह गायदर्शन विकल्पाक्रान्त हो जाने पर, आप जो सिद्ध करना चाहते हैं कि दर्शन कल्पनापोढ यानी कल्पनाविनिर्मुक्त होता है वह सिद्ध नहीं हो सकेगा । इस तरह अनुमान को समारोप-व्यवच्छेदक मानने पर यही फलित होता है कि अनुमान से भेद का निश्चय हो जाने पर, अक्षणिकत्व का समारोप किसी भी तरीके से नहीं बचना चाहिये । और समारोप के न बचने पर, जिस व्यक्ति को अनुमान से पूर्वोत्तर क्षणों में भेद का निश्चय हो चुका है उस की अब आत्मविषयक या आत्मीय धनादि विषयक समारोपमूलक प्रवृत्ति भी नहीं होनी चाहिये । 'पूर्वोत्तरज्ञानक्षण सर्वथा अन्वयशून्य एवं भिन्न ही है, उन में अन्वयी कोई आत्मा है ही नहीं (जिस के पर स्नेह किया जाय) ऐसा नैरात्म्यदर्शन हो चुकने पर 'वही मैं हूँ' ऐसा एकत्वाध्यवसायी आत्मदर्शन होने का सम्भव ही नहीं है क्योंकि पूर्वापरक्षणों में विवेकग्रहण(=भेदग्रह) और अविवेकग्रहण(=अभेदग्रह) इन दोनों का एक व्यक्ति में विरोध होता है । एकात्मदर्शन रुक जाने पर एकात्मग्रहणमूलक जो धनादि में ममत्व का ग्रह होता था वह भी निवृत्त हो जायेगा । ममत्वग्रह मिट जाने पर जो ममत्वभावना मूलक राग-द्वेष होते थे वे भी निवृत्त हो जायेंगे । इस प्रकार एक बार भेदअनुमान हो जाने पर राग-द्वेष-निवृत्ति भी हो गयी तब फिर जो इष्ट साधन में इष्ट-साधनता के अध्यवसाय मूलक प्राप्ति के लिये प्रवृत्ति होती है और अनिष्ट साधन में अनिष्टसाधनतामूलक जो उस के परिहार के लिये नैरात्म्यदर्शी की भी चेष्टा होती है वह कैसे संगत होगी ?

★ नैरात्म्य अभ्यास में निष्फलता की आपत्ति ★

दूसरी बात यह है कि क्षणिकत्व के अनुमान मात्र को अगर समारोपव्यवच्छेदक मानेंगे तो अक्षणिकत्वसमारोप-व्यवच्छेद द्वारा पूर्वोक्त से राग-द्वेष उच्छेद हो जाने पर मुक्ति भी प्राप्त हो सकती है, फलतः अनाश्रवचित्तोत्पत्तिप्रबन्ध-स्वरूप मुक्ति के हेतुभूत नैरात्म्यादि के अभ्यास के लिये जो मुमुक्षु प्रयास करता है वह निष्फल सिद्ध बन जायेगा ।

यदि ऐसा कहा जाय कि – 'क्षणिकत्वानुमान से अक्षणिकत्वसमारोप का व्यवच्छेद होने पर भी [illegible] होता था उस का व्यवच्छेद होता है किन्तु सहज [illegible]

न स्यात्, तद्रूपत्वे त्वात्मनोऽनुमानात् क्षणविवेकनिश्चयमात्रेणैव तस्य निरुद्धत्वान्न तन्निमित्ता संस्कारकारणेषु प्रवृत्तिः । अथैकप्रत्ययलक्षणं सहजमात्मदर्शनं न भवति न तर्हि नैरात्म्याभ्यासादप्यविरोधात् तन्निवृत्तिरिति व्यर्थो नैरात्म्याभ्यासः स्यात् ।

अतो न साक्षात् पारम्पर्येण वाऽक्षणिकसमारोपव्यवच्छेदकत्वात् क्षणिकानुमानस्य प्रामाण्यम् । अध्यक्षप्रभवविकल्पेऽपि चैतत् समानम् निश्चये तत्रापि समारोपाभावात् । न च प्रवृत्तसमारोपाऽव्यवच्छेदकत्वाद् विकल्पस्याऽप्रामाण्यमिति वक्तुं युक्तम् प्रवृत्तसमारोपव्यवच्छेदकत्वेन प्रामाण्य(ण्ये) विशेषतोदृष्टानुमानस्यापि प्रामाण्यप्रसक्तिः तस्यापि तद्रूपत्वात् । न च प्रवृत्तः समारोपो व्यवच्छेत्तुं शक्यः अभावस्य निर्हेतुकत्वाभ्युपगमात् । न च प्रत्यक्षपृष्ठभाविविकल्पमपहायाऽनुमानस्यैव प्रामाण्यम् तस्य लिंगजत्वात् इतरस्य च तद्विपर्ययादिति वाच्यम् विशेषतोदृष्टानुमानस्य लिंगजत्वेन प्रामाण्यप्रसक्तेः । न चानुभव-

---

उदित होता आया है उस की निवृत्ति नहीं होती अतः आत्मदर्शनमूलक स्व और स्वकीय में राग भी तदवस्थ रहता है । उस से सुखाभिलाप भी होता है । फलतः सुखार्थी की सुख-दुख के साधनों की प्राप्ति-परिहार के लिये प्रवृत्ति होने में कोई भी विरोध नहीं है ।' – तो यह ऐसा तभी मान सकते हैं यदि एकत्वाध्यवसाय और वह सहज आत्मदर्शन, इन दोनों में कुछ फर्क हो । जव आप ज्ञानसन्तति में एकत्व के अध्यवसाय को ही आत्मदर्शनस्वरूप मानते हो तव तो अनुमान से क्षणभेद का निश्चय हो जाने पर उस एकत्वप्रतीति का अवरोध हो जाने से आत्मदर्शन भी अवरुद्ध हुये विना नहीं रह सकता, फिर आत्मदर्शनमूलक संसारसर्जक कृत्यों में प्रवृत्ति भी वंद हो जानी चाहिये । यदि वह सहज आत्मदर्शन एकत्वप्रतीतिरूप नहीं मानते तव तो क्षणभेदनिश्चय की तरह नैरात्म्याभ्यास के साथ भी उसका विरोध सिद्ध न होने से नैरात्म्याभ्यास के लिये आयास करना निरर्थक सिद्ध होगा, क्योंकि पुनः पुनः क्षणभेद का निश्चय ही नैरात्म्याभ्यासरूप होता है ।

★ विकल्प में प्रामाण्य अपरिहार्य ★

उपरोक्त का निष्कर्ष यह है कि अक्षणिकसमारोप के व्यवच्छेद होने के नाते क्षणिकत्वानुमान को प्रमाण मानना गलत है । और समारोप का अभाव तो प्रत्यक्षजन्य विकल्पज्ञान के वाद भी रहता होने से अनुमान की तरह विकल्प ज्ञान को भी प्रमाणरूप से स्वीकार लेने की आपत्ति अपरिहार्य वन जाती है । यदि ऐसा कहें कि – 'विकल्प के वाद समारोप का अभाव रहता होने पर भी 'उस के पहले समारोप चला आता हो और विकल्प के वाद उस की उत्पत्ति की परम्परा टूट जाय' इस प्रकार का समारोपव्यवच्छेद, जो कि अनुमान के वाद होता है, विकल्प के वाद नहीं होता – क्योंकि विकल्प के पहले तो उस वस्तु का प्रत्यक्ष ही हुआ रहता है जिस को नामादि योजना कर के विकल्प प्रकाशित करता है ।' – तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि यहाँ विशेषतोदृष्टानुमान को प्रमाण मानने की आपत्ति आयेगी – वह इस प्रकार : प्रत्यक्ष से अग्नि का दर्शन होने के वाद कभी उसी अग्नि के वारे में, धूम लिंग को देख कर 'यह वही अग्नि है' ऐसा अनुमाननिश्चय होता है । इस अनुमान को बौद्ध मत प्रमाण नहीं मानता क्योंकि लिंगजन्य होने से वह प्रत्यक्षरूप नहीं है और उस धूम के साथ उसी अग्नि का पूर्व में कभी सम्वन्धग्रहण नहीं हुआ है इसलिये वह अनुमानप्रमाण भी नहीं है । फिर भी यहाँ 'यह वही नहीं' ऐसे समारोप का व्यवच्छेद तो होता ही है । अतः इस अनुमान को भी प्रमाण मान लेना होगा ।

विषयमात्राध्यवसायित्वेऽध्यक्षपृष्ठभाविविकल्पानामभ्युपगम्यमाने व्याप्तिसिद्धिरपि परस्योपपद्यते, सन्निहितमात्रप्रतिग्राहित्वेनाऽध्यक्षस्य तद्व्यापारानुसारिणो विकल्पस्यापि सर्वोपसंहारेण साध्य-साधनयोर्व्याप्तिग्राहकत्वाऽसम्भवात् । तथा च देशान्तरादावुपलभ्यमानं साधनमनिश्चितसाध्यप्रतिबन्धं तत्र साध्यं न गमयेत् ।

अथ 'कार्यं धूमो हुतभुजः कार्यधर्मानुवृत्तितः' [प्र. वा. ३-३४] निश्चितः स देशान्तरादावप्यनलाभावे भवंस्तत्कार्यतामेवातिक्रमेदित्याकस्मिकोऽग्निनिवृत्तौ न क्वचिदपि निवर्त्तेत, नाप्यवश्यंतयाऽग्निरूप एव तस्य भाव उपलभ्यते । तथा, व्यापकाभावेऽपि तदात्मनो व्याप्यस्याभावे न कदाचित् साधनं तत्स्वभावतया प्रतीयेतेति । नन्वेवं व्याप्तिसिद्धावपि तन्निश्चयकालोपलम्भेनैव स्यात् व्यापकेनास्य व्याप्तिः

दूसरी बात : प्रवृत्त समारोप का अभावात्मक व्यवच्छेद तो नाशरूप होने से निर्हेतुक होता है अतः अकिंचित्कर अनुमान उस का व्यवच्छेदक भी नहीं हो सकता । (यह पहले भी कह आये हैं ।) ऐसा भी नहीं कह सकते कि – 'अनुमान तो लिंगजन्य होने से प्रमाण हो सकता है, प्रत्यक्षपृष्ठभावि विकल्प लिंगजन्य नहीं किन्तु प्रत्यक्षजन्य होने से अप्रमाण है' – क्योंकि अभी कहा है कि विशेषतोदृष्टानुमान भी लिंगजन्य होने से उस में प्रामाण्य प्रसक्त हो जायेगा । और भी एक दोष यह है कि विकल्प को अप्रमाण ठहराने के लिये आप उसे गृहीतग्राही दिखाते हैं किन्तु यह नहीं सोचते कि यदि प्रत्यक्षपृष्ठभावि विकल्पों को यदि अनुभव(=प्रत्यक्ष) के विषय मात्र के अध्यवसायी मानेंगे तब आप के मत में व्याप्ति का ग्रहण भी अशक्य बन जायेगा । कारण, प्रत्यक्ष तो सिर्फ निकटस्थ वस्तु का ही ग्राहक होता है, उस के व्यापार से उत्पन्न होने वाला विकल्प भी तब निकट स्थित वस्तु का ही अध्यवसायी होगा, तब दूरस्थ, अतीत-अनागत सभी साध्य-हेतु व्यक्तियों का उपसंहार कर के व्यापक और पर जो साध्य-साधन में व्याप्तिग्रह करना है वह नहीं हो सकेगा । फलतः अन्य देश, अन्यकाल में जब धूमादि साधन का उपलम्भ होगा, तब उस में अपने अग्निआदि साध्य की व्याप्ति का निश्चय शक्य न होने से वहाँ अग्निआदि साध्य का ग्रहण नहीं हो सकेगा ।

★ व्यापकरूप से व्याप्तिग्रह-शक्यता की शंका–उत्तर ★

बौद्ध : प्रमाणवार्त्तिक में कहा है कि कारण के अन्वयव्यतिरेक का अनुसरण करना इसे कार्यधर्म कहा जाता है और जो जिसके कार्यधर्म का अनुवर्त्तन करता है वह उस का कार्य कहा जाता है । धूम अग्नि के कार्यधर्म का अनुवर्त्तन करने वाला होने से वह अग्नि का कार्य माना जाता है । अभी जो आपने कहा कि 'देशान्तरवर्त्ती धूम से साध्य अग्नि का बोध नहीं हो सकेगा' वह इसलिये ठीक नहीं है कि अग्नि के कार्यरूप में निश्चित होने वाला देशान्तरस्थित धूम अगर अग्नि के बिना ही वहाँ पैदा हो जाय तब तो उस में अग्निकार्यता का ही भंग हो जाय और तब वह अहेतुक होगा और 'अग्नि के अभाव में धूम का अभाव' भी निश्चित नहीं किया जा सकेगा, एवं 'अग्नि के होने पर ही धूम हो सकता है' ऐसा अवश्यंभाव भी कहीं रहेगा नहीं । [illegible] अग्नि और धूम के बीच व्यापक-व्याप्यभाव का भंग हो जाने पर व्यापक (अग्नि) के अभाव में भी व्याप्य की सत्ता सम्भवित हो जाने से, [illegible] अनुमान भी [illegible] क्योंकि [illegible] के न रहने पर भी [illegible] [illegible] हेतु के [illegible] । [illegible] है कि [illegible] [illegible] का [illegible] है ।

तस्यैव तथानिश्चयात् । न(?) तादृशस्यापि साध्यव्याप्तग्रहणे तद्ग्राहिणो विकल्पस्यागृहीतग्राहित्वं कथं न स्यात्, ? 'यदेव हि प्रत्यक्षेण तद्व्याप्तत्वेनोपलब्धं ततस्तस्यैवानुमानं विशेषतोदृष्टम्' तच्चानुमानं स्यात्, अन्यदेशादिस्थेनाऽव्याप्तेः । 'पारिशेष्यात् तादृशव्यापकेनान्यत्र तादृशस्य व्याप्तिसिद्धिरि'ति न वक्तव्यम् पारिशेष्याऽसिद्धेः ।

तथाहि – तत् पारिशेष्यं किं प्रत्यक्षम् उतानुमानम् ? न तावत् प्रत्यक्षम् [A]देशान्तरस्थस्यानुमेयस्य प्रत्यक्षेणाऽप्रतिपत्तेः । प्रतिपत्तौ वाऽनुमानवैयर्थ्यप्रसक्तिः । [B]अथानुमानम् ननु तत्रापि कथं साध्य-साधनयोः प्रतिबन्धसिद्धिः ? न प्रत्यक्षेण, तस्य व्याप्तिग्राहकत्वेनाऽप्रवृत्तेः । नानुमानान्तरेण, अनवस्थाप्रसक्तेः । न तेनैवानुमानेन, इतरेतराश्रयप्रसंगात् । तस्मादनुमानप्रामाण्यवादिना सर्वोपसंहारेण व्याप्तिग्राही प्रत्यक्षजन्मा स्वविषयाऽविसंवादी विकल्पः प्रमाणयितव्यः ।

प्रमाणान्तरवादी : इस के सामने प्रमाणान्तरवादी कहता है कि उक्त तर्क के सहारे जो व्याप्तिसिद्धि होती है वह भी उस विकल्पात्मक निश्चय काल में जो अग्निरूप व्यापक संनिहित रहेगा उसी के साथ व्याप्ति का ग्रह हो सकता है क्योंकि उस विकल्प में जिस धूम की प्रतीति उस के सांनिध्य से होती है उसी में उक्त तर्क के सहारे व्याप्ति का निश्चय किया जा रहा है, अन्य धूम में अन्य अग्नि की व्याप्ति का नहीं । कारण, वह अन्य धूम उस विकल्प के जनक प्रत्यक्ष से गृहीत नहीं है । यदि अन्य धूम वहाँ संनिहित न होने पर भी उस में साध्य के साथ व्याप्ति का ग्रहण तर्क के सहारे मानेंगे तब तो वह विकल्प अगृहीत का ग्राही क्यों नहीं माना जायेगा ? दूसरी बात यह है कि अगर विकल्प में अगृहीतग्राहिता को टालने के लिये प्रत्यक्ष से जिस व्यक्ति का साध्य के व्याप्यरूप में ग्रहण हुआ है उसी का ही उस व्याप्य से अनुमान होने का कहेंगे तो यही विशेषतोदृष्ट अनुमान कहा जाता है जिस के लिये आगे बात हो चुकी है कि उस को बौद्ध प्रमाण मानने के लिये तय्यार न होने पर भी प्रमाण मानने के लिये बाध्य हो जाता है । कारण, विशेषतोदृष्ट अनुमान में अन्यदेशवर्त्ती अग्नि के साथ व्याप्ति का उल्लेख नहीं होता है, अत एव अन्यदेशवर्त्ती अग्नि का अनुमान भी नहीं होता । यदि कहें कि – 'अन्यदेशवर्त्ती अग्नि व्यापक के साथ अन्यत्र रहे हुए धूमादि में व्याप्ति की सिद्धि परिशेष प्रमाण से हो जायेगी' –तो यह ठीक नहीं है क्योंकि परिशेष प्रमाण ही असिद्ध है ।

★ स्वविषयसंवादी विकल्प प्रमाणभूत ★

बौद्ध मत में प्रत्यक्ष और अनुमान से अधिक अन्य कोई प्रमाण न होने से वह परिशेषप्रमाण या तो प्रत्यक्षरूप होगा या अनुमान होगा किन्तु एक भी सम्भव नहीं है । [A]प्रत्यक्षरूप इसलिये नहीं हो सकता कि देशान्तर में रहे हुए साध्य की प्रतिपत्ति प्रत्यक्ष से सम्भव नहीं है, अगर सम्भवित मानेंगे तो पूरे अनुमान का उच्छेद प्रसक्त होगा, क्योंकि अनुमेय पदार्थ भी जब प्रत्यक्षगृहीत हो जायेगा तो वह कौन–सा अर्थ शेष रहेगा जिस के ग्रहण के लिये अनुमान आवश्यक होगा ? [B]वह परिशेष प्रमाण अनुमानरूप भी सम्भव नहीं है क्योंकि वहाँ पहले तो उस अनुमान के उत्थान के लिये व्याप्ति रूप साध्य और उस के सम्भवित साधन के बीच व्याप्ति का ग्रह करना होगा वह कैसे होगा ? 'प्रत्यक्ष से' ऐसा तो कह नहीं सकते क्योंकि व्याप्ति के ग्रहण में वह कभी सक्रिय नहीं होता यह बार बार कहा जा चुका है । 'अन्य अनुमान से' ऐसा भी नहीं कह सकते क्योंकि वहाँ भी व्याप्तिग्रह के लिये अन्य अनुमान की अपेक्षा दिखाने पर ऐसी अन्य अन्य अनुमान की परम्परा चलेगी जिसका अन्त नहीं होगा । यदि कहें कि – अन्य अनुमान के लिये जो प्रारंभ में व्याप्तिग्रह आवश्यक है वह

स चाभिनिबोधिकं ज्ञानमस्मद्दर्शने प्रसिद्धमस्पष्टतया श्रुतं वा ऊहशब्दविशेषवाच्यतया, न प्रत्यक्ष-परोक्ष-प्रमाणद्वयव्यतिरिक्तं तत् प्रमाणान्तरम् । प्रत्यक्षानुमानवादिनां तु व्याप्तिग्राहकं प्रमाणान्तरं प्रसक्तम् प्रत्यक्षानुमानाभ्यां व्याप्तिग्रहणाऽसंभवात् । न च प्रतिबन्धग्राहकस्य प्रमाणस्य स्वार्थे व्यभिचारः प्रतिबन्धाऽभावात् इति वक्तव्यम् तत्र, योग्यतालक्षणप्रतिबन्धसद्भावात् ।

प्रत्यक्षोऽपि हि स्वार्थपरिच्छेदी योग्यतात एव न पुनस्तदुत्पत्त्यादेः । तदुत्पत्तिप्रतिबन्धात् प्रत्यक्षस्य स्वार्थपरिच्छेदकत्वे इन्द्रियस्यापि तत्परिच्छेदकत्वप्रसक्तिः । तत्सारूप्यात्तस्य तत्परिच्छेदकत्वे नीलक्षणोऽपरनील-

---

कभी अन्य अनुमान से होने का मानेंगे – तब तो इतरेतराश्रय दोष प्रसक्त होगा । कारण, व्याप्तिग्रह होने पर अन्य अनुमान की सफल प्रवृत्ति होगी और अनुमान की प्रवृत्ति के होने पर ही उस व्याप्ति का ग्रहण होगा जिस से कि प्रथम अनुमान रूप परिशेषप्रमाण खडा करना है ।

उपरोक्त चर्चा से अब यही निष्कर्ष फलित होता है कि अनुमान के प्रामाण्य को सुरक्षित रखने के लिये बौद्धवादी को व्यापकतौर पर तज्जातीय सकल व्यक्तियों के बीच व्याप्तिरूप प्रमेय का ग्रहण संगत करने के लिये उस के ग्राहकरूप में विकल्प रूप नया प्रमाण अंगीकार करना होगा जो कि प्रत्यक्ष का फल होगा और अपने विषय का अविसंवादी होगा ।

★ व्याप्तिग्राहक विकल्प प्रमाण का अन्तर्भाव ★

हमारे जैन मत में तो ऐसी प्रमाणाधिक्य की आपत्ति को अवकाश ही नहीं है क्योंकि हमारे यहाँ प्रत्यक्ष और परोक्ष दो प्रमाण माने गये हैं । यह जो व्याप्तिग्राहक विकल्प है उस का अन्तर्भाव या तो आभिनिबोधिक प्रत्यक्ष प्रमाणात्मकज्ञान में कर सकते हैं, या 'ऊह'शब्दविशेषवाच्य जो श्रुतज्ञान रूप परोक्षप्रमाण है उस में कर सकते हैं । तात्पर्य यह है कि हम आभिनिबोधिक ज्ञानान्तर्गत विकल्पात्मक प्रत्यक्ष ऐसा मान सकते हैं जो भूतभावि सभी व्यक्तियों के साथ साहचर्यग्रहणमूलक व्याप्तिग्रह कर सकता है, चूँकि हम ऐसा नहीं मानते हैं कि प्रत्यक्षगृहीत का ही विकल्प से ग्रहण हो । यदि इस प्रकार का व्याप्तिग्रह कभी कभी स्पष्टावभासी न होने के कारण प्रत्यक्षात्मक उसे मानने में रुचि न हो तो वह तर्कात्मक परोक्षप्रमाणरूप भी माना जा सकता है । उस का स्वरूप यह है कि 'जितने भी धूम होते है वे सब अग्नि के होने पर ही होते हैं और अग्नि के न होने पर कभी नहीं होते' । इस प्रकार व्याप्ति को तर्कप्रमाण का विषय मानने में यदि कोई ऐसा कहे कि – 'ऐसा व्याप्तिग्राही प्रमाण अपने अर्थ का व्यभिचारी है, यानी व्याप्ति ही उस का विषय है ऐसा नियम नहीं हो सकता क्योंकि इस प्रमाण को व्याप्तिरूप विषय के साथ कोई प्रतिबन्ध यानी संबन्ध नहीं है' – तो यह ठीक नहीं है क्योंकि यहाँ 'योग्यता' ही सम्बन्ध के रूप में मौजूद है । अर्थात् व्याप्ति में रही हुयी जो तर्कग्राह्यतायोग्यता है वही तर्क और व्याप्ति का प्रतिबन्ध (संनिकर्ष) है ।

★ योग्यता सम्बन्ध का समर्थन ★

इस बात पर ध्यान देने जैसा है कि प्रत्यक्ष भी अपने नियत विषय का उपदर्शक योग्यता के सहारे से ही करता है, न कि 'नियत विषय से उत्पत्ति' आदि की सहायता से । अर्थात् घट से उत्पन्न होने के कारण उस का प्रत्यक्ष घटपरिच्छेदक होता है यह बात नहीं है किन्तु घटविषयक योग्यता के सहारे से उस का प्रत्यक्ष घटपरिच्छेदक होता है यह बात सही है । प्रत्यक्ष जैसे घट से उत्पन्न होता है वैसे

क्षणस्य परिच्छेदकः स्यात् । परिच्छेदस्य ज्ञानधर्मत्वात् अप्रसंगे, नीलज्ञानमपरनीलज्ञानपरिच्छेदकं स्यात् । तदुत्पत्तिसारूप्याभ्यां समुदिताभ्यां प्रत्यक्षस्य सर्वथापरिच्छेदकत्वे नीलज्ञानं समनन्तरनीलज्ञानस्य परिच्छेदकं स्यात् । 'तदुत्पत्ति-सारूप्यसद्भावेऽपि समानार्थसमनन्तरप्रत्ययस्य, न तद् ग्राहकं व्यवस्थाप्यते तदध्यवसायाभावात्' इति चेत् ? ननु 'तदुत्पत्त्यादिके प्रतिवन्धे समानेप्यर्थ एव तदध्यवसायो न पुनः समनन्तरप्रत्यये' इति पृष्टेन भवता सैव योग्यता नियामिका वक्तव्या । अपि च, [१]'विषयेन्द्रियमनस्कारेषु विज्ञानकारणत्वेनाऽविशिष्टेषु विषयस्यैवाकारं विभर्ति विज्ञानं नेन्द्रियादेः' तथा 'नीलाद्यर्थसारूप्याऽविशेषेऽपि नीलज्ञानं योग्यदेशस्थमेव नीलाद्यर्थं विषयीकरोति नान्यम्' इत्यत्रापि योग्यतैव शरणम् । अतोऽस्या एव तत्सारूप्यादिविशेषेऽप्यवश्यमभ्युपगमनीयत्वात् अर्थप्रतिनियमः सर्वत्राभ्युपगमनीयः इति प्रत्यक्षवदूहोऽपि

नेत्रादि इन्द्रिय से भी उत्पन्न होता है, यदि तत्परिच्छेदकता में तदुत्पत्ति को नियामक कहेंगे तव तो इन्द्रिय से उत्पन्न होने के कारण प्रत्यक्ष इन्द्रियव्यवसायी हो जाने की आपत्ति होगी । यदि ऐसा कहें कि – 'घट और इन्द्रिय दोनों से प्रत्यक्ष ज्ञान की उत्पत्ति होने पर भी प्रत्यक्ष ज्ञान घट से सरूप यानी घटाकार होता है इसलिये घट का ही वह परिच्छेदक होता है, इन्द्रियसरूप (= इन्द्रियाकार) नहीं होता इसलिये इन्द्रियपरिच्छेदक नहीं होता । इस प्रकार सारूप्य की महिमा मानेंगे, योग्यता की नहीं' – तो यहाँ एक नीलक्षण में अन्यनीलक्षण के परिच्छेदकत्व की आपत्ति आयेगी क्योंकि नीलात्मक होने से दोनों सरूप है । यदि कहें कि – 'परिच्छेद' ज्ञान का धर्म है, नील क्षण तो वाह्यवस्तुरूप होने से उस में उक्त आपत्ति नहीं आयेगी' – तो एक नीलज्ञान में अन्य नीलज्ञान के परिच्छेदकत्व की आपत्ति क्यों नहीं होगी ?

★ तदुत्पत्ति-तत्सारूप्य-तदध्यवसायित्व ये तीनों निरर्थक ★

यदि ऐसा हो कि – 'सिर्फ सारूप्य ही परिच्छेदकत्व का नियामक नहीं है किन्तु तदुत्पत्ति और तत्सारूप्य इन दोनों के समुदाय से तत्परिच्छेदकत्व का नियमन होता है, एक सन्तानगत नील–ज्ञान और अन्य संतानगत नीलज्ञान में जन्य-जनकभाव न होने से सिर्फ सारूप्य को ले कर उक्त आपत्ति नहीं दी जा सकती' । तो एक सन्तान में उत्तरक्षण के नीलज्ञान में उस के समनन्तर यानी पूर्वक्षण वाले नीलज्ञान के परिच्छेदकत्व की आपत्ति होगी, क्योंकि वहाँ सरूपता तो है ही और तदुत्पत्ति भी है । अभी आप कहेंगे कि – 'समानविषयक समनन्तरप्रत्यय में यद्यपि तदुत्पत्ति और सारूप्य दोनों ही होते हैं किन्तु वहाँ जो नीलज्ञान होता है वह नीलरूप का ही अध्यवसायी होता है, समनन्तर नीलज्ञान का अध्यवसायी नहीं होता । यहाँ तदध्यवसायित्व एक और नियामक है । इस लिये नीलज्ञान को नीलज्ञान का ग्राहक होने की आपत्ति नहीं होगी ।' – तो यहाँ एक प्रश्न होगा कि तदुत्पत्ति और तत्सारूप्य दोनों के रहने पर भी क्या कारण है कि वह नीलज्ञान नीलरूप अर्थ का ही अध्यवसायी होता है, नीलज्ञान का अध्यवसायी नहीं होता हैं ? यहाँ आप को भी वही योग्यता भगवती को सीर झुकाना होगा ।

उपरांत, जैसा तदध्यवसायित्व के लिये प्रश्न है वैसा ही तत्सारूप्य के लिये भी शक्य है – जब विज्ञान इन्द्रिय-विषय-अन्तःकरण आदि अनेक कारण समुदाय से उत्पन्न होता है तव यह प्रश्न होगा कि क्या कारण है कि वह विज्ञान विषयाकार को ही आत्मसात् करता है, इन्द्रियाकार को नहीं ? दूसरा प्रश्न भी हो सकता

१ - रूपालोक-मनस्कार-चक्षुर्भ्यः सम्प्रवर्त्तते । विज्ञानं मणि-सूर्यांशु-गोशकृद्भ्य इवानलः ॥ इति - अनेकान्तजयपताकायां टी० पृ० २०६ - पं० १९ ।

योग्यताया: प्रतिबन्धसाधकोऽभ्युपगन्तव्यः, अन्यथा अनुमानादिव्यवहारोच्छेद एव । न चानवस्था, न हि प्रतिबन्धनिश्चयापेक्षो लिंगवदयं गमकः, प्रत्यक्षवद् योग्यतयैव स्वार्थप्रकाशनात्, स्वहेतोरेव नियतार्थप्रकाशनयोग्यस्यास्योत्पत्तेः ।

न च स्वलक्षणदर्शनानन्तरभाविनो विकल्पस्याऽस्पष्टावभासितया न सामान्यग्राहकत्वम्, कल्पीलितनयुगोः पुरोऽवस्थिते समानाकारेऽर्थे स्पष्टतया तस्यावभासनात् । अथ सविकल्पाऽविकल्पयोर्युगपद्वृत्तेर्विमूढः तयोरैक्यमध्यवस्यति इति स्पष्टतावभासः । असदेतत् सविकल्पाऽविकल्पयोः किमेकविषयत्वम्, उतान्यतरेणान्यतरस्य विषयीकरणम् आहोस्विदपरत्रेतरस्याध्यारोपस्तयोरेकत्वाध्यवसाय इति विकल्पैरनु-

है कि नीलादिज्ञान उस के उत्पादक नीलादि अर्थ से जैसे समानाकार होता है वैसे ही जो उस के अजनक नीलादि अन्य अर्थव्यक्ति हैं उन से भी समानाकार होता है, इस प्रकार जनक और अजनक दोनों नील अर्थ का नील ज्ञान में सारूप्य जब समान रूप से है तब क्या कारण है कि वह नीलज्ञान उस के योग्यदेश में रहे हुए नीलादि अर्थ को ही विषय करने वाला माना जाता है, अयोग्य देशवर्ती नीलादि अर्थ को नहीं ? इन सभी प्रश्नों के उत्तर में तत्तद् नीलादि अर्थ और तत्तद् नीलज्ञानादि में योग्यता का स्वीकार किये बिना उपाय नहीं हो सकता । फलित यह हुआ कि समानरूप से तत्सारूप्य आदि के होने पर भी नीलादिज्ञान में नीलविषयता का नियमन योग्यता से ही किया जा सकता है इसलिये सर्वत्र अर्थ का नियम (यानी तद्ज्ञान में तद्ग्राहकता का नियम) योग्यता से ही करना होगा । प्रस्तुत में भी प्रत्यक्ष की तरह ऊह में व्याप्ति का प्रतिबन्ध (= सम्बन्ध) योग्यता से ही सिद्ध मानना होगा । ऐसा नहीं मानेंगे तो व्याप्तिग्रह का अन्य कोई उपाय न बनने से अनुमानादि व्यवहारों का उच्छेद होने की आपत्ति होगी ।

यदि कहा जाय कि – 'व्याप्ति का निश्चय योग्यता के द्वारा तर्क से होगा, किन्तु उस योग्यता का निश्चय कौन से प्रमाण से करेंगे ? अगर अन्य तर्क से करेंगे तो वहाँ भी योग्यता के निश्चय के लिये अन्य तर्क की आवश्यकता.....इस प्रकार अनवस्था दोष आयेगा' – तो यह निर्युक्तिक है क्योंकि लिंगद्वारा अनुमान की उत्पत्ति में जैसे व्याप्ति का निश्चय आवश्यक होता है वैसे तर्क द्वारा व्याप्ति के निश्चय में सिर्फ योग्यता का होना आवश्यक है 'उस का निश्चय भी आवश्यक हो' ऐसा नहीं है । प्रत्यक्ष से अर्थपरिच्छेद में भी योग्यता का रहना आवश्यक होता है, उस योग्यता से आलिंगित ही प्रत्यक्ष उत्पन्न होता है, वहाँ योग्यता का निश्चय आवश्यक नहीं होता, इसी तरह तर्क भी अपनी कारण सामग्री से उत्पन्न होता हुआ नियतार्थ प्रकाशन योग्यता के साथ ही उत्पन्न होता है, वहाँ भी योग्यता का निश्चय जरूरी नहीं है ।

★ विकल्प में सामान्यग्राहकत्व का समर्थन ★

पहले जो यह कहा था कि हमारे जैन मत में विकल्प का [illegible] है उस के ऊपर प्रतिवादी कहता है – 'स्वलक्षणग्राही दर्शन के बाद होने वाला विकल्प स्पष्टावभासी नहीं होता इस लिये उस में सामान्य का ग्रह भी शक्य नहीं है । [illegible] विकल्प में [illegible] है । [illegible] किन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि [illegible] है ।

प्रतिवादी : यह [illegible] विकल्प में नहीं होता, [illegible]

पपत्तेः । तत्र न तावदेकविषयत्वं तयोः सम्भवति, विकल्प(स्य) पूर्वानन्तरप्रत्ययाऽग्राह्यतत्समानकालवस्तुविषयत्वात् । अन्यतरस्यान्यतरेण विषयीकरणमपि समानकालभाविनोरपारतन्त्र्यादनुपपन्नम् । अविषयीकृतस्यान्यस्यान्यत्राध्यारोपोऽप्यसम्भवी । 'तदनन्तरभावि ज्ञानं तौ विषयीकृत्यापरमन्यत्राध्यारोपयती'त्यपि वक्तुमशक्यम्, तयोर्विवेकेनोपलम्भप्रसंगात् । तथा च नाध्यारोपादप्येकत्वाध्यवसायः ।

किंच, यद्यविकल्पकं विकल्पेऽध्यारोप्य विकल्पकमविकल्पतयाऽध्यवसीयते तदा समानाकारस्य विकल्पविषयतयाऽभ्युपगतस्य न तत्र तद्रूपतयाऽध्यवसायः स्यात्, विकल्पावभासस्य तद्विषयत्वेन व्यवस्थितस्य विकल्पस्वरूपवद् विकल्परूपतयाऽध्यवसितत्वात् । अथ विकल्पमविकल्पेऽध्यारोप्याऽविकल्पो विकल्परूपतयाऽध्यवसीयते तदा सुतरामस्पष्टप्रतिभास एव स्यात्, लघुवृत्तेरपि क्रमभाविनोर्विकल्पाऽविकल्पयोर्न

उत्पत्ति जब होती है तब उन दोनों में ऐक्य यानी अभेद के अध्यवसाय होने से निर्विकल्प की स्पष्टावभासिता सविकल्प में लक्षित होती है ।

वादी कहता है कि प्रतिवादी की यह बात असत्य है क्योंकि यहाँ एक भी विकल्प खरा नहीं उतरता । दोनों के ऐक्य का अध्यवसाय यानी क्या [A]एकविषयता [B]अथवा एक–दूसरे के ग्राह्य को विषय करना, [C]किंवा अन्य में अन्य का अध्यारोप होना ? [A]सविकल्प-निर्विकल्प का ऐक्याध्यवसाय यानी उन दोनों का विषय एक होना – यह सम्भवित नहीं है क्योंकि विकल्प का विषय अपने समानकालीन वस्तु होती है जो पूर्वप्रतीति या उत्तरकालीनप्रतीति का ग्राह्य नहीं होती । [B]दूसरा विकल्प एक – दूसरे के ग्राह्य को विषय करना – यह भी संभवित नहीं है क्योंकि जो एककालोत्पन्न होते हैं उन में कार्य-कारणभाव न होने से एक–दूसरे का पारतन्त्र्य नहीं होता है जिससे कि एक के विषय को दूसरा उद्भासित करने को बाध्य हो । जब एक दूसरे के ग्राह्य को विषय करने की बात घट नहीं सकती तब 'एक ज्ञान का अन्य ज्ञान में अध्यारोप' यह तीसरा विकल्प अधिक निरवकाश हो जाता है क्योंकि अध्यारोप तद्विषयत्व के ऊपर अवलम्बित है । यदि ऐसा कहें कि – 'उन दोनों के बाद एक ऐसा ज्ञान होगा जो उन दोनों को विषय कर के एक में दूसरे को अध्यारोपित करेगा' – तो यह सम्भवित नहीं है, क्योंकि वे दोनों ज्ञान विविक्त यानी अलग अलग होने से, उत्तरकालभावि ज्ञान से उस का ग्रहण भी अलग अलग ही होगा । निष्कर्ष, अध्यारोपप्रयुक्त एकत्वाध्यवसाय की बात सम्भवित नहीं ।

★ विकल्प-अविकल्प में एक-दूसरे का अध्यारोप दुर्घट ★

यह भी सोचना होगा कि अध्यारोप, विकल्प में अविकल्प का मानेंगे या अविकल्प में विकल्प का मानेंगे ? यदि ऐसा कहें कि – 'विकल्प में अविकल्प के अध्यारोप के जरिये विकल्प विकल्परूप से अध्यवसित न हो कर अविकल्प रूप से अध्यवसित होता है – यही एकत्वाध्यवसाय है ।' – तो यहाँ समानाकार में विकल्पविषयता स्वीकृत होते हुए भी उसका अविकल्पाध्यवसाय में समानाकार से भान नहीं होगा । कारण, समानाकार विकल्प के विषयरूप में सुनिश्चित होते हुये भी, अविकल्परूप से अध्यवसित ज्ञान में जैसे विकल्प का स्वरूप भासित नहीं होता है वैसे वह समानाकार भी भासित नहीं हो सकेगा । दूसरा विकल्प – यदि अविकल्प में विकल्प के अध्यारोप के जरिये, अविकल्प का विकल्परूप में अध्यवसाय यही एकत्वाध्यवसाय है ऐसा मानेंगे तो विकल्पाध्यारोप के कारण अत्यन्त अस्पष्टावभास होगा जब कि आप तो स्पष्ट अवभास के लिये यहाँ कोशिश कर रहे हैं । यदि ऐसा कहें कि – 'अविकल्प के बाद विकल्प उत्पन्न होता है, किन्तु इतना शीघ्र उत्पन्न होता है कि वहाँ

योरेकत्वाध्यवसाय इति चेत् ? न, शब्दादिस्वलक्षणेऽध्यक्षगोचरे क्षणक्षयमनुमानान्निश्चिन्वतोऽनुभव-विकल्पयोर्युगपद्भावेऽप्यभेदाध्यवासायाभावात् । मरीचिकायां जलभ्रान्तेर्विशदावभासे च निमित्तं वक्तव्यम्, विकल्पाऽविकल्पयोर्युगपद्भावनिमित्तस्य तत्राभावात् तदोपलब्धिलक्षणप्राप्तस्यानुपलम्भाद् दर्शनस्याभावात् तत्सद्भावे वा न जलाकारं दर्शनम् जलभ्रान्तेरक्षजत्वानभ्युपगमात् । नापि मरीचिकाविषयम् भिन्नाधिकरणतया तयोरेकीकरणाऽसम्भवात्, सम्भवे वा घटानुभावस्य पटस्मरणादावपि प्रसङ्गः । प्रत्यक्षासन्नवृत्तित्वाद् वैशद्यभ्रमेऽन्यत्रापि सैवास्तु किं युगपज्ज्ञानोत्पत्तिकल्पनया ? प्रकृतिविभ्रमादेवाऽस्य तथाभावे सिद्धं विक-

फलतः एकविषयता प्रयुक्त स्पष्टावभास स्मरण में भी प्रसक्त होगा । यदि कहें कि – 'दर्शन और स्मरण एकसन्तानगत होने पर भी स्मरण वस्तु के अतीतत्व को उजागर करता है, 'मेरा विषय वर्त्तमान है' इस ढंग से वह वर्त्तमानरूप से वस्तु-अवबोध नहीं करता । अतः दर्शन-स्मरण में एकत्व का अध्यवसाय निरवकाश है ।' – तो यह ठीक नहीं है क्योंकि वहाँ नहीं तो अन्यत्र, जब एक आदमी शब्दात्मक स्वलक्षण का प्रत्यक्ष कर रहा है, साथ साथ क्षणिकत्व के अनुमान की समानकालीन सामग्री से क्षणिकत्व का शब्द में ही निश्चय भी कर रहा है उस स्थान में प्रत्यक्ष और आनुमानिक निश्चय दोनों ही वर्त्तमान रूप से शब्द के ग्राहक हैं किन्तु वहाँ आनुमानिक निश्चय और प्रत्यक्ष में वर्त्तमानरूप से एकविषयता प्रयुक्त अभेदाध्यवसाय कहाँ होता है ?

★ विकल्प में स्पष्टतावभास का निमित्त ★

उपरांत, अगर आप मरीचिका (मृगतृष्णिका) में जल की भ्रान्ति में स्पष्टतावभास क्यों होता है यह सोचेंगे तो तुरंत पता चल जायेगा कि युगपद् उत्पत्तिमूलक अभेदाध्यवसाय स्पष्टतावभास का निमित्त नहीं है । कारण वहाँ जलभ्रान्ति की घटना में विकल्प और निर्विकल्प को एक साथ उत्पन्न होने के लिये सामग्री ही नहीं है । दर्शन तो वहाँ सम्भवित नहीं है क्योंकि दर्शन उपलब्धि के लिये योग्य होने पर भी उस समय उपलब्ध (= अनुभूत) नहीं होता । अगर मानों कि वहाँ दर्शन का अनुभव होता है, तो वह दर्शन जलाकार नहीं होगा (अन्य किसी आकार का होगा) क्योंकि अगर दर्शन को जलाकार मानेंगे तो वह भ्रान्तिरूप मानना होगा, और भ्रान्ति को तो बौद्ध विद्वान् इन्द्रियजन्य नहीं किन्तु वासनाजन्य मानते हैं जब कि दर्शन तो इन्द्रियजन्य होता है – इसलिये वहाँ जलदर्शन तो हो नहीं सकता । यदि कहें कि – 'जलाकार दर्शन भले न हो मरिचिका (= परावर्त्तित प्रकाश) का तो दर्शन हो सकता है' – तो बात ठीक है लेकिन तब दर्शन का विषय मरीचिका और भ्रान्तिरूप विकल्प का विषय जल, इस प्रकार दोनों में भिन्नविषयता हो जाने से दर्शन और विकल्प का एकीकरण = अभेदाध्यवसाय वहाँ सम्भवित नहीं रहेगा । भिन्नविषयता होने पर भी यदि एकीकरण मानेंगे तब तो वस्त्र के स्मरण काल में घटानुभव के एकीकरण का अनिष्ट प्रसक्त होगा । मतलब वस्त्र के स्मरण की और घटदर्शन की सामग्री जब एक काल में उपस्थित रहेगी तब वस्त्रस्मरण और घटदर्शन दोनों एक साथ उत्पन्न होंगे और भिन्नविषयता होने पर भी वहाँ अभेदाध्यवसाय होगा !

अब इन सभी झंझटो से छूटकारा पाने के लिये यदि वहाँ स्पष्टावभासी जलभ्रम में प्रत्यक्षनिकटता को यानी पूर्वक्षण में उत्पन्न हुए प्रत्यक्ष के सांनिध्य को निमित्त मानेंगे तो फिर सामान्यग्राही दर्शनजन्य विकल्प में भी स्पष्टावभासिता का वही निमित्त क्यों नहीं मान लेते ? क्यों वहाँ 'एकसाथ ज्ञानोत्पत्ति' को निमित्त दिखाने की झंझट में उलझ रहे हो ? यदि ऐसा कहें कि 'प्रकृति यानी अपने स्वभाव के विभ्रम से ही जलभ्रान्ति

त्मात्मकज्ञानस्य वैशद्यम् । न च जलभ्रान्तेरवैशद्यम्, जलभ्रान्त्याधारसमानदेशजलप्रतिभासात्ऽविशेषात् ।

न च युगपद्वृत्तिर्ज्ञानयोः सिद्धा, सकृद्भावे हि ज्ञानयोर्युगपद्वृत्तिः स्यात् । न चैकस्मात् सामग्रीविशेषादर्थेन्द्रियादिलक्षणाद् युगपत् कार्यद्वयस्य विकल्पाऽविकल्पस्योदयो युक्तः, यतः सामग्रीभेदात् कार्यस्य तत्प्रभवस्य भेदो युक्तः, अन्यथा निर्हेतुकः स स्यात् । अथ कार्यव्यतिरेकात् कारणस्य तत्सामर्थ्यावधारणम् । अर्थादिव्यतिरेकाच्च न विकल्पव्यतिरेकः एतत्समानजातीयानामतीतादिविकल्पाना-मर्थाद्यभावेऽपि भावादित्यविकल्पोत्पादन एवार्थेन्द्रियादेः सामर्थ्यमवसीयते इत्यभ्युपगमादस्त्येव सामग्रीभेदः ततः कार्यभेदोऽपि सङ्गत एव । असदेतत् तिमिरपरिकरितचक्षुषोऽर्थव्यतिरेकेणाप्यविकल्पकस्य कस्य-

मे स्पष्टावभास होता है' - तब तो विकल्प में भी आखिर प्रकृतिविभ्रम से स्पष्टावभास सिद्ध है । प्रकृतिविभ्रम यानी स्वयं मिथ्यारूप होने पर भी सत्यात्मक लक्षित होना । विकल्प में यद्यपि ऐसा प्रकृतिविभ्रम जैनमतसम्मत तो नहीं है फिर भी यह बौद्धसम्मत होने से उस में स्पष्टता का प्रसंजन करने में कोई नुकसान नहीं है । यदि बौद्ध ऐसा कहे कि - 'जलभ्रान्ति में स्पष्टावभासिता होती ही नहीं' - तो उस का स्वीकार अशक्य है क्योंकि सत्यजलज्ञान और जलभ्रान्ति दोनों में आधारभूत देश का जैसे स्पष्टावभास होता है वैसे ही जल का भी स्पष्ट अवभास होता है ।

★ एक सामग्री से विकल्प-अविकल्प दोनों का उद्भव असंगत ★

एक साथ विकल्प-अविकल्प दो ज्ञान की उत्पत्ति जो आप बता रहे हैं यह भी असिद्ध है । इन्द्रिय-विषयादि एक ही विशिष्ट सामग्री से एक साथ विकल्प और अविकल्प ऐसे दो कार्यभूत ज्ञानों की उत्पत्ति संगत नहीं है । कारण, सामग्रीजन्य कार्यों का भेद, सामग्री भिन्न भिन्न होने पर ही युक्त होता है, सामग्रीभेद बिना भी यदि कार्यभेद मानेंगे तब तो कार्यभेद अहेतुक हो जाने से, या तो सर्वत्र प्रसक्त होगा, अथवा कहीं भी नहीं होगा ।

अब यदि ऐसा कहा जाय कि- 'अभिमत कारण के न रहने पर जब कार्य उत्पन्न नहीं होता तब उस कारण को तत्कार्योत्पत्तिसमर्थ माना जाता है । प्रस्तुत में देखिये कि, अर्थ-इन्द्रियादि के न रहने पर विकल्प का उदय न होता हो ऐसा इसलिये नहीं है कि अतीतादि अर्थों के बारे में, उन के न होने पर भी, उन के अतीतादि-वस्तुओं के समानजातीय विकल्पों का उदय होता रहता है । अविकल्प का उदय अर्थादि के न रहने पर कभी नहीं होता, अतः इन्द्रिय-विषयादिसामग्री अविकल्प की उत्पत्ति में समर्थ होने का सिद्ध होता है । यह सिद्ध होने पर विकल्प और अविकल्प की सामग्री में भी भेद होने का सिद्ध हो जाने से, कार्यभेद का होना भी अब युक्तिसंगत लगता है ।'-

यह ज्ञातव्य है कि अर्थ के बिना अविकल्प की उत्पत्ति नहीं होती, [illegible] जैसे [illegible] [illegible] [illegible] का निर्विकल्प दर्शन भी बिना [illegible] के होने का [illegible] है, अब [illegible] [illegible] निर्विकल्पों में भी विकल्पों की तरह अर्थ [illegible] का, [illegible] [illegible] [illegible] के [illegible] [illegible] होगा । यदि कहा जाय- '[illegible] [illegible] और [illegible] का [illegible] से [illegible] [illegible] [illegible] नहीं है, [illegible] है [illegible] [illegible] में अविकल्प का [illegible] [illegible] नहीं होता ।' [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] में भी [illegible]

* [illegible]

चिदुत्पत्तिदर्शनादपरस्यापि तज्जातीयताऽविकल्पदर्शनस्य विकल्पवदनर्थजन्यत्वप्रसक्तेः ।

न चैकत्र विकल्पेऽवैशद्यदर्शनात् तज्जातीयतया सर्वत्र तथाभावसिद्धिः, अविकल्पस्यापि दूरार्थग्राहिणः कस्यचिदवैशद्योपलब्धेः तदन्यस्यापि तद्भावप्रसक्तेः । तत् स्थितमक्षभाविनो विकल्पस्यार्थसाक्षात्करणलक्षणं वैशद्यम् । तेन स्वव्यापारमेवमादर्शयतो विकल्पस्योत्पत्तेः 'स्वव्यापारमुत्प्रेक्षात्मकं तिरस्कृत्य दर्शनव्यापारानुसरणाद् विकल्पः प्रमाणं न भवति' इत्येतन्निरस्तं द्रष्टव्यम् । विकल्पश्चैक एवार्थग्राह्युपलक्ष्यते नापरं दर्शनम् यद्व्यापारानुसारिणो विकल्पस्याऽप्रामाण्यं भवद्भिः गृहीतग्राहीतया प्रतिपाद्येत । विकल्पाऽविकल्पयोर्लघुवृत्तेर्विकल्पव्यतिरेकेणाऽविकल्पस्यानुपलक्षणेऽङ्गीक्रियमाणे वर्णयोरपि लघुवृत्तेरितरेतर-

---

से सोच लीजिये कि अतीतादिविषयक विकल्प और घटादि प्रत्यक्षविकल्प समानजातीय नहीं है अतः सभी विकल्पों में अर्थजन्यत्वाभाव प्रसक्त नहीं होगा ।

★ विकल्प में अर्थसाक्षात्कारस्वरूप वैशद्य ★

विकल्प में जैसे अर्थजन्यत्व का अभाव सिद्ध नहीं होता वैसे ही, किसी एक विकल्प में स्पष्टता न दिखने पर तादृश विकल्पजातीय सभी विकल्पों में स्पष्टता का अभाव सिद्ध करने की चेष्टा भी व्यर्थ है । क्योंकि ऐसे तो किसी एक दूरस्थितआम्रादिग्राही अविकल्प भी (सिर्फ वृक्ष का ही, न कि आम्र का, अवगाही होने से) अस्पष्ट ही उत्पन्न होता है तो उस के उदाहरण से समानजातीय सभी अविकल्पों में अस्पष्टता की विपदा आयेगी । निष्कर्ष यह फलित होता है – विकल्प भी इन्द्रियजन्य और अर्थसाक्षात्कारस्वरूप स्पष्टता से अलंकृत ही होता है । और वह साक्षात्कार स्वरूप होता है इसीलिये अपने अर्थप्रकाशनस्वरूप व्यापार को व्यक्त करता हुआ ही उत्पन्न होता है । इसीलिये जो किसीने यह कहा है कि 'विकल्प प्रमाणभूत नहीं है क्योंकि वह अपने कल्पनास्वरूप (यानी नाम-जात्यादियोजना स्वरूप) व्यापार को छीपा कर दर्शन के ही व्यापार का अनुसरण करता हुआ उत्पन्न होता है' यह निरस्त हो जाता है क्योंकि यह गलत बात है कि वह अपने व्यापार को छीपाता है ।

★ विकल्प से भिन्न निर्विकल्पज्ञान की समीक्षा ★

सच बात तो यह है कि जिस दर्शन के व्यापार का अनुसरण करने के कारण गृहीतग्राही हो जाने वाले विकल्प को आप अप्रमाण ठहराना चाहते है वह दर्शन तो अर्थग्राही (अर्थसाक्षात्कारकर्त्ता) के रूप में लक्षित भी नहीं होता, सिर्फ विकल्प ही अर्थग्राही के रूप में लक्षित होता है । यदि ऐसा कहा जाय कि 'विकल्प के बाद शीघ्र ही विकल्प उत्पन्न हो जाने से शीघ्रता के कारण, विकल्प से अलग अविकल्प लक्षित नहीं होता' तब तो एक वर्ण के बाद शीघ्र ही अन्य वर्ण की उत्पत्ति हो जाने से 'घ' और 'ट' ये दो वर्ण भी एक-दूसरे से अलग-थलग लक्षित न होने की विपदा आयेगी । ऐसा नहीं कह सकते कि 'वर्णद्वय के उच्चारण में तो वैसी शीघ्रता न होने से एक-दूसरे से अलग बोध हो जाने का पूरा सम्भव है' – यदि ऐसा कहेंगे तो फिर एक साथ अनेक इन्द्रियों से जन्य विविक्त ज्ञान की उत्पत्ति जो नहीं मानते हैं उन नैयायिकादि विद्वानों के प्रति आप जो शीघ्रता के कारण घ-ट की विविक्त प्रतीति में उस नियम का व्यभिचार प्रतिपादित करते हैं वह भी नहीं हो सकेगा । तात्पर्य ऐसा है कि दीर्घशष्कुलीभक्षण में जब पाँच इन्द्रियों से एक साथ अनेक ज्ञान महसूस होते हैं तब कुछ लोग कहते हैं कि वे क्रमशः उत्पन्न होते हैं, एक साथ नहीं, फिर भी शीघ्रोत्पत्ति के कारण वहाँ क्रम लक्षित न होने से एक साथ उत्पत्ति भासित होती है– उन के सामने बौद्ध कहते हैं कि

व्यतिरेकेणानुपलक्षणप्रसक्तिः । न च वर्णयोस्तथाभूतत्वपूर्वकत्वाभावात् परस्परव्यतिरेकेणोपलक्षणमप्रसक्तम्, युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिवादिनोऽपि नाभ्यां व्यभिचाराभावप्रसक्तेः । नापि सादृश्याद् विकल्पाऽविकल्पयोर्भेदेनानुपलक्षणम्, सन्तानेतरविषयत्वेन तयोरेकविषयत्वकृतसादृश्याभावात् । ज्ञानरूपतया सादृश्ये नीलाऽनीलाकारज्ञानयोरपि ज्ञानात्मना सादृश्यान्न स्याद् भेदेनोपलक्षणम् । तन्नाऽविकल्पकज्ञानसद्भावः ।

अथ यदि प्रथमाक्षसन्निपात एव सविकल्पकं दर्शनमुदयमासादयति तद्ग्राह्यस्वरूपयोगिता, तदा सत्यर्थग्रहणाभाव एव प्रसक्तः । तथाहि – अर्थदर्शने सति तत्सम्बन्धाभिधाने दृष्टे तद्वाचके स्मृतिः, तत्स्मृतौ च तेनार्थं योजयति, तद्योजितं चार्थं विकल्पिका बुद्धिरध्यवस्यति । न च सविकल्पप्रत्यक्षवादी अशब्दकमर्थं पश्यति, तद्दर्शनमन्तरेण च (न) तद्वाचःस्मृतिः, तामन्तरेण च न वचनसंश्लिष्टार्थदर्शनम् इत्यर्थदर्शनाभाव एव प्रसक्तः । असदेतत् – यतो 'अशब्दकमर्थं विकल्पो नावगच्छति' इत्यभ्युपगम्यते तदा स्यादयं दोषः, न चास्माभिः शब्दसंयोजितार्थग्रहणं विकल्पोऽभ्युपगम्यते, किं तर्हि ? निरंशक्षणि-

---

यदि शीघ्रता के कारण क्रम लक्षित नहीं होता तो 'प-र' के उच्चारण में कैसे वह भासित होता है ? जब कि शीघ्रता तो यहाँ भी है । इस प्रकार शीघ्रता के कारण क्रम अनुपलक्षित होने के नियम में जो बौद्ध 'प-र' उच्चारण को लेकर व्यभिचार दिखाता है वह अब नहीं दिखा सकेगा यदि वर्णद्वय के उच्चारण में शीघ्रता का निषेध करेगा ।

यदि ऐसा कहें कि – सादृश्य के कारण विकल्प और अविकल्प में भेद उपलक्षित नहीं होता – तो यह गलत है क्योंकि विकल्प का विषय सन्तान और अविकल्प का विषय क्षण है अतः इन दोनों में एकविषयता कृत सादृश्य का सम्भव ही नहीं है । और यदि सिर्फ ज्ञानस्वरूपतारूप सादृश्य ही भेद-अनुपलक्षण का बीज कहा जाय तो नीलाकार और अनीलाकार दो ज्ञानों में भी ज्ञानस्वरूपतात्मक सादृश्य विद्यमान है अतः नीलाकार और पीताकार ज्ञानों में भी भेदबुद्धि नहीं होगी ।

निष्कर्ष, विकल्पभिन्न निर्विकल्प जैसा कोई ज्ञान ही सिद्ध नहीं है ।

बौद्ध : वस्तु सर्वप्रथम इन्द्रियसम्पर्क में आने पर, तुरंत ही सविकल्पक प्रत्यक्ष का ही उदय होता है और उसी से अर्थस्वरूप का ग्रहण होता है ऐसा जब आप मानेंगे तब तो अर्थग्रहण ही असम्भव हो जायेगा । वह इस प्रकार : एक बात तो सुनिश्चित है कि सविकल्पप्रत्यक्ष प्रमाणवादी के मत में शब्दासंयोजित यानी शब्दअसंसृष्ट सिर्फ अकेले अर्थ का तो कभी दर्शन नहीं होता । अब इस पर ध्यान दीजिये, पहले अर्थदर्शन होगा, बाद में उस अर्थ के सम्बन्धित्व में रहे यानी ज्ञात उस के वाचक शब्द का स्मरण होगा; स्मरण के बाद शब्द को अर्थ से योजित करेगा, तब शब्दयोजित अर्थ को विकल्पबुद्धि अवगाहित करेगी - किन्तु यहाँ मूल में ही क्षति है, सविकल्पप्रत्यक्षवादी के मत में शब्दासंयोजित अर्थ का तो दर्शन ही नहीं है [illegible]

[illegible]

[illegible]

स्याद्वादी : [illegible]

[illegible]

कानेकपरमाणुविलक्षणस्थिरस्थूरार्थग्रहणम्, तच्च प्रथमाक्षसन्निपातवेलायामप्यनुभूयते ।

तथा, संहृतसकलविकल्पावस्थायामपि न निरंशक्षणिकानेकपरमाणुप्रतिभासः, स्थिरस्थूलरूपस्य बहिःस्तम्भादेर्ग्राह्यरूपतां बिभ्राणस्य प्रतिभासनात् । यदि पुनरभिलापसंसृष्टार्थाध्यवसाय्येव विकल्पोऽभ्युपगम्यते तदा तदनुत्पत्तिरेव प्रसक्ता । तथाहि – यावत् पुरो व्यवस्थितं वस्तु नीलादित्वे(न) न निश्चितं न तावत् तत्सन्निधानोपलब्धतद्वाचकस्मृत्यादिक्रमेण तत्परिष्वक्तार्थनिश्चयः यावच्च न निश्चयो न तावत् तद्वाचकस्मृत्यादि, क्षणक्षयादाविवाऽनिश्चिते वाचकस्मृत्यादेरयोगात् । योगे वा शब्दानुभवानन्तरं 'क्षणिकः' इति वाचकस्मृत्यादिक्रमेण तन्निश्चयोत्पत्तेः क्षणक्षयानुमानमपार्थकं स्यात् । अपि च, 'तद्वाचकस्यापि स्मरणमपरतद्वाचकयोगमन्तरेण भवदभ्युपगमेन न सम्भवति, तद्योजनमपि स्मरणमन्तरेण, स्मरणम-

---

अर्थ को ही विकल्प ग्रहण करता है' ऐसा मानते ही नहीं । तो फिर क्या मानते हैं ? हम विकल्प से स्थिर एवं स्थूल अर्थ का ग्रहण मानते हैं जो कि क्षणिक अनेक परमाणुपुञ्ज के ग्रहण की आप की मान्यता से सर्वथा उलटा है । सर्व प्रथम इन्द्रिय-अर्थ सम्पर्क होने पर भी स्थिर–स्थूल अर्थग्राही विकल्प का ही अनुभव होता है, क्षणिक – परमाणुपुञ्जग्राही अविकल्प का नहीं ।

★ विकल्प मुक्त अवस्था में भी स्थिर-स्थूल-वाह्यार्थ का भान ★

उपरांत, जव मन सकल विकल्पों के घेरे से मुक्त रह कर सामने रहे हुए स्तम्भादि वस्तु पर दृष्टिपात करता है तव निरंश-क्षणिक-अनेक परमाणु के पुञ्ज का प्रतिभास नहीं होता – अपितु स्थिर, स्थूल एवं वाह्य रूप से ग्राह्याकार को धारण करते हुए स्तम्भादि का ही अववोध होता है । कदाचित् मन में अश्व का विकल्प चल रहा हो तभी यदि सामने खडे हुए गाय आदि के ऊपर दृष्टिपात हो जाय तो तव अश्व-गाय का अभेदाध्यवसाय नहीं होता किन्तु स्थिर एवं स्थूल तथा वाह्य के रूप में अववोध का विषय वनते हुए गाय आदि का ही प्रतिभास होता है ।

यदि 'विकल्प शब्दसंयोजित अर्थ का ही अध्यवसायी होता है' ऐसी मान्यता का आग्रह रखेंगे तो वैसे विकल्प की उत्पत्ति ही सम्भवातीत हो जायेगी । पहले ही हम कह आये हैं कि अविकल्पज्ञान की सम्भावना ही असंगत है इस लिये अविकल्प के वाद सविकल्प की उत्पत्ति भी नहीं मानी जा सकती । अव यदि विकल्प को शब्दसंमिलितार्थग्राही मानने में आग्रह है तो आपने पहले कहा है उसी रीति से विकल्प का अनुत्थान फलित होगा – जैसे : जव तक सम्मुख अवस्थित वस्तु का नीलादिरूप से निश्चय नहीं होगा तव तक तत्सम्वन्धिरूप से पूर्वज्ञात वाचक शब्द का नहीं होगा, स्मरण के अभाव में उस का अर्थ के साथ संयोजन नहीं होगा, संयोजन के न होने पर शब्द से आलिंगित अर्थ का ग्रहण नहीं होगा । जव तक अर्थनिश्चय नहीं होगा तव तक उस के वाचक शब्द के स्मरण का भी संभव नहीं है । क्योंकि यह तो आप भी जानते हैं कि क्षणिकत्व का निश्चय न होने के कारण तद्वाचक शब्द का स्मरण आदि नहीं होता है । यदि क्षणिकत्व के अनुभव के विना भी उस के वाचक का स्मरण मानेंगे तव तो शब्द का श्रवण होने पर तद्गत क्षणिकत्व के अनुभव के अभाव में भी क्षणिकत्व का निश्चय उत्पन्न हो जायेगा, फलतः शब्द में क्षणिकत्व का अनुमान अर्थशून्य वन जायेगा ।

★ सविकल्प से अर्थव्यवस्था, अन्यथा व्यवहारोच्छेद ★

और भी आगे वढ कर यह कह सकते हैं कि वाचक का स्मरण भी आखिर तो एक विकल्पस्वरूप

प्यपरतद्वाचकसंयोजनादिव्यतिरेकेण'... इत्यनवस्थानान्नात्र क्वचिदपि निश्चयः स्यादिति । तस्मादभिलापसंसर्गयोग्यस्थिरस्थूलार्थप्रतिभासं ज्ञानं प्रथमाक्षसंनिपातोद्भवं सविकल्पकं तथाभूतार्थव्यवस्थापकमभ्युपगन्तव्यम्; अन्यथा सकलव्यवहारोच्छेदप्रसङ्गः ।

अतः साधारणाऽसाधारणरूपे वस्तुनि प्रमाणप्रवृत्तिः नाऽसाधारणात्मनि, निर्विकल्पकस्याप्यसाधारणात्मनि विषये विकल्पानुत्पादकत्वादग्राहकत्वमेव । ग्राहकत्वे वा तत्र क्षणक्षयानुमानस्याऽप्रामाण्यप्रसक्तिः । तस्मात् 'स्वस्वभावव्यवस्थितेः' इत्यस्य हेतोर्भेदेन सर्वपदार्थानां प्रत्यक्षेण व्याप्तिग्रहणाभावाद् न व्याप्तिग्राहकप्रमाणफलमेतत् 'स्वस्वभावव्यवस्थितेः सर्वभावानां सर्वतो भेदः' इति । अतो न धर्मविशेषाभावः । व्यावर्त्त्यभेदाद् व्यावृत्तिभेदः तद्भेदाच्च धर्मभेदे यथा अमूर्त्ताद् व्यावर्त्तमानो घटो

ही है अतः वह विकल्प भी वाचक में उस के वाचकरूप शब्द की योजना के बिना, आप के उपरोक्त कथन के अनुसार सम्भव न होगा । फिर, वाचक रूप अर्थ में उस के वाचक शब्द की संयोजना भी पुनः उस के स्मरण के बिना नहीं हो सकेगी । अतः उस दूसरे वाचक की स्मृति की अपेक्षा रहेगी, किन्तु वह भी उस के (तीसरे) वाचक की योजना के बिना सम्भवित नहीं.....इस प्रकार अनवस्था दोष लागू होगा, क्योंकि अर्थग्रहण के लिये शब्दयोजना, शब्दयोजना के लिये वाचक का स्मरण, उस के लिये पुनः शब्दयोजना की अपेक्षा......यह क्रम बेरोकटोक चलता रहेगा । फलतः विकल्प का उत्थान [illegible] हो जायेगा । इन सब दोषों से बचने के लिये यही मानना होगा कि प्रथम दृष्टिपात के साथ ही शब्दसंयोजनायोग्य (शब्दसंयोजित नहीं,) स्थिर-स्थूल अर्थ का प्रकाशक सविकल्पक ज्ञान उत्पन्न होता है और वही स्थिर-स्थूल बाह्यार्थ का संस्थापक भी है । ऐसा नहीं मानेंगे तो बाह्यार्थ की स्थिरता एवं स्थूलता के आधार पर जो समग्र जनव्यवहार चल रहा है उस का उच्छेद हो जायेगा ।

★ प्रमाण का विषय सामान्य-विशेषोभयात्मक वस्तु ★

विचार का निष्कर्ष यह है कि प्रमाण का प्रवेश सामान्यविशेषोभयात्मक वस्तु में ही होता है, केवल विशेषात्मक वस्तु में नहीं होता । निर्विकल्प भी असाधारण वस्तु का ग्राहक नहीं होता क्योंकि वह असाधारणवस्तुविषयक विकल्प को उत्पन्न नहीं करता । [बौद्ध मत में 'यत्रैव जनयेदेनां तत्रैवास्य प्रमाणता' इस उक्ति के अनुसार निर्विकल्प जिस विषय में विकल्प बुद्धि को उत्पन्न करे उसी विषय में वह प्रमाण होता है ।] यदि असाधारणवस्तुविषयक विकल्प की उत्पत्ति के बिना भी निर्विकल्प को असाधारण वस्तु ग्राही माना जायेगा तो उसको क्षणिकत्वग्राही भी मानने के लिये बाध्य होना पड़ेगा, जिसके फलस्वरूप क्षणिकत्व का अनुमान गृहीतग्राही होने के हेतु अप्रमाण हो जाने से बेकार बन जायेगा । इस प्रकार, प्रत्यक्ष व्याप्तिग्राहक सिद्ध न होने से 'स्व स्वभाव व्यवस्थितेः' इस हेतु के अपने साध्यभूत सर्वपदार्थभेद के साथ व्याप्ति का ग्रहण भी प्रत्यक्षसिद्ध न होने से, [illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]

मूर्त्तस्तथाऽमूर्त्तान्तराद् व्यावर्त्तमानः प्रत्ययोऽमूर्त्तोऽपि मूर्त्तः स्यात् । अमूर्त्तात्मना तयोरभेदे कथं नोभयात्मकत्वं भावानाम् ? न च कल्पितो धर्मभेदः, तथाभ्युपगमे यथा परसत्त्वाद् व्यावर्त्तमानस्य घटादेः परविविक्तं स्वसत्त्वं कल्प्यते तथा स्वसत्त्वाद् व्यावर्त्तमानस्य स्वाऽसत्त्वप्रक्लृप्तिप्रसङ्गः । अथ परसत्त्वादेव तस्य व्यावृत्तिः न स्वसत्त्वाद्, नन्वेवं कथं न पारमार्थिकोऽन्यव्यावृत्तिधर्मभेदोऽभ्युपगतः स्यात् ? न च 'एकः संवृत्तिसन्नपि कल्प्यतेऽन्यो न'इति विभागो युक्तः, कल्पनायाः सर्वत्र निरंकुशत्वात् । तदेवं सदृशपरिणामसामान्यस्याऽवाधितप्रत्ययविषयत्वेन सत्त्वादसिद्धो हेतुरिति स्थितम् ।

यदि ऐसा कहें कि – 'धर्मविशेष को मानने की जरूर नहीं है, व्यावर्त्त्य गो-अश्वादि के भेद से ही उन की अगोव्यावृत्ति और अनश्वव्यावृत्ति में भी भेद प्रयुक्त होगा और व्यावृत्तियों के भेद से ही उन में धर्मभेद यानी कल्पित सामान्य-विशेष भी हो जायेगा'– तो यह ठीक नहीं है । कारण, घट पदार्थ जैसे संस्कारादि अमूर्त्त पदार्थ से व्यावृत्त होने के कारण आप उस को 'मूर्त्त' कहते हैं (मूर्त्तत्व रूप धर्म के आधार पर नहीं,) वैसे वोध स्वयं अमूर्त्त होते हुए भी अन्य संस्कारादि अमूर्त्त पदार्थ से व्यावृत्त होने के कारण, वोध का भी 'मूर्त्त' व्यवहार प्रसक्त होने की आप को आपत्ति आयेगी, फलतः मूर्त्तत्व रूप धर्मविशेष का अंगीकार नहीं करेंगे तो मूर्त्तरूप से घट और वोध दोनों समान हो जायेंगे एवं संस्कार और वोध भिन्न हो जायेंगे । यदि कहें कि – 'वोध संस्कारादि अन्य अमूर्त्त से व्यावृत्त होने के कारण मूर्त्त होते हुए भी स्वतः अमूर्त्त ही है इस लिये संस्कारादि से उसका अभेद ही रहेगा' – तव तो वोध में मूर्त्तरूपता और अमूर्त्तरूपता उभय प्रसक्त होने से भावमात्र को उभयरूप क्यों नहीं अंगीकार करते ?

★ घट में स्वसत्त्व की तरह स्वाऽसत्त्व की आपत्ति ★

यदि ऐसा आग्रह रखें कि धर्मविशेष (सामान्य) काल्पनिक है वास्तविक नहीं, तव एक आपत्ति दुर्निवार होगी– हम तो घट में पर रूप से असत्त्व और स्वरूप से सत्त्व मानते हैं । लेकिन आप तो वास्तविक परतः असत्त्व और स्वसत्त्व न मान कर परसत्त्वव्यावृत्त घटादि में परासाधारण काल्पनिक स्वसत्त्व मानना चाहेंगे, तो इसी प्रकार स्वसत्त्वव्यावृत्त घट में स्वाऽसत्त्व भी मानना पडेगा । यदि कहें कि– 'घट परसत्त्व से व्यावृत्त होता है किन्तु स्वसत्त्व से व्यावृत्त नहीं होता, इसलिये स्वाऽसत्त्व का आपादन शक्य नहीं'– यहाँ आप की नहीं चलेंगी, क्योंकि तव आप को अन्यव्यावृत्तिस्वरूप धर्मविशेष को वास्तविक मानने के लिये वाध्य होना ही पडेगा । कारण, जव कल्पना ही करना है तव तो अन्यव्यावृत्ति की तरह स्व में स्वव्यावृत्ति की भी कल्पना हो सकती है, वहाँ 'एक अन्यव्यावृत्ति सांवृत सत् होते हुए भी कल्पित की जाय और स्वव्यावृत्ति सांवृतसत् होते हुए भी उसकी कल्पना न की जाय' ऐसा पक्षपात करना ठीक नहीं है, क्योंकि कल्पना तो निरंकुश होने से दोनों तरह की जा सकती है ।

सार यह है कि सदृशपरिणामात्मक सामान्य भी निर्वाधप्रतीति का विषय (भले ही विकल्प का विषय हो) होने से वास्तविक है, अतः आप का हेतु असिद्ध है ।

तात्पर्य यह है कि वौद्धने जो प्रारम्भ में ऐसा कहा था– भिन्न अर्थों में अभेदाध्यवसायित्व हेतु से शाव्दिकप्रतीति में भ्रान्तता होती है– यहाँ वास्तव में सदृशपरिणामरूप सामान्य की वास्तविकता (=निर्वाधप्रतीतिविषयता) सावित हो जाने से अव शाव्दिकप्रतीति अभेद (सामान्यधारी) में ही अभेद (सामान्य) की अध्यवसायिनी सिद्ध

स्वसंवेदनप्रत्यक्षस्याऽनिश्चयरूपताभ्युपगमे शाब्दप्रत्ययस्याऽसिद्धत्वादाश्रयासिद्धश्च हेतुः । न ह्यनिश्चि-तं ज्ञानस्य स्वरूपं स्वर्गप्रापणसामर्थ्यवद् दानचित्तस्य सिद्धं भवति, प्रतिभासमात्रेण सिद्धत्वे वा तत्र विप्रतिपत्तिर्न स्यात्, क्षणक्षयादेरपि च प्रतिभासमात्रेणैव सिद्धत्वात् तदनुमानवैयर्थ्यप्रसक्तिश्च । न च स्वसंवेदनेनाऽनिश्चयात्मनाऽपि निश्चयात्मज्ञानस्वरूपं गृह्यते न पुनरस्य स्वर्गप्रापणसामर्थ्यादिकम् अतो न विप्रतिपत्त्याद्यभाव इति वक्तव्यम्, तस्मिन् गृह्यमाणेऽगृह्यमाणस्य तस्य ततो भेदप्रसंगात् । न च त-स्मिन् सर्वात्मना स्वसंविदितेऽप्यभ्यासपाटवादेर्निमित्तात् क्वचिदेवांशे निश्चयो न सर्वत्र, स्वसंवेदनस्य तदंशनिश्चयजननसमर्थस्यापि तदंशान्तरे तदसामर्थ्याद् द्विरूपतापत्तेः । न चैकत्र सामर्थ्यमेव परत्राऽसा-मर्थ्यम्, विहितोत्तरत्वात् (१७३-८) । न च निश्चयसंवेदनस्याप्यनिश्चयात्मकत्वेन स्वतोऽनिश्चितस्य

होने से बौद्धकथित अनुमान का हेतु असिद्ध साबित होता है । व्याख्याकार ने उत्तरपक्ष के प्रारम्भ में ही इसका जिक्र किया है और यहाँ आ कर उपसंहार किया है ।

★ 'भेदेषु अभेदाध्यवसायित्व' हेतु आश्रयासिद्ध ★

हेतु में स्वरूपाऽसिद्धि दिखाने के बाद अब आश्रयासिद्धि दिखाते हुए व्याख्याकार कहते हैं– बौद्धवादी प्रत्यक्ष को स्वसंवेदन तो मानते हैं किन्तु निश्चयात्मक नहीं मानते । [विकल्प को तो प्रमाण ही नहीं मानते ।] इस स्थिति में शाब्दिक प्रतीति जो कि पूर्वोक्त बौद्ध अनुमान में पक्ष बनायी गयी है, उसकी सिद्धि न होने से उक्त अनुमान का हेतु आश्रयासिद्ध बन जायेगा । वह इस प्रकार : जिस ज्ञान का स्वरूप अनिश्चित हो उसको सिद्ध नहीं मान सकते, जैसे : दानचित्त का स्वर्गप्रापण सामर्थ्यात्मक स्वरूप अनिश्चित होने से दानचित्त, सो यह सिद्ध नहीं माना जाता । यदि ऐसा कहें कि – 'ज्ञान का स्वरूप अनिश्चित दशा में भी प्रतिभासित तो होता है, आखिर कुछ उस की झाँकी जरूर होती है अतः उसे सिद्ध मान सकते हैं'– तो यहाँ प्रातिभासिक सिद्धि मान लेने पर उसके बारे में कहीं भी विवाद ही देखने को नहीं मिलेगा । और दूसरी बात यह कि ऐसे तो क्षणिकत्व की भी प्रातिभासिक सिद्धि मान लेंगे, फिर उस के लिये अनुमान बेकार हो जायेगा ।

★ स्वसंवेदनप्रत्यक्ष में भेदप्रसक्ति ★

यदि ऐसा कहें – 'स्वसंवेदनप्रत्यक्ष स्वयं भले अनिश्चयात्मक हो, फिर भी निश्चयात्मज्ञान स्वरूप (शब्दप्रतीति अथवा दानचित्त) का ग्रहण तो कर सकता है, किन्तु स्वर्गप्रापणशक्ति आदि अतीन्द्रिय होने के कारण उस का ग्रहण न होने से वहाँ विवाद दिखाई देगा ।' – तो ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि दानचित्तादि का ग्रहण होते हुए भी 'जो यहाँ गृहीत नहीं होता है उस का' यानी स्वर्गप्रापणसामर्थ्य का दानचित्त से भेद हो जायेगा । यदि ऐसा कहें कि- 'स्वसंवेदनप्रत्यक्ष दानचित्तादि विषय को सर्वात्मना से यानी सभी पहलूओं से संपूर्ण ग्रहण करता है (अतः भेद नहीं होगा,) किन्तु ज्ञाता के अभ्यास, पटुता इत्यादि के अनुसार से कुछ ही [illegible] अंश का निश्चय होता है, स्वर्गप्रापणशक्ति आदि अंशों का नहीं ।'– ऐसा इसलिये नहीं कह सकते कि [illegible] स्वसंवेदनप्रत्यक्ष में द्विरूपता की आपत्ति से पुनः भेद प्रसक्त होगा क्योंकि वह इत्यादि [illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]

निश्चयव्यवस्थापकत्वम्, क्षणिकत्वादेरिवाऽनिश्चितस्याऽन्यव्यवस्थापकत्वाऽयोगात् । न च स्वसंवेदनेनाऽनिश्चयात्मनाऽनिश्चितो निश्चयः प्रत्ययव्यवस्थापकः, इति निर्विकल्पकस्वसंवेदनवादिनः प्रत्ययाऽसिद्धेः कथं नाश्रयाऽसिद्धः प्रकृतो हेतुः ?!

यदपि 'भवतु वा सामान्यं तथापि तस्य(?) भेदेभ्योऽर्थान्तरत्वे भिन्नेष्वभेदाध्यवसायो भ्रान्तिरेव' [पृ० १८ पं० ७] इत्यादि, तदप्ययुक्तम्; एकान्तभिन्नस्य सामान्यस्य भिन्नेष्वभेदप्रत्ययहेतुत्वेनाऽनभ्युपगमात् । न ह्यन्येनान्ये समाना अभ्युपगम्यन्ते किन्तु स्वहेतुभ्य एव केचित् समाना उत्पन्नास्तथैव गवादिप्रत्ययविषयाः ।

यदपि 'अनर्थान्तरत्वेऽपि सामान्यस्य' [पृ० १८ पं० ८] इत्यादि, तदप्यसत्, अनर्थान्त- रत्वेनैकान्तेन तस्याऽनभ्युपगमान्न तत्पक्षभावी भ्रान्तत्वादिदोषः प्रत्ययस्य ।

यदपि 'यत्रैव हि कृतसमया ध्वनयः स एव तेषामर्थः, न च समयः शब्दानां परमार्थतः सम्भवति' [१९-२] तदप्ययुक्तम्, सामान्य-विशेषरूपस्य वस्तुनः पारमार्थिकस्य संकेत-व्यवहार-कालव्यापकस्य प्रमाणसिद्धत्वात् ।

यद्यपि शाबलेयादयो व्यक्तिविशेषाः परस्परं नाऽनुयन्ति तथापि समानपरिणामस्वरूपतया क्षयो-

---

कि अर्थ के साथ इन्द्रिय का संपूर्ण सम्बन्ध होने पर भी स्कन्ध के कुछ अंश का ही दर्शन कराने का सामर्थ्य उस में होता है जो कि अन्य अंशों के दर्शन कराने के असामर्थ्य से अभिन्न ही होता है....इत्यादि । [पृ० १७४ पं० १३]

दूसरी बात यह है कि निश्चय का संवेदन अनिश्चयात्मक है, अतः जब तक वह स्वतः निश्चयरूप नहीं है तब तक उस निश्चय का भी स्थापन नहीं कर सकता । जो क्षणिकत्वादि के बारे में निश्चयात्मक संवेदन नहीं होता वह क्षणिकत्व का स्थापक नहीं होता, स्पष्ट बात है ।

इस का नतीजा यह है कि निश्चयात्मक स्वसंवेदन निश्चय का भी निश्चायक नहीं है अतः उस से अनिश्चित ऐसे अनुमानादि किसी भी निश्चय से शाब्दिक प्रतीति की भी स्थापना = सिद्धि शक्य नहीं रहेगी । अतः निर्विकल्पस्वसंवेदनप्रत्यक्षवादी के मत में, शाब्दिक प्रत्यय का अस्तित्व ही असिद्ध रह जाने से हेतु का आश्रय-पक्ष भी असिद्ध है, प्रस्तुत (भेदों में अभेदाध्यवसायित्व) हेतु भी क्यों आश्रयासिद्ध नहीं होगा ?

★ सामान्य में आरोपित का निराकरण ★

बौद्धने जो प्रारंभ में कहा था [पृ० १८ पं० २४] 'सामान्य का अस्तित्व भले मानो किन्तु विशेषपदार्थों से उस का भेद मानने पर अभेदाध्यवसाय भ्रान्त हो जायेगा क्योंकि अन्य से अन्यों में समानता (= अभेद) नहीं हो सकती' –....इत्यादि वह सब अयुक्त है, क्योंकि जैन मत में एकान्ततः विशेषभिन्न सामान्य तत्त्व को असमानों में समान प्रतीति का हेतु ही नहीं माना गया है । हम मानते ही नहीं कि – 'पृथग्भूत सामान्य से तदन्य घट-पटादिमें समानता आती है' । अरे गाय आदि कुछ पदार्थ अपने अपने (समान) हेतु से ही समानता धारण करते हुए उत्पन्न होते हैं, और इस तरह समान परिणाम को ले कर उत्पन्न गायादि अभेदप्रतीति के विषय होते हैं ।

यह जो कहा था कि – 'सामान्य वस्तु से अभिन्न होगा तो उस की महीमा से सारा विश्व अभिन्न=एक हो जाने से कहीं भी समानताप्रतीति नहीं होगी क्योंकि वह अनेकत्व व्याप्य होती है' [पृ० १८ पं० २७]

पशमविशेषाविर्भूतप्रावृत्प्रदर्शितव्याप्तिग्रहणस्वरूपज्ञाने तथैव प्रतिभासमानाः संकेतशब्दस्वरूपस्य संकेतितत्वाद् देशान्तरे कालान्तरे च ततः शब्दात् तदर्थप्रतिपत्तिरर्थाव्यभिचारिण्युपजायत एव । एकत्वं तु शब्दार्थयोः शब्दप्रतिपत्तावनङ्गमेव, तदन्तरेणाऽपि संकेतस्य कर्तुं शक्यत्वात् सार्थकत्वाच्च ।

तेन 'ये यत्र भावतः' [१९-३] इत्यादिप्रयोगे 'न भवन्ति च भावतः कृतसमयाः सर्वस्मिन् वस्तुनि सर्वे ध्वनयः' इत्यसिद्धो हेतुः, यथोक्तवस्तुनि समयस्य प्रतिपादितत्वात् ।

यदपि 'हिमाचलादिषु संकेतव्यवहारकालव्यापकेषु संकेतः सम्भविष्यति' इत्याशङ्क्य 'तेष्वप्यनेक-परमाणुरूपत्वान्न संकेतः' इति, [२३-१] तदप्ययुक्तम् समानाऽसमानपरिणतिरूपस्य वस्तुनः साधितत्वात् ।

यदपि 'उदयानन्तरापवर्गिषु स्वलक्षणेषु संकेत उत्पन्नानुत्पन्नेष्वशक्यक्रिय(त?):' इति [पृ० २३ पं० ५] तदप्यसंगतम् एकान्तेनोदयानन्तरापवर्गित्वस्य भावेष्वसिद्धेः । अथाऽन्ते क्षयदर्शनात् प्रागपि

– यह गलत है चूँकि हम सामान्य को वस्तु से एकान्ततः सर्वथा अभिन्न भी नहीं मानते हैं अतः एकान्तअभेद पक्ष के अवलम्ब से प्रतीति में भ्रान्तता आदि दोष निरवकाश है ।

यह भी जो कहा था – शब्द जिस अर्थ में संकेतित होते हैं वेही उनके (वाच्य) अर्थ होते हैं यह नियम है किन्तु परमार्थ से शब्दों में अर्थसंकेत का सम्भव ही नहीं है – (पृ.पं.) यह भी अयुक्त है, क्योंकि (यहाँ नियम और प्रदर्शित असम्भव के बीच स्पष्ट विरोध है, व्याख्याकार अन्य बात भी दिखाते हैं) वस्तु को हम पारमार्थिक एवं सामान्यविशेषात्मक (अत एव नित्यानित्य) मानते हैं इस लिये उस के नित्यत्व (ऊर्ध्वतासामान्यरूप) अंश को लेकर संकेत-व्यवहार उभयकाल स्थायी होना भी प्रमाणसिद्ध होने से संकेत वास्तव में सम्भव है ।

हालाँकि, शाबलेय-बाहुलेयादि पिण्डविशेष एकदूसरे में अनुगत=अनुविद्ध नहीं होते हैं, किन्तु वे सामान्यपरिणामधारी होने से, पूर्व में कहा है (२४६-१६) तदनुसार क्षयोपशमविशेष (=आत्मशक्तिविशेष) जन्य प्रमाणभूत व्याप्तिग्रहणात्मक ज्ञान में, पूर्वोत्तरजात पिण्डों में 'समान हैं' इस तरह जरूर भासित होते हैं अत एव संकेतविषय भी बनते ही हैं । बौद्ध भी अपने शब्द-वाक्यों को प्रामाणिक ठहराने के लिये व्यावृत्त शब्द का व्यावृत्त अर्थ में संकेत दिखाते हुए कहते ही हैं कि अगोशब्द व्यावृत्त 'गो' शब्द को, संकेत-व्यवहारकाल उभय में व्याप्त ऐसे 'अगो' व्यावृत्त (गाय) आदि पदार्थों में संकेतित किया जाता है; इसीलिये अन्य देश-अन्य काल में भी गाय आदि शब्दों से बिना किसी व्यभिचार के गाय आदि अर्थों का बोध उत्पन्न होता है । फर्क सिर्फ इतना ही है कि बौद्ध जिन व्यावृत्तियों में वाच्य-वाचकता का स्वीकार करता है वे उस के मत में तुच्छ स्वरूप है जब कि स्याद्वादी के मत में वे सदृशपरिणामात्मक सामान्य पदार्थरूप है । इस प्रकार वाच्य-वाचकभावात्मक सम्बन्ध शब्द-अर्थ के मध्य में सिद्ध होता है, तादात्म्यस्वरूप एकत्व यहाँ शब्दार्थबोध में उपयोगी ही नहीं माना गया, क्योंकि बिना तादात्म्य भी उपरोक्त सम्बन्ध से संकेत शक्य भी है एवं सार्थक भी है ।

उपरोक्त निरूपण से अब यह सिद्ध होता है कि बौद्धों ने 'जो जहाँ भावतः संकेतित नहीं होते...' (पृ० ४०) इत्यादि अनुमान प्रयोग में जो हेतु दिया था 'कोई भी शब्द वास्तव में किसी भी अर्थ में कृतसंकेत नहीं होता' यह हेतु 'शब्द समान-असमान परिणाम विशिष्ट अर्थों में कृतसंकेत हो सकते हैं' इस प्रकार निरूपण से असिद्ध ठहराया जाता है ।

यहाँ जो - 'हिमाचलादि सर्व संकेतव्यवहारकालव्यापी होने से उन में संकेत सम्भव है' [illegible]

तत्स्वभावसिद्धेस्तत्सिद्धिः । नन्वेवमादौ स्थितिदर्शनादन्तेऽपि स्थास्नुतासिद्धेर्विपर्ययसिद्धिप्रसंगः । अथान्ते स्थैर्यानुपलब्धेर्न विपर्ययसिद्धिः, आदौ क्षणक्षयानुपलक्षणात् क्षणक्षयसिद्धिरपि न स्यात् । 'सदृशापरापरोत्पत्तिविप्रलम्भात् क्षणक्षयस्यादावनुपलक्षणम्' इति चेत् ? स्यादेतद् यदि कुतश्चित् क्षणिकत्वं सिद्धं स्यात्, तच्चासिद्धम् तत्र साधकहेत्वभावात् । 'कृतकत्वात् तत्सिद्धि' रिति चेत् ? न, साध्यसाधनधर्मभेदा(त्?)सिद्धौ ततस्तत्सिद्धेरयोगात्, योगे वा स्वात्मनोप्यात्मना सिद्धिः स्यात् ।

न च व्यावृत्तिभेदात् कृतकत्वाऽनित्यत्वयोर्भेदः, यतस्तद्भेदः [A]स्वतो वा, [B]व्यवच्छेद्याद् वा, [C]आरोपाद् वा, [D]बुद्धिप्रतिभासभेदाद् वा भवेत् ?

[A]न तावत् स्वतः, स्वतो भेदे भेदस्य वस्तुत्वम्, वस्तुत्वे च कथं न वस्तुत्वपक्षभावी दोषः ? वस्तुनश्चानेकान्तात्मनो भेदाभेदात्मकतया सिद्धेः सिद्धो नः सिद्धान्तः ।

पं०] व्यक्त कर के, हिमालयादि, कोई एक चीज नहीं है किन्तु क्षणिकपरमाणुपुञ्ज सन्तानस्वरूप होने से उस में संकेत का निषेध दिखाया था– वह भी अयुक्त ठहरता है क्योंकि वस्तुमात्र अन्तर्गत हिमालयादि भी समान-असमानरूपद्वय संवलित एक परिणति स्वरूप है यह बात सिद्ध हो चुकी है ।

★ एकान्त क्षणिकत्व युक्तिसंगत नहीं है ★

यह जो आपने कहा था – 'स्वलक्षण उत्पन्न होते ही दूसरे क्षण में नष्ट हो जाता है, उस की उत्पन्न या अनुत्पन्न किसी भी दशा में संकेतक्रिया का सम्भव नहीं ।' – [पृ० १७६ पं० १९] यह भी असंगत है। कारण, पदार्थों के बारे में एकान्त के तौर पर 'उत्पन्न होते ही दूसरे क्षण में नष्ट होने'की बात असिद्ध है। यदि ऐसा कहें कि आखिर तो किसी एक क्षण में घटादि का नाश दिखाई ही देता है अतः पूर्व-पूर्व क्षणों में भी नाशस्वभावता सिद्ध होने से, उत्पत्ति के दूसरे क्षण में भी नाश सिद्ध होता है ।'– अरे ! तब प्रथम क्षण में स्थिति के दिखाई देने से उत्तरोत्तर क्षणों में स्थितिस्वभाव सिद्ध होने पर स्थैर्य सिद्ध हो जायेगा तो आपका मत उलटा हो जायेगा । यदि कहें कि- 'आखरी क्षण में स्थैर्य का उपलम्भ न होने से हमारा मत उलटा नहीं होगा ।'– तो फिर पूर्वावस्था में नाश न दिखाई देने से क्षणभंगुरता भी कैसे सिद्ध होगी ? । यदि ऐसा आकूत हो कि– 'प्रत्येक क्षणों में नये नये तुल्य पदार्थ की उत्पत्ति का सीलसीला जारी रहने से, पूर्वावस्था में भले क्षणभंगुरता दृष्टिगोचर न होती हो, किन्तु वह होती है ।'– जब क्षणिकता दिखाई नहीं देती, तब किसी अन्य प्रमाण से उसकी सिद्धि कर दो तो वह आकूत ठीक है किन्तु जब क्षणिकता का साधक कोई हेतु ही नहीं है तब कैसे वह ठीक कहा जाय ? 'हेतु क्यों नहीं है ? कृतकत्व हेतु से हम अनित्यत्व सिद्ध करेंगे'- नहीं, अनित्यत्व साध्य और कृतकत्व हेतु इन दोनों के बीच जब तक कुछ भेद सिद्ध न हो तब तक साध्य-हेतु एक हो जाने से अनित्यत्व की सिद्धि शक्य नहीं । यदि कृतकत्व और अनित्यत्व एक होने पर भी (सिर्फ नाम का फर्क है फिर भी) कृतकत्व हेतु से अनित्यत्व की सिद्धि होना मानेंगे तब तो नाम फर्क कर देने से एक ही स्थिरता से नित्यता की अपने आप ही सिद्धि हो जायेगी ।

★ व्यावृत्तिभेद पर चार विकल्प ★

यदि ऐसा कहें कि – अकृतकव्यावृत्ति और अनित्यव्यावृत्ति में भेद होने से कृतकत्व और अनित्यत्व में भेद सिद्ध होगा – तो यहाँ चार विकल्प प्रश्न हैं– [A]उन व्यावृत्तियों का भेद स्वतः है ? [B]या व्यवच्छेद्यप्रयुक्त

[D]व्यवच्छेद्यभेदादपि न व्यवच्छेदभेदः, अनित्या(त्वादि)व्यवच्छेद्यस्य नित्यादेर्व्यवच्छेद्यस्य वस्तुनोऽभावात् भेदाभावप्रसक्तेः । कल्पितव्यवच्छेद्यव्यवच्छेदेन तद्भेदाभ्युपगमे तत्र कल्पनाऽपि इतरव्यवच्छेदेन इत्यन्योन्यव्यवच्छेदेन व्यवच्छेदयोर्व्यवस्थितस्वरूपत्वात् कथं नेतरेतराश्रयदोषः ? अनित्यत्वादिव्यवच्छेदेन नित्यादिव्यवच्छेद्यस्य व्यवस्थायामनित्यादिव्यवच्छेदस्यापि नित्यादिव्यवच्छेद्यात् व्यवच्छेदेन बुद्धिप्रतिभास-भेदादेव भेदोऽस्तु किं व्यवच्छेदस्य व्यवच्छेद्यभेदाद् भेदकल्पनया ?

[D]तथैव भेदात् व्यवच्छेदस्य साध्यसाधनभावे शब्दत्वादेरपि बुद्धिप्रतिभासभेदेन भेदात् साधनभावः स्यात् । तथा च न कश्चित् प्रतिज्ञार्थैकदेशाऽसिद्धो हेतुः स्यात् । न च शब्दाच्छब्दत्वस्य न प्रतिभासभेदः, अन्यथा धर्म-धर्मिव्यवस्थाऽभावप्रसक्तेः । अथ प्रतिभासभेदेऽपि व्यवच्छेद्यभेदाभावात् शब्दत्वस्य प्रतिज्ञार्थैकदेशत्वम्, नन्वेवं भाव-द्रव्याभिधायिनोरभिधानयोरपर्यायता न स्यात् 'शब्द'शब्देन शब्दत्वस्याभिधानात्, अन्यथा प्रतिज्ञार्थैकदेशताऽपि न स्यात् ।

है ? अथवा आरोपित है ? [D]अथवा बुद्धिप्रतिभासभेदप्रयुक्त है ?

यदि अकृतकव्यावृत्ति और अनित्यव्यावृत्ति का भेद स्वतः है, तब भेद (जो कि अभावात्मक होने से तुच्छस्वरूप होता है) वस्तुरूप बन जायेगा, क्योंकि तुच्छस्वरूप आकाशकुसुमादि में स्वतः कुछ भी नहीं होता । जब भेद में वस्तुत्व प्रसक्त होगा तो फिर से वस्तुपक्षभावि क्षणिकत्व-अक्षणिकत्वादि अथवा व्यावृत्तस्वरूप या अनुवृत्तस्वरूप आदि विचार करने पर सामान्य पक्ष में जैसे दोष लागू होते हैं वैसे यहाँ भी होंगे । उपरांत कृतकत्व तो साध्यरूप हेतु है । अब वस्तु आत्मक व्यावृत्तियों के स्वतः भेद से, अनित्यत्व-कृतकत्व का भेद सिद्ध करेंगे तो अनित्यत्व और कृतकत्व भेदाभेदात्मक सिद्ध होने से अनेकान्तात्मकता भी सिद्ध होगी, फलतः अनायास स्याद्वाद सिद्धान्त सिद्ध हो जायेगा ।

[D]व्यवच्छेद्य के भेद से उन व्यावृत्तियों का भेद असम्भव है, क्योंकि नित्यव्यावृत्ति (यानी अनित्यत्व) आदि का व्यवच्छेद्य नित्य आदि कोई वस्तु ही बौद्ध मत से सत् नहीं है फिर उसके भेद से व्यावृत्तियों का भेद कैसे होगा ? अगर काल्पनिक व्यवच्छेद्य (नित्यादि) मान कर उसके व्यवच्छेद से भेद दिखाया जाय तो वहाँ भिन्न भिन्न कल्पनाओं में भी भेद की कल्पना करनी होगी, इस तरह एक दूसरे के व्यवच्छेद के आधार पर व्यवच्छेद्य का व्यवच्छेद अवलम्बित हो जाने से अन्योन्याश्रय दोष घुस जायेगा । यदि ऐसा कहें कि-नित्यादि के व्यवच्छेद्य की व्यवस्था कल्पनाभेद से नहीं किन्तु अनित्यत्वादि व्यवच्छेद के आधार पर करेंगे- तो यहाँ भी नित्यादि व्यवच्छेद्य से अनित्यादिव्यवच्छेद की प्राप्ति होने से पुनः अन्योन्याश्रय दोष होगा । इस से तो अच्छा है कि बुद्धिप्रतिभासभेद से ही भेद माना जाय, क्यों व्यवच्छेद्यभेद से भेदकल्पना की सिरदर्दी की जाय ?

★ प्रतिभासभेद से व्यावृत्तिभेद होने पर शब्दत्वभेद ★

([C]विवरण इस के बाद आयेगा) अब यदि कृतकत्व और अनित्यत्व दोनों का प्रतिभास भिन्न होने के आधार पर उन दोनों में भेद माना जाय तो इस तरह अनित्यत्व और कृतकत्व में जैसे साध्यसाधनभाव [illegible] शब्दत्व भी साधन बन सकता है, जैसे 'शब्दो नित्यः, शब्दत्वात्' [illegible] शब्द और शब्दत्व में भी प्रतिभासभेद होने से भेद है [illegible] । [illegible] हेतु में प्रतिज्ञार्थैकदेशासिद्धत्व के आधार पर [illegible] असिद्ध नहीं बन सकेगा । यदि ऐसा कहें कि-शब्द और शब्दत्व में प्रतिभासभेद ही नहीं है [illegible]

Cनाप्यारोप्यभेदाद् व्यवच्छेदस्य भेदः, सत्त्वादावसत्त्वाद्यारोपस्याभावात् भावे वा सत्त्वमप्यनित्यत्ववत् साध्यमनुषज्येत । तत्साधने च तद्धेतोरसिद्ध-विरुद्धानैकान्तिकदोषत्रयानतिवृत्तिर्भवदभिप्रायेण । तन्न कृतकत्वाऽनित्यत्वयोः साध्यसाधनभावः भवदभिप्रायेण भेदाभावात् ।

अथ तयोः परमार्थतोऽभेदेऽपि निश्चयवशाद् गम्यगमकभावः इति कृतकत्वं कृतकत्वाध्यवसायिना निश्चयप्रत्ययेन भेदेन निश्चीयमानमनित्यत्वस्य गमकम् । ननु ययोर्वस्तुगतयोः कृतकत्वाऽनित्यत्वयोस्तादात्म्यप्रतिबन्धः न तयोर्निश्चय इति न गम्यगमकभावः, बुद्ध्यारूढयोरवस्तुत्वेन प्रतिबन्धाभावात् ।

अथ भेद एव तयोः कल्पनानिर्मितः न पुनर्वस्तुस्वरूपमपि, शब्दस्वलक्षणस्याकृतकनित्यव्यावृत्तनिरंशैकस्वभावत्वात्तद्गतकृतकत्वादिभिन्नधर्माद्यध्यवसायिनश्च कृतकत्वादिविकल्पास्तथाभूतस्वलक्षणानुभवद्वारायातत्वेन तत्प्रतिबद्धास्तेन तत्प्रतिभासिनोर्धर्मयोः साध्यसाधनभावः अव्यभिचारश्च पारम्पर्येण वस्तुप्रतिब-

---

है क्योंकि 'शब्द धर्मी और शब्दत्व धर्म' ऐसी व्यवस्था प्रतिभासभेद के विना लुप्त हो जायेगी । यदि ऐसा कहें कि – 'शब्द और शब्दत्व में प्रतिभासभेद जरूर है लेकिन व्यवच्छेद्य का भेद न होने से दोनों एक ही है अतः शब्दत्व हेतु में प्रतिज्ञार्थएकदेशता जरूर प्रसक्त होगी ।'– अरे, तब तो भाववाचक शब्दत्वपद और द्रव्यवाचक शब्द पद इन दोनों में पर्यायभेद होने पर भी अब तो वह लुप्त हो कर पर्यायवाची बन जायेंगे क्योंकि 'शब्द'पद भी शब्दत्व का वाचक हो गया । यदि पर्यायभेद रखना है तब शब्द-शब्दत्व में भेद मानना पडेगा, किन्तु तब प्रतिज्ञार्थ-एकदेशता नहीं होगी ।

आरोपभेद से व्यवच्छेद्य का यानी कृतकत्व और अनित्यत्व का भेद मानेंगे तो वह भी सम्भव नहीं है । कारण, सत्त्वादि में असत्त्व का आरोप होता नहीं है । यदि असत्त्व का भी आरोप मानेंगे तो 'यत् सत् तत् क्षणिकं' इत्यादि अनुमान में सब से पहले सत्त्व को ही सिद्ध करने के लिये दूसरा अनुमान करना होगा, जिस हेतु से आप सत्त्व की सिद्धि करना चाहेंगे उस हेतु में आप के मतानुसार असिद्ध, विरुद्ध और अनैकान्तिक ये तीनों दोष का प्रवेश होगा । वह इस प्रकार, जिस हेतु से सत्त्व की सिद्धि करना चाहेंगे वह हेतु भी 'सत्त्व असिद्ध होने तक सिद्ध न होने से' असिद्ध रहेगा, क्योंकि सत्त्व के विना अन्य धर्म हो नहीं सकते । यदि वहाँ हेतु का भी आरोप मानेंगे तो अनैकान्तिक दोष होगा, क्योंकि आरोपित हेतु सत्त्व के विपक्ष असत् में भी रह सकता है । तथा सत्त्व साध्य का कोई भी सपक्ष न होने के कारण, उपरोक्त रीति से हेतु विपक्ष (मात्र)वृत्ति होगा तब हेतु विरुद्ध भी हो जायेगा ।

सारांश, आप के अभिप्राय अनुसार व्यावृत्तियों में भेद सिद्ध न होने से अनित्यत्व और कृतकत्व में भी वह सिद्ध नहीं होगा, फलतः कृतकत्व हेतु नहीं बन सकेगा, और अनित्यत्व साध्य नहीं हो सकेगा ।

★ अनित्यत्व – कृतकत्व में साध्य-साधनभाव दुर्घट ★

अब यदि ऐसा कहा जाय – कृतकत्व और अनित्यत्व दोनों परमार्थ से अभिन्न ही है, तथापि स्वलक्षण निर्विकल्प के बाद कृतकत्वाध्यवसायी निश्चय जन्म लेता है जो कृतकत्व का भिन्नरूप से अवगाहन करता है । इस प्रकार कृतकत्व की निश्चयात्मक प्रतीति द्वारा भिन्नरूप से निश्चय का विषय बनने वाले कृतकत्व को अब अनित्यत्व का ज्ञापक हेतु बना सकते हैं ।– तो यह कथन अर्थशून्य है क्योंकि वस्तुगत जो अनित्यत्व और कृतकत्व है उन में तो पूर्ण तादात्म्य सम्बन्ध है किन्तु वे तो निश्चय के विषयभूत नहीं है इस लिये उनमें

न्यादुपपद्यत एव । स्यादेतत् यदि तथाभूतं स्वलक्षणं प्रत्यक्षत एव सिद्धं स्यात्, न च तत् ततः सिद्धम् स्वप्नेऽपि निरंशक्षणिकानेकपरमाणुरूपस्य तस्यासंवेदनात् । यादृग्रूपं तु तत् प्रत्यक्षे प्रतिभाति कृतकत्वाद्यनेकधर्माध्यासितं तत्र निरंशम्, यतस्तदनुभवद्वारायातकृतकत्वादिविकल्पप्रतिभासिनां धर्माणामव्यभिचारात् साध्यसाधनभाव उपपद्येत । न चानुमानविकल्पत एव तस्य तथासिद्धिः प्रतिबन्धाऽसिद्धावनुमानस्यैवाऽप्रवृत्तेः । सविकल्पकप्रत्यक्षस्य साध्यसाधनधर्मप्रतिबन्धग्राहकस्य धर्मिस्वरूपग्राहकस्य च प्रामाण्याभ्युपगमे शब्दादिधर्मिणः कृतकत्वाद्यनेकधर्मात्मकस्य सिद्धत्वाद् विवादाभाव एव । भवतु वा परपक्षे साध्यसाधनभेदः तथापि न साध्यसाधनभावः तयोरविनाभावग्राहकप्रमाणाभावात् ।

तो साध्य-साधनभाव बन नहीं सकता; और जो भिन्नरूप से अध्यवसित निश्चयगत कृतकत्व और अनित्यत्व है वे तो विकल्पबुद्धिप्रतिबिम्बित होने से सर्वथा भिन्न हैं, उन में तादात्म्यलेश भी नहीं है तो उन में कैसे साध्य साधनभाव बन सकेगा ? जो बुद्धिकल्पित विषय होता है वह अवस्तुरूप होने से उन में कोई सम्बन्ध नहीं होता ।

अब यदि ऐसा कहें कि – "निश्चय से अध्यवसित जो स्वलक्षण वस्तु है [जो कि सामान्यरूप से नाम-शब्दादि योजित है] वह तो वास्तविक है, निश्चय से जो उसमें भेद प्रतीत होता है वही कल्पनानिर्मित है, क्योंकि शब्दात्मक स्वलक्षण का अकृतकव्यावृत्त होना, नित्यव्यावृत्त होना, निरंश होना, एक अनंश होना यह तो सब वास्तविक स्वभाव रूप है । एवं विकल्पबुद्धि भी परम्परया उक्त स्वरूप स्वलक्षण से प्रतिबद्ध ही होती है । अतः स्वलक्षणगत कृतकत्वादि धर्मों का भिन्नरूप से अध्यवसाय करनेवाले जो कृतकत्वादिग्राहि विकल्प हैं वे उक्तस्वरूप स्वलक्षण के अनुभव द्वारा उत्पन्न होने के कारण उन से प्रतिबद्ध ही हैं । अतः उनसे भिन्न रूप से भासित होने वाले धर्मों में साध्य-साधन भाव मानने में कोई बाध या व्यभिचार नहीं है, क्योंकि परम्परया वही वस्तु के साथ सम्बन्ध रखता है ।"—

किन्तु यह तो तब हो सकता है अगर और किसी प्रत्यक्ष प्रमाण से स्वलक्षण के उक्तस्वरूप की सिद्धि हो चुकी हो । सिद्धि तो हुई नहीं, स्वप्न में भी शब्दस्वलक्षण के निरंश, क्षणिक, अनेकपरमाणुपुञ्ज स्वरूप का संवेदन नहीं होता तो जागृति में तो बात ही क्या ? प्रत्यक्ष में कृतकत्वादिअनेकधर्मोपेत जिस स्वलक्षण का भान होता है वह निरंशरूप से नहीं किन्तु स्थूलादि एवं अनेक अंशों के समुदायरूप से ही अनुभूत होता है । इस प्रकार के अनुभव के बल पर जो कृतकत्व, अनित्यत्व, स्थूल समुदाय आदि धर्मों को अवगाहित करने वाले विकल्प उत्पन्न होंगे उन में व्यभिचार न होने से, परम्परया अनुभव के विषयभूत स्वलक्षण से सम्बद्ध होने से उनमें साध्य साधन भाव हो सकता है, अभिन्नत्व और निरंशत्व के साथ वह कैसे होगा ?

यदि ऐसा कहा जाय कि 'अनुमानात्मक विकल्प से ही निरंशत्व, अभिन्नत्व की सिद्धि होगी' तो यह [illegible] है क्योंकि अभिन्नत्व के साथ [illegible] साध्य-साधन भाव [illegible] सिद्ध नहीं है तो [illegible] अनुमान की प्रवृत्ति ही कैसे होगी ? [illegible] [illegible] [illegible] है ।

अथ 'निर्हेतुकत्वाद् विनाशस्य विनाशस्वभावनियतो भावः तद्भावे भावस्यान्यानपेक्षणात् अन्त्यकारणसामग्रीविशेषवत् स्वकार्योत्पादने' इत्यादिसाधनसद्भावात् कथं नाऽविनाभावः प्रकृतसाध्य-साधनयोः ? असदेतत् तयोरविनाभावसाधनम्, अनैकान्तिकत्वात् । तथाहि – अनपेक्षाणामपि शाल्यंकुरोत्पादने यवबीजादीनां तदुत्पादनसामग्रीसन्निधानावस्थायां तद्भावनियमाभावात् ॥ अथ यवबीजादीनां तत्स्वभावाभावात् तत्स्वभावापेक्षयानपेक्षत्वमसिद्धम् तर्हि विनाशस्वभावापेक्षत्वात् कृतकानामपि केषाञ्चित् तत्स्वभावाभावादनपेक्षत्वमसिद्धं स्यात् । अथ हेतुस्वभावभेदाभावात् सर्वसामग्रीप्रभवाणां विनाशसिद्धेस्तदनपेक्षत्वान्नानपेक्षत्वमसिद्धम् । ननु विचित्रशक्तयो हि सामग्र्यो दृश्यन्ते, तत्र काचित् स्यादपि सामग्री या ऽनश्वरात्मानं जनयेत् शृंगादिकेव शरादिकम् ।

यथा कथंचित् आप के पक्ष में कृतकत्व-अनित्यत्व में (साध्य-साधन) भेद की उपपत्ति कर ली जाय तो भी वास्तव में उन में साध्य–साधनता की उपपत्ति तो शक्य ही नहीं है क्योंकि कृतकत्व में अनित्यत्व के अविनाभाव का साधक कोई प्रमाण बौद्ध पक्ष में मौजूद नहीं ।

★ विनाशस्वभावनियतत्व की सिद्धि अशक्य ★

यदि यह कहा जाय – "अनित्यत्व-कृतकत्व में अविनाभाव क्यों नहीं है ? देखिये – (उदा०) चरम कारणसामग्री अपने कार्य को त्वरित (अनन्तर क्षण में) उत्पन्न करने में ऐसी विशिष्ट होती है कि दूसरे की वहाँ अपेक्षा नहीं करनी पडती, जिस से कि अपेक्षणीय की विलम्वोपस्थिति से कार्योत्पत्ति में विलम्व हो । ठीक ऐसे ही प्रत्येक पदार्थों का ऐसा विशिष्ट विनाशस्वभाव होता है कि विनाश में अन्य कोई हेतु ही नहीं होता, जिस से अन्य की अपेक्षा नहीं करनी पडती । अत एव अपेक्षणीय की विलम्वोपस्थिति में विनाश में विलम्व की सम्भावना भी रद्द हो जाती है । अर्थात् पदार्थमात्र निरपेक्षविनाशस्वभाववाला ही उत्पन्न होता है अतः दूसरी क्षण में विनाष्ट हो जाता है । इस तरह भाव मात्र के साथ अनित्यता का अविनाभाव अनायास सिद्ध है ।" – यह गलत बात है क्योंकि यहाँ यह प्रश्न है कि यदि यववीज चरम सामग्री की संनिधान अवस्था में कार्योत्पादन में निरपेक्ष होता है तो शालि-अंकूर को क्यों उत्पन्न नहीं करता ? इस से यह फलित होता है चरमसामग्री में भी कार्याविनाभाव का नियम नहीं है । यदि कहें कि– यवबीजों में शालि अंकूर के उत्पादन के लिये तदुत्पादक स्वभाव भी होना चाहिये किन्तु यह नहीं है, इसलिये शालिअंकुर उत्पादक स्वभाव की अपेक्षा करने वाला होने से वहाँ वह निरपेक्ष ही नहीं है । – 'अहो ! तव तो भाव मात्र को विनाश के लिये विनाशस्वभाव की भी अत्यन्त अपेक्षा होती है, इस स्थिति में कुछ ऐसे भी कृतक हो सकते हैं जिन में द्वितीयक्षण में विनाश होने का स्वभाव नहीं होता तो उसका कभी विनाश नहीं होता चाहे उसको मिटा देने के लिये कितनी भी कोशिश की जाय । इस प्रकार हेतुभूत विनाशस्वभाव में कोई भेद किसी भी पदार्थ में न होने से, अन्य हेतु की अपेक्षा के अभाव में निरपेक्षता सिद्ध होती है' – तो यह भी गलत है । क्योंकि विनाश स्वभाव में भेद नहीं है यह वात कैसे मानी जाय ? सामग्रीजन्यत्व विनाशस्वभावप्रयोजक नहीं माना जा सकता, क्योंकि यह दिखाई देता है कि भिन्न भिन्न प्रकार के कार्यों की सामग्री विचित्र यानी भिन्न भिन्न शक्तिधारी होती है । तो कोई ऐसी भी विचित्र सामग्री क्यों नहीं हो सकती जो कि अनश्वरस्वभाववाले पदार्थ को उत्पन्न करे ? जैसे शर (=वाण) की सामग्री गोशृंग आदि ऐसी दृढ शक्तिशाली होती है कि उस से उत्पन्न वाण वर्षों तक विनष्ट नहीं होता ।

अथ विनाशित्वेनोपलब्धानां प्रतिक्षणं विनाशाभावे विनाशप्रतीतिरेव न स्यात्, द्वितीयेऽपि क्षणे भावस्य स्थितौ सर्वदा स्थितिप्रसंगात् । द्विक्षणावस्थायित्वे हि द्वितीयेऽपि क्षणे क्षणद्वयस्थितिस्वभावत्वात् – अतत्स्वभावत्वे स्वभावभेदेन क्षणिकत्वप्रसङ्गात् – तृतीयेऽपि क्षणेऽवस्थानं स्यात् तदाऽपि तत्स्वभावत्वात् चतुर्थेऽपि । एवमुत्तरेष्वपि क्षणेष्ववस्थानादासंसारं भावस्य स्थितेरविनाशाद् विनाशप्रतीतिर्न स्यात् । भवति च विनाशप्रतीतिः अतः तत्प्रतीत्यन्यथाऽनुपपत्त्या प्रतिक्षणविनाशानुमानं दृश्यात्मकस्य कार्यस्य, अदृश्यात्मनोऽप्याद्ये क्षणे यः स्वभावः 'प्रागभूत्वा भवनलक्षणः' स एव चेत् द्वितीयेऽपि क्षणे प्रागभूत्वा भावस्य भावात् क्षणिकत्वम् । अथ प्रथमे क्षणे जन्मैव न स्थितिः, द्वितीये क्षणे स्थितिरेव

★ प्रतिक्षणविनाशसाधक बौद्ध युक्ति ★

बौद्धवादी : 'जन्यमात्र विनाशी है' यह तो आप सब मानते हैं, विनाशी भावों का प्रतिक्षण विनाश यदि नहीं मानेंगे तो कभी विनाश की प्रतीति ही नहीं होगी ।

मतलब ऐसा है कि द्वितीयक्षण में जो भाव स्थिर रहेगा वह सर्वदा स्थिर ही रहेगा । कारण यह है कि भाव का स्वभाव सिर्फ द्विक्षणस्थायित्व भी माना जाय तो प्रश्न यह होगा कि द्वितीयक्षण में वह स्वभाव रहेगा या नहीं ? यदि नहीं रहेगा, तब तो स्वभावभेद प्रसक्त होने पर अनायास क्षणिकत्व सिद्ध हो जायेगा; अतः द्वितीयक्षण में भी वही द्विक्षणस्थायित्वस्वभाव मानना होगा, उस के फलस्वरूप तृतीयक्षण [जो कि द्वितीयक्षण को प्रथम मानने पर द्वितीय ही है] उस में भी भाव विनष्ट नहीं होगा क्योंकि उस की पूर्वक्षण में भाव का द्विक्षणस्थायित्व स्वभाव था । तृतीय क्षण में भी वही स्वभाव रहेगा तो चतुर्थक्षण में भी वह द्विक्षणस्थायित्व स्वभावयुक्त होने से नष्ट नहीं होगा.....एवं भावी अनन्त क्षणों में यावत् संसार पर्यन्त उस की स्थिति ही बनी रहेगी, विनाश कभी होगा ही नहीं, तो विनाश की प्रतीति होगी ही नहीं । किंतु विनाश की प्रतीति होती है । यह विनाश की प्रतीति की संगति एकाधिकक्षणस्थायित्व मानने पर नहीं होती है, क्षणिकत्व मानने पर ही हो सकती है इस लिये समग्र दृश्य कार्यों में प्रतिक्षण विनाश का अनुमान हो जायेगा ।

अदृश्य कार्यों में यद्यपि विनाश भी अदृश्य रहता है इस लिये उपरोक्त अनुमान से तो वहाँ क्षणिकत्व सिद्ध नहीं होता किन्तु उन के लिये दूसरा तर्क यह है कि अदृश्य पदार्थ जिस क्षण में उत्पन्न होता उस प्रथमक्षण में "पूर्वक्षण में न रहते हुए (इस क्षण में होना') ऐसा उत्पत्ति स्वभाव तो मानना ही पडेगा, अन्यथा पूर्वक्षण में भी उस की सत्ता प्रसक्त होगी । यदि यह स्वभाव दूसरे क्षण में नहीं रहेगा तो स्वभावभेद क्षणिकत्व सिद्ध हो जायेगा । यदि यह स्वभाव रहेगा तो उस के स्वभाव में 'पूर्वक्षण में न रहना' यह भी समाविष्ट होने से सिद्ध होगा कि द्वितीय क्षण का भाव पूर्वक्षण में नहीं था, अर्थात् प्रथमक्षण के भाव से द्वितीयक्षण का भाव भिन्न हो गया तो क्षणिकत्व सिद्ध ही है । यदि कहें कि – प्रथम क्षण में तो भाव का सिर्फ जन्म [illegible] स्थिति नहीं होती क्योंकि जन्म के बिना स्थिति कैसे आयेगी ? अब यदि दूसरे क्षण में भाव का [illegible] तो उस की स्थिति कब आयेगी ? अतः दूसरे क्षण में उस का [illegible] किन्तु स्थिति होगी । [illegible]
[illegible]
[illegible]

न जन्म तथापि जन्म-जन्मिनोः स्थिति-स्थितिमतोश्चाऽभेदात् तयोश्च व्यतिरेकात् प्रतिक्षणमनवस्थायित्वम् । अपरापरकालसम्बन्धित्वस्य परस्परव्यतिरेकिणो भावस्वभावत्वाच्च प्रतिक्षणमनवस्थायित्वमिति सिद्धा विनाशं प्रत्यनपेक्षा भावस्य ।

असदेतत् – स्वहेतोरेवानेकक्षणस्थायी भावो भूतक्षणेष्वभवन् तिष्ठन् वर्त्तमानक्षणेषु, भविष्यत्क्षणेषु स्थास्यंश्चान्त्यपश्चिमे प्रथमक्षण एव जात इति कालेनाऽनागतादिनाऽसताऽपि विशेष्यत्वं भावस्याऽविरुद्धं कारणसामर्थ्यवत् *द्वितीयक्षणेन – अन्यथा कार्यकारणयोरेकदैवोत्पत्तेरेकक्षणस्थायि जगत् स्यात्–इति । प्रागुत्पत्तेरभूत्वा भावेऽपि भावस्य द्वितीयादिक्षणे न क्षणिकत्वम्, वस्तुतस्तु भावक्षणात् पूर्वक्षणेषु भूत्वा भावी स्वभावो भावस्य सर्वत्र■नान्त्यक्षणेनापि विशिष्टोऽनन्तरातीतक्षण एव प्रथमक्षणे(णः) तादृशस्वभावस्य भावे द्वितीयादिक्षणेऽपि न क्षणिकत्वम्, अक्षणिकत्वाऽविरोधात् भावक्षणात् पूर्वक्षणेष्वभूत्वा भावस्य

स्वभावभेद प्रसक्त होने से पुनः प्रतिक्षण अनवस्थायित्व आ जायेगा ।

सारांश, हर एक स्थिति में, भावमात्र का आखिर निर्हेतुक विनाश दूसरे क्षण में प्रसक्त होता है इस से विनाश की निरपेक्षता सिद्ध हो जाती है जो बाण आदि में भी प्रसक्त होगी ही ।

★ बौद्ध की क्षणिकत्वसाधक युक्तिओं का प्रत्युत्तर ★

स्याद्वादी : बौद्धों का यह विस्तृत कथन गलत है । पदार्थ अपने हेतुओं से ही अनेकक्षणस्थायी उत्पन्न होता है, उस का स्वभाव ऐसा ही होता है – भूतकालीन क्षणों में रह चुका है, वर्त्तमानक्षण में रहता है और भावि क्षणों में रहने वाला है । जब वह उत्पन्न होता है तब पूर्वसन्तान के अन्त्यक्षण की पश्चिम=उत्तरवर्त्ती प्रथम क्षण में वैसा स्वभाव लेकर ही वह उत्पन्न होता है । अनागत काल और भूतकाल यद्यपि असत् है फिर भी प्रत्येक क्षण में जब वस्तु को त्रिकालस्थायी मानते हैं तब असत् काल से वह विशिष्ट बना रहता है, उस में कोई विरोध नहीं है । अन्यत्र भी ऐसा देखा जाता है, कारण में भावि कार्योत्पादक सामर्थ्य होता है तब द्वितीयादिक्षण भावि कार्य तो असत् होता है फिर भी कारणगत सामर्थ्य भाविकार्य से विशिष्ट रहता है । यदि कारणसामर्थ्य में भाविकार्यवैशिष्ट्य नहीं मानेंगे तो भावि कार्य, विना कारणव्यापार ही उत्पन्न हो जायेंगे, उस स्थिति में कहीं भी कारण-कार्य भाव भी देखने को नहीं मिलेगा, फलतः कारण–कार्य रूप से माने गये सब पदार्थ एक साथ उत्पन्न एवं नष्ट भी हो जायेंगे और पूरा जगत् एक क्षण स्थायि हो जायेगा ।

अदृश्य कार्यों में जो 'प्रागभूत्वा भवन' स्वभाव से क्षणिकता को खिंच लाये हैं वह भी ठीक नहीं क्यों कि प्राग् का मतलब है 'उत्पत्ति के पूर्व' । उत्पन्न के प्रथम क्षण में जैसे 'उत्पत्ति के पूर्व न रह कर अब रहने' का स्वभाव है वैसे ही द्वितीयादिक्षणों में भी 'उत्पत्ति के पूर्व न रहने' का स्वभाव यथावत् ही है अतः स्वभावभेद से क्षणिकता की बात को अवकाश कहाँ है ? !

वास्तव में तो हम 'प्रागभूत्वा भवन' स्वभाव को नहीं मानते हैं किन्तु स्याद्वाद की दृष्टि से, 'वर्त्तमान क्षणों के भूतपूर्व क्षणों में रह कर भावि क्षणों में भी रहेगा' ऐसा स्वभाव मानते हैं । सर्वत्र पदार्थ अनादि क्षणों से विशिष्ट होता है इस लिये जब भी विवक्षा हो तब उस का अव्यवहित पूर्व भूत क्षण ही आद्यक्षण

---

* अत्र पूर्वमुद्रिते 'द्वितीयेऽपि क्षणे न'इत्येवं पाठोऽशुद्धः, लिम्बडीसत्कहस्तादर्शे तु 'द्वितीयक्षणेन' इति पाटान्तरम् तच्च संगतम् ।

■ 'नान्त्य' स्थाने 'नाद्य' इति लिं-प्रतौ ।

द्वितीयादिक्षणेऽपि प्रथमक्षणस्वभावस्य भावे तत्स्वभावत्वेऽप्येकान्ततः क्षणिकत्वाऽसम्भवात् । अथाभूत्वा भावश्च प्रागसतः सत्त्वम् तस्य द्वितीयेऽपि क्षणे भावान्न पूर्वापरक्षणयोः स्थित्युत्पत्तिमत्त्वेन स्वभावभेदात् भावस्य क्षणिकत्वम् । नाप्यपरापरकालसम्बन्धोऽप्यपरापरस्वभावो भवति परमाणुषट्कसम्बन्धेऽप्येकपरमाणुवत् ।

'परमाणूनामयःशलाकाकल्पत्वात् परस्परमसम्बन्धः' इति चेत् ? असदेतत् – सम्बन्धे प्रतीयमाने असम्बन्धकल्पनाऽयोगात् । – "कृत्स्नैकदेशसम्बन्धविकल्पायोगादसम्बंन्धः । तथाहि – सर्वात्मना परमाणूनामभिसम्बन्धेऽणुमात्रं पिण्डः स्यात् । एकदेशेनाभिसम्बन्धे त एकदेशाः परमाण्वात्मनः आत्मभूता, परभूता वा ? आत्मभूताश्चेत् नैकदेशेनाभिसम्बन्धः तेषामभावात् । परभूताश्चेत् परमाणुभिरेकदेशानां सर्वात्मनाभिसम्बन्धेऽभेदादेकदेशैकदेशिनोरेकदेशाभावात् नैकदेशेनाभिसम्बन्धः परमाणूनाम् । 'एकदेशैनैकदेशानामेकदेशिनाभिसम्बन्धः' चेत् तदेकदेशानां ततो भेदाभेदकल्पनायां तदवस्थः पर्यनुयोगोऽनवस्था च । न च प्रकारान्तरं दृष्टं येनाणूनां सम्बन्धः स्यात्, अतोऽनुपलभ्यमानस्यापि परमाण्वसम्बन्धस्य कल्पना" –

माना गया है । इस प्रकार के स्वभाववाला भाव द्वितीयादिक्षणों में भी होने से स्वभावभेदमूलक क्षणिकत्व को अवकाश नहीं है क्योंकि अक्षणिकत्व मानने में कोई विरोध नहीं है । यदि ऐसा स्वभाव माना जाय कि 'वर्त्तमान क्षण के पूर्वक्षणों में न रह कर (अब) रहना' – तो भी एकान्त क्षणिकत्व तो हो नहीं सकता क्योंकि पूर्वक्षणों में न रह कर उत्तरोत्तर क्षण में अनुवृत्त रहने का प्रथमक्षणकालीन स्वभाव द्वितीयादि क्षणों में भी अक्षुण्ण है । यदि 'अभूत्वा भवन' का यह तात्पर्य है 'पहले असत् हो कर (अब) सत् होना' तो यहाँ भी स्थिति-उत्पत्तिभेदमूलक क्षणिकत्व को अवकाश नहीं है क्योंकि वैसा स्वभाव द्वितीयादि क्षणों में अनुगत है । [यहाँ संस्कृत व्याख्या में कई जगह अनेक अशुद्ध पाठान्तर हैं अतः शुद्ध पाठ अन्वेषणीय है ।]

अन्य अन्य काल का सम्बन्ध यह कोई अन्य अन्य स्वभावात्मक नहीं है, वस्तु एकस्वभाव होने पर भी उस में अलग अलग क्षणों का सम्बन्ध उसी तरह हो सकता है, जैसे एक परमाणु में विभिन्न छः दिशाओं में रहे हुए परमाणुओं का संयोग होता है, वहाँ परमाणु का षट्स्वरूप भेद नहीं माना जाता तो क्षणभेद से भेद क्यों माना जाय ?

★ परमाणुवों के असम्बन्ध की कल्पना का निरसन ★

बौद्धवादी : जैसे लोह की अनेक शलाका दूर से सम्बद्ध दीखती है लेकिन परस्पर असम्बद्ध होती हैं वैसे ही परमाणु परस्पर सम्बद्ध होने की अनुमिति भले होती हो, किन्तु वे असम्बद्ध ही होते हैं ।

स्याद्वादी : यह गलत बात है हेतुजन्य अनुमिति से (अथवा [illegible] से साक्षात् अथवा बहु परमाणुपुञ्ज का दूसरे परमाणुपुञ्ज से साक्षात्) जब सम्बन्ध की प्रतीति हो रही है तब असम्बन्ध की कल्पना को अवकाश नहीं रहता ।

बौद्धवादी : असम्बन्ध की कल्पना की आवश्यकता इस प्रकार है, एक परमाणु दूसरे परमाणु के साथ सर्वात्मना (सर्वांश से) सम्बद्ध होता है या एक अंश से – इन दोनों में से एक भी विकल्प घटता नहीं है, इस लिये असम्बन्ध की कल्पना की जा सकती है । [illegible]

असम्यगेतत्, असम्बन्धवत् सम्बन्धप्रकारान्तरस्यैवाऽदृष्टस्यापि कल्पनाप्रसक्तेः । 'सर्वात्मनैकदेशेन वाऽणूनामसम्बन्धात्, सम्बन्धस्य प्रतीतेः प्रकारान्तरेण एषां सम्बन्धः' इति कल्पना युक्तियुक्तैव, प्रतीतिविरोधश्चैवं न स्यात् ।

अथ विकल्पिका प्रतीतिरारोपितगोचराऽसत्यपि सम्बन्धे सम्बन्धमादर्शयति, न तद्वशात् सम्बन्धव्यवस्था येन प्रतीतिविरोधः स्यादसम्बन्धवादिनः । कथं तर्हि सम्बन्धप्रतीतेर्वैशद्यम् विकल्पस्य वैशद्यानिष्टेः ? 'युगपद्वृत्तेर्विकल्पाऽविकल्पयोरेकत्वाध्यवसायाद् वैशद्यभ्रमे' – सहभाविनोर्गोदर्शनाश्वविकल्पयोरप्येकत्वाध्यवसायाद् वैशद्यविभ्रमः स्यात् । अथाऽसम्बद्धैरपि परमाणुभिः सम्बन्धग्राहीन्द्रियज्ञानं तज्जन्यते ततोऽयमदोषः । नन्वेवमसम्बद्धानपि परमाणुन् सम्बद्धानिवाध्यक्षबुद्धिरधिगच्छन्ती कथं भ्रान्ता प्रत्यक्षत्वमश्नुवीत ? प्रत्यक्षत्वे वा कथमतो न परमाणुसम्बन्धसिद्धिः यतोऽसम्बन्धवादिनः प्रतीतिविरोधो न स्यात् ?

हैं या अनात्मभूत ? यदि आत्मभूत हैं तव तो परमाणुरूप ही हैं' अतः एक अंश रूप न होने से, आंशिक सम्बन्ध को अवकाश ही नहीं है । यदि वे एक एक अंश अनात्मभूत हैं तव पुनरावर्त्तन से वही बात आयेगी कि उन एक-एक अंशों का परमाणुओं के साथ पहले तो सम्बन्ध घटाना होगा, वह सर्वात्मना मानेंगे तो अभेद प्रसक्त होने से एकदेशरूप सम्बन्धी ही लुप्त हो जायेगा तो उस के साथ सम्बन्ध भी लुप्त हो ही जायेगा । और एक एक अंशों के तो कोई उपांश है नहीं जिस से कि उन का भी एक अंश से सम्बन्ध बन सके । यदि कहें कि परमाणु के साथ (अनात्मभूत) उन एक एक अंशों का भी अपने उपांशो से सम्बन्ध मानेंगे – तो वे ही दो विकल्प आयेंगे कि वे उपांश उन अंशों से अभिन्न है या भिन्न ? भिन्न है तो सर्वात्मना सम्बन्ध होगा या उन के भी एक एक अंश से ?....... इत्यादि प्रश्न ज्यों का त्यों रहेगा – उन का कहीं भी अन्त नहीं आयेगा । सर्वात्मना और एक देश को छोड कर और तो कोई प्रकार है नहीं जिस से कि परमाणुओं का सम्बन्ध बनाया जा सके । फलतः प्रतीत होने वाले सम्बन्ध का त्याग कर के प्रतीत न होने वाले भी असम्बन्ध की कल्पना करनी पडेगी ।

स्याद्वादी : यह सच्चा तरीका नहीं है, सर्वात्मना और एक देश से सम्बन्ध के न घटने पर, जैसे आप असम्बन्ध की कल्पना को स्थान देते हैं, वैसे ही उन दोनों से भिन्न प्रकार के भी सम्बन्ध होने की कल्पना स्थानोचित है । और इन दोनों में प्रकारान्तर से सम्बन्ध की कल्पना ही युक्तियुक्त हैं क्योंकि कल्पित असम्बन्ध प्रतीत नहीं है जब कि सर्वात्मना, एक देश इन दो प्रकार से अणुओं का सम्बन्ध न घटने पर भी सम्बन्ध की प्रतीति होती है अतः तीसरा भी कोई प्रकार होना चाहिये जिस से अणुओं के सम्बन्ध की प्रतीति संगत की जा सके । इस तरह कोई प्रतीतिविरोध नहीं होगा ।

★ सम्बन्धप्रतीति आरोपितगोचर → शंका का निरसन ★

बौद्धवादी : सम्बन्ध की प्रतीति होती है यह ठीक बात है लेकिन वह विकल्पात्मक होने से आरोपितगोचर होती है जो सम्बन्ध के न होने पर भी आरोपित=असत् सम्बन्ध का दर्शन कराती है । आरोपित प्रतीति के बल से कहीं भी पदार्थव्यवस्था नहीं होती अत एव सम्बन्ध की व्यवस्था उस से नहीं होती । तब असम्बन्धवादी के मत में मिथ्याप्रतीति का विरोध बताना कैसे उचित कहा जाय ?

स्याद्वादी : सम्बन्ध प्रतीति यदि विकल्पात्मक है तो वह इतनी विशद (स्पष्टता से अवगुण्ठित) कैसे

परमाणूनामसम्बद्धानां जलधारणाद्यर्थक्रियाकारित्वानुपपत्तेः अर्थक्रियाविरोधश्चाऽसम्बन्धवादिनः । वंशादीनां चैकदेशाकर्षणे तदपरदेशाकर्षणं च न स्यात्, वर्त्तमानविज्ञप्तिक्षणवत् पूर्वापरक्षणयोगेऽपि वा न स्वभावभेदः । अभावाऽव्यवधानलक्षणं हि नैरन्तर्यम् तल्लक्षणश्च सम्बन्धः परेणाभ्युपगन्तव्य एव तस्याभावे कार्योत्पत्तिरहेतुका स्यात् अनवरतसत्त्वोपलम्भेनाऽभेदभ्रान्तिश्च स्यात्, केवलादेव सादृश्याद् भ्रान्तोत्पत्तावतिप्रसंगः सर्वत्र सादृश्याद् तदुत्पत्तिप्रसक्तेः । सत्त्वोपलम्भयोरभावाऽव्यवधानलक्षणमेव नैरन्तर्यम् तस्याऽस्तित्वे तल्लक्षणोऽस्त्येव सम्बन्धः । न चानेकाकारयोगेऽपि पीताद्यनेकाकारचित्रज्ञानवदेकान्ततो भेदः पदार्थस्य*, प्रतीयमानेऽभेदे एकान्तभेदानुपपत्तेः । अतः क्षणिकस्वभावापेक्षाऽक्षणिकभावसम्भवात् सम्भविनी भावानाम् ।

होती है ? आप के मत में तो प्रत्यक्ष विशद होता है न कि विकल्प ।

बौद्धवादी : जिस समय सम्बन्ध का विकल्पज्ञान होता है उसी समय जो निर्विकल्प ज्ञान उत्पन्न होता है उन दोनों में एकत्व का अध्यवसाय हो जाता है, इस एकत्वाध्यवसाय के कारण निर्विकल्प प्रत्यक्षगत वैशद्य का विकल्प में भ्रम होता है, इस तरह विकल्प भी विशदरूपसे अनुभूत होता है ।

स्याद्वादी : अगर ऐसा है तब तो जिस समय अश्व का विकल्प ज्ञान उत्पन्न होता है उसी समय गाय का दर्शन प्रत्यक्ष हो रहा है । अब यदि एक साथ उत्पत्ति को आप एकत्वाध्यवसाय का निमित्त बताते हैं तब यहाँ भी एकत्वाध्यवसाय होगा और उस के कारण अश्वविकल्प में भी वैशद्य का भ्रम होना चाहिये – क्यों नहीं होता है ?

बौद्धवादी : परमाणु तो पहले कहा है कि असम्बद्ध ही होते हैं फिर भी इन्द्रिय से सम्बद्धग्राहक (प्रत्यक्ष) ज्ञान कैसे भी हो जाता है – इस प्रकार असम्बन्ध और प्रतीति, दोनों मानने में कोई दोष नहीं ।

स्याद्वादी : अरे ! ऐसे तो असम्बद्ध परमाणुओं सम्बद्ध जैसे ग्रहण करनेवाली प्रत्यक्षबुद्धि भ्रान्त हो कही जायेगी । आपके मत में तो इन्द्रियजन्य हो वह प्रत्यक्ष होता है और प्रत्यक्ष सर्वदा अभ्रान्त होता है । अब यहाँ जो भ्रान्त बुद्धि हुई है वह कैसे प्रत्यक्ष कही जायेगी ? यदि वह प्रत्यक्ष है तो भ्रान्त नहीं कही जायेगी, फलतः उसी सम्बन्धग्राहक प्रत्यक्ष प्रमाण से सम्बन्ध की भी सिद्धि हो जायेगी । तब असम्बन्धवादी के मत में प्रतीतिविरोध कैसे मिटेगा ?

★ असम्बन्धवाद में अर्थक्रियाविरोध ★

असम्बन्धवादी को और भी एक दोष है – परमाणुओं के बीच जब कोई सम्बन्ध नहीं है तब घट जैसा कोई अवयवी भी न होने से केवल परमाणु से जलधारण आदि अर्थक्रिया भी नहीं होगी, फलतः अर्थक्रिया का विरोध प्रसक्त होगा । उपरांत, परमाणुओं के बीच सम्बन्ध न होने पर लम्बे लम्बे बांस-रस्सी आदि को एक भाग से खिंचने पर उन के दो दूसरे भागों का आकर्षण होता है यह नहीं हो सकेगा । [illegible] जो कि पूर्वापर क्षणों में भिन्न भिन्न काल सम्बन्ध से भिन्न भिन्न स्वभाव का [illegible] [illegible] सम्बन्ध की बात छोड़ कर भी [illegible] [illegible] [illegible] से पूर्व-उत्तरक्षण का सम्बन्ध [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] अनेक [illegible] सम्बन्ध होने पर भी [illegible]

* [illegible]

अथाऽनश्वरात्मनः क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाविरोधात् ततोऽर्थक्रियानिवृत्तौ तन्नियता सत्ताऽपि निवर्त्तते, न चासतः कार्यत्वमिति कार्यात्मनः सर्वस्य क्षणिकत्वादनपेक्षत्वसिद्धिरिति साध्य-साधनयोरविनाभावसिद्धिः । ननु किमनया परम्परया ? अविनाभावस्य व्यापकानुपलब्धेरेव सिद्धिरस्तु ! यतः प्रकारान्तराभावाद् व्यापकानुलब्धेः सत्त्वलक्षणं कृतकत्वमक्षणिकाद् व्यावर्त्तमानं क्षणिकेष्वेवावतिष्ठते वस्तुधर्मस्य सतो गत्यन्तराभावात् । 'भवत्वेवमेव' इति चेत् ? न, प्रकारान्तरसद्भावे कथमविनाभावस्य व्यापकानुपलब्धेरपि प्रसिद्धिर्नित्यानित्यात्मकेऽपि भावे सति कृतकत्वस्य क्षणिकत्वेनैव व्याप्त्ययोगात् ।

से तन्मूलक वस्तु के टुकडे यानी वस्तुभेद भी सिद्ध नहीं होगा ।

अगर यहाँ कहें कि – वर्त्तमान क्षण में भी पूर्व-उत्तरक्षणों का सम्वन्ध नहीं होता – तो यह उसका नहीं चलेगा क्योंकि दो वस्तु के वीच अभाव का व्यवधान न होना यही नैरन्तर्य है और ऐसा नैरन्तर्यरूप सम्वन्ध यदि पूर्वोत्तर क्षणों के वीच नहीं मानेंगे तो – जैसे अश्व के उत्तरक्षण को गोपूर्वक्षण के साथ कोई सम्वन्ध न होने से अश्वक्षण, गोक्षण का कार्य नहीं माना जाता, वैसे ही एक अश्वसन्तानपतित उत्तरक्षण को भी पूर्वक्षण के साथ कोई सम्वन्ध न होने से उत्तरक्षण का भी कार्य नहीं माना जा सकेगा, फलतः विना हेतु कार्योत्पत्ति की विपदा आ पडेगी । दूसरी वात, बौद्धमतानुसार जो एक सन्तानगत क्षणों में निरन्तर सत्त्व का उपलम्भ जारी रहने से अभेद (=एकत्व) की भ्रान्ति होने का कहा जाता हैं वह भी दो क्षणों के वीच नैरन्तर्यरूप सम्वन्ध के न होने पर नहीं घट सकेगा । यदि वहाँ नैरन्तर्यरूप सम्वन्ध के जरिये भ्रान्ति होने का न मान कर सिर्फ सादृश्य के जरिये अभेदभ्रान्ति मानी जायेगी तो अतिप्रसंग होगा क्योंकि सादृश्य तो गो-अश्वादि पिण्डों में भी कुछ न कुछ तो होता ही है, अतः वहाँ भी अभेदभ्रान्ति का अनिष्ट हो जायेगा । इस लिये सादृश्य को आप अभेदभ्रान्ति का वीज नहीं मान सकते । फिर भी निरन्तर सत्त्व का उपलम्भ जो होता है उस के वीजरूप में 'अभाव का व्यवधान न होना' इस प्रकार के 'नैरन्तर्य' को मानना पडेगा और वही दो क्षणों के वीच सम्वन्ध है । तथ्य यह है कि पीतादि विविध आकारशालि एक चित्रज्ञान में अनेक आकारों का योग होने पर भी ज्ञान एक होता है ऐसे ही अन्य पदार्थों में क्षणभेद होने पर भी एकान्त भेद नहीं होता है क्योंकि उन में अभेद भी जब भासता है तब एकान्त भेद कैसे हो सकता है ? !

सारांश कुछ भाव अक्षणिक भी होते हैं, इस लिये भाव को क्षणभंगुर होने के लिये क्षणभंगुर स्वभाव की अपेक्षा का सम्भव रहता है । इस लिये पहले जो कहा था कि (पृ० पं०) अपने कार्य की उत्पत्ति में यववीजादि में जैसे अनपेक्षत्व असिद्ध है वैसे ही कृतक को विनाशस्वभाव की अपेक्षा होने के कारण जिन पदार्थों में वैसा स्वभाव नहीं होगा उन में विनाश के लिये अन्य हेतु अनपेक्षत्व असिद्ध है – यह बात दृढ होती है ।

★ स्थायिभाव में अर्थक्रियाविरोधशंका का निरसन ★

बौद्धवादी : अनित्यत्व और कृतकत्व के वीच अविनाभाव की सिद्धि इस प्रकार है – अविनाशी पदार्थ न तो क्रम से अर्थक्रिया कर सकता है, न एक साथ । क्रमसे करेगा तो प्रतिक्षण तत्तदर्थक्रियाकारित्व स्वभाव वदलते रहने से वही क्षणिकत्व प्रवेश पायेगा । एक साथ सभी अर्थक्रिया कर देगा तो दूसरे क्षण में अर्थक्रियाकारित्व न रहने से वह असत् हो जायेगा । जव अविनाशीभाव में एक भी रीति से अर्थक्रियाकारित्व नहीं घटता तव उस की व्याप्य सत्ता भी वहाँ नहीं हो सकती । जो असत् है वह कभी उत्पन्न न होने से कार्य नहीं बन

भागाऽसिद्धं चानपेक्षत्वम् क्षणिकस्वभावापेक्षया कृतकानामपि केषाञ्चिदुभयात्मकत्वेन क्षणिक-स्वभावाभावात् । 'विपक्षाद् व्यापकानुपलब्धेर्व्यावृत्तस्य हेतोरभीष्ट एव साध्याऽव्यभिचार' इति चेत् ? अक्षणिकत्वादिनोऽक्षणिकाऽव्यभिचारः किमेवं न स्यात् ? तेनापि शक्यमेवमभिधातुम् – क्रम-यौगपद्या-भ्यां क्षणिकेऽर्थक्रियाविरोधः ।

तथाहि – एकसामग्र्यन्तर्गतयुगपदनेककार्यकारिण एकस्य स्वभावभेदमन्तरेण कार्यस्य भेदाऽयो-गात् स्वभावभेदे चाऽनेकत्वप्रसंगान्नैकस्य युगपदनेककार्यकारित्वम् । कारणस्वभावशक्तिभेदमन्तरेणापि का-र्यस्योपादानभेदाद् भेदमिच्छता शक्तिभेदोऽभ्युपगत एव उपादान-सहकारिभावेनानेककार्यजन्मन्येकस्य व-स्तुक्षणस्योपयोगाभ्युपगमात् उपादानसहकारिभावयोश्च परस्परं भेदात् । न चैकत्रोपादानभाव एवान्यत्र सहकारिभावः कारणक्षणस्य; तथाऽभ्युपगमे सहकार्युपादानभावयोरभेदात् तत्कारणं सहकारि उपादानं वा यतः प्रसज्येत ? यद्युपादानं न तर्ह्युपादानभेदात् कार्यभेदः सर्वं प्रत्युपादानत्वात्, सहकारित्वे चोपा-

सकता । अत: यह फलित होता है कि कार्यात्मक पदार्थमात्र अपने स्वभाव से ही क्षणिक = क्षणविनाशी है, उसे और किसी हेतु की अपेक्षा नहीं है यह सिद्ध होता है । जब अनपेक्षत्व सिद्ध हुआ तो अब कृतकत्व क्षणिकत्व का व्यभिचारी (परित्यागी) न होने से उन दोनों का अविनाभाव भी सिद्ध हो जाता है ।

स्याद्वादी : इतनी झंझट क्यों ? दीर्घ परम्परा से प्रसिद्ध प्राणायाम कर के अविनाभाव की सिद्धि करने के बदले व्यापकानुपलब्धि से ही उस की सिद्धि होने दो । कारण, आप के मतानुसार क्षणिक-अक्षणिक इन दोनों से अतिरिक्त कोई वस्तु प्रकार सम्भव नहीं है, अक्षणिक स्तुम्भादि में कृतकत्व नहीं रहता है – उस का कारण क्या ? क्षणिकत्वरूप व्यापक की अक्षणिक में अनुपलब्धि होने से ही कृतकत्व अक्षणिक में से व्यावृत्त होता है – यह फलित होता है । और अक्षणिक से व्यावृत्त होने वाला कृतकत्वरूप सत्त्व यदि क्षणिक में नहीं रहेगा तो कहाँ जायेगा ? सद्भूत वस्तुधर्म कृतकत्व को रहने के लिये तीसरा तो कोई आप के मतानुसार स्थान नहीं है ।

बौद्धवादी : चलो ! बहुत अच्छा हुआ, ऐसा ही मान लेंगे ।

स्याद्वादी : यह भी हमारे सामने नहीं चल सकेगा, क्योंकि हमारे मत में तो 'क्षणिकाऽक्षणिक' या 'नित्याऽनित्य' ऐसा तृतीय प्रकार सम्भव है अत: अविनाभाव साधक व्यापकानुपलब्धि ही प्रसिद्ध नहीं हो सकेगी क्योंकि हम कहेंगे कि – क्षणिकत्व न होने के कारण नहीं किन्तु नित्यानित्यत्व न होने से ही कृतकत्व अक्षणिक स्तम्भादि में नहीं रहता । तब कृतकत्व की क्षणिकत्व के साथ व्याप्ति कैसे सिद्ध होगी ?

★ अनपेक्षत्व हेतु में भागासिद्धि प्रदर्शन ★

उपरांत, क्षणिकस्वभाव की अपेक्षामात्र से भाव के विनाश में जो अन्यहेतुअनपेक्षत्व दिखाया है वह भी अंशत: असिद्ध है । कारण, कृतक भाव कुछ क्षणिक होते हैं वहाँ भले अपेक्षित हो किन्तु कुछ कृतक भाव उभय=क्षणिकाक्षणिक स्वभाव भी होते हैं अत: वैसे भावों के विनाश में, क्षणिकस्वभाव का अभाव होने से विनाश के लिये अन्य हेतु अपेक्षा अनिवार्य है । यदि यह कहा जाय – 'अक्षणिक विपक्ष में क्षणिकत्वरूप व्यापक की अनुपलब्धि से, कृतकत्व हेतु की भी व्यावृत्ति सिद्ध हो जाती है और विपक्षव्यावृत्ति सिद्ध होने पर

दानस्यैवाभावात् कुतस्तद्भेदात् कार्यभेदः ? एवमपि यदि क्षणस्यैकत्रोपादानभाव एवान्यत्र सहकारिभाव इति न शक्तिभेदस्तर्हि अक्षणिकस्याप्यैकदैककार्यकारित्वमेवान्यदान्यकार्यकारित्वमिति क्रमेणानेककार्यकारिणो न स्यात् शक्तिभेदः ।

न च 'पूर्वापरकार्यकारित्वयोरभेदादुत्तरकार्यकारित्वस्य प्रागेव सम्भवात् तदैवोत्तरकार्योत्पत्तिः स्यात्' इति वक्तव्यम् क्षणिकत्वेऽप्यस्य समानत्वात् । तथाहि – कारणसत्ताकाले तदनन्तरभाविकार्यकारित्वस्य सद्भावात् तदैव कार्योत्पत्तिः स्यादिति कार्यकारणयोरेककालताप्रसक्तिः । न चोपादानभेदादेव कार्यस्य

हेतु में साध्य का अव्यभिचार भी सिद्ध हो जाता है अतः अंशतः अनपेक्षत्व असिद्ध नहीं' – तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि इस ढंग से तो अक्षणिकवादी भी कृतकत्व को अक्षणिकसाध्य का अव्यभिचारी सिद्ध कर सकेगा। वह भी कह सकेगा – क्षणिकपक्ष में 'क्रमशः या एक साथ', दोनों विकल्प में अर्थक्रियाकारित्व का विरोध है [फलतः विपक्षभूत क्षणिक में अर्थक्रियाकारित्वरूप व्यापक की अनुपलब्धि से, कृतकत्व हेतु की व्यावृत्ति सिद्ध होने पर अक्षणिकसाध्य के साथ कृतकत्व का अव्यभिचार सिद्ध हो जायेगा ।] क्षणिक में 'क्रमशः या एक साथ' अर्थक्रिया का विरोध कैसे है यह भी अक्षणिकवादी विस्तृत चर्चा से दिखायेगा ।

★ क्षणिक पदार्थ में अर्थक्रिया विरोधनिर्देशन ★

देखिये – सामग्री के विना किसी एक से कोई कार्य नहीं होता – एवं एक ही कारण, एक सामग्री का अंग वन कर (उपादान-निमित्त भेद से) एक साथ अनेक कार्य उत्पन्न करता है यह बौद्ध मानता है। अव यहाँ एककारणजन्य कार्यभेद कारणगत स्वभावभेद के विना कैसे शक्य वनेगा ? और स्वभावभेद मानेंगे तो एक कारण के अनेक भेद प्रसक्त होने की विपदा है, इस प्रकार एक क्षणिक पदार्थ एकसाथ अपने अनेक कार्यों को उत्पन्न कर दे यह तो नहीं वन सकता । कारणभेद, स्वभावभेद या शक्तिभेद के विना भी जो उपादानभेद से कार्यभेद के चाहक हैं उन्हें शक्तिभेद को भी चाहना होगा – स्वीकारना होगा, क्योंकि एक ही क्षणिक वस्तु अनेक कार्योत्पादन में उपादानस्वभाव एवं सहकारिस्वभाव से उपयोगी वनती है – ऐसा मानते हैं, तो यहाँ उपादानशक्ति और सहकारिशक्ति के भेद से ही कार्यभेद घटा सकेंगे, अन्यथा स्वभावभेद से एक क्षण में भी क्षणभेद प्रसक्त होगा ।

यदि कहें कि – एक ही कारणक्षण का स्वसन्तान में उत्तरवर्त्ती क्षण के प्रति जो उपादानस्वभाव है वही अन्यसन्तान के उत्तरक्षण के प्रति सहकारिस्वभावरूप है इस लिये न तो शक्तिभेद स्वीकारेंगे न तो स्वभावभेदप्रयुक्त क्षणभेद होगा । – तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर उपादान–सहकारिस्वभाव में सर्वथा अभेद होने पर दो में से एक रहेगा या तो उपादान रहेगा या सहकारी, क्योंकि सर्वथा अभिन्न में दो अलग अलग भाव नहीं रह सकते । अव यदि सिर्फ उपादान ही मानेंगे तो दूसरों के प्रति सहकारिभाव के वदले, सर्व कार्यों के प्रति उपादानभाव प्रसक्त होने से, उपादानभेद से कार्यभेद की मान्यता डूव जायेगी । यदि अकेले सहकारिभाव को मानेंगे तो उपादानभाव नहीं रहेगा, तव भी उपादानभेद से कार्यभेद की वात डूव जायेगी । इस अनिष्ट की उपेक्षा कर के भी शक्तिभेद को टालने के लिये एक ही क्षणमें एक के प्रति उपादानभाव और दूसरे कार्य के प्रति सहकारिभाव मानने का आग्रह नहीं छूटता, तो अक्षणिकवादी भी कहेगा कि हमारे पक्ष में भी शक्तिभेद नहीं मानेंगे, क्योंकि अक्षणिक वस्तु में, पूर्वकाल में जो एककार्यकारित्व है वही उत्तर काल में अन्यकार्यकारित्वरूप होता है, स्वभावभेद न होने से क्षणभेद को अवकाश नहीं होगा ।

भेदः, गोदर्शनसमयेऽश्वं विकल्पयतो मनस्कारलक्षणोपादानभेदाभावेऽपि सविकल्पाऽविकल्पयोः परेण भेदाभ्युपगमात्, तद्भेदेऽपि च तदुत्तरकालभाविनोऽनुसन्धानस्याभेदात्तोपादानभेदात् भेद एवोपदर्शितः । अतः शक्तिभेदादेव भेदः कार्यस्य ।

शक्तिश्च भिन्नाऽभिन्ना शक्तिमतः – तद्ग्रहणेऽग्रहणाद् भिन्ना, कार्यान्यथानुपपत्त्या च तत्रैव प्रतीयमाना सा ततोऽभिन्ना ।

व्यतिरेके शक्तिमतः शक्तेः, अशक्तात् कार्यानुत्पत्तेः । न च व्यतिरिक्तायाः शक्तेरेव कार्योत्पत्तिर्भविष्यति, शक्तिमतोऽकारकत्वेनाऽवस्तुत्वप्रसङ्गात् । न च शक्तिमतोऽपि कारकत्वम्, तस्याऽसामर्थ्यात् । न च शक्तियोगात् तस्य शक्तत्वम्, अशक्तस्य भिन्नशक्तियोगेऽपि शक्तत्वानुपपत्तेः, शक्तत्वस्यानुपयोगात्, तदुपयोगे वा शक्तिः शक्तिमत उत्पत्तिरभ्युपगता स्यात् । तथा च स्वहेतोरेव शक्तस्योत्पत्तिरभ्युपगन्तव्या किमर्थान्तरभूतशक्तिपरिकल्पनया ? शक्तस्य च स्वहेतोरेव तस्योत्पत्तौ किं शक्तियोगपरिकल्पनेन ?।

नाऽपि शक्तिमतः शक्तिरभिन्नैव, शक्तिमद्ग्रहणेऽपि अगृहीतत्वात् । 'शक्तिः गृहीतैव तद्ग्रहणे, केवलम(?भ्र) तत्त्वसाधर्म्यात् विप्रलब्धो न तां व्यवस्यति' – असदेतत्, सर्वतो व्यावृत्तस्यानुवर्तिनां

★ पूर्वक्षण में उत्तरकार्योत्पत्ति की आपत्ति का निर्मूलन ★

यदि ऐसा कहा जाय – एक ही अक्षणिक भाव में यदि आप पूर्वकार्यकारित्व ही उत्तरकार्यकारित्व है (उन में भेद नहीं है) ऐसा मानेंगे तो पूर्व कार्य करते समय ही उत्तरकार्य भी उत्पन्न हो जायेगा क्योंकि उत्तरकार्यकारित्व पूर्वकाल में भी उस समय अक्षुण्ण है । – तो यह कथन अयुक्त है क्योंकि ऐसी आपत्ति तो क्षणिकवाद में भी लग सकती है – देखिये, कारणक्षण में स्वाव्यवहितउत्तरक्षणकार्यकारित्व अपनी सत्ता क्षण में विद्यमान होने से उसी क्षण में उत्तरक्षणकार्य भी हो जाने की विपदा आयेगी और कारण कार्य दोनों समानकालीन हो जायेंगे ।

दूसरी बात यह है कि बौद्ध जो उपादानभेद से ही कार्यभेद बता रहा है वह संगत नहीं है, क्योंकि पूर्व क्षण में परिस्थिति अनुसार गोदर्शन और अश्वविकल्प की सामग्री एक साथ हुए जाने पर दूसरे क्षण में गोदर्शन और अश्वविकल्प दो भिन्न कार्य एक साथ उत्पन्न होते हैं किन्तु वहाँ मनस्कारलक्षण उपादान तो दोनों का एक ही होता है, बौद्ध को यह बात मान्य है । उपरांत, कार्यभेद होने के बाद भी उत्तरक्षण में जो [illegible] एक अंश का अनुसन्धानात्मक कार्य उत्पन्न होता है वह भी एक ही होता है । इस प्रकार उपादानभेद न होने पर भी कार्य [illegible] होता है और कारण अभेद होने पर भी कार्यभेद होता है इसलिये सिद्ध हुआ कि उपादानभेद कार्यभेद का प्रयोजक नहीं है । किन्तु, शक्तिभेद ही कार्यभेद का प्रयोजक है ।

★ शक्ति और शक्तिमान् में भेदाभेद ★

[illegible]

[illegible]

विप्रलम्भनिमित्तस्य वस्तुभूतसाधर्म्यस्याभावात् । न चैकपरामर्शप्रत्ययहेतुत्वेन साधर्म्यमभ्युपगन्तव्यम् च क्षूरूपालोकमनस्कारेष्वपि तस्य प्रसक्तेः । तस्माद् भ्रान्तिनिमित्ताभावाद् यदि शक्तिरनुभूता तदा तथै निश्चीयते, अनिश्चयान्नानुभूतेत्यवसीयते, अतस्ततः कथञ्चिद(द्) भिन्नाऽपि । न च भेदाभेदयोर्विरोध अबाधिताकारप्रत्ययविषयत्वात् तयोः, यथा परपक्षे एकक्षणस्य स्वकार्यकारणमेव परकार्याऽकरणमित्या वक्तव्यम् विहितोत्तरत्वात् । निरंशे च क्षणे शक्तिभेदादपि न कार्यस्य भेदः शक्तिभेदाभावात् निरंशत्वादेव तत्र क्षणिकस्याऽक्रमकारित्वम् ।

नापि क्रमकार्यकारित्वं तस्य युक्तम्, द्वितीयक्षणे क्षणिकस्याभावात् । अनेककालभाविकार्यकारि ह्येकस्य क्रमकारित्वम् तच्चैकक्षणस्थायिनि भावे कथमुपपद्येत ? क्रमवत्क्षणापेक्षया स्वतोऽक्रमस्यापि क्र

से घटादि कार्य उत्पन्न ही नहीं होगा । 'अकेली स्वतन्त्र शक्ति से ही कार्य उत्पन्न हो जाय' ऐसा भी न मान सकते क्योंकि तब दण्डादि पदार्थ कारक (= अर्थक्रियासाधक) न रहने से असत् बन जायेंगे । शक्तिशू केवल दण्डादि भी कारक नहीं बन सकते क्योंकि वे शक्तिशून्य = सामर्थ्यहीन हैं । 'शक्ति' भिन्न है किन्तु किस सम्बन्ध से दंडादि में रहेगी अतः दंडादि सशक्त बनेंगे' ऐसा भी नहीं मान सकते, क्योंकि स्वयं जो अश है उस को हजार बार शक्ति का सम्बन्ध प्राप्त हो तो भी शक्तस्वभाव नहीं हो सकता यानी शक्ति वहाँ निरर्थ हो जायेगी । यदि वहाँ शक्ति को सार्थक मानने के लिये ऐसा माना जाय कि शक्ति के योग से दंडादि शक्तिशाल बनते हैं तब तो शक्ति से शक्तिमान की उत्पत्ति, उलटा मानना पडेगा । सारांश, अपने हेतुओं से उत्पन्न हो वाले दंडादि सशक्त ही उत्पन्न होते हैं ऐसा मानना ही होगा, फिर पृथग् भूत शक्ति की कल्पना क्यों की जाय एवं दंडादि अपने हेतुओ सें शक्तिशाली ही उत्पन्न होते हैं तब उन में शक्ति के सम्बन्ध की भी कल्पना क्यं की जाय ?

★ शक्तिमान् से शक्ति एकान्त अभिन्न नहीं ★

शक्तिमत् दंडादि से शक्ति एकान्त अभिन्न भी नहीं है, क्योंकि दंडादि का अनुभव होता है तब उस वे साथ शक्ति का अनुभव नहीं होता है । यदि कहें कि – 'शक्तिमत् और शक्ति का अनुभव एक ही होता है अतः शक्तिमत् के अनुभव में शक्ति का अनुभव समाविष्ट ही होता है, हाँ (अतत्फलसाधर्म्य ?) तत्फलसाधर्म्य के कारण अर्थात् दोनों का समान फल एक परामर्श रूप होने से ज्ञाता ऐसा भ्रमित हो जाता है कि उस को पृथक् शक्ति का व्यवसाय नहीं उत्पन्न होता ।' – यह गलत बात है, क्योंकि बौद्ध तो सर्वथा व्यावृत्त वस्तु वादी है, उस के मत में, भ्रमित होने के निमित्तभूत कोई वास्तविक साधर्म्य ही नहीं होता । 'शक्ति और शक्तिमत् दोनों में एक परामर्शप्रतीति का हेतुत्व रूप साधर्म्य क्यों नहीं हो सकता ?' इसलिये कि वैसा एकपरामर्शप्रतीति का हेतुत्व रूप साधर्म्य चक्षु, रूप, प्रकाश और मनस्कार में भी प्रसक्त होगा । और तब रूप-आलोक आदि का पृथग् व्यवसाय भी नहीं हो सकेगा । तात्पर्य, भ्रमित होने के लिये वहाँ कोई प्रबल निमित्त नहीं है, तब यदि शक्तिमत् के साथ शक्ति का भी अनुभव होता तो जरूर उस का शक्तिरूप में निश्चय होता, निश्चय नहीं होता है इसलिये सिद्ध होता है कि उस का शक्तिमत् के साथ अनुभव नहीं होता । इस प्रकार एक के अनुभवकाल में दूसरे का अनुभव नहीं होता है इस लिये वे दोनों शक्ति और शक्तिमत् कथंचिद् भिन्न होने का सिद्ध होता है ।

क्षणिकस्य, अक्षणिकस्यापि क्रमवत्सहकार्यपेक्षयाऽक्रमस्यापि क्रमकारित्वं किं नेष्यते ? 'स्यादेतद् अक्षणिकस्याऽक्रमत्वेऽक्रमेणैव किं कार्योत्पत्तिः अनाधेयातिशयस्याऽक्षणिकस्य कालान्तरसहकारिप्रतीक्षाऽयोगादिति ?' न, अक्षणिकस्याऽनाधेयातिशयस्याऽपि कार्यकारित्वस्य कालान्तरनियतत्वात् क्षणिकस्येव, सहकारित्वस्य चैककार्यकारित्वलक्षणत्वाद् युक्ता सहकारिप्रतीक्षाऽक्षणिकस्य । क्षणिकस्यापि स्वनीतिसामर्थ्याद् सहकारिणि कालान्तरे वा नातिशयाधायकत्वेनापेक्षा – क्षणस्याऽविवेकात् – किन्तु कालान्तरभाव्येककार्यकारित्वेन, सहकारिसद्भावस्यैव च सामर्थ्यात्, अन्यथा सामग्री न ज्ज(?ज)निका स्यात् एकस्मादेव कार्योत्पत्तेः द्वितीयक्षणापेक्षा च न स्यात्, आद्यक्षण एव कार्यस्योत्पत्तेः ।

परस्परोपकारित्वं च सन्ताने एककार्यकारित्वमेव, क्षणात् सहकारिणः क्षणस्यापि कारिणोऽनुपकारात् सर्वत्रैककार्यकारित्वमेव सहकारित्वम्, अतोऽनुपकारिण्यपि सहकारिणि कालान्तरे वाऽपेक्षासम्भवात् क्रमवत्सहकार्यपेक्षयाऽक्रमस्यापि क्रमकारित्वं किं न भवेत् ? न चानेकस्मात् क्रमेणानेककार्योत्पत्तौ क्रमकारित्वं

दो पदार्थ में कथंचिद् भेदाभेद होने में कोई विरोध सावकाश नहीं है, क्योंकि उपरोक्त तर्क से वे दोनों निर्बाधप्रतीति के विषय बनते हैं । बौद्धमत में भी ऐसा होता है – एक ही बीज क्षण अंकुरस्वरूप अपने कार्य को उत्पन्न करती है वही बीज क्षण घटादि परकार्य को उत्पन्न नहीं करती है इस प्रकार कारकत्व-अकारकत्व विरोधभागी धर्म एक ही क्षण में रहते हैं । यदि ऐसा कहें कि – 'स्वकार्यकारकत्व ही परकार्य-अकारकत्व है यानी दोनों एक ही है अतः कोई विरोधभाव नहीं है' – तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि पहले ही कह दिया है कि [अक्षणिक में भी एक बार अन्यकार्यकारकत्व होता है दोनों एक होने से अक्षणिकवाद में विरोध का आपादन छोड़ देना पड़ेगा अथवा]' एक ही क्षण में उपादानभाव और सहकारिभाव को एक मानेंगे तो दोनों में से एक ही रहेगा, दोनों नहीं हो सकेंगे'......इत्यादि ।

इस प्रकार भिन्नाभिन्न शक्तिविशेष जो सिद्ध है, उस से कार्यभेद मानना है, किन्तु निरंश वस्तु में शक्तिभेद निरंश मानने के कारण उस में अंशतः उपादानशक्ति और अंशतः सहकारि शक्ति का अवस्थान संभव नहीं होता । फलतःक्षणिक पदार्थ है वह शक्तिभेद से एक साथ अक्रम से अपने सब कार्यों को जन्म दे, यह सम्भव नहीं ।

★ क्षणिकभाव में क्रमिककार्यकारिता दुर्घट ★

क्षणिक भाव में क्रमशः कार्यकारित्व भी घट नहीं सकता, क्योंकि क्रम के लिये [illegible] क्षण में एक भाव का अवस्थान होना चाहिये, क्षणिक भाव तो दूसरे क्षण में रहता नहीं । क्रमकारित्व का मतलब है एक के बाद एक, जैसे अक्षणिक [illegible] में होने वाले कार्यों को [illegible]

[illegible]

युक्तम्, अतिप्रसङ्गात् । अक्षणिकेऽपि चानेककालभाविन्यस्य प्रसंगस्य समानत्वात् । न चैकत्वाध्यवसाये नैकस्यैव क्षणप्रवन्धस्य क्रमकारित्वं युक्तम् । भिन्नानामभेदाध्यवसाये निमित्ताभावात् । न सादृश्यं तन्निबन्धनम्, सर्वथा सादृश्यस्य पूर्वोत्तरक्षणेष्वभावात्, भावे वोत्तरक्षणस्य सर्वथा पूर्वक्षणसदृशत्वात् पूर्वक्षणवत् पूर्वकालताप्रसक्तिरिति सर्वस्या(ऽपि) क्षणप्रवन्धस्यैककालत्वान्न कार्यकारणभावः । कथञ्चित् सादृश्येऽनेकान्तसिद्धिः, नामाद्यर्थयोरपि सादृश्यनिमित्तैकत्वाध्यवसायश्च स्यात्, ततोऽभेदाध्यवसायाभावात् तदवस्थ एवातिप्रसंगः ।

तदेवं क्षणिके क्रम-यौगपद्याभ्यामर्थक्रियाविरोधात् ततोऽर्थक्रियालक्षणसत्त्वविशिष्टं कृतकत्वं निवर्त्तमानं गत्यन्तराभावादक्षणिकाद्यवकाशमिति साध्यविपर्ययसाधनाद् विरुद्धं स्यात् ।

अनैकान्तिकं च क्रम-यौगपद्याभ्यामर्थक्रियाकारिणोऽपि कार्यत्वसम्भवात् । तथाहि – शब्द-विद्युत्प्रदीपादिचरमक्षणानामन्यत्रानुपयोगेऽप्यवस्तुत्वेन नाऽकार्यत्वम् अशेपतत्सन्तानस्याऽवस्तुत्वप्रसंगात् । न

निपटाता ? यदि उस में सहकारी द्वारा अतिशय का आधान मानेंगे तो वह क्षणिक वन जायेगा इस लिये जव सहकारि से अतिशय के आधान की वातं ही नहीं है तव कालान्तर में उपस्थित होने वाले सहकारियों कीं प्रतीक्षा करने की उसे क्या जरूर है ? ' – यह कथन अयुक्त है, क्योंकि एक वात तो यह है कि क्षणिक भाव को जैसे आपने उत्तरोत्तरक्षण की अपेक्षा दिखायी वैसे अक्षणिक भाव को भी कालान्तरसापेक्ष कार्यकारित्व होता है । दूसरी वात, सहकारित्व का मतलव यह है कि 'मिल कर एक कार्य करना' । अतः सहकारि के द्वारा अतिशयाधान न होने पर भी कार्य सामग्रीजन्य होने से एक-दूसरे अक्षणिक भावो में अन्योन्य सहकारिमूलक प्रतीक्षा हो सकती है । क्षणिकवाद में भी क्या है ? क्षणिक में सहकारी के द्वारा अतिशय का आधान नहीं माना जाता, फिर भी कालान्तर (= उत्तरोत्तरक्षण) की या सहकारी की अपेक्षा तो मानी जाती है, यदि अतिशय का आधान मानें तव तो क्षणिक भाव निरंश होता है वह नहीं रहेगा । अतः क्षणिक पक्ष में भी कालान्तरभावि एक कार्यकारित्वरूप से सहकारि की सहायं मिलने पर ही क्षणिकभाव में कार्यजनन सामर्थ्य मानना होगा । ऐसा नहीं मानेंगे तो आपके मत में सामग्री कार्यजननी नहीं वनेगी क्योंकि किसी एक कार्य को जन्म देने के लिये परस्पर सहायक अनेक कारणों के मिलने को ही 'सामग्री' कहते हैं । यदि एकमात्र कारण से कार्योत्पत्ति मानेंगे तो आद्यक्षण से अपने समस्त कार्य एक साथ उत्पन्न हो जाने पर द्वितीयादि उत्तरोत्तरक्षण की अपेक्षा जो आपने पहले दिखायी है वह नहीं घटेगी ।

★ सहकारित्व यानी एककार्यकारित्व ★

सन्तानों में भी जो अन्योन्य उपकारकत्व है, जैसे दंड-चक्रादि सन्तानों में, वह एककार्यकारिता रूप ही है, अतिशयाधानरूप नहीं । सहकारिक्षण की सहायता से जो क्षण कार्य उत्पन्न करती है वहाँ भी सहकारित्व का मतलव उपकारक नहीं है किन्तु सर्वत्र 'मिलकर एक कार्यकारित्व' रूप है । इस प्रकार, अनुपकारी भी सहकारी की या कालान्तर की अपेक्षा जव सम्भवित है तव सहकारियों की क्रमिक उपस्थिति होने पर स्वयं क्रमरहित भी अक्षणिक भाव में क्रमशःकारित्व घट सकता है ।

क्षणिकवादी जो क्रमिक अनेक क्षणों में उत्तरोत्तर क्रमिक अनेक कार्यक्षणों की उत्पादकता को क्रमकारित्व रूप वता रहा है वह तो निपट असंगत हैं, क्योंकि तव तो समानकालिक अनेक विभिन्न क्षणों में भी क्रमकारित्व का अतिप्रसंग होगा । एवं अनेकक्षणों को लेकर जव क्रमकारित्व को घटाया जायेगा तो अनेकक्षणस्थायी एक

च 'समानजातीयकार्याऽकारकोऽपि योगिविज्ञानलक्षणविजातीयकार्यक(का?)रणात् न सर्वथाऽनर्थक्रियाकारित्वं शब्दादिचरमक्षणानाम्' – सजातीयानुपयोगे विजातीयेऽपि तेषामनुपयोगात्, उपयोगे वा न रसादेरेकसामग्र्यधीनस्य रूपादेरव्यभिचारेणानुमानं स्यात्, रूपादेरपि शब्दाद्यन्त्यक्षणवत् सजातीयकार्याकारकत्वसम्भवात्, 'रूप-रसयोरेकसामग्र्यधीनत्वेन नियमेन कार्यद्वयारम्भकत्वेऽन्यत्रापि प्रसंगः, योगिविज्ञान-शब्दाद्यन्त्यक्षणयोरपि समानकारणसामग्रीजन्यत्वात् । न चैकत्रानुपयोगिनोऽन्यत्रोपयोगो युक्तः, अन्यथा

अक्षणिक भाव में उत्तरोत्तरक्षणसापेक्ष क्रमशः अनेककार्यकारित्व क्यों नहीं घटेगा ? यदि ऐसा कहें कि – 'पूर्वापर क्षणप्रबन्ध में यद्यपि क्षण क्षण पृथक् है फिर भी उन में जो एकत्व का अध्यवसाय होता है उस अध्यवसाय से उन क्षणों में (कल्पित) एकत्व को मान कर एक ही भाव (क्षणप्रबन्धात्मक) में क्रमशः अनेक कार्यकारित्व घटा सकते हैं' – यह निवेदन असंगत है, क्योंकि पहले भी कहा है कि बौद्ध मत में अभेदाध्यवसाय की उत्पत्ति नहीं होती, क्योंकि उस के लिये कोई निमित्त नहीं है । सादृश्य को यदि निमित्त मानेंगे तो दो विकल्प प्रश्नों का सामना करना होगा, सर्वथा सादृश्य और कथंचित् सादृश्य । यदि सर्वथा पूर्वक्षण का उत्तरक्षण में सादृश्य मानेंगे तो उत्तरक्षण में पूर्वक्षण की तरह पूर्वकालीनत्व की प्रसक्ति होगी और उत्तरवर्ती समस्त क्षणप्रबन्ध में भी पूर्वकालीनता प्रसक्त होने से पूरा क्षणप्रबन्ध एककालीन हो बैठेगा, फिर उन में कारणकार्य भाव न रह पायेगा । यदि कथंचित् सादृश्य मानेंगे तो १- अनेकान्तवाद सिद्ध हो जायेगा, २ - गाय - आकृति - भव आदि में भी कथंचित् सादृश्य विद्यमान होने से उन में भी एकत्वाध्यवसाय के द्वारा एकत्व प्रसक्त होगा । इस प्रकार अभेदाध्यवसाय की बात में बहु दोष होने से, उस का अभाव सिद्ध होने पर, पहले जो अनेकक्षणों से उत्तरोत्तरक्षण की क्रमशः उत्पत्ति को लेकर क्रमकारित्व को घटाने में जो अतिप्रसंग दिखाया है वह तदवस्थ ही रहता है ।

इस प्रकार क्षणिक भाव में क्रमशः अथवा एक साथ अर्थक्रिया का विरोध सिद्ध होने पर, अर्थक्रियाकारित्व स्वरूप सत्त्व से विशिष्ट जो कृतकत्व है वह भी क्षणिकभाव से निवृत्त होगा, फिर उस को रहने के लिये और कोई स्थान न मिलने पर वह अक्षणिक में ही जा बैठेगा, फलतः कृतकत्व से क्षणिकत्वविरोधी अक्षणिकत्व की सिद्धि होने पर कृतकत्व हेतु साध्य-विपर्यय (अक्षणिकत्व) का साधक होने से विरुद्ध हेत्वाभास प्रसिद्ध होता है ।

★ कृतकत्व हेतु में अनैकान्तिकत्व दोष ★

कृतकत्व हेतु विरुद्ध उपरांत अनैकान्तिक भी है, क्योंकि क्रम से अथवा एक साथ जो अर्थक्रियाकारी नहीं होते उन में भी कार्यत्व (= कृतकत्व) होने का सम्भव है । जैसे – शब्द, बिजली, दीपक इत्यादि भावों का चरम क्षणों का [illegible]

ज्ञानान्तरप्रत्यक्षज्ञानवादिनोऽपि स्वज्ञानानुपयोगेऽपि ज्ञानस्यार्थज्ञाने उपयोगसम्भवात् स्वज्ञानजननाऽसमर्थस्य ज्ञानस्यार्थज्ञानजनने सामर्थ्यासम्भवात् नैवार्थचिन्तनमुत्सीदेत् । ततोऽनर्थक्रियाकारिणोऽक्षणिकस्य यद्यवस्तुत्वेनाऽकार्यत्वम् चरमक्षणस्यापि तत् स्यात् सर्वथाऽनर्थक्रियाकारित्वात् । अथानर्थक्रियाकारिणोऽपि चरमक्षणस्य कार्यत्वम् न तर्ह्यक्षणिके कृतकत्वं क्षणिकवादिना प्रतिक्षेप्तव्यम् न्यायस्य समानत्वात् ।

संदिग्धव्यतिरेकश्च 'कृतकत्वाद्' इति हेतुः, विपक्षे बाधकप्रमाणाभावात् । व्यापकानुपलब्धिर्हि विपक्षे बाधकं प्रमाणम् तस्याश्च विपक्षे क्षणिकत्वलक्षणे प्रत्यक्षवृत्तिर्बाधकं प्रमाणम् । न च विपक्षे क्षणिकत्वे प्रत्यक्षवृत्तिः सिद्धा, क्षणक्षयात्मनि प्रत्यक्षनिश्चिते क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियोपलब्धेरनिश्चयात् । न चाऽक्षणिकस्याऽसत्त्वात् प्रकारान्तरस्य चाभावात् क्षणिकेष्वेवार्थक्रियोपलब्धिरिति वक्तुं शक्यम् अक्षणिकस्या-

का अविसंवादी अनुमान किया जाता है वह संदिग्धविसंवादी हो जायेगा, क्योंकि शब्दादि चरमक्षण जैसे सिर्फ विजातीय कार्य को ही उत्पन्न करता है वैसे ही रूपादि का अन्त्यक्षण सिर्फ रसादि विजातीय क्षण को ही उत्पन्न करे और सजातीय रूपादिक्षण को उत्पन्न न करे ऐसी सम्भावना की जा सकती है । इस स्थिति में फलादि में जब रसक्षण में रूपोत्पत्ति संदिग्ध है तब रस के द्वारा रूप का अनुमान संदिग्धव्यभिचारी बन जायेगा । यदि ऐसा कहें कि – 'रस और रूप की बीजादि सामग्री समान ही होती है अतः समानसामग्री अधीन युगल में से एक का जन्म हो और दूसरे का जन्म न हो यह नहीं बन सकता, या तो दोनों का जन्म होगा, अथवा एक का भी नहीं होगा । अतः रस से रूप का अनुमान विसंवादी नहीं होगा ।' – तो शब्दादि चरमक्षण में भी यही बात समान है, शब्दादिचरमक्षण और योगविज्ञान ये दोनों भी समान कारणसामग्री जन्य होने से एक की अनुत्पत्ति में दूसरे की भी उत्पत्ति नहीं होगी ।

★ सजातीयअजनक में विजातीयजनकत्व दुर्घट ★

बौद्ध का यह कथन भी ठीक नहीं है कि – 'सजातीय के लिये अनुपयोगी चरमक्षण विजातीय कार्य के लिये उपयोगी बन सकता है ।' – कारण यह है कि ज्ञान को स्वप्रकाश न मानने वाले वादी, जो ज्ञान को अनुव्यवसाय से वेद्य मानते हैं, उन के मत में ज्ञान अपने प्रकाश में उपयोगी न होने पर भी अर्थ का प्रकाश करने में उपयोगी माना जाता है । अब स्वप्रकाशज्ञानवादी बौद्ध इस का विरोध नहीं कर सकेगा, क्योंकि स्वप्रकाश के लिये अनुपयोगी ज्ञान भी अर्थप्रकाश करने के लिये समर्थ हो सकता है जैसे कि बौद्ध मत में उपरोक्त चरमक्षण । अतः ज्ञान परप्रकाश होने पर अर्थ का विचार ही उच्छिन्न हो जायेगा – ऐसा जो बौद्धवादी कहते हैं यह अर्थशून्य प्रलाप हो जायेगा ।

सारांश, अर्थक्रियाकारित्व न होने मात्र से ही यदि अक्षणिक को अवस्तु मान लेंगे तब तो चरम बीजली आदिक्षणों में भी, उपर कहे मुताबिक किसी भी प्रकार से अर्थक्रियाकारित्व सम्भव न होने से अवस्तुत्व प्रसक्त हो जायेगा । यदि अर्थक्रियाकारित्व के अभाव में भी आप चरमक्षण में कार्यत्व मान्य करेंगे तो अक्षणिक में अर्थक्रियाकारित्व का अभाव दिखाकर कृतकत्व का अपलाप करने की चेष्टा बौद्ध को नहीं करनी चाहिये, क्योंकि जिस न्याय से वह अक्षणिक भाव का खंडन करता है उसी न्याय से क्षणिकत्व का भी खंडन होता है, न्याय दोनों ओर समान है ।

☆ कृतकत्व हेतु विपक्षव्यावृत्ति संदिग्ध ☆

क्षणिकत्व की सिद्धि के लिये प्रयोजित 'कृतकत्व' हेतु संदिग्धव्यतिरेकी है, यानी विपक्ष में, अक्षणिक

याप्यभावाऽसिद्धेः । 'व्यापकानुपलब्धेस्तदभावसिद्धि'श्चेत् ? न, विपक्षे प्रत्यक्षवृत्तौ व्यतिरेकासिद्ध्यानुपलब्धेरक्षणिकाभावगतिः तत्प्रतिपत्तौ च गत्यन्तराभावात् विपक्षे प्रत्यक्ष प्रवृत्तिरितीतरेतराश्रयदोषप्रसक्तेः ।

अथाऽक्षणिकस्याऽसत्त्वसाधने सत्(न्) विपक्षो भवति न क्षणिकः, सति च विपक्षेऽध्यक्षवृत्तिरस्त्येव । नैतत् सारम्, यतो द्वैराश्ये कोऽपरो भावः क्षणिकव्यतिरिक्तः सन् योऽक्षणिकाभावसाधने विपक्षः स्यात् ? गत्यन्तरसद्भावे वा कथं प्रकारान्तराभावाद् व्यापकानुपलब्धेरक्षणिकाद् व्यावर्त्तमानं सत्त्वमनित्यत्वं व्याप्नुयात् तदन्यस्यापि सत्त्वात् ?

अथ क्षणिक एव भावः प्रतिक्षणमनुपलक्षितविनाशः सत्त्वमात्रेणोपलक्ष्यमाणो विपक्षः, तत्र क्रम-यौगपद्याभ्यमर्थक्रियोपलब्धिरस्तीति । ननु कथं क्षणिकत्वेन विपक्षस्याऽनिश्चये तत्रैवार्थक्रियोपलब्धिर्नान्यत्रेत्यवसीयते तयोर्विशेषानुपलक्षणाद् अक्षणिकत्वप्रतीतेरुभयत्राऽविशेषात् ? 'पारिशेष्यादत्रैवार्थक्रि-

---

में उस की वृत्तिता न होने का निश्चय नहीं है । कारण, विपक्ष में उस के रहने की सम्भावना को ध्वस्त करने वाला कोई बाधक प्रमाण नहीं है । व्यापक अनुपलब्धि ही विपक्ष में बाधक प्रमाण माना जाता है । अर्थात् अक्षणिक में अर्थक्रियाकारित्व रूप व्यापक की अनुपलब्धि से ही वहाँ कृतकत्व के रहने की सम्भावना ध्वस्त हो सकती है । लेकिन अर्थक्रियाकारित्व अक्षणिक में नहीं है यह कैसे सिद्ध किया जाय ? वह तभी सिद्ध हो सकता है जब अक्षणिक के विपक्ष क्षणिकत्व की प्रत्यक्षप्रवृत्ति से सिद्धि हो । किन्तु विपक्षभूत क्षणिकत्व का साधक प्रत्यक्ष सिद्ध नहीं है । कदाचित् उस को प्रत्यक्षनिश्चित मान लिया जाय तो भी उस में क्रम-यौगपद्य से अर्थक्रियाकारित्व की उपलब्धि का निश्चय करने के लिये कोई साधन नहीं है । यदि ऐसा कहें कि – 'अक्षणिक भाव तो असत् है, क्षणिक के अलावा और कोई भाव का प्रकार भी नहीं है, अर्थक्रिया रहेगी तो क्षणिकभाव में ही' – तो यह नहीं कह सकते क्योंकि यहाँ अन्योन्याश्रय दोष होगा – विपक्षभूत क्षणिकभाव में प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति पहले सिद्ध होनी चाहिये, तब अर्थक्रियाव्यतिरेक सिद्ध होने से उस की अनुपलब्धि से 'अक्षणिक भाव असत् है' यह सिद्ध होगा; दूसरी ओर अक्षणिक भाव असत् सिद्ध होने पर अन्य गति के अभाव में प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति क्षणिक में होने की सिद्धि हो सकेगी ।

बौद्ध : अक्षणिक के असत्त्व को सिद्ध करने की प्रक्रिया में क्षणिक को विपक्ष नहीं बनाते किन्तु 'सत्' को ही विपक्ष बनाते हैं, और वह तो प्रत्यक्षसिद्ध है ।

स्याद्वादी : यह कथन असार है, क्योंकि आपके मत में सत् पदार्थ के दो ही राशि सम्मत हैं, क्षणिक और अक्षणिक । जब अक्षणिक को असत् सिद्ध करना है तब 'क्षणिक' को छोड़ कर और कौन सा 'सत्' है जो अक्षणिक का विपक्ष बने ? अतः 'सत्' के नाम से भी विपक्ष तो क्षणिक ही बनेगा, किन्तु वहाँ प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति असिद्ध है । यदि क्षणिक के अलावा भी कोई सत् हो जिस को आप अक्षणिक का विपक्ष बनाना चाहते हैं, तब तो क्षणिक-अक्षणिक को छोड़ कर अन्य गति का भी सद्भाव सम्भावित बन गया, फिर कैसे कह सकोगे कि 'अक्षणिक असत् है क्यों कि क्षणिक के अलावा और कोई गति न होने से अर्थक्रिया क्षणिक में ही रहेगी' ? अब आप यह नहीं कह सकते कि 'अन्य प्रकार न होने से व्यापकानुपलब्धिस्वरूप बाधक प्रमाण के बल पर अक्षणिक से निवृत्त होने वाला सत्त्व अनित्यत्व का व्याप्य बन जायेगा' – क्योंकि क्षणिक-अक्षणिक को छोड़ कर और भी अन्य सत् का प्रकार विद्यमान है ।

योपलब्धिः' चेत् ? कुतः पारिशेष्यसिद्धिः ? यदि व्यापकानुपलब्धेस्तदेतरेतराश्रयत्वं प्रतिपादितम् । अतो विपक्षे बाधकप्रमाणाभावात् संदिग्धव्यतिरेकः 'कृतकत्वात्' इति हेतुः ।

न चाऽक्षणिके क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाकारिण्यर्थक्रियाविरोधः, तत्रैव क्रमाऽक्रमजन्मनां कार्याणां जननात् । अथाऽक्षणिकजन्मनां कार्याणामक्रमेणैव स्याज्जन्म तज्जननस्वभावस्याऽक्षणिकस्य सर्वदा भावात्, अविकारिणोऽन्यानपेक्षत्वादविरतिप्रसंगश्च अन्यथा द्वितीयादिक्षणेऽजननादवस्तुत्वप्रसक्तिः तस्मिन्नपि क्षणे स एव प्रसंगः तदैव तज्जन्मनां सर्वेषामप्युत्पत्तिः तदुत्पादनस्वभावस्य प्रागपि सद्भावादित्यतो न कथञ्चिदक्षणिक- स्यार्थक्रिया । असदेतत् क्षणवदक्षणिकस्याऽविकारिणोऽपि न विरोधः सहकार्यपेक्षया,

★ सत्त्वोपलक्षित भाव में अर्थक्रिया-निरूपण निरर्थक ★

बौद्ध :- क्षणिक भाव के अलावा और कोई विपक्ष नहीं है यह बात ठीक है, लेकिन विपक्ष के रूप में सम्मत वह क्षणिक भाव प्रतिक्षण विनाश से उपलक्षित न हो कर सिर्फ सत्त्वमात्र से उपलक्षित होकर विपक्ष होता है, और सत्त्वोपलक्षित भाव में तो क्रम-यौगपद्य से अर्थ-क्रिया की उपलब्धि होती ही है ।

स्याद्वादी :- सत्त्वोपलक्षित और प्रतिक्षण विनाश से अनुपलक्षित भाव में अर्थक्रिया की उपलब्धि होने की बात ठीक है लेकिन विनाश के अदर्शन में वैसा भाव क्षणिकात्मक विपक्ष ही है यह निश्चय जब तक न हो तब तक क्षणिक विपक्ष में ही अर्थक्रियोपलब्धि है, अक्षणिक में नहीं– यह निश्चय कैसे किया जाय ? क्षणिक और अक्षणिक के पक्ष में और तो कोई विशेष है नहीं जिससे कि अर्थक्रिया की उपलब्धि किसी एक पक्ष में निश्चित की जाय । दूसरी ओर, क्षणिक मानने पर भी क्षणिकत्व की प्रतीति नहीं होती किन्तु अक्षणिकत्व की प्रतीति तो दोनों पक्ष में निर्विवाद मान्य है अतः क्षणिक पक्ष में प्रतीतिविरोध भी है ।

बौद्ध : पारिशेष्य अनुमान से क्षणिक में ही अर्थक्रियाउपलब्धि सिद्ध होती है ।

स्याद्वादी : पारिशेष्य (यानी अक्षणिक में जो अर्थ क्रिया नहीं घटती वह परिशेषन्याय से परिशिष्ट भूत क्षणिक में ही घटती है ऐसा) कैसे आपने सिद्ध मान लिया ? यदि व्यापकानुपलब्धि से यह सिद्ध होना मानेंगे तो इतरेतराश्रय दोष प्रवेश होगा क्योंकि व्यापकानुपलब्धि परिशिष्ट क्षणिकत्व के निश्चय पर अवलम्बित है और परिशिष्ट क्षणिकत्व का निश्चय व्यापकानुपलब्धि के विना शक्य नहीं है । सारांश, विपक्षभूत अक्षणिक में 'कृतकत्व' हेतु की सम्भावना में कोई बाधक प्रमाण न होने से, वह संदिग्धव्यभिचारी सिद्ध होता है ।

★ अक्षणिक भाव में अर्थक्रियाविरोधशंका का निर्मूलन ★

अक्षणिक भी अर्थक्रियाकारी हो सकता है, उस में अर्थक्रिया का विरोध नहीं है । कारण, अक्षणिक भाव ही क्रमिक एवं अक्रमिक कार्यों को जन्म दे सकता है ।

बौद्ध : अक्षणिकभावजन्य कार्यवृन्द अक्रमिक ही हो सकता है, क्योंकि अक्षणिक में सर्वदा स्वजन्य सर्व कार्यों का जननस्वभाव आद्य क्षण से लेकर अक्षुण्ण होता है । उपरांत अक्षणिक नित्य भाव अविकारी होने से, कार्योत्पादन के लिये उस को किसी अन्य की अपेक्षा भी नहीं होनी चाहिये, अतः अपने स्वभाव के मुताबिक क्षण क्षण वह स्वजन्य समस्त कार्य को उत्पन्न करता ही रहेगा कभी रुकेगा नहीं । यदि प्रथम क्षण में सर्व स्वकार्य को उत्पन्न कर के दूसरी क्षण में रुक जायेगा तो अर्थक्रियाविरह से वह अवस्तु –असत् बन जाने की विपदा होगी । एवं उक्त युक्ति से द्वितीयादिक्षणों में जिन कार्यों को उत्पन्न करेगा उन सभी की प्रथम क्षण

न हि क्षणस्यापि विकारोऽस्ति, अपेक्षणीयात् तस्य विभागाभावात् विभागित्वे वा क्षणस्य न क्षणः स्यात् । न वा विभागिनोऽपि क्षणस्य विकारित्वम्, तथापि क्षणस्य विकारित्वम्, तथाऽभ्युपगमेऽक्षणिकस्याऽप्यपेक्षणीयकृतो विकारोऽक्षणिकविरोधी न भवेत् । अविकारिणोऽपि क्षणस्य सापेक्षत्वे पराऽपेक्षाऽविकारिणोऽप्यपेक्षणीयादक्षणिकस्यापि स्यात् । ततश्च कथमक्षणिकस्याऽविकारिणोऽपेक्षणीयात् क्रम-यौगपद्याभ्यामर्थक्रियाविरोधो भवेत् ? सापेक्षत्वे हि यथाप्रत्ययं क्रम-यौगपद्याभ्यामर्थक्रियाकारित्वमक्षणिकस्य युक्तमेव । अत एव नाऽविच्छेदेन जनकः, सर्वदा सहकारिप्रत्ययसंनिधानाऽयोगात् ।

'केवलस्यैव सामर्थ्ये सहकार्यपेक्षया न किंचिदिति केवल एव कार्यं कुर्यात् । असामर्थ्येऽन्यसाहित्येऽपि न सामर्थ्यम् अनाधेयातिशयत्वेन पूर्वापरस्वभावपरित्यागोपादानाभावात्, उभयथाऽपि व्यर्थमक्षणिकस्यार्थान्तरापेक्षणमि''ति चेत् ? क्षणिकेऽपि समानोऽयं प्रसंगः । तथाहि – क्षणयोरपि प्रत्येकम-

---

में ही तथास्वभाव के जरिये उत्पत्ति का पूर्वोक्त प्रसंग पुनः आवृत्त होगा, क्योंकि जिन कार्यों की उत्पत्ति अग्रिम क्षणों में अभिप्रेत है उन के उत्पादन का स्वभाव तो उन के पूर्व भी अक्षुण्ण होता है । इन विपदाओं का दोष टालने के लिये यही मानना होगा कि अक्षणिक भाव अर्थक्रिया समर्थ नहीं है ।

स्याद्वादी : यह बौद्ध-कथन गलत है । क्षणिकवाद में क्षण अविकारी होने पर भी जैसे वहाँ सहकारी की अपेक्षा मान्य है वैसे अक्षणिक को अविकारी मान कर भी उस को सहकारी की अपेक्षा का होना गलत नहीं है । सहकारी की अपेक्षामात्र से क्षणिकवादी क्षण में विकार की सम्भवना नहीं करते हैं, क्योंकि अपेक्षणीय सहकारी का संनिधान, क्षण में विभागप्रयोजक नहीं माना जाता । यदि सहकारी को क्षण में विभागप्रयोजक मानेंगे तो क्षण भी क्षणात्मक नहीं रह पायेगा । यदि कहें कि – 'सहकारी की अपेक्षा होने पर क्षण में विभाग होगा तो भी ऐसा होगा जिस से क्षण में कोई विकार नहीं होगा, अतः क्षणिकत्व अक्षुण्ण बना रहेगा ।' – ऐसा तो अक्षणिकवादी भी मान सकता है कि अक्षणिक में अपेक्षणीय सहकारी के संनिधान में विकार होगा लेकिन वह ऐसा नहीं कि जिस से अक्षणिकत्व के साथ विरोध हो । अविकारी क्षण भी जब परसापेक्ष माना जाता है तब अविकारी अक्षणिक को भी अपेक्षणीय पर की अपेक्षा होने में कोई बाधक नहीं है । इस स्थिति में अविकारी अक्षणिक भाव में अपेक्षणीय सहकारी के संनिधान में क्रम-यौगपद्य से अर्थक्रियाकारित्व मानने में विरोध की गन्ध कहाँ है ? जब परापेक्षा होने में कोई दोष नहीं है तब प्रतीति के अनुसार यथासंभव क्रमिक या अक्रमिक अर्थक्रियाकारित्व अक्षणिक में निःसंदेह संगत है । उपरांत, क्षण क्षण में स्वतन्त्र समस्त कार्यों को उत्पन्न करते रहने की आपत्ति भी नहीं है, क्योंकि क्षण क्षण में समस्त कार्यों के लिये सहकारी निमित्तों का संनिधान नहीं होता ।

★ अक्षणिक को अर्थान्तरापेक्षा का विरोध निरर्थक ★

क्षणिकवादी : अक्षणिक भाव स्वयं अकेला यदि समर्थ है तो वह अपेक्षा के बिना कार्य निष्पन्न करेगा, सहकारी का मुँह देखने की जरूरत नहीं रहेगी । यदि स्वयं असमर्थ होगा तो अन्य सहकारी के संनिधान में भी वह समर्थ नहीं हो सकेगा, क्योंकि [illegible]

सामर्थ्ये एककालयोः सहितयोरपि तयोरसामर्थ्यम् अप्रच्युताऽनुत्पन्नपूर्वापररूपत्वात् । समर्थयोरपि किं परस्परापेक्षयेति तयोरन्यतरत् केवलमेव जनयेत् नापरम्, तद्देशावस्थानेऽपि वैयर्थ्यात् कार्यनिष्पत्तेरन्यतरेणैव कृतत्वात् । अतो न सामग्री जनिका भवेत् । तथा चैकस्मादेव कार्यस्योत्तरोत्तरपरिणामात्मतयोत्पत्तेर्न परिणामेऽपि कारणान्तरापेक्षा भवेत्, अनपेक्षै(क्ष्यै)व कारणान्तराणि परिणामान्तराणि जनयेत् केवलस्यैव सर्वत्र सामर्थ्यात् । असामर्थ्येऽविभागस्यान्यस्यापि न किंचित् क्रियते इत्यकिंचित्करोऽपि तदेककार्यकरणादन्यो यदि तदुपकार्यभ्युपगम्येत तदाऽक्षणिकस्याप्येवं किमुपकारि सहकारिकारणं न भवेत् ?

'परस्परमेकसामग्र्यधीनतोपकारस्तदुपकारवतोः क्षणयोः, तदेव स्वकार्योपयोगित्वं तयोः' इति चेत्? तर्हि अन्त्यक्षणस्यापि स्वविषयसर्वज्ञज्ञानोत्पादनैकसामग्र्यधीनतालक्षण उपकारोऽस्तीति सजातीयकार्योपयोगित्वं किं न स्यात् ? अथैकसामग्र्यधीनतोपकारित्वेऽप्यसामर्थ्यान्न सजातीयकार्योपयोगित्वं चेत् ? नन्वेवमेकत्राऽसमर्थस्याऽन्यत्र योगिविज्ञाने स्वग्राहिणि कथं सामर्थ्यमिति वक्तव्यम् ? इत्थंभूतस्यापि सामर्थ्ये नैयायिकस्यापि स्वग्राहिज्ञानजननाऽसमर्थस्यार्थज्ञाने सामर्थ्यं किं न स्यात् – येनार्थचिन्तनमुत्सीदेत् इति

संनिधान में भी वह अपना पूर्व असमर्थ स्वभाव त्याग कर समर्थस्वभाव को आत्मसात ही कर पायेगा । समर्थ – असमर्थ दोनों ही विकल्पों में अक्षणिक भाव को अन्य सहकारी अर्थ की अपेक्षा संगत न होने से, सहकारी की अपेक्षा से क्रमिक कार्यकारित्व घट नहीं सकता ।

स्याद्वादी : क्षणिक भाव पक्ष में भी यह प्रसंग समान ही है । देखिये – उपादानक्षण और सहकारी क्षण दोनों भले एककालीन हो, संनिहित भी हो, किन्तु प्रत्येक में स्वयं यदि अर्थक्रियासामर्थ्य नहीं होगा तो मिलित दशा में भी उन में सामर्थ्य का प्रवेश सम्भव नहीं, क्योंकि दूसरे के संनिधान में भी वह क्षण न तो अपने पूर्वस्वरूप (असामर्थ्य) का त्याग करेगी, न अनुत्पन्न (सामर्थ्य) अपर स्वरूप का ग्रहण करेगी । यदि वे दोनों क्षण स्वकार्योत्पादन के लिये समर्थ होगी तो परस्पर की अपेक्षा क्यों करेगी ? उन में से किसी एक से ही कार्योत्पत्ति हो जायेगी और अपरक्षण तो उदास रहेगी, यानी व्यर्थ रहेगी, क्योंकि उस देश में रहने पर भी कार्योत्पत्ति तो अपर समर्थ क्षण से हो जानेवाली है अतः वह निरर्थक बन जायेगी । नतीजा, एक ही कारण से कार्योत्पत्ति होगी तो कारणसमुदायात्मक सामग्री से कार्योत्पत्ति का मत डूब जायेगा । – 'कार्योत्पत्ति में भले सहकारी कारण की अपेक्षा न रहे किन्तु पूर्व पूर्व कारणक्षण को उत्तरोत्तरकार्यपरिणामरूप में परिणमन होने के लिये तो उस की अपेक्षा रहेगी' – ऐसा भी नहीं मान सकते हैं क्योंकि कोई एक कार्य ही अकेला उत्तरोत्तर परिणाम में परिणत होने के लिये जब समर्थ है तब अन्य कारणों की अपेक्षा किये बिना ही वह अपने परिणामों को उत्पन्न कर देगा, दूसरे की क्यों अपेक्षा रखेगा ? यदि वह अकेला असमर्थ रहेगा तो वह निर्विभाग अनाधेयातिशय होने से अन्य सहकारी उस को कुछ भी सहायता नहीं दे सकता । असहायक होते हुए भी यदि आप उस सहकारी को समानकार्यकारी होने के आधार पर उपादानक्षण का उपकारी मानने पर तुले हैं तब सहकारीकारण को अक्षणिक भाव का भी उपकारी मानने में क्या बाध है ?

★ परस्पर एकसामग्रीअधीनतारूप उपकार की समीक्षा ★

बौद्ध – उपादान सहकारीक्षणयुगल में एक दूसरे का यही उपकार है कि परस्पर के कार्यों की एक सामग्री के अंगभूत होना । इसी को कहते हैं अपने कार्य में अन्य का उपयोगी होना ।

तस्य दूषणं स्यात् ?! इत्येकत्र समर्थस्यान्यत्रापि सामर्थ्यमभ्युपगन्तव्यम् अन्यथैकत्रापि न स्यादित्यवस्तुत्वं तस्य भवेत् । न च सर्वत्रैकसामग्र्यधीनतोपकारः, भिन्नदेशकारणकलापसमवधानहेतूनामेकसामग्र्यधीनतोपकाराभावेऽपि स्वकार्योपयोगोपलब्धेः । न च तेषामप्येकसामग्र्यधीनतोपकारः सम्भवति, अन्वय-व्यतिरेकाभ्यां परस्परोत्पादने सामर्थ्यानवधारणात् तेषाम् । न हि कुशूलादिस्थस्य बीजादेरुदकादिभावानुविधानेन प्रतिसन्धानमनुभूयते तथापि तत्कल्पनायामतिप्रसंगः । ततो नैकसामग्र्यधीनताऽप्युपकारः इत्यनपेक्षोऽनुपकारी स्यात्, अपेक्षत्वे अक्षणिकस्याप्यपेक्षाप्रतिक्षेपोऽयुक्तः स्यात् ।

अथ क्षणयोः पृथक् सामर्थ्यं नास्ति, स्वहेतोः सहितयोरेवोत्पन्नयोः पृथगसमर्थयोरपि सामर्थ्यमभ्युपगम्यते । नन्वेवमक्षणिकस्यापि तदन्यसहायस्यैव सामर्थ्यं किं नाभ्युपगम्यते ? 'स्वहेतुप्रतिनियमाद् युक्तं क्षणिके सामर्थ्यं नाऽक्षणिके' इति चेत्? नन्वेवमक्षणिकेऽपि स्वहेतुप्रतिनियमात् सामर्थ्ये को वि-

---

स्याद्वादी : बीजली आदि के अन्त्यक्षण जो सर्वज्ञ-योगी के स्वविषयक ज्ञान को उत्पन्न करते हैं वहाँ भी परस्पर एक सामग्री अधीनतास्वरूप उपकार मौजूद है, तो जैसे वह अन्त्यक्षण विजातीयकार्य में उपयोगी बनती है वैसे सजातीय कार्य में भी क्यों उपयोगी नहीं बनेगी ?

बौद्ध : वहाँ परस्पर एकसामग्रीअधीनतास्वरूप उपकार होने पर भी सजातीयकार्योत्पादन का सामर्थ्य ही नहीं होता, इसीलिये सजातीयकार्योत्पादन में वह उपयोगी नहीं होता ।

स्याद्वादी : इस पर यह प्रश्न खडा होगा कि अपने सजातीयकार्य के लिये जो असमर्थ है वही निरंश क्षण स्वविषयक योगविज्ञान के लिये कैसे समर्थ बन जाता है ? यदि एक के लिये जो असमर्थ हो वही दूसरे के लिये समर्थ हो सकता है, तो परप्रकाशज्ञानवादी नैयायिक के मत में – जो ज्ञान अपने प्रकाशन में असमर्थ है वही अर्थ के प्रकाशन में समर्थ क्यों नहीं हो सकेगा ? फिर कैसे आप उस के सिर पर यह दोष मढ रहे हैं कि 'स्वप्रकाश में असमर्थ ज्ञान अर्थ का प्रकाश भी नहीं कर सकता अतः अर्थ के विचार पर ही पूर्णविराम लग जायेगा ।' – यदि दोष देना हो तो एक के लिये जो समर्थ है उस को अन्य के लिये भी समर्थ मानना पडेगा, नहीं तो एक के लिये भी सामर्थ्य लुप्त रहेगा । फलतः बीजली आदि का अन्त्यक्षण अर्थक्रिया के अभाव में अवस्तु बन जायेगा ।

दूसरी बात यह है कि हर जगह एकसामग्रीअधीनतास्वरूप ही उपकार होता है ऐसा नहीं है, क्योंकि भिन्न भिन्न देश में रहे हुए कारण-समुदाय को एक स्थान में जुटाने वाले जो हेतुसमूह है उन में एकसामग्रीअधीनतास्वरूप उपकार नहीं होता फिर भी अपने अपने कार्य के लिये उपयोगी बनते देखे जाते हैं । 'वहाँ भी एकसामग्री-अधीनतास्वरूप ही उपकार है' ऐसा कहना बेकार है, क्योंकि उन हेतुओं में अन्योन्य के उत्पादन में अन्वय-व्यतिरेक से सामर्थ्य [illegible] नहीं होता । कोठी में रहा हुआ बीज स्वयं जल-भूमि आदि भावों का अनुविधान करता हो ऐसा कहीं अनुभव होता नहीं है, फिर भी वहाँ एक सामग्री अधीनता मानने का आग्रह रखेंगे तो [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]

रोधः ? "स्वहेतोस्तदन्यापेक्षया समर्थस्योत्पन्नस्याऽक्षणिकस्यासन्निधिकाल एवाऽक्षेपेण कार्यकारित्वं स्यात्, अन्यानपेक्षत्वादपेक्षणीयस्यापि संनिहितत्वादुत्तरोत्तरपरिणामस्याप्येकत्वेनाऽसत्त्वाद्" इति चेत् ? न, कालान्तरभाविकार्यकारित्वलक्षणस्याऽक्षणिकस्यान्यापेक्षत्वेऽपि कालान्तरापेक्षत्वात् क्षणवदक्षेपेण न कार्योत्पादकत्वम् । यथा हि अन्यसहायस्याद्ये क्षणे समुत्पन्नस्य क्षणस्याऽनपेक्षत्वेऽपि द्वितीयक्षणापेक्षत्वान्न प्रथमक्षण एव कार्यारम्भकत्वम् अन्यथा कार्य-कारणयोरेकदैवोत्पत्तेर्द्वितीयक्षणे जगद् वस्तुशून्यम् अक्षणिकं वा स्यात्, तथाऽक्षणिकस्यापि कालान्तरापेक्षत्वान्नोत्तरपरिणामापेक्षकार्येऽक्षेपोत्पादकत्वम् ।

अथ प्रागकारकस्वभावस्य पश्चादपि कथं कारकत्वम् अक्षणिकस्य कारकाऽकारकावस्थाभेदादेकत्वहानेः ? न, अस्याऽन्यत्रापि समानत्वात् । तथाहि– आत्मसत्ताकालेऽकारकस्वभावस्यापि क्षणस्य द्वितीये क्षणे कारकत्वम् अन्यथैककालत्वं कार्य-कारणयोः स्यादित्युक्तम् । न चैकदा कारकत्वमेवान्यदाऽकारकत्वं

आप के लिये शोभास्पद नहीं रहेगा ।

★ परस्परसांनिध्य में सामर्थ्यस्वीकार ★

बौद्ध : उपादान–सहकारी क्षणयुगल में अलग–अलग कोई सामर्थ्य नहीं होता, किन्तु जिन में पृथग् पृथग् कोई सामर्थ्य नहीं है ऐसे वे अपने हेतु से इस प्रकार ही उत्पन्न होते हैं कि परस्पर मिलने से सामर्थ्यवाले होते हैं ।

स्याद्वादी : क्षणिक में अन्य संनिधान में मिलित सामर्थ्य होने का मानते हैं तो फिर अक्षणिक में भी अन्य की सहायता मिलने पर सामर्थ्य होने का क्यो नहीं मानते ?

बौद्ध : क्षणिक भाव अपने हेतुओं से ही ऐसा उत्पन्न होता है जो सहकारी की संनिधि में समर्थ होता है ।

स्याद्वादी : अक्षणिक भाव भी अपने हेतुओं से ही ऐसा उत्पन्न होता है कि सहकारी मिलने पर समर्थ हो जाय । इस में क्या विरोध है ?

बौद्ध : अक्षणिक भाव यदि अपने हेतुओं से ऐसा ही उत्पन्न हुआ है कि अन्य सहकारी को सापेक्ष रहकर समर्थ हो जाय, तव प्रथम क्षण में ही वह सहकारी से मिलित ही उत्पन्न हो कर अविलम्वेन अपने सभी कार्यों को निपटा देगा, कालान्तर की प्रतीक्षा नहीं करेगा, क्योंकि सहकारी से अतिरिक्त कोई उसका अपेक्षणीय है नहीं, और अपने हेतुओं से ही सहकारी से संनिहित ही उत्पन्न हुआ है । स्वयं चिर काल तक एक अखंड ही है इसलिये उसमें उत्तरोत्तर परिणाम या उन की अपेक्षा का होना भी असम्भव है ।

स्याद्वादी :- अक्षणिक भाव अपने हेतुओं से ऐसा ही उत्पन्न हुआ है कि उत्तरोत्तर क्षण सापेक्ष रह कर उत्तरोत्तर क्षण में अपना कार्य निपटाता रहे । इस प्रकार कालान्तरभाविकार्यकारित्व से युक्त ही वह उत्पन्न हुआ है अतः सहकारीभिन्न किसी की भी अपेक्षा न होने पर भी कालान्तरसापेक्ष होने से त्वरित सर्व कार्य नहीं निपटा सकता । जैसे आप का क्षणिक भाव भी उत्तरक्षणसापेक्ष होने से उत्तरक्षण में ही कार्य को उत्पन्न करता है, अपने जन्मक्षण में नहीं । कहने का मतलव यह है कि जैसे क्षणिक भाव अपने हेतुओं से अन्यसहाय युक्त ही आद्य क्षण में उत्पन्न होता है फिर भी वह आद्य क्षण में स्वकार्यकारी नहीं होता क्योंकि वह द्वितीयक्षण सापेक्ष होता है; यदि ऐसा नहीं मानेंगे तो स्वजन्मक्षण में ही अपने कार्यों को भी उत्पन्न कर देगा और फिर

तत्रेति युक्तम्, अक्षणिकेऽप्यस्य समानत्वात् । नापि क्रमेणाऽक्षणिकस्यानेककार्यकारित्वमयुक्तं तत्स्वभावभेदेनैकत्वहानिप्रसक्तेरिति वक्तव्यम्, यतो नाऽक्षणिकस्योत्तरकालभाविकार्यकारित्वमन्यदेककार्यकारित्वात्, यतः स्वभावभेदादेकत्वं न स्यात् अक्रमेणानेककार्यकार्येकक्षणवत्, क्षणे ह्येकत्रोपादानभाव एवाऽन्यत्र सहकारिभाव इत्यनेककार्यकारित्वेऽपि न स्वभावभेदः । पूर्वापरकार्यकारित्वयोरभेदेऽप्यक्षणिके न तद्भावभाविकार्याणामक्रमेणोत्पत्तिर्युक्ता, तदुत्पत्तिप्रत्ययवैकल्यात् । तथाहि– यद् यदोत्पित्सु कार्यं तत् तदैव तदुत्पत्तिप्रत्ययापेक्षया, अक्षणिकस्य कर्तुं सामर्थ्यं प्रागेवास्तीति न स्वभावभेदः अक्रमेण कार्योत्पत्तिर्वा । तदुक्तम् –

'यद् यदा कार्यमुत्पित्सु तत् तदोत्पादनात्मकम् । कारणं शक्तिभेदेऽपि, न भिन्नं क्षणिकं यथा ॥'

[ ]

द्वितीय क्षण में सारा जगत् उत्पत्तिशून्य या अक्षणिक बन जायेगा । ठीक इसी तरह अक्षणिक भाव भी उत्तरोत्तर परिणाम जन्य कार्यों के उत्पादन में उत्तरोत्तर काल सापेक्ष होने के कारण आद्यक्षण में सर्व कार्य को नहीं निपटा सकता – इस में कोई क्षति नहीं है ।

★ कारक-अकारक अवस्थाभेद एकत्वविरोधी नहीं ★

प्रश्न :- अक्षणिक भाव यदि पूर्वक्षणों में विवक्षित कार्य न करने का स्वभाववाला हो कर उत्तरकाल में कैसे उसका कारक बन सकेगा ? यदि एक ही अक्षणिक में पूर्वोत्तरक्षण की अपेक्षा कारक-अकारक दो अवस्था मानेंगे तो अवस्थाभेद से उस में भी भेद प्रसक्त होने से वह एक-अखंड नहीं रह पायेगा ।

उत्तर :- क्षणिकपक्ष में भी यह समस्या समान है । देखिये – अपनी उत्पत्तिकाल में जो क्षण अकारकस्वभाव होती है वही द्वितीयक्षणापेक्षया कारकस्वभाव कैसे हो सकेगी ? यदि ऐसा स्वभावभेद मान्य करेंगे तो क्षणभेद प्रसक्त होगा और स्वभावभेद नहीं मानेंगे तो प्रथम क्षण में ही द्वितीयादिक्षणभावि कार्य निपट जाने से कारण-कार्य में समानकालीनत्व दोष-प्रवेश होगा । पहले भी यह बात हो गयी है । यदि कहें कि– 'द्वितीयक्षणकार्यकारित्व जो है वही आद्यक्षण में अकारकत्व रूप है– इसलिये स्वभावभेद नहीं है'– तो यह कैसे युक्त हो सकता है जब कि अक्षणिक भावपक्ष में भी समानतर्क से स्वभावभेद का निवारण शक्य है ।

यदि ऐसा कहा जाय– 'अक्षणिकभाव पक्ष में क्रमशः अनेककार्यकारिता संगत नहीं होगी क्योंकि उत्तरोत्तर क्षण में स्वभावपरिवर्त्तन हो जाने से उस में सखंडता प्रसक्त होगी'– तो यह कथन अयुक्त है । कारण, अक्षणिकभाव में जो पूर्वक्षणों में विवक्षित एक कार्यकारित्व है वह उत्तर क्षणों में उत्तर कालभाविकार्यकारित्व से कोई अतिरिक्त स्वभाव रूप नहीं है जिस से कि स्वभावभेदप्रयुक्त सखंडता को अवकाश मिले । क्षणिकवादी भी एकक्षण में एकसाथ जो अनेककार्यकारित्व मानता है वह तत्तत्कार्यभेद प्रयोजक स्वभावभेद से नहीं मानता है, अन्यथा स्वभावभेदप्रयुक्त सखंडता क्षणिकपक्ष में भी प्रसक्त होगी । स्वभावभेद टालने के लिये तो कहा जाता है कि एक ही क्षण सजातीयक्षणोत्पत्ति में उपादानभाव से कारण होती है वही उपादानभाव अन्यसंतानीयक्षणोत्पत्ति के लिये सहकारीभाव रूप होता है, भिन्न नहीं होता; इस प्रकार अनेककार्यकारित्व को एक कर आप स्वभावभेद को टालते आये हैं । इसी तरह अक्षणिक में भी पूर्वकार्यकारित्व और उत्तरकार्यकारित्व स्वभाव अभिन्न ही होता है लेकिन [illegible] आप यह आपत्ति देते हैं कि उत्तरकार्यकारित्वस्वभाव पूर्वक्षण में होने से एक साथ पूर्वोत्तर कार्यों का उदय [illegible] अपेक्षा यह आपत्ति निरवकाश है क्योंकि उत्तरकार्यकारित्वस्वभाव उत्तरकालीन [illegible] के लिये [illegible]

अथ विद्यमानोऽपि कार्यकारणभावोऽक्षणिके दुरवसेयः व्यतिरेकाभावात् । असदेतत्; उत्पत्तिमतोऽव्यापिनोऽक्षणिकस्योत्पत्तेः प्रागन्यत्र वाऽसतो देशकालव्यतिरेकात् कथं व्यतिरेकाभावः ? कालव्यापिनोऽपि च नित्यस्य देशव्यतिरेकात् । सर्वत्र चायमेव व्यतिरेको न व्यतिरेकान्तरमस्ति । यतो न कश्चिदग्न्यादिकारणसामान्यव्यतिरेकी कालो विद्यते, कालव्यतिरेकिणो विशेषस्यैव कारणत्वेऽपि सामान्योपादानम् सामान्य एव प्रतिबन्धावधारणाद् अन्यथा व्याप्त्यसिद्धिः । यतो यदेव प्रतिबन्धावधारणकाले प्रतिबद्धस्य प्रतिबन्धविषयतयाऽवधार्यते तस्यैव कालव्यतिरेकोऽन्यो वा दर्शनीयः । न चास्ति तथाभूतस्य कालव्यतिरेक इति सर्वत्र देशव्यतिरेक एव युक्तः अस्य सर्वत्र सम्भवात्, व्यपिनोऽपि नित्यस्याऽव्यतिरे-

होता है और वे निमित्त पूर्वक्षण में न होने से पूर्वक्षण में उत्तरकार्य का जन्म सम्भव ही नहीं है । ऐसा मानना नितान्त उचित है, क्योंकि जो कार्य जिस क्षण में उत्पन्न होने वाला है वह तत्कालीन उत्पत्ति के निमित्तों को आधीन ही होता है, और तत्तत् निमित्त सापेक्ष होकर उन कार्यों को उत्पन्न करने का सामर्थ्य पहले से ही अक्षणिक भाव में वास करता है अतः स्वभावभेद भी निरवकाश है । और एक साथ पूर्वोत्तरकार्यों का जन्म भी निरवकाश है जैसे कि कहा है —

''क्षणिक भाव जैसे उपादान-सहकारिशक्तिभेद के बावजुद भिन्न नहीं होता वैसे ही, जो कार्य जब उत्पन्न होने वाला है उस को उसी काल में उत्पन्न करने वाला कारण (अक्षणिक होने पर भी) शक्तिभेद से भिन्न नहीं होता ।''

★ अक्षणिक का देश-काल व्यतिरेक दुर्लभ नहीं ★

बुद्ध :- आप के कथन अनुसार अक्षणिक में कारण-कार्यभाव मान ले तो अलग बात है, अन्यथा वह व्यतिरेकशून्य होने से निश्चयारूढ नहीं होता । 'अक्षणिक भाव के न होने पर कार्य का न होना' ऐसा व्यतिरेक दुर्लभ है क्योंकि अक्षणिक भाव सदास्थायी होने से उसका अभाव मिलना कठिन है ।

स्याद्वादी :- यह बात गलत है । अक्षणिक भाव भी उत्पत्तिशील होने से उत्पत्ति के पूर्व उसका अभाव होता है, एवं वह सर्वदेशव्यापी न होने पर अन्य देश में उसका अभाव मिलता है, इस प्रकार देश–काल दोनों में उसका अभाव मिल सकता है तो व्यतिरेकाभाव कैसे ? कोई अक्षणिक भाव नित्य होता है तो यद्यपि वह कालव्यापी होने से उसका कालिकव्यतिरेक नहीं मिलेगा, फिर भी देशव्यापि न होने पर अन्य देश में तो व्यतिरेक मिल सकता है । कालव्यापी पदार्थों में सर्वत्र देशव्यतिरेक के सिवा और कोई व्यतिरेक होता नहीं है । कारण, धूमसामान्य के जो अग्निआदि कारण सामान्य है उसका किसी काल में व्यतिरेक नहीं मिलता, क्योंकि हर एक काल में कोई न कोई सामान्य अग्नि तो होता ही है । यद्यपि धूम का उत्पादक सामान्य अग्नि न हो कर विशेष अग्नि ही होता है, और उस का तो अन्य काल में व्यतिरेक मिल सकता है किन्तु फिर भी यहाँ हम अग्नि आदि कारण सामान्य का उल्लेख इस अभिप्राय से कर रहे हैं कि कारण-कार्यभाव सम्बन्ध का ग्रहण विशेष–विशेष में न हो कर सामान्य-सामान्य में ही होता है । ऐसा नहीं मानेंगे तो सर्वसाधारण व्याप्तिग्रह भी नहीं हो सकेगा । कारण, अविनाभावस्वरूप प्रतिबन्ध के अवधारण काल में प्रतिबन्ध के सम्बन्धी रूप में जिस भाव का अवधारण किया गया हो उसी का कालव्यतिरेक या देशव्यतिरेक कारणता के निश्चय में उपयोगी होता है । यदि वह प्रतिबन्ध-अवधारण व्यक्तिविशेष में किया रहा होगा तब तो वह अन्यव्यक्ति में कारणता के अवधारण

यात् सामर्थ्यानवधारणेऽपि तत्सम्भवाऽविरोधात् संदिग्धाऽसिद्धोऽक्षणिके हेतुः स्यात् । अथान्वयादपि सामर्थ्यं निश्चीयते न केवलादेव व्यतिरेकात् अतिप्रसंगात्, न चात्रान्वयोऽस्ति प्रागविकलेऽपि कारणे कार्यानुत्पत्तेः अविकले च कारणे कार्यमनुत्पन्नं तस्याऽजनकात्मकत्वं सूचयति, पश्चादपि जनकत्वविरोधात् तस्यैकस्वभावत्वात् । न, अस्य दूषणस्याऽन्यत्रापि समानत्वात् । तथाहि – प्रथमे क्षणेऽविकलेष्वन्त्यकारणसामग्रीविशेषे कार्यानुत्पत्तेरविशेषाद् द्वितीयेऽपि क्षणे कार्योत्पत्तिविरोधः स्यात् । एवमन्वय-व्यतिरेकाभ्यामव्यापिनि नित्येऽक्षणिके च सामर्थ्यसिद्धेः असिद्धोऽर्थक्रियाविरोध इत्यर्थक्रियालक्षणसत्त्वविशिष्टं कृतकत्वं न निवर्त्तयितुमलम् ।

एतेन सामान्यस्य नित्यत्वादर्थक्रियाकारित्वेन निरस्तमवस्तुत्वम् । न च 'सामान्यभाविनिः कार्यस्यैवाऽसम्भवात् तस्यानर्थक्रियाकारित्वम् न नित्यत्वात्, न हि जातिर्वाहदोहादिकार्यकारिणी अविशेषेऽपि तस्याः कार्यविशेषात् विशिष्टे वा तदेकत्वहानः' इति वक्तुं युक्तम्, यतो न वाह-दोहादिकमज्ञानरू-

---

के लिये उपयोगी नहीं होता, अतः सामान्य में ही वह प्रतिबन्ध अवधारण होने का मानना होगा । अब सामान्य का कालव्यतिरेक तो नहीं मिलेगा, इस लिये वहाँ देशव्यतिरेक ही खोजना न्यायसंगत है; क्योंकि वह सभी वस्तु का मिल सकता है । यदि नित्य कालव्यापी पदार्थ का किसी देश में व्यतिरेकनिश्चय न हो सका, तब भी उसके होने का संदेह तो बना रहता है, इस प्रकार अक्षणिक भाव में कारण-कार्यभाव के विरह को सिद्ध करने के लिये जो व्यतिरेकाभाव हेतु कहा गया था वह संदिग्धासिद्धि दोष से दुष्ट है ।

★ अक्षणिक में अनन्वय-सहचार विरह शंका का उत्तर ★

यदि यह कहा जाय कि – "सिर्फ व्यतिरेक से ही कारणता का निश्चय नहीं होता, अन्वय भी उस में कार्यसामर्थ्य को निश्चित करने के लिये आवश्यक होता है । यदि सिर्फ व्यतिरेक से ही कारणता मान लेंगे तो रासभादि में भी घटादिकारणता का अतिप्रसंग हो सकता है । प्रस्तुत अक्षणिक भाव में निश्चित अन्वय नहीं मिलता, क्योंकि कार्यअकरण(पूर्व)काल में भी कारणभूत अक्षणिक भाव अचुक उपस्थित रहता है लेकिन कार्य उत्पन्न नहीं होता है । अचुक उपस्थिति होने पर भी यदि कार्योत्पत्ति नहीं होती तो उस से यही सूचित होगा कि वह कार्यजनकस्वभाववाला नहीं है । स्वभाव तो आदि से अन्त तक एक ही रहता है इसलिये उत्तर काल में भी अजनकस्वभाव जारी रहने से कार्योत्पत्ति कभी नहीं होगी ।"

तो यह ठीक नहीं है, क्षणिकवाद में भी ऐसा दूषण सावकाश है । देखिये- द्वितीयक्षण में कार्य को उत्पन्न करनेवाली परिपूर्ण अंतिम कारणसामग्री प्रथम क्षण में भी उपस्थित रहती है फिर भी उस क्षण में कार्य उत्पन्न नहीं होता, इसलिये उस में अजनक स्वभाव मानना पड़ेगा, वही द्वितीय क्षण में भी जारी रहेगा, फलतः द्वितीय क्षण में कार्योत्पत्ति विरोधग्रस्त हो जायेगी । इसलिये अक्षणिक में ऐसा दोष दिखाना व्यर्थ है ।

अन्वय-व्यतिरेक से अक्षणिक नित्य में अथवा अक्षणिक में कार्यजननानुकूल सामर्थ्य प्रयोजक नहीं है ऐसा सिद्ध होता है । इसका निष्कर्ष यह है कि अक्षणिक में अर्थक्रिया का कोई विरोध नहीं है । अतः सत्त्वलक्षणभूत अर्थक्रिया की निवृत्ति से, अर्थक्रियात्मक सत्त्व से विशिष्ट कृतकत्व की भी अक्षणिक भाव से निवृत्ति मान लेना असम्भव है । अर्थात् कृतकत्व हेतु की विपक्ष से व्यावृत्ति सिद्ध नहीं होती ।

पमेव कार्यम् यतस्तदभावादवस्तुत्वं स्यात् यावता विज्ञानलक्षणमपि कार्यमर्थानामस्तीति कथं तत्करणेऽपि सामान्यस्याऽव- स्तुत्वम् शब्दाद्यन्तक्षणवत् ? अथ केवलादेव सामान्यात् तद्ग्राहिज्ञानसद्भावे तदेव तेन गृह्यते न कदाचिद् व्यक्तिरिति व्यक्तेस्तत्सम्बन्धित्वेनाऽग्रहणाद् न व्यक्तौ ततः प्रवृत्तिः स्यात्, व्यक्तिसहायात् सामान्यात् तज्ज्ञानोत्पत्तौ कथं व्यक्तीनामेकज्ञाने प्रत्येकं तासामभावेऽपि सामान्यसद्भावभाविनि सामर्थ्यावधारणम् ? इत्युभयथाऽपि ज्ञान-क्रियाऽसम्भवात् कथं तथापि तद्वस्तुत्वम् ? असदेतत्, व्यक्तीनामन्यतमव्यक्तिसव्यपेक्षस्यैव सामान्यस्य तत्र सामर्थ्यात् कुविन्दादेरिवान्यतमवेमाऽपेक्षस्य, न हि प्रत्येकं वेमाऽभावे कुविन्दः पटं करोतीति कुविन्दादेव पटोत्पत्तिः वेमरहितादनुत्पत्तेः । एवमेकैकव्यक्त्यपाये विज्ञानोत्पत्तावपि न केवलमेव सामान्यं तद्धेतुः अन्यतमव्यक्त्यपेक्षस्यैव सामर्थ्यात् ।

★ नित्य सामान्य के वस्तुत्व का समर्थन ★

अक्षणिक भाव नित्य होने पर भी अर्थक्रियाकारी हो सकता है यह तथ्य अव प्रकट हो गया है, तव जो सामान्य के विरोध में कहा जाता है कि– 'नित्य होने के कारण सामान्य में अर्थक्रिया सम्भव न होने से वह अवस्तु है'– यह परास्त हो जाता है । यदि यह कहा जाय– 'नित्यता के आधार पर हम सामान्य में अर्थक्रिया का निषेध नहीं करते किन्तु सामान्य के द्वारा किसी भी कार्य का जन्म संभव नहीं है इस लिये उसमें अर्थक्रिया का निषेध करते हैं । यह सुविदित है कि भारवहन दोहनादि क्रिया जातिजन्य नहीं होती । जाति तो सर्वत्र एक होती है फिर भी कभी अल्पभारवहन, अतिभारवहनादि भिन्न भिन्न कार्य देखे जाते हैं, अतः वे जातिजन्य नहीं हो सकते । यदि जाति में भी कुछ विशेषता को मान्य करेंगे तो उस का एकत्व खंडित हो जायेगा ।'- ऐसा कहना युक्त नहीं है, क्योंकि दुनिया में वाह-दोहनादि सिर्फ ज्ञानभिन्न ही कार्य नहीं होते, जिन के न कर सकने से सामान्य अवस्तु वन जाय । अरे ! ज्ञानोत्पत्ति भी अर्थक्रियारूप है, जैसे वीजली-शब्दादि के अन्त्य क्षण को सिर्फ योगिज्ञान के जनक होने से वस्तुभूत मानते हो ऐसे ही सामान्य भी स्वविषयक ज्ञान का जनक होने से वस्तुभूत है, अवस्तु कैसे ?

★ जाति की ज्ञानजनकता का उपपादन ★

बौद्ध :- सामान्यग्राहि ज्ञान, व्यक्ति के सहकार से उत्पन्न होगा या व्यक्ति विनिर्मुक्त केवल जाति से ? यदि केवल जाति से उत्पन्न होगा तो वह तज्जन्य होने से केवल जाति का ही ग्राहक होगा, व्यक्ति का नहीं । फलतः जाति के सम्वन्धिरूप में भी व्यक्ति का ग्रहण न होने से, व्यक्ति के विषय में किसी की प्रवृत्ति ही नहीं होगी । यदि व्यक्ति के सहकार से सामान्यजन्य ज्ञान उत्पन्न होगा तो जहाँ जहाँ सामान्यजन्य ज्ञान उत्पन्न होता है वहाँ सर्वत्र नियत एक व्यक्ति नहीं होती, कभी एक व्यक्ति और कभी दूसरी व्यक्ति होती है, इस स्थिति में प्रतिनियत व्यक्ति के अभाव में सामान्य में ज्ञानजनन सामर्थ्य कैसे तय होगा ?

स्याद्वादी :- प्रतिनियत व्यक्ति सर्वत्र न होने पर भी इतना तो तय हो सकता है कि अन्यतम (=कोई भी एक) व्यक्ति सापेक्ष ही सामान्य ज्ञानोत्पत्ति के लिये समर्थ होता है अतः केवल सामान्य से ज्ञानोत्पत्ति पक्ष में दिये गये 'व्यक्ति में अप्रवृत्ति' दूषण को अवकाश नहीं है । उदा० तन्तुवाय (=जुलाहा) भी अन्यतम वेमसंज्ञक उपकरण सापेक्ष हो कर ही वस्त्र को वुनता है । प्रतिनियत वेम-व्यक्ति के अभाव में भी तन्तुवाय वस्त्र वुनता है इसका मतलव यह नहीं है कि केवल तन्तुवाय से ही वस्त्रोत्पत्ति होती है, क्योंकि प्रतिनियत वेम

–"अनुपकारकस्यानपेक्षणीयत्वात्, सामान्योपकारे ततस्तज्ज्ञानस्यैवोपकारः किं नेष्यते ? किं सामान्योपकारेण ? भिन्नानामेकार्थक्रिया न सम्भवतीति सामान्यमेकमिष्टम्, तद्भेद् व्यक्तयो नानात्वेऽप्येकं सामान्यमुपकुर्वन्ति कस्तर्हीसां तज्ज्ञानेनापराधः कृतः यतस्तास्तज्ज्ञानमेव नोपकुर्वन्ति ? कार्यश्च तासां प्राप्तः सामान्यात्मा, ततो लब्धातिशयस्यानर्थान्तरत्वात्, अर्थान्तरत्वे सम्बन्धानुपपत्तिः" – इत्यप्यचोद्यम्, यतो न भिन्नानामेकार्थक्रियाविरोधात् सामान्यमिष्टम् किन्तु भिन्नेष्वभिन्नाभासात् साक्षादर्पिततदाकारा बुद्धिः सामान्यमन्तरेणेन्द्रियबुद्धिवन्न सम्भवतीत्यभिन्नसामान्यवादिभिः सामान्यमिष्टम् । यदि वा(चा)ऽऽधिपत्यमात्रेणेन्द्रियादीनां रूपत्वाभावेऽपि रूपज्ञानजननवदिहापि व्यक्तीनामाधिपत्यमात्रेणोपयोगोऽभ्युपगम्यते तदा व्यक्तिष्विन्द्रियादिवदर्पिततदाकारा बुद्धिरभिन्नप्रतिभासिनी न स्यात् । न च स्वलक्षणस्य विकल्पबुद्धावप्रतिभासनात् नैवार्पिततदाकारा बुद्धिरभिन्नप्रतिभासिनीति वक्तव्यम्, 'विकल्पाः स्वलक्षणविषया न सन्ति'

न होने पर भी कोई एक बेग होता है तभी वस्रोत्पत्ति होती है उसके अत्यन्ताभाव होने पर नहीं होती । इसी तरह एक एक प्रतिनियत व्यक्ति के न होने पर सामान्य से ज्ञान उत्पन्न होता है इस का यह मतलब नहीं है कि केवल सामान्य ही ज्ञानोत्पत्ति का हेतु है । अन्यतमव्यक्ति सापेक्ष सामान्य में ही ज्ञानजनन सामर्थ्य होता है ।

★ सामान्य के विना समानाकार बुद्धि का असंभव ★

बौद्ध :-यहाँ एक आशंका है कि सापेक्षता का अर्थ है उपकार होना । जो उपकार नहीं करता उस की कहीं भी अपेक्षा नहीं की जाती । यह उपकार सामान्य के ऊपर नहीं किन्तु ज्ञान के ऊपर होता है । ज्ञान के बदले सिर्फ सामान्य के ऊपर उपकार मानने का कोई मतलब नहीं है, क्योंकि सामान्य के ऊपर उपकार के द्वारा ज्ञानोपकार तो मानना ही होगा तो फिर सीधा ही ज्ञानोपकार क्यों न मानना ? सामान्योपकार की क्या आवश्यकता है ? भिन्न भिन्न व्यक्तियों से एक अर्थक्रिया सम्भवित नहीं है ऐसा समझ कर ही आप अनेकव्यक्तिअनुगत एक सामान्य को स्वीकारते हैं । तब यहाँ प्रश्न होना सहज है कि जब व्यक्ति-व्यक्ति में भेद होने पर भी ज्ञानोत्पत्ति के लिये जाति के ऊपर उपकार करते हैं तो उस ज्ञान ने ही उन व्यक्तियों का क्या बिगाड़ा है कि व्यक्तियों का ज्ञान के ऊपर सीधा उपकार नहीं होता ? दूसरी बात यह है कि यदि अपेक्षात्मक 'व्यक्तिकृत अतिशय' जाति के ऊपर होने का जो माना जाता है वह अतिशय यदि जाति से अभिन्न है तो, अतिशयरूप उपकार व्यक्तिजन्य होने से तदभिन्न जाति भी व्यक्तिजन्य हो जायेगी । यदि व्यक्तिकृत अतिशय जाति से भिन्न मानेंगे तो उस का जाति के साथ कोई सम्बन्ध न बन सकेगा ।

स्याद्वादी :- ऐसा दूषण अप्रयोज्य है । कारण, भिन्न भिन्न व्यक्ति में एक अर्थक्रिया असम्भवित होने से एक सामान्य की कल्पना हम करते हैं ऐसी बात ही नहीं । हमारा मत यह है कि भिन्न भिन्न व्यक्तियों में भी अभेद का भास होता है उसके फलस्वरूप अभेदाकार निर्विकल्प अध्यक्ष बुद्धि उत्पन्न होती है, यह बुद्धि एक अनुगत सामान्यात्मक आलम्बन के बिना ठीक उसी तरह नहीं हो सकती जैसे रूपादि आलम्बन के बिना इन्द्रियजन्य साक्षात् बुद्धि नहीं होती । अब आप समझ गये होंगे कि हम अभिन्न एक सामान्य के आधार पर एक सामान्यभूत पदार्थ का स्वीकार करते हैं ।

बौद्ध :- जैसे इन्द्रिय-आलोक आदि में कोई एक रूपतासामान्य न होने पर भी सिर्फ एक प्रकार के अधिपति

इत्यस्याऽसिद्धेः । 'स्पष्टाकारविवेकात् ते तद्विषया न सम्भवन्ति'इति चेत् ? दृश्यमपि स्पष्टाकारं प्रतिक्षिपन् विकल्पेषु प्रतीत्यपलापित्वादयमुपेक्षामर्हतीति न भिन्नानामेकज्ञानोपकारशक्तिरेकसामान्योपकारशक्तिवदभ्युपगन्तुं युक्ता, न वा व्यक्तीनां सामान्योपकारशक्तिः सामान्यस्याऽनाधेयातिशयत्वात् । 'कथं तर्हि तस्य तत्रापेक्षा'इति चेत् ? क्षणवत् तदेककार्यकारित्वेन, इति कथमेकसामान्योपकारबलात् सामान्यज्ञानोपकारक(म)सामान्यवादी व्यक्तीनां साधयेत् व्यक्तिकार्यत्वं वा सामान्यस्येति ज्ञानलक्षणकार्यकारिणः सामान्यस्य नाऽवस्तुत्वम् ।

न वाऽभिधेयत्वात् सामान्यस्याऽवस्तुत्वम्,अस्य हेतोर्विपक्षाद् व्यावृत्त्यसिद्धेः । अथ वस्तुनोऽभिधेयत्वे साक्षाच्छब्दादेव वस्तुनो ज्ञानादिन्द्रियसंहतेर्वैकल्यं स्यात्, न चैवम्, अतो विपक्षाद् व्यावृत्तिसिद्धिः प्रकृतहेतोः । असदेतत्, शब्दाद् वस्तुनोऽस्पष्टाकारप्रतीतस्य स्पष्टाकारप्रतीत्यर्थमिन्द्रियसंहतिरुपजायते इति कथमिन्द्रियसंहतेर्वैफल्यम् यतो वस्तुनोऽनभिधेयत्वं सिद्ध्येत् ? एकस्यापि वस्तुनः स्पष्टाऽस्पष्टप्रतिभासभेदः

(अधिकार विशेष) से एक रूपबुद्धि की उत्पत्ति इन्द्रियादि के द्वारा होती है; वैसे ही एक सामान्यालम्वन के विना भिन्न भिन्न व्यक्तियों के द्वारा सिर्फ आधिपत्य मात्र के बल से एक ज्ञान उत्पन्न हो सकता है ।

स्याद्वादी :- हाँ, उत्पन्न होगा, लेकिन उस में यह अनिष्ट भी होगा कि इन्द्रियादि के आधिपत्य से उत्पन्न बुद्धि जैसे विशेष आकार से मुद्रित होती है, सामान्याकार मुद्रित नहीं होती, वैसे ही व्यक्तियों के आधिपत्य से उत्पन्न बुद्धि भी भिन्न भिन्न व्यक्ति के आकार से मुद्रित होने के कारण अभेदावभासिनी नहीं होगी ।

बौद्ध :- जो विकल्पबुद्धि है वह कभी स्वलक्षणप्रतिभासी होती ही नहीं है अतः स्वलक्षणाकार से मुद्रित बुद्धि अभिन्न सामान्यावभासी नहीं होती ।

स्याद्वादी : विकल्पबुद्धि स्वलक्षणविषयक नहीं होती ऐसा कहना अनुचित है, स्वलक्षणविषयता का अभाव असिद्ध है ।

बौद्ध : विकल्प विशदाकार नहीं होता इसलिये वह स्वलक्षणविषयक नहीं हो सकता ।

स्याद्वादी :- विकल्प में भी स्पष्टाकार का दर्शन-अनुभव होता है । फिर भी आप इस अनुभव का अपलाप कर रहे हैं इस लिये उपेक्षापात्र हैं । तात्पर्य, भिन्न भिन्न व्यक्तियों में एक सामान्य को उपकार करने की शक्ति का उदाहरण ले कर एक ज्ञान की उपकारक शक्ति का आपादन करना उचित नहीं है । अरे, हम तो व्यक्तियों में एक सामान्योपकारक शक्ति भी नहीं मानते हैं, क्योंकि सामान्य के ऊपर व्यक्तियों के द्वारा किसी अतिशय का आधान हम नहीं मानते हैं । 'तो फिर ज्ञानोत्पत्ति के लिये सामान्य को व्यक्ति की अपेक्षा होती है– इस कथन का क्या मतलब ?' इस प्रश्न का यह उत्तर है कि सामान्य, व्यक्ति से मिल-जुल कर एक ज्ञानात्मक कार्य करता है । जैसे क्षणिकवाद में उपादान क्षण सहकारीक्षण से मिल-जुल कर एक उत्तरक्षण को उत्पन्न करता है । जब हम एक सामान्य का उपकार ही नहीं मानते तब उसके बल से असामान्यवादी (बौद्ध) कैसे व्यक्तियों के द्वारा एक सामान्यज्ञान का उपकार सिद्ध करने की आशा रखते हैं ? अथवा उपकार अभिन्न सामान्य में व्यक्तिजन्यत्व के आपादन की आशा भी कैसे रख सकते हैं ?

सारांश, सामान्य ज्ञानात्मक अर्थक्रिया का जनक है, इसलिये अवस्तुभूत नहीं है ।

★ अभिधेयत्व हेतु से अवस्तुत्वसिद्धि अशक्य ★

'सामान्य अवस्तुभूत है क्योंकि अभिधेय है' यह अनुमान अयुक्त है, क्योंकि विपक्षभूत 'वस्तु' में अभिधेयत्व

सामग्रीभेदात् दूरासन्नादिभेदेन स्पष्टाऽस्पष्टप्रतिभासादिभेदवत् । एकस्मिन् वृक्षादिस्वलक्षणे स्पष्टेऽस्पष्टावभासिनोऽपि शाब्दज्ञानस्य काचाभ्रकादिव्यवहितवस्तुप्रतिज्ञानवत् दूरस्थवृक्षादिदर्शनवद् वा न भ्रान्तत्वम् । निदर्शनज्ञानस्यापि भ्रान्तत्वे प्रमाणद्वयानन्तर्भूतस्यास्याज्ञातवस्तुप्रकाश-संवादाभ्यां प्रमाणान्तरभावः स्यात् । न चा''ऽस्पष्टवृक्षादिप्रतिभासस्य–

'ममैवं प्रतिभासो यो न संस्थान(वि)वर्जितः । एवमन्यत्र दृष्टत्वादनुमानं तथा सति ॥'[ ]

इत्येवमनुमानेऽन्तर्भावात् न प्रमाणान्तरत्वम्, अनुमानस्य च स्वप्रतिभासिन्यनर्थेऽर्थाध्यवसायेन प्रवृत्तेर्भ्रान्तत्वम् भ्रान्तस्यापि च तस्य पारम्पर्येण वस्तुप्रतिबन्धात् प्रामाण्यम्'' इति वक्तव्यम्; निर्विकल्पकज्ञानप्रतिक्षेपप्रस्तावेनाऽस्य विचारयिष्यमाणत्वात् ।

न चाऽसद्भूत-भविष्यतोरपि सामान्यनिबन्धनशब्दप्रवृत्तेः सामान्यस्याऽवस्तुधर्मत्वेनाऽवस्तुत्वम्; भूतभविष्यत्कालसम्बन्धितया तयोर्भावात् । न चेदानीं तयोरभावादवस्तुत्वम्, स्वज्ञानकालेऽध्यक्षविषयस्याप्यरभावादवस्तुत्वप्रसक्तेः । अथ यदि नामाऽतीताऽनागतयोस्तत्कालसम्बन्धितया भावाद् वस्तुत्वम् तथापि

हेतु का सर्वथा अभाव असिद्ध है । यदि ऐसा विपक्षबाधक तर्क किया जाय कि- वस्तु यदि अभिधेय होगी तो शब्दश्रवण होते ही वस्तु का ज्ञान हो जाने से इन्द्रियवर्ग बेकार बन जायेगा, इन्द्रियवर्ग बेकार नहीं है, अतः वस्तु में शब्दाभिधेयत्व का अभाव सिद्ध होता है ।- तो यह गलत तर्क है । वस्तु का शाब्दबोध हो जाने पर इन्द्रियवर्ग बेकार हो जाने का भय बेबुनियाद है क्योंकि शब्द से वस्तु का अस्पष्टाकार बोध होता है इस लिये स्पष्टाकार बोध के लिये इन्द्रियवर्ग की उपयोगिता निर्बाध रहती है, तब उसके बेकार हो जाने का भय क्यों, जिस से कि वस्तु में अनभिधेयत्व की सिद्धि की जा सके ? यह नहीं कह सकते कि 'एक ही वस्तु का स्पष्ट-अस्पष्ट ऐसे द्विविध प्रतिभास कैसे ?' क्योंकि दूर-समीप के भेद से एक ही वृक्षादि का जैसे स्पष्ट-अस्पष्ट द्विविध अनुभव सर्वविदित है ऐसे ही शब्द और इन्द्रियरूप सामग्री के भेद से स्पष्टास्पष्ट द्विविध प्रतिभास होने में कोई बाध नहीं । 'वृक्षादि यदि स्पष्ट स्वरूपवाला है तो उसमें अस्पष्टावभासी शाब्दबोध को भ्रान्त समझना चाहिये' ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि दीवार आदि एक ही वस्तु कांच अथवा अभ्रकादि द्रव्य से आच्छादित होने पर उसका अस्पष्टाभास जो बोध होता है वह भ्रान्त नहीं माना जाता । अथवा दूर रहे हुए आम्रवृक्ष का सिर्फ 'वृक्ष' ('आम्र' ऐसा नहीं) इतना ही अस्पष्टावभासी दर्शन होता है वह भी भ्रान्त नहीं माना जाता । ऐसे ही शाब्दबोध भी भ्रान्त नहीं कहा जा सकता । यदि कांचादिआच्छादित वस्तु के ज्ञान को अथवा दूरस्थ वृक्षादि के ज्ञान को भ्रान्त मानेंगे तो उस का प्रत्यक्ष-अनुमान में अन्तर्भाव शक्य न होने से तृतीय प्रमाण की आपत्ति होगी । कारण, भ्रान्त होने से उसे प्रत्यक्षरूप नहीं मान सकते, एवं लिंगजन्य न होने से उस को अनुमान भी नहीं कह सकते । दूसरी ओर, अगृहीतग्राही एवं अविसंवादी होने से प्रत्यक्ष या अनुमान की तरह उसको प्रमाण तो मानना पड़ेगा ।

'ममैवं प्रतिभासो०' इस श्लोक का आधार ले कर यदि ऐसा कहा जाय कि- 'यह जो मेरा (स्पष्ट) ऐसा प्रतिभास है वह इस प्रकार के वस्तु-संस्थान से वर्जित है क्योंकि ऐसा अन्यत्र भी देखा गया है' इस प्रकार के संस्थानविहीन के अनुमान से ही अस्पष्ट वृक्षादि का प्रतिभास होता है इसलिये उसका अनुमान में [illegible] है । अतः तृतीय प्रमाण होने का भय नहीं है । अनुमान [illegible]

कथं कालविप्रकृष्टस्यातीतादेरसम्बन्धात् ध्वनिर्गमको भवेत् ? न, पारम्पर्येणातीतादिना तद्दर्शनद्वारायातस्य शब्दस्य प्रतिबन्धाद्, व्याप्तिग्रहणायाऽतीतादिविषयानुमानस्येव । न चैवमतिप्रसंगः, अनुमानेऽपि प्रसंगात् । 'आसीदग्निः' इत्यादिश्रुतेः अविसंवादोऽपि विशिष्टभस्मादिकार्यदर्शनोत्पन्नानुमानप्रवृत्तिलक्षणः क्वचिदस्त्येव, अनागतार्थविषये नु(तु) वाक्ये चन्द्रग्रहणोपदेशादौ प्रत्यक्षप्रमाणे(?ण)प्रवृत्तिलक्षणोऽनुभूयत एव । 'अभूद् राजा श्रीहर्षादिः' 'भविष्यति शंखश्चक्रवर्त्ती' इत्यादिश्रुतेर्न प्रतिबन्धाभावोऽविसंवादाभावेऽपि तदुपदेष्टुः तद्दर्शनस्याभावाऽसिद्धेः । 'भावोऽपि कथं सिद्धः' इति चेत् ? अत एव संशयोऽस्तु, न चैतावता प्रतिबन्धभावः सिध्यति, संशयस्तु स्यात् यथा अनर्थित्वादप्रवृत्तस्य प्रथमोत्पन्नप्रत्यक्षे । न चैकत्र संशये सर्वत्र संशयः, प्रत्यक्षेऽपि प्रसंगात् । संशयितप्रतिबन्धात् तु वाक्यात् संशयादपि प्रवृत्तिः यथाऽनभ्यासावस्थायां

अवस्तु में भी वस्तुत्व का अध्यवसायी होता है इसलिये भ्रान्त है । भ्रान्त होते हुए भी परम्परया स्वलक्षण से संलग्न होता है इसलिये मणिप्रभा में मणिबुद्धि की तरह प्रमाण माना जाता है''– तो ऐसा कथन अयोग्य है क्योंकि दूरस्थ वृक्षादि के ज्ञान में साक्षात्कार का ही अनुभव होता है अनुमानात्मकता का नहीं, फिर भी आगे निर्विकल्पज्ञानवाद के निषेध का अवसर आयेगा उस वक्त इस के बारे में विचार कर लेंगे ।

★ भूत और भविष्य सर्वथा असत् नहीं ★

यदि यह कहा जाय – सामान्यावलम्बि शब्दप्रवृत्ति भूत और भविष्यकालिन पदार्थों में भी होती है, इस का मतलब यह हुआ कि सामान्य भूत-भविष्यत् असत् पदार्थों का भी धर्म है, जो असत्-अवस्तु का धर्म हो वह स्वयं भी असत् या अवस्तु ही होना चाहिये ।– तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि भूत और भविष्यत् भाव सर्वथा असत् नहीं होते, अपने अपने काल के सम्बन्धिरूप में वे भी अपने अपने काल में सत् ही होते हैं । यदि वर्त्तमान में भूत-भविष्य के न होने मात्र से उसे असत् माना जाय तब तो अपने ज्ञानकाल में यानी दूसरे क्षण में प्रत्यक्ष का विषय स्वलक्षण का भी अस्तित्व नहीं होता तो वह भी अवस्तु मानना होगा ।

प्रश्न :- भूत-भविष्यत् भाव को अपने अपने काल में सत् होने से वस्तुरूप मान लिया जाय तो भी प्रश्न यह है कि जो काल से व्यवहित है (दूरवर्त्ती है) ऐसे भूत-भावि पदार्थों के साथ, विना किसी सम्बन्ध के शब्द कैसे उन का बोधक हो सकेगा ?

उत्तर :- शब्द वर्त्तमानकालीन है और अर्थ भूत या भविष्यत्कालीन है, फिर भी परम्परा से शब्द उन भूत-भावि अर्थों के दर्शन के साथ सम्बद्ध होता है, क्योंकि शब्दप्रयोग परम्परया दर्शनमूलक ही होता है इस लिये वह भूत-भावि भाव का भी बोधक हो सकता है । जैसे, भूत-भावि भाव के अनुमान के लिये उन के असत् होते हुए भी व्याप्तिज्ञान से उसका ग्रहण माना जाता है, वहाँ परम्परया ही लिंग को भूत-भावि भावों के साथ सम्बद्ध माना जाता है । यदि कहें कि– इस तरह यदि भूत-भावि भावों का भी शब्द से बोध मानेंगे तो शब्द से त्रिकालज्ञान हो जाने का अतिप्रसंग होगा– तो ऐसा अतिप्रसंग भूत-भावि भाव ग्राहक अनुमान के बारे में भी प्रसक्त होगा । 'यहाँ अग्नि था' इत्यादि शब्द विसंवादी है ऐसा भी नहीं है, क्योंकि 'यहाँ अग्नि था' इन शब्दों को सुनने के बाद वहाँ विशिष्ट गुणधर्मयुक्त भस्म को देख कर, कार्य भस्म से कारण अग्नि के अनुमान की प्रवृत्ति होती है इस तरह कभी कभी अविसंवाद भी उपलब्ध होता है । भावि पदार्थ के बोधक, चन्द्र-सूर्यग्रहणादि का सूचक किसी ज्योतिर्विद् के वाक्य का भी बाद में प्रवृत्त होने वाले प्रत्यक्ष से अविसंवाद

प्रत्यक्षात् । अभ्यस्तविषये तु चन्द्रग्रहणोपदेशादेर्निश्चयादेव तृतीयादिप्रवृत्ताविवाध्यक्षात् । क्वचिद् विसंवादात् शब्दस्य सर्वत्राऽप्रामाण्येऽध्यक्षस्यापि क्वचिद् विसंवादात् सर्वत्राऽप्रामाण्यप्रसक्तिः । न चासत्ख्यातिभासित्वात् भूतादेरवस्तुत्वम् अध्यक्षविषयस्यापि कस्यचित् तथाभावेनाऽवस्तुत्वप्रसक्तेः । तन्न सामान्यस्याऽवस्तुत्वम् ।

अभ्युपगमवादेन च नित्यसामान्यपक्षभाविदोषपरिहारः कृतः, परमार्थतस्तु नैकान्ततः किंचिद् वस्तु नित्यमनित्यं वा, बहिः नव-पुराणाद्यनेकक्रमभाविपर्यायाक्रान्तस्य समानाऽसमानपरिणामात्मकस्यैकस्य घटादेः, अन्तश्च हर्ष-विषादाद्यनेकविवर्त्तात्मकस्य चैतन्यस्याऽबाधितप्रतीतिविषयस्य व्यवस्थितत्वात् ।

तन्नैकान्ततः क्षणिकत्वं व्यक्तीनामिति संकेतव्यवहारकालव्यापकत्वस्य भावात् न तत्र शब्दसंकेताऽसम्भवः, नापि संकेतवैयर्थ्यम् । अत एव 'उत्पन्नाऽनुत्पन्नेषु स्वलक्षणेषु शब्दसंकेतस्याऽशक्यक्रियत्वात् स्वलक्षणस्याऽवाच्यत्वम्' इति यदुक्तं तद् निरस्तम् । [पृ० २३ पं० ५]

उपलब्ध होता है ।

★ अविसंवाद के विरह में भी संशय से प्रवृत्ति ★

यद्यपि 'श्रीहर्ष आदि राजा हो गये' अथवा 'शंख चक्रवर्त्ती होने वाला है' इत्यादि वाक्यों के समर्थन में कोई अविसंवाद उपलब्ध नहीं है, तथापि वहाँ सम्बन्ध का अभाव है ऐसा तो नहीं कह सकते क्योंकि 'ऐसे वाक्यों के उपदेशक को उन तथ्यों का दर्शन नहीं था' यह बात असिद्ध है । प्रश्न किया जाय कि- वैसा दर्शन था- यह बात भी कहाँ सिद्ध है ? तो उत्तर यह है कि सिद्ध न होने पर भी 'वैसा दर्शन उन उपदेशकों को शायद हो भी सकता है' ऐसा संशय तो किया जा सकता है । जब तक यह संशय है तब तक सम्बन्ध का अभाव तो सिद्ध नहीं हो सकेगा । जैसे, किसी भाव को प्रथम बार देखने के बाद प्रयोजन न होने से उस के लिये प्रवृत्ति न हुई, इसलिये वहाँ अविसंवाद उपलब्ध नहीं है, तथापि उस विषय का प्रत्यक्ष के साथ सम्बन्धाभाव तो सिद्ध नहीं हो सकता जब तक उस भाव का संशय वहाँ मौजूद हो । यह भी आपादन करना अनुचित है कि- एक स्थल में ('श्रीहर्षादि राजा हो गये' इत्यादि में) संशय होने पर प्रत्येक शब्द के बारे में भी संशय ही होता रहेगा - क्योंकि ऐसा आपादन प्रत्यक्ष में भी हो सकता है कि एक वृक्ष स्थाणु आदि के बारे में संशय होने पर प्रत्येक प्रत्यक्ष में भी संशय ही होता रहेगा । यद्यपि यहाँ शब्दस्थल में सम्बन्ध का निश्चय नहीं लेकिन संशय रहेगा, फलतः निष्कंप प्रवृत्ति न होने पर भी संदिग्ध (=सकम्प) प्रवृत्ति होने में कोई बाध नहीं है । जैसे कभी अनभ्यस्त दशा में वस्तु का प्रथम प्रत्यक्ष होने पर जब प्रथम बार प्रवृत्ति करते हैं तब वहाँ भी निष्फल नहीं किन्तु सफल प्रवृत्ति ही होती है । चन्द्र-सूर्यग्रहणादि सूचक उपदेश का विषय जब अभ्यस्त हो जाता है तब वहाँ उपदेश से संशय नहीं किन्तु निश्चय हो जाने से दृढ प्रवृत्ति ही होती है, जैसे पहले दो बार किसी प्रत्यक्ष विषय के बारे में प्रवृत्ति हो चुकी हो तब बाद में तृतीय-चतुर्थादि प्रत्यक्ष से उस तरह के विषयों में प्रवृत्ति होती है वह निश्चयमूलक होने से दृढ ही होती है, संशयदोल नहीं ।

[illegible]

'यो यत्कृते प्रत्यये न प्रतिभासते'.. [पृ० २६ पं० ३] इत्यादिप्रयोगे 'न प्रतिभासते च शाब्दे प्रत्यये स्वलक्षणं' इत्यसिद्धो हेतुः, स्वलक्षणप्रतिभासस्य शाब्दे प्रत्यये व्यवस्थापितत्वात् दूरव्यवस्थितपादपग्राह्यध्यक्ष प्रत्यय इवाऽस्पष्टप्रतिभासेऽपि । अत एव – [ ]

"अन्यदेवेन्द्रियग्राह्यमन्यच्छब्दस्य गोचरः । शब्दात् प्रत्येति भिन्नाक्षो न तु प्रत्यक्षमीक्षते ॥
अन्यथैवाग्निसम्बन्धाद् दाहं दग्धोऽभिमन्यते । अन्यथा दाहशब्देन दाहार्थः सम्प्रतीयते ॥ तथा,
शब्देनाऽव्यापृताक्षस्य बुद्धावप्रतिभासनात् । अर्थस्य दृष्टाविव तदनिर्देशस्य वेदकम् ॥"

इत्यादि शब्दबुद्धावस्पष्टप्रतिभासमुपलभ्य यदुच्यते परेण तन्निरस्तम्, प्रत्यक्षबुद्धावप्यस्पष्टस्वलक्षणप्रतिभासस्य प्रतिपादितत्वात् । यत्र हि विशेषोपसर्जनसामान्यप्रतिभासो ज्ञाने तद् अस्पष्टं व्यवह्रियते, यत्र च सामान्योपसर्जनविशेषप्रतिभासः सामग्रीविशेषात् तत् स्पष्टमुच्यते । सामान्यविशेषात्मकत्वं च वस्तुनः प्रतिपादितम् प्रतिपादयिष्यते च यथावसरम् । तेन 'न चैकवस्तुनो रूपद्वयमस्ति, एकस्य द्वित्वविरोधात्' [२६-६] इत्याद्यसंगतमेवं ।

वृक्षादि विषयक प्रत्यक्ष का विषय भी अस्पष्ट भासित होने से उन को भी अवस्तु मानना होगा ।

निष्कर्ष, सामान्य अवस्तुभूत नहीं है ।

★ स्वलक्षण शब्द वाच्य न होने का कथन मिथ्या ★

व्याख्याकार श्री अभयदेवसूरिजी महाराज अपने अंतर को खोल कर कहते हैं कि हमने जो यह नित्य सामान्यपक्ष के सिर पर थोपे गये दूषणों का परिहार किया वह तो सिर्फ अभ्युपगमवाद से किया है, वास्तव में हम किसी भी वस्तु को एकान्ततः नित्य या अनित्य नहीं मानते हैं किन्तु कथंचित् नित्यानित्य मानते हैं । यह अबाधितअनुभव से सिद्ध है कि बाह्य घटादि पदार्थ नये-पुराने इत्यादि बहुविध क्रमभाविपर्यायों से समवेत होता है, एक होता है, फिर भी सदृशपरिणाम और असदृशपरिणाम उभय से अभिन्न होता है । यह भी अबाधित अनुभवसिद्ध तथ्य है कि चेतना आदि आन्तरिक पदार्थ भी हर्ष–विषाद आदि विविध आवेगों से अभिन्न होता है ।

इस पूरी चर्चा का सार यह है कि कोई, भी व्यक्ति एकान्ततः क्षणिक नहीं होती । कथंचित् स्थायी भाव भी होता है, अतः संकेतकाल और व्यवहारकाल दोनों में वह अनुवृत्त रह सकता है, इस के फलस्वरूप उस में संकेत भी सुतरां सम्भवित है, इस लिये संकेत में निरर्थकता की आपत्ति को अवकाश नहीं है । तब जो पहले क्षणिकवादी ने कहा था [पृ० पं०] कि-'शब्दसंकेत की प्रक्रिया न तो उत्पन्न स्वलक्षण में हो सकती है न अनुत्पन्न स्वलक्षण में, अतः स्वलक्षण शब्दवाच्य नहीं है' यह कथन मिथ्या करार दिया जाता है ।

☆ स्पष्टास्पष्टप्रतीतिभेद से विषयभेद असिद्ध ☆

अपोहवादीने जो पहले यह न्यायप्रयोग दिखाया था [पृ० पं०] कि यज्जन्य प्रतीति में जो भासित नहीं होता वह उसका विषय नहीं होता, शाब्दिक प्रतीति में स्वलक्षण भासता नहीं है'... इत्यादि, इसमें 'स्वलक्षण का शाब्दिक प्रतीति में अप्रतिभास' यह हेतु पूर्वोक्त चर्चा से असिद्ध ठहरता है, क्योंकि शाब्दिक प्रतीति में स्वलक्षण का प्रतिभास होता है इस तथ्य को हमने सिद्ध कर दिखाया है । हाँ, शाब्दिक प्रतीति में स्वलक्षण

न चाऽशेषविशेषाध्यासितवस्तुप्रतिभासविकल(?ल)स्य शाब्दप्रत्ययस्यान्यथाभूते वस्तुन्यन्यथाभूतावभासित्वेन प्रवृत्तेर्भ्रान्तत्वम्, प्रत्यक्षस्यापि तथाऽवभासित्वेन भ्रान्तत्वप्रसक्तेः । न ह्यस्मदादिप्रत्यक्षे क्षणिकनैरात्म्याद्यशेषधर्माध्यासितसंख्योपेतघटाद्याकारपरिणतसमस्तपरमाणुप्रतिभासः, तथैवाऽनिश्चयात् । अत एव- 'मतिश्रुतयोर्निबन्धो *द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु' [तत्त्वार्था०अ०१ सू०२९] इति समानविषयत्वमध्यक्ष-शाब्दयोः तत्त्वार्थसूत्रकृता प्रतिपादितम् । यदा च प्रधानोपसर्जनभावेनानेकान्तात्मकं वस्तु प्रमाणविषयस्तदा यत्रैव संकेतः प्रत्यक्षविषये स एव सामान्य-विशेषात्मकः शब्दार्थ इति केवलस्वलक्षण-जाति-तद्योग-जातिमत्पदार्थ-बुद्धि-तदाकारपक्षभाविनो दोषा अनास्पदा एव । न ह्येकान्तपक्षभाविदोषाः अनेकान्तवादिनं समाक्षिप्यन्ति । अस्त्यर्थादिशब्दार्थपक्षेष्वपि सामान्य-विशेषैकान्तपक्षसमाश्रयणात् यद् दूषणम् तदप्यस्मत्पक्षाऽसंगतमेव उक्तन्यायात् ।

का प्रतिभास अस्पष्ट जरूर होता है किन्तु भ्रान्त नहीं होता, जैसे दूरस्थ वृक्षादि भी प्रत्यक्षप्रतीति में अस्पष्ट भासित होते हैं किन्तु भ्रान्ति नहीं होती ।

इसी सबब से यह जो किसीने आपत्ति जतायी है- "इन्द्रिय से गृहीत होने वाला अर्थ और शब्द से बोधित अर्थ दोनों भिन्न भिन्न होते हैं । इसीलिये दृष्टिविहीन ज्ञाता को वस्तु का साक्षात्कार नहीं होता किन्तु शब्द से बोध होता है । [तात्पर्य, दृश्य अर्थ स्पष्ट होता है जब कि विकल्प अर्थ अस्पष्ट होता है इसलिये उन दोनों में भेद मानना चाहिये] । दाहक (अग्नि) के संयोग से जो दाह का (जलन का) साक्षात्कार होता है वह, और 'दाह' शब्द से जो दाह का प्रतिभास होता है वे दोनों भिन्न भिन्न ही प्रतीत होते हैं [इसलिये भी दृश्य और विकल्प्य अर्थों में भेद मानना चाहिये] । तथा, नेत्रव्यापार के विना, जैसा दर्शन में अर्थ प्रतिभासित होता है वैसा शाब्दिक बुद्धि में भासित नहीं होता है इस लिये शाब्दबुद्धि दृश्यभिन्न अर्थ की वेदक है । [अर्थात् स्वलक्षण उसका विषय नहीं है] - ऐसा जो शाब्दबोध के अस्पष्ट प्रतिभास को लेकर प्रतिवादीयों ने कहा है वह परास्त हो जाता है । कारण, सिर्फ शाब्दबोध में ही नहीं, प्रत्यक्ष में भी स्वलक्षण का कभी अस्पष्ट प्रतिभास होता है यह सप्रमाण कहा जा चुका है । वस्तु एक ही होती है फिर भी जब विशेषस्वरूप गौण होकर मुख्यतया सामान्य स्वरूप का प्रतिभास होता है तब उसे अस्पष्ट प्रतिभास कहा जाता है, सामग्री की उत्कटता (सबलता) होती है तब सामान्य गौण हो कर विशेषस्वरूप का प्रतिभास होता है तब उसे स्पष्ट कहा जाता है । वस्तु सामान्य-विशेष उभयात्मक है यह तो पहले कह आये हैं, और आगे भी प्रस्तावोचित कहा जायेगा । अतः 'एक वस्तु में दो विरोधाभासी स्वरूप नहीं होते... क्योंकि एकत्व का द्वित्व के साथ विरोध है'- [पृ० २६ पं० २८] यह प्रतिपादन असंगत ठहरता है ।

★ शाब्द प्रतीति भ्रान्त नहीं होती ★

यदि यह कहा जाय – 'शाब्द प्रतीति सकल विशेषों से संकलित वस्तु के साक्षात्कार से शून्य होती है, इसलिये वह अन्यस्वरूप वस्तु को अन्य प्रकार से उद्भासित करती है, इसलिये शाब्द प्रतीति भ्रान्त होती है'- यह कथन अयोग्य है क्योंकि हम लोगों के प्रत्यक्ष में भी क्षणिकत्व-नैरात्म्य आदि कई अगणित सकल धर्मों से विशिष्ट एवं संख्याविशिष्ट घटादि आकार में परिणत समस्तपरमाणुपुञ्ज भी भासित नहीं होता है, इस से

---

*. [illegible]

यदपि विजातीयव्यावृत्तान्यपदार्थानाश्रित्यानुभवादिक्रमेण यदुत्पन्नं विकल्पकं ज्ञानं तत्र यत् प्रतिभाति ज्ञानात्मभूतं विजातीयव्यावृत्तपदार्थाकारतयाध्यवसितमर्थप्रतिविम्बकं तत्र 'अन्यापोहः' इति संज्ञा [पृ०७७ पं०८] तत्रापि विजातीयव्यावृत्तपदार्थानुभवद्वारेण शाब्दं विज्ञानं तथाभूतपदार्थाध्यवसाय्युत्पद्यते इत्यत्राऽविसंवाद एव, किन्तु तत् तथाभूतपारमार्थिकार्थग्राह्यभ्युपगन्तव्यम् अध्यवसायस्य ग्रहणरूपत्वात् । विजातीयव्यावृत्तेस्तु समानपरिणतिरूपतया वस्तुधर्मत्वेन व्यवस्थापितत्वाद् अन्यापोहशब्दवाच्यतापि तत्राऽऽसज्यमाना नास्मन्मतक्षतिमावहति, संकेतविशेषसव्यपेक्षस्य तच्छब्दस्य तत्रापि प्रवृत्त्यविरोधात् । यच्च 'तत्प्रतिविम्वकं शब्देन जन्यमानत्वात् तस्य कार्यमेव इति कार्यकारणभाव एव वाच्य-वाचकभावः' [७७-१०] – तदसंगतम्, शब्दाद् विशिष्टसंकेतसव्यपेक्षाद् बाह्यार्थप्रतिपत्तेस्तत्पूर्वकप्रवृत्त्यादिव्यवहारस्यापि तत्रैव भावात् स एव बाह्यः शब्दार्थो युक्तः न तु विकल्पप्रतिविम्वकमात्रम्, शब्दात् तस्य वाच्यतयाऽप्रतिपत्तेः । तथाभूतशब्दात् तथाभूतपारमार्थिकबाह्यार्थाध्यवसायि ज्ञानमुत्पद्यत इत्यत्राऽविवाद एव ।

यच्च 'प्रतिविम्वस्य मुख्यमन्यापोहत्वं विजातीयव्यावृत्तस्वलक्षणस्यान्यव्यावृत्तेश्चौपचारिकम्' [७८-६] इति तदप्यसंगतम्, शब्दवाच्यस्य वस्तुस्वरूपस्य ह्यपोहत्वं तदाऽनन्तधर्मात्मके वस्तुन्युपसर्जनीकृतविशेषस्य पारमार्थिकवस्त्वात्मकसामान्यधर्मकलापस्य शब्दवाच्यत्वात् कथमन्यव्यावृत्तस्वलक्षणस्योपचारेणा-

---

यह प्रमाण है कि क्षणिकत्वादिरूप से घटादि का निश्चय किसी को भी नहीं होता । इस तरह बौद्ध अभिमत प्रत्यक्ष प्रमाण भी अन्यस्वरूप वस्तु को अन्यप्रकार से उद्भासित करता है इसलिये भ्रान्त अंगीकार करना होगा । हमारे स्याद्वादमत में तो यह दोष सावकाश नहीं है क्योंकि तत्त्वार्थसूत्रकार श्री उमास्वाति भगवंतने कहा है– 'मतिज्ञान (इन्द्रियप्रत्यक्षादि) एवं श्रुतज्ञान (शाब्दबोध) ये दोनों का विषय सर्वद्रव्य है किन्तु सर्व पर्याय नहीं है ।' इस तरह प्रत्यक्ष और शाब्दबोध को समानविषयक बता दिया है । तात्पर्य यह है कि जैसे शब्द सर्वविशेष-उद्भासक नहीं होता वैसे इन्द्रिय प्रत्यक्ष भी सर्वविशेषग्राही नहीं होता, किन्तु इस आधार पर उनको भ्रान्त नहीं कह सकते ।

निष्कर्ष यह है कि गौण-मुख्यभाव से अनेकान्तात्मक वस्तु ही प्रमाण का गोचर होता है, इसलिये सामान्यविशेषात्मक वस्तु प्रत्यक्ष का विषय है, उसमें जब शब्दसंकेत किया जाता है तब वही सामान्यविशेषात्मक भाव शब्दार्थ बन जाता है । यही कारण है कि, अपोहवादीने पहले [पृ० २० पं. २१] स्वलक्षण को, जाति को, जाति के सम्बन्ध को, जातिमान् पदार्थ को अथवा बुद्धि या बुद्धि के आकार को शब्दार्थ मानने के पक्ष में जिन दोषों का प्रतिपादन किया है वे सामान्यविशेषात्मक शब्दार्थवादी जैनों के मत में निरवकाश हैं । इसी तरह अस्त्यर्थ, समुदाय, असत्यसम्बन्ध, असत्योपाधिसत्य, अभिजल्प, बुद्धि-अधिरूढ आकार अथवा प्रतिभा को शब्दार्थ मानने के पक्ष में जो अपोहवादीने पहले [पृ० ३१-२७] विस्तार से दोषापादान किया है वह भी सामान्य-विशेषात्मकवस्तु-शब्दार्थप्ररूपक अनेकान्तवाद पक्ष में निरवकाश है, क्योंकि एकान्तवाद के सिर पर जो दोष लगाये जाते हैं, वे अनेकान्तवाद के सिर पर आ कर नहीं बैठ सकते ।

☆ समानपरिणति ही अन्यापोह है ☆

पहले जो अपोहवादीने कहा था (पृ० ७७ पं० २५)– 'विजातीयव्यावृत्त पदार्थों के आलम्बन से अनुभव होने के बाद क्रमशः विकल्पज्ञान का उदय होता है । उस विकल्प में ज्ञान से अभिन्न एवं विजातीयव्यावृत्तआकार में अध्यवसित- ऐसा जो अर्थप्रतिविम्ब स्फुरित होता है उसी की 'अन्यापोह' संज्ञा है ।' – यहाँ, इस बात

ऽपोहत्वम् ? तुच्छस्वरूपायाश्च व्यावृत्तेरन्यव्यावृत्तविकल्पाकारस्य चापोहत्वे सामान्य-सामानाधिकरण्य-विशेषणविशेष्यभावादिव्यवहारश्च सर्व एवाऽघटमानकः । न च सामान्याभावात् सामान्यव्यवहारस्याऽघटमानत्वं न दोषायेति वक्तव्यम्, तत्सद्भावस्य प्रसाधितत्वात् । सामानाधिकरण्यव्यवहारश्च धर्मद्वययुक्तस्यैकस्य धर्मिणो बहिर्भूतस्याऽसद्भावादयुक्तः स्यात् । न च बाह्यार्थसंस्पर्शिविकल्पप्रतिबिम्बकेऽयं युक्तः । अथ धर्मद्वयानुरक्तैकधर्मिविकल्पेऽयमुपपत्स्यते । अयुक्तमेतत्, तथाभूतविकल्पाभ्युपगमे एकान्तवादिनामनेकाकारैकविकल्पाभ्युपगमादनेकान्तवादप्रसक्तेः ।

न चाऽतात्त्विकमनेकत्वम् इति नायं दोषः, तथाऽभ्युपगमे ज्ञानात्मन्यविद्यमानस्यानेकत्वस्य स्वसंवेदनेनाऽपरिच्छेदप्रसक्तेः, वेदने वा स्वसंवेदनस्याऽप्रत्यक्षत्वप्रसंगः, अविद्यमानाकारग्राहित्वेन सदसतोरेकत्वाऽनेकत्वयोर्ज्ञानतादात्म्यविरोधाद् अनात्मभूतं च वैचित्र्यं कथमतदाकारं ज्ञानवेदनं साकारज्ञानवादिनां

में तो हमारा कोई विसंवाद नहीं है कि विजातीयव्यावृत्तपदार्थ के अनुभवद्वारा तथाविधपदार्थ को अध्यवसित करनेवाला शाब्दबोध विज्ञान उत्पन्न होता है । किन्तु वह अध्यवसाय ग्रहणात्मक होता है इस लिये उस ग्रहण के कर्मभूत विजातीय व्यावृत्त अर्थ को पारमार्थिकरूप से ग्राह्य भी मानना चाहिये । और हम यह सिद्ध कर चुके हैं कि विजातीयव्यावृत्ति वस्तु के समानपरिणतिरूप होने से वस्तु का ही पारमार्थिक धर्म है । इसलिये यदि उसे नामान्तर से 'अन्यापोह' संज्ञा दे कर उसको ही आप शब्दवाच्य घोषित करते हैं तो हमें इस में कोई आपत्ति नहीं है, आपके बौद्ध मत की परिभाषा के अनुसार संकेत करके आप उस समानपरिणति वस्तुधर्म के लिये 'अन्यापोह' शब्द का प्रयोग करे उसमें कोई विरोध नहीं है ।

यह जो पहले कहा था [पृ० ७७ पं० २९]- 'वह अर्थप्रतिबिम्ब शब्दजन्य होने से शब्द का कार्य है, शब्द उसका कारण है, इस प्रकार शब्द और अर्थप्रतिबिम्ब में जो कारण-कार्य भाव है वही वाच्य-वाचकभाव है' - यह निपट गलत है, क्योंकि संकेतविशेष की सहायता से शब्द के द्वारा अर्थप्रतिबिम्ब का बोध नहीं होता किन्तु बाह्य घट आदि अर्थ का बोध होता है इसलिये उसीको शब्दार्थ मानने में औचित्य है, विकल्पप्रतिबिम्ब को शब्दार्थ मानने में औचित्य नहीं है, क्योंकि शब्द से उस का वाच्यार्थरूप में बोध नहीं होता । हाँ, संकेतविशेष से सहकृत शब्द से विजातीयव्यावृत्त पारमार्थिक बाह्यार्थ के प्रतिबिम्ब को झेलनेवाला ज्ञान जन्म लेता है- इस बात में हमारा कोई विवाद नहीं है ।

★ प्रतिबिम्बादिस्वरूप अपोह मानने में असंगति ★

पहले अपोहवादीने जो कहा था (पृ० ७८ पं० २०) 'प्रतिबिम्ब मुख्य अपोह है, विजातीयव्यावृत्तस्वलक्षण एवं विजातीयव्यावृत्ति ये दो औपचारिक अपोह हैं जो शब्दवाच्यार्थ कहे जाते हैं ।' यह असंगत बात है । जब आप वस्तुस्वरूप विजातीयव्यावृत्तस्वलक्षण को कैसे भी शब्दवाच्य घोषित करते हो तो इसका मतलब यह है कि आप अन्यापोहस्वरूप वस्तु के विशेषस्वरूप को गौण करके पारमार्थिक वस्तुरूप सामान्यधर्मयुक्त को शब्दवाच्य बता रहे हैं । इस स्थिति में अन्यव्यावृत्तस्वलक्षण जो तुच्छव्यावृत्ति से सर्वथा भिन्न है उसको उपचार से अपोह कहने का औचित्य बचा है ? कुछ नहीं । यदि आप तुच्छ स्वरूप व्यावृत्ति को अथवा अन्यव्यावृत्तविकल्पाकार प्रतिबिम्बस्वरूप अपोह को शब्दवाच्य कहेंगे तो सामान्यव्यवहार, सामानाधिकरण्य व्यवहार और विशेषण-विशेष्य भाव आदि व्यवहारों को कैसे भी संगत नहीं कर सकेंगे । यदि कहें कि 'सामान्य कोई वस्तु ही नहीं है इसलिये उस के व्यवहार

परिच्छिनत्ति ? परिच्छेदे वा परिच्छेदसत्तायाः सर्वत्राऽविशेषात् सर्वैकवेदनप्रसक्तिः । निराकारविज्ञानाभ्युपगमे च बहिरर्थसिद्धेर्विज्ञानवादानवतारप्रसंगः । अथ तदपि साकारमभ्युपगम्यते तदा तत्रापि कथमनेकाकारमेकम् ? अनेकत्वस्याऽतात्त्विकत्वे पुनरपि स एव प्रसंगोऽनवस्थाकारी, पारमार्थिकानेकाकारज्ञानाभ्युपगमे स्यात् संवेदनात् तस्य सिद्धिः किंत्वनेकान्तवादोऽभ्युपगतः स्यात् । अपि च, अनेकत्वस्य बुद्धावप्यतात्त्विकत्वाभ्युपगमेऽन्तर्वहिरविद्यमानस्य तस्य वैशद्यावभासिता न स्यात्, अर्थनिराकृतये द्वैरूप्यसाधनं च बुद्धेर्निराकारत्वादसंगतमेव स्यात् ।

अथ पूर्वमर्थनिराकृतये तस्या द्वैरूप्यसाधनम् पश्चादेकस्यानेकत्वाऽयोगात् द्वैरूप्यस्यापि निराकरणाददोषः । असदेतत् , पूर्वमेव द्वैरूप्यप्रतिघातिन्यायोपनिपातसम्भवात् । अथैतद्दोषपरिजिहीर्षया वैचित्र्यं

का उच्छेद दोषापादक नहीं है'– तो यह ठीक नहीं है क्योंकि 'सामान्य' वस्तुभूत है यह तथ्य सिद्ध किया जा चुका है । वस्तुभूत सामान्य को यदि आप शब्दवाच्य नहीं मानते तो उस के संबन्ध में जितने प्रसिद्ध व्यवहार है वे सब असंगत रहेंगे । सामानाधिकरण्य का व्यवहार भी एक पारमार्थिक धर्मी में दो पारमार्थिक धर्मों का अंगीकार करने पर ही हो सकता है । आप के प्रतिविम्बवाद में तो बाह्यार्थ ही नहीं है तो यह सामानाधिकरण्य व्यवहार कैसे संगत होगा ? बाह्यार्थस्पर्शविनिर्मुक्त सिर्फ एक विकल्पप्रतिविम्ब को मानने के पक्ष में सामानाधिकरण्य सम्भव ही नहीं है । यदि ऐसा कहें कि– 'विकल्प एक धर्मी है और उन में तादात्म्यभाव से रहे हुए दो धर्म हैं, उन में सामानाधिकरण्य का व्यवहार किया जायेगा ।' – तो यह उचित नहीं है । कारण, धर्मद्वय यानी आकारद्वय से तादात्म्य रखने वाले एक विकल्प का अंगीकार एकान्तवादी नहीं कर सकता, क्योंकि तब अनेकाकार संवलित एक विकल्प मान लेने के कारण अनेकान्तवाद का स्वागत करना पडेगा ।

★ अनेकत्व को अतात्त्विक मानने में दूषणश्रेणि ★

एक धर्मी में तादात्म्यभाव से दो धर्म मानने पर अनेकान्तवाद के स्वागत की आपत्ति को टालने के लिये यदि ऐसा कहा जाय– 'अनेकत्व को हम अतात्त्विक मानते हैं इसलिये अनेकान्तवादप्रवेश नहीं होगा'– तो ऐसा मानने पर और भी यह दोष होगा, ज्ञान में जब वास्तव अनेकत्व नहीं होगा तो अपने संवेदन में उसका भान नहीं होने से सामानाधिकरण्यव्यवहार नहीं घटेगा । यदि उसको घटाने के लिये संवेदन में उस (=अनेकत्व) के भान का स्वीकार करेंगे तो असत्अनेकत्वग्राही हो जाने से उस संवेदन को प्रमाणभूत प्रत्यक्ष नहीं मान सकेंगे । कारण, अनेकत्व जो वास्तव में वहाँ नहीं है उसके आकार को ग्रहण करने वाले संवेदनप्रत्यक्ष में सद्भूत एकत्व और असद्भूत अनेकत्व इन दो धर्मों का ज्ञान के साथ तादात्म्यभाव विरोधग्रस्त हो जायेगा । दूसरी बात यह है कि आप तो बाह्य नील-पीत के अभाव में भी नीलाकार – पीताकार ऐसे साकार ज्ञान का जब स्वीकार करते हैं तब ज्ञान के वेदन में ज्ञान का आत्मभूत जो आकार है उसी का भान माना जा सकता है, एकत्व-अनेकत्वरूप वैचित्र्य जो कि ज्ञान का आत्मभूत ही नहीं है ऐसे तदाकारशून्य (वैचित्र्याकार शून्य) ज्ञान का वेदन कैसे वैचित्र्य को ग्रहण कर सकता है ?! ज्ञान में विवक्षित आकार के न होने पर भी यदि ज्ञानसंवेदन उस को ग्रहण करेगा तो उसकी ग्रहणसत्ता सर्वत्र अमर्याद हो जाने से समस्त आकारों का एक ही संवेदन प्रसक्त होगा । यदि इस से बचने के लिये साकारज्ञान-वाद त्याग कर निराकारज्ञान-वाद का आशरा लेगें तो अनायास बाह्यार्थ सिद्ध हो जाने से विज्ञानवाद की निवृत्ति लेनी पडेगी ।

यदि ऐसा कहें कि – 'हमारे साकारज्ञानवाद में तो अर्थ के विना ही आकार माना जाता है इसलिये

बुद्धिमाक्षिप्यतीत्यभ्युपगम्यते । ननु बहिर्भूतेनार्थेन वैचित्र्यस्य कोऽपराधः कृतो यत् तन्नास्कन्दतीति । अर्थैकत्वनानात्वयोर्विरोध एवापराधः । नन्वयं विज्ञानेऽपि समानः । न च बुद्धेर्नीलादिप्रतिभासानामेकयोगक्षेमत्वात् तदेकत्वम्, एकयोगक्षेमत्वेन स्वभावभेदाऽनिराकरणात् सहभाविनां चित्तचैत्तानां नानात्वेऽप्येकयोगक्षेमत्वस्य भावात् । अथ चित्तादावभिन्नयोगक्षेमस्य नियमवतोऽभावः असहभाविनां तेषामभिन्नयोगक्षेमत्वस्याऽभावात् । न, नीलादिप्रतिभासेष्वपि नानाश्रयेषु तस्याभावात् । –'अभिन्नाश्रयेष्वभिन्नयोगक्षेमनियमसद्भावो नीलादिप्रतिभासेषु' इति चेत् ? न, सहभाविचित्त-चैत्तेष्वप्यस्य समानत्वात्, सहभाविनां तेषां तथैवानुभवात् । सर्वथैकत्वं च नीलादिप्रतिभासानामध्यक्षविरुद्धम् प्रतिभासभेदाद् भेदसिद्धेः ।

ज्ञान का संवेदन ज्ञान में अनेकत्व के न होते हुये भी अनेकाकारग्राही होता है'– तो यहाँ फिर से प्रश्न है कि वह संवेदन स्वयं एक होते हुए अनेकाकार कैसे हो सकेगा ? जब उसमें भी अनेकत्व को अतात्त्विक बतायेंगे तो फिर से पूर्वोक्त दोषपरम्परा की अनवस्था चलेगी । हाँ यदि आप ज्ञान में पारमार्थिक अनेकाकारता मान लेंगे तो संवेदन से उस एक ज्ञान में भी अनेकत्व स्थापित कर सकते हैं, लेकिन तब अनेकान्तवाद का स्वागत करना पड़ेगा ।

दूसरा दोष यह है कि बुद्धिगत अनेकत्व यदि अतात्त्विक है तो इसका मतलब यह हुआ कि अनेकत्व बाह्य रूप से तो असत् है लेकिन आन्तररूप से भी असत् है । असत् पदार्थ का कभी विशद भान नहीं होता जब कि अनेकत्व का विशद भान होता है, यदि वह असत् है तो उसका विशद भान कैसे होगा ? सच बात यह है कि बुद्धि स्वतः निराकार होती है, अर्थ के आलम्बन से उस में साकारता होती है, किन्तु आप अर्थ का अपलाप करने के लिये बुद्धि में द्विरूपता = धर्मद्वय को मानने पर तुले हो वह उसकी निराकारता के कारण सम्भव नहीं है ।

★ बाह्यार्थ में एकानेकरूपता अविरुद्ध ★

विज्ञानवादी : एक बुद्धि में हम जो द्विरूपता का साधन करते हैं वह सिर्फ बाह्यार्थ का अभाव सिद्ध करने के लिये है, बाह्यार्थ के असिद्ध हो जाने के बाद तो एक में अनेकत्व का विरोध दिखा कर द्विरूपता का भी हम निराकरण कर देंगे ।

स्याद्वादी : यह तरीका गलत है क्योंकि बाह्यार्थ का निराकरण करने के लिये जब आप द्विरूपता का साथ छोड़ायेंगे उसी वक्त एक में अनेकत्व का विरोध उपस्थित हो कर द्विरूपता को परास्त कर देगा, तब बाह्यार्थ का अभाव कैसे सिद्ध होगा ? यदि इस दोष का परिहार करने के लिये विरोध को छोड़ कर बुद्धि में अबाधित वैचित्र्य (= अनेकत्व) का स्वीकार कर लेंगे तब बाह्यार्थ ने क्या अपराध किया है कि आप वहाँ [illegible] का [illegible] करके उस का निराकरण करने पर तुले हैं ? यदि कहें कि – [illegible] अनेकत्व का विरोध ही बाह्यार्थ का अपराध है – तो यह अपराध विज्ञान में भी [illegible] नहीं किया जा सकता ।

★ तुल्य योगक्षेम से एकत्वसिद्धि अशक्य ★

विज्ञानवादी : [illegible]

[illegible]

[illegible]

न च भ्रान्तोऽयं भेदप्रतिभासः अबाधितत्वात्। न चाऽभिन्नयोगक्षेमत्वादिति बाधकम्, अस्याऽसाध्या-ऽव्यतिरेकिणोऽयथोक्तलक्षणत्वात् प्रतीयमानयोश्चैकत्वाऽनेकत्वयोः को विरोधः ? न चेयं प्रतीतिर्मिथ्या बाधकाभावात् । न च विरोध एवास्या बाधकः, विरोधाऽसिद्धेरितरेतराश्रयत्वात् । तथाहि अस्याः प्रतीते-र्बाधायां विरोधः सिध्यति, तत्सिद्धौ चातस्तस्या बाधेति परिस्फुटमितरेतराश्रयत्वम् । न प्रतीतेरन्यदस्ति विरोधसाधकमित्यस्तु बहिरेव सामानाधिकरण्यव्यवहारः, तथैवास्योपलब्धेः ।

अथ विकल्पस्यायं विभ्रमः, बहिः सामानाधिकरण्यादेरयोगात् नानाफलयोर्नीलोत्पलादिशब्द-विकल्पयोरेकस्मिन्नर्थे वृत्तिविरोधात् । धर्म-धर्मिणोरेकान्तभेदाभेदयोर्गत्यन्तराभावात् तयोश्चाऽव्यतिरेकाभ्यु-पगमे शब्देन विकल्पेन चैकेन स्वलक्षणस्य विषयीकरणेऽशेषस्वभावाक्षेपादपरस्य शब्दादेस्तदेकवृत्तेस्तद्भि-

स्याद्वादी : यह कल्पना निर्दोष नहीं है, योग-क्षेम समान होने मात्र से स्वभावभेद का उच्छेद नहीं हो जाता, अतः अनेकत्व नहीं है ऐसा नहीं है । आप भी जानते हैं कि कुछ सहभाविचित्त और चैत्त (= शब्द – रूपादि) पदार्थ भिन्न भिन्न होने पर भी उन में समान योगक्षेम होते हैं, वे भी समानकाल में उत्पन्न होते है, नष्ट होते हैं । उस का मतलब यह नहीं होता कि चित्त और चैत्त एक होते हैं ।

विज्ञानवादी : चित्त और चैत्त में कभी कभी समान योगक्षेम अकस्मात् होने पर भी नियमतः नहीं होते, क्योंकि जो सहभावी नहीं होते उन में समान योग-क्षेम का विरह होता है ।

स्याद्वादी : अरे ऐसे तो ज्ञान और नीलादिप्रतिभासों में भी नियमतः समान योग-क्षेम नहीं होते, पृथक् पृथक् आश्रय में जो नीलप्रतिभास, पीतप्रतिभास उत्पन्न होते हैं, उन में ज्ञान के साथ समान योगक्षेम नहीं होता है ।

विज्ञानवादी : भिन्न भिन्न आश्रय में – ज्ञान में उत्पन्न नीलादिप्रतिभासों में समान योगक्षेम नियमतः न होने पर भी एकज्ञानोत्पन्न नीलादिप्रतिभासों में वह नियमतः होता है इस लिये एकत्व माना जा सकता है ।

स्याद्वादी : ऐसे तो जो सहभावि चित्त-चैत्त होते हैं उन में भी नियमतः समान योगक्षेम मौजूद रहता है किन्तु वहाँ एकत्व नहीं होता । इस लिये समान योगक्षेम एकत्वप्रयोजक नहीं हो सकता ।

दूसरी बात यह है कि नीलादिप्रतिभासों में सर्वथा एकत्व होने में प्रत्यक्ष विरोध है । प्रत्यक्ष से तो वहाँ प्रतिभासभेद दृष्टिगोचर होने से भेद ही सिद्ध होता है । इस भेदप्रतिभास को भ्रान्त नहीं बता सकते क्योंकि इस में कोई बाध नहीं है । 'अभिन्न योगक्षेमत्व ही यहाँ भेदबाधक है' ऐसा भी कहना दुष्कर है क्योंकि 'अभेद के अभाव में समानयोगक्षेम नियमतः नहीं होता' ऐसा नहीं है इसलिये साध्यशून्य विपक्ष से समानयोगक्षेमत्व का व्यतिरेक न होने से वह अभेदसाधक या भेदबाधक नहीं हो सकता ।

जहाँ एकत्व-अनेकत्व की समानाधिकरण स्फुटप्रतीति होती है वहाँ विरोध को पैर रखने के लिये स्थान ही कहाँ है ? इस प्रतीति को मिथ्या नहीं कह सकते, क्योंकि उस में कोई बाधक नहीं है । 'विरोध ही बाधक है' ऐसा कहना गलत है क्योंकि विरोध सिद्ध नहीं है अतः इतरेतराश्रय दोष को अवसर मिलता है – देखिये, यदि इस प्रतीति में कोई बाध सिद्ध हो तब एकत्व-अनेकत्व का विरोध सिद्ध होगा, जब यह विरोध सिद्ध होगा तब उस प्रतीति में बाध सिद्ध होगा, इस ढंग से स्पष्ट ही अन्योन्याश्रय दोष अवसरप्राप्त है । जब प्रतीति के अलावा कोई विरोधसाधक उपाय नहीं है तब प्रतीति के अनुसार अर्थ की व्यवस्था होनी चाहिये । प्रतीति एकत्व

नफलत्वाभावात् तद्भेदे (अभेदे?) सकृद् ग्रहणस्यावश्यं भावित्वात् तल्लक्षणत्वादभेदस्य, अन्यथा गृहीतागृहीतयोर्भेदप्रसक्तेः । धर्म-धर्मिणोर्भेदपक्षेऽपि घट-पटादिशब्दवदेकत्राऽवृत्तेर्भिन्नोपाधिद्वारेणैकत्रोपाधिमति शब्दविकल्पयोः प्रवृत्तिः यदि तयोरुपकार्योपकारकभावः स्यात्, तदभावे पारतन्त्र्याऽसिद्धेः तयोरुपाध्युपाधिमद्भावाभावात् तद्द्वारेणापि तयोस्तद्वति वृत्तिर्युक्ता । तयोरुपकार्योपकारकभावे उपाध्युपकारिका शक्तिरुपाधिमतो यद्यभिन्ना तदैकोपाधिद्वारेणाप्युपाधिमतः प्रतिपत्तौ सर्वोपाध्युपकारकस्वरूपस्यैव तस्य निश्चयादुपकार्यस्योपाधिकलापस्याप्यशेषस्य निश्चयप्रसक्तिः । उपकारकनिर्णीतिरुपकार्यनिश्चयनान्तरीयकत्वात् उपाधिमतो भेदे तच्छक्तेः सम्बन्धाभावः । ततस्तासामनुपकारात् उपकारे वा तदुपकारशक्तीनामप्युपाधिमतो भेदाऽभेदकल्पनायामनवस्था सर्वात्मना ग्रहणं च प्रसज्यते इति । –

और अनेकत्व का सामानाधिकरण्य बाह्यार्थ में उपलब्ध कराती है इसलिये बाह्यार्थ में ही सामानाधिकरण्य का व्यवहार मान लेना चाहिये, विकल्पप्रतिबिम्ब में नहीं ।

★ समानाधिकरण्यव्यवहार विभ्रमस्वरूप – पूर्वपक्ष ★

बौद्धवादी : यह जो सामानाधिकरण्य का व्यवहार है वह सब विकल्पकृत विभ्रम है । वास्तव में सामानाधिकरण्य ही संगत नहीं होता । कारण नील-उत्पल आदि शब्द या शब्दजन्य विकल्प से जो नील या उत्पल का बोध होता है वह सर्वथा भिन्न भिन्न होता है, इसलिये एकार्थवृत्तित्व रूप सामानाधिकरण्य हो ही नहीं सकता । धर्म-धर्मी के बीच या तो भेद हो अथवा अभेद, और तो तीसरा कोई विकल्प ही नहीं है । यदि उत्पल धर्मी और नीलधर्म का अभेद मानेंगे तो एक उत्पलादि शब्द से या उस के एक विकल्प से उत्पलादिस्वलक्षण अपने संपूर्ण स्वभाव के साथ विषय बन जायेगा । अब उस के एकार्थवृत्ति अन्य नीलादि शब्द से नया तो कुछ फल आने वाला नहीं है । वह नीलादि यदि उत्पल से अभिन्न है तब तो उत्पल के ग्रहण के साथ ही उस का भी ग्रहण अवश्यंभावि है क्योंकि अभेद होने का मतलब ही यह है कि एक साथ गृहीत हो जाना । यदि एक गृहीत होने पर दूसरा अगृहीत रहता है तो वहाँ भेद प्रसक्त होता है ।

यदि धर्म-धर्मी में भेद मानेंगे तो इस पक्ष में भी सामानाधिकरण्य नहीं घट सकता, क्योंकि घट-पट में भेद होता है तभी तो उन दोनों के वाचक घट-पट शब्दों में सामानाधिकरण्य का अभाव होता है । इसी तरह नील-उत्पल में भेद होने पर भी समझ लो । यदि कहें कि – 'भले नीलत्व-उत्पलत्व उपाधिभेद होने पर भी उपाधिमान् नील और उत्पल में भेद नहीं होता इस लिये भिन्न भिन्न उपाधि के बोध द्वारा दो शब्द या दो विकल्प की एकार्थ में वृत्ति (यानी सामानाधिकरण्य) हो सकेगी' – तो यह ठीक नहीं है, उपकार्य-उपकारक भाव होने पर ही उपाधि-उपाधिमत् भाव बन सकता है । उपाधि का सम्बन्ध है उपाधिमत् के साथ । [illegible] जैसा उपाधिमान् तब नीलादि उपाधि का उपकारी होगा तभी उपाधि उस की परतन्त्र रहेगी, किन्तु यहाँ उपाधिमत् का उपाधि पर कोई उपकार न होने से उपाधि-उपाधिमत् भाव ही सिद्ध नहीं है । इसलिये उपाधि के द्वारा भी नील उत्पल शब्दों का एकार्थवृत्तित्व घट नहीं सकता । यदि वहाँ उपाधिमत् और उपाधि का उपकार्य [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]

एतदप्ययुक्तम् – यतः स्यादभेदे सकृद् ग्रहणं यदि तल्लक्षणोऽभेदः स्यात् यावता नाभेदस्यैतल्लक्षणम् घटाद्याकारपरिणतेष्वनेकपरमाणुपु सकृद् ग्रहणस्य भावेनाऽतिव्यापकत्वात् । अव्यापकं चैतद् अभेदेऽपि सत्त्वाऽनित्यत्वयोरभावात्, भावे वा सत्त्वप्रतिपत्तौ क्षणक्षयस्यापि प्रतिपत्तेरनुमानवैफल्यप्रसक्तिः, यथाऽनुभवं निश्चयोत्पत्तेः सत्त्ववत् क्षणिकत्वस्यापि तदैव निश्चयात् । "अनादिभवाभ्यस्ताऽक्षणिकादिवासनाजनितमन्दबुद्धेः पूर्वोत्तरक्षणयोर्विवेकनिश्चयानुत्पत्तेरनुमानस्य साफल्यम्" इति चेत् ? न, घट-कपालक्षणयोरप्यविवेकनिश्चयप्रसक्तेः । अथात्र सदृशापरापरोत्पत्तेर्विप्रलम्भनिमित्तस्याभावान्न प्रसंगः तर्हि ह्रस्ववर्णद्वयोच्चारणे तत्प्रसक्तिः । तयोरानन्तर्याद् वर्णद्वयान्तराले सत्त्वोपलम्भभावात् तदप्रसंगे लघुवृत्ति-

क्योंकि प्रत्येक उपाधि के प्रति उपकारक शक्ति उपाधिमत् से अभिन्न होने का निश्चय पूर्वलब्ध है । यह भी इसलिये कि उपकारक का निर्णय उपकार्यरूप अपने सम्वन्धी के ज्ञान के विना नहीं होता जैसे दण्ड के विना 'दण्डी' ऐसा ज्ञान नहीं होता । अतः एक उपाधि के द्वारा भी जो उपाधिमत् उपकारक का ज्ञान होगा वह अपने से उपकार्य उपाधिसमुदाय को साथ लेकर ही होगा । यदि शक्ति उपाधिमत् से भिन्न मानेंगे तो उन दोनों के वीच सम्वन्ध की संगति न होने से उपाधि के ऊपर उपाधिमत् का उपकार भी संगत नहीं होगा । यदि उपकार कराना हो तो पहले शक्ति के साथ सम्वन्ध जोडना होगा, उस के लिये अन्य उपकारक शक्ति माननी पडेगी, फिर उपकारशक्ति के साथ भी उपकारक उपाधिमत् के भेदाभेद की चर्चा करनी पडेगी जिस का अन्त नहीं आयेगा । और किसी तरह उपकार की संगति बैठा ली जाय तो एक उपाधि के द्वारा सर्वात्मना यानी सर्व उपाधिसमुदाय के साथ उपाधिमत् का निश्चय हो जाने की विपदा निवृत्त नहीं होगी । सारांश किसी भी तरह सामानाधिकरण्य संगत नहीं है । विकल्प की तो यही तासीर है कि वस्तु के न होने पर भी ऐसा कुछ आभास खडा कर देता है ।

★ अभेद के विना भी एक साथ ग्रहण – उत्तरपक्ष ★

स्याद्वादी : धर्म-धर्मी के भेद–अभेद किसी भी एक विकल्प में सामानाधिकरण्य संगत न होने की अपोहवादी की बात में कुछ तथ्य नहीं है । कारण अभेदपक्ष में यदि अभेद की यह व्याख्या हो कि एक साथ ग्रहण होना तव तो यहाँ अभेद होने पर एक साथ ग्रहण की आपत्ति का भय दिखाना सार्थक होता किन्तु अभेद की यह व्याख्या ही ठीक नहीं है । वौद्ध तो घटादि को एक अवयवी न मान कर परमाणुपुञ्ज मानता है, वहाँ सकृद्ग्रहण यानी एक साथ 'यह घट है' ऐसा सभी परमाणुओं का ग्रहण होता है किन्तु अभेद नहीं होता, इस लिये अभेद की वह व्याख्या गलत है क्योंकि सकृद् ग्रहण अभेद न होने पर भी है अतः अतिव्याप्ति है । अव्याप्ति भी है, शब्दादि एक वस्तु सत् भी है अनित्य भी है, सत्त्व और अनित्यत्व में भेद नहीं अभेद है किन्तु सत्त्व के प्रत्यक्षकाल में सत्त्व के साथ अनित्यता का ग्रहण नहीं होता । यदि वैसा होता तव तो सत्त्व के साथ क्षणिकत्व का भी दर्शन हो जाने से, क्षणिकत्व को सिद्ध करने के लिये प्रयोजित अनुमान निरर्थक वन जायेगा । एवं दर्शन के अनुसार विकल्पनिश्चय उत्पन्न होता है, जैसे सत्त्वदर्शन के वाद सत्त्व का निश्चय अनुभवसिद्ध है वैसे अनित्यत्व दर्शन के वाद अनित्यत्व का निश्चय भी प्रसक्त होगा ।

क्षणिकवादी : मन्दवुद्धि लोगों को अनादिकाल से वस्तु अक्षणिक होने की वासना प्रवाहित रहती है, स्वलक्षण का सर्वात्मना अनुभव होता है उस में क्षणिकत्व भी अनुभूत रहता है किन्तु उक्त वासना के कारण,

विभ्रमनिमित्तं स्यात् – अन्यथा संयुक्तांगुल्योरप्यविवेकनिश्चयः स्यात् – देशनैरन्तर्यसादृश्ययोर्भावात् । सादृश्यनिमित्ता च न सर्वदा भ्रान्तिः स्यात् उपलभ्यते च सर्वदा । न चान्त्यक्षणदर्शिनां विवेकनिश्चयसम्भवादयमदोषः पूर्वमभावात् । सादृश्यनिमित्ता हि भ्रान्तिरवस्थित एव सादृश्ये निवर्त्तमाना उपलभ्यते अनिवृत्तौ वा नामाद्यर्थयोरपि न कदाचिद् भ्रान्तिनिवृत्तिः स्यात् सर्वदा तयोः सादृश्यात् ।

न चान्यापोहवादिनां भ्रान्तिनिमित्तं सादृश्यं वस्तुभूतमस्ति, सामान्यवादप्रसक्तेः । 'एकविज्ञानजनकत्व एव क्षणाः सादृश्यमुच्यन्ते' इति चेत् ? न, ततो विवेकाऽनिश्चये रूपाऽऽलोक-मनस्कारादीनामपि सादृश्यमेकविज्ञानजनकत्वेनास्तीत्येकत्वनिश्चयस्तेष्वपि स्यात् । न च तेषां तत्राऽप्रतिभासनान्नेति वक्तव्यम् यतः किमिति तेषां तत्राऽप्रतिभासनम् इति निमित्तमभिधानीयम् । 'असारूप्यं तन्निमित्तम्'

पूर्वोत्तरक्षणों में रहा हुआ भेद दृष्टिगोचर न होने से क्षणिकत्व के बारे में निश्चयविकल्प का जन्म नहीं होता । इस स्थिति में, क्षणिकत्व के लिये प्रयोजित अनुमान सार्थक रहता है ।

स्याद्वादी : यह बात ठीक नहीं, क्योंकि तब तो उन मंदबुद्धिजनों को घटनाश के उत्तरक्षण में जहाँ कपालक्षण उत्पन्न होता है वहाँ उक्त वासना के कारण घट-कपालक्षण में भेद का निश्चय नहीं होगा ।

क्षणिकवादी : जहाँ भेदबुद्धि नहीं होती वहाँ अत्यन्त समान उत्तरोत्तरक्षण की उत्पत्ति से विभ्रम यानी दृष्टिवंचनारूप निमित्त रहता है । कपालक्षण की उत्पत्ति के काल में वह निमित्त न होने से, भेदनिश्चय होने में कोई बाधा नहीं है ।

स्याद्वादी : अच्छा, जब एक ह्रस्व स्वर के उच्चारण के बाद तुरंत दूसरे ह्रस्व स्वर का उच्चारण किया जाता है वहाँ अत्यन्तसदृशक्षणोत्पत्ति रूप वंचनानिमित्त मौजूद होने से भेद का निश्चय नहीं हो पायेगा ।

क्षणिकवादी : वहाँ एक स्वर के उच्चारण के कुछ क्षण के बाद दूसरे स्वर का उच्चारण होता है, तुरंत नहीं होता, इस लिये दो तुल्य स्वर के श्रवण के बीच में अनुपलम्भ रहता है किन्तु किसी वर्ण के शब्द का उपलम्भ नहीं होता, फलतः दोनों का भेद निश्चय हो सकता है ।

स्याद्वादी : इस का मतलब यह हुआ कि तुल्यक्षण उत्पत्ति वंचनानिमित्त नहीं है किन्तु [illegible] कालनैरन्तर्य ही वंचनानिमित्त है । यदि इस को छोड़ कर और किसी को निमित्त मानेंगे तो संयुक्त अंगुलीयुगल में देशनैरन्तर्य और सादृश्य दोनों मौजूद रहने से वहाँ भी भेदनिश्चय नहीं हो सकेगा । दूसरी बात यह है कि [illegible] की भ्रान्ति को यदि सादृश्यमूलक मानेंगे तो वह कभी कभी हो सकती है, लेकिन यह भ्रान्ति तो सर्वदा होती है वह वास्तव में नहीं हो पायेगी, क्योंकि लोक में सादृश्यमूलक जो इतर भ्रान्ति होती है वह कभी कभी होती है सर्वदा नहीं होती इस से यह फलित होता है कि सादृश्यमूलक भ्रान्ति कदाचित् ही होती है, सर्वदा नहीं । क्षणिकवादी ऐसा कहें कि – ऐसे यह [illegible] की भ्रान्ति भी सर्वदा नहीं होती क्योंकि [illegible]

[illegible]

'अनुभवानन्तरभावी विकल्पोऽभ्यासः' इति चेत् ? ननु 'तदभावाद् विकल्पोत्पत्त्यभावे यथानुभवं कस्मान्निश्चयांनुत्पत्तिः इति प्रश्ने 'निश्चयाभावान्निश्चयानुत्पत्तिः' इत्युत्तरं कथं संगतं स्यात् ? अन्त्यक्षणदर्शिनां चानित्यविकल्पोत्पत्तेस्तदभावोऽसिद्धश्च । न च क्षणिकत्वप्रतिपादकागमाऽऽहितसंस्कारस्यानित्यविकल्पावृत्तिरभ्यासः, तदागमानुसारिणां तदुत्पत्तावपि यथानुभवं विकल्पाभावात् । दर्शनपाटवमपि सत्त्वादिविकल्पोत्पत्तेरेवावसीयते पाटवाऽपाटवलक्षणविरुद्धधर्मद्वयस्यैकत्राऽयोगात्, शब्दाऽनित्यत्वजिज्ञासायां प्रकरणादीनामपि भावात् । सर्वात्मना चेत् स्वलक्षणस्यानुभवस्तथैव निश्चयोत्पत्तिः स्यात् । तदनुत्पत्तेर्न सर्वात्मनाऽनुभवो भावस्येत्यवसीयते । अतो नानाफलत्वमभेदेऽप्युपाधि-तद्वतोः शब्दविकल्पयोरविरुद्धम् ।

हैं तो सत्त्व और क्षणिकत्व एक स्वरूप होने से जितनी वार सत्त्व के दर्शन की उत्पत्ति होती है उतनी वार क्षणिकत्वानुभव की भी उत्पत्ति होती ही है, अतः क्षणिकत्व के दर्शन की आवृत्ति भी सत्त्वदर्शनावृत्ति की तरह सिद्ध होती है, फिर कैसे कहते हो कि यहाँ दर्शनावृत्तिस्वरूप अभ्यासरूप सहकारी नहीं है ?

यदि बौद्धवादी कहें कि – अनुभव के वाद विकल्प का उद्भव होना यही अभ्यास है – तो जो प्रश्न है वही आपने उत्तर वना डाला, आपने कहा कि अभ्यास के न होने से विकल्प का उद्भव नहीं होता, तव हमने प्रश्न किया – जिस के अभाव में अनुभव के अनुरूप विकल्प उत्पन्न नहीं होता वह अभ्यास क्या है, तव आपने यही वताया कि अनुभव के वाद विकल्प की उत्पत्ति यही अभ्यास है, उस के न होने से अनुरूप विकल्प उत्पन्न नहीं होता – इस का फलितार्थ यही हुआ कि विकल्प की उत्पत्ति न होने से ही विकल्प की उत्पत्ति नहीं होती – यह क्या उचित जवाव है ? उपरांत आप जो कहते हैं कि 'अनित्यत्व का विकल्प उत्पन्न नहीं होता' यह भी ठीक नहीं है क्योंकि अन्त्यक्षण में पदार्थद्रष्टा को दर्शन के वाद अनित्यत्व का विकल्प उत्पन्न होता है इस लिये उस का अभाव असिद्ध है ।

यदि कहें कि – वस्तुमात्र के क्षणिकत्व के प्रतिपादक बौद्ध आगम से जिस को क्षणिकत्व के दृढ संस्कार हो गये हो उस को वार वार अनित्यत्व के विकल्प का उद्भव होना – इसी को अभ्यास कहते हैं – तो यह भी उचित नहीं है, क्योंकि बौद्ध आगम के अनुशीलन से जिस के क्षणिकत्व के संस्कार दृढ हुए हैं वैसे पुरुष को अभ्यास के होने पर भी अनुभव के अनुरूप विकल्प का उद्भव नहीं होता । यदि कहें कि – क्षणिकत्व का दर्शन इतना पटु (तीव्र) नहीं होने से उस के अनुरूप विकल्प का उद्भव नहीं होता – तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि सत्त्व के विकल्प का उद्भव होता है इसी से यह फलित होता है कि सत्त्वाभिन्न क्षणिकत्व का दर्शन पटु ही होता है । "सत्त्व के अंश में पटु होने पर भी क्षणिकत्व के अंश में वह अपटु होता है" ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि एक ही दर्शन में पटुता एवं अपटुता दो विरुद्ध धर्मों का समावेश शक्य नहीं है । यदि कहें कि – 'अनित्यत्व का प्रकरण प्रवहमान न होने से उस का विकल्प नहीं होता' – तो यह भी ठीक नहीं क्योंकि जव शब्द की चर्चा में 'उस का अनित्यत्व कैसे' यह जिज्ञासा रहती है तव अनित्यत्व प्रकरण के होते हुये भी अनुभव विकल्प की उत्पत्ति नहीं होती । इस का सार यही निकलता है कि स्वलक्षण का यदि समस्तरूप से अनुभव होता हो तो समस्त रूप से उस का विकल्प उद्भव होना चाहिये किन्तु वह नहीं होता, इस से सिद्ध होता है कि पदार्थ का समस्तरूप से (यानी क्षणिकत्वरूप से भी) अनुभव नहीं होता । तात्पर्य, नील आदि उपाधिपद और उत्पलादि उपाधिमत्पद एवं उन दोनों के विकल्पों में नील स्वरूप उपाधि

भेदपक्षेऽप्येकार्थवृत्तित्वमुपपन्नत एव, तद्द्वारेण शब्द-विकल्पयोरेकस्मिन् धर्मिणि वृत्तेः सामानाधिकरण्यादिव्यवहारसिद्धिः । न चोपाधि-तद्वतोरुपकार्योपकारकभावात् सर्वात्मनैकोपाधिद्वारेणाप्युपाधिमतः प्रतिपत्तेः शब्दादेरेकफलत्वम्, उपकार्योपकारकप्रतीत्योरन्योन्याविनाभावित्वाभावात् तद्भावे वा कस्यचित् सर्वस्यापि परस्परमुपकार्योपकारकभावाद् एकपदार्थप्रतिपत्तौ तदाधारादिभावेनोपकारकभूतस्य भूतलादेस्तत्कार्यभूतसन्तानान्तरवर्त्तिज्ञानस्य वा ग्रहणम्, ततोऽपि तदुपकारिणोः तस्मादप्यपरस्य तदुपकारिण इति पारम्पर्येण सकलपदार्थाक्षेपात् सर्वः सर्वदर्शी स्यात् ।

अथ सम्बन्धवादिनः स्यादयं दोषः – तस्य सम्बन्धिभ्यः सम्बन्धस्य व्यतिरेकेऽनवस्थाप्रसंगः इत्येकोपाधिद्वारेणाप्युपाधिमतः समस्तोपाधिसम्बन्धात्मकस्यैवावगमात् सम्बन्धिनो धर्मकलापस्याऽशेषस्यापि

और उत्पल स्वरूप उपाधिमत् ये दो अभिन्न होने पर भी किसी एक नीलादिपद से सर्वात्मना उत्पलादि भान शक्य न होने से भिन्न भिन्न अंश बोधकत्वरूप भिन्न भिन्न फल के प्रतिपादन में कोई विरोध नहीं है । एवं अभेद होने के कारण एकार्थवृत्तित्व की भी उपपत्ति सरलता से हो जायेगी ।

★ भेदपक्ष में भी एकार्थवृत्तित्व की उपपत्ति ★

धर्म-धर्मी के अभेदपक्ष में जैसे बताया कि शब्द – विकल्प एकार्थवृत्ति हो सकते हैं, भेद पक्ष में भी वे एकार्थ वृत्ति हो सकते हैं । उपाधि के द्वारा दो शब्द एवं दो विकल्प एक धर्मि में वृत्ति होने से सामानाधिकरण्य आदि का व्यवहार भी निर्बाध सिद्ध होगा ।

पहले जो कहा था कि – 'उपाधि-उपाधिमत् में उपकारकभाव मानेंगे तो, (उपाधि पर उपकार करने वाली उपाधिमत् में रही हुई शक्ति उपाधिमत् से अभिन्न होने के पक्ष में,) एक ही नीलादि पद से उपाधि के द्वारा उपाधिमत् का सर्वात्मना बोध हो जाने पर नील और उत्पल पद में भिन्न भिन्न अंश बोधकत्व रूप फलभेद न रहेगा किन्तु वे दोनों समानार्थक हो जायेंगे' – यह ठीक नहीं है क्योंकि उपकार्य-उपकारकभाव परस्पर सापेक्ष होने पर भी उन की प्रतीति एक दूसरे के बिना न हो सके ऐसा नहीं है, अतः एक उपाधि के द्वारा सर्वात्मना उपाधिमत् की प्रतीति प्रसक्त होने की सम्भावना ही नहीं रहती । यदि ऐसा भी मान ले कि – 'उन की प्रतीतियों में भी अन्योन्य सापेक्षता होती है' – तब तो समस्त जगत्समुदाय में भी सर्वदर्शी हो जाने की आपत्ति प्रसक्त होगी – देखिये, किसी न किसी रीति से हर कोई वस्तु अन्य समस्त वस्तुओं की उपकारक या उपकार्य होती है चाहे साक्षात् या परम्परा से, इस स्थिति में किसी एक घट आदि वस्तु की प्रतीति होने पर आधार के रूप में उस के उपकारी भूतल आदि की, अथवा तो सन्तान के नाते अपने उपकार्यभूत सन्तानान्तरवर्ती सर्वविज्ञान की प्रतीति हो जायेगी; इतना ही नहीं उस भूतलादि के उपकारक की और उस के भी उपकारक की – ऐसे परम्परा से समस्त पदार्थों की प्रतीति एक ही घट पदार्थ की प्रतीति के साथ प्रसक्त होगी, क्योंकि वे सकल पदार्थ घट के साथ साक्षात् या परम्परा से उपकार्य – उपकारकभावात्मक सम्बन्ध से जुड़े हुए हैं ।

★ सम्बन्ध [illegible] में दोषाभाव – पूर्वपक्ष ★

यहाँ सम्बन्धवादी के ऊपर [illegible]

इति चेत् ? न, मनस्कारस्य सारूप्यात्, तत्र प्रतिभासप्रसक्तेः । विलक्षणानां च कथं सारूप्यम् ? नैकविज्ञानजनकत्वाद्, रूपादावपि तत्प्रसंगात् । अथेष्यते एव तत् तेषाम् । न, रूपविज्ञानजनकत्वेन यत् तेषां सारूप्यम् तदस्तु तस्याऽस्माभिरपि सदादिप्रत्ययहेतुत्वेन सदादित्वस्येवेष्टत्वात् । किं तर्हि ? रूपात्मना रूपादीनां रूपप्रत्ययहेतुत्वात् शाबलेयादीनामिव गोत्वात्मना सारूप्यं गोप्रत्ययहेतुनां किं न स्याद् इति प्रेर्यते पारम्पर्येणैकपरामर्शप्रत्ययहेतुत्वस्यापि तेषु भावात् । 'तद्धेतुत्वेऽपि न तेनात्मना सारूप्यं

का सादृश्य तो उन दोनों में सदा रहने वाला है ।

☆ बौद्धमत में सादृश्य की अनुपपत्ति ☆

यह भी ध्यान में रखने जैसा है कि बौद्ध जिस सादृश्य को भ्रम का मूल कहता है वैसे सादृश्य को उस के मत में वस्तुभूत ही नहीं माना जाता, तो कैसे वह उस को भ्रम का मूल बता सकता है ? यदि वह सादृश्य को वास्तविक मान लेगा तो जिस सामान्य का वह आज तक विरोध कर रहा है वह उस के गले में आ पडेगा ।

बौद्ध : हम सामान्यात्मक सादृश्य को नहीं मानते हैं किन्तु एक विज्ञान के उत्पादन क्षणों को ही हम सादृश्य मानते हैं ।

जैन : यह मानना गलत है क्योंकि एक विज्ञान जनकत्व रूप सादृश्य के कारण यदि वहाँ भेदनिश्चय नहीं हो पाता तो रूप-आलोक और मन इत्यादि में भी भेदनिश्चय न होने से एकत्व का निश्चय सावकाश बन जायेगा, क्योंकि उन में एक विज्ञान जनकत्वरूप सादृश्य मौजूद है ।

बौद्ध : मन आदि का ज्ञान में प्रतिभास नहीं होता अतः उन में एकत्व का निश्चय नहीं हो पायेगा ।

जैन : [हाँला कि यहाँ रूप और आलोक दोनों एक ज्ञान में भासित होते हैं इस लिये उन दोनों में एकत्व का निश्चय होने की आपत्ति है, फिर भी उस की उपेक्षा कर के व्याख्याकार और एक तथ्य पर ध्यान खिंचना चाहते हैं -] जब रूपादि की तरह मन आदि भी विज्ञान के जनक हैं तो उन का प्रतिभास ज्ञान में क्यों नहीं होता ? निमित्त की खोज करना होगा ।

बौद्ध : असारूप्य ही प्रतिभास के अभाव का निमित्त है ।

जैन : मनस्कार में तो सारूप्य है इस लिये उस के प्रतिभास की आपत्ति तो नहीं टलेगी ।

☆ विलक्षण पदार्थों में सारूप्य कैसे ? ☆

उपरांत, यह भी समस्या है कि बौद्धमत में वस्तुमात्र एक-दूसरे से विलक्षण ही होती है तो उन में सारूप्य कैसे हो सकता है ? यदि एक-विज्ञानजनकत्व को सारूप्य मानेंगे तो रूप-आलोकादि में सारूप्य की प्रसक्ति होने से प्रतिभास की आपत्ति रहेगी । यदि कहें कि – रूप आलोकादि में एकविज्ञानजनकत्वरूप सारूप्य इष्ट ही है – तो यह कथन युक्त नहीं है, क्योंकि 'सत्' आदि प्रतीति के हेतु होने से सत्त्व आदि स्वरूप सारूप्य की तरह रूप आदि में विज्ञानहेतुत्व स्वरूप सारूप्य तो हम भी मानते हैं किन्तु ऐसे सारूप्य का हम आपादन करना नहीं चाहते, हम तो यह आपादन करते हैं कि रूप आदि विलक्षण पदार्थों में जैसे रूपप्रत्ययहेतुत्वरूप सारूप्य मान्य है वैसे ही 'गो' प्रतीति के हेतुभूत शाबलेयादि गोपिंडो में गोत्वस्वरूप सामान्य क्यों नहीं मान्य करते ? परम्परया वहाँ गोत्व में भी एकपरामर्शहेतुत्व तो विद्यमान है ।

तेषामतद्विषयत्वाद्' इति चेत् ? ननु तदेव तदविषयत्वं कुतस्तेषाम् ? न 'सारूप्याद्' इति वक्तव्यम् चक्रकप्रसक्तेः । अथ सत्यपि सारूप्ये रूपादीनां सहो(?हो)पलम्भाभावान्न भ्रान्तिः । ननु सहो(?हो)पलम्भः किं देशनैरन्तर्येणाभिधीयते, आहोस्वित् कालनैरन्तर्येण् यद्वा उभयनैरन्तर्यमिति विकल्पाः ।

तत्र न तावद् देशनैरन्तर्यं यथोक्तभ्रान्तिनिमित्तम्, संयुक्ताङ्गुल्योस्तत्सद्भावेऽपि भ्रान्तेरभावात् । कालनैरन्तर्यं च लघुवृत्तिरेव, न चासौ भ्रान्तिनिमित्तं ह्रस्ववर्णद्वयोच्चारणे तत्सद्भावेऽप्यभावात् । नाप्युभयं तन्निमित्तम् संयुक्ताङ्गुल्योः पूर्वापरक्षणयोरपि सद्भावेनोभयसद्भावेऽपि अभावादित्यान्तरेतरभ्रान्तिकारणाभावात् किं न यथानुभवं विकल्पोत्पत्तिः ? 'सहकारिणोऽभ्यासादेरभावान्नोत्पत्तिः' इति चेत् ? ननु कोऽयमभ्यासः यदभावाद् यथानुभवं निश्चयानुत्पत्तिः ? 'दर्शनस्य पुनः पुनरुत्पत्तिः' इति चेत् ? ननु सत्त्वादेः क्षणिकत्वादेरभेदे तदनुभवस्य पुनः पुनरनु(?रु)त्पत्तिरेव क्षणिकत्वदर्शनावृत्तिरिति कथं न दर्शनावृत्तिलक्षणोऽभ्यासः ?

बौद्ध : गोत्वरूप से शबलेयादि एकपरामर्शहेतु होने पर भी वह रूप उस का विषय नहीं है इस लिये उस रूप से उन में सारूप्य मान्य नहीं हो सकता ।

जैन : अरे ! यहाँ भी वही प्रश्न है कि वह क्यों उस का विषय नहीं है ? 'सारूप्य नहीं होने से' ऐसा कहेंगे तो वही चक्कर घुमता रहेगा, प्रतिभास क्यों नहीं है – सारूप्य न होने से, सारूप्य क्यों नहीं है – तद्विषयत्व न होने से, तद्विषयत्व क्यों नहीं है – सारूप्य न होने से..इस चक्रभ्रमण से कुछ फायदा नहीं है ।

बौद्ध : रूपादि में सारूप्य होने पर भी रूप-आलोक आदि को सहोपलम्भ नहीं होता इस लिये वहाँ एकत्व की भ्रान्ति नहीं होती ।

जैन : 'सहोपलम्भ नहीं होता' इस का क्या मतलब ? देशनैरन्तर्य, कालनैरन्तर्य या उभयनैरन्तर्य ?

★ देशादिनैरन्तर्य भ्रान्ति का मूल नहीं ★

यदि पहले विकल्प के अनुसार देशनैरन्तर्य को भ्रान्ति का निमित्त कहा जाय तो वह उचित नहीं है क्योंकि संयुक्त दो अंगुली में दैशिक अन्तर नहीं होता फिर भी वहाँ एकत्व का विभ्रम नहीं होता । दूसरे विकल्प में, कालनैरन्तर्य का मतलब यह होता है – कालिक व्यवधान न होना, यानी शीघ्र उत्पत्ति होना; यह भी भ्रान्ति का निमित्त नहीं होता क्योंकि एक ह्रस्व वर्ण के उच्चारण के बाद तुरन्त ही व्यवधान के विना शीघ्र दूसरे ह्रस्व वर्ण का उच्चार होता है, वहाँ एकत्व का विभ्रम नहीं होता । उभय यानी दैशिक-कालिक दोनों के नैरन्तर्य को भी भ्रान्ति का निमित्त नहीं कह सकते क्योंकि पूर्वक्षण और उत्तरक्षण दोनों क्षण में जब संयुक्त दो अंगुली को देखते हैं तब उभयनैरन्तर्य रहने पर भी एकत्व का विभ्रम नहीं होता । इस प्रकार जब एकत्व के विभ्रम का कोई बाह्य अन्तर निमित्त है नहीं, तब तो क्षणत्व के समान यदि क्षणिकत्व का अनुभव होता है तो पूर्व विकल्प में भी अनुभव की तरह क्षणिकत्व का भान क्यों नहीं होता ?

यदि कहें कि – (बार बार क्षणिकत्व के अनुभव स्वरूप) अभ्यास आदि सहकारी के न होने से क्षणिकत्व के निश्चय का उद्भव नहीं होता – तो यहाँ प्रश्न है कि जिस के न होने से अनुभव के अनुसार निश्चय का उद्भव नहीं होता है वह अभ्यास क्या चीज है ? बार बार दर्शन की उत्पत्ति को यदि [illegible]

'अनुभवानन्तरभावी विकल्पोऽभ्यासः' इति चेत् ? ननु 'तदभावाद् विकल्पोत्पत्त्यभावे यथानुभवं कस्मान्निश्चयानुत्पत्तिः इति प्रश्ने 'निश्चयाभावान्निश्चयानुत्पत्तिः' इत्युत्तरं कथं संगतं स्यात् ? अन्त्यक्षणदर्शिनां चानित्यविकल्पोत्पत्तेस्तदभावोऽसिद्धश्च । न च क्षणिकत्वप्रतिपादकागमाऽऽहितसंस्कारस्यानित्यविकल्पावृत्तिरभ्यासः, तदागमानुसारिणां तदुत्पत्तावपि यथानुभवं विकल्पाभावात् । दर्शनपाटवमपि सत्त्वादिविकल्पोत्पत्तेरेवावसीयते पाटवाऽपाटवलक्षणविरुद्धधर्मद्वयस्यैकत्राऽयोगात्, शब्दाऽनित्यत्वजिज्ञासायां प्रकरणादीनामपि भावात् । सर्वात्मना चेत् स्वलक्षणस्यानुभवस्तथैव निश्चयोत्पत्तिः स्यात् । तदनुत्पत्तेर्न सर्वात्मनाऽनुभवो भावस्येत्यवसीयते । अतो नानाफलत्वमभेदेऽप्युपाधि-तद्वतोः शब्दविकल्पयोरविरुद्धम् ।

हैं तो सत्त्व और क्षणिकत्व एक स्वरूप होने से जितनी वार सत्त्व के दर्शन की उत्पत्ति होती है उतनी वार क्षणिकत्वानुभव की भी उत्पत्ति होती ही है, अतः क्षणिकत्व के दर्शन की आवृत्ति भी सत्त्वदर्शनावृत्ति की तरह सिद्ध होती है, फिर कैसे कहते हो कि यहाँ दर्शनावृत्तिस्वरूप अभ्यासरूप सहकारी नहीं है ?

यदि बौद्धवादी कहें कि – अनुभव के बाद विकल्प का उद्भव होना यही अभ्यास है – तो जो प्रश्न है वही आपने उत्तर बना डाला, आपने कहा कि अभ्यास के न होने से विकल्प का उद्भव नहीं होता, तब हमने प्रश्न किया – जिस के अभाव में अनुभव के अनुरूप विकल्प उत्पन्न नहीं होता वह अभ्यास क्या है, तब आपने यही बताया कि अनुभव के बाद विकल्प की उत्पत्ति यही अभ्यास है, उस के न होने से अनुरूप विकल्प उत्पन्न नहीं होता – इस का फलितार्थ यही हुआ कि विकल्प की उत्पत्ति न होने से ही विकल्प की उत्पत्ति नहीं होती – यह क्या उचित जवाब है ? उपरांत आप जो कहते हैं कि 'अनित्यत्व का विकल्प उत्पन्न नहीं होता' यह भी ठीक नहीं है क्योंकि अन्त्यक्षण में पदार्थद्रष्टा को दर्शन के बाद अनित्यत्व का विकल्प उत्पन्न होता है इस लिये उस का अभाव असिद्ध है ।

यदि कहें कि – वस्तुमात्र के क्षणिकत्व के प्रतिपादक बौद्ध आगम से जिस को क्षणिकत्व के दृढ संस्कार हो गये हो उस को बार बार अनित्यत्व के विकल्प का उद्भव होना – इसी को अभ्यास कहते हैं – तो यह भी उचित नहीं है, क्योंकि बौद्ध आगम के अनुशीलन से जिस के क्षणिकत्व के संस्कार दृढ हुए हैं वैसे पुरुष को अभ्यास के होने पर भी अनुभव के अनुरूप विकल्प का उद्भव नहीं होता । यदि कहें कि – क्षणिकत्व का दर्शन इतना पटु (तीव्र) नहीं होने से उस के अनुरूप विकल्प का उद्भव नहीं होता – तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि सत्त्व के विकल्प का उद्भव होता है इसी से यह फलित होता है कि सत्त्वाभिन्न क्षणिकत्व का दर्शन पटु ही होता है । ''सत्त्व के अंश में पटु होने पर भी क्षणिकत्व के अंश में वह अपटु होता है'' ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि एक ही दर्शन में पटुता एवं अपटुता दो विरुद्ध धर्मों का समावेश शक्य नहीं है । यदि कहें कि – 'अनित्यत्व का प्रकरण प्रवहमान न होने से उस का विकल्प नहीं होता' – तो यह भी ठीक नहीं क्योंकि जब शब्द की चर्चा में 'उस का अनित्यत्व कैसे' यह जिज्ञासा रहती है तब अनित्यत्व प्रकरण के होते हुये भी अनुभव विकल्प की उत्पत्ति नहीं होती । इस का सार यही निकलता है कि स्वलक्षण का यदि समस्तरूप से अनुभव होता हो तो समस्त रूप से उस का विकल्प उद्भव होना चाहिये किन्तु वह नहीं होता, इस से सिद्ध होता है कि पदार्थ का समस्तरूप से (यानी क्षणिकत्वरूप से भी) अनुभव नहीं होता । तात्पर्य, नील आदि उपाधिपद और उत्पलादि उपाधिमत्पद एवं उन दोनों के विकल्पों में नील स्वरूप उपाधि

भेदपक्षेऽप्येकार्थवृत्तित्वमुपपद्यत एव, तद्द्वारेण शब्द-विकल्पयोरेकस्मिन् धर्मिणि वृत्तेः सामानाधिकरण्यादिव्यवहारसिद्धिः । न चोपाधि-तद्वतोरुपकार्योपकारकभावात् सर्वात्मनैकोपाधिद्वारेणाप्युपाधिमतः प्रतिपत्तेः शब्दान्तरवैफल्यम्, उपकार्योपकारकप्रतीत्योरन्योन्याविनाभावित्वाभावात् तद्भावे वा कथंचित् सर्वस्यापि परस्परमुपकार्योपकारकभावाद् एकपदार्थप्रतिपत्तौ तदाधारादिभावेनोपकारकभूतस्य भूतलादेस्तत्कार्यभूतसन्तानान्तरवर्त्तिज्ञानस्य वा ग्रहणम्, ततोऽपि तदुपकारिणोः तस्मादप्यपरस्य तदुपकारिण इति पारम्पर्येण सकलपदार्थाक्षेपात् सर्वः सर्वदर्शी स्यात् ।

अथ सम्बन्धवादिनः स्यादयं दोषः – तस्य सम्बन्धिभ्यः सम्बन्धस्य व्यतिरेकेऽनवस्थाप्रसंगः इत्येकोपाधिद्वारेणाप्युपाधिमतः समस्तोपाधिसम्बन्धात्मकस्यैवावगमात् सम्बन्धिनो धर्मकलापस्याऽशेषस्यापि

और उत्पल स्वरूप उपाधिमत् ये दो अभिन्न होने पर भी किसी एक नीलादिपद से सर्वात्मना उत्पलादि भान शक्य न होने से भिन्न भिन्न अंश बोधकत्वरूप भिन्न भिन्न फल के प्रतिपादन में कोई विरोध नहीं है । एवं अभेद होने के कारण एकार्थवृत्तित्व की भी उपपत्ति सरलता से हो जायेगी ।

★ भेदपक्ष में भी एकार्थवृत्तित्व की उपपत्ति ★

धर्म-धर्मी के अभेदपक्ष में जैसे बताया कि शब्द – विकल्प एकार्थवृत्ति हो सकते हैं, भेद पक्ष में भी वे एकार्थ वृत्ति हो सकते हैं । उपाधि के द्वारा दो शब्द एवं दो विकल्प एक धर्मि में वृत्ति होने से सामानाधिकरण्य आदि का व्यवहार भी निर्बाध सिद्ध होगा ।

पहले जो कहा था कि – 'उपाधि-उपाधिमत् में उपकारकभाव मानेंगे तो, (उपाधि पर उपकार करने वाली उपाधिमत् में रही हुई शक्ति उपाधिमत् से अभिन्न होने के पक्ष में,) एक ही नीलादि पद से उपाधि के द्वारा उपाधिमत् का सर्वात्मना बोध हो जाने पर नील और उत्पल पद में भिन्न भिन्न अंश बोधकत्व रूप फलवैशिष्ट्य न रहेगा किन्तु वे दोनों समानार्थक हो जायेंगे' – यह ठीक नहीं है क्योंकि उपकार्य-उपकारकभाव सम्बन्ध मानने पर भी उन की प्रतीति एक दूसरे के बिना न हो सके ऐसा नहीं है, अतः एक उपाधि के द्वारा सर्वात्मना उपाधिमत् की प्रतीति प्रसक्त होने की सम्भावना ही नहीं रहती । यदि ऐसा भी मान ले कि –'उन की प्रतीतियों में भी अन्योन्य सापेक्षता होती है' – तब तो समस्त जनसमुदाय में भी सर्वदर्शी हो जाने की आपत्ति प्रसक्त होगी – देखिये, किसी न किसी रीति से हर कोई वस्तु अन्य समस्त वस्तुओं की उपकारक या उपकार्य होती है चाहे साक्षात् या परम्परा से, इस स्थिति में किसी एक घट आदि वस्तु की प्रतीति होने पर आधार के रूप में उस के उपकारी भूतल आदि की, अथवा तो स्वजनन के नाते अपने उपकारीभूत सन्तानान्तरवर्त्ती [illegible] ज्ञान की प्रतीति हो जायेगी; इतना ही नहीं उन भूतलादि के उपकारक की और उस के भी उपकारक की – ऐसे परम्परा से सकल पदार्थों की प्रतीति एक ही घट पदार्थ की प्रतीति के साथ प्रसक्त होगी क्योंकि वे सकल पदार्थ घट के साथ साक्षात् या परम्परा से उपकार्य – उपकारकभावात्मक सम्बन्ध से जुड़े हुए हैं ।

★ सम्बन्धवादिमत में दोषागम – पूर्वपक्ष ★

यहाँ सम्बन्धवादी के प्रति [illegible] कहते हैं कि [illegible] है । सम्बन्ध को यदि सम्बन्धी से पृथक् मानना चाहिये, [illegible]

ग्रहणप्रसक्तिः, सम्बन्धिग्रहणमन्तरेण सम्बन्धप्रतिपत्तेरभावात् अंगुलीद्वयप्रतिपत्तौ तत्संयोगप्रतिपत्तिवत् । सम्बन्धिष्वेकसम्बन्धानभ्युपगमवादिनामस्माकं नायं दोषः, नहि प्राग्भावोत्तरभावावन्तरेणापरः कार्य-कारणभावादिरेकः सम्बन्धोऽस्माभिरभ्युपगम्यते येन समस्तावगमात् सर्वः सर्वदर्शी स्यात् ।

असदेतत् यतो न सम्बन्धवादिनः समस्तोपाधिसम्बन्धानामुपाधिमतोऽव्यतिरेकेऽपि तदेकोपाधिसम्बन्धात्मकस्यैव तस्य ज्ञानात् सम्बन्धिनोऽशेषस्योपाधेरपि ग्रहणम् । सम्बन्धाभाववादिनोऽपि यद्युपकारकप्रतिपत्तावपि नोपकार्यस्यावगतिरेकसम्बन्धाभावात् तदा कथं हेतुधर्मानुभावेन रूपादे रसतो गतिः उपकार्यविशिष्टस्योपकारकस्याऽप्रतिपत्तेः ? प्रतिपत्तौ कथं न भवन्मतेन सर्वः सर्वविद् भवेत् ?

न चोपाधि-तद्वत्प्रतीत्योरितरेतराश्रयत्वात् तत्प्रतीत्यभावादुपाधितद्वद्भावाभावः, युगपद् अध्यक्षे

फलतः सम्बन्ध को सम्बन्धी से अव्यतिरिक्त ही मानना होगा । इस स्थिति में एक उपाधि के द्वारा अन्य समस्त उपाधिसम्बन्ध से अव्यतिरिक्त ही उपाधिमत् का ग्रहण शक्य होगा, फलतः एक सम्बन्धी के ग्रहण से समस्त धर्मों के ग्रहण की आपत्ति विना आमन्त्रण आयेगी । यह भी इस लिये कि धर्मी जैसे सम्बन्धी है वैसे उन के धर्म भी सम्बन्धी है और सम्बन्धीयों के ग्रहण के विना सम्बन्धग्रहण शक्य नहीं होता । उदा० जव दो अंगुलियों का सम्बन्धी रूप में ग्रहण होता है तव उन दोनों के संयोगसम्बन्ध का ग्रहण होता है ।

हम तो सम्बन्धियों के मध्य किसी एक सम्बन्ध का स्वीकार नहीं करते हैं इस लिये ऐसा दोष निरवकाश है । हमारे मत में जो कारण–कार्य भाव आदि रूप सम्बन्ध कहा जाता है, वह भी पूर्वकालीन एवं उत्तरकालीन दो पदार्थ ही हैं, उन से अतिरिक्त उन दोनों के मध्य किसी एक नये सम्बन्ध का स्वीकार हम नहीं करते हैं इस लिये एक सम्बन्ध के ग्रहण के लिये समस्त सम्बन्धीयों के ग्रहण की आवश्यकता न होने से सर्वदर्शिता की आपत्ति को भी अवकाश नहीं है ।

★ सम्बन्धाभावपक्ष में दोषसद्भाव – उत्तरपक्ष ★

सम्बन्धवाद के विरुद्ध बौद्धों का यह कथन गलत है । कारण, सम्बन्धवादी के मत में समस्त उपाधियों का सम्बन्ध यद्यपि उपाधिमत् (= उपधेय) से अव्यतिरिक्त ही होता है, फिर भी किसी एक ज्ञान में किसी एक उपाधि के सम्बन्ध के संवन्धीरूप में ही उपधेय का ज्ञान होता है, समस्त उपाधियों के सम्बन्धीरूप में उस वक्त उपधेय का ज्ञान नहीं होता अतः अपरसम्बन्धीरूप में समस्त उपाधियों का ज्ञान होने की आपत्ति निरवकाश है, एवं सर्वदर्शिता की आपत्ति भी दूरापास्त है । सम्बन्धाभाववादी यदि ऐसा कहता है कि – उपकारक का वोध होने पर भी उपकार्य के साथ एक सम्बन्ध के न होने से समस्त उपकार्य (उपाधि) के वोध की आपत्ति नहीं होती – यह कथन ठीक नहीं है क्योंकि हेतुभूत धर्म से जो अनुमान होता है वहाँ रस के ज्ञान से रूप का वोध कैसे हो सकेगा जव कि रसवान् आत्मक उपकारक के वोध में उपकार्य रूप से विशिष्ट उपकारक वोध तो आप सम्बन्धाभावपक्ष में मानते नहीं है । यदि उपकार्य विशिष्ट उपकारक का वोध मानेंगे तो आप के मत में भी समस्त उपकार्य से विशिष्ट उपकारक के वोध के आपादन से सव ज्ञाता सर्वज्ञ वन जाने की आपत्ति क्यों नहीं होगी ?

यदि ऐसा कहें कि – 'उपाधि और उपधेय की प्रतीतियों में उपाधि के रूप में धर्म का वोध होने के लिये उपधेय के रूप में धर्मी का वोध अपेक्षित है और उपधेय के रूप में धर्मी का वोध करने के लिये उपाधि

तयोः प्रतिभासनात् । क्रमप्रतिभासेऽपि न तत्प्रतिपत्त्योरितरेतराश्रयत्वम्, वृक्षत्वविशिष्टस्य दूरादध्यक्षेण प्रतीतस्य प्रत्यासन्नादाम्रादिविशेषणविशिष्टस्य तस्यैवावसायात् । शाब्दप्रतिभासेऽपि गोशब्दाद् गोत्वमात्रोपाधेरवभास(त)स्य शुक्लशब्दात् तदुपाधिविशिष्टस्य तस्यैवावभासनान्न तत्प्रतीत्योरितरेतराश्रयत्वम् । न च गुणग्रहणमन्तरेण गुणिनो गवादेरग्रहः तदग्रहे च गुणाऽग्रह इति चोद्यावकाशः, गोशब्दाद् विशेषण-विशेष्ययोर्युगपदेव प्रतिपत्तेः । परस्यापि न समानोऽयं दोषः परस्परविशिष्टोपकार्योपकारकत्वग्रहयोरन्योन्यापेक्षत्वात् । अनपेक्षत्वे न रसादेरेककालस्य रूपादेरनुमानं स्यात् । अथोपकारकत्वाद्यप्रतिपत्तेरेवेतरज्ञानाविनाभावित्वान्नात्र दोषद्वयसवः । नन्वेवं परस्परविशिष्टत्वाऽविशेषेऽपि यदि कार्यबुद्धिः कारणबुद्ध्यनपेक्षा कारणबुद्धिरपीतरबुद्ध्यनपेक्षेति न रूपादेः समानकालस्यावगतिः स्यात् । अपि चोपकारकस्याऽदृष्टौ नोपकार्यस्येतरविशिष्टतया दृष्टिः तददृष्टौ चोपकारकस्येतरविशिष्टत्वेनादृष्टिरिति परस्यापीदं चोद्यं समानम् ।

के रूप में धर्म का बोध आवश्यक है, इस प्रकार अन्योन्याश्रय होने से उपाधि-उपधेय के रूप में प्रतीति का उद्भव शक्य नहीं है, फलतः उपाधि-उपाधिमद् भाव भी सिद्ध न होने से उस का अभाव फलित होगा ।' – तो यह कथन अयुक्त है क्योंकि (जैसे हेतु-साध्य के सहभावी प्रत्यक्ष में दोनों के हेतु-हेतुमद्भाव की प्रतीति एक साथ होती है वैसे ही) उपाधि-उपधेय का जब एक साथ प्रत्यक्ष होता है तब उन में उपाधि-उपधेय भाव भी प्रतीत हो जाते हैं । कदाचित् धर्म और धर्मी का क्रमशः बोध होता हो तब भी उन की प्रतीतियों में अन्योन्याश्रय सम्भव नहीं है क्योंकि दूर से जब पहले वृक्षत्व सामान्यतः वृक्षस्वरूप धर्मी का अध्यक्ष होता है और तुरंत उस के पास चले जाते हैं तब आम्रादिविशेषण सहित उसी वृक्षस्वरूप उपधेय का बोध होता है यह सर्वजनानुभवसिद्ध है ।

सिर्फ प्रत्यक्ष में ही नहीं शाब्दबोध में भी ऐसा हो सकता है, पहले 'गौ' शब्द से गोत्वस्वरूपमात्रतः 'गौ' रूप धर्मी का बोध होता है उस के बाद तुरंत 'शुक्ल' शब्द सुनाई देने पर सांनिध्य की महिमा से शुक्लत्वविशेषणविशिष्ट उसी गौ का भान होता है – इस लिये शाब्द प्रतीतियों में भी अन्योन्याश्रय दोष नहीं है । यदि कहें कि – 'गुण के ग्रहण के बिना गुणी गौ आदि का ग्रहण शक्य नहीं और गुणी का ग्रहण न होने पर गुण का ग्रहण भी अशक्य है, इस लिये पहले सामान्य रूप से गौ या शुक्ल का ग्रहण ही नहीं हो सकेगा' – तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि 'गौ' शब्द से [illegible]

अथ सविकल्पप्रत्यक्षवादिनां स्यादयं दोषः उपाधिविशिष्टस्योपाधिमतो निश्चयादुपाधि-तद्वतोश्च परस्परसव्यपेक्षत्वात् । निर्विकल्पप्रत्यक्षवादिनां तु सर्वोपाधिनिरपेक्षनिरंशस्वलक्षणसामर्थ्यभाविना तद्रूपमेवानुकुर्वता निर्वकल्पकाध्यक्षेणान्यनिरपेक्षस्वलक्षणग्रहणाभ्युपगमान्नायं दोषः । असदेतत्, सकलोपाधिशून्यस्वलक्षणग्राहिणो निर्विकल्पकस्याभावप्रतिपादनात् पुनरपि प्रतिपादयिष्यमाणत्वाच्च । तदेवं भिन्ननिमित्तयोरेकविषयत्वाऽविरोधात् कथं न बहिरर्थे सामानाधिकरण्यव्यवहारः ?

विशेषण-विशेष्यभावोऽपि बाह्यवस्तुसमाश्रित एव । न च विशेषण-विशेष्ययोरुपकार्योपकारकभूतत्वेनाऽसमानकालयोस्तथाभूतविकल्पाश्रय एवायं व्यवहार इति वक्तव्यम् , उपकार्योपकारकयोः पितापुत्रयोरिव समानकालत्वाऽविरोधात्, एकान्तानित्यपक्षस्य च निषिद्धत्वात् निषेत्स्यमानत्वाच्च ।

लिंग-संख्यादियोगोऽप्यनन्तधर्मात्मकबाह्यवस्त्वाश्रित एव । न चैकस्य 'तटस्तटी तटम्' इति स्त्री-पुं-नपुंसकाख्यं स्वभावत्रयं विरुद्धम् विरुद्धधर्माध्यासस्य भेदप्रतिपादकत्वेन निषिद्धत्वात् अनन्तधर्माध्यासितस्य वस्तुनः प्रतिपादितत्वात् । न चैकस्मादेव शब्दादेर्मेचकादिरत्नवच्छबलाभासताप्रसंगः, प्रतिनियतो-

निरपेक्ष हो जाय या कारणबुद्धि कार्यबुद्धिनिरपेक्ष मान ली जाय तो उसी प्रकार रस और रूप में परस्पर वैशिष्ट्य होने पर भी समानकालीन रूपादि का बोध नहीं हो सकेगा । सच बात तो यह है कि – उपकारक दृष्टिगोचर न होने पर तद्विशिष्टरूप में उपकार्य का बोध शक्य नहीं है और उपकार्य दृष्टिगोचर न होने पर उपकारक का तद्विशिष्टरूप से बोध शक्य नहीं है – ऐसा आपादन तो सम्बन्धाभाववादी पक्ष में भी अनिवार्य रूप से समान है ।

★ सकलोपाधिशून्य स्वलक्षणग्राही निर्विकल्पक असिद्ध है ★

यदि कहें कि – 'यह तो सविकल्पवादी के पक्ष में दोष है । क्योंकि सविकल्पनिश्चय उपाधिविशिष्ट उपाधिमान् को ग्रहण करने के लिये उद्यत होता है, किन्तु उपाधिमान् और उपाधि ये दोनों परस्पर सापेक्ष होते हैं. इसलिये, उन के निश्चय में अन्योन्याश्रय दोष लब्धावसर है । जो निर्विकल्पप्रत्यक्षवादी हैं उन के मत में तो स्वलक्षण को सर्वोपाधिनिरपेक्ष एवं निरंश माना गया है, उसी के सामर्थ्य से उस के स्वरूप अनुरूप ही निर्विकल्प प्रत्यक्ष का उदय होता है, जो अन्यनिरपेक्ष स्वलक्षण को ग्रहण करता है । यहाँ कोई दोष नहीं है' – यह भी गलत बात है, हमने पहले दिखाया है कि सकलोपाधिशून्य स्वलक्षण को ग्रहण करने वाला कोई निर्विकल्प जैसा ज्ञान वास्तविक होता ही नहीं है । इस बात का आगे भी समर्थन किया जाने वाला है [ ]।

सारांश, नील और उत्पल के विकल्पों का निमित्त भिन्न होने पर भी उन में एकविषयता होने में कोई विरोध नहीं है तब बाह्यार्थ में नील-उत्पलादि शब्दों के सामानाधिकरण्य का व्यवहार क्यों नहीं हो सकता ?

★ उपकारक-उपकार्य में विशेषण-विशेष्यभाव ★

विशेषण-विशेष्यभाव भी बाह्यवस्तुनिष्ठ होने में कोई विरोध नहीं है । ऐसा मत कहना कि – 'विशेषण उपकारक है और विशेष्य उपकार्य है, उपकारक पहले रहेगा तभी दूसरे पर उपकार कर के उस को उपकृत (उपकार्य) करेगा, अतः उपकारक होगा पूर्वकालीन और उपकार्य होगा उत्तरकालीन, दोनों समानकालीन नहीं हो सकते इसलिये उन में विशेषण-विशेष्य भाव भी नहीं घट सकता । फलतः विशेषण-विशेष्य व्यवहार तो सिर्फ

धर्मविशिष्टवस्तुप्रतिभासस्य प्रतिनियतक्षयोपशमविशेषनिमित्तस्य साधितत्वात् । "गोत्वादिषु सामान्यविशेषाः स्त्रीत्वादयः, न च सामान्येष्वपराणि सामान्यानि सन्ति, अथ च 'जातिर्भेदः सामान्यम्' इति तेष्वपि स्त्री-पुं-नपुंसकलिंगत्रयदर्शनादव्यापिता लक्षणस्य" [१११-५] इत्येव दोषोऽनेकधर्मात्मकैकवस्तुवादिनो न चैनान् प्रत्याक्षिप्यति गोत्वादेरपि भिन्नस्य सामान्यरूपत्वात् वस्तुनि सम्यक्सामान्यस्यानुगमात् येन तेष्वपरसामान्यभूतलिंगत्रयमन्तरेण जात्यादिशब्दप्रवृत्तिर्न स्यात् । अत एव दारादिष्वपि बहुत्वसंख्या वन-सेनादिषु चैकत्वसंख्याऽविरुद्धा, यथाविवक्षमनन्तधर्माध्यासिते वस्तुनि कस्यचिद्धर्मस्य केनचिच्छब्देन प्रतिपादनाऽविरोधात् ।

[प्रज्ञाकरमतनिरसनम्]

सामान्यविशेषात्मकवस्तुनः शब्दलिंगविषयत्वे च केवलजातिपक्षे यद् दूषणम् 'यद् यत्र ज्ञाने प्रतिभाति तत् तस्य विषयः'.... [पृ. १३२ पं० ९] इत्यादिप्रयोगरचनापूर्वकं प्रज्ञाकरमतानुसारिणाऽभिहितम् – 'यथा न प्रतिभाति निर्विकल्प-सविकल्पाध्यक्षशब्दलिंगप्रभवज्ञानेषु कस्मिन्नपि विज्ञाने स्वरूपेण वर्णाकृत्यक्षराकारशून्या दाह-पाकाद्यर्थक्रियाक्षमा जातिः, प्रतिभासमानाऽप्यनर्थक्रियाकारित्वेन न प्रवृत्तिहेतुः लक्षितलक्षणयापि जाति-व्यक्त्योः सम्बन्धाभावात्, भावेऽपि तस्य प्रत्यक्षादिना प्रतिपत्तुमशक्तेः

उपचारित विकल्पाश्रित ही मानना होगा, वास्तविक नहीं' – ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि पहले उपकारक होता है, पीछे उपकार्य होते हैं इस लिये उन में पूर्वापरभाव होने पर भी वे दोनों समानकाल अवस्थित रहने में कोई विरोध नहीं है, इसी तरह विशेषण-विशेष्य भी समान कालीन हो सकते हैं अतः विशेषण-विशेष्य भाव का व्यवहार वास्तविक मानने में कोई बाध नहीं है । ऐसा नहीं कह सकते कि – 'उपकार्यक्षण में उपकारक का नाश हो जाने से विशेषण-विशेष्यभाव नहीं हो सकेगा' – क्योंकि एकान्त अनित्यवाद का पहले निषेध हो चुका है और आगे भी होने वाला है । फलतः उपकार्यक्षण में उपकारक की सत्ता सिद्ध होने पर विशेषण-विशेष्यभाव भी सिद्ध होने में कोई अड़चन नहीं है ।

★ अनन्तधर्मात्मकवस्तु-पक्ष में लिङ्ग-संख्यादि का योग ★

सामान्य, सामानाधिकरण्य और विशेषण-विशेष्यभाव के व्यवहार जैसे पारमार्थिक बाह्य वस्तु पर निर्भर है वैसे ही लिंग-संख्यादि का योग (= व्यवहार) भी अनन्तधर्मात्मक बाह्यवस्तु पर ही निर्भर है । एक ही [illegible] वस्तु के लिये पुंलिंग में तट, स्त्रीलिंग में तटी और नपुंसकलिंग में तटम् ऐसे त्रिलिंग प्रयोग हो सकते हैं क्योंकि अनेकान्तवाद के अनुसार एक वस्तु में विभिन्न अपेक्षा से [illegible]

[illegible]

अथ सविकल्पप्रत्यक्षवादिनां स्यादयं दोषः उपाधिविशिष्टस्योपाधिमतो निश्चयादुपाधि-तद्वतोश्च परस्परसव्यपेक्षत्वात् । निर्विकल्पप्रत्यक्षवादिनां तु सर्वोपाधिनिरपेक्षनिरंशस्वलक्षणसामर्थ्यभाविना तद्रूपमेवानुकुर्वता निर्वकल्पकाध्यक्षेणान्यनिरपेक्षस्वलक्षणग्रहणाभ्युपगमान्नायं दोषः । असदेतत्, सकलोपाधिशून्यस्वलक्षणग्राहिणो निर्विकल्पकस्याभावप्रतिपादनात् पुनरपि प्रतिपादयिष्यमाणत्वाच्च । तदेवं भिन्ननिमित्तयोरेकविषयत्वाऽविरोधात् कथं न बहिरर्थे सामानाधिकरण्यव्यवहारः ?

विशेषण-विशेष्यभावोऽपि बाह्यवस्तुसमाश्रित एव । न च विशेषण-विशेष्ययोरुपकार्योपकारकभूतत्वेनाऽसमानकालयोस्तथाभूतविकल्पाश्रय एवायं व्यवहार इति वक्तव्यम् , उपकार्योपकारकयोः पितापुत्रयोरिव समानकालत्वाऽविरोधात्, एकान्तानित्यपक्षस्य च निषिद्धत्वात् निषेत्स्यमानत्वाच्च ।

लिंग-संख्यादियोगोऽप्यनन्तधर्मात्मकबाह्यवस्त्वाश्रित एव । न चैकस्य 'तटस्तटी तटम्' इति स्त्री-पुं-नपुंसकाख्यं स्वभावत्रयं विरुद्धम् विरुद्धधर्माध्यासस्य भेदप्रतिपादकत्वेन निषिद्धत्वात् अनन्तधर्माध्यासितस्य वस्तुनः प्रतिपादितत्वात् । न चैकस्मादेव शब्दादेर्मेचकादिरत्नवच्छबलाभासताप्रसंगः, प्रतिनियतो-

---

निरपेक्ष हो जाय या कारणबुद्धि कार्यबुद्धिनिरपेक्ष मान ली जाय तो उसी प्रकार रस और रूप में परस्पर वैशिष्ट्य होने पर भी समानकालीन रूपादि का बोध नहीं हो सकेगा । सच बात तो यह है कि – उपकारक दृष्टिगोचर न होने पर तद्विशिष्टरूप में उपकार्य का बोध शक्य नहीं है और उपकार्य दृष्टिगोचर न होने पर उपकारक का तद्विशिष्टरूप से बोध शक्य नहीं है – ऐसा आपादन तो सम्बन्धाभाववादी पक्ष में भी अनिवार्य रूप से समान है ।

★ सकलोपाधिशून्य स्वलक्षणग्राही निर्विकल्पक असिद्ध है ★

यदि कहें कि – 'यह तो सविकल्पवादी के पक्ष में दोष है । क्योंकि सविकल्पनिश्चय उपाधिविशिष्ट उपाधिमान् को ग्रहण करने के लिये उद्यत होता है, किन्तु उपाधिमान् और उपाधि ये दोनों परस्पर सापेक्ष होते हैं. इसलिये, उन के निश्चय में अन्योन्याश्रय दोष लब्धावसर है । जो निर्विकल्पप्रत्यक्षवादी हैं उन के मत में तो स्वलक्षण को सर्वोपाधिनिरपेक्ष एवं निरंश माना गया है, उसी के सामर्थ्य से उस के स्वरूप अनुरूप ही निर्विकल्प प्रत्यक्ष का उदय होता है, जो अन्यनिरपेक्ष स्वलक्षण को ग्रहण करता है । यहाँ कोई दोष नहीं है' – यह भी गलत बात है, हमने पहले दिखाया है कि सकलोपाधिशून्य स्वलक्षण को ग्रहण करने वाला कोई निर्विकल्प जैसा ज्ञान वास्तविक होता ही नहीं है । इस बात का आगे भी समर्थन किया जाने वाला है [ ]।

सारांश, नील और उत्पल के विकल्पों का निमित्त भिन्न होने पर भी उन में एकविषयता होने में कोई विरोध नहीं है तब बाह्यार्थ में नील-उत्पलादि शब्दों के सामानाधिकरण्य का व्यवहार क्यों नहीं हो सकता ?

★ उपकारक-उपकार्य में विशेषण-विशेष्यभाव ★

विशेषण-विशेष्यभाव भी बाह्यवस्तुनिष्ठ होने में कोई विरोध नहीं है । ऐसा मत कहना कि – 'विशेषण उपकारक है और विशेष्य उपकार्य है, उपकारक पहले रहेगा तभी दूसरे पर उपकार कर के उस को उपकृत (उपकार्य) करेगा, अतः उपकारक होगा पूर्वकालीन और उपकार्य होगा उत्तरकालीन, दोनों समानकालीन नहीं हो सकते इसलिये उन में विशेषण-विशेष्य भाव भी नहीं घट सकता । फलतः विशेषण-विशेष्य व्यवहार तो सिर्फ

धर्मिविशिष्टवस्तुप्रतिभासस्य प्रतिनियततत्क्षयोपशमविशेषनिमित्तस्य साधितत्वात् । "गोत्वादिषु सामान्यविशेषाः स्त्रीत्वादयः, न च सामान्येष्वपराणि सामान्यानि विद्यन्ते, अत्र च 'जातिभेदः सामान्यम्' इति तेष्वपि स्त्री-पुं-नपुंसकलिंगत्रयदर्शनादव्यापिता लक्षणस्य" [१११-५] इत्येष दोषोऽनेकधर्मात्मैकवस्तुवादिनो न जैनान् प्रत्यासिष्यति गोत्वादेरपि भिन्नस्य सामान्यबलाद् वस्तुनि सम्बन्धस्याभ्युपगमात् येन तेष्वप्यपरसामान्यभूतलिंगत्रयमन्तरेण जात्यादिशब्दप्रवृत्तिर्न स्यात् । अत एव दारादिष्वपि बहुत्वसंख्या वन-सेनादिषु चैकत्वसंख्याऽविरुद्धा, यथाविवक्षमनन्तधर्माध्यासिते वस्तुनि कस्यचिद्धर्मस्य केनचिच्छब्देन प्रतिपादनाऽविरोधात् ।

[प्रज्ञाकरमतनिरसनम्]

सामान्यविशेषात्मकवस्तुनः शब्दलिंगविषयत्वे च केवलजातिपक्षे यद् दूषणम् 'यद् यत्र ज्ञाने प्रतिभाति तत् तस्य विषयः'.... [पृ. १३२ पं० ९] इत्यादिप्रयोगरचनापूर्वकं प्रज्ञाकरमतानुसारिणाऽभिहितम् – 'यथा न प्रतिभाति निर्विकल्प-सविकल्पाध्यक्षशब्दलिंगप्रभवज्ञानेषु क्वचिदपि विज्ञाने स्वरूपेण वर्णाकृत्यक्षराकारशून्या दाह-पाकाद्यर्थक्रियासमर्था जातिः, प्रतिभासमानाऽप्यनर्थक्रियाकारित्वेन न प्रवृत्तिहेतुः लक्षितलक्षणयापि जाति-व्यक्त्योः सम्बन्धाभावात्, भावेऽपि तस्य प्रत्यक्षादिना प्रतिपत्तुमशक्तेः

तथापि विकल्पाश्रित ही मानना होगा, वास्तविक नहीं' – ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि जिस उपकारक होता है, पुन उपकार्य होते हैं इस लिये उन में पूर्वापरभाव होने पर भी वे दोनों समानकाल अवस्थित होने में कोई विरोध नहीं है, इसी तरह विशेषण-विशेष्य भी समान कालीन हो सकते हैं अतः विशेषण-विशेष्य भाव का व्यवहार वास्तविक मानने में कोई बाध नहीं है । ऐसा नहीं कह सकते कि – 'उपकार्यक्षण में उपकारक का नाश हो जाने से विशेषण-विशेष्यभाव नहीं हो सकेगा' – क्योंकि एकान्त अनित्यवाद का बहुत निरोध हो चुका है और आगे भी होने वाला है । फलतः उपकार्यक्षण में उपकारक की सत्ता सिद्ध होने पर विशेषण-विशेष्यभाव भी सिद्ध होने में कोई अड़चन नहीं है ।

★ अनन्तधर्मात्मकवस्तु-पक्ष में लिङ्ग-संख्यादि का योग ★

सामान्य, सामानाधिकरण्य और विशेषण-विशेष्यभाव के व्यवहार जैसे वास्तविक बाह्य वस्तु पर निर्भर है वैसे ही लिंग-संख्यादि का योग (= व्यवहार) भी अनन्तधर्मात्मक बाह्यवस्तु पर ही निर्भर है । एक ही [illegible] वस्तु के लिये पुलिंग में तट, स्त्रीलिंग में तटी और नपुंसकलिंग में तटम् ऐसे विभिन्न प्रयोग हो सकते हैं क्योंकि अनेकान्तवाद के अनुसार एक वस्तु में विभिन्न अपेक्षा से [illegible] [illegible] मानने में कोई विरोध नहीं है । [illegible] [illegible] [illegible] कह चुके हैं कि [illegible] [illegible] [illegible] भी [illegible] [ ] । यदि कहें कि – [illegible] [illegible] है वैसे ही [illegible] [illegible] [illegible] है क्योंकि [illegible] [illegible]

न व्यक्तौ प्रवृत्तिः'..... [पृ० १३२-१३८] इत्यादि सर्वं प्रतिक्षिप्तम् अनभ्युपगमादेव । न हि जाति-व्यक्त्योरेकान्तभेदोऽभ्युपगम्यते येन प्रत्यक्षे शाब्दे वा जातिव्यक्त्योरन्यतरप्रतिभासेऽप्यपरस्याऽप्रतिभासनान्न सम्बन्धप्रतिपत्तिः स्यात् – "द्विष्टसम्बन्धसंवित्तिर्नैकरूपप्रवेदनात्" [ ] इति न्यायात् – किन्तु सामान्यविशेषात्मकं वस्तु सर्वस्यां प्रतिपत्तौ प्रतिभाति, केवलं 'प्रधानोपसर्जनभावेन जाति-व्यक्त्योः सामग्रीभेदात् प्रत्यक्षादिबुद्धौ प्रतिभासनाद् वैशद्याऽवैशद्यावभासभेदस्तत्र' इति प्रतिपादितम् । 'क्रमेण यौगपद्येन वा आनन्त्याद् व्यक्तीनां प्रत्यक्षेऽप्रतिभासनान्न तासां जात्यां तेन सम्बन्धवेदनम्' [१३८-१].....इत्यादिकमप्यस्माकमदूषणं यथाप्रदर्शितवस्त्वभ्युपगमवादिनां न प्रतिसमाधानमर्हति ।

वस्तु का बोध संगत हो सकता है । यह पहले सिद्ध किया हुआ है ।

यदि आप ऐसा दोषापादन करना चाहें कि – 'ये स्त्रीत्व, पुंस्त्व और नपुंसकत्व को गोत्व की तरह जातिविशेषरूप मानने पर यह आपत्ति आयेगी कि जाति के लिये भी 'जाति, भाव, सामान्यम्' ऐसे भिन्न भिन्न लिंग के प्रयोग तो सर्वविदित है किन्तु जाति में तो जाति नहीं मानी जाती, तब उस में स्त्रीत्वादि जाति भी नहीं जायेगी, अतः स्त्रीत्वादि जाति के आधार पर स्त्रीलिंग-पुलिंग और नपुंसकलिंग की व्यवस्था 'जाति' आदि शब्दों में व्यापक न बनने से न्यूनता होगी' – तो यह दोषापादन नैयायिकादि के मत को धूमिल कर सकता है, अनेकधर्मात्मक एक वस्तुवादी जैनों के मत में तो ऐसे दोष को अवकाश ही नहीं है । जैन मत में गोत्वादि सामान्य को 'गो' आदि आश्रय से सर्वथा भिन्न एवं समवाय सम्बन्ध से गो आदि वस्तु के साथ सम्बद्ध-होने का नहीं माना गया, अतः 'जाति' आदि शब्दों की प्रवृत्ति स्त्रीत्वादि अपर सामान्य रूप लिंग के अभाव में भी हो सकती है, न हो सके ऐसा नहीं है । इसी तरह संख्या भी हम नैयायिक आदि की तरह स्वतन्त्र नहीं किन्तु सापेक्षभाव रूप मानते हैं इसी लिये एकव्यक्ति रूप पत्नी के लिये 'दाराः' आदि बहुत्व संख्या का निर्देश और अनेक व्यक्ति के समुदाय रूप वन या सेनादि के लिये 'वनम्, सेना' ऐसे एकत्व संख्या का निर्देश करने में कोई विरोध नहीं है । वस्तु स्त्रीत्व-पुंस्त्व आदि तथा ओकत्व-बहुत्व आदि अनन्त धर्मों से व्याप्त रहती है अतः विवक्षा के अनुसार कभी किसी एक धर्म की प्रधानता दिखाने के लिये तदनुरूप शब्दप्रयोग के द्वारा विविधरूप से प्रतिपादन करने में कोई विरोध नहीं है ।

☆ जैन सम्मत जातिपक्ष में दूषण निरवकाश ☆

जैनमत में सामान्य-विशेषात्मक वस्तु को ही शाब्दबुद्धि और लिंगजबुद्धि का विषय माना गया है, न केवल व्यक्ति को और न केवल जाति को । प्रज्ञाकरमत के अनुयायीयों ने, [१३२-३८] "जो जिस ज्ञान में भासित होता है वही उस ज्ञान का विषय होता है, शब्द-लिंगजन्य बुद्धि में बाह्यार्थप्रतिभासशून्य सिर्फ अपना (बुद्धि का) स्वरूप ही भासित होता है इस लिये वही उस का विषय हो सकता है, न कि जाति.." इत्यादि अनुमान प्रयोग दिखा कर, जातिपक्ष में जो दोषपरम्परा का निवेदन किया है कि – [1]जाति निर्विकल्प प्रत्यक्ष में भासित नहीं होती क्योंकि निर्विकल्प में सिर्फ असाधारण स्वरूप का ही अनुभव होता है, [2]सविकल्पप्रत्यक्ष मे भी जाति का अनुभव नहीं होता, क्योंकि उस में भी स्फुट व्यक्तिस्वरूप के व्यवसाय के अलावा वर्णाकृतिअक्षराकारशून्य किसी का भान नहीं होता, जातिवादी तो जाति को वर्णाकृतिअक्षराकारशून्य मानते हैं, [3]शब्दलिंगजन्य बुद्धि

शब्दार्थयोस्तु साक्षात् तदुत्पत्ति-तादात्म्यलक्षणसम्बन्धान्तरेणाऽपि सम्बन्धः परेणाऽभ्युपगन्तव्यः अन्यथा 'यत् सत् तत् सर्वं क्षणिकम्, अक्षणिके क्रम-यौगपद्याभ्यामर्थक्रियाविरोधात्, संश्च शब्दः' इति, 'यत् किंचित् सत् तत् सर्वमक्षणिकम्, क्षणिकेऽर्थक्रियानुपलब्धेः, संश्च ध्वनिः' इति साधनवाक्ययोः स्वपराभिप्रेतार्थसूचकयोः स्वलक्षणाऽसंस्पर्शित्वेन भेदाभावात् साधन-तदाभासव्यवस्थानुपपत्तिप्रसक्तिः । अ-

में भी वर्णाकृतिअक्षराकारशून्य आकार का भान नहीं होता किन्तु वहाँ शब्द का अथवा व्यक्ति का ही आकार भासित होता है, उपरांत इन ज्ञानों में जो भासित होता है वह अर्थक्रियासमर्थ पदार्थ ही भासित होता है जब कि जाति तो दाहपाकादि अर्थक्रिया में समर्थ नहीं है, इस लिये कदाचित् उस का भान अंगीकार करें तो भी वह प्रवृत्तिहेतु नहीं हो सकती, लक्षितलक्षणा से उस के द्वारा स्वलक्षण में प्रवृत्ति होने का भी संभव नहीं है क्योंकि जाति का व्यक्ति के साथ कुछ सम्बन्ध भी स्थापित नहीं होता, सम्बन्ध के होने पर भी प्रत्यक्षादि से उस का अवगम शक्य नहीं है इस लिये जाति का भान मानने पर भी सम्बन्ध के द्वारा व्यक्ति में प्रवृत्ति अशक्य है''....इत्यादि सब दोषपरम्परा जैनमत में सर्वथा निरवकाश है क्योंकि जैनमत में व्यक्ति से सर्वथा भिन्न वर्णादिशून्य और व्यक्ति में समवेत प्रकार की जाति का अभ्युपगम ही नहीं है । जैन मत में जाति-व्यक्ति का एकान्तभेद मान्य नहीं है । इसलिये भेद समझ कर जो यह कहा है 'किसी एक के भासित होने पर भी दूसरे का प्रतिभास न होने से उन के सम्बन्ध का अवगम शक्य नहीं, क्योंकि दो में रहने वाले सम्बन्ध का भान किसी एक के भान से नहीं होता'....इत्यादि कथन को अवकाश ही नहीं है ।

जैनमत का प्रतिपादन ही ऐसा है कि वस्तु सामान्य-विशेषोभयात्मक होने का अनुभव सभी को होता है, उस में तात्पर्य यह है कि जाति-व्यक्ति में किसी एक का भान जब प्रधानरूप से होता है तब दूसरे का गौणरूप से होता है, इस का मूल है सामग्रीभेद । कभी जाति को प्रधानरूप से बतानेवाली इन्द्रियसंप्रयोगादि सामग्री मौजूद रहती है तब जाति का प्रधान रूप से और व्यक्ति का गौणरूप से भान होता है, इसी तरह अन्यत्र भी समझ लेना । इस प्रकार सामग्रीभेद से ही प्रत्यक्षादि बुद्धि में कभी जाति का भिन्नरूप से या अभिन्नरूप से भान होता है । यह भी जो पहले कहा था कि – 'व्यक्तिपरम्परा निरवधि अर्थात् अनन्त है, एकसाथ तो किसी को भी सर्वव्यक्ति का भान नहीं होता, क्रमशः भी अनन्तव्यक्ति का भान शक्य नहीं है, इस लिये व्यक्तियों का जाति के साथ सम्बन्ध का उपलम्भ शक्य नहीं है' – यह दूषण भी जाति-व्यक्ति का कथंचिद् अभेद मानने वाले के पक्ष में निरवकाश होने से उस का उत्तर देने की आवश्यकता नहीं रहती । अभेद होने से व्यक्ति के साथ गौण-मुख्य किसी एकरूप से जाति का भान सरलता से हो जाता है ।

★ शब्द और अर्थ का सम्बन्ध अवश्य स्वीकार्य ★

शब्द और अर्थ का तादात्म्य और तदुत्पत्ति सम्बन्ध भले नहीं माने किन्तु किसी न किसी एक सम्बन्ध का स्वीकार बौद्धवादी को करना ही पड़ेगा । यदि नहीं मानेंगे तो आगे लिखे अनुसार साधन और साधनाभास के भेद की व्यवस्था संगत नहीं कर पायेंगे – बौद्ध का यह साधनवाक्य है कि 'जो कुछ सत् है वह सब क्षणिक है, क्योंकि अक्षणिकपदार्थ में क्रम से अथवा एकसाथ होनेवाली अर्थक्रिया के साथ विरोध आता है, शब्द भी सत् है ।' इस के सामने अक्षणिकवादी का ऐसा साधनवाक्य है, 'जो कुछ सत् है वह सब अक्षणिक है क्योंकि क्षणिक पक्ष में अर्थक्रिया उपपन्न नहीं होती, शब्द भी सत् है ।' अक्षणिकवादी के अनुसार, [illegible]

थान्यतरसाधनवाक्यस्य पारम्पर्येण स्वलक्षणप्रतिबन्धादितरस्माद् विशेषस्तर्ह्यनिष्टमपि वाच्य-वाचकयोः सम्बन्धान्तरं हेतुफलभावविलक्षणं सामर्थ्यप्राप्तं परेणाभ्युपगतं भवति । न च शब्दस्य क्वचिद् व्यभिचारदर्शनात् सर्वत्राऽनाश्वासादप्रामाण्यकल्पना युक्तिमती, प्रत्यक्षस्यापि तथाभावप्रसक्तेः ।

अपि च अन्यविवक्षायामन्यशब्ददर्शनाद् विवक्षायामपि क्वचिद् व्यभिचारात् सर्वत्राऽनाश्वासात् कथं विवक्षाविशेषसूचका अपि ते स्युः ? अथ 'सुविवेचितं कार्यं कारणं न व्यभिचरति' [　　] इतिन्यायाद् विवक्षासूचकत्वं शब्दविशेषाणां न विरुध्यते तर्हि येनैव प्रतिबन्धेन शब्दविशेषो विवक्षाविशेषसूचकस्तत एवार्थविशेषप्रतिपादकोऽसौ किं नाभ्युपगम्यते ?!

अथ स्वाभिधित्सितार्थप्रतिपादनशक्तिवैकल्यादन्यथापि प्रायशोऽभिधानवृत्तिदर्शनाद् विचित्राभिसन्धित्वात् पुरुषाणां विसंवादशंकया वक्त्रभिप्रायेऽपि तेषां प्रामाण्यं नाभ्युपगम्यते इति न तन्न्यायेन बाह्येऽप्यर्थे एषां प्रामाण्यप्रसक्तिः । नन्वेवमप्रामाण्ये सर्वव्यवहारोच्छेदप्रसक्तिः, तथाहि – यज्जातीयात् क्वचित् कदाचिद् यथाभूतं दृष्टं तादृशादेव सर्वदा सर्वत्र तथाभूतमेव भवतीति निरभप्रायेष्वपि पदार्थेषु नि-

---

अभिप्रेत अर्थ के सूचक उपरोक्त दोनों साधनवाक्यों का स्वलक्षण अर्थ के साथ कोई भी सम्बन्ध न होनें से दोनों अपारमार्थिक अर्थसूचक होने में कोई भेद नहीं रहेगा । फलतः एक को साधन और अन्य को साधनाभास मानना गलत होगा । यदि कहें कि – 'दो में से एक साधनवाक्य परम्परया स्वलक्षण अर्थ के साथ सम्बन्ध धारक है, दूसरा साधनवाक्य परम्परया स्वलक्षण के साथ सम्बन्धधारक नहीं है इसलिये उन दोनों में सरलता से भेदज्ञान हो जायेगा ।' – तो इच्छा न होते हुये भी आपने वाच्य और वाचक दोनों में कार्य-कारणभाव से अतिरिक्त परम्परा सम्बन्ध मान ही लिया जो कि पूर्वोक्त तर्कयुक्ति के बल से सिद्ध होता है । कभी कभी शब्द से गलत अर्थबोध भी हो जाता है इतने मात्र से समस्त शब्दों में अविश्वास कर के उन को अप्रमाण घोषित करना कतई ठीक नहीं, क्योंकि ऐसा करेंगे तो कभी कभी प्रत्यक्ष से भी गलत अर्थबोध होता है इस लिये समुचे प्रत्यक्ष को भी अप्रमाण घोषित करना पडेगा ।

उपरांत, पहले आपने यह कहा था कि 'शब्द लिंग बन कर वक्ता की विवक्षा का अनुमान कराता है' [१८५-१३] इस के ऊपर भी अब प्रश्न होगा कि विवक्षा कुछ ओर होगी और शब्द कुछ अन्य ही विवक्षा दिखायेगा तो वहाँ भी व्यभिचार प्रगट होने से किसी भी शब्द से सही विवक्षा का पता चलने में विश्वास न रहने से, शब्द को विवक्षा-विशेष का सूचक = अनुमापक भी कैसे मान सकेंगे ? यदि कहें कि – 'सुविवेचित कार्य कारणव्यभिचारी नहीं होता' इस न्याय के अनुसार विवक्षासूचन रूप कार्य का जिन शब्दों के साथ जन्य-जनक भाव सुनिरीक्षित है उन शब्दों का विवक्षासूचकत्व से विरोध कभी नहीं होता' – तो शब्दसम्बन्धवादी का यह कहना भी न्यायसंगत ही है कि जिस सम्बन्ध के द्वारा नियत शब्द नियत विवक्षा का सूचक मानना चाहते हो उसी सम्बन्ध के द्वारा नियत अर्थ का ही सूचक मान लेने में क्या हरकत है ?

★ शब्द प्रमाण न मानने पर व्यवहारभंग दोष ★

बौद्ध : आप विवक्षा में शब्द के प्रामाण्य का आलम्बन ले कर शब्द को बाह्यार्थ में भी प्रमाण सिद्ध करना चाहते हैं यह गलत है । कारण, हम तो विवक्षा यानी वक्ता के अभिप्राय में भी शब्द को प्रमाण नहीं मानते, इस के कारण ये हैं कि शब्द में विवक्षित अर्थ के प्रतिपादन की शक्ति वास्तव में नहीं होती, वक्ता

यत्रो नोपलभ्यते, इन्धनादिसामग्रीतोऽनलप्रादुर्भावदर्शनेऽप्येकदा मण्यादिप्रभवत्वेनापि तस्य समीक्षणात् कथं कार्यहेतावप्यव्यभिचारित्वनिबन्धनं प्रामाण्यं परेणाभ्युपगन्तुं युक्तम् ? तथा, यद्यपि बहुलं वृक्षस्यैव भू-(प्रा)यस्योपलम्भस्तथापि क्वचित् कदाचिल्लतात्मतयाऽप्यग्रस्य दर्शनात् शिंशपा वृक्षस्वभावमेव बिभर्त्तीति कथं प्रेक्षापूर्वकारिणां निःशंकं चेतो भवेत् ? यतो 'लता च स्यात् शिंशपा च' नैवात्र कश्चिद् विरोधः इति 'वृक्षोऽयं शिंशपात्वात्' इति स्वभावहेतोरप्यव्यभिचारनिबन्धनप्रामाण्याभ्युपगमः परस्य विशीर्येत ।

अथ स्वभावस्य भावाऽभावेऽपि भवतो निःस्वभावताऽपत्तेरव्यभिचारलक्षणं प्रामाण्यम् तादात्म्यात्, कार्यस्यापि कारणाऽभावे भवतः कार्यत्वाभावापत्तेस्तदुत्पत्तिस्वरूपाऽव्यभिचारनिबन्धनं प्रामाण्यं स्थित इ-त्यनुमानस्य प्रामाण्यम् । नन्वेवं यादृशं यादृग्भूतं स्वसन्ताने विवक्षाज्ञानमुत्पन्नं तादृग्भूतमेव श्रोतृसन्ताने ज्ञानमुत्पादयितुकामो वचनमुच्चारयन् परार्थं वाऽनुमानं तदभ्युपगच्छन् शब्दानां बहिरर्थे सम्बन्धनिमित्तं प्रा-माण्यं कथं प्रतिक्षिपेत् ?

अथाऽनुमानस्यापि प्रामाण्यमव्यभिचाराऽप्रतिपत्तितः एव नाभ्युपगम्यते, कुतस्तर्हि तत्त्वव्यवस्था ? न प्रत्यक्षात्, तत्रापि स्वार्थाव्यभिचारित्वस्य प्रामाण्यनिबन्धनस्याऽसम्भवात् भवदभिप्रायेण सम्भवेऽपि प्र-त्यक्षादिना प्रतिपत्तुमशक्तेः प्रामाण्याऽसिद्धेः । नापि स्वसंवेदनमात्रात्, तस्यापि ग्राह्य-ग्राहकाकारशून्यस्य

का अभिप्राय कुछ होता है और शब्द से कुछ अन्य ही अर्थ का प्रतिपादन हो जाता है ऐसा कई बार देखा गया है, मनुष्यों के अभिप्राय भी तरह तरह के होते हैं – कभी कभी भिन्न भिन्न अभिप्राय रहने पर भी समान शब्दप्रयोग होता है तो कभी कभी समान अभिप्राय रहने पर शब्दप्रयोग भिन्न भिन्न होता है, और ऐसा होने पर सर्वत्र विसंवाद की दहेशत बनी रहती है – इन सभी कारणों से यही निष्कर्ष फलित होता है कि शब्द विवक्षा में भी प्रमाण नहीं है । अत एव उन के समान न्याय से जो आप बाह्यार्थ में शब्द को प्रमाण सिद्ध करना चाहते हैं वह भी नामुमकीन है ।

जैन : यदि ऐसे तर्काभास से आप शब्दप्रामाण्य का सर्वथा तिरस्कार करेंगे तो सर्वदेश-काल में शब्दमूलक जितने भी व्यवहार प्रसिद्ध हैं उन सभी का उच्छेद हो जायेगा । सुनिये, आपने तो पुरुष के अभिप्रायों की विचित्रता दर्शायी, लेकिन पदार्थ तो निरभिप्राय होते हुए भी उन में ऐसा कोई नियम उपलब्ध नहीं होता कि 'एक जाति वाले अर्थ से एक बार कभी जहाँ जैसे अर्थ का उद्भव देखा गया, सर्वत्र सर्वकाल में उस जातिवाले अर्थ से ही वैसे ही समान अर्थ का उद्भव होता हो ।' उदा० कभी कहीं इन्धनादि सामग्री से अग्नि का उद्भव दिखता है फिर भी दूसरे देश-काल में कभी मणि (= सूर्यकान्त मणि अथवा बिलोरी काच) आदि से भी अग्नि का उद्भव देखने को मिलता है । अब बताईये कि कार्यहेतुक अनुमान में आप कैसे अव्यभिचारमूलक प्रामाण्य स्वीकार करेंगे ?

इसी तरह, अक्सर तो शिंशपा [illegible] वृक्षरूप में ही होते हैं, फिर भी कभी कभी लतारूप में भी शिंशपा दिखता है तब उस देखने के बाद, 'शिंशपा भी वृक्षस्वभाव ही होता है' ऐसा निःशंक निश्चय बुद्धिमान को कैसे हो सकेगा ? क्योंकि 'लता भी है और शिंशपा भी' इस प्रकार में कोई विरोध तो है नहीं, [illegible] 'यह वृक्ष है क्योंकि शिंशपा है' इस स्वभावहेतुक अनुमान में अव्यभिचारमूलक प्रामाण्यस्वीकार [illegible] नहीं हो सकेगा ।

यथातत्त्वमभ्युपगतस्याननुभूयमानत्वेन स्वत एवाऽव्यस्थितत्वात् कुतः तत्त्वव्यवस्थापकत्वम् ? अथ प्रतिभासोपमत्वं सर्वभावानामिति न किंचित् तत्त्वमिति न कुतश्चित् तद्व्यवस्थाऽस्माभिरभ्युपगम्यते येन तदव्यवस्थालक्षणं दूषणं युक्तं भवेत् । असम्यगेतत्, शून्यताया निषेत्स्यमानत्वात् । तस्मात् प्रमाणव्यवहारिणा यदि प्रत्यक्षादिकं प्रमाणमभ्युपगम्यते तदा शब्दोऽपि बहिरर्थे प्रमाणतयाऽभ्युपगन्तव्यः प्रामाण्यनिबन्धनस्य सामान्यविशेषात्मकबाह्यार्थप्रतिबन्धस्य परम्परया तत्रापि सद्भावात् तत्रैव च शब्दाच्चक्षुरादेरिव नियमेन प्रतिपत्ति-प्रवृत्ति-प्राप्तिलक्षणव्यवहारदर्शनात् गुण-दोषयोश्चोभयत्रापि समानत्वात् ।

न चाऽस्माभिर्मीमांसकैरिवापौरुषेयः शब्दार्थयोः सम्बन्धोऽभ्युपगम्यते येन –

– "विकल्पनिर्मितस्य तस्य नृत्यादिक्रियादेरिव कथमपौरुषेयत्वं स्यात् ? स्वत एव शब्दस्यार्थप्रतिपादनयोग्यतायां संकेताऽदर्शिनोऽपि शब्दादर्थप्रतिपत्तिश्च स्यात्, ततोऽनर्थकः संकेतः । स्वाभाविकसम्बन्धाभिव्यञ्जकत्वोपयोगकल्पनायां च संकेतस्य यथेष्टं शब्दानामर्थेषु संकेतो न स्यात् । न ह्यभिव्यंजकसंनिधिर्नियमेनाभिव्यंग्यस्योपलब्धिं जनयति प्रदीपादिरिव घटस्य, शब्दाभिव्यक्तिसांकर्यवत् सम्बन्धाभिव्यक्तिसांकर्यमपि प्रसज्येत । ततश्च संकेतात् सम्बन्धाभिव्यक्तिप्रतिनियमाभावात् तद्विवक्षितार्थप्रतिपत्तिनियमस्याप्यभाव इति सर्वस्माद् वाचकात् सर्वस्यार्थस्य प्रतिपत्तिः सकृदेव प्रसज्येत । ततः संके-

---

बौद्ध : आशंकित स्वभाव के न होने पर भी यदि उस का आश्रय रह सकता है तब तो वह निःस्वभाव हो जाने की आपत्ति है, इस बाधकतर्क के बल से तादात्म्यमूलक स्वभावहेतुक अनुमान से अव्यभिचारमूलक प्रामाण्य स्थापित होता है । तथा 'कार्य भी यदि बिना कारण उत्पन्न होगा तो उस के तत्कार्यत्व का ही भंग हो जायेगा' इस बाधकतर्क के बल से तदुत्पत्तिमूलक कार्यहेतुक अनुमान में अव्यभिचारमूलक प्रामाण्य स्थापित होता है ।

जैन : जैसे आप अनुमान में प्रामाण्य स्थापित करते हैं वैसे ही शब्द में भी वह स्थापित हो सकता है । आपके अपने सन्तान में जैसा रूपादिज्ञान उत्पन्न हुआ है वैसा ही श्रोता के सन्तान में ज्ञान उत्पन्न करने की कामना से जब आप वचनोच्चार करते हैं तब आप भी उन शब्दों को सार्थक मानते हैं अथवा परार्थ अनुमान प्रमाण के रूप में उस का अंगीकार करते हैं, फिर बाह्यार्थ में भी यत्किंचित् सम्बन्ध मूलक शब्दगतप्रामाण्य का स्वीकार करने में क्यों झीझक करते हैं ?!

★ तत्त्वव्यवस्था के लिये अनुमानवत् शब्द प्रमाण ★

यदि ऐसा कहा जाय कि – अनुमान में भी अव्यभिचार का अवधारण दुष्कर होने से प्रामाण्य स्वीकार्य नहीं है – तो प्रश्न खडा है कि तत्त्वव्यवस्था किस प्रमाण से होगी ? प्रत्यक्ष से नहीं हो सकती क्योंकि वहाँ प्रामाण्यप्रयोजक अर्थाव्यभिचार का सम्भव नहीं है । कदाचित् आप की इच्छानुसार वहाँ अर्थाव्यभिचार मौजूद हो फिर भी प्रत्यक्षादि उस के ग्रहण में सशक्त नहीं होने से प्रत्यक्ष का प्रामाण्य ही जब तक सिद्ध नहीं है, उस से तत्त्वव्यवस्था कैसे होगी ? यदि कहें कि (योगाचारमतानुसार) स्वसंवेदनमात्र से तत्त्वव्यवस्था होगी – तो यह सम्भव नहीं क्योंकि ग्राह्य-ग्राहकाकारशून्य जैसा संवेदन आप को मान्य है वैसा किसी को भी अनुभवोपारूढ नहीं है अतः वह स्वयं ही व्यवस्थित नहीं, तत्त्व की व्यवस्था क्या करेगा ? यदि कहें – 'भावमात्र प्रतिभासतुल्य

न च समानाऽसमानपरिणामात्मकव्यक्तीनामानन्त्यात् तिर्यक्सामान्यस्य चैकस्य सर्वव्यक्तिव्यापिनो व्यक्त्युपलक्षणभूतस्यानभ्युपगमात् तदभ्युपगमेऽपि तद्योगात् तासामानन्त्याऽविनिवृत्तेर्न संकेतस्तासु सम्भवतीति वक्तव्यम् अतद्रूपपरावृत्ताग्निधूमव्यक्तीनामानन्त्येऽपि यथा प्रतिबन्धः परस्परं निश्चीयते – अन्यथानुमानोत्थानाभावप्रसक्तेर्न क्षणिकत्वादितत्त्वव्यवस्था स्यात् अन्यस्य तद्व्यवस्थापकस्याऽसम्भवात् – तथा यथोक्तव्यक्तीनामानन्त्येऽपि संकेतसम्भवो युक्त एव । स च सम्बन्धोऽग्निधूमव्यक्तीनां प्रत्यक्षेणैव ग्रहीतव्यः परेण, अनुमानेन ग्रहणेऽनवस्थेतरेतराश्रयदोषप्रसंगात् । न च दर्शनपृष्ठभाविना विकल्पेन तत्सामर्थ्यबलोद्भूतेन स्वव्यापारोत्प्रेक्षाति(?पु)रस्कारेण दर्शनव्यापारानुसारिणा लौकिकानां प्रत्यक्षाभिमा-

यह भी विचारना जरूरी है कि जब शब्द या उस का अर्थ के साथ सम्बन्ध एकान्त से नित्य है तब (क्रमशः) मुख-तालु आदि अंगो की क्रिया अथवा संकेत कभी कभी शब्द या सम्बन्ध को अभिव्यक्त करे और कभी न करे यह बात युक्तिसंगत नहीं लगती । एवं शब्द के अर्थरूप में मान्य सामान्य पदार्थ भी एकान्त से नित्य होगा तो कभी उस का शब्द से बोध हो और कभी न हो यह भी युक्तिसंगत नहीं है । व्यक्ति के माध्यम से जो जाति की अभिव्यक्ति होती है वह भी कभी हो कभी न हो ऐसा मानने पर व्यक्त-अव्यक्त विरोधी स्वभाव के जरिये भेद प्रसक्त होने से एकान्तनित्यत्व भी लुप्त हो जायेगा । उपरांत, सामान्य यदि आकाश आदि की तरह सर्वगत होगा तो शब्द और सम्बन्ध के बारे में जैसे अभिव्यक्ति सांकर्य का दोष ऊपर बताया है वह यहाँ भी लागू होगा । यह भी विचारणीय है कि गोत्वादि सामान्य का समवाय सम्बन्ध जब बिना पक्षपात के व्यापक है तो फिर वह गोव्यक्ति में ही रहे, अश्वादि में न रहे उस का नियामक कौन होगा ? तथा गौ के दर्शन में गौ के सास्नादि अवयवों का बोध होता है किन्तु उस से अतिरिक्त किसी गोत्वादि सामान्य का बोध नहीं होता, फिर कैसे वह शब्द या संकेत का विषय माना जाय और उसे 'गौ' आदि शब्दों का वाच्य भी कैसे माना जाय ?–

ये सब एकान्तवादी मीमांसक (और नैयायिक) के मत में बौद्ध की और से दिखाये गये दूषण अनेकान्तवादी जैन मत में निरवकाश हैं क्योंकि यहाँ सामान्यविशेषात्मक वस्तु को शब्दगोचर कहा गया है ।

★ व्यक्ति अनन्त होने पर भी संकेत की उपपत्ति ★

यदि यह कहा जाय – 'जैन मत में समाना-असमानपरिणामात्मकव्यक्ति को संकेत का विषय दिखाया जाता है किन्तु यह असंभव है क्योंकि तादृश व्यक्ति अनन्त हैं, उन सभी में व्यापक हो और उपलक्षण बन कर उन का बोध करावे ऐसा एक तिर्यक् सामान्य तो आप मानते नहीं है, कदाचित् उस को मान ले तो भी उस के योग से व्यक्ति सब एक नहीं हो जायेगी किन्तु अनन्त ही रहेगी, तब उन एक एक में कैसे संकेत हो सकेगा ?' – तो यह प्रश्न अयुक्त है, क्योंकि बौद्धमत में अनग्निव्यावृत्त अग्नि व्यक्तियाँ अनन्त हैं और अधूमव्यावृत्त धूम व्यक्तियाँ भी अनन्त हैं तथापि यहाँ एक दूसरे का यानी धूम में अग्नि का अविनाभावात्मक सम्बन्ध निश्चित होने का माना जाता है; उस को नहीं मानेंगे तो बौद्धमत में किसी भी अनुमान का उत्थान रुक जाने से क्षणिकत्वादि जो कि प्रत्यक्ष के विषय नहीं होते, उन तत्त्वों की चारु व्यवस्था नहीं हो सकेगी, क्योंकि अनुमान के अलावा और कोई उस का व्यवस्थापक बौद्ध मत में नहीं है । अतः उन की व्यवस्था के लिये अनुमान करने हेतु व्याप्तिरूप सम्बन्ध का ग्रहण मानना ही होगा – ठीक ऐसे ही व्यक्ति अनंत होते हुए भी उन में

नविषयत्वेन स्थितेन प्रतिबन्धग्रहणादेरुपपत्तेरनुमानप्रवृत्तिर्भविष्यति, तज्जनकं वा दर्शनं तद्व्यापारविकल्पं स्वव्यापारारोपणत्वेन विकल्परूपतामापन्नं पूर्वोक्तकार्यजनकत्वादनुमानप्रवृत्तिनिमित्तम्; विकल्पस्यैव प्रामाण्यप्रसक्तेः । तथाहि प्रत्यक्षे निर्विकल्पे सत्यपि यत्रैव यत्रांशे विकल्पस्तत्रैव प्रवृत्त्यादिव्यवहारकर्तृत्वेन तस्य प्रामाण्यं नान्यत्र, अनुमानविकल्पे च प्रत्यक्षाभावेऽपि प्रवृत्त्यादिव्यवहारविषयत्वेन प्रामाण्यमित्यन्वय-व्यतिरेकाभ्यां विकल्पस्यैव प्रामाण्यम् । इति प्रत्यक्षानुमानप्रमाणद्वयवादिनां व्याप्तिग्राहको विकल्पः प्रत्यक्षं प्रमाणमभ्युपगन्तव्यः । तत्र यथा व्यक्तीनामानन्त्येऽपि प्रत्यक्षतः प्रतिबन्धनिश्चितता संकेतविषयत्वमपि तासां तत एव सेत्स्यति ।

अत एवानुमान-शाब्दयोः सामग्रीभेदाद् भेदेऽपि प्रत्यक्षेण सहैकविषयत्वम् अन्यथाऽपरस्य प्रतिबन्धग्राहकस्य पराभ्युपगमेनाऽसम्भवात् – तयोरप्रवृत्तिप्रसक्तिः । विकल्पस्य प्रतिबन्धग्राहकत्वे तद्विषयस्याऽवस्तुत्वान्न केनचित् कार्यकारणभावस्तादात्म्यं वा । न च विकल्पविषययोर्दर्शनविषयत्वेन स्थितयोः कार्यकारणभावस्तादात्म्यं वा, विकल्पविषयस्य वस्तुदर्शनबलोद्भूतविकल्पप्रदर्शितस्य तद्रूपत्वं तत्त्वतोऽन्य-

---

संकेत का ग्रहण भी सम्भवारूढ मानना युक्तियुक्त है । यहाँ –'अनन्त व्यक्ति में भी संकेतविषयता का ग्रहण विकल्पात्मक प्रत्यक्ष से ही हो सकेगा' – इस बात को पुष्ट करने के लिये व्याख्याकार पहले बौद्धमत में व्याप्तिरूप संबन्ध का ग्रहण कैसे होगा यह समीक्षा करते हुए कहते हैं –

★ विकल्प की महिमा से व्याप्ति का ग्रहण ★

अग्नि और धूम व्यक्तियों का व्याप्ति सम्बन्ध बौद्धमत में प्रत्यक्ष से ही गृहीत हो सकेगा न कि अनुमान से, क्योंकि उस अनुमान के भी व्याप्तिसम्बन्ध को ग्रहण करने के लिये अन्य अन्य अनुमान की आवश्यकता हो जाने से अनवस्था दोष होगा, तथा पहले अनुमान से 'दूसरे अनुमान में उपयोगी सम्बन्ध' का ग्रहण – दूसरे अनुमान से 'पहले अनुमान में उपयोगी सम्बन्ध' का ग्रहण – ऐसा मानने पर अन्योन्याश्रय दोष होगा । यदि ऐसा कहें कि – "दर्शन के बाद, दर्शन के ही सामर्थ्यबल से उत्पन्न होने वाले, दर्शन के व्यापार को आगे बढाने वाले एवं अपने उत्प्रेक्षा (ऊह) नामक व्यापार को पुरस्कृत करते हुए जनसाधारण को जिस में प्रत्यक्षत्व का अभिमान होता है ऐसे (इन विशेषणों से युक्त) विकल्प से ही व्याप्ति सम्बन्ध का ग्रहण हो जाने से अनुमान की प्रवृत्ति हो जायेगी । अथवा ऐसे विकल्प का उत्पादक दर्शन ही उस विकल्प में अपने व्यापार का आरोपण होने के नाते विकल्पस्वरूपता को आत्मसात् कर के सम्बन्ध को ग्रहण करेगा इस लिये वह दर्शन ही अनुमानप्रवृत्ति का निमित्त बन जायेगा !" – ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि इस तरह तो विकल्प के ऊपर ही प्रामाण्य का अभिषेक हो जाता है । (जो आप को इष्ट नहीं) । सुनिये – विकल्प में निम्नोक्त अन्वय व्यतिरेक से प्रामाण्य सिद्ध होता है, निर्विकल्प प्रत्यक्ष होते हुए भी जिस विषय में पूर्वोक्तस्वरूप विकल्प का प्रादुर्भाव होता है उस विषय में ही प्रवृत्ति आदि व्यवहार के सामर्थ्य से दर्शन को प्रमाण माना जाता है, जिस विषय में विकल्प का प्रादुर्भाव नहीं होता उस विषय में नहीं (यह व्यतिरेक है) । तथा अनुमान जो कि एक विकल्पस्वरूप ही है उस प्रत्यक्षदर्शन न होने पर भी (यानी वहाँ दर्शन का [illegible] भी अवकाश न रहने पर भी) उसी विकल्प में प्रवृत्ति आदि व्यवहार सामर्थ्य से [illegible] माना जाता है । यह अन्वय हुआ । इस प्रकार प्रवृत्ति आदि के लिये विकल्प का ही अन्वय-व्यतिरेक से सामर्थ्य यानी प्रामाण्य सिद्ध होता है । [illegible]

थाभूतस्याप्यारोप्यत इति कृत्वा, यतो 'यत्र व्याप्तिग्रहणं न तत्र तात्त्विकः प्रतिबन्धः यत्र त्वसौ न तत्र प्रतिबन्धग्रहणम्', इत्यनुमानप्रवृत्तिमभ्युपगच्छता प्रत्यक्षविषयत्वं तस्याऽभ्युपगन्तव्यम् । अनुमानतुल्यविषयत्वं च शाब्दप्रत्ययस्य परेणाप्यभ्युपगम्यत एव, तस्य परार्थानुमानत्वाभ्युपगमात् । यदि पुनर्विकल्पप्रतिभासिन्यवस्तुनि संकेतः पुनश्च तत्र प्रतिपत्तिः कथं वस्तु-तत्सामान्यसंकेतादस्य विशेषः स्यात् ? विकल्पानामभावविषयत्वैकान्ते तत्त्वमिथ्यात्वव्यवस्थितेरनुपपत्तिश्च । अपि च शब्दैर्विकल्पैर्वा यद्यभावः प्रतीयते – 'भावो न प्रतीयते' – इति क्रियाप्रतिषेधान्न किंचित् कृतं स्यात् । यदि पुनरभिप्रायाऽविसंवादात् सत्यार्थत्वव्यवस्थितिः, कथं 'एकं शास्त्रं युक्तं नाऽपरम्' इति व्यवस्था युज्येत विपक्षवादिनामपि

दो ही प्रमाण मानने वाले बौद्ध को व्याप्तिग्राहक सविकल्प प्रत्यक्ष प्रमाणभूत स्वीकारना ही होगा ।

इस प्रकार, व्यक्ति अनंत होने पर भी जैसे व्याप्ति संबंध की प्रत्यक्ष से सिद्धि होती है वैसे ही प्रत्यक्ष से उन व्यक्तियों में संकेतविषयता भी सिद्ध हो सकती है ।

★ प्रत्यक्ष में सम्बन्धग्राहकता अवश्यमान्य ★

व्याप्ति सम्बन्ध और संकेतविषयता की सिद्धि प्रत्यक्ष से सम्भवित है इसी लिये अनुमान और शाब्दबोध में व्याप्तिग्राहक और संकेतग्राहक प्रत्यक्ष की समानविषयता भी उपपन्न होती है, भले सामग्रीभेद से उन में स्वरूपभेद रहता हो । समानविषयता के ऊपर ही सम्बन्धग्रह अवलम्बित है, यदि समानविषयता नहीं मानेंगे तो प्रत्यक्ष से सम्बन्धग्रह नहीं होगा, और तो कोई सम्बन्ध ग्राहक बौद्धमत में घटता नहीं है, फलतः सम्बन्धग्रहण के अभाव में अनुमान और शाब्दबोध भी रुक जायेगा । अभी जो ऊपर बौद्ध ने कहा था कि विकल्प से सम्बन्धग्रहण होगा, वहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि जब आप विकल्प को मिथ्याज्ञान मानते हैं तो उस का विषय वस्तुभूत न होने से एक दूसरे के साथ कार्यकारण भाव या तादात्म्य ही नहीं सिद्ध होगा तो कार्यहेतुक या स्वभावहेतुक अनुमान के लिये सम्बन्धग्रहण कैसे होगा ? ऐसा नहीं कह सकते कि – 'विकल्प के दो विषय (कार्य और कारण आदि) दर्शन के भी विषय रूप में मान्य है इस लिये उन में कार्यकारणभाव या तादात्म्य की संगति बैठ जायेगी' – क्योंकि आप के मतानुसार वस्तुदर्शन के बल से उत्पन्न विकल्प के द्वारा प्रदर्शित जो विकल्प के विषय हैं उन में वास्तव में तद्रूपता (कार्यकारणभावादि) के न होने पर भी तद्रूपता का आरोप हो सकता है । यह भी इस लिये कि विकल्प के विषयभूत अर्थ में यद्यपि व्याप्तिग्रहण होता है किन्तु वास्तव में वहाँ व्याप्ति होती नहीं है, व्याप्ति तो वास्तव में दर्शन के विषय में होती है किन्तु वहाँ व्याप्तिग्रह नहीं होता । इस संकट को टालने के लिये एवं अनुमानप्रवृत्ति को संगत करने के लिये प्रत्यक्ष में सम्बन्धविषयता का स्वीकार अनिच्छया भी करना होगा ।

शाब्दबोध में अनुमानसमान विषयता तो बौद्ध को मान्य होनी ही चाहिये क्योंकि वह शाब्दबोध को अतिरिक्त प्रमाण न मान कर परार्थानुमानरूप मानना है । दूसरी बात यह है कि यदि बौद्ध विकल्पभासित अवस्तु में संकेत और कालान्तर में उसी अवस्तु का बोध मानता है तो अन्य लोग जो कि वस्तु अथवा वस्तुगत सामान्य में संकेत एवं कालान्तर में उस का बोध मानते हैं उन से क्या फर्क हुआ ? जो दोषारोपण वस्तुवादी के पक्ष में किया जायेगा वही अपोहवादी के पक्ष में भी प्रसक्त हो सकेगा । तथा, विकल्प को यदि एकान्ततः अभावविषयक ही मानेंगे तो फिर 'यह यथार्थ है – यह मिथ्या है' यह व्यवस्था भी शक्य नहीं होगी क्योंकि दर्शन

स्वाभिप्रायप्रतिपादनाऽविसंवादनात्? न चायमेकान्तः 'शब्दैर्बाह्योऽर्थो न प्रतिपाद्यते', तद्व्यवहारोच्छित्तिप्रसङ्गात्। दृश्यन्ते च स्वयमदृष्टेषु नदी-देश-पर्वत-द्वीपादिष्वाप्तप्रणीतत्वेन निश्चितात् शब्दात् तत्स्वरूपप्रतिपत्तिं कुर्वाणाः। न च दृष्टेष्वपि विशेषेषु सम्प्रदायमन्तरेण मणि-मन्त्रौषधादिषु सद्भूतं तत्त्वनिर्णी(र्णी)तिः। न च तद्विशेषाऽविनिश्चयेऽपि कथंचिन्निर्णीतिर्नोपपद्यते, प्रत्यक्षस्यापि स्वविषयप्रतिपत्तेः कथंचिदेव सम्भवात्। तत् 'असाधारणं वस्तुस्वरूपमविकल्पविषयभूतं परमार्थसत्, विकल्पानां प्रत्यक्षपृष्ठभाविनाम् वाच्यविषयाणामन्येषां च सर्वथा निर्विषयत्वं' व्यवस्थापयन्नविचारक एव सौगतः।

यतः प्रत्यक्षं स्वलक्षणं विषयलक्षणं वा तत्त्वं न निश्चिनोति, विकल्पकं पुनः सामान्येनाऽवस्त्वेव निश्चिनोतीति निश्चयक्रियाप्रतिषेधान्न किंचित् केनचिन्निश्चेयम्, अनिश्चितेन च स्वरूपेण न तत्त्वव्यवस्थेति प्रत्यक्षवच्छब्दस्याप्युभयात्मकवस्तुनिश्चायकत्वेन प्रामाण्यमभ्युपेयम्। न च प्रत्यक्षे पुरोऽवस्थितं घटादिकं चक्षुर्जन्ये श्रोत्रप्रभवे शब्दस्वरूपं च प्रतिभाति नापरो वाच्य-वाचकभावस्तयोरिति वक्तुं युक्तम्, यतो नास्माभिरेकान्ततस्तयोर्भिन्नो वाच्यवाचकभावोऽभ्युपगम्यते – येन तस्य पृथक् प्रतिभासः स्यात् – किन्तु संकेतसव्यपेक्षस्य शब्दस्य वाचकत्वं कथंचिदभिन्नो धर्मः तदपेक्षया चार्थस्यापि वाच्यत्वं तथाभूत एव

से तो वह होती नहीं। उपरांत, ज्ञातव्य है कि अपोहवादी जो कहता है कि शब्द या विकल्पों से प्रमाणप्रतीति होती है – यहाँ प्रमाणप्रतिषेध होने पर क्रियाप्रतिषेध होने से यह मतलब होगा की भावप्रतीति नहीं होती यानी कुछ भी प्रतीत नहीं होता, जो कतई ठीक नहीं। यदि वक्ता के अभिप्राय के अविसंवाद के आधार पर सच्चाई की व्यवस्था करना हो तो 'एक शास्त्र सच्चा है, दूसरा झूठा' यह व्यवस्था कैसे हो पायेगी? विरुद्धवादीओं का प्रतिपादन भी अपने अपने अभिप्राय से तो अविसंवादी ही होते हैं।

ऐसा एकान्तवाद भी नहीं है कि 'शब्द बाह्यार्थ का प्रतिपादक नहीं होता'। ऐसा एकान्त मानने पर तो बाह्यार्थसम्बन्धी व्यवहार उच्छिन्न हो जायेगा। और, बहुत से ऐसे नदी-देश-पर्वत-द्वीपादि स्थान हैं जिन को हमने कभी नजरों से नहीं देखा फिर भी भूगोलशास्त्र के विश्वस्त प्रणेताओं के प्रकाशित ग्रन्थों के द्वारा उन नदी पर्वत आदि स्थानों के बारे में यथार्थ जानकारी प्राप्त करते हुए बहुत से लोग दिखाई देते हैं। शब्द यदि बाह्यार्थ का प्रतिपादक नहीं है तो यह कैसे होगा?! नहीं देखी ऐसी चीजों की क्या बात, देखे हुए विविध मणि-मन्त्र-औषधादि के प्रभावतत्त्व का निर्णयात्मक ज्ञान भी हमें आम्नायपरम्परा से ही प्राप्त होता है। 'शब्द से वस्तु के विशेषस्वरूप का भान नहीं होता' इतने मात्र से यह नहीं कह सकते कि कुछ भी (सामान्यस्वरूप का भी) भान नहीं होता, प्रत्यक्ष से भी वस्तु के सकल विशेष का भान सम्पूर्णतया नहीं होता, कुछ ही विशेषों का भान होता है। सारांश, 'विकल्प का कोई विषय ही नहीं है' ऐसा [illegible] [illegible] है। [illegible]

★ शब्दप्रमाण माने बिना तत्त्वव्यवस्था दुर्घट ★

[illegible]

धर्मः । तच्च द्वयमपि शब्दार्थप्रतिभाससमये क्षयोपशमविशेषाविर्भूते क्वचिज्ज्ञाने प्रतिभासत एव । तथाहि – 'इदमस्य वाच्यम्', 'इदं वाऽस्य वाचकम्' इत्युल्लेखवत् तद्ग्राहिविशिष्टेन्द्रियादिसामग्रीप्रभवं ज्ञानमनुभूयत एव संकेतसमये । न च 'अस्येदं वाचकम्' इति किं प्रतिपादकं यद्वा, कार्यम् कारणं वा ?' इति पक्षत्रयोद्भावनं कर्तुं युक्तम् प्रतिपादकत्वस्य वाचकत्वप्रदर्शनात् । 'प्रतिपादकत्वेऽप्यधुनाऽन्यदा वा विशदेन रूपेणेन्द्रियप्रभव एव ज्ञाने तद् वस्तु प्रतिभाति न शाब्देन, शब्दस्य तत्र सामर्थ्यानवधारणात्' – इत्येतदप्यसंगतम् विहितोत्तरत्वात् । दूरस्थवृक्षाद्यर्थग्राहिणोऽविशदस्यापि प्रत्यक्षत्वप्रतिपादनात् शाब्दस्यापि तत्प्रतिभासविशिष्टस्य तत्र प्रामाण्येन तदुत्थापक शब्दस्य तत्र सामर्थ्याधिगतेः ।

न च 'यदि शब्देनैवासावर्थः स्वरूपेण प्रतिपाद्यते तदास्य सर्वथा प्रतिपन्नत्वात् प्रवृत्तिर्न स्यात्' इति युक्तम् प्रत्यक्षेऽप्यस्य दूषणस्य समानत्वात् । तथाहि – प्रत्यक्षेणापि यदि नीलादिः सर्वात्मना प्रतिपन्नः किमर्थं तत्र प्रवर्त्तेत ? तथापि प्रवृत्तौ प्रवृत्तेरविरतिप्रसक्तिः । अथाऽप्रतिपन्नं किंचिद् रूपमस्ति यदर्थं प्रवृत्तिः – इत्यादिकमपि प्रत्यक्षेऽपि समानम् । तत्रापि हि शक्यते एवं वक्तुम् – यद्यर्थक्रियार्थं

किसी का निश्चेय (= निश्चयविषय) नहीं है, जब तत्त्वस्वरूप ही निश्चय से दूर है तो तत्त्वव्यवस्था कैसे होगी ? तत्त्वव्यवस्था यदि करना है तो प्रत्यक्ष की भाँति शब्द को भी सामान्य-विशेषोभयात्मक वस्तु का निश्चायक मान कर प्रमाणभूत मानना होगा । यदि यह कहा जाय – नेत्रजन्य प्रत्यक्ष में तो सिर्फ़ संमुखवर्त्ती घटादि का ही अनुभव होता है (शब्द का नहीं) और श्रोत्रजन्य ज्ञान में शब्दस्वरूप का ही अनुभव होता है (अर्थ का - घटादि का नहीं) अतः दोनों में से किसी भी एक में शब्द और अर्थ के वाच्यवाचकभाव की प्रतीति नहीं होती – तो यह ठीक नहीं है, हमारे जैन मत में वाच्यवाचकभाव शब्द-अर्थ से एकान्ततः भिन्न नहीं माना जाता जिस से कि उस का पृथक् प्रतिभास किया जा सके । हमारा मत ऐसा है कि शब्दनिष्ठ वाचकत्व जो कि संकेतावलम्वी है वह शब्द का कथंचिद् अभिन्न धर्म ही है । एवं वाच्यत्व भी अर्थ का संकेतावलम्वी ऐसा अभिन्न धर्म ही है, और जव शब्द और अर्थ का मिलित प्रतिभास होता है उस वक्त क्षयोपशमविशेष (आत्मसामर्थ्यविशेष) के प्रभाव से आविर्भूत किसी एक ज्ञान में वाचकत्व-वाच्यत्व ये दोनों प्रतिभासित भी होते हैं । देखिये – संकेतक्रिया काल में 'यह इस से वाच्य है' अथवा 'यह इस का वाचक है' इस प्रकार के उल्लेख के साथ, वाच्यत्व-वाचकत्व उभय ग्राहक, 'शब्दसहकृत इन्द्रियादि विशिष्ट सामग्री' से निपजने वाले ज्ञान का सभी को अनुभव होता है ।

– 'यह इस का वाचक है' ऐसे उल्लेख में वाचक यानी क्या ? प्रतिपादक अथवा कार्य अथवा कारण ? – ऐसे तीन विकल्पों का उद्भावन जो पहले किया गया था [१४४-२४] उस की कुछ भी आवश्यकता नहीं है क्योंकि वाचकत्व का सर्वत्र प्रतिपादकत्व अर्थ ही प्रदर्शित किया जाता है । पहले जो कहा था [१४४-२६] 'शब्द से अर्थ का प्रतिपादन मानने पर भी वर्त्तमान में या कालान्तर में, इन्द्रियजन्य ज्ञान में ही वस्तु विशदाकार भासित होती है, शाब्दवोध में नहीं होती क्योंकि विशदाकार वस्तुप्रतिभास के लिये शब्द में सामर्थ्य नहीं दिखता ।' यह भी गलत है क्योंकि 'इन्द्रियजन्य ज्ञान विशद ही होता है' इस वात का निषेध करते हुए पहले हमने इस का उत्तर [२४५-१६/१७]दे दिया है, जैसेः दूरवर्त्ती वृक्षादि अर्थ का इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष अविशदाकार होते हुए भी प्रमाण ही माना जाता है इसी तरह अविशदप्रतिभास कराने वाला शाब्दवोध भी प्रमात्मक होने से उस के जनक शब्द में प्रमाजननसामर्थ्य सिद्ध होता है ।

नीलादिके प्रवर्त्तेत तदा तदेवार्थः अर्थक्रियाक्षमत्वात्, न प्रत्यक्षप्रतिभातं नीलादिकं तस्यार्थक्रियासामर्थ्यरहितत्वात् । अथ तदपि नीलादिकमर्थक्रियाक्षमं तथापि तदर्थक्रियार्थी तदादानाय प्रवर्त्तेत, ननु शब्दप्रतिभासेऽप्येतत् समानमुत्पश्यामः । यदपि 'अथाऽविशदेनाकारेण शब्दास्तमर्थं प्रकाशयन्ति तदाऽन्याऽस्य आकारो नेन्द्रियगोचरः' तदप्यसंगतम्, तस्येन्द्रियविषयत्वेन प्रतिपादितत्वात् तत्र प्रवृत्ताः शब्दाः कथं नेन्द्रियगोचरं प्रवृत्ताः भवन्ति !!

यदपि – 'श्रुतं पश्यामि' इत्येकत्वाध्यवसाये दृष्टरूपतया श्रुताध्यवसाये दृष्टमेव, श्रुतरूपतया दृष्टस्य ग्रहणे श्रुतमेव, न तयोरेकत्वम् इति – एतच्चित्रपतंगेऽपि समानम् । तथाहि – यदि तत्रापि नीलाद्याकारः पीताद्याकारतया गृह्यते चित्रपतंगज्ञानेन तदा पीताद्याकार एवासौ न नीलाद्याकारः; अथ नीलाद्याकारतया पीताद्याकारो गृह्यते तदा नीलाद्याकार एवासौ कुतश्चित्र एकः ? तथा, तत्प्रतिभासेऽपि

★ प्रवृत्तिभंगदोष प्रत्यक्ष में भी तुल्य ★

पहले जो यह कहा गया था [१४५-१६] – शब्द से ही अर्थ का अपने संपूर्णरूप से ग्रहण होता है तो प्रवृत्ति करने की जरूर नहीं रहेगी क्योंकि प्रवर्त्तरूप से भी वह सर्वथा गृहीत हो चुका है – यह दूषण प्रत्यक्षवादी को भी समान है । देखिये – प्रत्यक्ष से यदि सर्वात्मना नीलादि का ग्रहण होता है तो प्रत्यक्षकाल में भी गृहीत हो जाने से प्रवृत्ति करने की जरूर नहीं रहेगी । गृहीत हो जाने पर भी यदि प्रवृत्ति होती रहेगी तो सदा के लिये होती रहेगी, विराम नहीं होगा । यह जो पहले कहा था [१४५-१८] – शब्द से अगृहीत भी कुछ स्वरूप होता है, उस के ग्रहण के लिये प्रवृत्ति को सार्थक मानेंगे तो उस का मतलब यह होगा कि जिस स्वरूप के ग्रहणार्थ प्रवृत्तिरूप अर्थक्रिया होती है वही पारमार्थिक स्वरूप है और वह शब्दार्थ नहीं है । यानी शब्द पारमार्थिक स्वरूप का वाचक नहीं है ।...इत्यादि – यह सब प्रत्यक्षपक्ष में भी समानरूप से कहा जा सकता है जैसे कि – प्रत्यक्ष से नीलादि गृहीत होने पर भी अर्थक्रियाप्रयोजक स्वरूप अगृहीत रहता है उस के ग्रहण के लिये प्रवृत्ति होती है, इस का फलितार्थ यह होगा कि अर्थक्रियासमर्थ होने से वह स्वरूप ही पारमार्थिक है, प्रत्यक्षगृहीत नीलादि अर्थक्रियासमर्थ न होने से अपारमार्थिक है । यदि ऐसा बचाव करें कि – प्रत्यक्षगृहीत नीलादि भी अर्थक्रियासमर्थ ही है, उस के अपना अगृहीत के ग्रहण के लिये प्रवृत्ति नहीं होती किन्तु नीलादिजन्य अर्थक्रिया का अर्थी उस अर्थक्रिया की प्राप्ति के लिये प्रवृत्ति करता है जो सार्थक है । – तो यह बात शब्दवादियों के लिये भी बचाव के समान तौर पर कही जा सकती है ।

पहले जो यह कहा था [१४५-२६] – शब्द [illegible]

[illegible]

★ [illegible] ★

पहले जो यह कहा था [illegible]

ज्ञाने नीलाद्याभासो यदि पीताभासतया संवेद्यते तदा पीताभासमेव तद् ज्ञानं न नीलाद्याभासमित्यादिकल्पनया न चित्रप्रतिभासमेकं ज्ञानम् । तथा, नीलसंवेदनेऽपि प्रतिपरमाण्वेवंकल्पनया नैकं नीलप्रतिभासं ज्ञानं, विविक्तस्य च ज्ञानपरमाणोरसंवेदनात् सर्वशून्यतापत्तेः सर्वव्यवहारोच्छेद इति न किंचिद् वक्तव्यम्। अथानेकनीलपरमाणुसमूहात्मकमेकत्वेन संवेदनादेकं नीलज्ञानम् तर्हि दृष्टश्रुतरूपमवाधितैकत्वप्रतिभासादेकं वहिर्वस्तु किं नाभ्युपगम्यते ? यथा युगपद्भाव्यनेकनीलज्ञानपरमावभासानां स्वसंवेदने एकत्वाऽविरोधः तथा क्रमेणापि दृष्ट-श्रुतावभासयोरेकत्वेनाऽविरोधः 'दृष्टं श्रुणोमि' इति ज्ञानेन भविष्यतीति ! एकत्वावभासिना दर्शनशब्दविपयस्यार्थस्यैकत्वं निश्चीयते इति परमार्थत एव तत् तत्त्वमिति ।

एतेन 'भिन्नविज्ञानप्रतिभासिनोर्न विशेपण-विशेष्यभावः, एकविज्ञानप्रतिभासिनोरपि युगपत् स्वातन्त्र्येण द्वयोः प्रतिभासनाद् घट-पटयोरिव नासौ युक्तः । ताद्रूप्येण प्रतिभासने विशेष्यरूपता विशेपणरूपता वा केवला, द्वयोः प्रतिभासाभावात् न विशेपण-विशेष्यभावः क्वचिदपि ज्ञाने प्रतिभाति' इत्येतदपि निरस्तम्, अनेकनीलपरमाणुप्रतिभासज्ञाने तत्संवेदने वाऽस्य समानत्वात् । न च नीलपरमाणूनां

में श्रुत का अध्यवसाय यदि 'दृष्ट' रूप से हो रहा है तव वह दृष्टरूप ही होना चाहिये, यदि दृष्टाध्यवसाय का श्रुतरूप में अध्यवसाय होता है तो वह श्रुतरूप ही है – मतलव यह है कि दृष्ट है वह श्रुतरूप नहीं है और श्रुत है तो दृष्टरूप नहीं है... इत्यादि– ऐसा दोपान्वेपण चित्ररूपवाले परवाने में समान है । देखो–रंगविरंगे पतंगे के ज्ञान में नीलादिआकार का ग्रहण यदि पीतादिआकाररूप से होता है तो वह पीतादिआकार ही है न कि नीलादिआकार; एवं पीतादिआकार यदि नीलादिआकारमय गृहीत होता है तो वह नीलादिआकार स्वरूप ही है न कि पीतादिआकारस्वरूप । तव परवाने में एक चित्ररूप कैसे मानेंगे ? इसी तरह, पतंगावभासि ज्ञान में भी यदि नीलादिआभास का पीतादिआभासरूप में संवेदन होता है तो वह पीतादिआभास ही है न कि नीलादिआभास; एवं पीतादिआभास यदि नीलादिआभासरूप में संविदित होता है तव वह नीलादिआभास ही है न कि पीतादिआभास... इस प्रकार चित्रप्रतिभास एक ज्ञान भी कैसे सिद्ध होगा ?

नीलज्ञान भी एक संवेदनरूप सिद्ध नहीं होगा– देखिये, नीलपरमाणुपुञ्जग्राहक ज्ञान यदि एकनीलपरमाणुआकार है तो अन्यनीलपरमाणुआकार स्वरूप वह नहीं हो सकता.. इस प्रकार परमाणुभेद से ज्ञानभेद प्रसक्त होने पर एक नीलज्ञान सिद्ध नहीं होगा । नीलपरमाणुसंवेदी एक नीलज्ञान भी सिद्ध नहीं हो सकता क्योंकि परमाणु प्रत्यक्षगोचर नहीं है, अत एव एकनीलपरमाणुज्ञान भी अपनी हस्ती ही न होने से प्रत्यक्षगोचर नहीं है, फलस्वरूप सर्वशून्यतावाद सिर उठायेगा । जगत् के तमाम व्यवहारों का उच्छेद हो जायेगा । इस वात पर अधिक क्या कहा जाय ?!

यदि ऐसा कहें कि– अनेक नीलपरमाणुओं का पुञ्ज एकात्मना संवेदित होता है इसलिये एक नीलज्ञान संगत होता है– तो दृष्ट और श्रुत पदार्थ भी जव निर्वाधरूपमें एकात्मना संविदित होता है तो दृष्ट-श्रुतस्वरूप एक वाह्यार्थ स्वीकारने में क्यों आप कतराते हैं ? जैसे एक साथ अनेक नीलपरमाणुवृंद से उत्पन्न अनेक नीलज्ञानाणुकावभासों के अपने संवेदन में एकत्व होने में कोई विरोध नहीं आता; तो ऐसे ही 'देखे हुए को सुनता, हूँ' इस ज्ञान के आधार पर, क्रमशः दृष्ट एवं श्रुत के अवभासों में भी एकत्व होने में विरोधावकाश नहीं होगा । इस प्रकार दर्शन और शब्द के विपयभूत अर्थों में भी एकत्वावभासिज्ञान से एकत्व का निश्चय होता है इसलिये उन का

तत्प्रतिभासपरमाणूनां वा परस्परविविक्तानां प्रत्यक्षे स्वसंवेदने न प्रतिभास इति नायं दोषः, यतः परमाणुपारिमाण्डल्यादेः बहिरन्तश्चाऽप्रतिभासनात् स्थूलस्यैकस्य संहृतविकल्पावस्थायामपि बहिरन्तश्च चेत्य-चेतकतयाऽविनिर्भासत्वतः प्रतिभासनात्। परमाणुरूपं बहिरन्तर्वा संवेदनं वा प्रत्यक्षं प्रतिजानानः कथं सर्वज्ञात्मानमात्मानं न प्रतिजानीते ? शक्यं हि वक्तुम्- संवेदनं सर्वं सकलं विषयीकरोति, देशकाल-स्वभावविप्रकृष्टेष्वपि भावेषु संवेदनस्य निरंकुशत्वात्, किन्तु कुतश्चिद्विभ्रमप्रयोजकेनोपविकल्पवासनानिमित्तान्तः कर्तोः यथार्थस्वभावं प्रत्यक्षेण विपर्यासितमपि न निश्चिन्वन्तीति। 'प्रत्यक्षबुद्धेस्तथाऽर्थप्रतिभासाभावात् सर्व-ज्ञत्वमयुक्तम्' इति चेत् ? परमाणुपारिमाण्डल्यादेरप्यप्रतिभासनं समानं संपश्यामः।

यदपि 'काल्पनिकः शब्दार्थयोः सम्बन्धः न नियतः' इति तदप्ययुक्तम्, प्रतिनियतसंकेतानुसारिणो नियतात् शब्दात् प्रतिनियतार्थप्रतिपत्तिदर्शनात्। तेन 'न शब्दस्वरूपं नियतार्थप्रतिपत्तिहेतुः तस्य सर्वार्थान्

एकत्व पारमार्थिक तत्त्व है यह सिद्ध होगा।

★ विशेषण – विशेष्यभाव में अनुपपत्ति का निरसन ★

यह जो पहले कहा था [१३८-२७]- भिन्न भिन्न विज्ञान में प्रतिभासित होनेवाले नील-उत्पल में विशेषण-विशेष्य भाव होना संभवित नहीं है। एक विज्ञान में भी ये दोनों घट और पट की तरह एक साथ स्वतन्त्र रीति से नहीं किन्तु दोनों तद्रूपतया भासित होंगे तो वहाँ तादात्म्य के कारण सिर्फ विशेषणस्वरूपता अथवा विशेष्यस्वरूपता ही उपलक्षित होगी। इस प्रकार, दोनों का उपरोक्त दो प्रकार से अतिरिक्त किसी तृतीय प्रकार से प्रतिभास न होने पर किसी भी एक ज्ञान में उनके विशेषण–विशेष्यभाव का भान शक्य नहीं- ऐसा पूर्वपक्ष अब निरस्त हो जाता है क्योंकि ऐसा तर्कभास अनेकान्तवश प्रतिभासक ज्ञान में और उसके संवेदन में समानरूप से लगाया जा सकता है जो अभी कह चुके हैं। यदि कहें कि- ऐसा दोष नहीं हो सकता क्योंकि अनेक नीलपरमाणु या अनेक प्रतिभासपरमाणु अन्योन्य भिन्नरूप से प्रत्यक्ष में और उसके संवेदन में प्रतिभासित होते हैं- तो यह ठीक नहीं है क्योंकि परमाणु के अणु-परिमाण आदि का बाहर या भीतर में कभी भी प्रतिभास नहीं होता। सब प्रकार विकल्प-संकल्प अवस्था जब मिट जाय- एक बार उपसंहृत हो जाय ऐसी दशा में भी बाहर या भीतर एक ही नील का बाहर में स्थूल एवं चेत्य आकार में, एवं भीतर में उस के ज्ञान का चेतक आकार में प्रतिभास सभी को होता है। यदि आप बाहर में परमाणु का किंवा संवेदन का प्रत्यक्ष ज्ञान होने का दावा करते हैं तब तो आप अपने सर्वज्ञ होने का दावा भी क्यों नहीं करते ? [illegible]

★ [illegible] ★

[illegible]

प्रत्यविशिष्टत्वात्' इति न वक्तुं युक्तम् नियतसंकेतसहकृतस्य शब्दस्य सर्वार्थान् प्रत्यविशिष्टत्वाऽसिद्धेः । कार्यगम्यं हि वस्तूनां नियतत्वमन्यद् वा, यदा च नियतं तत्कार्यमुपलभ्यते तदा तस्य नियतत्वं व्यवस्थाप्यते, यदा चान्यथा तदाऽन्यथात्वमिति । 'कुतः पुनरेतत् स्वरूपं शब्दादेः' इति पर्यनुयोगे 'स्वहेतुप्रतिनियमः' इत्युत्तरं न्यायविदः सर्वत्र युक्तियुक्तम् दृष्टानुमितानां नियोग – प्रतिषेधानुपपत्तेः । 'प्रतिपत्तिधर्मस्तु नियमहेतुः काल्पनिक एव स्यात्' इति – एतदप्ययुक्तम्, अबाधिताकारप्रतिपत्तेस्त्वबाधितप्रतिपत्तित्वं साधितमेव । बाधितत्वे वा तत्प्रतिपत्तेस्तत्प्रभवशाब्दज्ञानस्याऽप्रामाण्यप्रसक्तिर्विपरीतप्रतिबन्धग्राहिज्ञानप्रभवानुमानाभासस्यै(स्ये)व । तत् सौगतदर्शनमेव ध्यान्ध्यविजृम्भितम् ।

यदपि 'शब्देभ्यः कल्पना बहिरर्थाऽसंस्पर्शिन्यः प्रसूयन्ते, ताभ्यश्च शब्दाः' इति तदप्यचारु, शब्दजनितविकल्पानां बहिरर्थाऽसंस्पर्शित्वासिद्धेः, इन्द्रियजज्ञानस्येव तासां तत्प्राप्तिहेतुत्वादिति प्रतिपादि-

एक ही शब्द का आर्य और द्रविडों में भिन्न अर्थ होता है' – अपने अपने देश-काल में नियत शब्द का नियत संकेत के अनुसार नियतप्रकार का अर्थबोध होने का सर्वत्र दिखाई देता है । इस लिये यह जो आपने कहा था [१४७-९]– 'शब्द का स्वरूप सभी अर्थों के लिये एकरूप होने से नियत अर्थबोध का हेतु, शब्द नहीं हो सकता'– यह भी कहने जैसा अब नहीं रहा, क्योंकि नियतसंकेत विशिष्ट शब्द सर्व अर्थबोध के प्रति साधारण नहीं होता किन्तु नियत अर्थबोध का ही जनक होता है । अमुक पदार्थ अमुक वस्तु के साथ नियत है या अनियत है यह सर्वथा अगम्य नहीं है किन्तु कार्यगम्य है, किसी एक पदार्थ का जब नियत कार्य दिखाई देता है तब उसके साथ उसका नियतत्व सुनिश्चित हो जाता है, जब उसके नियतरूप में कोई कार्य उपलब्ध नहीं होता तब यह निश्चित होता है कि वह उसका नियत नहीं है । यदि यह प्रश्न किया जाय कि शब्दादि का ऐसा स्वरूप क्यों, कि वह नियत संकेतानुसार नियतार्थ को बोधित करता है ?– तो इसका युक्तियुक्त उत्तर यही है– सर्वत्र अपने हेतुओं से ही वह तथास्वभाव से नियत होता है, यह उत्तर सर्वन्यायवेत्ताओं को मान्य है, क्योंकि प्रत्यक्ष एवं अनुमान से सिद्ध हुए नियमों के ऊपर 'ननु-नच' को अवकाश ही नहीं होता । पहले 'प्रकरणादि शब्दधर्म-अर्थधर्म या प्रतिपत्तिधर्म हैं ?' ऐसा प्रश्न उठा कर जो यह कहा था [१४७-१५] 'नियामकहेतु के रूप में अभिमत प्रकरणादि को यदि प्रतिपत्ति का धर्म मानेंगे तो वह तात्त्विक नहीं किन्तु काल्पनिक ही होगा'– वह भी अयुक्त है क्योंकि अबाधित रूप में होनेवाली शब्दार्थसम्बन्ध प्रतीति के द्वारा वह नियतार्थबोध का नियम तात्त्विक अर्थधर्म होने का सिद्ध होता है । 'शब्दार्थसम्बन्ध की ग्राहक प्रतीति अबाधितप्रतीति है' यह तो अब सिद्ध किया जा चुका है । कदाचित् वह प्रतीति बाधित होगी तो उससे जन्य शाब्दज्ञान को भी हम अप्रमाण ही घोषित करेंगे, जैसे कि विपरीतव्याप्तिग्राहकज्ञान से उत्पन्न अनुमानाभास मिथ्या (अप्रामाणिक) होता है । इस प्रकार शब्दप्रमाणवादी के पक्ष में पूर्ण संगति = विचारक्षमता होने पर भी जो बौद्धने पहले यह कहा है [१४७-१८] 'विचाराक्षम न होने से सभी अन्यदर्शन अन्धबुद्धिविलासतुल्य है'- इस कथन में स्वयं बौद्ध की ही अन्धबुद्धिविलासिता प्रदर्शित होती है ।

★ शब्दजन्यज्ञान बाह्यार्थस्पर्शी ★

यह जो पहले कहा था [१४७-२१]– 'शब्दों से बाह्यार्थस्पर्शशून्य कोरी कल्पना ही जन्म लेती है और शब्द भी ऐसी कल्पनाओं की ही निपज हैं'– यह कथन सुंदर नहीं, क्योंकि हम यह दिखा चुके हैं कि शब्दजन्य

त्वात् । परसन्तानवर्त्तितथाभूतविकल्पजनकत्वं तद्विकल्पादृष्टावपि शब्दानां प्रत्येति, न पुनः प्रत्यक्षाद्युपलभ्यमानबहिरर्थवाचकत्वमिति विपरीतप्रज्ञो देवानांप्रियः । न चार्थाभावेऽपि शाब्दप्रतिभासस्याऽप्रच्युतेर्न शब्दस्य बाह्यार्थवाचकत्वम्, विकल्पेऽप्यस्य समानत्वात्, विसदृशसंकेतस्य श्रोतुस्तच्छब्दसद्भावेऽपि तथाभूतविकल्पानुत्पत्तेः शब्दाभावेऽपि च कुतश्चित् कारणात् तथाभूतविकल्पप्रतिभासाप्रच्युतेश्च । अथ समानसंकेतस्य श्रोतुस्ततस्तत् समुत्पद्यत एव, शब्दाभावे तु यद् विकल्पज्ञानं तादृगवभासं कारणान्तरप्रभवं न प्रच्यवते तद् अतादृशमेवेत्यतो न व्यभिचारः । नन्वेवं तद् बाह्यार्थावभासिशाब्दे प्रतिभासेऽपि समानम् 'यो ह्यर्थाभावेऽपि शाब्दः प्रतिभासः स तत्प्रतिभाससमानो न भवति' इत्यादेः प्राक् प्रदर्शितत्वात् ।

यदपि 'शब्दाद् बाह्यार्थाध्यवसायिविज्ञानोत्पत्त्यादि – तत्प्राप्तिपर्यवसानसद्भावेऽपि बाह्यार्थाऽसंस्पर्शित्वाद् विकल्पानां न सर्वात्मनाऽर्थग्रहणदोषः' तदप्यसंगतम्, प्रत्यक्षवदर्थसंस्पर्शित्वेऽपि सर्वात्मनाऽग्रहणस्य प्रतिपादितत्वात् । यदपि 'अप्रतिभासेऽप्यर्थस्य शब्दाद भ्रान्तेः प्रवृत्तिः' तदप्ययुक्तम्, भ्रान्ताऽभ्रान्तप्रवृत्त्योर्विशेषसद्भावात् यत्र ह्यर्थप्राप्तिर्नोपजायते प्रवृत्तौ तत्र भ्रान्तिः प्रवृत्तेर्व्यवस्थाप्यतेऽन्यत्र त्वभ्रान्तिरिति यस्य

विकल्प बाह्यार्थस्पर्शशून्य नहीं होते, इन्द्रियजन्य ज्ञान की तरह शब्दजन्य विकल्प बाह्यार्थ की प्राप्ति के हेतु होने से बाह्यार्थस्पर्शी होते हैं । जब यह बौद्ध, अन्यसन्तानवर्त्ती विकल्प दृष्टिगोचर होने पर भी अपने शब्दों को अन्य सन्तानवर्त्ती अर्थानुमापक विकल्प के जनक मानने को तैयार है, किंतु शब्दों में प्रत्यक्षसिद्ध बाह्यार्थवाचकता का स्वीकार न करते हुए अपनी विपरीत प्रज्ञा का प्रदर्शन करता है तब उसे 'देवानांप्रिय' (=मूर्ख) न कहें तो क्या कहें ?! यदि ऐसा तर्क करें कि– अर्थ के न होने पर भी शब्द से उसका प्रतिभास विच्युत नहीं होता अतः शब्द को बाह्यार्थ का वाचक नहीं मान सकते– तो यह बात विकल्प के लिये भी समान होनी चाहिये [जिस विकल्प को बौद्ध शब्दजन्य मानता है इसके लिये ऐसा कहा है ।] जिस श्रोता को शब्द के प्रसिद्ध संकेत का भान नहीं किन्तु अप्रसिद्धसंकेत का ही भान है, ऐसे श्रोता को उस शब्द के श्रवण होने पर भी प्रसिद्ध संकेतानुसारी अर्थबोधरूप विकल्प उत्पन्न नहीं होता है; और कभी शब्दश्रवण न होने हुए भी अन्य किसी माध्यम से तथाविध अर्थबोधरूप विकल्प अप्रच्युत–उत्पन्न होता है, उसका मतलब यह तो नहीं है कि कोई भी शब्द विकल्प का जनक होता ही नहीं ।

यदि ऐसा कहें कि– सदृश संकेतग्राही श्रोता को शब्द से तदनुरूप विकल्प उत्पन्न होता ही है । शब्द के अभाव में भी अन्य माध्यम से जो शब्दसमानार्थावभासी विकल्पज्ञान उत्पन्न होता है उसको हम शब्दजन्य (अथवा संकेतजन्य) ही नहीं मानते हैं अतः कोई शब्द में विकल्पजनकत्व का व्यभिचार प्रसंग नहीं है । – अहो, यह बात तो बाह्यार्थावभासी शब्दबोध के लिये भी तुल्य है, हमने पहले ही यह कहा है कि अर्थ के बिना भी जो शब्दजन्य प्रतिभास होता है वह वास्तवार्थप्रतिभासी नहीं होता, इस का मतलब यह नहीं है कि शब्द से कभी वास्तवार्थप्रतिभास होता ही नहीं । पहले ही यह बात कह चुके हैं [ ] ।

★ सर्वात्मना अर्थाग्रहण बाह्यार्थस्पर्शाभावमूलक नहीं ★

पहले जो यह कहा था (२४८-२२)- 'शब्द से बाह्यार्थावसायि [illegible] ... [illegible] भी प्राप्ति पर्यन्त [illegible] होता है यह बात नहीं है किन्तु विकल्प [illegible] ...

विज्ञानस्य प्रामाण्यमभ्युपगच्छता नाऽप्रतिभासेऽप्यर्थस्य प्रवृत्त्यादिव्यवहारः कदाचनाप्यभ्युपगन्तुं युक्तः । प्रतिवन्धस्तु तदविसंवादे शाव्दस्याप्यर्थप्रतिवन्धनिवन्धनः तत्र संवादोऽस्तीति प्रत्यक्षवत् तत्र तस्य प्रामाण्यं युक्तम्, न च प्रतिवन्धः परपक्षे सम्भवतीति प्रतिपादयिष्यते, स्वसंवेदनमात्रं च परमार्थसत् तत्त्वरूपं निरस्तप्रतिवन्धादिपदार्थं यथा न सम्भवति इत्येतदपि प्रतिपादयिष्यते । शेपस्त्वत्र पूर्वपक्षग्रन्थः प्रतिपदमुच्चार्य न प्रतिविहितः ग्रन्थगौरवभयात् दिग्मात्रप्रदर्शनपरत्वाच्च प्रयासस्य ।

इति स्थितमेतत् 'समयपरमत्थवित्थर'० इति ।

वाह्यार्थस्पर्शमुक्त होता है इस लिये उस में सर्वात्मना अर्थग्रहण होने का यानी विजातीयव्यावृत्तरूप की तरह सजातीयव्यावृत्तरूप से भी अर्थग्रहण होने का दोप नहीं है ।'– यह विधान भी असंगत है क्योंकि ऐसे तो प्रत्यक्ष में वाह्यार्थस्पर्शिता होने पर भी सर्वात्मना अग्रहण का जैसे संभव है वह पहले वताया है । तात्पर्य, वाह्यार्थ असंस्पर्श से ही सर्वात्मना अग्रहण होता है यह सच नहीं है । यह जो कहा था कि [१४९-१७] – 'शव्द से अर्थ का प्रतिभास न होने पर भी उसकी भ्रान्ति से ही अर्थविपयक प्रवृत्ति होती है'– यह विधान भी गलत है क्योंकि भ्रान्तिजन्य प्रवृत्ति और अभ्रान्त प्रवृत्ति में वहुत अन्तर होता है जिस से भ्रान्ति-अभ्रान्ति का निर्णय फलित होता है । जैसे ज्ञान होने के वाद प्रवृत्ति करने पर जव वहाँ अर्थ की प्राप्ति नहीं होती है उस प्रवृत्ति के विसंवादी होने से उस का जनक ज्ञान भ्रान्तिरूप माना जाता है, जव कि अर्थप्रापक संवादी प्रवृत्ति होने पर उस के जनक ज्ञान को अभ्रान्तिरूप माना जाता है । अतः किसी एक ज्ञान में प्रामाण्यस्वीकार चाहने वाले को अर्थप्राप्ति होने पर भी अर्थप्रतिभास के विना ही शव्द से प्रवृत्ति आदि व्यवहार हो जाने की वात का समर्थन कभी नहीं करना चाहिये । शाव्द स्थळ में अर्थप्राप्ति के साथ अविसंवादी प्रवृत्ति के प्रतिवन्ध का आधार शाव्दवोध के साथ अर्थप्रतिवन्ध ही होता है । प्रत्यक्ष में भी प्रवृत्तिसंवाद से ही प्रामाण्यस्वीकार होता है ऐसे ही शाव्दस्थल में भी प्रवृत्तिसंवाद से प्रामाण्यस्वीकार अनिवार्य है । वौद्ध वादी सिर्फ निर्विकल्प को ही प्रमाण मानता है किन्तु वहाँ वास्तव में प्रतिवन्ध होता नहीं यह वात आगे चल कर दिखायी जायेगी । उपरांत, विज्ञानवादी जो कहता है कि'प्रतिवन्ध आदि पदार्थों की सम्भावना को अपास्त करने वाला एक मात्र स्वसंवेदन विज्ञान ही तत्त्वभूत एवं पारमार्थिक सत् पदार्थ है'– यह मत भी कैसे सम्भववाह्य है यह आगे चल कर दिखाया जायेगा ।

यहाँ उत्तरपक्ष के निरूपण में वहुत कुछ पूर्वपक्ष के विधानों की उनके उल्लेख के साथ आलोचना की गयी है, किन्तु एक एक पंक्ति का उच्चार करके संपूर्ण पूर्वपक्ष का प्रतिविधान ग्रन्थगौरव के भय से ही नहीं किया है, इसका कारण यह है कि व्याख्याकार का यह प्रयास दिशासूचन के लिये है ।

अपोहवादनिरसन की चर्चा से अव यह निर्दोषरूप से सिद्ध होता है कि मूलग्रन्थकार ने जो दूसरी गाथा में– समय परमार्थ विस्तार प्रकाशन करने वाले विद्वानों की पर्युपासना के लिये मन्दवुद्धि श्रोता भी प्रयत्न शील वने ऐसे अर्थ का मैं प्रतिपादन करुंगा– ऐसा कहा है इस विधान में कहीं भी अपोहवादी के मतानुसार शंकित दोषों को अवकाश नहीं है, इसलिये वह विधान निर्वाध-निर्दोष एवं यथार्थ है ।

अपोहवाद निराकरण– उत्तरपक्ष समाप्त

द्वितीयगाथा विवरण समाप्त

तृतीयगाथा सव्याख्या

अत्र च कुण्ठधियोऽप्यन्तेवासिनो योगित्वा(ता)प्रतिपादनार्थः प्रकरणारम्भः प्रतिपादितः, सा च शिष्टसामान्यविशेषात्मकतद्रूपापन्नार्थप्रतिपादनमन्तरेणातः प्रकरणान्न सम्पद्यते – इति प्रकरणाभिधेयं योगितोपायभूतमर्थम् –

तित्थयरवयणसंगहविसेसपत्थारमूलवागरणी ।
दव्वट्ठिओ य पज्जवणयो य सेसा वियणा सिं ॥३॥

इत्यनया गाथया निर्दिशति । अस्याश्च समुदायार्थः पातनिकयैव प्रतिपादितः ।

अवयवार्थस्तु – तरन्ति संसारार्णवं येन तत् तीर्थम् = द्वादशांगम् तदाधारो वा संघः । तत् कुर्वन्ति उत्पद्यमानमुत्पादयन्ति तत्स्वाभाव्यात् तीर्थकरनामकर्मोदयाद् वेति 'हेत्वर्थे टः' [ ] । तीर्थंकराणां वचनम् = आचारादि अर्थतस्तस्य तदुपदिष्टत्वात्, तस्य संग्रह-विशेषौ द्रव्य-पर्यायौ सामान्यविशेषशब्दव्याच्यावभिधेयौ, तयोः प्रस्तारः = प्रस्तीर्यते येन नयराशिना संग्रहादिकेन स प्रस्तारः – तस्य संग्रहव्यवहारप्रस्तारस्य मूलव्याकरणी आद्यवक्ता ज्ञाता वा द्रव्यार्थिकः – [illegible] द्रव्यम्

★ तृतीयगाथाव्याख्यारम्भ ★

इस काल में जड़ बुद्धिवाले विद्यार्थी में गूढार्थग्रहणपटुतास्वरूप योग्यता का आधान करने के लिये आचार्यश्री ने इस प्रकरण रचना में प्रवृत्ति करने का संकल्प पहले प्रगट किया है । उस योग्यता की प्राप्ति के लिये सामान्य-विशेषात्मक विशिष्ट कोटि की वस्तु की जानकारी आवश्यक है । इस प्रकरण के प्रारम्भ में ही सामान्य विशेषात्मक वस्तु का प्रतिपादन किये बिना उस जानकारी के अभाव में इस प्रकरणरचना में योग्यता का आधान सम्भव नहीं है । अतः योग्यता के आधान के लिये प्रकरण के मुख्य एवं आद्य अभिधेय रूप अर्थ का निर्देश तीसरी गाथा में मूलग्रन्थकार ने किया है । व्याख्याकार महर्षि ने इस गाथा की अवतरणिका में ही यह स्पष्ट कर दिया है कि इस गाथा में सामान्यविशेषात्मक विशिष्ट अर्थ का निरूपण = निर्देश किया गया है ।

★ मूल गाथा का शब्दार्थ ★

तीर्थंकरों के वचनों के प्रतिपाद्य संग्रह यानी सामान्य एवं विशेष (अर्थात् द्रव्य-पर्याय) के प्रस्तार का (यानी विस्तार का) मूल व्याकरण (प्रतिपादक आद्य वक्ता) करने वाला एक तो द्रव्यार्थिक नय है और दूसरा पर्यायार्थिक नय, शेष विकल्प इन दोनों के ही भेद हैं ॥३॥

प्रश्न : व्याख्याकार ने अवतरणिका में कहा कि इस गाथा में सामान्यविशेषात्मक [illegible] है, [illegible]

उत्तर : [illegible]

प्रश्न : [illegible]

सत्तेति यावत् - तत्र 'अस्ति' इति मतिरस्य द्रव्यास्तिकः 'सह सुपा' [पाणिनि० २-१-४] इत्यत्र 'सुपा सह' इति योगविभागात् मयूरव्यंसकादित्वाद् वा द्रव्य-आस्तिकशब्दयोः समासः, द्रव्यमेव वाऽर्थोऽस्येति द्रव्यार्थिकः द्रव्ये वा स्थितो द्रव्यस्थितः । परि = समन्तात् अवनम् अवः – पर्यवो विशेषः तज्ज्ञाता वक्ता वा, नयनं नयः नीतिः पर्यवनयः, अत्र छन्दोभंगभयात् 'पर्यायास्तिकः' इति वक्तव्ये 'पर्यवनयः' इत्युक्तम् तेनात्रापि "पर्याय एव 'अस्ति' इति मतिरस्य" इति द्रव्यास्तिकवत् व्युत्पत्तिर्द-

करना चाहिये न ? सामान्य–विशेष का पृथक् पृथक् निरूपण करने वाले द्रव्यार्थिक आदि का निर्देश क्यों ?

उत्तर : इसलिये कि वस्तु उभयात्मक होने पर भी उस का प्रतिपादन एकसाथ उभयरूपेण करना अशक्य होता है, इसलिये उभय अंश का क्रमशः निरूपण करने के लिये पृथक् पृथक् द्रव्यार्थिक–पर्यायार्थिक नय का आलम्बन किया जाता है ।

☆ तृतीयगाथा के शब्दों का व्युत्पत्ति–अर्थ ☆

अब व्याख्याकार मूल गाथा के एक एक शब्द को लेकर उनकी यथासम्भव व्युत्पत्ति एवं अर्थ दिखलाते हैं– तीर्थ यानी जिससे संसारसागर को पार किया जाय, वह है आचार आदि १२ अंगों का समुदाय अथवा उन १२ अंगो का आधार चतुर्विध संघ । ऐसा तीर्थ जो कि अपने कारणकलाप यानी सामग्री से प्रगट होता है उस सामग्री के अन्तर्भूत कर्त्ता के रूप में तीर्थोत्पत्ति करने वाले तीर्थकर कहे जाते हैं, 'कृ' धातु को यहाँ हेतुआदि अर्थ में 'टच्' (?ट) प्रत्यय लगने से 'कर' शब्द निष्पन्न होता है । हेतु आदि अर्थों में 'शील यानी स्वभाव' का भी अन्तर्भाव हैं, तीर्थकर अपने कर्तृस्वभाव से ही तीर्थ को जन्म देते हैं अथवा तो पूर्वतृतीयभव में उपार्जित तीर्थकर नामकर्म के विपाकोदयात्मक औपाधिक स्वभाव से तीर्थस्थापना करते हैं अतः स्वभाव अर्थ में प्रत्यय कर के तीर्थकर शब्द की व्युत्पत्तिं यथार्थ है ।

इन तीर्थंकरों के वचन आचार आदि अंगों में गणधरशिष्यों ने ग्रथ लिये हैं । उन आचार आदि सूत्रों की रचना करने वाले गणधर शिष्य हैं किन्तु उनके अर्थ का उपदेश तो तीर्थंकर प्रभु करते हैं इसलिये आचारादि अंगसूत्रों को तीर्थंकरवचन कहने में कोई असंगति नहीं, वल्कि आदरभाव का जागरण होता है । तीर्थंकर वचनों का मुख्य अभिधेय उपरोक्त रीति से क्रमशः द्रव्य और पर्याय हैं, द्रव्य को ही यहाँ सामान्य कहतें हैं और पर्याय को ही विशेष कहते हैं । संग्रहादि सात नयों से प्रतिपाद्य जो विविध अर्थविस्तार (नित्य-अनित्यादि) है वह सामान्य-विशेष का ही प्रस्तार है । तात्पर्य यह है कि विविधनयों से सामान्य-विशेष का पृथक्करण होता है तव वस्तु का अनेकविध स्वरूप क्रमशः ज्ञानगोचर होता है ।

उस संग्रह-व्यवहारात्मक युगल के आद्य प्रतिपादन अथवा ज्ञान करने वाले दो नय मुख्य हैं, द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक । वस्तु का आपेक्षिक ज्ञान यह ज्ञानात्मक नय स्वरूप है और वस्तु का आपेक्षिक निरूपण करनेवाला वचनव्यवहार यह प्रतिपादनात्मक नयस्वरूप है । आद्य प्रतिपादन अथवा ज्ञान का तात्पर्य यह है कि अन्य नैगमादि नय तो वस्तु के एक एक अंश का प्रतिपादन या ज्ञान करेंगे किन्तु ये दो मुख्य नय उन अंशों के समुदाय से अभिन्न अखंड ऐसे जो द्रव्य-पर्याय रूप अंशी है – सर्वप्रथम उन का विवेचन करते हैं । यद्यपि द्रव्य और पर्याय भी एक ही वस्तु के प्रधान दो अंश हैं जो कि अपने में अनेक अंशों को धारण किये हुए हैं यह भूलना नहीं चाहिये । यह ज्ञातव्य है कि जव तक अंशी का निर्देश न हो तव तक उस के विविध

एव्या, स च विशेषप्रस्तारस्य ऋजुसूत्रशब्दादेः आद्यो वक्ता। ननु च 'मूलव्याकरणी' इत्यस्य द्रव्यास्तिक-पर्यायनयावभिप्रेताविति द्वित्वाद् द्विवचनेन भाव्यम्। न, प्रत्येकं वाक्यपरिसमाप्तेः, अत एव चकारद्वयं सूत्रे निर्दिष्टम्। शेषास्तु नैगमादयो विकल्पा भेदाः अनयो द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिकयोः। 'सिं' इति प्राकृतशैल्या "बहुवयणेण दुवयणं" [*] इति द्विवचनस्थाने बहुवचनम्।

अंशों का निरूपण शक्य नहीं होता, अतः अंशों का निरूपण करने वाले नैगमादि को तब अवसर मिलेगा जब प्रथम अंशी का यानी द्रव्य-पर्याय का विवेचन द्रव्यार्थिक-पर्यायास्तिक नय से किया जाय। उदा० चित्रकार पहले रेखाओं से चित्र को उभारता है बाद में उसके एक एक अवयवों में रंगकाम होता है, रेखाचित्र बिना रंगकाम नहीं होता। इसी हेतु से द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक को मूलव्याकरणकारी कहा है।

प्रश्न : तो सब से पहले सामान्य-विशेषात्मक वस्तु जो कि मुख्य अंशी है उसी का निरूपण क्यों नहीं किया ?

उत्तर :- अरे भाई ! जो पहले कहा कि वस्तु सामान्य-विशेषात्मक होती है यही तो मुख्य अंशी का निरूपण हुआ। मुख्य अंशी का निरूपण यतः सामान्य-विशेष के मिलितरूप से ही शक्य होता है इसीलिये ग्रन्थकार ने यहाँ मुख्य अंशभूत सामान्य-विशेष, जो कि अपने अंशों के अंशी हैं उन का सर्वप्रथम निरूपण करनेवाले द्रव्यार्थिक- पर्यायार्थिक का ग्रहण किया है।

★ द्रव्यास्तिकपद का शब्दार्थ ★

व्याख्याकार 'द्रव्यास्तिक' शब्द समास होने से उस का विग्रह और समासविधि का निर्देश करते हैं- द्रव्य और अस्ति ऐसे दो पदों से यह समास बना है। 'द्रव्य'शब्द 'द्रु' धातु से बनता है और धातु अनेकार्थक होने से यहाँ भू अथवा अस् का समानार्थ 'द्रु' धातु माना गया है इसलिये द्रुति, द्रव्य, भवन और सत्ता ये चारों शब्द यहाँ एकार्थक हैं। इस द्रव्य में (यानी सत्ता में) 'अस्ति' = 'परमार्थिक है' ऐसी 'मति' करनेवाले नय को द्रव्यास्तिक नय कहते हैं। यहाँ 'अर्थ, नाम और प्रतीति' तीनों का समान अभिधान होता है - इस न्याय के अनुसार 'अस्ति' पद का अर्थ 'अस्ति' इस प्रकार की मति'ऐसा किया है। मति का अर्थ बुद्धि और अभिप्राय दोनों अभीष्ट है, बुद्धि अर्थ करने पर ज्ञानात्मक नय और अभिप्राय अर्थ करने पर वचनव्यवहारात्मक नय (=प्रतिपादक नय) दोनों का संग्रह हो जायेगा। यहाँ 'द्रव्य में' का मतलब है द्रव्यविशेष्यक, अतः द्रव्यविशेष्यक अस्तित्व प्रकारक बुद्धिरूप नय द्रव्यास्तिक है यह फलित होता है।

प्रश्न :- 'अस्ति' पद तो क्रियापद है जिस के साथ दूसरे पद का समास कैसे किया ?

उत्तर :- 'अस्ति' पद प्रान्तवर्ती निपातलिंगवाले 'अस्ति' पद का प्रतिरूपक अव्ययरूप नाम है, जैसे 'अस्तिक्षीरा गौः' यहाँ है, अतः उसके साथ समास होने में कोई बाध नहीं है। जिस सूत्र के आधार पर यह समास बना यह स्पष्ट करते हुए व्याख्याकार कहते हैं कि पाणिनि व्याकरण में द्वितीय अध्याय-प्रथमपाद चतुर्थसूत्र 'सह सुपा' है, उस सूत्र में यहाँ केवल समास हुआ है और यह भी 'सुपा सह' ऐसा योगविभाग करने से हुआ है। सूत्र का अर्थ है- सुबन्त [illegible] पद का अन्य सुबन्त [illegible] पद के साथ समास होता है जैसे 'भूतपूर्वः' - [illegible]। जिस समास की अव्ययीभावादि कोई विशेषसंज्ञा नहीं होती उसको केवल समास कहा जाता है।

---

* बहुवयणेण दुवयणं छट्ठिविभत्तीइ भण्णइ चउत्थी। जह हत्था तह पाया, नमोत्थु देवाहिदेवाणं।

तथाहि – परस्परविविक्तसामान्य–विशेषविषयत्वाद् द्रव्यार्थिक–पर्यायार्थिकावेव नयौ । न च तृतीयं प्रकारान्तरमस्ति यद्विषयोऽन्यस्ताभ्यां व्यतिरिक्तो नयः स्यात् । तृतीयविषयस्य चाऽसम्भवो भेदाभेदविनिर्मुक्तस्य भावस्वभावस्यापरस्यानुपपत्तेः । 'ताभ्यामन्य एकस्तद्वानर्थोऽस्ति' इति चेत् ? न, स्वभावान्तराभावात् प्रकृतविकल्पानतिवृत्तेः तत्स्वभावातिक्रमे वा खपुष्पसदृशत्वप्रसक्तेः । ताभ्यां तद्वतोऽर्थान्तरस्य सर्वथा

अथवा 'मयूर्व्यंसकादयः' (२-१-७२) इस पाणिनि॰ सूत्र के अनुसार भी यहाँ द्रव्य और आस्तिक शब्द का समास बन सकता है ।

मूलगाथा में 'दव्वट्ठिओ' शब्द अर्धमागधीभाषा में है, उस का संस्कृत भाषा में द्रव्यास्तिक, द्रव्यार्थिक अथवा द्रव्यस्थित ऐसे तीन शब्दान्तर बन सकते हैं । द्रव्यास्तिक की बात हो गयी । द्रव्य ही जिसका अर्थ यानी प्रयोजन है (अर्थात् प्रधानरूप से प्रतिपाद्य है) वह 'द्रव्यार्थिक' है । अथवा द्रव्य में स्थित (यानी द्रव्य के विषय में स्थान करने वाला- रुचि रखने वाला) हो वह 'द्रव्यस्थित' नय है ।

☆ पर्यायास्तिक व्युत्पत्ति आदि ☆

पर्यायास्तिक के लिये गाथा में पज्जवणओ = पर्यवनयः शब्दप्रयोग किया है । इसमें 'पर्यव'शब्द की व्युत्पत्ति 'परि = समन्तात्, अवनम् = अवः पर्यवः' ऐसी की गयी है । परि और अव ये दो शब्द मिल कर पर्यव शब्द बना है । परि यानी समन्तात्, इसका अर्थ है सब ओर से, पूर्णरूप से अथवा पूरी तरह से । 'अव' शब्द अव् धातु से बना है जिस का मतलब है रक्षा करना, प्रसन्न करना , पसंद करना, जानना इत्यादि । पूरा अर्थ हुआ-पूरी तरह से यानी सूक्ष्मता से जान करने वाला । इस लिये पर्यव शब्द का यहाँ व्याख्या में 'विशेष' अर्थ कहा है क्योंकि वह बारिकाई से जाना जाता है । पर्यव यानी विशेष को जानने वाला अथवा दिखाने वाला जो नय वह पर्यवनय है । नय–नयन–नीति ये तीनों समानार्थक शब्द हैं । हालाँकि द्रव्यास्तिक की तरह यहाँ पर्यायास्तिक ऐसा शब्दप्रयोग करना जरूरी था, लेकिन 'पज्जवणओ य' के बदले 'पज्जवट्ठिओ य' ऐसा कहने पर एक मात्रा के बढ जाने से छंद टूट जाने का भय है इस लिये 'पज्जवणओ अ' ऐसा कहा है । अतः पर्यायास्तिक का शब्दतः प्रयोग न करके अर्थतः प्रयोग हुआ है, तब पर्यायास्तिक समास का विग्रह भी पूर्ववत् द्रव्यास्तिक पद की तरह समझ लेना चाहिये, जैसे कि पर्याय में ही 'अस्ति' ऐसी जिस की मति है वह पर्यायास्तिक । द्रव्यास्तिक नय द्रव्य यानी सामान्य के प्रस्तार का अर्थात् नैगम-संग्रह-व्यवहार नयों के प्रतिपाद्य अर्थ का मूल ज्ञाता–वक्ता है इसी तरह पर्यायास्तिक नय विशेषप्रस्तार का यानी ऋजुसूत्र– शब्द–समभिरूढ और एवंभूत नयों के मुख्य प्रतिपाद्य अर्थ का मूल ज्ञाता–वक्ता है ।

प्रश्न :- आपने मूलव्याकरण (=निरूपण) करनेवाला इस अर्थ में एकवचनान्त इन्प्रत्ययान्त मूलव्याकरणी शब्द का प्रयोग क्यों किया है, जब कि वह द्रव्यार्थिक और पर्यवनय दोनों अभिधेयों का विशेषण है तो द्विवचन 'मूलव्याकरणिनौ' ऐसा क्यों नहीं कहा ?

उत्तर :- जरूर नहीं है, क्योंकि 'मूल व्याकरणी' शब्द का अन्वय 'दव्वट्ठिओ' एवं 'पज्जवणओ' दोनों के साथ अलग अलग करके दो वाक्य की निष्पत्ति करना है । इसी अभिप्राय से सूत्र में 'दव्वट्ठिओ य पज्जवणओ य' ऐसे दो च(य) का निर्देश किया गया है ।

गाथा का अन्तिम पाद है – 'सेसा वियप्पा सिं' इसका मतलब है शेष नैगमादिनय इन दोनों के–

सम्बन्धप्रतिपादनोपायाऽसम्भवात् समवायस्य तैरसम्बन्धे तद्व्यपदेशानुपपत्तेः, समवायान्तरकल्पनायामनवस्थाप्रसक्तेः, विशेषण-विशेष्यसम्बन्धकल्पनायामप्यपरापरतत्कल्पनाप्रसक्तेर्न सम्बन्धसिद्धिः । ततः स्थितमेतत्, न किञ्चिन्नयबहिर्भावि भावस्वभावान्तरविकल्पनावलम्बि प्ररूपणान्तरमिति । केवलं तयोरेव शुद्धयशुद्धिभ्यामनेकधा वस्तुस्वभावनिरूपणविकल्पाभिधानवृत्तयो व्यवतिष्ठन्ते ।

तत्र शुद्धो द्रव्यास्तिको नयः संग्रहनयाभिमतविषयप्ररूपकः । तथा च संग्रहनयाभिप्रायः– सर्वमेकं सदविशेषात् । तथाहि – भावाः स्वरूपेण प्रतिभान्ति, तच्च स्वरूपमेषां सल्लक्षणमविकल्पकप्रत्यक्षग्राह्यम् । भेदोऽन्यापेक्ष इति न तेषां स्वरूपम्, यद् अन्यानपेक्षया झगित्येव प्रतीयते तत् स्वरूपम्, भेदस्य तु विकल्पविषयत्वादन्यापेक्षत्वेन काल्पनिकत्वम्; काल्पनिकं च अपरमार्थसद् उच्यते । तथाहि– एवमेव भेदप्रतीतिः

द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक नययुगल के ही भेद हैं । यहाँ विकल्प का अर्थ 'भेद' है । 'सिं' पद का 'अनयोः' = इन दोनों के' ऐसा अर्थ विवरण किया है । 'सिं' पद का संस्कृत 'तेषां' होता है जो बहुवचनान्त पद है, यहाँ नय तो द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक दो ही है, इसलिये व्याख्याकारने 'सिं' पद का 'तेषां' ऐसा बहुवचनान्त संस्कृत न कर के 'अनयोः' ऐसा द्विवचनांत संस्कृत किया है यह प्राकृतशैली के आधार पर किया है । प्राकृत में द्विवचन के स्थान में हमेशा बहुवचन ही होता है जैसे एक प्राचीन 'बहुवयणेण दुवयणं' गाथा में कहा गया है । गाथा का अर्थ यह है कि प्राकृत में बहुवचन प्रयोग से द्विवचन कथित होता है जैसे कि 'हस्तौ' के लिये 'हत्था' और 'पादौ' के लिये 'पाया' । तथा षष्ठी विभक्ति के द्वारा चतुर्थी प्रतिपादित की जाती है जैसे 'नमोऽस्तु देवाधिदेवेभ्यः' के लिये 'नमोत्थु देवाहिदेवाणं' 'वेदंतदेतदो साऽम्भ्यां सेसिमी' (८-३-८१) इस हैमव्याकरणसूत्र के अनुसार इदम्-तद् और एतद् सर्वनामों का 'आम्' षष्ठी विभक्ति के साथ विकल्प से 'सिं' आदेश प्राकृतभाषा में किया जाता है ।

★ मूल नय सिर्फ दो ही हैं ★

मूल नय दो ही हैं – द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक, क्योंकि एक दूसरे से पृथक् सामान्य और विशेष ये दो ही विषय हैं, इन से अतिरिक्त तीसरे प्रकार का कोई विषय ही नहीं है जिस को ग्रहण करने वाला, पूर्वोक्त नययुगल से अतिरिक्त कोई नय गिनाया जा सके । क्यों तीसरे प्रकार का विषय नहीं है ? इसलिये, कि वस्तु के जितने भी स्वभाव हैं वे कथंचित् भेदवाले होते हैं या अभेदवाले, अभेदवाले यानी सामान्यात्मक और भेदवाले यानी विशेषात्मक । इन के अलावा तीसरा कोई स्वभावप्रकार बुद्धि से संगत होता नहीं । यदि कहें कि– 'भेद और अभेद से अतिरिक्त भेदवान् या अभेदवान् ऐसा भी एक पदार्थ तो होता है, उसका ग्राहक तीसरा नय क्यों नहीं होगा ?'– यह प्रश्न निरर्थक है, क्योंकि वहाँ भेदवान् या अभेदवान् पदार्थ के ऊपर भी दो विकल्प प्रयुक्त हो सकते हैं, भेद और अभेद को छोड कर तीसरा तो कोई स्वभाव नहीं है अतः, भेदवान् या अभेदवान्, इन दोनों में से एक में ही शामिल हो जायेगा । यदि उन्हें भेदस्वभाव या अभेदस्वभाव नहीं मानेंगे तो उन की दशा शशशृंग जैसी असत् हो जायेगी । भेद या अभेद से भेदवान् या अभेदवान् का यदि अभेद मानेंगे तब तो तीसरे की सम्भावना ही नहीं है, किन्तु यदि उन में भेद मान कर [illegible] [illegible] और भेद और भेदवान् के बीच [illegible] [illegible] कोई [illegible] सम्भव नहीं है । यदि [illegible]

'इदमस्माद् व्यावृत्तम्' एतच्चाध्यक्षस्याऽगोचरः, अत एव सर्वावस्थासु यद् अनुगतं रूपं तदेव तात्त्विकम्, यथा सर्पादिविकल्पेषु बोधमात्रं सर्वेष्वनुगच्छत् तथाभूतम्– सर्पाद्याकारास्तु व्यावृत्ताः परस्परतो भिन्नरूपा बाध्यन्ते, न पुनर्बाधकेन बोधमात्रस्य बाधा– तथा घटादिषु विभिन्नेषु मृद्रूपताऽऽवृत्तिः, यावद्रेण्ववस्था तावदनुगतायां(याः) मृद्रूपतायाः सत्त्वम्, घटादीनां तु कञ्चित्कालं प्रतीयमानानामप्यर्थक्रियां च साधयतां स्वप्नदृष्टपदार्थवन्न सत्त्वम् । यथा स्वभेदेष्वनुगताया मृद्रूपतायास्तात्त्विकत्वम् एवं मृद्रूपत्वादीनामपि सत्त्वापेक्षया भेदरूपत्वान्न तात्त्विकत्वम् ।

खोजना पडेगा, यदि वह उपलब्ध नहीं होगा तो भेदवान् या अभेदवान् ऐसा स्वामित्वबोधक निर्देश ही शक्य नहीं होगा । यदि समवाय का अन्य समवाय सबन्ध कल्पित करेंगे तो उसका भी अन्य, उसका भी अन्य, उसका भी अन्य ऐसी कल्पना का अन्त नहीं होगा । समवाय के बदले यदि विशेषण–विशेष्य सम्बन्ध की कल्पना करेंगे तो उसके लिये भी अन्य वि०वि० संम्बन्ध की कल्पना करनी होगी, यहाँ भी अनवस्था होगी, अतः किसी भी सम्बन्ध की सिद्धि शक्य नहीं है । इस से यही निष्कर्ष निकलता है कि दो से अतिरिक्त तीसरा कोइ स्वभाव न होने से, तीसरे स्वभाव की कल्पना पर अवलम्बित नयी कोई प्ररूपणा भी नहीं है जिस का उक्त दो नय की प्ररूपणा में अन्तर्भाव न होता हो । है तो इतना ही है कि इन्हीं दो नयों के शुद्धि–अशुद्धि की तरतमता के आधार पर अनेक प्रकार से वस्तुस्वभाव का निरूपण, उस के विविध विकल्प एवं विविध नामकरण आदि की प्रवृत्ति प्रसिद्धि पाती है ।

★ शुद्ध द्रव्यास्तिकनय – संग्रहनयवत् प्ररूपणा ★

संग्रहनयाभिमत महासामान्यात्मक एक पदार्थ(विषय) में दृढ अध्यवसाय रखनेवाला शुद्ध द्रव्यास्तिकनय है ।

संग्रहनय का अभिप्राय :- सारा विश्व एकात्मक है क्योंकि सत्स्वरूप से अविशिष्ट यानी भेदशून्य है । तात्पर्य, सत्त्वावच्छिन्नप्रतियोगिताक भेद अप्रसिद्ध है । किस प्रकार विश्व एकात्मक है यह सुनिये– पदार्थमात्र पररूप से नहीं किन्तु अपने रूप से, स्वरूप से प्रकाशित होते हैं । पदार्थों का स्वरूप कैसा है ? सदात्मक है, जो कि विकल्प की दखलगिरि से शून्य प्रत्यक्ष से प्रकाशित होता है । भेद भाव का स्वरूप नहीं है क्योंकि वह अन्यसापेक्ष होता है, उदा० घटभेद घटसापेक्ष (घटप्रतियोगिक) होता है । यह नियम है कि जो दूसरे की अपेक्षा विना त्वरित प्रकाशित हो जाय वही उस का स्वरूप है, भेद तो प्रतियोगिसापेक्ष हो कर ही प्रतीत होता है अतः वह पारमार्थिक स्वरूप नहीं है, किन्तु काल्पनिक है क्योंकि वह विवादास्पदप्रामाण्यवाले विकल्प का विषय है । काल्पनिक होता है वह अपारमार्थिकसत् यानी असत् कहा जाता है । भेद की प्रतीति वस्तु के अनुगतरूप से नहीं किन्तु वस्तुबाह्य (=व्यावृत्त) रूप से, जैसे कि 'यह उस से व्यावृत्त (=बाह्य) है' इसी उल्लेख के साथ होती है, व्यावृत्त स्वरूप होने से ही वह शुद्ध प्रत्यक्ष का गोचर नहीं होता । इस से यह फलित होता है कि सर्व अवस्थाओं में जिस की अविच्छिन्न (=अनुगत) प्रतीति होती है वही वस्तु का तात्त्विक स्वरूप है । उदा० सर्प-रज्जु आदि के विकल्पों में सर्व अवस्थाओं में बोधमात्र अविच्छिन्नरूप से प्रतीत होने से वही पारमार्थिक है, जब कि परस्पर भिन्न, एक–दूसरे से बाह्यरूप में प्रतीत होनेवाले सर्पाकार – कुंडलीआकार आदि आकार कभी प्रतीत होते हैं कभी नहीं होते इस लिये बाधित होने से पारमार्थिक नहीं होते । जैसे कि घट-शरावादि पदार्थों में पिण्डावस्था, घटावस्था, कपालावस्था यावत् चूर्णावस्था तक मृद्रूपता की आवृत्ति=अनुवृत्ति अर्थात् अविच्छिन्न

अत एव तत्त्वविद्भिरुक्तम्- [गौडपादकारिका ६ - ३१]
'आदावन्ते च यन्नास्ति वर्त्तमानेऽपि तत्तथा । वितथैः सदृशाः सन्तोऽवितथा इव लक्षिताः ॥'

वितथैस्तु सादृश्यम् = अवितथत्वाभिमतानां कालत्रयव्यापित्वम् । तत् प्रत्यक्षेण प्रतीयमानस्य सद्रूपताया ग्रहणात् 'सर्वमेकं सल्लक्षणं च ब्रह्म' [ ] इत्याहुः । आगमश्चाभेदप्रतिपादकः – तथा च मन्त्रः 'इन्द्रो मायाभिः पर[पुरु]रूप ईयते'' [ऋग्वे० मं० ६ सूक्त ४७ ऋचा १८] इत्यनेनाभिन्नस्य मायाकृतो भेदो दर्श्यते । तथा, ब्राह्मणेऽपि भेदनिषेध उक्तः 'नेह नानाऽस्ति किंचन' [बृहदा० ४-४-१९] । तथा भेददर्शिनो निन्दार्थवादः श्रूयते- 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति' [बृहदा० ४-४-१९] 'इव'शब्देनौपचारिकत्वं भेदस्य दर्शितम् । तथा, 'एकमेवाऽद्वितीयम्' [छान्दो० ६-२-१] इत्यवधारणाऽद्वितीयशब्दाभ्यामयमेवार्थः स्फुटीकृतः । 'पुरुष एवेदं सर्वं यद् भूतम्' [ऋक्सं० १०-९०-२] इत्यादिकमनेकस्तदद्वैतप्रतिपादक आम्नायः । न चागमस्याभेदप्रतिपादकस्य प्रत्यक्षबाधा, तस्यानुगतरूपग्राहकत्वेनाभ्युपगमात् तथाऽविरोधित्वात् । तदुक्तम् —

'आहुर्विधातृ प्रत्यक्षं न निषेद्धृ विपश्चितः । नैकत्वे आगमस्तेन प्रत्यक्षेण विरुध्यते ॥'[ब्र०त०श्लो० १]

न चैतद् वचनमात्रम् यतो भेदः प्रत्यक्षप्रतीतिविषयत्वेनाभ्युपगम्यमानः किं देशभेदादभ्युपगम्यते आहोस्वित् कालभेदात् उत आकारभेदात् ? तत्र न तावद् देशभेदाद् भेदो युक्तः, स्वतोऽभिन्नस्यान्यभेदेऽपि भेदानुपपत्तेः – न ह्यन्यभेदोऽन्यत्र संक्रामति । किंच, देशस्यापि यद्यपरदेशभेदाद् भेदः तथा

प्रतीति सतत जारी रहती है इसलिये एक सीमा तक वहाँ सद्भूत होती है, जब कि घटादि कुछ काल तक ही प्रतीत होते हैं और कुछ काल तक अर्थक्रिया स्थापक बने रहते हैं, सदा के लिये नहीं अतः स्वप्नदृष्ट पदार्थ (जो कि कुछ काल तक ही प्रतीत होते है और कुछ कार्यक्रिया करते दिखाई देते हैं उन) की तरह अपारमार्थिक हैं। यहाँ जो अभी कहा गया कि मृद्रूपता एक सीमा तक सद्भूत होती है उसका मतलब यह है कि घटादिभेद में अनुवृत्ति की अपेक्षा से, अर्थात् घटादि की अपेक्षा से ही उसको तात्त्विक कहा है, वास्तव में तो सत्त्व की अपेक्षा उस को देखा जाय तो मृद् भी सत् की अवस्थाविशेष यानी भेदस्वरूप होने से अपारमार्थिक ही है ।

★ एक तत्त्व दर्शक आर्ष वाणी ★

कभी होवे कभी न होवे, ऐसी चीज पारमार्थिक नहीं होती इसीलिये तत्त्ववेत्ताओं ने भी (गौडपादकारिका में) कहा है- "जिनकी प्रारम्भ (भूतकाल) में या अन्त (भविष्य) में हस्ती नहीं है उनकी वर्तमान में भी हस्ती नहीं होती । मिथ्यासदृश होते हुए भी वे सत्य जैसे लक्षित होते हैं ।"

सत्य जैसे लक्षित होनेवाले मिथ्यासदृश होने का तात्पर्य है कि तीन काल में व्याप्त रह न सकना । प्रत्यक्षप्रतीति का जो कोई विषय है वह उस रीति से सत्स्वरूप से ही गृहीत होते है, [illegible] है इसीलिये पूर्व मनीषियों ने कहा है कि "जो कुछ है वह सब एक ही ब्रह्मस्वरूप सल्लक्षण है ।" तथा, वेद में भी अभेद का प्रतिपादन किया है जैसे कि [illegible] "इन्द्र [illegible] से [illegible] होता है" । [illegible] के प्रभाव से भेद दिखलाया गया है । तथा ब्राह्मण ग्रन्थ में भी (बृहदारण्यक में) "यहाँ कुछ भी [illegible]

सति तद्देशस्यापि अपरदेशभेदाद् भेदः इत्यनेनानवस्था । स्वत एव चेद् देशभेदस्तर्हि भावभेदोऽपि स्वत एवास्तु किं देशभेदाद् भेदकल्पनया ? अपि च, यावदवष्टब्धौ देशौ भिन्नौ भावयोर्भेदकौ नेतोद्भातः (?नैवोद्भातः) तत् कुतस्तद्भेदात् भेदो ज्ञातुं शक्यः स्वतोऽव्यवस्थितयोरन्यव्यवस्थापकत्वाऽयोगात् ? यश्चाऽनवष्टब्धो देशः प्रतिभाति नासौ भेदकः अतिप्रसंगात् । तन्न देशभेदाद् भावभेदः समस्तीति नासौ प्रत्यक्षग्राह्यः ।

नापि कालभेदात् प्रत्यक्षतो भिन्नं वस्तु प्रत्येतुं शक्यम् सन्निहितमात्रवृत्तित्वात् तस्य । तथाहि- यदा आद्यं दर्शनं मृत्पिण्डमुपलभते न तदा भाविनं घटम्, तदप्रतीतौ तदपेक्षया न स्वविषयस्य भेदं प्रत्यक्षं प्रत्येतुं समर्थम् प्रतियोगिग्रहणमन्तरेण 'ततो भिन्नमिदम्' इत्यनवगतेः । तत्र हि दर्शने मृदः स्वरूपं प्रतिभातीति तदधिगतिर्युक्ता, तत्राऽप्रतिभासमानं तु भाविघटादिरूपं भविष्यतीति नाऽत्र प्रमाणमस्ति, नापि तस्मात् भेदः । अथोत्तरकालभावि दर्शनं भिन्नं घटं मृत्पिण्डाद् दर्शयतीत्यभ्युपगमः सोऽप्ययुक्तः, यतः तदपि दर्शनं पुरःस्थितार्थप्रतिभासनान्न पूर्वदृष्टार्थग्रहणक्षमम्, तदग्रहणे च न तस्माद् भेदमादर्शयितुं क्षमं वर्त्तमानार्थस्य । तस्मान्न तेनापि भेदगतिः ।

वैविध्य नहीं है' ऐसा कह कर भेद का प्रतिषेध किया गया है । तथा बृहदारण्यक में ही भेददर्शी की निन्दारूप अर्थवाद सुनाई देता है जैसे- 'जो यहाँ विविधताप्रायः का दर्शन करता है वह एक मृत्यु से दूसरे मृत्यु को प्राप्त करता रहता है ।' यहाँ मूल ग्रन्थ में नानेव (= विविधताप्राय) नाना शब्द के साथ इव शब्द लगा कर भेद औपचारिक है वास्तविक नहीं- इस तथ्य की ओर संकेत किया गया है । तथा 'एकमेव अद्वितीयम्' इस छान्दोग्योपनिषत् में भी एवकार और 'अद्वितीयम्' ये दो शब्द भारपूर्वक अभेद के प्रतिपादन और भेद के निषेध को स्पष्ट करने के लिये कहे गये हैं । तथा ऋक्संहिता आदि अनेक वेदशास्त्रों में 'पुरुष ही यह सब कुछ है जो भूत या भावि है' इत्यादि कह कर अद्वैत तत्त्व की प्ररूपणा की गयी है ।

यदि कहें कि – 'भेदसाधक प्रत्यक्ष से अभेदप्रतिपादक आगम बाधित होते हैं'– तो यह ठीक नहीं, क्योंकि प्रत्यक्ष का कार्य सिर्फ अनुगतरूप को ग्रहण करने का ही होता है– यह सर्वमान्य तथ्य है इसलिये प्रत्यक्ष भेदस्वरूप व्यावृत्ति का ग्राहक न होने से अभेदप्रतिपादक आगम का बाधक भी हो नहीं सकता । कहा भी है – पंडित लोग प्रत्यक्ष को विधातृ यानी अन्वयबोधक ही कहते हैं, निषेधबोधक नहीं । इसलिये एकत्व बोधक आगम के साथ प्रत्यक्ष का विरोध सम्भव नहीं ।

★ देशभेद से भेद प्रत्यक्षग्राह्य नहीं है ★

हमने यह जो कहा वह युक्ति शून्य वचनमात्र ही है ऐसा मत समझना । भेद की परीक्षा कर के देखिये- भेद को प्रत्यक्ष का विषय मानने वाले यह दिखाईये कि भेद कैसे होता है ? देशभेद से, कालभेद से या आकार (=स्वरूप) भेद से ? देशभेद से, वस्तुभेद मानना गलत है, क्योंकि जो स्वतः भिन्न नहीं है वह पराये भेद से भी भिन्न नहीं हो सकता । ऐसा तो नहीं है कि चैत्र-मैत्र का भेद देवदत्त में संक्रान्त हो जाय ! उपरांत, यह भी खोजना है कि वह देशभेद कैसे है ? यदि अन्य देशभेद से प्रस्तुत देशभेद है तो उस अन्य देशभेद भी अपर देशभेद से, वह भी इतर देशभेद से ... इस प्रकार अनवस्था चलेगी । यदि प्रस्तुत देशभेद परतः यानी अन्यदेशभेद प्रयुक्त नहीं किन्तु स्वतः होने का माना जाय तो वस्तुभेद भी स्वतः मान लेने पर देशभेदप्रयुक्त वस्तुभेद की कल्पना का कष्ट क्यों किया जाय ? दूसरी बात यह है कि दो भावों के भेदक रूप से अभिमत

अथ पूर्वदृष्टार्थस्य स्मृत्या ग्रहणात् वर्त्तमानस्य च दर्शनेन प्रतिभासनाद् भेदाधिगतिः नहि केवलं दर्शनं भेदाऽऽवेदकं किन्तु स्मृतिसचिवम् । असदेतत्, यतः स्मृतिरपि पूर्वमनुभूतमवैति न च पूर्वं भिन्नमवगतम्, तत् कथं साऽपि प्रतियोगिनं भिन्नमादर्शयितुं क्षमा ? तन्न तयाऽपि भेदाधिगतिः । किंच, स्वरूपनिमग्नत्वान्न भावभेदमवगन्तुं सा समर्था । तथाहि, स्मर्यमाणेन वा रूपेण स्मृतिस्तमर्थमवतरेत् दृश्यमानेन वा ? न तावद् दृश्यमानेन रूपेणार्थमवतरति स्मृतिः तस्य तत्राऽप्रतिभासनात् । नापि स्मर्यमाणेन रूपेण तमर्थमवतरति, स्मर्यमाणस्य रूपस्य तत्राऽभावात् – परिस्फुटं दर्शनारूढं हि रूपं तस्य पूर्वमधिगतम् न च तत् स्मृतौ प्रतिभाति । तन्नार्थस्वरूपग्राहिणी स्मृतिः सम्भवतीति न ततो भेदग्रहः ।

अथोत्तरदर्शने स्मृतौ वा यदि पूर्वरूपं नाभाति तदा तदप्रतिभासनमेव भेदवेदनम् । तथा चाह –

जो उन भावों से आक्रान्त देश हैं वे जब तक 'भिन्न' स्वरूप से प्रकाशित न हो जाय तब तक उन के भेद से; वस्तु का भेद कैसे मान सकेंगे ? तात्पर्य यह है कि देशभेद भी असिद्ध है और जब अपने ही भेद की व्यवस्था डाँवाडोल है तब उस से अन्य के भेद की व्यवस्था कैसे हो सकती है ? जब आक्रान्त देश भेदप्रयोजक नहीं हो सकता तो जो अनाक्रान्त देश दिखाई देता है उस से तो वस्तुभेद की आशा ही कहाँ ? यदि उस से भी वस्तुभेद मान लेंगे तो सारी दुनिया भी वस्तुभेदप्रयोजक बन जाने की आपत्ति आयेगी । सारांश, देशभेद वस्तुभेदप्रयोजक नहीं है और अत एव देशभेद से वस्तुभेद का प्रत्यक्ष भी असम्भव है ।

★ कालभेद से वस्तुभेद प्रत्यक्ष से अग्राह्य ★

कालभेदप्रयुक्त वस्तुभेद का प्रत्यक्ष से ग्रहण अशक्य है, क्योंकि प्रत्यक्ष तो स्वसमानक्षणवृत्ति अर्थ के ग्रहण में ही सक्षम होता है, भेदग्रहण के लिये पूर्वोत्तरक्षणवृत्ति अर्थ का भेदप्रतियोगी के रूप में वर्त्तमान में ज्ञान होना जरूरी है किन्तु वह समानकालीन न होने से शक्य नहीं । जब प्रतियोगीज्ञान ही अशक्य है तब भेदज्ञान की आशा कैसे ? देखिये– आद्य क्षण में जब मिट्टिपिण्ड का उपलम्भ होता है उस समय भावि पटावस्था का उपलम्भ शक्य नहीं । भावि पटावस्था उस समय गृहीत न होने पर, भाविपटसापेक्ष आद्यक्षणविषयनिष्ठ भेद भी आद्यक्षणभावि प्रत्यक्ष से गृहीत होना अशक्य है । कारण, पटादि प्रतियोगी अज्ञात रहने पर 'पटादि से यह भिन्न है' इस प्रकार भेदोपलम्भ हो नहीं सकता । तात्पर्य यह है कि आद्य क्षण में दर्शन में मिट्टी का स्वरूप प्रतिबिम्बित होता है इस लिये उसका बोध होना युक्तिसंगत है, किन्तु प्रतिबिम्बित न होने वाला भाविपट 'भविष्य में होने वाला है' इस ढंग से उस क्षण में गृहीत होता हो इस बात में कोई प्रमाण नहीं है, तब भेद गृहीत होने की तो बात ही नहीं ।

यदि कहें कि– 'उत्तरक्षण में जो पटदर्शन होगा वह मिट्टिपिण्ड से अपने विषय के भेद का ग्रहण कर लेगा'– तो ऐसा मानना अयुक्त है, उत्तरक्षण में होने वाला दर्शन भी अपने समानकालीन संनिहित अर्थ का ही प्रतिभास कराने में समर्थ है, पूर्वदृष्ट अर्थ को प्रतिभासित करने में सक्षम नहीं है, अतः उसके ग्रहण के अभाव में उस पूर्ववर्ति मिट्टीपिण्ड के वर्तमान पटादिकों में भेद का ग्रहण करने में वह समर्थ नहीं हो सकता । अतः कालभेद से भी भेद का उपलम्भ शक्य नहीं है ।

★ स्मृति द्वारा कालभेद से वस्तुभेद अग्राह्य ★

आशंका :- पूर्वदृष्ट अर्थ का ग्रहण स्मृति से ही होता और वर्तमान अर्थ का ग्रहण दर्शन से ही होता,

'विशिष्टरूपानुभवान्नान्यथा*न्यनिराक्रिया' [प्र०वा० ४-२७३ पू०] इति । एतदप्यसंगतम्, यतः पूर्वरूपविविक्तता प्रत्यक्षप्रतिपत्तेः स्मृतेर्वा कुतोऽवगता ? तादृक् स्मृतिश्च द्वयमपि स्वार्थनिमग्नं न पूर्वरूपमधिगन्तुमीशम्, तदनवगमे च न तद्विविक्तताधिगतिः तदप्रतिभासनमपि तदप्रतीतेरेवासिद्धम् । तस्मात् 'पूर्वरूपमासीत्' इति न काचित् प्रतिपत्तिः प्रतिपत्तुं क्षमा ।

अथ भावरूपमेव भेदः तत्प्रतिभासे सोऽपि प्रतिपन्न एव । तदप्यसत्, यतो न भावरूपमेव भेदः, प्रतियोगिनमपेक्ष्य 'ततो भिन्नमेतत्' इति भेदव्यवस्थापनात् । यदि च स्वरूपमेव भेदस्तदार्थस्यात्मापेक्षयापि भेदः स्यात् । 'परापेक्षया स्वरूपभेदः नात्मापेक्षया' इति चेत् ? न, पररूपाऽप्रतिपत्तौ तदपेक्षया स्वरूपभेदो न प्रतिपत्तुं शक्यः इति न पूर्वापरकालभेदः पदार्थसम्भवी ।

अथ आकारभेदाद् भेदः समानकालयोः नील-पीतयोरवभासमानवपुरस्ति, यत्रापि देश-कालभे-

इस प्रकार दोनों के गृहीत रहने पर भेदोपलम्भ भी हो सकता है । सिर्फ दर्शनव्यक्ति से ही भेदोपलम्भ तो नहीं होगा किन्तु पूर्वदृष्टार्थग्राहिणी स्मृति से अनुगृहीत दर्शन से तो हो सकता है न !

उत्तर :- यह आशंका गलत है । कारण, स्मृति हालाँकि पूर्वानुभूत अर्थ का उपलम्भ कर ले तो भी उस पूर्व अर्थ का 'भिन्न' रूप में तो उपलम्भ नहीं करती, तब वह कैसे दर्शन के समक्ष 'भिन्न' रूप में पूर्व प्रतियोगीभूत अर्थ का प्रकाशन करेगी ? अतः फलित हुआ कि स्मृति से या उस की सहायता से भी भेद का उपलम्भ संगत नहीं होता । दूसरी बात यह है कि स्मृति तो अपने स्वरूपग्रहण में ही मग्न रहती है, अतः भाव के भेद का प्रकाशन करने में वह सक्षम नहीं हो सकती । इन विकल्पों पर सोचिये कि (१)- स्मृति पूर्वानुभूत अर्थ का प्रकाशन स्मर्यमाण (यानी पूर्वकाल में अनुभवारूढ) रूप से करेगी या (२) वर्त्तमानकाल में दृश्यमान रूप से करेगी ? (२) वर्त्तमान में दृश्यमान अर्थ तो स्मृति में प्रतिबिम्बित ही नहीं होता अतः वर्त्तमान में दृश्यमान रूप से तो वह उसका प्रकाशन कर नहीं सकती । (१) स्मर्यमाण (यानी पूर्वकाल में अनुभवारूढ) रूप से भी वह अर्थ का प्रकाशन नहीं कर सकती क्योंकि वह रूप अब स्मृतिकाल में विद्यमान ही नहीं है । पूर्वक्षण में दर्शन में प्रतिबिम्बित जो रूप था वह तो स्पष्टरूप से पूर्वक्षण में ही अनुभूत हुआ था लेकिन अब वह विद्यमान न होने से स्मृति में प्रतिबिम्बित हो नहीं सकता । सारांश, स्मृति अर्थस्वरूप का ग्रहण करे यह सम्भवित नहीं है, अतः उस से भेद-प्रकाशन भी शक्य नहीं ।

★ पूर्वकालीन अर्थभेदप्रतिभास अशक्य ★

आशंका :- उत्तरक्षण के दर्शन में जब पूर्वकालीन रूप भासित नहीं होता तो उसके अप्रतिभासस्वरूप जो उत्तरक्षणसंवेदन है वही भेदसंवेदनरूप है । कहा भी है प्रमाणवार्त्तिक में कि 'भेदसिद्धि विशिष्ट यानी नियत रूप के अनुभव से होती है, अन्यथा उस के द्वारा अन्य का निषेध नहीं किया जा सकता' । इसका तात्पर्य यह है कि उत्तरक्षण में पूर्वकालीन अर्थ के प्रतिभास का जो निषेध किया जाता है वही भेदसंवेदन में प्रमाण है क्योंकि उसके विना पूर्वकालीन अर्थ के प्रतिभास का निषेध कैसे कर पायेंगे ?

उत्तर :- यह विधान भी असंगत है, क्योंकि पूर्वरूप से विशिष्टता या विविक्तता का अवगम प्रत्यक्ष से

* पूर्वमुद्रिते तु 'न्नान्यतोऽपि नि' इति पाठः, पाठान्तरं च 'न्यतोऽन्यनि' इति सूचितम् । प्रमाणवार्त्तिके मूले 'दन्यथान्यनि' इति पाठः किन्तु टीकायां 'निराक्रिया न भवति' इति व्याख्यातमतः 'न्नान्यथान्यनि' इत्येव पाठः सम्यक् मत्वात्र न्यस्तः ।

दात्मापि तद्रूपेण स्वरूपे भेद एवोपलक्ष्यते न पुनः स्वरूपभेदादपरो भेदः सम्भवति अन्यस्यान्यभेदेन भेदाऽयोगात् तस्मात् स्वभावभेद एवास्ति प्रतिभासनात् । इत्यप्ययुक्तम्, यतः स्वरूपभेदो द्वयोरुद्द्योतमानवपुषोः किं स्वत एव प्रतिभाति उत व्यतिरिक्तप्रतिभासावसेयः ? तत्र न तावद् बोधात्मा पुरस्थयोर्नील-पीतयोर्भेदमवगमयितुं प्रभुः तस्यापरोक्षनीलाद्याकारव्यतिरिक्तवपुषः सुखादिव्यतिरिक्ततनोःप्रतिभासमानत्वेनासत्त्वात् । तथाहि – बहिर्नीलादिः सुखादिश्चान्तः परिस्फुटं द्वयमाभाति न तद्व्यतिरिक्तो बोधात्मा स्वप्नेऽप्युपलभ्यते इति कथमसावस्ति ? अथ 'अहम्'प्रत्ययेन बोधात्माऽवसीयते । न, तत्र शुद्धस्य बोधस्याऽप्रतिभासनात् । स खलु 'अहं सुखी दुःखी स्थूलः कृशो वा' इति सुखादि शरीरं वाऽऽलम्बमानः प्रसूयते न तद्व्यतिरिक्तं बोधस्वरूपम् । तन्न तद्विषयोऽप्यसौ । स्वरूपेण वाऽप्रतिभासमानवपुर्बोधः कथं भावान् व्यवस्थापयितुं प्रभुः ? नहि शशविषाणं कस्यचिद् व्यवस्थापकं युक्तम्। भवतु वा व्यतिरिक्तो बोधः प्रकाशमानवपुस्तथाप्यसौ स्वरूपनिमग्नत्वात् न नीलादेर्भिन्नस्य ग्राहको युक्तः, न हि बोधकाले नीलादिकमाभातीति तस्य बोधो ग्राहको भवेत् नीलादेरपि बोधं प्रति ग्राहकतापत्तेः ।

होता है या स्मृति से ? दोनों में से एक भी पूर्वरूप के प्रकाशन में समर्थ नहीं है क्योंकि पहले कह दिया है कि ये दोनों अपने अपने अर्थसंवेदन में ही तल्लीन रहते हैं । जब पूर्वरूप का आवेदन शक्य नहीं तो उसकी विविक्तता यानी भेद का अधिगम कैसे होगा ? पूर्वरूप के अप्रतिभास से भेदसंवेदन का आपादन भी गलत है क्योंकि जैसे पूर्वरूप की प्रतीति नहीं होती वैसे उसके प्रतिभास का अभाव भी प्रतीत नहीं होता । इस लिये कोई भी प्रतीति (चाहे प्रत्यक्ष या स्मृति) 'पूर्वरूप था' इस ढंग से अवगम करने के लिये सक्षम नहीं है ।

आशंका :- भेद भावरूप ही है, अतः भावप्रतिभास के साथ भेद भी प्रतीत हो जाता है ।

उत्तर :- यह विधान भी असंगत है, क्योंकि भेद की व्यवस्था 'यह उससे भिन्न है' इस प्रकार प्रतियोगी के सापेक्ष उल्लेख से ही होती है, अतः सिद्ध होता है कि भेद भावस्वरूप नहीं है । यदि भावस्वरूप ही भेद होता न कि परसापेक्ष, तब तो पर की अपेक्षा से भेद होता है वह स्व की अपेक्षा से भी प्रसक्त होगा, यानी घट में स्वभेद की तरह पटभेद भी नावकाश होगा । यदि कहें कि– पर की अपेक्षा से होने वाला भेद भावस्वरूप होता है इसलिये स्व की अपेक्षा से भेद प्रसक्त नहीं होगा'– तो ऐसा भेद उपलब्ध होना शक्य नहीं क्योंकि पररूप की प्रतीति पूर्वोक्त रीति से शक्य न होने से उस की अपेक्षा पर अवलंबित स्वरूपात्मक भेद भी कैसे उपलब्ध होगा ? सारांश, पूर्वोत्तरकालभेद पदार्थोपलब्धि होने का सम्भव नहीं है अतः कालभेद से वस्तुभेद की सिद्धि भी अशक्य है ।

★ अपरोक्ष नीलादिआकारव्यतिरिक्त बोधात्मा असत् ★

आशंका :- नीलाकार-पीताकार के भेद से समकालीन नील और पीत का भेद स्पष्ट रूप से प्रतीत होता है । यहाँ, स्वरूपभेद के बदले देश-काल के भेद से वस्तुभेद प्रगट किया जाता है वहाँ भी वास्तव में देश-काल भेद तो स्वरूपभेदात्मक होता है और उस भेद से स्वरूपभेद ही उपलक्षित होता है । वास्तव में स्वरूपभेद को छोड कर और किसी से किसी का भेद होता ही नहीं । क्योंकि एक के भेद से दूसरे का भेद स्वतन्त्र नहीं होता जैसे कि घटभेद से पटभेद नहीं हो जाता । भेद से कहे जाने वाले स्वरूपभेद ही उपलक्षित होता है इसलिये वही ही इसका स्वाभाविक है ।

अथ बोधात्मा पुरःस्थेषु नीलादिषु प्रत्यक्षतां प्रति व्याप्रियमाण उपलभ्यत इति ग्राहकः, नीलादिस्तु तद्विषयत्वाद् ग्राह्यः । तदप्यसत्, व्यापारस्य तद्व्यतिरिक्तस्यानुपलम्भेनासत्त्वात् – न हि प्रकाशमाननीलसुखादिरूपबोधाभ्यामन्यो व्यापार उपलभ्यते, उपलम्भे वा तस्य तत्राप्यपरो व्यापारो बोधस्याभ्युपगन्तव्यः, पुनस्तत्राप्यपरो व्यापार इत्यनवस्था । अथ स्वत एवासौ व्यापार उपलभ्यते । नन्वेवं तस्य स्वातन्त्र्येणोपलम्भाद् व्यापारताऽनुपपत्तिः, न हि बोधावभाससमये स्वतन्त्रतनुरुद्भासमानः पदार्थो बोधव्यापार इति युक्तम्, बोधस्यापि तद्व्यापारताप्रसंगात् । 'बोधपरतन्त्रत्वाद् व्यापारः तद्व्यावृत्ति(?पृति)रि'ति चेत् ? न, समानकालावभासिनस्तस्य प्रारतन्त्र्याऽयोगात् । न हि स्वरूपेण बोधकाले प्रतीयमानतनु तत् परतन्त्रं भवितुं युक्तम्, बोधस्यापि व्यापारपरतन्त्रतापत्तेः । अनिष्पन्नरूपस्तु व्यापारः सुतरां न परतन्त्रः, नहि खरविषाणं तथा व्यवहारभाग् लोके प्रसिद्धम् । तस्मादुभयथाप्यसत् पारतन्त्र्यम् । तन्न कस्यचिद् व्यापारः ।

उत्तर :- यह विधान भी असंगत है । क्योंकि यहाँ प्रश्न खडा होता है– स्वयं प्रकाशमान स्वरूप नील–पीत शरीर का स्वरूपभेद क्या उन के प्रतिभास के साथ साथ स्वतः भासित होता है या उनके प्रतिभास से भिन्न प्रतिभास में – शुद्ध बोधात्मा में स्वतत्र भासित होता है ?

प्रथम दूसरे विकल्प की विचारणा करें तो लगता है कि बोधात्मा संमुखवर्त्ती नील-पीत के भेद को प्रकाशित करने के लिये सक्षम नहीं है, क्योंकि बाह्य अपरोक्ष नीलादि के आकार से एवं आन्तरिक सुखादिरूप अनुभूति से सर्वथा अतिरिक्तशरीरी बोधात्मा का स्वप्न में भी अनुभव नहीं होता । यदि कहें कि –'अहम्=मैं' इस स्वरूप से नीलादिविनिर्मुक्त शुद्ध बोधात्मा अनुभवसिद्ध है– तो यह योग्य नहीं है क्योंकि यहाँ शुद्ध बोध अनुभवारूढ नहीं होता किन्तु वह 'मैं सुखी' 'मैं दुःखी' इस प्रकार से अथवा 'मैं स्थूल हूँ' 'मैं पतला हूँ' इस ढंगसे सुखादि या शरीरादि से मिलितरूप में ही अनुभूत होता है, किन्तु सुखादि से विनिर्मुक्त बोध अनुभव नहीं होता । तात्पर्य, बोधात्मा बाह्य – अभ्यन्तर विषय से ही उपरक्त रहने के कारण स्वतत्ररूप से भेदविषयी नहीं हो पाता । अथवा सिधी बात है कि अपने शुद्धस्वरूप से जो स्व का भी शुद्ध प्रतिभास नहीं कर पाता वह अन्य भावों की निर्दोष व्यवस्था कैसे कर पायेगा ?! यदि किसी प्रकार यह मान ले कि शुद्धस्वरूप से प्रकाशमय बोध की हस्ती होती है, तो वह तो अपने स्वरूप के उद्भासन में रक्त रहेगा, भिन्न नीलादि के ग्रहण की झंझट वह क्यों करेगा ? 'बोधानुभवकाल में साथ साथ नीलादि भी भासित होते हैं इसलिये वह नीलादि ग्राहक हो सके' यह नहीं मान सकते, क्योंकि विपरीत संभावना, नीलादि ही बोध के ग्राहक होने की भी की जा सकेगी ।

★ बोध सव्यापार होने में अनुपपत्ति ★

आशंका :– विपरीत सम्भावना सम्भव नहीं है क्योंकि संमुखवर्त्ती नीलादि उदासीन होते हैं जब कि बोधात्मा नीलादि का प्रत्यक्ष करने के लिये व्यापृत = सक्रिय = सव्यापार होता हुआ अनुभव में आता है । इसलिये बोधात्मा ही 'ग्राहक' होगा और नीलादि उसका विषय होने से 'ग्राह्य' माना जायेगा ।

उत्तर :- यह आशंका गलत है क्योंकि बोध से पृथक् किसी व्यापार का उपलम्भ नहीं होता इसलिये व्यापार की वस्तु ही नहीं है । प्रकाशमान नीलादिबोध और सुखादिबोध को छोड कर और किसी व्यापार उपलब्ध ही नहीं होता । मान लो कि वह उपलब्ध होता है– तो अनवस्था दोष सिर उठायेगा, क्योंकि जैसे नीलादि

किंच, असावपि व्यापारः किमर्थं व्याप्रियते ? न वा ? इति कल्पनाद्वयम् । यदि न व्याप्रियते कथं तस्मिन् सत्यप्यर्थस्य ग्राह्यता बोधस्य च ग्राहकता ? अथ व्याप्रियते तदा तत्राप्यपरो व्यापारोऽभ्युपगन्तव्यः, तत्राप्यपर इति सैवानवस्था । अथ व्यापारस्य स्वरूपमेव व्यापारः । ननु नीलादेरपि व्यापृतिकाले स्वरूपमस्तीति तत् तस्य व्यापारः स्यात् तस्मात् बोध-नीलव्यापारलक्षणस्य त्रितयस्यैककालमुपलम्भान्न कर्तृ-कर्म-क्रियाव्यवहृतिः सम्भवतीति न ग्राह्य-ग्राहकभावः समस्ति तत्त्वतः । भिन्नकालयोस्तु ज्ञान-ज्ञेययोः परस्परसंनिधिनिरपेक्षोपलम्भप्रवर्त्तनान्न वेद्य-वेदकतासम्भवः । तत्र बोधात्मा तुल्यकालयोर्नील-पीतयोर्भेदस्य साधकः, तस्य स्वरूपनिष्ठत्वात् । किंच, सोऽपि नीलादेर्भिन्नः प्रत्येतव्यः

के ग्रहण के लिये बोधात्मा सव्यापार बनता है वैसे ही व्यापार के ग्रहण के लिये भी सव्यापार होना पडेगा, उस व्यापार के लिये भी नया व्यापार करना होगा, इस प्रकार व्यापारपरम्परा का अन्त नहीं होगा । यदि ऐसा कहें कि – 'व्यापार अपने आप ही उपलब्ध हो जाने से नये नये व्यापार की परम्परा नहीं चलेगी'– तो यह स्वतन्त्र उपलब्ध होने से उसको व्यापार कैसे कहेंगे ? बोध के स्फुरायमाण होते हुए उसके साथ स्वतन्त्ररूप से स्फुरित होने वाला पदार्थ बोध का व्यापार नहीं बन सकता, क्योंकि विपरीत संभावना – बोध ही उस स्वतन्त्र स्फुरायमाण पदार्थ का व्यापार होने की आपत्ति होगी । यदि कहें कि – 'वह बोधपरतन्त्र यानी बोधायत्त होने से वही बोध की व्यापृति यानी व्यापार कहा जायेगा, विपरीत सम्भावना नहीं होगी ।'– तो यह ठीक नहीं है क्योंकि स्वतन्त्ररूप से समकाल स्फुरित होने वाले एकदूसरे के परतन्त्र नहीं हो सकते । जो अपने स्वरूप से, बोधसमानकाल में स्फुरित होता है वह बोध का परतन्त्र नहीं कहा जा सकता, अन्यथा बोध ही उसका (व्यापार का) परतन्त्र होने की आपत्ति होगी । यह तो उत्पन्न व्यापार की बात हुई, जब उत्पन्न भी व्यापार बोध का परतन्त्र होने में कोई तर्क नहीं है तो अनुत्पन्न व्यापार सर्वथा बोध-परतन्त्र नहीं हो सकता । खरविषाण जो कि कभी उत्पन्न ही नहीं होता उसके लिये कभी लोगों में ऐसा व्यवहार नहीं देखा कि वह किसी का परतन्त्र है । अतः उत्पन्न या अनुत्पन्न किसी भी दशा में, परतन्त्रता सिद्ध नहीं होती । अतः बोध के व्यापार की कथा गलत है ।

★ बोधव्यापार सव्यापार होने पर अनवस्था ★

यह भी सोचना चाहिये– बोध का व्यापार नीलादि अर्थ के ग्रहण में उदासीन रहता है या सव्यापार होता है ? ये दो विकल्प हैं । यदि उदासीन होता है तब तो उसके होने हुए भी नीलादि कैसे ग्राह्य बनेंगे और बोध भी उसका ग्राहक कैसे होगा ? यदि सव्यापार होता है तो उस दूसरे व्यापार के लिये भी, जैसे पहले बोध के लिये व्यापार आवश्यक माना गया, वैसे, नया व्यापार मानना पडेगा, उसके लिये भी नया और नया व्यापार, इस प्रकार सुदीर्घ अनवस्था होगी । यदि कहें कि व्यापार तो स्वयं ही [illegible]

तदप्रतीतौ तेन नील-पीतादेर्भेदवेदनाऽयोगात् । न हि भिन्नेनात्मनाऽप्रतीयमानो बोधोऽर्थान् भिन्नान् प्रतिपादयितुं समर्थः, शशविषाणादेरपि व्यवस्थापकत्वप्रसंगात् । भिन्नस्तु बोधात्मा प्रत्ययान्तरेण किं प्रतीयते उत स्वात्मनैव ? यदि 'प्रत्ययान्तरेण' इति पक्षः, सोऽनुपपन्नः, यतस्तदपि प्रत्ययान्तरमन्येन प्रत्ययान्तरेण भिन्नं प्रत्येतव्यम् तदप्यन्येनेत्यनवस्थाप्रसक्तिः स्यात् । अथात्मनैव, तदा स्वरूपनिमग्नत्वान्न नीलावभासं भिनत्ति तत् कुतो भेदसंवित् ?

अथ स्वत एव नीलादेर्भेदवेदनम्, तदपि न युक्तम्, यतो यदि स्वत एव नीलादयः प्रकाशन्ते तदा स्वप्रकाशास्ते प्रसजन्ति, स्वप्रकाशत्वे च नीलादेर्नीलस्वरूपं स्वात्मनि निमग्नं न पीतरूपसंस्पर्शि पीतस्वरूपं च स्वस्वरूपावभासं न नीलरूपसंस्पर्शि, तत् कुतः परस्पराऽसंवेदनात् स्वरूपतोऽपि भेदसंवित्तिः ? भेदो हि द्विष्ठो द्वयसंवेदने सति विदितो भवेत्, नीलस्वरूपे वा परोक्षे नीलं न पीतमाभाति तथात्वे सत्येकतापत्तेः । अथ प्रतिभासनमेव भेदवेदनम्, ननु नीलस्वरूपप्रतिभासे नीलं विदितम् पीतादिकं त्वनवभासमानं तत्र नास्तीति न शक्यं वक्तुम्, नास्तित्वाऽवेदने च कुतो भेदसिद्धिः स्वरूपमात्रस्य प्रतिभासनात् ?

हैं तो उन दोनों के उपलम्भों में परस्पर संनिधान की अपेक्षा न होने से उन में वेद्य–वेदक भाव होने का सम्भव नहीं है । सारांश, समानकालीन नील-पीत के भी भेद का साधन बोधात्मा से दुष्कर है, क्योंकि बोधात्मा अपने स्वरूप में ही रक्त होता है ।

दूसरी बात यह है कि, नील-पीतादि से स्वयं भिन्न रूप में बोधात्मा प्रतीत होगा तभी वह अपने से भिन्न नील-पीतादि के भेद का ग्रहण कर सकेगा, क्योंकि स्वयं ही जब भिन्नरूप में प्रतीत नहीं होगा तो बाह्यार्थों को भिन्न रूप में वह कैसे ग्रहण कर पायेगा ? जबरन ऐसा मानेंगे तो स्वयं जो भिन्नरूप में प्रतीत नहीं होता ऐसे शशसींग से भी नील-पीतादि के भेद को प्रकाशित करने के लिये बोधात्मा को स्वयं भिन्नरूप में प्रतीत होना अनिवार्य है तब ये दो विकल्प खडे होंगे, वह बोधात्मा अपने आप ही भिन्नरूप से प्रकाशित होगा ? या अन्य प्रतीति से ? दूसरा विकल्प तो अयुक्त ही है क्योंकि उस को भी अन्य प्रतीति से भिन्नरूप में प्रकाशित होने के लिये और एक अन्य प्रतीति की आवश्यकता होगी, उसके लिये भी और एक प्रतीति की.. इस तरह अनवस्था सिर उठायेगी । यदि वह अपने आप ही अपने को भिन्नरूप से प्रकाशित करेगा ऐसा माना जाय तो वह अपनी भिन्नरूप प्रतीति में ही सराबोर रहेगा, तब नीलावभास का भेद सिद्ध करने के लिये अवकाश कैसे पायेगा ? अब ऐसी स्थिति में भेद– संवेदन कैसे हस्ती पायेगा !?

★ स्वप्रकाश नीलादिपक्ष में भेदस्फुरण अशक्य ★

पहले जो दो विकल्प कहे थे कि स्वरूपभेद प्रकाशमाननीलादि का अपने आप स्फुरित होता है या भिन्न प्रतिभास (बोधात्मा) से अवगत होता है ? इन में से दूसरे विकल्प का परीक्षण हो गया । अब यदि प्रथम विकल्प अंगीकार करें तो वह भी युक्त नहीं है । कारण, नीलादि स्वतः प्रकाशमान हो और उन के साथ अपना भेद भी स्वतः स्फुरित हो ऐसा मानने पर नीलादि को स्वप्रकाश मानना पडेगा, उस स्थिति में स्वप्रकाश नीलादि का नीलस्वरूप अपने आप को प्रकाशित करने में व्यापृत रहेगा किन्तु पीतरूप की ओर देखेगा भी नहीं, एवमेव पीतस्वरूप अपने आप को प्रकाशित करने में रक्त रहेगा वह नील की ओर नहीं देखेगा, परिणाम यह होगा कि दोनों एक-दूसरे को छुएँगे भी नहीं तो एक दूसरे के स्वरूप के भेद का संवेदन कैसे होगा ? भेद तो

किंच, नीलादेरपि स्थूलावभासिनोऽनेकदिक्सम्बन्धात् परमाणुरूपतया व्यवस्थापनात् स्वरूपभेदः स्यात्, पुनर्नीलादिपरमाणूनामपि भिन्नदिक्सम्बन्धात् स्वरूपभेदः भवेत् तथा चानवस्थानात् न भेदस्थितिः । भेदो हि कस्मिंश्चिदेकरूपे सिद्धे तद्विपर्ययात् स्वरूपस्थितिमासादयेत्, न चानन्तरेण न्यायेन किञ्चिदप्येकं सिद्धम् परमाणोरप्यभेदासिद्धेर्भवदभ्युपगमेन । न च नीलस्वरूपं सुखाद्यात्मतया नानुभूयत इति भेदवद् अभेदस्यापि प्रत्यक्षतोऽप्रसिद्धिः, यतो नीलादिप्रतिभासस्य भेदाऽवेदनमेवाऽभेदवेदनम् । अथ नीलादीनामात्मस्वरूपाऽवेदनमेव भेदवेदनमिति परेणापि वक्तुं शक्यत एव ततश्च कः स्वपरपक्षयोर्विशेषः ? तथाहि – न देश-कालसन्तानाकारैरेकत्वं जगतः प्रतीयते, परस्परोपलम्भपरिहारेण देशादीनां प्रतिभासनात् । असदेतत् अन्योन्यपरिहारेणोपलब्धेरद्वैतवादिनोऽप्रसिद्धत्वात् । न च 'परस्परानुप्रवेशोपलब्धिरपि

दो में रहने वाला होता है अतः दोनों का संवेदन होने पर ही भेदसंवेदन हो सकता है किन्तु हकीकत यह है कि नीलस्वरूप जब अपरोक्ष होता है तब वह नील पीत का भान नहीं करता, ऐसे ही पीत नील का । यदि ऐसा एक-दूसरे का भाव शक्य हो तब तो वे दोनों दो न रह कर एक ही हो जायेंगे क्योंकि प्रकाशमान-नीलपीतस्वरूप संवेदन एक है और समकालीन है ।

यदि ऐसा कहें– नीलसंवेदनकाल में पीत का असंवेदन है वही भेदसंवेदन है तो यहाँ वास्तव में तो नीलस्वरूप संवेदन में नील ही स्फुरित होता है किन्तु यह स्फुरित नहीं होता कि पीतादि अप्रतिभासमान है, जब पीतादि की अभासमानता का भी स्फुरण नहीं होता तब 'अप्रतिभासमान है' ऐसा भी कैसे कह सकते हैं ? और जब नास्तित्व का संविदन नहीं है तो 'वही भेदसंवेदन है' ऐसा कह कर भेदसिद्धि कैसे कर पायेंगे ? प्रतिभास तो सिर्फ नील या पीत के अपने स्वरूप का ही होता है नास्तित्व या भेद का नहीं ।

★ भेदपक्ष में चरम परमाणु की सिद्धि दुष्कर ★

भेदवादी के पक्ष में अनवस्था भी बहुत होती है, स्थूलावभासी जो नीलादि हैं उन में भी भेदवादी अनेक दिशाओं के साथ अंशतः संयोग के आधार पर परमाणुभेद मानते हैं । किन्तु परमाणु को भी विविध दिशा के संयोग से अनेक अंश रूप ही मानना पडेगा, उसके एक एक अंश का भी पुनः विविधदिशा संयोग से भेद मानना होगा– इस प्रकार किसी भी सूक्ष्म अंश को स्थायि अन्तिम स्वरूप प्राप्त न होगा । भेद की सिद्धि के लिये पहले स्थायिरूप में किसी एक की सिद्धि होनी चाहिये तब उसके विपर्यय से किसी दूसरे में उस के भेद का स्थापन हो सकता है, किन्तु भेदवाद में पूर्वोक्त ढंग से अनवस्था दोष के कारण उस की मान्यता के अनुसार परमाणु में भी अभेद यानी अखंडता सिद्ध न होने से किसी एक की स्थायीरूप में सिद्धि हो नहीं हो पाती ।

आशंका :- बाह्य नीलादिस्वरूप जो होता है वह आन्तरिक सुखादिरूप में अनुभूत नहीं होते । अतः भेद जैसे प्रत्यक्ष से सिद्ध नहीं होता वैसे अभेद भी प्रत्यक्ष से सिद्ध नहीं हो सकता ।

उत्तर :- यह विधान गलत है, क्योंकि नीलादिप्रतिभास में सुखादि का या उनके भेद का संवेदन नहीं होता है, भेद का असंवेदन या अभेद का संवेदन एक ही बात है ।

आशंका :- ऐसा तो प्रतिवादी भी कह सकता है कि नीलादि का भी आत्मस्वरूप से अभेद का वेदन नहीं होता, वह अभेद का अवेदन या भेद का वेदन एक ही बात है । तो इस प्रकार भेदपक्ष और अभेद पक्ष के समर्थन में क्या विशेषता रही ? देखिये – जगत में एक देश, एक काल या एक सन्तानरूपता [illegible]

भेदवादिनोऽसिद्धा' इति वक्तुं शक्यम् सन्मात्रोपलब्धेः सर्वत्र सद्भावेन परस्परानुप्रवेशोपलब्धेरनुप्रसिद्धेः। तथाहि – अस्ति तावदयं प्रतिभासः अत एवाऽद्वैतमस्तु, न ह्यत्र भेदप्रतिभासः, नापि भेदाभेदप्रतिभासः अपि त्वभेदप्रतिभास एव बहिर्नीलादेर्भिन्नस्य भिन्नाभिन्नस्य चाऽयोगात् । अथ अभिन्नस्यापि बहिर्नीलादेरयोगः तर्ह्यस्तु ज्योतिर्मात्रं प्रकृतिपरिशुद्धं परमार्थसत् तत्त्वम् । न च नीलादेर्बहीरूपतया प्रतिभासमानस्यापि असत्त्वे ज्योतिर्मात्रस्यापि परमार्थसतत्त्वरूपस्याऽसत्त्वमस्तु इति वक्तुं शक्यम्, नीलादेरविद्यावेद्यत्वेनाऽतत्त्वरूपव्यवस्थितेः ज्योतिर्मात्रस्य तु विद्यावेद्यत्वेन तद्विपर्ययरूपत्वेनावस्थानात् । तन्न प्रत्यक्षतः कथमपि भेदवेदनम्, स्मरणाद् वा उक्तन्यायेन ।

अथ सामग्री सा तादृशी दर्शन-स्मरणरूपा यतः प्रत्येकावस्थाऽसम्भवि भेदवेदनाख्यं कार्यमुदयमासादयति । असदेतत् यतःसामग्र्यपि कार्यजनने समर्था नात्मस्वरूपप्रादुर्भावे भेदवेदनलक्षणे । न च स्मरणप्रत्यक्षव्यतिरिक्तमपरं भेदग्रहणम् येन सामग्री तद् जनयेत् । अथ भेदनिश्चयजनने द्वयं व्याप्रियते, तदयुक्तम्, ग्रहणमन्तरेण निश्चयस्याऽयोगात् । [ग्रहणं च न भेदव्यापारवत् स्मरणसहायम्, ग्रहणं कथं

प्रतीति नहीं होती, किन्तु एक देश की अन्य देश से, एक काल की अन्यकाल से, एक सन्तानाकार की अन्य सन्तानाकार से परिहारीरूप में यानी पृथक् रूप में प्रतीति होती है। अतः भेद सिद्ध है।

★ 'सर्वं सत्' प्रतीति से अभेद सिद्धि शक्य ★

उत्तर :- यह विधान गलत है, अद्वैतवादी के मत में 'सर्वं सत् = सब कुछ सत्स्वरूप है' ऐसी ही प्रतीति होती है, एक–दूसरे से पृथक्ता की प्रकाशक कोई उपलब्धि ही अद्वैतवाद में प्रसिद्ध नहीं है।

आशंका :- द्वैतवादी के मत में एक-दूसरे की एक दूसरे में अन्तर्भाव रूप में यानी अभेदप्रकाशक उपलब्धि असिद्ध है। अतः अभेदसिद्धि नहीं हो सकेगी।

उत्तर :- यह विधान भी गलत है, क्योंकि 'सर्वं सत्' ऐसी प्रतीति सर्वमान्य है । यही प्रतीति भेदरूप से प्रतिवादी को अभिमत सभी पदार्थों में सत्‌रूप से एक-दूसरे में अन्तर्भाव की प्रतीतिरूप है क्योंकि 'सत्' में प्रतिवादी को अभिमत विशेषमात्र का अन्तर्भाव मान्य है। 'सर्वं सत्' ऐसी प्रतीति–प्रतिभास के बारे में किसी को भी विवाद नहीं है इस लिये इसी प्रतिभास से अद्वैत तत्त्व स्पष्ट हो जाता है । 'सर्वं सत्' इस सर्वमान्य प्रतीति में न तो भेदप्रतिभास है, न भेदाभेदप्रतिभास है, किन्तु अभेद प्रतिभास ही है, क्योंकि बाह्य नीलादि न तो भिन्न रूप से भासित होते हैं, न भिन्नाभिन्न रूप से किन्तु अभिन्न-अखंडरूप में भासित होते हैं इसलिये उस को भिन्न या भिन्नाभिन्न के साथ कोई सम्बन्ध ही नहीं है।

आशंका : अभिन्नरूप से भी नीलादि भासित नहीं होते अतः नीलादि का अभिन्न के साथ भी कोई सम्बन्ध नहीं है।

उत्तर : नहीं है तो बाह्य नीलादि को मत मानो, प्रकृति से अत्यन्त निर्मल प्रकाशनस्वरूप ज्योति ही पारमार्थिक सत् तत्त्व मानो, अद्वैत अनायास सिद्ध होगा।

आशंका : बाह्यरूप से प्रतिभास होनेवाले नीलादि को जब सत् नहीं मानना है तो आन्तररूपसे प्रतिभास होने वाले, जिसको आप परमार्थ सत् मानना चाहते हैं, उस ज्योतिस्वरूप को भी सत् मत मानो।

[ ] अयं पाठः किंचिदशुद्ध इव प्रतिभासते।

ग्रहण एव व्यापारवद् युक्तम् ? न च निश्चयस्यापि स्मरणादन्यस्तन्निश्चयः ततो निश्चयात् स्मरणभेदाऽनिश्चयः] इति न न्यायसंगतमेतत् । तस्मान्न पूर्वाऽपरयोर्भेदग्रहणं दर्शन-स्मरणविशेषादपि । न च समानकालप्रतिभासयोर्नीलपीतयोरितरेतराभावग्रहणे भेदग्रहणं सम्भवति अभावप्रमाणस्येतरेतराश्रयत्वेनानवतारात् । तथाहि – [श्लो० वा० ५-२७ अभाव०] ''गृहीत्वा वस्तुसद्भावं स्मृत्वा च प्रतियोगिनम् । मानसं नास्तिताज्ञानं जायतेऽक्षानपेक्षया ॥'' इति तस्य लक्षणम् । न च ग्रहणमन्तरेण प्रतियोगिस्मरणम्, न च प्रतियोगिस्मरणमन्तरेण भेदसाधकाभावप्रमाणावतार इति कथं नेतरेतराश्रयदोषः ? भेदग्राहक-

उत्तर :- ऐसा नहीं हो सकता । बाह्य नीलादि का प्रतिभास तो माया अथवा अविद्या से जनित होता है इसलिये उसको असत् मानना वाजिब है । किन्तु ज्योतिस्वरूप का अनुभव अविद्याजनित नहीं, शुद्ध विद्या से जनित है अतः वह असत् नीलादि से विपरीत यानी सत् रूप ही मानना उचित है । निष्कर्ष, प्रत्यक्ष से अथवा पूर्वोक्त रीति से स्मृति से भी भेद का संवेदन असिद्ध है ।

★ दर्शन-स्मरण की मिलित सामग्री से भेदवेदन अशक्य ★

आशंका :- दर्शन और स्मरण की जोड यह ऐसी सामग्री है जो अलग-अलग रह कर भेदवेदनरूप कार्य नहीं कर सकते थे लेकिन मिल कर एक सामग्री बन कर कर सकते हैं ।

उत्तर :- यह प्रकल्पना भी गलत है । कारण, सामग्री कार्य को जन्म दे सकती है किन्तु अप्रसिद्ध वस्तु को आत्मस्वरूप का प्रदान नहीं कर सकती । अर्थात् भेदवेदनात्मकता का आधान किसी भी वेदन में सामग्री से शक्य नहीं । प्रत्यक्ष या स्मरण तो भेदग्रहणस्वरूप है नहीं, और उन से अतिरिक्त भी कोई भेदग्रहण प्रसिद्ध नहीं जिसका सामग्री से उदय या आविर्भाव किया जा सके । यदि ऐसा कहें कि– भेददर्शनस्वरूप दर्शन की उत्पत्ति सामग्री से मत मानो किन्तु विकल्पात्मक निश्चय तो सामग्री से उत्पन्न हो सकेगा । – तो यह भी अयुक्त है चूंकि दर्शनात्मक ग्रहण के विना निश्चय के प्रादुर्भाव की सम्भावना ही नहीं है । [उपरांत, ग्रहण (यानी दर्शन) स्मरण की सहायता से भेद के ग्रहण में सव्यापार नहीं होता । ग्रहण के लिये ग्रहण ही सव्यापार कैसे हो सकता है ? तथा स्मरण भी ग्रहण की सहायता से भेदग्राही नहीं हो सकता क्योंकि निश्चय का निश्चय तो स्मरण से भिन्न नहीं होता और स्मरण तो पूर्ववस्तुग्राही होता है अतः स्मरण से भी भेदनिश्चय की सम्भावना नहीं है । इसलिये दर्शन(ग्रहण) और स्मरण भेदनिश्चय के लिये सव्यापार होने की बात न्यायसंगत नहीं है ।] सारांश, पूर्व-अपर रूप से अभिमत पदार्थों के भेद का ग्रहण दर्शन और स्मरण की मिलित सामग्री से होने का सम्भव नहीं है ।

आशंका :- जब नील-पीत का प्रतिभास समानकाल में होता है तब दोनों में एक-दूसरे के अभाव का भी ग्रहण होता है और उस से भेदग्रहण हो जाता है ।

उत्तर :- ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि अन्योन्याश्रय दोष के कारण यहाँ अभावप्रमाण सावकाश नहीं है । अभाव प्रमाण का लक्षण श्लोकवार्तिक में ऐसा बताया है– ''(आश्रयभूत) वस्तु के सद्भाव का ग्रहण और प्रतियोगी का स्मरण होने पर इन्द्रियनिरपेक्ष ही मानसिक अभावज्ञान हो जाता है ।''– इस लक्षण के

[ ] कोष्टक में [ ] ऐसा पाठ अशुद्ध होने के कारण यहाँ उसका विवरण भी छोड़ दिया गया है । [illegible] किन्तु शब्दों का अनुवाद करके या छोड़ दिया गया है ।

प्रत्यक्षाभावेऽनुमानस्यापि न भेदग्राहकत्वेन प्रवृत्तिः तस्य प्रत्यक्षपूर्वकत्वात्, अनुमानपूर्वकत्वे इतरेतराश्रय-दोषप्रसक्तेः। तन्न कुतश्चित् प्रमाणाद् भेदसिद्धिः। न च(चा)प्रमाणिका वस्तुव्यवस्था अतिप्रसंगात्।

न चात्रेदं प्रेरणीयम्– 'सल्लक्षणमेकं ब्रह्म विद्यास्वभावं चेत् न किंचिन्निवर्त्त्यम् अवाप्तव्यं वा भवेत् ततश्च तदर्थानि शास्त्राणि प्रवृत्तयश्च तत्प्रयोजना व्यर्थाः *स्युरविद्याया अभावात् द्वितीयस्याः। अविद्यास्वभावत्वे वा न सत्त्वम् नापि ब्रह्मरूपता'। – यतो नाऽविद्यास्वभावं ब्रह्म, नापि विद्यास्वभावत्वे शास्त्राणां प्रवृत्तीनां च वैयर्थ्यम्, अविद्याया व्यापारनिवर्त्यत्वात्। न त्व(न्व)विद्या नैव ब्रह्मणोऽन्या तत्त्वतोऽस्ति अतः कथमसौ यत्ननिवर्त्तनीयस्वरूपा ? अत एव, तस्यास्तत्त्वतः सद्भावे कः स्वरूपं निवर्त्तयितुं शक्नुयात् ? न चाऽस्माकमेव पुरुषप्रयत्नोऽविद्यानिवर्त्तको मुमुक्षूणाम् किन्तु सर्वत्र प्रवादेष्वतात्त्विकाऽनाद्यविद्योच्छेदार्थो मुमुक्षुयत्नः।

अनुसार भेदग्रहण के लिये प्रतियोगी का स्मरण अपेक्षित है किन्तु वही भेदग्रहण के विना असम्भव है, एवं प्रतियोगी के स्मरण के विना भेद-साधक अभावप्रमाण का अवतार अशक्य हैं; इस प्रकार दोनों परस्पराश्रित हो जाने से अन्योन्याश्रय दोष क्यो नहीं होगा ?!

उपरोक्त ढंग से जब प्रत्यक्ष से भेदसिद्धि कठिन है तब अनुमान की तो भेदग्रहण के लिये प्रवृत्ति होने की आशा ही नहीं रहती, क्योंकि अनुमानप्रवृत्ति प्रत्यक्ष होने पर निर्भर होती है। यदि अनुमान प्रवृत्ति के बल से ही प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति साधी जाय तो प्रत्यक्ष प्रवृत्ति और अनुमान प्रवृत्ति में अन्योन्याश्रय दोष होगा। निष्कर्ष, किसी भी प्रमाण से भेद सिद्ध नहीं होता। प्रमाण के विना किसी भी वस्तु की व्यवस्था शक्य नहीं, फिर भी अप्रामाणिक वस्तु का आग्रह किया जाय तो शशसींग की भी सिद्धि विना प्रमाण से हो जाने की आपत्ति हो सकती है।

★ मुमुक्षुप्रयत्न अविद्या का निवर्त्तक ★

यहाँ ऐसा मत कहना – "सत् स्वरूप एक ब्रह्म ही है, और कुछ है ही नहीं, तो वह ब्रह्म विद्यास्वभाव है या अविद्यास्वभाव ? यदि विद्यास्वभाव ही है तो न उस में से किसी की निवृत्ति कर्त्तव्यशेष रहती है न तो कुछ प्राप्ति शेष रहती है, अतः अविद्यादि की निवृत्ति के लिये अथवा तो विद्यास्वभाव ब्रह्म की प्राप्ति के लिये रचे गये शास्त्र व्यर्थ हो जायेंगे। एवं ब्रह्मप्राप्ति या अविद्यानिवृत्ति के प्रयोजन से की जाने वाली प्रवृत्तियाँ भी निरर्थक हो जायेंगी, क्योंकि ब्रह्म के अलावा और कोई अविद्या जैसी द्वितीय चीज ही नहीं है। यदि ब्रह्म अविद्यास्वभाव है तो मिथ्यात्व प्रसक्त होने से न तो सत्स्वरूप होगा, न ब्रह्मस्वरूप होगा।"– इस प्रकार का विधान इस लिये अनुचित है कि ब्रह्म अविद्यास्वभाव नहीं है, एवं विद्यास्वभाव होने पर शास्त्र और प्रवृत्ति की व्यर्थता का प्रसंग भी नहीं है। कारण, विद्यास्वभावब्रह्मपक्ष में, अविद्या की निवृत्ति के लिये पुरुषार्थ की सार्थकता है और उसके लिये उपदेश करने वाला शास्त्र भी सार्थक है।

प्रश्न :- ब्रह्म अद्वितीय है, वास्तव में ब्रह्म से भिन्न कुछ भी अविद्या जैसा हस्ती में नहीं है तब पुरुषार्थ से उसकी निवृत्ति कैसे कही जाय ?

उत्तर :- [अत एव...] ब्रह्म से भिन्न अविद्या तत्त्वतः नहीं है इसी लिये उसकी निवृत्ति होती है।

---

* 'स्फुरदविद्यायाः (?) प्रभावात्' इति पूर्वमुद्रिते पाठः, तत्रैव टीप्पण्यां पूर्वसम्पादकयुगलेन शुद्धपाठकल्पना सूचिता। अत्र तु लिम्बडी० आदर्शानुसारेण पाठशुद्धिरुपन्यस्ता।

अथापि स्यात् – न ब्रूमोऽनादेर्नोच्छेदः, किन्तु नित्यस्य ब्रह्मणः किमविद्यास्वभावः आहोस्विद् अन्यथा ? न तावत् स्वभावः ब्रह्मणस्तद्विपरीतविद्यास्वभावत्वात्, अर्थान्तरत्वे तस्यात्तत्त्वतः सद्भावे नोच्छेदः द्वैतप्रसंगश्च । अथ मतम् – 'अग्रहणमविद्या, सा कथमर्थान्तरम् ? न चाऽनिवर्त्त्या सर्वप्रमाणव्यापाराणामग्रहणनिवृत्त्यर्थत्वात्'– तदयुक्तम्, तत्त्वाऽग्रहणस्वभावा अविद्या तत्त्वग्रहणस्वभावया विद्यया निवर्त्त्येत, सा तु नित्या ब्रह्मणि, न च ब्रह्मणोऽन्योऽस्ति यस्य तत्त्वाऽग्रहणं ब्रह्मणि प्रयत्नलभ्यया विद्यया निवर्त्त्येत, ब्रह्मणि तु युगपद् ग्रहणाऽग्रहणे विप्रतिषिद्धे, अविरोधे वा न विद्यया तत्त्वाऽग्रहणव्यावृत्तिः । यस्य त्वन्यथाग्रहोऽविद्या तस्य ब्रह्मणः तदतत्स्वभावत्वे उक्तं दूषणम् – तत्स्वभावत्वे तद्वदनिवृत्तेः, अर्थान्तरत्वे द्वैतापत्तिः । नित्यप्रबुद्धत्वे च ब्रह्मणः कस्यान्यथात्वग्रह इति वाच्यम् तद्व्यतिरिक्तस्यान्यस्याऽसत्त्वात्, तस्य च विद्यास्वभावत्वाद् न तद्विपरीताऽविद्यास्वभावता विरुद्धधर्मंस-

---

यदि सचमुच अविद्या जैसा कुछ वास्तव हस्ती में होता तब तो उसके स्वरूप की निवृत्ति करने में कौन समर्थ है ? ब्रह्म की हस्ती है तो उसकी निवृत्ति जैसे अशक्य है इसी प्रकार अविद्या यदि हस्ती में है तो उसकी भी निवृत्ति अशक्य है । ऐसा नहीं है कि सिर्फ हम ही मुमुक्षुओं के पुरुषार्थ को अविद्या-निवर्त्तक दिखलाते हैं, सभी मतवादियों ने मुमुक्षुप्रयत्न को अतात्त्विक एवं अनादि अविद्या का उच्छेदक दिखलाया है, अतः किसी प्रश्न को अवकाश नहीं है ।

★ अविद्यानिवृत्ति के असम्भव की आशंका ★

यदि ऐसी आशंका की जाय–

हम यह कहना नहीं चाहते कि अविद्या अनादि होने से उसका उच्छेद नहीं होता । अनादि अविद्या का उच्छेद तो प्रायः सर्ववादिमान्य है, किन्तु हम यह पूछना चाहते हैं कि अद्वैतवाद में ब्रह्म नित्य है तो अविद्या उसका स्वभावरूप है या विपरीत यानी स्वभावबाह्य अर्थान्तर है ? ब्रह्म का ही स्वभावरूप अविद्या हो नहीं सकती, क्योंकि ब्रह्म-स्वभाव तो विद्यामय है इस लिये उसकी विरोधी अविद्या ब्रह्म-स्वभावरूप नहीं हो सकती । यदि अविद्या ब्रह्म से भिन्न अर्थ है तो वास्तविक सत्स्वरूप होते हुए उसका उच्छेद नहीं हो सकेगा एवं 'ब्रह्म-अविद्या' द्वैत की आपत्ति होगी । यदि ऐसा मानें कि– 'अविद्या 'ब्रह्म का अग्रहण=अस्फुरण' रूप है तो अर्थान्तर और द्वैतापत्ति कैसे ? और ऐसी अविद्या अनिवर्त्त्य हो ऐसा भी नहीं है क्योंकि समस्त प्रमाणों का यही प्रयोजन है– अग्रहणरूप (अज्ञान या अस्फुरण रूप) अविद्या की निवृत्ति करना ।'– तो ऐसा मानना अयुक्त है । कारण, तत्त्वग्रहणस्वभाव विद्या तत्त्वअग्रहणस्वरूप अविद्या की अत्यन्त विरोधिनी है, और ब्रह्म में तत्त्वग्रहणस्वभाव विद्या अनादिकालीन नित्य होने से सदा मौजूद है उसके होते हुए विरोधि तत्त्वअग्रहणस्वरूप अविद्या की हस्ती ही कैसे हो सकती है ? ब्रह्म एक है उस में ग्रहणस्वरूप विद्या और अग्रहण स्वरूप अविद्या शीत-उष्ण की तरह परस्पर विरुद्ध होने से दो में से एक ही हो सकती है । यदि इन में विरोध होने का नहीं मानेंगे तब तो विद्या से तत्त्वअग्रहणरूप अविद्या की निवृत्ति शक्य ही नहीं होगी । तथा जिस वादी के मत में अग्रहणस्वरूप नहीं किन्तु अन्यथा(=विपरीत)ग्रहण स्वरूप अविद्या मानी गयी है उस वादी के मत में भी यही विकल्प है कि यह अविद्या ब्रह्म का स्वभाव है या स्वभावबाह्य अर्थान्तररूप है ? यदि स्वभावरूप है तो ब्रह्म की जैसे निवृत्ति नहीं होती वैसे अविद्या की भी निवृत्ति नहीं होगी । और यदि अर्थान्तररूप है तो द्वैत प्रसक्त होगा । तथा

मावेशाऽयोगात्, अविरोधे विद्यया नाऽविद्याव्यावृत्तिः ।

अत्राहुः – नाविद्या ब्रह्मणोऽनन्या, नापि तत्त्वान्तरम्, न चैकान्तेनाऽसती, एवमेव इयमविद्या माया मिथ्याभास इत्युच्यते । वस्तुत्वे तत्त्वाऽन्यत्वविकल्पावसरः, अत्यन्ताऽसत्त्वेऽपि खपुष्पवद् व्यवहारानङ्गम्, अतोऽनिर्वचनीया सर्वप्रवादिभिश्चैवमेवाभ्युपगन्तव्या । तथाहि – शून्यवादिनो यथादर्शनं सत्त्वे नाऽविद्या, खपुष्पतुल्यत्वे न व्यवहारसाधनम्, सदसत्पक्षस्तु विरोधाघ्रात इत्यनिर्वचनीयाऽविद्या । ज्ञानमात्रवादिनो यथा प्रतिभासज्ञानसद्भावे न बाह्यार्थापह्नवः घटादेरर्थाकारस्य ग्राहकाकाराद् विच्छेदेनाऽवभासमानस्यापह्नवायोगात्, अत्यन्ताऽसत्त्वे बहिरवभासाऽभावात् खपुष्पादेरिव, उभयपक्षस्य चासत्त्वम् विरोधात् । बाह्यार्थवादिनामपि रजतादिभ्रान्तयोऽवभासमानरूपसद्भावान्नाऽविद्यात्वमश्नुवीरन्, अत्यन्तासत्त्वे न तन्निबन्धनः कश्चिद् व्यवहारः स्यात्, सदसत्पक्षस्तु कृतोत्तरः । तत्रैतत् स्यात् – अवभासमानं रूपं तत्र मा भूत् ग्राहकाकारस्तु सन्नेव नासावविद्या – असदेतत्, ग्राह्याकारसत्त्वे च तदवभासोऽपि

ब्रह्म तो नित्य प्रबोधस्वरूप है तो उसका विपरीतग्रहण भी कैसे उदित होगा ?, ब्रह्म से तो अलग कोई चीज ही नहीं है तो उस अन्य चीज के रूप में ब्रह्म का विपरीतग्रहण कैसे हो सकता है ? तथा ब्रह्म तो विद्यास्वभावमय है, अविद्यास्वभावता तो उसका विरुद्धधर्म है, विरुद्धधर्मों का एकस्थान में समावेश होता नहीं, इसलिये ब्रह्म में अविद्यास्वभावता का सम्भव ही नहीं । यदि ये दो धर्म परस्पर अविरुद्ध है ऐसा मानने जायेंगे तो विद्या से अविद्या की निवृत्ति नहीं हो पायेगी ।

इस आशंका के उत्तर में सद्‌द्वैतवादी कहते हैं –

★ अविद्या मीमांसा और उसकी निवृत्ति ★

अविद्या न तो ब्रह्मसे अभिन्न है न भिन्न होते हुये तत्त्वान्तररूप है तथा एकान्ततः असत् भी नहीं है, अत एव उसे अविद्या, माया अथवा मिथ्याभास कहा गया है । वह वस्तुभूत नहीं है इस लिये 'ब्रह्मात्मक है या ब्रह्मभिन्न' इन विकल्पों को अवसर नहीं मिलता । यदि अत्यन्त असत् मानी जाय तो गगनकुसुमवत् वह व्यवहार–अन्तर्भूत भी नहीं हो सकेगी । तो क्या है ? इस का उत्तर है कि वह अनिर्वचनीया यानी शब्दातीतस्वरूप है । सर्वमतवादियों के लिये यह तथ्य स्वीकार करने योग्य है, देखिये– शून्यवाद में देखा जाय तो यहाँ सर्वशून्य होते हुये जो जैसा दिखाई दे उसकी उस रूप में काल्पनिक सत्ता मानी जाती है (वास्तव में तो कुछ भी पारमार्थिक सत् नहीं है) तो वैसे ही दिखावे के अनुसार उसे काल्पनिक सत् तो मानना होगा, किन्तु फिर उसे (मिथ्याभास के अर्थ में) अविद्या यानी मिथ्या नहीं कह सकेंगे । यदि गगनकुसुमवत् असत् मानेंगे तो उसका व्यवहार असंगत हो जायेगा । सद्-असत् उभयपक्ष में विरोध की बदबू आयेगी, अन्ततः अविद्या को अनिर्वचनीय मानना होगा । विज्ञानवादियों के मत में ज्ञान जैसा स्फुरित होता है (उदा० बाह्यार्थविभासि) ऐसा मान लेने पर बाह्यार्थ का तिरस्कार नहीं हो सकेगा, क्योंकि ज्ञानगत ग्राहकाकार से अतिरिक्त ग्राह्यरूप में बाह्य घटाकार भासित होता है उसका अपलाप नहीं हो सकता । यदि बाह्यार्थ को अत्यन्त असत् मानेंगे तो गगनकुसुमवत् उसका बाह्यरूप से अवभास नहीं होगा । उभय पक्ष तो विरोध के कारण व्याहत ही है, अतः अन्ततः अविद्या को अनिर्वचनीय कहना होगा । बाह्यार्थवादियों के मत में, रजतादिभ्रान्तियों में जो रजतादि अवभासमान हैं वे यदि सद् भूत हैं तो उन भ्रान्तियों में अविद्यात्व यानी मिथ्यात्व नहीं संगत होगा । यदि वह रजतादि अत्यन्त

ग्राहकाकारः सत्यतया न निरूपयितुं शक्यः । न च प्रतिभासस्य शून्यः प्रतिभासो नाम कश्चित् । तस्मान्नाऽविद्या सती, नाप्यसती नाप्युभयरूपा । अत एव निवृत्तिरस्या अदृढस्वभावत्वेन मायामात्रत्वात्, अन्यथा दृढस्वरूपत्वेऽवस्थितायाः कथमन्यथात्व(त्वं) स्वभावाऽपरित्यागात् शून्यत्वेऽपि स्वयं निवृत्तत्वात् । एवं च नाद्वैतहानम्, नापि निवर्त्तनीयाभावः ।

यच्च कस्यासावविद्येति चोद्यम् – तत्र जीवानामिति ब्रूमः* । ननु तेषामपि न ब्रह्मणोऽर्थान्तरता । सत्यम्, न परमार्थतः, काल्पनिकस्तु भेदः तेषां ततो न प्रतिषिध्यते । ननु कल्पनाऽपि कस्य भेदिका ? न तावद् ब्रह्मणः, तस्य विद्यास्वभावत्वेन सकलविकल्पातीतत्वात्, नापि जीवानाम्–कल्पनायाः प्राक् तेषामसत्त्वात् इतरेतराश्रयप्रसंगाच्च 'कल्पनातो जीवविभागः तद्विभागे सति कल्पना' इति । अत्र ब्रह्मवा-

---

असत् माने जाय तो उसका व्यवहार असंगत हो जायेगा, अर्थात् असत् रजतमूलक विसंवादी प्रवृत्ति आदि रूप कोई व्यवहार नहीं हो पायेगा । सद् – असत् उभयपक्ष की तो बात बार बार हो चुकी है । यदि ऐसी आशंका हो– अवभासमान रजतादि ग्राह्यरूप को भले ही सत् न माना जाय किन्तु ग्राहकाकार तो सत्स्वरूप ही है इसलिये हमें अविद्या मानने की जरूर ही नहीं है ।– तो यह गलत है, क्योंकि ग्राह्याकार रजतादि यदि असत् है तो उसके अवभासमान होते हुये ग्राहकाकार का सत्यरूप से निर्णय कैसे हो सकता है ? तथा रजतादिप्रतिभास से शून्य स्वतंत्र कोई ग्राहकाकार वह हो नहीं सकता ।

सारांश, अविद्या को किसी भी मत में न सत् मान सकते हैं, न असत्, न उभयस्वरूप, किन्तु अनिर्वचनीय है । सद्-असत् या उभयस्वरूप नहीं होने से ही वह ब्रह्म की तरह स दृढस्वभाव नहीं है किन्तु अदृढ स्वभाव एवं मायास्वरूप है इसीलिये उस की निवृत्ति हो सकती है । यदि वह ब्रह्म की तरह दृढस्वभाव होती तो ब्रह्म की तरह अनिवृत्ति स्वभाव के बदले वह निवृत्ति स्वभाव कैसे हो पाती ? स्वभाव का परित्याग दुष्कर होता है । यदि वह शून्यस्वरूप है तब तो स्वयं गगनकुसुमवत् निवृत्त होने से अविद्यानिवृत्ति के लिये पुरुषार्थ ही नहीं होता ।

उपरोक्त चर्चा का निष्कर्ष यह है कि अविद्या सत्स्वरूप न होने से अद्वैत का भंग नहीं होता और अनिर्वचनीय अदृढ माया स्वरूप होने से निवृत्ति भी असंगत नहीं है ।

★ जीवाश्रित अविद्यापक्ष में प्रश्नोत्तर ★

यदि यह प्रश्न किया जाय कि अविद्या किस की आश्रित है तो इसका उत्तर है जीवों की । यदि कहें कि– वे जीव भी ब्रह्म से भिन्न तत्त्व नहीं है– तो यह बात ठीक है कि ब्रह्म और जीवों में पारमार्थिक कोई भेद नहीं है । किन्तु ब्रह्म से जीवों के काल्पनिक भेद का प्रतिषेध नहीं है ।

यदि ऐसा कहें कि– ''जीव और ब्रह्म में भेदस्थापक कल्पना जीवाश्रित है या ब्रह्माश्रित ? 'ब्रह्म की कल्पना' ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि ब्रह्म स्वयं सर्व विकल्पों से अतीत = निर्विकल्प है, क्योंकि वह शुद्ध विद्यास्वभाव है । 'जीवों की कल्पना' ब्रह्म और जीव में भेदस्थापक है ऐसा भी नहीं हो सकता, क्योंकि– कल्पना से जीव सिद्ध होता है किन्तु कल्पना के पूर्व तो ब्रह्मातिरिक्त जीवभेद है ही नहीं तो कौन भेदस्थापक कल्पना करेगा ? स्पष्ट ही यहाँ अन्योन्याश्रय दोष सिर उठायेगा – कल्पना से जीवभेद होता है और ब्रह्म से जीव का भेद होने पर वह कल्पना करता है ।''–

---

* ... (ब्रह्मसिद्धि पृ० १०)

दिनोऽभिदधति – "वस्तुत्वे सत्येष दोषः स्यात् नाऽसिद्धं वस्तु वस्तवन्तरसिद्धये सामर्थ्यमासादयतीति, मायामात्रे तु नेतरेतराश्रयप्रसंगः । न हि मायायाः कथंचिदनुपपत्तिः – अनुपपद्यमानार्थैव हि माया लोके प्रसिद्धा उपपद्यमानार्थत्वे तु यथार्थभावात् न माया"[ ] इति केचित् ।

अन्ये तु वर्णयन्ति – अनादित्वात् मायाया जीवविभागस्य च बीजांकुरसन्तानयोरिव नेतरेतराश्रयदोषप्रसक्तिरत्र । तथा चाहुः "अनादिरप्रयोजनाऽविद्या, अनादित्वादितरेतराश्रयदोषपरिहारः, निष्प्रयोजनत्वे न भेदप्रपञ्चसंसर्गप्रयोजनपर्यनुयोगावकाशः" [ ] । अतोऽपरैर्यत् प्रेर्यते – दुःखरूपत्वान्नानुकम्पया प्रवृत्तिः अवाप्तकामत्वान्न क्रीडार्था इत्येतदपि परिहृतमविद्यात्वेन, यतो नासौ प्रयोजनमपेक्ष्य प्रवर्त्तते, नहि गन्धर्वनगरादिविभ्रमाः समुद्दिष्टप्रयोजनानां प्रादुर्भवन्ति । न च भवतु कल्पनातो जीवविभागः किन्तु तेऽपि तत्त्वतो ब्रह्मतत्त्वादव्यतिरिक्तत्वाद् । विशुद्धस्वभावा इति तेष्वपि नाऽविद्यावकाशं लभत इति वक्तव्यम्, यतो विशुद्धस्वभावादपि बिम्बात् कल्पनाप्रदर्शितं कृपाणादिषु यत् प्रतिबिम्बं तत्र श्यामतादिरशुद्धिरवकाशं लभते एव । अथ – 'विभ्रमः स इति न दोषः' – असदेतत् जीवा-

---

तो इसके उत्तर में ब्रह्मवादी यह कहते हैं– "यदि जीवभेद और कल्पना ये वास्तविक पदार्थ हो तब तो ऐसा दोष कहना ठीक है, किन्तु यहाँ तो जीवभेद एवं कल्पना वस्तु ही असिद्ध है । असिद्ध वस्तुरूप जीवभेद या कल्पना, पारमार्थिकवस्तुस्वरूप कल्पना या जीवभेद की सिद्धि के लिये समर्थ ही नहीं होती । किन्तु यह सब जीवभेद या कल्पना माया का ही प्रपंच है इसलिये अन्योन्याश्रय दोष यहाँ दूषणरूप नहीं है । जब यह माया का प्रपंच है– ऐसा कह दिया तो अब किसी भी प्रकार की असंगति भी नहीं है, माया स्वयं ही मूल में असंगत पदार्थ के रूप में लोगों में प्रसिद्ध है । यदि उसका कोई युक्तिसंगत स्वरूप होता तब तो लोग उसे ब्रह्म की तरह यथार्थ ही क्यों न मान लेते ? और यथार्थ होने पर उसे 'माया' शब्द से कौन सम्बोधित करता ?" – कुछ ब्रह्मवादियों का यह उत्तर है ।

★ अनादि एवं निष्प्रयोजन अविद्या ★

अन्य अद्वैतवादियों का समाधान यह है कि माया (अर्थात् उससे पैदा होने वाली कल्पना भी) तथा जीवविभाग ये दोनों ही अनादिकालीन है । जैसे बीज से अंकूर और अंकूर से बीज यह परम्परा अनादिकालीन होने से वहाँ अन्योन्याश्रय दोषरूप नहीं है वैसे ही माया (अथवा कल्पना) एवं जीवविभाग भी अनादि काल से परस्पराश्रित होने में कोई दोष नहीं है । कहा गया है कि 'अविद्या अनादि है, उपरांत उसकी प्रवृत्ति प्रयोजनाधीन नहीं किन्तु स्वतन्त्र है । अनादि होने से अन्योन्याश्रय दोष का परिहार हो जाता है और निष्प्रयोजन में अविद्या के प्रयोजन की गवेषणा का प्रश्न निरवकाश हो जाता है ।' इसलिये अन्य दार्शिनिकों ने जो ये दोष थोपे हैं– 'संसार दुःखरूप है इसलिये अनुकम्पा=करुणा से दुःखमय संसार के सर्जन की प्रवृत्ति उचित नहीं । तथा परमेश्वर तो कृतकृत्य होता है इसलिये खेल-खेल में जगत् का सर्जन करे यह भी सम्भव नहीं'– ये दोनों दोष अनादिनिष्प्रयोजन अविद्यामूलक प्रपंचसृष्टि के मत में निरस्त हो जाते हैं । कुछ प्रयोजन रहे तभी लोगों को गन्धर्वनगर आदि का विभ्रम पैदा हो ऐसा नहीं है, विना प्रयोजन ही लोगों को अपने नगर के ऊर्ध्वगगन में नया एक गन्धर्वों का नगर बस गया हो ऐसा गन्धर्वनगरविभ्रम सभी नगरवासियों को कभी पैदा हो जाता है । ऐसे ही विना प्रयोजन ही अविद्या की अनिर्वचनीय शक्ति से प्रपञ्च का विभ्रम पैदा हो सकता है ।

त्मस्वप्यस्य तुल्यत्वात् – तेष्वप्यशुद्धिर्विभ्रम एव अन्यथा तेष्वपि विशुद्धिर्दुरापैव स्यात् । अथ मुखात् कृपाणादीनाम- र्थान्तरत्वे भ्रान्तिहेतुता युक्तैव अत्र पुनर्ब्रह्मव्यतिरिक्तस्य निमित्तस्याभावात् कथं विभ्रमो युक्त इत्येतदप्यनालोचिताभिधानम्, अनादित्वेन परिहृतत्वात् । अनादित्वेऽपि चोच्छेदः शक्यत एव विधातुम् यथा भूमेरूषरस्य ।

अथ तत्र भूव्यतिरिक्तेन संस्कारान्तरेण स्वाभाविकस्यापि तस्य निवृत्तिः, न त्वेकात्मवादिनां तद्व्यतिरिक्तः आगन्तुको विलक्षणप्रत्ययोपनिपातः सम्भवति द्वैतापत्तेः । नन्वात्मन एव विद्यास्वभावत्वात् कथमनाद्यविद्याविलक्षणप्रत्ययोपनिपातो नास्तीति उच्यते – उक्तमत्र तेन तथाभूतेनात्मस्वभावेनाविद्यायाः विरोधाभावात् विरोधे वा नित्यमुक्तं जगद् भवेत् । न हि निवर्त्तकविरोधिसमवधाने विरोधिनः कदाचिदपि सम्भवः विरोधाभावप्रसंगात् । न चात्मव्यतिरिक्तं विद्यान्तरमागन्तुकमविद्यानिवृत्तिसाधनम् एकात्मवादि-नस्तस्याऽयोगात् । तदुक्तम् –

यदि यह पूछा जाय– 'कल्पना से जीवविभाग होता है यह मान लिया, किन्तु ये जीव भी परमार्थ से तो ब्रह्मतत्त्व से जुदा नहीं है अत एव ब्रह्माभिन्न विशुद्धस्वभावालंकृत ही हैं तो फिर उन में अविद्या की आश्लि बताना कैसे युक्त कहा जाय'– तो इसका यह उत्तर है कि बिम्ब (=मूल वस्तु) स्वयं शुद्धस्वभावयुक्त होने पर भी जब कल्पना के सामर्थ्य से स्वच्छ कृपाण-दर्पण आदि में शुद्ध वस्तु मुखादि के प्रतिबिम्ब का उदय होता है तब प्रतिबिम्बाधारभूत कृपाणादि की अथवा कल्पना की कालिमा उस मुखादि को प्रभावित कर देती है इसी तरह प्रतिबिम्बित जीव में भी अविद्या की कालीमा की अशुद्धि का संपर्क होने में कुछ भी असंगत नहीं है । यदि कहें कि- 'वह तो एक विभ्रम है, वास्तव में वहाँ मुखादि के ऊपर कोई कालिमा का संपर्क होता नहीं । '–तो यह बिना समझे विधान है चूँकि हम यही कहते हैं कि जीवात्माओं में भी अशुद्धि का विभ्रम ही होता है, वास्तव में जीवात्माओं ब्रह्माभिन्न होने से विशुद्ध ही है, यदि ऐसा नहीं माने तो भावि में साधना से भी जीव की विशुद्धि की अवाप्ति दुष्कर हो जायेगी ।

यदि पूछा जाय– मुख और प्रतिबिम्बाधार कृपाणादि तो पृथक् पृथक् हैं इसलिये किसी तरह वहाँ कृपाण की कालिमा का प्रतिबिम्बभूत मुखादि में विभ्रम हो जाना युक्तिसंगत है, यहाँ प्रस्तुत में भेद जैसी कोई चीज ही नहीं है, सब कुछ ब्रह्म ही है तब उसके अतिरिक्त किसी भिन्न निमित्त के अभाव में, जीवात्मा में अशुद्धि के विभ्रम का होना कैसे युक्ति संगत माना जाय ? तो इसका उत्तर पहले ही हो गया है, अनादिकालीन अविद्या है वैसे ही यह अशुद्धि का विभ्रम भी अनादिकालीन है, अतः किसी प्रश्न को अवकाश नहीं है । जैसे भूमि में चिरपूर्वकालीन ऊषरादि दोषों का विनाश करके भूमि को उपजाऊ बनायी जा सकती है वैसे ही अनादिकालीन अविद्या एवं अशुद्धिविभ्रम का भी साधना से उच्छेद किया जा सकता है ।

★ द्वैतापत्ति और उसका निराकरण ★

आशंका :- भूमि का ऊषर दोष नष्ट होने की बात ठीक है क्योंकि वहाँ भूमि और ऊषरादि दोषनिवारण के लिये किये जाने वाले संस्कार पृथक् पृथक् होते हैं, अतः संस्कार से स्वाभाविक दोष निवृत्त होते हैं । किन्तु अद्वैतमत एक ब्रह्मवादी के मत में तो ब्रह्म से अतिरिक्त संस्कारान्तररूप कोई विलक्षण प्रत्ययोपनिपात

"स्वाभाविकीमविद्यां तु नोच्छेत्तुं कश्चिदर्हति । विलक्षणोपपाते हि नश्येत् स्वाभाविकं क्वचित् ॥
न त्वेकात्मन्युपेयानां हेतुरस्ति विलक्षणः । [ ]

परिहृतमेतत् – जीवानामविद्यासम्बन्धः न परात्मनः, असौ सदा प्रबुद्धो नित्यप्रकाशो नागन्तुकार्थः अन्यथा मुक्त्यवस्थायामपि नाविद्यानिवृत्तिः । यतोऽस्मिन् दर्शने ब्रह्मैव संसरति मुच्यते च, अत्रैकमुक्तौ सर्वमुक्ति प्रसंगः अभेदात् परमात्मनः, यतस्तस्य भेददर्शनेन संसारः अभेददर्शनेन च मुक्तिः अत एकस्यैव परमात्मनः परमस्वास्थ्यमापतितम् । तस्मान्न ब्रह्मणः संसारः । जीवात्मान एवाऽनाद्यविद्यायोगिनः संसारिणः कथंचिद् विद्योदये विमुच्यन्ते तेषां स्वाभाविकाऽविद्याकलुषीकृतानां विलक्षणप्र-

की उपस्थिति सम्भव ही नहीं है, क्योंकि उस में अद्वैतभंग हो कर द्वैत-प्रसक्ति का भय है । यदि पूछा जाय कि–सिर्फ आत्मा ही विद्यास्वभाव है, अविद्यास्वभाव अन्य वस्तु का निषेध नहीं है, विद्यास्वभाव ही आत्मभिन्न वस्तु का निषेध है, अतः ब्रह्म से अतिरिक्त अनादि कालीन अविद्यामय निमित्त की उपस्थिति का कौन इनकार करता है ?– तो इसके उत्तर में पहले ही यह कह आये हैं कि ऐसी अविद्या का, विद्यास्वभाव ब्रह्म से कोई विरोध ही सिद्ध नहीं है तो उसकी निवृत्ति कैसे संगत होगी ? यदि विरोध मानेंगे तो सारा जगत् नित्यमुक्त ही मानना होगा, क्योंकि निवृत्तिकारक विरोधिस्वरूप विद्यामय नित्य शाश्वत ब्रह्म के अनादि होते हुये विद्याविरोधी अविद्या के उदय की कतई सम्भावना ही नहीं रहती । यदि सम्भावना मानेंगे तो विरोध लुप्त हो जायेगा । ऐसा भी नहीं मान सकते कि– 'ब्रह्म से अतिरिक्त भी कोई विद्यामय आगन्तुक आ कर अविद्या का ध्वंस कर देगा-' क्योंकि एकात्मवाद मत में ब्रह्म से पृथक् किसी विद्यामय आगन्तुक की हस्ती ही नहीं है । कहा भी है– अविद्या यदि स्वाभाविक है तो उसका (ब्रह्म की तरह ही) उच्छेद करना किसी के लिये सम्भव नहीं है । कदाचित् उस के विरोधी के आगमन से उस स्वाभाविक का भी ध्वंस होने की सम्भावना करे, किन्तु एकात्मवादि के मत में अविद्याध्वंसादि उपेयों के लिये कोई ब्रह्मातिरिक्त उपाय भी नहीं है ।

समाधान :- इस आशंका का परिहार कुछ लोग ऐसा कह कर करते हैं कि अविद्या को ब्रह्मस्वरूप परात्मा के साथ सम्बन्ध नहीं है किन्तु जीवात्माओं के साथ है । परात्मा तो सदा के लिये प्रतिबुद्ध अर्थात् स्फुरद् ज्ञानमय और नित्यप्रकाशी है, आगन्तुक नहीं है । यदि वह आगन्तुक होता तो प्रकाशमय न होने से, मुक्ति-अवस्था में भी उसकी अविद्या का विलय सम्भव न होता । तात्पर्य, जीव और अविद्या अनादिकल्पित होने से, जीव को औपाधिक विद्योदय होने पर अविद्या की निवृत्ति आदि की बातें असंगत नहीं है । इस ब्रह्मवादी के मत में संसार और मोक्ष ब्रह्म का होता नहीं है, किन्तु यदि होने का माना जाय तो एक जीव की मुक्ति होने पर सर्व जीवों की मुक्ति प्रसक्त हो सकती है क्योंकि एकजीवाभेदेन ब्रह्म की मुक्ति होने पर, ब्रह्म अभिन्न होने से सर्वजीव मुक्त हो जायेंगे । वास्तव में जीवात्मा को 'नाहं ब्रह्म' इत्यादि भेददर्शन के कुप्रभाव से संसार सृष्टि होती है और 'अहं ब्रह्मास्मि' इस प्रकार अभेददर्शनरूप विद्या का उदय होने पर मुक्ति होती है– यह संसार और मुक्ति यदि परमब्रह्म में मानेंगे तो महती अव्यवस्था प्रसक्त हो सकती है (एक की मुक्ति से सभी की मुक्ति), अतः ब्रह्म को संसार नहीं होता यह फलित होता है । जीवात्माओं को अवश्य अनादिकालीन अविद्या के कुसम्पर्क से संसारसृष्टि होती है, किन्तु जब कभी यथा-तथा विद्या का उदय हो जाता है ('अहं ब्रह्मास्मि') तब मुक्ति होती है । स्वाभाविक अनादि अविद्या के कारण मलिनताप्राप्त जीवों को जब अविद्याविरोधि विलक्षणस्वभाववाली

त्यपविद्योदये नाऽविद्यानिवृत्तेरनुपपत्तिः, यतो न तेषु स्वाभाविकी विद्या अविद्यावत्, अतस्तया निवृत्तिः स्वाभाविक्या अप्यविद्यायाः[ ] – इत्येवं केचित् ।

अन्ये तु ब्रह्म-जीवात्मनामभेदेऽपि बिम्बप्रतिबिम्बवत् विद्याऽविद्या*व्यवस्थां वर्णयन्ति । कथं पुनः संसारिषु विद्याया आगन्तुक्याः सम्भवः श्रवण-मनन-ध्यानाभ्यास-तत्साधनयम-नियम-ब्रह्मचर्यादिसाधनत्वात्, तस्य पूर्वमसत्त्वादविद्यावत् । स च श्रवण-मननपूर्वक-ध्यानाभ्यासोऽखिलभेदप्रतियोगी मुख्यतयैव वेदे दर्शितः – 'स एष नेति न' [बृहदा० ३-९-२६] इत्यादिना, सप्रतियोगित्वाद् भेदप्रपञ्चं निवर्तयता-ऽऽत्मनापि प्रतीयते । यतः श्रोतव्यादीनामभावे न श्रवणादीनामुपपत्तिः, स तु तथाभूतोऽभ्यस्यमानः स्वविषयं प्रविलापयन्नात्मोपघाताय कल्पते तदभ्यासस्य परिशुद्धात्मप्रकाशफलत्वात् । "यथा रजःसम्पर्ककलुषे उदके द्रव्यविशेषचूर्णरजःप्रक्षिप्तं रजोऽन्तराणि संहरत् स्वयमपि संह्रियमाणं स्वच्छां स्व-

विद्यारूप निमित्त उपस्थित होता है तो अविद्या निवृत्त हो जाती है ऐसा मानने में कोई असंगति नहीं है, क्योंकि जीवों में ब्रह्म की तरह विद्या स्वाभाविक (और अनादि) नहीं होती जिस से कि अनादि से उसके रहते हुए अविद्या के सम्पर्क की सम्भावना समाप्त हो जाय । वह तो आगन्तुक होती है । तथा वह अविद्या की विरोधी होने के कारण, उसका उदय होने पर, स्वाभाविक भी अविद्या की निवृत्ति मानने में कुछ भी असंगत नहीं है । जैसे पहले कहा है कि भूमि के ऊषरादि स्वाभाविक दोष भी आगन्तुक संस्कार से विलीन हो जाते हैं ।

★ विद्या का उद्भव और अविद्या के नाश की प्रक्रिया ★

अन्य वेदान्ती पंडितों ने ब्रह्म और जीवात्मा का अभेद होने पर भी, 'ब्रह्म अथवा ईश्वरस्वरूप बिम्ब' एवं 'जीवस्वरूप प्रतिबिम्ब' की व्यवस्था की तरह ही विद्या और उस से विनाश्य अविद्या की व्यवस्था का भी विविध प्रकार से वर्णन किया है । तात्पर्य यह है कि विद्या यानी ब्रह्मसाक्षात्कार स्वरूप आत्मज्ञानमय अन्तःकरणवृत्ति भी अन्ततः अविद्या का ही परिणाम है तो अविद्या में और विद्या में क्या भेद है – कैसे विद्या से अविद्या का नाश होता है, विद्या का प्रादुर्भाव कैसे होता है और उस का भी नाश कैसे होता है इत्यादि चर्चा भी सद्वैतवादियोंने की है । यहाँ विद्या कैसे उत्पन्न होती है और उस का नाश कैसे होता है इस बात का व्याख्याकार ने वेदान्तग्रन्थों के आधार पर संक्षेप से निदर्शन किया है – यदि यह पूछा जाय कि संसारी जीवों को आगन्तुक विद्या का उदय कैसे होता है तो उस के उत्तर में कहा गया है कि यम-नियम और ब्रह्मचर्यपालन से मन विशुद्ध होता है, विशुद्ध मन से श्रवण किया जाता है, सर्व वेदान्तवाक्यों का 'एकमेव अद्वितीय ब्रह्म' की दृष्टि से तात्पर्यनिर्धारण करना – यह श्रवण है । श्रवण के बाद मनन होता है, वाक्यों को अद्वितीय ब्रह्म में तात्पर्यनिर्धारण होने पर अन्य प्रमाणों के विरोध की शंका-कुशंकाओं का तर्कों से निराकरण करना यह मनन है । श्रवण और मनन की सहायता से अद्वितीय ब्रह्म के साक्षात्कार के लिये ध्यानाभ्यास किया जाता है और इस ध्यानाभ्यास से साक्षात्कारस्वरूप विद्या का उदय होता है, जो अविद्या की तरह अनादि न होने से पूर्वकाल में नहीं [illegible] । यह श्रवण-मननपूर्वक [illegible] ध्यानाभ्यास वेद में 'स एष नेति न'... [बृहदा० ३-९-२६] इत्यादि शब्दों से – 'यह आत्मा यह इन्द्रियादिरूप नहीं है...' इत्यादि [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] में आत्मस्वरूप [illegible] दिखाया गया है । यह ध्यानाभ्यास भी [illegible] से [illegible] है इत्यादि

* [illegible]

रूपावस्थामुपनयति'' [ब्रह्मसिद्धि-पृ.१२] एवं श्रवणादिभिर्भेदतिरस्कारविशेषात् स्वगतेऽपि भेदे समुच्छिन्ने स्वरूपे संसार्यवतिष्ठते यतोऽविद्ययैव परमात्मनः संसार्यात्मा भिद्यते तन्निवृत्तौ कथं न परमात्मस्वरूपता *यथा घटादिभेदे व्योम्नः परमाकाशतैव भवत्यवच्छेदकव्यावृत्तौ ? तत्रैतत् स्यात् – श्रवणादिर्भेदविषयत्वादविद्यास्वभावः कथं वा अविद्यैव अविद्यां निवर्त्तयति ? उक्तमत्र यथा रजसा रजसः प्रशमः एवं भेदातीतब्रह्मश्रवण-मनन-ध्यानाभ्यासानां भेददर्शनविरोधित्वादविद्याया अप्यविद्यानिवर्त्तकत्वम् । तथा च तत्त्वविद्भिरत्रार्थे निदर्शनान्युक्तानि – ''यथा पयः पयो जरयति स्वयं च जीर्यति, यथा विषं विषान्तरं शमयति स्वयं च शाम्यति'' [ब्रह्मसिद्धि – पृ० १२] एवं श्रवणादिषु द्रष्टव्यम् ।

स्यादेतत्–अभेदस्य तात्त्विकत्वे भेदस्याऽसत्यता, असत्यरूपश्च भावः कथं सत्यप्राप्तिसाधनम् ?

स्वजन्यसाक्षात्कार के द्वारा सकल भेदप्रपंच को निवृत्त करता हुआ, स्वयं भी निवृत्त होता है । ऐसा इसलिये है कि ध्यानाभ्यास से जब श्रोतव्य-मन्तव्यभूत पदार्थों के न होने पर तो श्रवणादि भी निरर्थक होने से उदित नहीं होते, श्रवण-मननपूर्वक ध्यान का अभ्यास किया जाता है तब अपने विषयभूत प्रपंच की निवृत्ति करता हुआ तदन्तर्गत अपना भी उपघात कर देता है क्योंकि आत्मध्यान के अभ्यास से परिशुद्ध आत्मप्रकाश का ही उदय हो जाता है ।

इस को समझने के लिये यह उदाहरण है – कतकवृक्ष के फल का चूर्ण-रज फिटकरी धुलिकणमलिन जल में डालने पर मलीन रजःकणों को नीचे बिठाता है और स्वयं भी नीचे बैठ कर जल में स्वच्छ एवं शुद्ध स्वरूप का आधान करता है । इसी तरह जब श्रवणादि से भेददर्शन निरुद्ध हो जाता है तब जीवगत भेद का भी उच्छेद हो कर जीवात्मा अपने विशुद्ध परमात्मस्वरूप में अवस्थित हो जाता है, अविद्या के प्रभाव से ही जीवात्मा और परमात्मा के बीच भेद हुआ था, अविद्या की निवृत्ति हो जाने से जीव परमात्मस्वरूप को प्राप्त कर लेता है । उदाहरण– घटाकाश और परमाकाश के बीच अवच्छेदक उपाधिस्वरूप घटादि से ही भेद खडा होता है, अवच्छेदक उपाधिस्वरूप घटादि की निवृत्ति (विनाश) हो जाने पर वह घटाश और परमाकाश एक हो जाते हैं ।

यदि मन में ऐसी आशंका हो– श्रवणादि भी आखिर तो भेदान्तर्गत होने से अविद्यास्वरूप ही है तो अविद्या से ही अविद्या की निवृत्ति कैसे हो सकती है । इस के समाधान में कहा गया है– जैसे उक्त रजःचूर्ण से ही मलीन रजःकणों का उपशमन किया जाता है इसी प्रकार भेद से अलिप्त ब्रह्मतत्त्व का श्रवण-मनन एवं ध्यानाभ्यास भेददर्शन के विरोधी होने से अविद्यारूप होते हुये भी अविद्या के निवर्त्तक हो सकते हैं । जैसे कि इसी तथ्य को उजागर करने के लिये तत्त्वविदों ने ऐसे उदाहरण 'ब्रह्मसिद्धि' आदि में कहे हैं– ''दुग्धपान पहले पीये हुए दुग्ध को पचाता हुआ स्वयं भी पच जाता है, विष को मारने के लिये दिया गया अन्य विषस्वरूप औषध पूर्व विष को मारता हुआ स्वयं भी नष्ट हो जाता है ।'' इसी तरह श्रवणादि भी अन्ततः निवृत्त हो जाते हैं यह समझ लेना ।

★ असत्य के द्वारा सत्य की प्राप्ति कैसे ? ★

आशंका : जब अभेद ही तात्त्विक है और भेद असत्य है तो प्रश्न है कि असत्य पदार्थरूप भेद-श्रवणादि

---

* 'घटादिषु प्रलीनेषु घटाकाशादयो यथा । आकाशे सम्प्रलीयन्ते तद्वज्जीवा इहात्मनि ॥ इति गौडपादकारिका चतुर्थी- अद्वैताख्यप्रकरणे ।

यथा बाष्पादिभावेन सन्दिह्यमानात् 'धूमः' इति गृहीताद् न तात्त्विकी वह्निप्रतिपत्तिः ।

अत्राऽभिदधति – नायं नियमः 'असत्यं न किञ्चित् सत्यं कार्यं जनयति', यथा मायाकारप्रदर्शिता माया प्रतीतेर्भयस्य च निमित्तं तथा रेखाकादीनाम् । तन्नै(त्रै)तद्वेत् रेखाकादि स्वरूपेण सद् न खपुष्पसदृशम्, अभेदवादिनस्तु भेदस्य खपुष्पतुल्यत्वात् कथं सत्योपायता ? नैष दोषः, सन्तु स्वरूपेण रेखाकादयः, येन तु रूपेण गमकास्तदसत्यम् । तथाहि – कादिरूपेण ते गमकाः तच्च तेषामसत्यम्–कार्योपयोगरहिता तु स्वरूपसत्यता व्यर्था । किंच, अभेददृष्टयुपायोऽपि न स्वरूपेणाऽसन् यतो ब्रह्मैवास्य रूपम् तत्र ब्रह्मैवाविद्यानुबद्धं स्वात्मप्रतिपत्त्युपायः यथा रेखाकादयः 'ककारोऽयम् गकारो- ऽयम्' इत्यविद्यारूपेणैव कादीनां गमकाः ।

येऽप्याहुः – न रेखाकादयः कादित्वेन कादीनां गमकाः । एवं रेखागवयादयोऽपि न गवयत्वेन सत्यगवयादीनाम्, अपि तु सारूप्यात्, एवंरूपा गवयादयः सत्याः; वर्णप्रतिपत्त्युपाया अपि रेखाकादयः पुरुषसमयात् वर्णानां स्मारकाः; न तु तेषां वर्णत्वेन वर्णप्रतिपादकत्वम्, रेखादिरूपेण च सत्त्वाद् गृहीत-

---

से सत्यप्राप्ति कैसे हो सकती है ? दूर से बाष्पसमूह को धूम समझ कर, उस संदिह्यमान धूम से तात्त्विक अग्नि का बोध कभी नहीं देखा जाता ।

समाधान : – प्रश्न का उत्तर यह है कि, ऐसा कोई नियम नहीं है कि 'असत्य कभी सत्य कार्य को उत्पन्न नहीं कर सकता' । देखिये - मायावी पुरुष जो माया – इन्द्रजाल दिखाता है वहाँ असत्य माया से देखनेवाले को प्रतीति का एवं कदाचित् भय का जन्म होता है, तथा विशिष्ट आकारवाली रेखाएँ जो सत्यवर्णरूप नहीं हैं उन से सत्य क-ख आदि वर्णों का भान होता ही है ।

आशंका :- रेखांकित क-ख आदि ध्वनिरूप से सत् न होने पर भी अपने रेखामयस्वरूप से तो सत् ही होते हैं, जब कि अभेदवादिमत में भेद तो सर्वथा गगनकुसुमवत् असत्य है तो उस से सत्य कार्य (विद्या) का जन्म कैसे होगा ?

समाधान :- यहाँ कुछ भी दोष नहीं है, रेखामयस्वरूप से क-ख आदि सत्य होने पर जिस ध्वनिरूप से वे क-ख आदि का सत्य बोध करवाते हैं वह रूप तो असत् ही होता है । सुनिये :- क-ख आदि ध्वनिरूप से वे रेखामय आकृतियाँ क-ख आदि वर्णों को बोधित करती हैं, किन्तु वह रूप असत् है, अपने रेखामयरूप से वह सत्य है किन्तु यहाँ उस रूप से बोधकार्योपयोगिता न होने से वह स्वरूपसत्यता निरर्थक है ।

उपरांत, 'अभेद दर्शन का उपाय अपने स्वरूप से सर्वथा असत् है' ऐसा भी नहीं है क्योंकि ब्रह्म ही उसका अपना रूप है, अतः अविद्या में अनुप्रविष्ट ब्रह्म ही अपने स्वरूप के दर्शन का उपाय है जो सत् ही है । तात्पर्य यह है कि जिस रूप से उपाय में बोधकता है वह रूप असत् होने पर भी वह उपाय सर्वथा असत् नहीं होता, इसलिये असत्य से सत्य कार्य निष्पत्ति को मानने में कोई दोष नहीं है । रेखामय क-ख आदि तथा रेखांकित गवय आदि भी उक्त रीति से असत् अविद्यामय रूप से 'यह ककार है- यह गवय है' इस प्रकार से ककारादि के बोधक होते हैं ।

★ बोधकता के बदले स्मारकता, शंका-समाधान ★

[illegible]

समयानां पुनरुपलभ्यमानाः समयं स्मारयन्ति समयग्रहणार्थैव* व्युत्पन्नानां बालादिषु प्रवृत्तिः – तेऽपि न सम्यगाचक्षते, लोकविरोधात् बाला हि रेखासु व्युत्पन्नैर्वर्णत्वेनैव व्युत्पाद्यन्ते, तथैवोपदेष्टृव्यपदेशः 'अयं गकारादिः' इति प्रतिपत्तुश्च प्रतिपत्तिरभेदेनैव, एवं रेखागवयादिष्वपि द्रष्टव्यम् । तथा(यथा)ऽसत्यात् ■प्रतिविम्बात् सत्यस्य■ प्रतिविम्बहेतोर्विशिष्टदेशावस्थस्यानुमानं न मिथ्या तथा शब्दादपि नित्यादसत्य-दीर्घादिविशिष्टादर्थविशेषप्रतिपत्तिर्नासत्या । अलीका अहिदंशादयः सत्यस्मरणहेतवस्तत्त्वविद्भिरुदाहृता एव, यथा सत्याद् दंशाद् मरण-मूर्छादि कार्यं तथा कल्पितादपि, न तयोर्विशेषः । तस्माद् यथा दंशादेरसत्यात् सत्यकार्यनिष्पत्तिस्तथा भेदविषयात् श्रवण-मनन-ध्यानाऽभ्यासादेरसत्यादपि क्षेमप्राप्तिः ।

नन्वेवमभेदे व्यवस्थिते कथं सुख-दुःखोपलम्भव्यवस्था कथं वा बद्ध-मुक्तव्यवस्थेति ? नैष दोषः, समारोपितादपि भेदात् सुखादेर्व्यवस्थादर्शनात् – यथा – द्वैतिनां शरीरे एक एवात्मा सर्वगतो वा शरीरप-रिमाणो वा, तस्य समारोपितभेदनिमित्ता व्यवस्था दृश्यते 'पादे मे वेदना – शिरसि वेदना' इति ।

के आधार पर ऐसी आकृति वाले सत्य गवयादि का स्मारक होता है । तथा ध्वनिमय वर्णों का बोधक रेखामय क-ख आदि भी वर्णत्व रूप से वर्णप्रतिपादक नहीं होते किन्तु पुरुषकृत संकेतों के अनुसार वर्णों के स्मारक होते हैं । रेखामय क-ख आदि रेखामयरूप से सत्य होने से जब संकेतज्ञों को चाक्षुष होते हैं तब सत्य वर्णों में उन के संकेत का स्मरण करवाते हैं । संकेत जाननेवाले व्युत्पन्न लोगों की बालादि विद्यार्थीयों को संकेत पढाने के लिये ही प्रवृत्ति होती है'' – यह विधान यथार्थ नहीं है क्योंकि यह विधान लोकविरुद्ध है । कारण, व्युत्पन्न पंडित बालादि विद्यार्थीयों को इस तरह संकेत नहीं पढाते कि यह रेखामय क-ख आदि 'ध्वनिस्वरूप क-ख आदि' वर्णों के बोधक हैं- किन्तु इस तरह पढाते हैं कि जो ऐसी रेखामय आकृति है वह 'क वर्ण' है 'ख वर्ण' है.. इत्यादि । उपदेशकों का उपदेश भी ऐसा ही होता है कि यह (कागज आदि पर लिखा हुआ) गकारादि वर्ण है । अध्येता या श्रोता को भी ऐसा ही अभेदावगाही बोध होता है कि 'ये (कागज पर लिखे हुए) गकारादि वर्ण हैं' । इसी तरह रेखाचित्रमय गवयादि के लिये भी समझ लीजिये ।

और भी दृष्टान्त हैं– असत्य प्रतिबिम्बमय मुखादि से, उस प्रतिबिम्ब के हेतुभूत सत्य मुखादि की, विशिष्ट स्कन्धादि देश में अवस्थिति का अनुमान होता है जो मिथ्या नहीं होता । इसी तरह, असत्य दीर्घ ईकार, ऊकार आदि से विशिष्ट 'कवी' अथवा 'गुरू' आदि नित्य शब्दों से भी कवितासर्जक, मार्गदर्शक आदि विशिष्ट सत्य अर्थों का बोध किस को नहीं होता ? यहाँ कवि-गुरु शब्दों में इ-उ ह्रस्व होने चाहिये किन्तु वक्ता या लेखक ने दीर्घ का प्रयोग किया हो तब भी सत्य अर्थबोध होता ही है । रात्रि के तमस् में मच्छर के काटने पर भी किसी को सर्प काटने का तीव्र विभ्रम हो जाता है तो वहाँ सर्पदंश मिथ्या होने पर भी सच्चे ही मौत के आमन्त्रक हो जाता है – यह तथ्य तत्त्वज्ञों ने भी उजागर किया है । स्पष्ट है कि जैसे सच्चे सर्पदंश से मरण या बेहोशी आदि सत्य कार्य होते हैं वैसे ही कल्पित सर्पदंश से भी होता है, उन में कोई विशेष अन्तर नहीं होता ।

निष्कर्ष : असत्य सर्पदंशादि से जैसे सत्यकार्य का जन्म होता है वैसे ही भेदावलम्बि अत एव असत्य अविद्यामय श्रवण – मनन – ध्यानाभ्यास से भी क्षेम-कुशल प्राप्त होता है, इस में कुछ भी अनुचित नहीं है ।

---

* पूर्वमुद्रिते 'नाद् यथैव' इति पाठः, अत्र तु लिम्बडी-आदर्शानुसारेण सम्यक्पाठः ।
■ चिह्नद्वयमध्यवर्ती पाठः पूर्वमुद्रिते कोष्ठके समुपन्यस्तः, लिम्बडीआदर्शानुसारेण तु तं तथैवोपलभ्यास्माभिर्विनैव कोष्ठकमुपन्यस्तः । – सं०

न च वक्तव्यम् – 'पादादीनामेव वेदनाधिकरणत्वात् तेषां च भेदाद् व्यवस्था युक्तेति' – यतस्तेषामज्ञत्वेन कथं भोक्तृत्वम् ? भोक्तृत्वे वा सुरगुरुमतानुप्रवेशः आत्मनः सद्भावेऽपि कर्मफलस्य सुखादेरनुपलम्भात् । तदेतत् स्यात् – अद्वैतपक्षे यथैकभेदाश्रितस्यात्मनः कालान्तरे भोगानुसन्धानम् तथा देहान्तरोपभोगस्य भेदान्तरेऽनुसन्धानं भवेत् – एतदपि न किंचित्, यतो द्वैतिनामपि पादादिप्रदेशो न प्रदेशान्तरवेदनामनुसंदधाति तथा क्षेत्रज्ञोऽपि कुतश्चिन्निमित्तात् समारोपितभेदो न क्षेत्रज्ञान्तरवेदनामनुसंधास्यति । तथा, मणि-कृपाण-दर्पणादिषु प्रतिबिम्बानां वर्णसंस्थानान्यत्वं दृश्यते भेदाऽभावेऽपि (एवं) मुक्त-संसारित्व-

★ सुख-दुखानुभूति, बन्ध-मोक्षव्यवस्था कैसे ? ★

प्रश्न : जब आप के मतानुसार अभेद ही तात्त्विक है तो भेद के विरह में भिन्न भिन्न सुख-दुखादि की अनुभूति कैसे हो पायेगी ? एवं बन्ध-मोक्ष की व्यवस्था कैसे होगी ?

उत्तर : कोई दोष नहीं है, तात्त्विक भेद के विरह में भी आरोपित भेद से भी सुख-दुखादि अनुभूतियों की एवं बन्ध-मोक्ष की व्यवस्था देख सकते हैं । जैसे द्वैत–वादियों के मत में एक शरीर में शरीरपरिमाणवाला अथवा व्यापक परिमाणवाला एक ही आत्मा निवास करता है, तथापि 'मेरा पैर दुःखता है' – सिर में दर्द होता है' इस प्रकार एक ही आत्मा में सिर-पैर के भेद से भेद का आरोपण कर के दुःखानुभूति की व्यवस्था दिखती है ।

शंका : यहाँ वेदना अधिकरण पाद-सिर ही है और वे तो एक-दूसरे से भिन्न ही हैं, आत्मा में भेदारोप क्यों करें ?

उत्तर : अरे ! पाद-सिर तो जड है वे कहाँ भोक्ता है जिस से कि उन्हें ही वेदनाश्रय माना जाय ? हाँ, यदि आप को नास्तिक बृहस्पतिमत में प्रव्रजित होना है तब शरीरावयव को भी भोक्ता मानिये । आप तो शरीर भिन्न आत्मवादी हो कर भी यदि पैर-सिर को भोक्ता मानेंगे तो आत्मा विद्यमान रहने पर भी उस को उस के सुकृतादि कर्मों से सुखादि फल अनुपलब्ध रहेगा यह विपदा आयेगी ।

यदि मन में कुछ ऐसा सोचते हो कि – 'जैसे अद्वैत –अभेदवाद में एक ही निरंशाभिन्न अर्थात् सदैव एकस्वरूप आत्मा कालभेद के आरोप से एक काल में कर्म उपार्जन करता है किन्तु उस का फलभोग अन्यकाल में करता है समानकाल में नहीं, तो ऐसे समानकाल में एक देह से किये हुए कर्मों का फलभोग अन्य देहधारी के देह से होने का माना जा सकता है, वहाँ कालभेद से आरोपित भेद है तो यहाँ शरीरभेद से' – तो यह सोचना सत्त्वशून्य है क्योंकि द्वैतवाद में भी इतना तो निश्चित तथ्य है कि आत्मा एक होने पर भी भेदारोपण कर के भी पैर आदि अवयव से कभी भी हस्तादिगत वेदना का अनुभव नहीं होता है, अर्थात् तदनुसार भेदारोपण की कल्पना की जाती है तो ऐसे ही अद्वैतवाद में एक आत्मा में किसी भी निमित्त से भेदारोपण किया जाय किन्तु एक जीव अन्य देहधारी की वेदना का अनुभव कभी नहीं करेगा ।

तथा, मुखादि एकरूप होने पर भी विभिन्न मणि, कृपाण या दर्पण में उस के प्रतिबिम्बों में भिन्न वर्ण – भिन्न आकृति आदि का दर्शन होता है, इतने से वास्तव मुख में तो कोई भेद नहीं है, वैसे ही अद्वैतवाद में ब्रह्मात्मा एक होने पर भी [illegible] [illegible] की [illegible] से, कभी बद्ध कभी मुक्त – इस प्रकार व्यवस्थापित हो सकता है । जैसे – द्वैतवाद में भी एक शरीर में एक आत्मा होता है किन्तु [illegible]

वहारोऽप्युपपद्यतेऽभेदपक्षेऽपि । तथापि – द्वैतिनामप्यात्मा कल्पितैः प्रदेशैः सुखादिभिर्युज्यमानः क्वचित् सुखादियोगाद् वन्धः(द्धः) क्वचित् तद्वियोगाद् मुक्त इति दृश्यते, यथा मलीमसादर्शे मुखं मलीमसम् विशुद्धे विशुद्धम् दपर्णरहितं च गम्यमानं तदुपाधिदोषाऽसंयुक्तम् । तत्रैतत् स्यात् – कल्पना प्रतिपत्तुः प्रत्ययस्य धर्मे न वस्तुव्यवहारव्यवस्थानिवन्धनम्, न खलु वस्तूनि पुरुषेच्छामनुरुन्धते, न चोपचरितात् कार्यं दृश्यते, नोपचरिताग्नित्वो माणवकः पाकादिष्व(षु)पयुज्यते । एतत् परिहृतं भ्रान्तीनामपि सत्यहेतुत्वं प्रदर्शयद्भिः – 'प्रतिसूर्यश्च काल्पनिकः प्रकाशक्रियां कुर्वन् दृष्ट एवं'' [ ] इति 'सर्वमेकम् सदविशेषात्' इति शुद्धद्रव्यास्तिकाभिप्रायः ।

[अशुद्धद्रव्यास्तिक-सांख्यदर्शन-व्यवहारालम्वी नयः]

अशुद्धस्तु द्रव्यार्थिको व्यवहारनयमतावलम्वी एकान्तनित्यचेतनाऽचेतनवस्तुद्वयप्रतिपादकसाङ्ख्यदर्शनाश्रितः । अत एव तन्मतानुसारिणः साङ्ख्याः प्राहुः ।

'अशेषशक्तिप्रचितात् प्रधानादेव केवलात् । *कार्यभेदाः प्रवर्त्तन्ते तद्रूपा एव भावतः ॥' [त. सं. का.७]

यद् अशेषाभिर्महदादिकार्यग्रामजनिकाभिरात्मभूताभिः शक्तिभिः प्रचितं युक्तं सत्त्व-रजस्-तमसां साम्या- वस्थालक्षणं प्रधानम् तत एव महदादयः कार्यभेदाः प्रवर्त्तन्त इति कापिलाः । 'प्रधानादेव'

प्रदेशभेद से उस में सुख अथवा सुखाभावादि का योग दिखता है अतः कभी सुखादिजनक कर्मों के योग से बद्ध माना जाता है और उन कर्मों के वियोग में वह मुक्त समझा जाता है । उदा० मलीन दर्पण में मुख भी विशुद्ध दिखता है और जव दर्पण ही नहीं होता तब दर्पणरूप उपाधि से आसंजित मल या मलाभाव कुछ भी नहीं दिखता ।

यदि मन में ऐसा सोचे कि – 'कल्पना तो ज्ञाता का ज्ञानगत धर्म है । (अर्थात् कोई कोई ज्ञान कल्पनानुविद्ध होता है ।) उस को कभी सत्यवस्तुव्यवहार की व्यवस्था में अधिकार नहीं होता । वस्तुस्वरूप कभी पुरुषेच्छाधीन अर्थात् कल्पनाधीन नहीं होता । एक वस्तु में अन्य पदार्थ का उपचार – आरोप कर देने मात्र से वह एक वस्तु अन्यपदार्थसाध्य कार्य करने में समर्थ नहीं हो जाती । माणवक में बहुत गुस्सा होने के कारण यदि अग्नि का आरोप कर दिया जाय तो भी माणवक कभी पाकादि कार्य में अग्निवत् उपयुक्त नहीं हो जाता ।' – तो इस विचार का निराकरण, भ्रान्ति यानी भ्रान्त पदार्थ भी सत्य हेतु होता है यह दिखानेवालों ने इस तरह किया हुआ है – 'मुख्य सूर्य का गृह के भीतर दर्पण में जब प्रतिविम्ब होता है तब उस असत्य प्रतिसूर्य से भी गृह में प्रकाशक्रिया का होना दिखता है ।'

विस्तृत चर्चा का सार यही है कि कहीं कुछ भी सत् से अधिक विशेषता न होने से सारा विश्व एक है । – यह शुद्ध द्रव्यास्तिक नय का अभिप्राय-विवेचन है ।

★ व्यवहारलम्बी अशुद्धद्रव्यार्थिक नय ★

अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय संग्रहनय से आगे वढ कर व्यवहारनय संमत अर्थ का ही समर्थन करता है । एकान्त कुटस्थ नित्य चेतन-पुरुष और दूसरा नित्य अचेतन (= प्रकृति = प्रधान) पदार्थ ऐसे पदार्थयुगल का अंगीकार

* कार्याण्येव भिद्यन्तेऽन्योन्यं व्यावर्त्तन्ते इति भेदाः = कार्यभेदाः–कार्यविशेषाः ।

इत्यवधारणं काल-पुरुषादिव्यवच्छेदार्थम् । 'केवलात्' इति वचनं सेश्वरसांख्योपकल्पितेश्वरनिराकरणार्थम् । 'प्रवर्त्तन्ते' इति साक्षात् पारम्पर्येणोत्पद्यन्त इत्यर्थः । तथाहि तेषां प्रक्रिया – प्रधानाद् बुद्धिः प्रथममुत्पद्यते, बुद्धेश्चाहंकारः, अहंकारात् पञ्च तन्मात्राणि शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्धात्मकानि + इन्द्रियाणि चैकादशोत्पद्यन्ते – पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि श्रोत्र-त्वक्-चक्षुर्जिह्वाघ्राणलक्षणानि, पञ्च कर्मेन्द्रियाणि वाक्-पाणि-पाद-पायु-उपस्थसंज्ञकानि एकादशं मनश्चेति; पञ्चभ्यस्तन्मात्रेभ्यः पञ्चभूतानि – शब्दाद् आकाशः, स्पर्शाद् वायुः, रूपात्तेजः, रसाद् आपः, गन्धात् पृथिवीति । तदुक्तमीश्वरकृष्णेन [सांख्यकारिका – २२]

'प्रकृतेर्महांस्ततोऽहङ्कारस्तस्माद् गणश्च षोडशकः । तस्मादपि षोडशकात् पञ्चभ्यः पञ्च भूतानि ॥'

अत्र च 'महान्' इति बुद्ध्यभिधानम् बुद्धिश्च 'घटः पटः' इत्यध्यवसायलक्षणा । अहङ्कारस्तु 'अहं सुभगः' 'अहं दर्शनीयः' इत्याद्यभिधा(मा)नस्वरूपः । मनस्तु संकल्पलक्षणम्, तद्यथा – कश्चिद् बटुः शृणोति – 'ग्रामान्तरे भोजनमस्ति' इति – तत्र तस्य संकल्पः स्यात् 'यास्यामि' इति, 'किं तत्र दधि स्यात्, उतस्विद् दुग्धम्' इत्येवं संकल्पवृत्ति मन इति । तदेवं बुद्ध्यहंकारमनसां परस्परं विशेषोऽवगन्तव्यः । महदादयः प्रधान-पुरुषौ चेति पञ्चविंशतिरेषां तत्त्वानि । यथोक्तम्–

पञ्चविंशतितत्त्वज्ञो यत्र तत्राश्रमे रतः । शिखी मुण्डी जटी वाऽपि मुच्यते नात्र संशयः ॥[ ]

और प्रतिपादन करने वाला सांख्यदर्शन अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय का आश्रय लेकर दृष्टा में आया है । उन मतवादियों के अनुयायी सांख्यों (= विद्वानों) का वक्तव्य एक कारिका के द्वारा कहा गया है जिस का अर्थविवरण इस प्रकार है – अशेष यानी महत्–अहंकार आदि कार्य समुदाय की जनक और अपने से अभिन्न ऐसी शक्तियों से प्रचित यानी युक्त तथा सत्त्वगुण–रजोगुण–तमोगुण की त्रिपुटी की साम्यावस्था से गर्भित जो प्रधान (= प्रकृति) तत्त्व है, सिर्फ उसी से ही महत् (= बुद्धि) आदि कार्यों के भेद-प्रभेद का सृजन होता है – यह कपिलकल्पितनिरीश्वर सांख्यदर्शन का मतनिरूपण है । कारिका में 'प्रधानादेव' यानी 'प्रधान से ही' ऐसा जो भारपूर्वक कथन है उस से काल अथवा पुरुषकार की कार्यहेतुता का व्यवच्छेद हो जाता है । तथा 'केवलात्' इस कारिकानिर्दिष्ट पद से ईश्वरवादी सांख्य दार्शनिकों की ईश्वरकल्पना का निरसन किया है । ईश्वर, काल या पुरुष (= आत्मा) सहकार के बिना एकमात्र प्रकृति से ही जगत् का सृजन होता है । मूल कारिका में 'प्रवर्त्तन्ते' इस पद का तात्पर्य है साक्षात् या परम्परया (ये कार्यभेद) उत्पन्न होते हैं ।

★ सांख्यदर्शन की सृष्टि प्रक्रिया ★

निरीश्वर सांख्यवादियों ने इस प्रकार सृष्टिप्रक्रिया बताई है – प्रधान (= प्रकृति) तत्त्व से प्रथम बुद्धि तत्त्व उत्पन्न होता है । बुद्धि से अहंकारतत्त्व उत्पन्न होता है । अहंकार से षोडशक की उत्पत्ति होती है ; षोडशक में पाँच तन्मात्रा (यानी सूक्ष्मभूत) + ११ इन्द्रियाँ इन सोलह तत्त्वों का समावेश है । 'शब्द–स्पर्श – रूप–रस– गन्ध' ये पाँच तन्मात्रा हैं । ११ इन्द्रियों में पाँच ज्ञानेन्द्रिय हैं श्रोत्र – त्वचा – नेत्र – रसना – घ्राण, पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं – वाचा – हस्त – पाद – पायु (= गुदा) – उपस्थ (लिंग) तथा ग्यारहवाँ मन होता है । पाँच तन्मात्राओं में से एक एक से एक एक पाँच स्थूल भूत की उत्पत्ति होती है – शब्दतन्मात्रा से आकाश [illegible], स्पर्श० से वायु की, रूप० से तेजस् की, रसतन्मात्रा से जल की, गन्धतन्मात्रा से पृथ्वी की ।

महदादयश्च कार्यभेदाः प्रधानात् प्रवर्त्तमाना न कारणात्यन्तभेदिनो भवन्ति बौद्धाद्यभिमता इव कार्यभेदाः, किन्तु प्रधानरूपात्मान एव, त्रैगुण्यादिना प्रकृत्यात्मकत्वात् । तथाहि – यदात्मकं कारणम् कार्यमपि तदात्मकमेव, यथा कृष्णैस्तन्तुभिरारब्धः पटः कृष्णः, शुक्लैः शुक्ल उपलभ्यते एवं प्रधानमपि त्रिगुणात्मकम् । तथा बुद्ध्यहंकारतन्मात्रेन्द्रियभूतात्मकं व्यक्तमपि त्रिगुणात्मकमुपलभ्यते तस्मात् तद्रूपम्। किंच, अविवेके(?कि), तथाहि – 'इमे सत्त्वादयः' 'इदं च महदादिकं व्यक्तम्' इति पृथक् न शक्यते कर्तुम्; किन्तु ये गुणास्तद् व्यक्तम् यद् व्यक्तं ते गुणा इति। तथा, उभयमपि विषयः भोग्यस्वभावत्वात्। सामान्यं च सर्वपुरुषाणां भोग्यत्वात् पण्यस्त्रीवत्। अचेतनात्मकं च सुख-दुःख-मोहाऽवेदकत्वात्। प्रसवधर्मि च, तथाहि – प्रधानं बुद्धिं जनयति, साऽप्यहंकारम्, सोऽपि तन्मात्राणि इन्द्रियाणि चैकादश, – तन्मात्राणि महाभूतानि जनयन्तीति, तस्मात् त्रैगुण्यादिरूपेण तद्रूपा एव कार्यभेदाः प्रवर्त्तन्ते । यथोक्तम् – [सां० का० ११]

त्रिगुणमविवेकि विषयः सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि । व्यक्तं तथा प्रधानं तद्विपरीतस्तथा च पुमान् ॥ इति ॥

★ ईश्वरकृष्ण की कारिका का विशेषार्थ ★

ईश्वरकृष्ण एक प्राचीन 'सांख्यकारिका' ग्रन्थ के प्रणेता हैं, उन्होंने इस ग्रन्थ की २२वीं कारिका 'प्रकृतेर्महान्'.... में यह दिखाया है कि "प्रकृति से महान्, उस से अहंकार, अहंकार से षोडशक गण की उत्पत्ति, तथा षोडशक अन्तर्गत पाँच तन्मात्रा से पाँच भूतों की उत्पत्ति होती है" । इस में महान् (= महत्) यह बुद्धि का ही नामान्तर है । बुद्धि यानी 'घट'.....'पट' ऐसा अध्यवसाय । अहंकारतत्त्व 'मैं (= अहं) सौभाग्यशाली हूँ' अथवा 'मैं दर्शनीयरूपवाला हूँ' ऐसे अनुभव में 'अहं' इस प्रकार अभिमान से अभिहित = उल्लिखित होता है । संकल्प यह मन का प्रमुख लक्षण है – उदा० किसी बच्चे ने यह सुना 'अन्य गाँव में जिमणवार है' तो यह सुन कर उस बच्चे को ऐसा संकल्प सहज हो उठता है कि 'मैं भी वहाँ जाऊँगा', 'वहाँ दही मिलेगा या दुग्ध' इस प्रकार मन के संकल्पों की प्रवृत्ति होती है । बुद्धि-अहंकार और मन इन तीनों में उपरि सतह से तो ज्ञानस्वरूप ऐक्य ही दिखता है किन्तु उक्त उल्लेखों के अनुसार उन में जो भेद है वह स्पष्ट हो जाता है । महत् आदि २३ तत्त्वों में प्रधान और पुरुष तत्त्व को मिलाने से २५ तत्त्व हो गये । कहा है – "इन २५ तत्त्वों का ज्ञाता चाहे ब्रह्मचर्यादि किसी भी आश्रम में रहा हो, चाहे शिखा धारण करे या मुण्डन करे अथवा जटा धारण करे, निःसंशय वह मुक्त होता है ।"

★ कार्यभेद कारण से अत्यन्त भिन्न नहीं है ★

अब यहाँ ईश्वरकृष्ण की ११वीं कारिका के आधार पर प्रधान और महत् आदि तत्त्वों में अभिन्नता का स्थापन करने के लिये साम्य दिखाते हैं – ये जो प्रधान तत्त्व से साक्षात् अथवा परम्परा से उत्पन्न होने वाला महत् आदि कार्यवर्ग है वह अपने अपने कारणों से सर्वथा भिन्न, जैसे कि बौद्धमत में पूर्वापर क्षणों में कारण-कार्य भिन्न होते हैं, वैसा नहीं होता । बौद्धवादी असत्कार्यवादी है, जब कि सांख्यवादी सत्कार्यवादी है । सांख्यमत में वे सब कार्यभेद प्रधानतत्त्व से तादात्म्य रखने वाले ही होते हैं । कारण, प्रकृति त्रिगुणमय है तो उस की तरह वे महत् आदि भी सत्त्व-रजस्-तमस् त्रिगुणमय होने से प्रकृतिस्वभाव ही होते हैं । देखिये – यह नियम है कि कारण जिस स्वरूप का होता है, कार्य भी तत्वस्वरूपात्मक ही होता है । उदा० श्यामतन्तुओं से निष्पन्न

अथ यदि तद्रूपा एव कार्यभेदाः कथं शास्त्रे व्यक्ताऽव्यक्तयोर्वैलक्षण्योपवर्णनम् [सांख्यकारिका]–

'हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितं लिंगम् । सावयवं परतन्त्रं व्यक्तं विपरीतमव्यक्तम् ॥'[१०]

इति क्रियमाणं शोभते ? अत्र ह्ययमर्थः – हेतुमत्=कारणवत् व्यक्तमेव । तथाहि – प्रधानेन हेतुमती बुद्धिः, अहंकारो बुद्ध्या हेतुमान्, पञ्च तन्मात्राणि एकादश चेन्द्रियाणि हेतुमन्ति अहंकारेण, भूतानि तन्मात्रैः । न त्वेवमव्यक्तम् । प्रधानपुरुषौ दिवि भुवि चान्तरिक्षे च सर्वत्र व्यापितया यथा वर्त्ते(ते) न तथा व्यक्तं वर्त्तत इति तदव्यापि । यथा च संसारकाले त्रयोदशविधेन बुद्ध्यहंकारेन्द्रियलक्षणेन करणेन संयुक्तं सूक्ष्मशरीराश्रितं व्यक्तं संसारि न त्वेवमव्यक्तम् तस्य विभुत्वेन सक्रियत्वाऽयोगात् ।

वस्त्र श्याम, श्वेततन्तुओं से निष्पन्न वस्त्र श्वेत होता है – इसी तरह प्रधान त्रिगुणात्मक है इस लिये कार्यभेद भी सत्त्व-रजस्-तमस् गुणवाले होते हैं । बुद्धि – अहंकार – तन्मात्रा – इन्द्रिय – पंचभूत ये जो सांख्यमत में व्यक्त कहे जाते हैं, वे सब त्रिगुणात्मक ही उपलब्ध होते हैं इस लिये प्रधानतत्त्व से अभिन्नस्वरूप ही हैं।

दूसरी बात यह है कि व्यक्त और अव्यक्त यानी महत् आदि तत्त्व एवं प्रधान एक-दूसरे से विविक्त यानी पृथक् नहीं होते किन्तु अन्योन्य सदैव मिले हुए रहते हैं । तात्पर्य 'ये सत्त्वादिगुण (अथवा तन्मय प्रधान)' और 'यह महत् आदि तत्त्व' इस प्रकार अलगता को नहीं देख सकते, किन्तु जो व्यक्त है वह गुणरूप से और गुणात्मक है वही व्यक्तरूप से सर्वत्र उपलब्ध होते हैं । [अविवेकि का और भी एक अर्थ है कि व्यक्त या अव्यक्त कोई भी अपने कार्य के लिये एकाकी सक्षम नहीं है किन्तु अन्योन्य मिल कर ही अपने कार्य में समर्थ होते हैं ।]

तथा व्यक्त-अव्यक्त ये दोनों भोग्यस्वभाव होने से विषय कहे जाते हैं । [ऐसा भी सां०त० कौ० में कहा है कि विषय यानी विज्ञान से अतिरिक्त बाह्यार्थात्मक ग्राह्यस्वरूप है।] ये दोनों भोग्य अथवा ग्राह्यरूप है इसीलिये सर्व (सांख्याभिमत) पुरुषों के लिये भोग्य वेश्या की तरह साधारण हैं । तथा ये दोनों अचेतन हैं क्योंकि सुख-दुःख अथवा मोह का अनुभव-संवेदन उन में नहीं होता । [यद्यपि ये तीनों गुण व्यक्त-अव्यक्त अनुगामित है किन्तु उन का संवेदन उन में नहीं होता यह तात्पर्य है ।] तथा, ये दोनों प्रसवधर्मी हैं । तात्पर्य, प्रधान बुद्धि को जन्म देता है, बुद्धि अहंकार को, अहंकार तन्मात्राओं और ११ इन्द्रियों को तथा तन्मात्राएँ महाभूतों को जन्म देती हैं ।

इस प्रकार त्रैगुण्य, अविवेकि, विषय, सामान्य, अचेतन और प्रसवधर्मिता के आधार पर महत् आदि कार्यभेद प्रधानात्मक होने की सिद्धि होती है । श्री ईश्वरकृष्ण ने व्यक्त और अव्यक्त में उक्त रीति से अभेदप्रदर्शन के लिये साम्य का और पुरुष से भेदापादन के लिये वैषम्य का निर्देश ११वीं कारिका में किया है – व्यक्त और प्रधान ये दोनों त्रिगुणमय, अविवेकि, विषय, सामान्य, अचेतन और प्रसवधर्मी है । पुरुष इन से विपरीत यानी त्रिगुणशून्य, विवेकि, अविषय, असाधारण, चेतन एवं अप्रसवधर्मी है । (सांख्यकारिका-११)

★ व्यक्त और अव्यक्त में विलक्षणता ★

प्रश्न : कार्यभेद यदि प्रकृति से अभिन्नस्वरूप है तो सांख्यकारिकाग्रन्थ में व्यक्त और अव्यक्त में 'हेतुमद्……' कारिका १० से वैलक्षण्य का प्रतिपादन कैसे संगत होगा ?

बुद्ध्यहंकारादिभेदेन चानेकविधं व्यक्तमुपलभ्यते नाऽव्यक्तम्, तस्यैकस्यैव सतस्त्रिलोकीकारणत्वात् । आश्रितं च व्यक्तम् – यद् यस्मादुत्पद्यते तस्य तदाश्रितत्वात्, न त्वेवमव्यक्तम् अकार्यत्वात् तस्य । 'लयं गच्छति' इति कृत्वा लिंगं च व्यक्तम्, तथाहि – प्रलयकाले भूतानि तन्मात्रेषु लीयन्ते, तन्मात्राणि इन्द्रियाणि चाहंकारे, सोऽपि बुद्धौ, सापि प्रधाने, न त्वेवमव्यक्तम् क्वचिदपि लयं गच्छतीति । लीनं वा अव्यक्त-लक्षणमर्थं गमयति व्यक्तं कार्यत्वाल्लिंगम्, न त्वेवमव्यक्तम् अकार्यत्वात् तस्य । सावयवं च व्यक्तम् शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्धात्मकैरवयवैर्युक्तत्वात्, न त्वेवमव्यक्तम् तत्र शब्दादीनामनुपलब्धेः । अपि च, यथा पितरि जीवति पुत्रो न स्वतन्त्रो भवति तथा व्यक्तं सर्वदा कारणायत्तत्वात् परतन्त्रम्, नैवमव्यक्तम् अकारणाधीनत्वात् सर्वदा तस्येति ।

न, परमार्थतस्ताद्रूप्येऽपि प्रकृतिविकारभेदेन तयोर्भेदाऽविरोधात् । तथाहि, स्वभावतस्त्रैगुण्यरूपेण प्रकृतिरूपा एव प्रवर्त्तन्ते विकाराः सत्त्वरज-तमसां त्त(तू)त्कटाऽनुत्कटविशेषात् सर्गवैचित्र्यं महदादिभेदेन न विरोत्स्यत इति कारणात्मनि कार्यमस्तीति प्रतिज्ञातं भवति ।

नन्वेवं कुतो ज्ञायते प्रागुत्पत्तेः सत् कार्यमिति ? हेतुकदम्बकसद्भावात् । तत्सद्भावश्च –

'असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसम्भवाभावात् । शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत् कार्यम्' ॥ [सांख्यकारिका-९] इति ईश्वरकृष्णेन प्रतिपादितः ।

भेदप्रतिपादक हेतुमद० कारिका का भावार्थ इस प्रकार है – व्यक्त हेतुमत् है, अनित्य, अव्यापक, सक्रिय, अनेक, आश्रित, लिंग, सावयव और परतन्त्र है जब कि अव्यक्त इस से विपरीत है । हेतुमत् यानी सकारण, बुद्धि प्रधान से कारणशालिनी है (अर्थात् प्रधान बुद्धि का कारण है ।) अहंकार बुद्धि से कारणशाली है । पाँच तन्मात्राएँ और ११ इन्द्रियाँ अहंकार से कारणशाली हैं, और तन्मात्रा पंच भूत के कारण हैं । अव्यक्त की किसी से भी उत्पत्ति नहीं होती अतः वह निष्कारण है । तथा, व्यक्त तत्त्व उत्पत्तिधर्मि होने से अनित्य यानी विनाशी (= तिरोभावि) होता है, अव्यक्त उत्पत्तिधर्मि नहीं होने से अविनाशी है । पुरुष एवं प्रधान तत्त्व स्वर्ग – पाताल एवं अंतरिक्ष में सर्वत्र फैल कर रहे हुए हैं अतः व्यापक है किन्तु व्यक्त वैसा नहीं है अतः अव्यापक है । तथा, संसारकाल में बुद्धि-अहंकार-इन्द्रियाँ इन १३ तत्त्वों से मिल कर बने हुए सूक्ष्मशरीर का आलम्बन लेकर व्यक्त तत्त्व संचरणशील होता है – सक्रिय होता है, किन्तु अव्यक्त तो व्यापक होने से असंचारि = अक्रिय होता है । व्यक्त तत्त्व बुद्धि-अहंकार इत्यादि अनेक भेदरूप होने से अनेकविध होता है, अव्यक्त तत्त्व तो एक मात्र प्रकृति रूप हो कर भी सारे त्रैलोक्य का कारण है । व्यक्त आश्रित होता है, जो जिस से उत्पन्न होता है वह उस का आश्रित कहा जाता है, समग्र व्यक्त–वृंद मूल प्रकृति से उत्पन्न होता है किन्तु प्रकृति किसी से उत्पन्न न होने से किसी की आश्रित नहीं होती, क्योंकि वह किसी का कार्य नहीं है । व्यक्त होता है लिंगरूप, जिस का अपने कारण में लय होता है । प्रलयकाल में पंचभूत तन्मात्रा में लीन हो जाती हैं, तन्मात्राएँ और इन्द्रियाँ अहंकार में लीन हो जाते हैं, अहंकार भी बुद्धि में और बुद्धि प्रधान में लीन हो जाते हैं । प्रधान का लय किसी में नहीं होता । अथवा लिंग यानी जो लीन (=गुप्त) अव्यक्तस्वरूप अर्थ का गमन = बोधन करे, इस पक्ष में जो व्यक्त है वह कार्यात्मक लिंग बन कर अव्यक्तरूप कारण का अनुमान कराता है, अव्यक्त कार्यभूत न होने से किसी भी कारण का अनुमान नहीं कराता इस लिये वह लिंगरूप नहीं है (यद्यपि वह

अत्र च 'असदकरणात्' इति प्रथमो हेतुः सत्कार्यसाधनायोपन्यस्तः एवं समर्थितः – यदि हि कारणात्मनि उत्पत्तेः प्राक् कार्यं नाऽभविष्यत् तदा न तत् केनचिदकरिष्यत, यथा गगनारविन्दम् । प्रयोगः – यदसत् तन्न केनचित् क्रियते, यथा नभोनलिनम्, असत्त्व(च्च) प्रागुत्पत्तेः परमतेन कार्यमिति व्यापकविरुद्धोपलब्धिप्रसंगः । न चैवं भवति तस्मात् यत् क्रियते तिलादिभिस्तैलादि कार्यं तत् तस्मात् प्रागपि सत्, इति सिद्धं शक्तिरूपेणोत्पत्तेः प्रागपि कारणे कार्यम्, व्यक्तिरूपतया च तत् तदा कापिलैरपि नेष्यते ।

'उपादानग्रहणात्' इति द्वितीयहेतुसमर्थनम् – यदि असद् भवेत् कारणे कार्यम् तदा पुरुषाणां प्रतिनियतोपादानग्रहणं न स्यात्, शालिफलार्थिनस्तु शालिबीजमेवोपाददते न कोद्रवबीजम् । तत्र यथा शालिबीजादिषु शाल्यादीनामसत्त्वम् तथा यदि कोद्रवबीजादिष्वपि, किमिति तुल्ये सर्वत्र शालिफलादीनामसत्त्वे प्रतिनियतान्येव शालिबीजानि गृह्णन्ति न कोद्रवबीजादिकम्, यावता कोद्रवादयोऽपि शालिफलार्थिभिरुपादीयेरन् असत्त्वाऽविशेषात् । अथ तत्फलशून्यत्वात् तैस्ते नोपादीयन्ते, यद्येवं शालिबीजमपि शालिफलार्थिना तत्फलशून्यत्वान्नोपादेयं स्यात् कोद्रवबीजवत्, न चैवं भवति, तस्मात् तत्र तत् कार्यमस्तीति गम्यते ।

पुरुष के अनुमान में लिंग है किन्तु कार्यात्मक लिंग नहीं है ।) व्यक्त तत्त्व शब्द-रूप-रस-गन्ध-स्पर्शात्मक अवयवों से भूषित होने से सावयव है किन्तु अव्यक्त के कोई अवयव नहीं होते क्योंकि उस में कोई शब्दादिअवयव नहीं होते । जैसे पिता के जीवित रहते पुत्र कभी स्वतन्त्र नहीं होता वैसे ही व्यक्त भी सदा कारणाधीन रहने से स्वतन्त्र नहीं, परतन्त्र ही होता है, अव्यक्त तत्त्व कभी भी कारणाधीन न होने से स्वतन्त्र ही होता है ।

इस प्रकार व्यक्त-अव्यक्त की विभिन्नता का प्रतिपादन कैसे शोभास्पद होगा जब कि पहले कार्यभेदों को अव्यक्तरूप कहा है ?

उत्तर : ऐसा प्रश्न उचित नहीं है क्योंकि परमार्थ से तो ये सब प्रकृतिरूप ही हैं किन्तु प्रकृति के विकारभेदरूप यानी परिणामविशेषस्वरूप होने से, उन में – व्यक्त-अव्यक्त में भेद रहता है तो इस में कोई विरोध नहीं है । तथ्य यह है कि ये सभी विकार त्रैगुण्यमय होने से तत्त्वतः प्रकृतिमय ही होते हैं । तथापि विकारसृष्टि में जो वैविध्य पाया जाता है वह, सत्त्व-रजस्-तमस् गुन किसी में कोई उत्कट तो कोई अनुत्कट होने के कारण, होता है । इसी वजह बुद्धि आदि तत्त्वों में भेद होता है जिस का त्रिगुणात्मक प्रकृति से अभेद होने में कुछ भी विरोध नहीं है । कहने का तात्पर्य यही है कि कार्य, उत्पत्ति के पूर्व भी कारणतत्त्व में मौजूद रहता है, कारणव्यापार से सिर्फ उस का आविर्भाव होता है । सांख्यदर्शन सत्कार्यवादी है ।

★ सत्कार्यवादसाधक हेतुश्रेणि ★

प्रश्न : यह कैसे माना जाय कि उत्पत्ति के पूर्व भी कार्य सत् यानी विद्यमान होता है ?

उत्तर : ऐसा मानने के लिये बहुत से हेतु हैं । ईश्वरकृष्ण ने 'असदकरणात्०' इस कारिका ९ में ५ हेतु बताये हैं ।

(१) पहला हेतु है असत् का अकरण जो सत्कार्यवाद की सिद्धि के लिये प्रयुक्त है, इस का समर्थन इस प्रकार किया गया है – अगर उत्पत्ति के पूर्व कार्य अपने कारणतत्त्व में [illegible] भी विद्यमान न हो तो कोई भी उस कार्य को करने के लिये समर्थ न हो सकता, जैसे गगनकुसुम [illegible]

अतस्तथाभूतपदार्थकारित्वाभ्युपगमे कारणानामशक्यकारित्वमेवाभ्युपगतं स्यात् । न चाशक्यं केनचित् क्रियते यथा गगनाम्भोरुहम्, अतः 'शक्तिप्रतिनियमात्' इत्यनुत्तरमेतत् । एतेन 'शक्तस्य शक्यकरणात्' इति चतुर्थोऽपि हेतुः समर्थितः ।

कार्यस्यैवमयोगाच्च किं कुर्वत् कारणं भवेत् ।
ततः कारणभावोऽपि बीजादेर्नावकल्पते ॥ [तत्त्वसंग्रह का० १३]

इति पञ्चमहेतुसमर्थनम् । अस्यार्थः – एवं यथोक्ताद्धेतुचतुष्टयाद् असत्कार्यवादे सर्वथाऽपि कार्यस्याऽयोगात् किं कुर्वद् बीजादि कारणं भवेत् ? ततश्चैवं शक्यते वक्तुम् – न कारणं बीजादिः अविद्यमानकार्यत्वाद् गगनाब्जवत् । न चैवं भवति, तस्माद् विपर्ययः । इति सिद्धं प्रागुत्पत्तेः सत् कार्यमिति ।

स्यादेतत् – यदि नाम 'सत् कार्यम्' इत्येवं सिद्धम्, 'प्रधानादेव महदादिकार्यभेदाः प्रवर्त्तन्ते' इत्येतत् तु कथं सिद्धिमासादयति ? उच्यते –

भेदानां परिमाणात् समन्वयात् शक्तितः प्रवृत्तेश्च । कारणकार्यविभागादविभागाद् वैश्वरूप्यस्य ॥ [सांख्यकारिका १५] कारणमस्त्यव्यक्तम् [का. १६]

कि अशक्य कार्य का हेतु से जन्म होता है । सुनिये – जो असत् होता है वह स्वरूपशून्य यानी नीरूप होता है, शशसींग की तरह उस में कोई भी नया संस्कार नहीं निपजाया जा सकता । संस्कारअयोग्य होने के कारण ही वह आकाश की तरह अविकारी होता है । अब जो ऐसा किसी भी विशेषता से बाह्य असत् है उस को कौन निपजा सकता है ?! वह कैसे शक्यक्रिय हो सकता है ?

आशंका : अरे ! असत् अवस्था को छोड कर वह 'सत्' अवस्था में आ जाता है यही विकार है, इस लिये वह शक्यक्रिय क्यों नहीं ?

उत्तर : यह भी गलत वक्तव्य है, क्योंकि असत् यदि विकृत होगा तो उस के असत्त्व का ही लोप हो जायेगा । कारण, असत् में विक्रिया मानने पर उस के स्वत्व को नीरूप कहा गया है वह गलत ठहरेगा । स्वभाव का – स्वत्व का त्याग किये विना असत् की सतूरूपताप्राप्ति घट नहीं सकती । अथवा मान लो कि असत् ने असत् स्वरूप का त्याग कर दिया, किन्तु तब 'असत् ने सत्स्वरूप की प्राप्ति की' ऐसा सिद्ध नहीं कर सकते क्योंकि सत्स्वरूप प्राप्त करने वाला तत्त्व अपने असतूरूप को तो खो बैठा है । असत् और सत् तो एक-दूसरे के परिहारी है इस लिये सत् पदार्थ अलग है और असत् पदार्थ भी अलग है, उन दोनों में कुछ भी नाता नहीं है । अतः यह फलित होता है कि जो असत् है वह कभी शक्यक्रिय नहीं होता, फिर भी यदि तथाविध पदार्थ उत्पन्न करने का यश कारणों को दिया जाय तो आप उन कारणों में अशक्यार्थकारिता को मान्यता दे बैठे, जो अनुचित है । जो अशक्य होता है जैसे गगनकमल, उस को कोई भी नहीं निपजा सकता । इस लिये आपने जो कहा था कि कार्य उत्पत्ति के पूर्व असत् होने पर भी उस को निपजाने की शक्ति जिन मर्यादित कारणों में होती है उन कारणों से ही उन कार्यों का जन्म हो सकता है....इत्यादि यह कृत्रिम उत्तर है, सच्चा नहीं ।

उपरोक्त चर्चा में 'शक्त का शक्यकरण' यह चौथा हेतु भी चर्चित हो गया है । इस का तात्पर्य यह है कि कार्य उत्पत्ति के पूर्व किसी भी ढंग से अपने कारण के साथ सम्बद्ध हो तभी ऐसा कह सकते हैं कि

इति पञ्चभ्यो वीतप्रयोगेभ्यः । तथाहि – (१) अस्ति प्रधानम्, भेदानां परिमाणात्, इह लोके यस्य सत्ता भवति तस्य परिमाणं दृष्टम्, यथा कुलालः परिमितात् मृत्पिण्डात् परिमितं घटमुत्पादयति प्रस्थग्राहिणम् आढकग्राहिणं वा । इदं च महदादि व्यक्तं परिमितमुपलभ्यते – एका बुद्धिः एकोऽहंकारः पञ्च तन्मात्राणि एकादशेन्द्रियाणि पञ्च भूतानि – ततोऽनुमानेन साधयामः अस्ति प्रधानम् यत् परिमितं व्यक्तमुत्पादयति, यदि च प्रधानं न स्यात् निष्परिमाणमिदं व्यक्तं स्यात् ।

(२) इतश्चास्ति प्रधानम्, भेदानामन्वयदर्शनात् । यज्जातिसमन्वितं हि यदुपलभ्यते तत् तन्मयकारणसम्भूतम् यथा घटशरावादयो भेदा मृज्जात्यन्विता मृदात्मककारणसम्भूताः, सुख-दुःख-मोहादिजातिसमन्वितं चेदं व्यक्तमुपलभ्यते प्रसाद-ताप-दैन्यादिकार्योपलब्धेः । तथाहि–प्रसाद-लाघवाभिष्वंगोद्धर्ष-प्रीतयः सत्त्वस्य कार्यम् सुखमिति च सत्त्वमेवोच्यते । ताप-शोष-भेद-स्तम्भोद्वेगा रजसः कार्यम्

कारण जिस शक्य कार्य को उत्पन्न करने के लिये शक्तिशालि होता है उसी को वह उत्पन्न कर सकता है । अनुत्पन्न कार्य सर्वथा असत् होने पर 'उस की उत्पादक शक्ति अमुक में ही है' ऐसा विधान ही हो नहीं सकता अतः उत्पत्ति के पूर्व कारण में कार्यसत्ता मानना चाहिये ।

★ सत्कार्यसाधक पाँचवा हेतु कारणभाव ★

पाँचवा हेतु है 'कारणभाव', इस का 'कार्यस्यैव' इस कारिका से समर्थन किया जाता है । 'पूर्व' यानी 'असत् का अकरण' इत्यादि चार हेतुओं से जब यह सिद्ध होता है कि असत्कार्यवाद में किसी भी उपाय से कार्य का योग (यानी संगति) जमता नहीं है, तब 'कारण' शब्द के अर्थ को लेकर यह प्रश्न होगा कि वह कारणरूप से अभिमत बीजादि, क्या ऐसा करते हैं, (उन में क्या ऐसा तत्त्व है) जिस से कि उस को 'कारण' (= कुछ करने वाला) कहा जा सके ? यदि उस में वैसा (कार्य की अव्यक्त सत्तारूप) कुछ तत्त्व नहीं है तो ऐसा ही कहना पडेगा कि बीजादि 'कारण' ही नहीं है क्योंकि उन का कोई कार्य नहीं है जैसे कि गगनपद्म । इस प्रकार जब बीजादि में अनिष्टभूत कारणत्वाभाव का प्रसंग टालना है तो कहना होगा कि बीजादि 'कारण न हो' ऐसा तो नहीं है इस लिये उन में कार्य के असत्त्व के विपर्यय को यानी सत्त्व को मानना पडेगा । तब यह अनायास सिद्ध होता है कि कार्य अपनी उत्पत्ति के पूर्व भी कहीं सत् (विद्यमान) होता है ।

★ प्रधानतत्त्व के आविर्भाव में पाँच अनुमान ★

प्रश्न : कार्य उत्पत्ति के पहले सत् होता है यह तो सिद्ध हुआ, लेकिन अब यह दिखाईये कि 'बुद्धि आदि कार्यभेद प्रधानतत्त्व से ही आविर्भूत होते हैं' यह कैसे सिद्ध हो सकता है ?

उत्तर : 'भेदानां०' इत्यादि १५ वीं सांख्यकारिका में पाँच वीत अनुमानप्रयोग दिये गये हैं उन से प्रधानतत्त्व की सिद्धि की गयी है, उसी से यह फलित हो जाता है कि बुद्धि आदि कार्यभेद प्रधान से आविर्भूत होते हैं । अनुमान के दो भेद होते हैं वीत और अवीत । अन्वय व्याप्ति से किया जाने वाला वस्तुसाधक अनुमान वीत कहलाता है और व्यतिरेकव्याप्ति से किया जाने वाला वस्तुनिषेधमूलक अनुमान अवीत कहलाता है । यहाँ पाँचों अनुमान अन्वयमूलक से अव्यक्त (= प्रधान) के अस्तित्व को सिद्ध करता है । (१) 'भेदों का (= महद् आदि कार्यों का) परिमाण' यह प्रथम हेतु है । इस जगत् में दिखता है कि जिस का अस्तित्व है उस का कोई न कोई परिमाण जरूर होता है । जैसे, कुम्हार परिमित मट्टी परिमित पिण्डादि से परिमित घटादि उत्पादित

'सर्वसम्भवाभावात्' इति तृतीयो हेतुः – यदि हि असदेव कार्यमुत्पद्यते तदा सर्वस्मात् तृण-पांश्वादेः सर्वं स्वर्ण-रजतादिकार्यमुत्पद्येत, सर्वस्मिन्नुत्पत्तिमति भावे तृणादिकारणभावात्मताविरहस्याऽविशिष्टत्वात् । *पूर्वं कारणमुखेन प्रसङ्ग उक्तः सम्प्रति तु कार्यद्वारेणेति विशेषः । न च सर्वं सर्वतो भवति, तस्मादयं नियमः 'तत्रैव तस्य सद्भावात्' इति गम्यते ।

स्यादेतत् – कारणानां प्रतिनियतेष्वेव कार्येषु शक्तयः प्रतिनियताः तेन कार्यस्याऽसत्त्वेऽपि किंचिदेव कार्यं क्रियते – न गगनांभोरुहम् – किंचिदेव चोपादानमुपादीयते त(?य)देव समर्थम् न तु सर्वम्, किंचिदेव च कुतश्चिद् भवति न तु सर्वं सर्वस्मादिति । असदेतत्, यतः शक्ता अपि हेतवः कार्यं कुर्वाणाः शक्यक्रियमेव कुर्वन्ति नाऽशक्यम् ।

के लिये कोई समर्थ नहीं है । अनुमानप्रयोग – जो सर्वथा असत् होता है वह किसी से भी नहीं निपजाया जाता, उदा० गगनकुसुम, प्रतिवादि के मत में उत्पत्ति के पूर्व कार्य सर्वथा असत् होता है । इस प्रकार यहाँ व्यापकविरुद्धोपलब्धिस्वरूप प्रसंगापादन है, 'किसी से भी निपजाया जाना' इस का मतलब है कारणसाध्यत्व, उस का व्यापक है सत्त्व और उस के विरोधी असत्त्व की वहाँ उपलब्धि होती है, जहाँ असत्त्व उपलब्ध है वहाँ सत्त्व नहीं रहने से उस के व्याप्यभूत 'कारणसाध्यत्व' का अभाव आपादित हो सकता है । किन्तु कार्यों में कारणसाध्यत्वाभाव तो नहीं ही रहता, अतः मानना होगा कि जो कुछ भी तिलादि कारणों से तैलादि कार्य निष्पन्न होता है वह उस की उत्पत्ति के पूर्व भी सत् होना चाहिये । सारांश, उत्पत्ति के पूर्व भी कारण में कार्य शक्तिरूप से विद्यमान रहता है । व्यक्तिरूप से उस काल में सत्त्व तो कपिलमतानुयायी सांख्यवादी भी नहीं मानते हैं ।

'उपादान का ग्रहण' इस दूसरे हेतु का समर्थन – कार्य यदि उत्पत्ति के पहले कारण में विद्यमान न हो, तो उस का कर्त्ता जो अमुक ही विशिष्ट उपादान कारण को अपनी कार्यसिद्धि के लिये ढूँढता है वह नहीं होता । चावल-उत्पादन चाहने वाला चावल के वीज को ही बोता है, कोदरा के वीज को नहीं बोता । चावल तो उत्पत्ति के पूर्व (प्रतिवादी के मत में) जैसे चावलवीज में अविद्यमान हैं वैसे ही कोदराबीज में भी अविद्यमान है । जब उन दोनों में समानरूप से, उत्पत्ति के पहले चावल असत् हैं तब कर्त्ता सिर्फ अमुक विशिष्ट चावलबीजों को ही क्यों बोता है, कोदरा के बीज को क्यों नहीं बोता जब कि अविद्यमानता तो दोनों में तुल्य है तो चावल-उत्पादन की चाह वाले को कोदरा आदि के बीजों को भी बोने में उद्यम करना चाहिये । यदि कहें कि – कोदरा के वीज चावलरूप फल से शून्य होने के कारण वे नहीं बोये जाते हैं – तब तो फिर चावलबीज भी उत्पत्ति के पूर्व चावलशून्य होने से चावल वीज की चाहवाले को कोदरावीज की तरह चावलवीज भी नहीं बोना चाहिये । किन्तु ऐसा तो नहीं होता, अतः यह फलित होता है कि चावल अपनी उत्पत्ति के पूर्व भी चावल के वीजों में शक्तिरूप से विद्यमान होते हैं ।

☆ सत्कार्यसिद्धि में सर्वसम्भवाभाव हेतु ☆

'सर्वसम्भवाभाव' यह तीसरा हेतु है – कार्य यदि पूर्व में असत् हो कर उत्पन्न होता है तो तृण एवं पांशु आदि से समस्त सुवर्ण-चाँदी आदि कार्यसमूह उत्पन्न होना चाहिये । कारण यह है कि उत्पत्तिशील किसी भी सुवर्णादि अथवा वस्त्रादि पदार्थ का, तृणादि कारण के साथ तादात्म्य का विरह विना किसी पक्षपात से

---

* पूर्वं = द्वितीयहेतुप्रसंगे [पृ० ३०७-६]

ननु केनैतदुक्तम् – 'अशक्यं कुर्वन्ति' इति, येनैतत् प्रतिषिध्यते भवता ? किन्तु 'असदपि कार्यं कुर्वन्ति' इत्येतावदुच्यते । तच्च तेषां शक्यक्रियमेव । असदेतत्, असत्कार्यकारित्वाभ्युपगमादेव अशक्यक्रियं कुर्वन्ति । तथाहि – यदसत् तन्नीरूपम् यच्च नीरूपं तत् शशविषाणादिवद् अनाधेयातिशयम् यच्च अनाधेयातिशयं तदाकाशवदविकारि, तथाभूतं चाऽसमासादितविशेषरूपं कथं केनचिच्छ-क्यते कर्तुम् ? अथ सदवस्थाप्रतिपत्तेर्विक्रियत एव तत्, एतदप्यसत्, विकृतावात्महानिप्राप्तेः । यतो विकृताविष्यमाणायां यस्तस्यात्मा नीरूपाख्यो वर्ण्यते तस्य हानिः प्रसज्यते । न ह्यसतः स्वभावाऽ-परित्यागे सद्रूपतापत्तिर्युक्ता, परित्यागे वा नासदेव सद्रूपता प्रतिपन्नमिति सिद्ध्येत् अन्यदेव हि सद्रूपम् अन्यच्च असद्रूपम् परस्परपरिहारेण तयोरवस्थितत्वात् । तस्मात् यद् असत् तद् अशक्यक्रियमेव,

---

होता है । तो तृणादि से जैसे अपने तादात्म्य के विना भी रज्जु आदि कार्य निष्पन्न होता है वैसे ही तादात्म्याभाव वाले स्वर्ण-चाँदी आदि कार्य भी निष्पन्न हो सकते हैं । दूसरे और तीसरे हेतु में ऐसे तो समानता दिखती है किन्तु फर्क इतना है कि दूसरे हेतु में यह बात कारण मुख से कही गयी है – अर्थात् एक ही चावलादि कार्य की चावल-कोद्रवादि समस्त कारणों से उत्पत्ति होने का आपादन किया गया है : जब कि तीसरे हेतु में कार्यमुख से वही बात कही गयी है – एक ही तृणादि वस्तु से समस्त कार्य की उत्पत्ति का आपादन किया है । उपनय में कहते हैं कि समस्त कार्य प्रत्येक कारण-वस्तु से उत्पन्न होता है ऐसा तो है नहीं – इस से यह नियम फलित होता है कि प्रतिनियत कार्य का अपनी उत्पत्ति के पूर्व भी अमुक ही कारण में सद्भाव होता है ।

आशंका : कारणों में अमुक मर्यादित कार्यों को ही उत्पन्न करने की अमुक मर्यादित शक्ति होती है । अतः इस मर्यादा के होते हुए, उत्पत्ति के पूर्व समस्त कार्य असत् होते हुए भी वे अपनी अपनी मर्यादित उत्पादक शक्ति को धारण करने वाले मर्यादित कारणों से ही उत्पन्न होते हैं । यही कारण है कि गगनकमल का जन्म ही नहीं हो पाता । इसी तरह यह भी नियम है कि अमुक कार्य के लिये उस का कर्ता अमुक मर्यादित कारण को ही ढूँढता है, वह जिस कारण को ढूँढता है वही कारण उस कार्य के लिये सक्षम होता है न कि सभी कारण । अतः सारांश यह है कि किसी एक मर्यादित कारणसामग्री से कोई एक मर्यादित कार्य ही उत्पन्न होता है न कि समस्त कार्यवृंद किसी भी एक कारन से ।

उत्तर : यह वक्तव्य गलत है । कारण, शक्तिशालि हेतु भी जिस कार्य की उत्पादन क्रिया करने में समर्थ होती है उसी कार्य को उत्पन्न करता है, अशक्य कार्य को नहीं । यानी शक्ति भी अमुक मर्यादित कार्य के लिये ही होती है, यह भी तभी कहा जा सकता है जब उसी कार्य को उस कारण में शक्तिरूप से, उत्पत्ति के पूर्व भी विद्यमान माना जाय ।

★ शक्तिशालि हेतु से शक्यकार्यजन्म ★

प्रश्न : अरे ! किसने आप को कहा कि शक्तिशालि हेतु अशक्य कार्य को करता है ? क्यों आप अशक्यक्रिया का निषेध करने का कष्ट कर रहे हैं ? हम तो इतना ही कहते हैं शक्तिशालि हेतु उत्पत्तिपूर्व असत् ही ऐसे कार्य को भी उत्पन्न करते हैं, और वह कार्य उन हेतुओं के लिये शक्यक्रिय ही होता है ।

उत्तर : ऐसा कहना गलत है, जब आप हेतु को असत्कार्यकारी मानते हैं तो आप का यही मन्तव्य है

अतस्तथाभूतपदार्थकारित्वाभ्युपगमे कारणानामशक्यकारित्वमेवाभ्युपगतं स्यात् । न चाशक्यं केनचित् क्रियते यथा गगनाम्भोरुहम्, अतः 'शक्तिप्रतिनियमात्' इत्यनुत्तरमेतत् । एतेन 'शक्तस्य शक्यकरणात्' इति चतुर्थोऽपि हेतुः समर्थितः ।

कार्यस्यैवमयोगाच्च किं कुर्वत् कारणं भवेत् ।
ततः कारणभावोऽपि बीजादेर्नावकल्पते ॥ [तत्त्वसंग्रह का० १३]

इति पञ्चमहेतुसमर्थनम् । अस्यार्थः – एवं यथोक्ताद्धेतुचतुष्टयाद् असत्कार्यवादे सर्वथाऽपि कार्यस्याऽयोगात् किं कुर्वद् बीजादि कारणं भवेत् ? ततश्चैवं शक्यते वक्तुम् – न कारणं बीजादिः अविद्यमानकार्यत्वाद् गगनाब्जवत् । न चैवं भवति, तस्माद् विपर्ययः । इति सिद्धं प्रागुत्पत्तेः सत् कार्यमिति ।

स्यादेतत् – यदि नाम 'सत् कार्यम्' इत्येवं सिद्धम्, 'प्रधानादेव महदादिकार्यभेदाः प्रवर्त्तन्ते' इत्येतत् तु कथं सिद्धिमासादयति ? उच्यते –

भेदानां परिमाणात् समन्वयात् शक्तितः प्रवृत्तेश्च । कारणकार्यविभागादविभागाद् वैश्वरूप्यस्य ॥ [सांख्यकारिका १५] कारणमस्त्यव्यक्तम् [का. १६]

कि अशक्य कार्य का हेतु से जन्म होता है । सुनिये – जो असत् होता है वह स्वरूपशून्य यानी नीरूप होता है, शशसींग की तरह उस में कोई भी नया संस्कार नहीं निपजाया जा सकता । संस्कारअयोग्य होने के कारण ही वह आकाश की तरह अविकारी होता है । अब जो ऐसा किसी भी विशेषता से बाह्य असत् है उस को कौन निपजा सकता है ?! वह कैसे शक्यक्रिय हो सकता है ?

आशंका : अरे ! असत् अवस्था को छोड कर वह 'सत्' अवस्था में आ जाता है यही विकार है, इस लिये वह शक्यक्रिय क्यों नहीं ?

उत्तर : यह भी गलत वक्तव्य है, क्योंकि असत् यदि विकृत होगा तो उस के असत्त्व का ही लोप हो जायेगा । कारण, असत् में विक्रिया मानने पर उस के स्वत्व को नीरूप कहा गया है वह गलत ठहरेगा । स्वभाव का – स्वत्व का त्याग किये विना असत् की सतूरूपताप्राप्ति घट नहीं सकती । अथवा मान लो कि असत् ने असत् स्वरूप का त्याग कर दिया, किन्तु तब 'असत् ने सत्स्वरूप की प्राप्ति की' ऐसा सिद्ध नहीं कर सकते क्योंकि सत्स्वरूप प्राप्त करने वाला तत्त्व अपने असतूरूप को तो खो बैठा है । असत् और सत् तो एक-दूसरे के परिहारी है इस लिये सत् पदार्थ अलग है और असत् पदार्थ भी अलग है, उन दोनों में कुछ भी नाता नहीं है । अतः यह फलित होता है कि जो असत् है वह कभी शक्यक्रिय नहीं होता, फिर भी यदि तथाविध पदार्थ उत्पन्न करने का यश कारणों को दिया जाय तो आप उन कारणों में अशक्यार्थकारिता को मान्यता दे बैठे, जो अनुचित है । जो अशक्य होता है जैसे गगनकमल, उस को कोई भी नहीं निपजा सकता । इस लिये आपने जो कहा था कि कार्य उत्पत्ति के पूर्व असत् होने पर भी उस को निपजाने की शक्ति जिन मर्यादित कारणों में होती है उन कारणों से ही उन कार्यों का जन्म हो सकता है....इत्यादि यह कृत्रिम उत्तर है, सच्चा नहीं ।

उपरोक्त चर्चा में 'शक्त का शक्यकरण' यह चौथा हेतु भी चर्चित हो गया है । इस का तात्पर्य यह है कि कार्य उत्पत्ति के पूर्व किसी भी ढंग से अपने कारण के साथ सम्बद्ध हो तभी ऐसा कह सकते हैं कि

इति पञ्चभ्यो वीतप्रयोगेभ्यः । तथाहि – (१) अस्ति प्रधानम्, भेदानां परिमाणात्, इह लोके यस्य सत्ता भवति तस्य परिमाणं दृष्टम्, यथा कुलालः परिमितात् मृत्पिण्डात् परिमितं घटमुत्पादयति प्रस्थग्राहिणम् आढकग्राहिणं वा । इदं च महदादि व्यक्तं परिमितमुपलभ्यते – एका बुद्धिः एकोऽहंकारः पञ्च तन्मात्राणि एकादशेन्द्रियाणि पञ्च भूतानि – ततोऽनुमानेन साधयामः अस्ति प्रधानम् यत् परिमितं व्यक्तमुत्पादयति, यदि च प्रधानं न स्यात् निष्परिमाणमिदं व्यक्तं स्यात् ।

(२) इतश्चास्ति प्रधानम्, भेदानामन्वयदर्शनात् । यज्जातिसमन्वितं हि यदुपलभ्यते तत् तन्मयकारणसम्भूतम् यथा घटशरावादयो भेदा मृज्जात्यन्विता मृदात्मककारणसम्भूताः, सुख-दुःख-मोहादिजातिसमन्वितं चेदं व्यक्तमुपलभ्यते प्रसाद-ताप-दैन्यादिकार्योपलब्धेः । तथाहि–प्रसाद-लाघवाभिष्वंगोद्धर्ष-प्रीतयः सत्त्वस्य कार्यम् सुखमिति च सत्त्वमेवोच्यते । ताप-शोष-भेद-स्तम्भोद्वेगा रजसः कार्यम्

कारण जिस शक्य कार्य को उत्पन्न करने के लिये शक्तिशालि होता है उसी को वह उत्पन्न कर सकता है । अनुत्पन्न कार्य सर्वथा असत् होने पर 'उस की उत्पादक शक्ति अमुक में ही है' ऐसा विधान ही हो नहीं सकता अतः उत्पत्ति के पूर्व कारण में कार्यसत्ता मानना चाहिये ।

★ सत्कार्यसाधक पाँचवा हेतु कारणभाव ★

पाँचवा हेतु है 'कारणभाव', इस का 'कार्यस्यैव' इस कारिका से समर्थन किया जाता है । 'पूर्व' यानी 'असत् का अकरण' इत्यादि चार हेतुओं से जब यह सिद्ध होता है कि असत्कार्यवाद में किसी भी उपाय से कार्य का योग (यानी संगति) जमता नहीं है, तब 'कारण' शब्द के अर्थ को लेकर यह प्रश्न होगा कि वह कारणरूप से अभिमत बीजादि, क्या ऐसा करते हैं, (उन में क्या ऐसा तत्त्व है) जिस से कि उन को 'कारण' (= कुछ करने वाला) कहा जा सके ? यदि उस में वैसा (कार्य की अव्यक्त सत्तारूप) कुछ तत्त्व नहीं है तो ऐसा ही कहना पड़ेगा कि बीजादि 'कारण' ही नहीं है क्योंकि उन का कोई कार्य नहीं है जैसे कि गगनपद्म । इस प्रकार जब बीजादि में अनिष्टभूत कारणत्वाभाव का प्रसंग टालना है तो कहना होगा कि बीजादि 'कारण न हो' ऐसा तो नहीं है इस लिये उन में कार्य के असत्त्व के विपर्यय को यानी सत्त्व को मानना पड़ेगा । तब यह अनायास सिद्ध होता है कि कार्य अपनी उत्पत्ति के पूर्व भी कहीं सत् (विद्यमान) होता है ।

★ प्रधानतत्त्व के आविर्भाव में पाँच अनुमान ★

प्रश्न : कार्य उत्पत्ति के पहले सत् होता है यह तो सिद्ध हुआ, लेकिन अब यह दिखाईये कि 'बुद्धि आदि कार्यभेद प्रधानतत्त्व से ही आविर्भूत होते हैं' यह कैसे सिद्ध हो सकता है ?

उत्तर : 'भेदानां०' इत्यादि १५ वीं सांख्यकारिका में पाँच वीत अनुमानप्रयोग दिये गये हैं उन से प्रधानतत्त्व की सिद्धि की गयी है, उसी से यह फलित हो जाता है कि बुद्धि आदि कार्यभेद प्रधान से आविर्भूत होते हैं । अनुमान के दो भेद होते हैं, वीत और अवीत । अन्वय व्याप्ति से किया जाने वाला वस्तुसाधक अनुमान वीत कहलाता है और व्यतिरेकव्याप्ति से किया जाने वाला वस्तुनिषेधमूलक अनुमान अवीत कहलाता है । यहाँ पाँचों अनुमान अन्वयमूलक से प्रधान (= प्रकृति) के अस्तित्व की सिद्धि करते हैं । (१) 'भेदों का (= महद् आदि कार्यों का) परिमाण' यह पहला हेतु है । इस जगत् में दिखता है कि जिस का अस्तित्व है उस का कोई न कोई परिमाण अवश्य होता है । जैसे: कुम्हार परिमित मट्टी परिमित पिण्ड से परिमित घटादि

रजश्च दुःखम् । दैन्यावरण–सादन–विध्वंस–वीभत्सगौरवाणि तमसः कार्यम् तमश्च मोहशब्देनोच्यते । एषां च महदादीनां सर्वेषां प्रसाद-ताप-दैन्यादि कार्यमुपलभ्यते इति सुख-दुःख-मोहानां त्रयाणामेते संनिवेशविशेषा इत्यवसीयते, तेन सिद्धमेतेषां प्रसादादिकार्यतः सुखाद्यन्वितत्वम्, तदन्वयाच्च तन्मयप्रकृतिसम्भूतत्वं सिद्धिमासादयति, तत्सिद्धौ च सामर्थ्याद् याऽसौ प्रकृतिः तत् प्रधानमिति सिद्धम् 'अस्ति प्रधानम्' भेदानामन्वयदर्शनात् ।

(३) इतश्चास्ति प्रधानम्, शक्तितः प्रवृत्तेः । इह लोके यो यस्मिन्नर्थे प्रवर्त्तते स तत्र शक्तः यथा तन्तुवायः पटकरणे अतः प्रधानस्यास्ति शक्तिर्यया व्यक्तमुत्पादयति, सा च शक्तिर्निराश्रया न सम्भवति तस्मादस्ति प्रधानं यत्र शक्तिर्वर्त्तते इति ।

(४) इतश्चास्ति प्रधानम् कारण-कार्यविभागात् । इह लोके कार्य-कारणयोर्विभागो दृष्टः, तद्यथा मृत्पिण्डः कारणम् घटः कार्यम् स च मृत्पिण्डाद् विभक्तस्वभावः । तथाहि – घटो मधूदकपयसां

परिमाणवाले, जैसे कि कोई [1]प्रस्थपरिमाण जलादि समाने वाले या कोई [2]आढक परिमाण जलादि समाने वाले घट को उत्पन्न करता है । तात्पर्य यह है कि जो मर्यादित परिमाणवाला होता है उस का जरूर कोई उपादान कारण होता है । ये महत् आदि तत्त्व भी मर्यादित परिमाणवाले ही दिखाई देते हैं, जैसे बुद्धि और अहंकार एक एक और परिमित होते हैं । तन्मात्राएँ पाँच ही हैं, इन्द्रियाँ ग्यारह ही हैं, भूत पाँच ही हैं । अतः 'जो मर्यादित परिमाणवाले होते हैं वे उपादानकारणसहित होते हैं जैसे घट' इस अनुमान से यह सिद्ध हो सकता है कि प्रधानसंज्ञक कोई उपादान तत्त्व है जो परिमित व्यक्त (बुद्धि आदि) को उत्पन्न करता है । अगर यह प्रधानतत्त्व न होता तो जगत् में कहीं भी व्यक्तमात्र अपरिमित ही उपलब्ध होता ।

★ दूसरा हेतु– भेदों का समन्वय ★

(२) प्रधानतत्त्व की सिद्धि के लिये भेदों का समन्वय यानी अन्वयदर्शन यह दूसरा हेतु है । यह नियम है कि जो जिस जाति से समन्वित उपलब्ध होता है वह उसी जाति से समन्वित कारण से उत्पन्न होता है; उदा० घट, शराव आदि भेद मृत्त्व जाति से अन्वित उपलब्ध होते हैं तो वे मृत्त्वजातिवाली मिट्टी से पैदा होते हैं । प्रस्तुत में, व्यक्त सभी तत्त्व सुख-दुख-मोहादि (यानी सत्त्व-रजस्-तमस् आदि) जाति से समन्वित उपलब्ध होते हैं– यह उन में उपलब्ध होने वाले प्रसादादि, तापादि, दैन्यादि कार्यों से सिद्ध है । इस तथ्य की स्पष्टता देखिये– प्रसादादि यानी प्रसाद, लाघव, अभिष्वंग, उद्धर्ष और प्रीति ये सब सत्त्व के कार्य हैं, सत्त्व और सुख एक ही बात है । तापादि यानी ताप-शोष-भेद-स्तम्भ और उद्वेग ये रजस् के कार्य हैं, रजस् कहिये या दुःख कहिये– एक हैं । दैन्य-आवरण-सादन-ध्वंस-वीभत्स और गौरव ये तमस् के कार्य हैं, तमस् या मोह एक ही है । इन महत् आदि सभी व्यक्त तत्त्वों में प्रसादादि, तापादि और दैन्यादि कार्य दिखाई पडते हैं इसलिये सब सुख-दुख और मोह की त्रिपुटी के ही रचनाविशेषरूप है यह स्पष्ट हो जाता है । तात्पर्य, प्रसादादि कार्यलिंग से व्यक्त में सुखादि का अन्वय सिद्ध होता है, और पूर्वोक्त नियम के अनुसार व्यक्त तत्त्व सुखादिसमन्वित होने के हेतु से, सुखादिमय स्वभाववाले तत्त्व से निपजे हुए हैं यह भी सिद्ध हो जाता है । जब व्यक्त के कारणरूप

---

१. ३२ पलों के बराबर माप को प्रस्थ कहते हैं । २ – द्रोण के चौथे भाग को आढक कहते हैं । श्लोक– ''अष्टमुष्टिभवेत् कुंचिः कुंचयोऽष्टौ तु पुष्कलम् । पुष्कलानि च चत्वारि आढकः परिकीर्त्तितः ॥'- अर्थः आठ मुठी = १ कुंचि, आठ कुंचि=१ पुष्कल, चार पुष्कल = १ आढक । तथा ४ कुडव = १ प्रस्थ, ४ प्रस्थ = १ आढक ।

धारणसामर्थ्यः न मृत्पिण्डः, एवमिदं महदादिकार्यं दृष्ट्वा साधयामः अस्ति प्रधानं कारणम् यस्मादिदं महदादिकार्यमिति ।

(५) इतश्चास्ति प्रधानम् वैश्वरूप्यस्याऽविभागात् । 'वैश्वरूप्यम्' इति त्रयो लोका उच्यन्ते, एते हि प्रलयकाले कंचिदविभागं गच्छन्ति । तथाहि– पञ्च भूतानि पञ्चसु तन्मात्रेषु अविभागं गच्छन्ति, तन्मात्राणीन्द्रियाणि चाहंकारे, अहंकारस्तु बुद्धौ, बुद्धिः प्रधाने; तदेवं प्रलयकाले त्रयो लोका अविभागं गच्छन्ति । अविभागोऽविवेकः यथा क्षीरावस्थायां 'अन्यत् क्षीरम्' 'अन्यद् दधि' इति विवेको न शक्योऽभिधातुम् तद्वत् प्रलयकाले 'इदं व्यक्तम्' 'इदमव्यक्तम्' इति विवेकोऽशक्यक्रिय इति मन्यामहे – 'अस्ति प्रधानम् यत्र महदादिलिंगमविभागं गच्छती'ति ।

सत्त्व-रजस्तमोलक्षणं सामान्यमेकमचेतनं द्रव्यम् अनेकं च चेतनं द्रव्यमर्थोऽस्तीति द्रव्यार्थिकः अशुद्धो व्यवहारनयाभिप्रेतार्थाभ्युपगमस्वरूपः बोद्धव्यः । वक्ष्यति आचार्यः –

'जं काविलं दरिसणं एयं दव्वट्ठियस्स वत्तव्वं ।' [खं०३-४८] इति ।

में सुखादिस्वभाववाला पदार्थ सिद्ध हुआ तो यह अनायास अर्थतः सिद्ध हो जाता है कि वही पदार्थ समस्त व्यक्त का मूल यानी प्रकृति है और वही हमारा साध्य प्रधान तत्त्व है । इस प्रकार भेदों के समन्वय के दर्शन से प्रधान का अस्तित्व स्फुट होता है ।

★ तीसरा हेतु शक्ति अनुसार प्रवृत्ति ★

(३) तीसरा हेतु है शक्ति अनुसार प्रवृत्ति । स्पष्टतः- इस जगत् में जो जिस अर्थ में (अर्थ को निपजाने के लिये) प्रवृत्त होता है वह उसको निपजाने वाली शक्ति से समन्वित होता है यह नियम है । उदा० जुलाहा वस्त्र बुनने की प्रवृत्ति करता है क्योंकि वह तदनुरूप शक्ति धारण करता है । इस नियमानुसार यह कह सकते हैं कि कार्य बिना किसी की शक्ति से उत्पन्न नहीं होता । व्यक्त वर्ग उत्पन्न होता है तो उसको उत्पन्न करने की शक्ति भी किसी (प्रधान जैसे) तत्त्व में अवश्य होनी चाहिये, कोई भी शक्ति अनाश्रित तो नहीं हो सकती अतः यह अनुमान से फलित होता है कि जहाँ उक्त शक्ति का वास है वह कोई प्रधान तत्त्व अवश्य होना है ।

★ प्रधानसाधक चौथा हेतु कारण-कार्यविभाग ★

(४) प्रधान की सिद्धि में चौथा हेतु है कारण-कार्यविभाग । इस जगत् में कार्य और कारण का विभाग दिखता है । जैसे: मिट्टीपिण्ड कारण है और घट उस का कार्य है जो कि मिट्टीपिण्ड से कुछ भिन्नस्वभाववाला है । सोचिये – मधु, जल या दुग्ध का धारण-वहन करने के लिये घट ही समर्थ होता है न कि मिट्टी का पिण्ड । प्रस्तुत में भी महत् आदि कार्यों को देख कर यह सिद्ध हो सकता है कि यहाँ भी कारण-कार्य का स्पष्ट विभाग होना चाहिये । तात्पर्य, महत् आदि कार्य उपलब्ध होते हैं तो उन के साथ कार्य-कारण भाव धारण करने वाला कोई प्रधान तत्त्वरूप मूल कारण भी होना चाहिये जिस में से इन महत् आदि का जन्म होता है ।

★ पाँचवा हेतु – वैश्वरूप्य का अविभाग ★

(५) वैश्वरूप्य का अविभाग यह प्रधानसिद्धि का पाँचवा हेतु है । तीन लोक को ही वैश्वरूप्य कहा

नैगमनयाभिप्रायस्तु द्रव्यास्तिकः शुद्धाऽशुद्धतया आचार्येण न प्रदर्शित एव, नैगमस्य सामान्यग्राहिणः संग्रहेऽन्तर्भूतत्वात् विशेषग्राहिणश्च व्यवहारे इति नैगमाभावाद् । इति द्रव्यप्रतिपादकनयप्रत्ययराशिमूलव्याकरणी द्रव्यास्तिकः शुद्धाऽशुद्धतया व्यवस्थितः ।

[पर्यायास्तिकनयनिरूपण – (१) सदद्वैतप्रतिक्षेपकः पर्यायास्तिकनयः]

अत्र पर्यायास्तिक ऋजुसूत्र-शब्द-समभिरूढ-एवंभूतनयप्रत्ययराशिमूलव्याकरणी शुद्धाऽशुद्धतया व्यवस्थितः पर्यायलक्षणविषयव्यवस्थापनपरो द्रव्यास्तिकनयाभिप्रेतवस्तुव्यवस्थापनयुक्तिं प्रतिक्षिपति – यदुक्तं द्रव्यास्तिकेन 'सर्वमेकं सदविशेषात्' [२६९-५] तत् किं भेदस्य प्रमाणबाधितत्वादेकमुच्यते आहोस्विदभेदे प्रमाणसद्भावात् ? न तावद् भेदस्य प्रमाणबाधितत्वम् यतः प्रमाणं प्रत्यक्षादिकं भेदमुपोद्वलयति न पुनस्तद्बाधया प्रवर्त्तते, भेदमन्तरेण प्रमाणेतरव्यवस्थितेरेवाभावात् । प्रमाणं च प्रत्यक्षानुमानादिभेदेन

जाता है । जब प्रलयकाल आता है तब पाँच भूत आदि तत्त्वों का 'अविभाग' यानी अपने अपने कारण-तत्त्वों में विलय होता है । जैसे, पाँच भूत पाँच तन्मात्रा में विलीन होते हैं, तन्मात्रा और इन्द्रियाँ अहंकार में, अहंकार बुद्धि में और बुद्धि प्रधान में विलीन हो जाते हैं । इस प्रकार तीनों लोक का विलय होता है । अविभाग या विलय का मतलब है अविवेक । जैसे, क्षीरावस्था में 'क्षीर अलग – दहीं अलग' ऐसा विवेक = विभाग दिखा नहीं सकते इसी तरह प्रलय काल में 'यह व्यक्त और यह अव्यक्त' ऐसी विवेकक्रिया अशक्य होती है । यहाँ सभी कार्य-तत्त्वों का कारणतत्त्व में विलय होता है तो बुद्धि का विलय होने के लिये भी कोई 'प्रधान' नाम का तत्त्व है जिस में महत् आदि लिंग (यानी विलीन होने वाले तत्त्वों) का अविभाग (= विलय) होता है।

निष्कर्ष, अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय सत्त्व-रजस्-तमस् स्वरूप सामान्य एक अचेतन द्रव्य और अनेक चेतन पुरुष संज्ञक द्रव्यों का भिन्न भिन्न रूप से अंगीकार करता है, वैसे द्रव्यों के अंगीकार में जिस का अर्थ = अभिप्राय है ऐसा नय अशुद्ध द्रव्यार्थिक है । अशुद्ध इस लिये कि वह शुद्धद्रव्यग्राही संग्रह को छोड कर व्यवहारनयमान्य सभेद द्रव्यरूप अर्थ का अंगीकार करता है । आचार्य श्री सिद्धसेनसूरि इसी बात को तीसरे कांड की ४८ वीं गाथा से भी बतायेंगे कि कपिल का सांख्य-दर्शन पूरा द्रव्यार्थिकनय का वक्तव्य है ।

प्रश्न : अन्य आचार्यों ने नैगमनय का भी द्रव्यार्थिक में समावेश दिखाया है तो आपने शुद्ध-अशुद्ध नैगम को इस में क्यों नहीं बताया ?

उत्तर : आचार्य भगवन्तने वह नहीं बताया इस का कारण यह है कि सामान्यग्राही नैगमनय का संग्रहनय में अन्तर्भाव है और विशेषग्राही नैगमनय का व्यवहारनय में अन्तर्भाव है । इस प्रकार संग्रहव्यवहारोभयस्वरूप द्रव्यार्थिक में अन्तर्भाव न होता हो ऐसा स्वतन्त्र कोई नैगमनय है नहीं ।

उपरोक्त विवेचन के अनुसार यह व्यवस्था स्पष्ट हो जाती है कि द्रव्य का निरूपण करने वाली नयप्रतीतियों के समुदाय का मूल व्याकरण=प्रकाशन करनेवाला द्रव्यास्तिकनय है जिस का शुद्ध और अशुद्ध ये दो भेद हैं ।

★ पर्यायास्तिकनयप्ररूपणा – अद्वैतप्रतिक्षेप ★

पर्यायास्तिक नय जो कि ऋजुसूत्र – शब्द – समभिरूढ – एवंभूत इन चार अवान्तरनय प्रत्ययों के

भिन्नं सद् भेदसाधकमेव, न पुनस्तद्बाधकम् । तथाहि – प्रत्यक्षं तावच्चक्षुर्व्यापारसमनन्तरभावि व-स्तुभेदमधिगच्छत् उत्पद्यते, यतो भेदो भाव एव तं चाधिगच्छताऽध्यक्षेण कथं भेदो नाधिगतः ? यच्चो-क्तम् [२६९-८] "भेदस्य कल्पनाविषयत्वम् 'इदमस्माद् व्यावृत्तम्' इत्येवं तस्य व्यवस्थापनात्, अभेदस्तु निरपेक्षाध्यक्षधीसमधिगम्यः" इति तदयुक्तम्, 'इदमनेन समानम्' इत्यनुगतार्थप्रतिभासस्यैवेत- रसव्यपेक्षस्य कल्पनाज्ञानमन्तरेणानुपपत्तेरभेद एव कल्पनाज्ञानविषयः भेदस्तु परस्पराऽसंमिश्रवस्तुबलोद्भू-ततदाकारसंवेदनाधिगम्यःतदाभासाध्यक्षस्यानुभवसिद्धत्वात्, अध्यक्षस्य भावग्रहणरूपत्वाच्च । भावाश्च स्व-स्वरूपव्यवस्थितयो नात्मानं परेण कल्पनाज्ञानमन्तरेण योजयन्ति एवं परस्पराऽसंकीर्णरूपप्रतिभासतो भा-वानां व्यवहारांगता नान्यथा । तदुक्तम् – "अनलार्थ्यनलं पश्यन्नपि न तिष्ठेत् नापि प्रतिष्ठेत" [ ] पुनरप्युक्तम् "तत् परिच्छिनत्ति अन्यद् व्यवच्छिनत्ति प्रकारान्तराभावं च सूचयति" [ ] इति।

एतेन 'आहुर्विधातृ प्रत्यक्षम्०' इत्यादि [२७१-१२] पराकृतम् । यतो विधातृत्वं किं प्रत्यक्षस्य भावस्वरूपग्राहित्वम् आहोस्विदन्यत् ? यदि भावस्वरूपग्राहित्वम् न तर्हि भेदग्रहणस्य विरोधः, भेदस्य

प्रस्तार का मूल प्ररूपक है वह शुद्ध और अशुद्ध दो प्रकार से विभक्त है । यह पर्यायार्थिकनय, वस्तु को पर्यायस्वरूप मानने पर तुला है अतः द्रव्यार्थिकनय सम्मत वस्तु की स्थापक युक्तियों का प्रतिकार करते हुए कहता है –

द्रव्यार्थिक ने जो कहा था कि सत्त्वस्वरूप ही होने से सब कुछ एक है [२७०-१८] – इस के ऊपर प्रश्न है कि भेद के प्रमाणबाधित होने से एकत्व का समर्थन करते हो या फिर अभेदसाधक प्रमाण जागरूक है इस लिये ?

भेद कोई प्रमाणबाधित नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्षादि प्रमाण तो उल्टा भेद का प्रकाशन करता है नहीं कि भेद न होने का प्रकाशन । कारण, भेद के बिना 'यह प्रमाण है – यह अप्रमाण है', ऐसी अथवा 'यह प्रमाण है – यह प्रमेय है' ऐसी व्यवस्था होना दुष्कर है । प्रमाण के भी प्रत्यक्षादि अनेक भेद हैं जो सर्वमान्य हैं, इसी से भेद सिद्ध हो जाता है, भेद की बाधा सिद्ध नहीं होती । देखो – चक्षुःक्रिया के बाद उत्पन्न होने वाला प्रत्यक्ष वस्तु के भेद को ही प्रकाशित करता है, भेद भी भाव की ही एक अवस्था है और उस का जब प्रत्यक्ष होता है तो भेद कैसे अज्ञात रहेगा ?

★ भेद नहीं किन्तु अभेद ही कल्पित है ★

यह जो द्रव्यार्थिकवादी ने कहा था [२७०-२६] – कि भेद का प्रकाशन तो 'यह इस से जुदा है' इस प्रकार की कल्पना से होता है इस लिये वह कल्पनाविषय है न कि वास्तव, जब कि अभेद तो कल्पनामुक्त प्रत्यक्षबुद्धि से प्रकाशित होता है – यह ठीक नहीं है, क्योंकि वास्तव में भेद नहीं किन्तु अभेद ही कल्पनाज्ञान का विषय (यानी कल्पित) है । 'यह इस से समान है' यह समानाकार प्रतीति परापेक्ष होने से कल्पनाज्ञान के बिना घट ही नहीं सकती, इस लिये अभेद ही कल्पित है । भेद तो एकदूसरे पर [illegible] वस्तु स्वरूप है और वह [illegible] से उत्पन्न होने वाले तदाकार संवेदन से अधिगत होता है क्योंकि [illegible] प्रत्यक्ष को अनुभवसिद्ध है, और प्रत्यक्ष का स्वरूप [illegible] भावग्राही होता है । 'यह इस से अलग है' इस [illegible] अध्यक्ष से स्पष्ट ही एक भाव दूसरे भाव से [illegible] होता है । भाव भी स्वयं दूसरे से [illegible] (सम्मिश्र) नहीं होते, वे तो अपने अपने स्वरूप में अवस्थित होते हैं किन्तु कल्पनाज्ञान से ही वे एक दूसरे के

तद्रूपत्वात् । अथान्यत्, तन्न, तस्य स्वभावाऽनिर्देशात् । अथ वस्त्वन्तराद् वस्त्वन्तरस्यान्यत्वं प्रत्यक्षं न प्रतिपादयति, तदप्यसत् – भावानां सर्वतो व्यावृत्तत्वात् तथैव चाध्यक्षे प्रतिभासनात् । तथाहि – पु- रोव्यवस्थिते घट-पटादिके वस्तुनि चक्षुर्व्यापारसमुद्भूतप्रतिनियतार्थप्रतिभासादेव सर्वस्मादन्यतो भेदः प्रतिपन्नोऽध्यक्षेण अन्यथा प्रतिनियत- प्रतिभासाऽयोगात् । न ह्यघटरूपतयाऽपि प्रतिभासमानो घटः प्रतिनियतप्रतिभासो भवति, अघटरूपपदार्थाप्रतिभासने च तत्र कथं न ततो भेदप्रतिभासः स्यात् ? नहि तदात्मा भवति, स्वस्वभावव्यवस्थितेः सर्वभावानाम् अन्यथा सर्वस्य सर्वत्रोपयोगादिप्रसंगः, इति अन्याऽप्रतिभासनमेव घटादेः प्रतिनियतरूपपरिच्छेदः । यदि पुनः प्रतिनियतरूपपरिच्छेदेऽपि नान्यरूप- परिच्छेदस्तदा प्रतिनियतैकस्वरूपस्याप्यपरिच्छेदप्रसङ्गः । तथाहि – घटरूपं (?प)प्रतिनियताध्यक्षप्रत्यये- नाप्यघटरूपविवेको नाऽधिगतो यदि तदाऽघटरूपमपि घटरूपं स्यादिति न प्रतिनियतघटरूपप्रतिपत्तिः स्या- त् । ततश्च य एष कस्यचित् प्रतिनियतपदार्थदर्शनात् क्वचित् प्राप्ति-परिहारार्थो व्यवहारः स न स्या- त् । न च तत्राऽसतो रूपस्य प्रतिभासो युक्तः, अप्रतिभासने च कथं न ततः प्रतिभासमानरूपस्य

साथ योजित होते हैं, उस के विना नहीं । उक्त रीति से पराश्रित होने से अभेद भी कल्पनाविषय सिद्ध होता है । यदि अभेद वास्तव माना जाय तो कोई भी भाव व्यवहारोपयोगी नहीं हो सकेगा, जल अग्नि आदि भाव अन्योन्य असमानरूप से जब भासित होते हैं तभी गर्मी के लिये अग्नि, शैत्य के लिये जल इत्यादि व्यवहारोपयोगी होते हैं । कहा है – "जिसे अग्नि चाहिये वह यदि सर्वाभिन्न रूप से ही अग्नि को देखेगा तो न निवृत्ति करेगा और न प्रवृत्ति करेगा (किंतु उदासीन रहेगा) ।" – इस का तात्पर्य यह है कि सर्वसामान्य सत्वस्वरूप से अग्नि को देखने पर गर्मी का अर्थी उस की प्राप्ति के लिये प्रवृत्ति नहीं करेगा और गर्मी से परेशान आदमी उस से भागेगा नहीं, प्रवृत्ति – निवृत्ति व्यवहार तभी हो सकते हैं जब जलादि से असमानरूप में अग्नि का – भेद का बोध हो । अन्यत्र भी कहा है – "बोधात्मा वस्तु (के असाधारण रूप) को अवधारित करता है और विपरीत स्वरूप का व्यवच्छेद करता है, साथ साथ इन दों से अतिरिक्त किसी प्रकार के अभाव को सूचित भी करता है ।"

★ प्रत्यक्ष की भेदग्राहिता का उपपादन ★

'प्रत्यक्ष तो सिर्फ विधायक ही कहा गया है...' यह निवेदन भी उपरोक्त वक्तव्य से निरस्त हो जाता है । कारण, यहाँ प्रश्न उठेगा – विधायकत्व यानी भावस्वरूपग्राहित्व ही है या अन्य कुछ ? यदि भावस्वरूपग्राहित्व कहें तो कोई विरोध नहीं है, भेद भी भावस्वरूप ही है । 'अन्य कुछ' विधायकत्व के स्वभाव का परिचय ही शक्य नहीं तो उस का प्रत्यक्ष के धर्म या स्वभाव के रूप में निर्देश कैसे शक्य है ?!

आशंका : एक वस्तु से दूसरी वस्तु की भिन्नता (= भेद) का प्रकाशन करने में प्रत्यक्ष सक्षम नहीं है ।

उत्तर : यह वितर्क गलत है । भावात्मक वस्तु सभी वस्तुओं से स्वयं ही भिन्न स्वभाव होती है । यह भिन्नता = भेद स्वभावान्तर्गत वस्तुस्वरूप ही है । प्रत्यक्ष में भिन्नतास्वभाव वस्तु का ही प्रतिभास होता है । सुनिये–घट–वस्त्रादि वस्तु जब नजर के समक्ष होती है तब नेत्रव्यापार से जो मर्यादितरूप में वस्तु का प्रतिभास होता है उस में प्रत्यक्ष के द्वारा सर्ववस्तुओं का भेद गृहीत हो जाता है । यदि यह गलत है तो फिर वस्तु के मर्यादितरूप में प्रतिभास की व्यवस्था नहीं बैठेगी । घट यदि मर्यादित रूप में भासित न हो कर अघट

विवेकप्रतिभासः ? न च भेदः कल्पनाज्ञानविषयः अबाधितानुभवगोचरत्वात्, अत एव 'इतरेतराभावरूपत्वान्न भेदः प्रत्यक्षविषयः' इति प्रत्युक्तम्, भावरूपग्रहणे इतरेतराभावरूपस्य भेदस्य प्रतिभासनात् ।

अनुमानागमयोः स्वरूपस्य तु भेदनिबन्धनत्वान्न भेदबाधकता । एवं प्रमेयभेदनिश्चये प्रमाणादपि प्रमेयस्य भेदो निश्चित एव भवतीति न प्रमाणनिश्चये भेदेऽबाधितत्वाद् भेदस्याभेदाभ्युपगमो युक्तः । यदपि 'देश-कालाऽऽकारभेदैर्भेदो न प्रत्यक्षादिभिः प्रतीयते' इत्याद्युक्तम् [२७१-१३, २७४-९] तदप्यसंगतमेव, अभेदप्रतिपत्तावप्यस्य समानत्वात् । तथाहि – अभेदोऽपि पदार्थानां यदि देशाभेदात् तदाऽनवस्थादिदूषणं समानम् ।

किंच, भिन्नदेशसम्बन्धितया प्रतिभासमानानां घट-पटादीनां सद्रूपतया सर्वेषां प्रतिभासनात् तस्याश्च सर्वत्र सर्वदाऽप्रत्ययापायादबाधितप्रत्ययविषयत्वेन पारमार्थिकत्वम् घटादिभेदानां च प्रच्यवनाद् देशान्तरादौ

रूप से भी भासित होता तो उस के मर्यादित प्रतिभास का उच्छेद सिर उठायेगा । यदि मानते हैं कि यहाँ घट पदार्थ प्रतिभास के समय अघटरूपपदार्थ प्रतिभास नहीं होता (किन्तु अघट से भिन्नता का होता है) तो यही भेदप्रतिभासरूप है इतना क्यों नहीं समझते ? आप भी जानते हैं कि घट कभी अघटात्मा (= घटभिन्न) नहीं होता, क्योंकि प्रत्येक भाव अपने अपने स्वरूप में अवस्थित होते हैं । यदि ऐसा न हो कर घटादि सर्वभाव अघटादिभावरूप में अवस्थित होने का माना जाय तो जलाहरण की तरह शरीराच्छादन आदि समस्त कार्यों में सर्व वस्तु उपयोगी बनने का भी मानना पड़ेगा । सारांश, घटप्रतिभास के काल में अघटप्रतिभास न होना यही मर्यादितरूप से घट का भान है अर्थात् भेदप्रतिभास है ।

यदि घटस्वरूप के प्रतिभासक के समय व्यावर्त्तकरूप से भी अन्यभावों का प्रतिभास स्वीकार्य नहीं है तब तो घटादि का सर्वरूप से प्रतिभास यानी मर्यादित एक स्वरूप से अनवभास प्रसक्त होगा । देखिये – घट-स्वरूप की मर्यादितरूप में होनेवाली प्रतीति में यदि अघटस्वरूप का भेद भासित नहीं होता तो वह अघटस्वरूप भी घटमय प्रसक्त होगा । फलतः मर्यादितरूप से घटबोध होगा ही नहीं । इस से यह अनिष्ट प्रसक्त होगा कि किसी को भी मर्यादित रूप से वस्तुदर्शन होने पर भी उस वस्तु की प्राप्ति या उत्पत्ति के लिये होनेवाला व्यवहार विलुप्त हो जायेगा । सच बात तो यह है कि घटप्रतिभास में, घट में न रहने वाले अर्थात् तद्रूप न होने वाले (अघटादि) स्वरूप का प्रतिभास संगत ही नहीं है; जब प्रतिभास नहीं है तो उस अप्रतिभासमान स्वरूप के त्याग(=भेद) का अवभास क्यों नहीं होगा ? भेद तो निर्बाध अनुभूति का विषय है इस लिये उस को कल्पनाज्ञान का विषय बताना गलत बात है । यही कारण है कि "भेद अन्योन्याभावरूप होने से प्रत्यक्ष का विषय नहीं है" यह विधान गलत ठहरता है, क्योंकि भावात्मक घट का स्वरूप गृहीत होता है तब अघटादि का भेद जो कि अन्योन्याभावरूप है वह भी स्फुरता है ।

अनुमान और आगम का स्वरूप तो स्वयं भेद पर निर्भर है, क्योंकि प्रमाण का अन्यभाव यदि अनुमान से [illegible] भिन्न [illegible] तो भी स्वरूपतया लुप्त हो जायेगी । जब अनुमान और आगम भेदनिर्भर है तो वे भेद के बाधक कैसे होंगे ? इस प्रकार जब अनुमान-प्रमाण के [illegible] से ही [illegible] भेद [illegible] जाता है तो फिर प्रमाण से [illegible] का भेद (= [illegible]) भी निश्चित हो जाता है ; [illegible] भेद [illegible] [illegible] भेद [illegible] का विषय सिद्ध होता है [illegible]

बाधितप्रत्ययगम्यत्वादपारमार्थिकत्वमभ्युपगतम् । तत्रैकदेशस्थघटादिभेदाध्यक्षप्रतिपत्तिकाले यत् स्वरूपं तद्भेदपरिष्वक्तवपुः परिस्फुटमध्यक्षे प्रतिभाति न तद् देशान्तरस्थघटादिभेदपरिगतमूर्त्तितया प्रतिभाति, तत्र तद्भेदानामसन्निधानेन प्रतिभासाऽयोगात् तदप्रतिभासने च तत्परिष्वक्तताऽपि तस्य नाधिगतेति कथं देशान्तरस्थभेदानुगतत्वं तस्य भातम् ? यदेव हि स्पष्टदृगवगतं तद्भेदनिष्ठं तस्य रूपं तदेवाभ्युपगन्तुं युक्तम्; अन्यदेशभेदानुगतस्य तद्दर्शनाऽसंस्पर्शिनः स्वरूपस्याऽसम्भवात्, सम्भवे वा तस्य दृश्यस्वभावाभेदप्रसंगात्, तदेकत्वे सर्वत्र भेदप्रतिहतेरनानैकं जगत् स्यात् । दर्शनपरिगतं च तद्देशभेदक्रोडीकृतं सद्रूपं न भेदान्तरपरिगतमिति न तदस्ति । यदि तु तदपि भेदान्तरपरिगतं सद्रूपमाभाति तथा सति सकलदेशपरिगताभेदाः प्रतिभासन्ताम् ।

अथ न प्रथमदेशभेदप्रतिभासकाले देशान्तरपरिगतभेदसम्बन्धि सद्रूपत्वमाभाति किन्तु यदा

अभेद का स्वीकार अयुक्त है।

यह जो कह गया है [२७२-२६, २७३-१६] देश, काल और आकार के भेदों से वस्तु में भेद होता है ऐसा प्रत्यक्ष आदि से अनुभव नहीं होता – यह असंगत है, क्योंकि इस के सामने समानरूप से यह कह सकते हैं कि अभेद भी प्रत्यक्षादि से अनुभूत नहीं होता । देखो – देश के अभेद से यदि पदार्थों का अभेद मानेंगे तो उस देश-अभेद भी किसी अन्य अभेद पर अवलम्बित मानना पडेगा, वह भी अन्य अभेद पर......इस प्रकार भेदपक्ष में जो अनवस्थादि दोष दिखाया है वे सब यहाँ समान हैं।

★ देशान्तरस्थभेदानुगम की अनुपपत्ति ★

यह ध्यान दे कर सोचने जैसा है – भिन्न भिन्न देश के सम्बन्धिरूप में प्रकाशनेवाले घट-पट आदि समस्त भाव सभी को सद्रूपता से भासित होते हैं। सद्रूपता भासित होती है वह सर्वदेश-सर्वकाल में अवस्थित सर्वभावों में भासित होती है, किसी देश या किसी काल में भासित न हो ऐसा प्रत्यवाय यहाँ सावकाश नहीं है। सद्रूपता निर्बाध अनुभव का विषय होने से वह पारमार्थिक मानी जाती है। अर्थात् सन्मात्र स्वरूप से घट-पटादि को पारमार्थिक माना जाता है। दूसरी ओर घटादिभेद को पारमार्थिक नहीं माना जाता, क्योंकि उन का प्रच्यवन यानी कभी और कहीं वे दिखाई दे और न भी दिखाई दे ऐसा होने से वे अन्य देश-काल में बाधित ज्ञान के विषय बने हुए हैं। अब इस पर यह सोचना चाहिये कि सद्रूपता का कभी भी कहीं भी प्रत्यवाय नहीं होने का आप मानते हैं किन्तु अनुभव तो ऐसा है कि एक देश में रहे हुए घटादि भेदों का जब प्रत्यक्ष से बोध होता है उस काल में उन भेदों से सम्बद्ध जो स्वरूप प्रत्यक्ष में स्पष्ट रूप से भासित होता है, वह 'अन्य देश में रह हुए घटादि भेदों में भी अनुगतस्वरूप वाला है ऐसा अनुभव नहीं होता, क्योंकि एक देश में अन्य देश के घटादि भेदों का सान्निध्य ही नहीं होता। इस लिये वहाँ उन का प्रतिभास भी नहीं होता। जब अन्य देश के घटादि का एक देश में प्रतिभास ही नहीं होता तो अन्यदेशस्थ घटादि भेदों की सम्बद्धता भी एक देश के घटादि में लक्षित नहीं हो सकती। तब मुख्य प्रश्न यह उठता है कि अन्यदेशस्थ भेदों का इस में अनुगम कैसे लक्षित होगा जो अनुगत सत्स्वरूप की प्रतीति के लिये होना आवश्यक है ?*

सच बात तो यह है कि एक देश में रहे हुए घटादि में रहने वाले जिस रूप का अनुभव दर्शन से होता हो वही उस घटादि भेद में मानना चाहिये। जो दर्शन का विषय ही नहीं बनता ऐसा 'इस घटादि में

*. यहाँ भेदशब्द से सर्वत्र 'घटादि विविध पदार्थ' ऐसा अर्थ समझना।

भेदान्तरमुपलभ्यते तदा तद्गतं सद्रूपत्वमाभातीत्यभेदप्रतिपत्तिः पश्चाद् भवतीति – एतदप्ययुक्तम्, यतो भेदान्तरप्रतिभासेऽपि तत्क्रोडीकृतमेव सद्रूपत्वमिति न पूर्वभेदसंस्पर्शितया तस्याधिगतिः पूर्वभेदस्याऽसंनिहिततयाऽप्रतिभासने तत्परिष्वक्तवपुषः सद्रूपस्यापि दर्शनातिक्रान्तत्वात् कथमपरापरदेशभेदसमन्वयिसद्रूपत्वावगमः सम्भवी ?

अथ प्रत्यभिज्ञानादन्वयि सद्रूपत्वं भिन्नदेशभेदेषु प्रतीयते – तदा वक्तव्यम् केयं प्रत्यभिज्ञा ? यदि प्रत्यक्षम् तत् कुतस्तदवसेयं सद्रूपत्वमपरापरदेशपट-पटादिष्वेकं सिध्यति ? अथाक्षव्यापारादुपजायमाना प्रत्यभिज्ञा कथं न प्रत्यक्षम् ? भेदग्राहिणो विकल्पव्यतिक्रान्तमूर्त्तेर्विशददर्शनस्याप्यक्षप्रभवत्वेनैवाऽध्यक्षत्वं भेदवादिभिरप्यभ्युपगम्यते तदत्रापि समानम् । असदेतत् – यद्यक्षव्यापारसमासादितवपुषेण प्रतीतिः तथा सति प्रथमभेददर्शनकाल एवापरदेशभेदसमन्वयिसद्रूपपरिच्छेदोऽस्तु । अथ तदा स्मृतिविरहान्नैकत्वावगतिः, यदा त्वपरदेशभेददर्शनमुपजायते तदा पूर्वदर्शनाहितसंस्कारप्रबोधप्रभवस्मृतिसहकृतमिन्द्रि-

---

अन्यदेशगतपटादिभेद' का अनुगतत्व स्वरूप सम्भव ही नहीं है। यदि उस का सम्भव मानेंगे तो वह अन्यदेशगत पटादिभेद भी उस काल में वहाँ दृश्यस्वभाव से अभिन्न हो जाने की विपदा होगी। यदि कहें कि अभिन्न हो जाने में कोई पीडा नहीं है तब तो सर्वत्र भेदमात्र का उच्छेद हो जाने से वैविध्य लुप्त हो कर सारा जगत् एकरस बन जायेगा। फलतः वस्तुओं में देशभेद–कालभेद और आकारभेद लुप्त हो जायेगा। दर्शन में भासित होने वाला जो एक देश के भेद का सद्रूप है वह अन्य भेद में तो रहता नहीं इसलिये वह अन्यभेद लुप्त हो जाने की विपदा होगी। यदि कहें कि वही सद्रूप 'अन्य भेद में भी रहता है' ऐसा भान होता है तब तो सभी देशों के भेदों का उस सद्रूप के जरिये प्रतिभास प्रसक्त होगा। अर्थात् सकल भेदों का एक साथ अनुभव होने की आपत्ति होगी।

★ अनुगत सद्रूपत्व का अनुभव असम्भव ★

यदि अनुगतप्रतीति की उपपत्ति करने के लिये यह कहा जाय – ''यद्यपि एक देश के भेद के अनुभवकाल में अन्यदेशगतभेद से सम्बद्ध सद्रूपत्व का अनुभव नहीं होता, किन्तु फिर भी जब अन्यदेशगत भेद अनुभवगोचर होता है उस काल में प्रथम देशगत सद्रूपत्व का भी भान होता है – इस तरह उत्तरकाल में अनुगताकार अभेद बोध हो सकेगा।'' – तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि अन्यदेश के भेद का जब अनुभव होगा तब उसी में रहे हुए सद्रूपत्व का भान होगा, किन्तु उस में रहे हुए सद्रूपत्व का ऐसा भान नहीं होगा कि यही पूर्वोपलब्ध भेद में भी था। कारण, जब अन्यदेशगत भेद अनुभवगोचर हो रहा है उस काल में पूर्व देश के भेद का संनिधान न होने से प्रतिभास नहीं हो सकता, अतः उस में रहने वाला सद्रूपत्व भी दर्शनगोचर होने की क्षमता शून्य है। अब दिखाईये कि एकदेश में रहे हुए सद्रूपत्व का अनुभव होने समय अन्य अन्य देशगत भेद के समन्वय करने वाले सद्रूपत्व का, यानी सर्वदेशगत भेद में रहे हुए सद्रूपत्व का एक साथ कैसे अनुभव हो सकता है ? !

★ प्रत्यभिज्ञा से, अनुगतसद्रूपत्व का अवगम असम्भव ★

पूर्वपक्षी : भिन्न भिन्न देशों में रहे हुए भेदों में अनुगतस्वरूप से रहा हुआ सद्रूपत्व भास ही प्रत्यभिज्ञा से सिद्ध होता है।

उत्तरपक्षी : यह दिखाईये कि प्रत्यभिज्ञा क्या है ? प्रत्यक्षरूप ही है या ... ! यदि प्रत्यक्षरूप ही है, तब

यमभेदहशमुपजनयति । – तदप्यसत् यतः स्मृतिसहायमपि लोचनं पुरः सन्निहित एव घटादिभेदे तत्क्रोडीकृतसद्रूपत्वे च प्रतिपत्तिं जनयितुमलम् न पूर्वदर्शनप्रतिपन्ने भेदान्तरे, तस्याऽसंनिधानेनाऽतद्विषयत्वात् गन्धस्मृतिसहकारिलोचनवत् 'सुरभि द्रव्यम्' इति प्रतिपत्तिं गन्धवद्द्रव्ये । तन्न सद्रूपत्वप्रतितित्तिरत्र भेदे स्फुटवपुः प्रतिपत्तिमभिसन्धत्ते ।

अथेन्द्रियवृत्तिः न स्मरणसमवायिनी करणत्वात् इति नासौ प्रतिसन्धानविधायिनी, पुरुषस्तु कर्तृतया स्मृतिसमवायी तेन चक्षुषा परिगतेऽर्थे तद्दर्शितपूर्वभेदात्मसातकृतसद्रूपत्वं संधास्यति । तदप्यसत्, यतः सोऽपि न स्वतन्त्रतयैकत्वं प्रतिपत्तुं समर्थः किन्तु दर्शनसव्यपेक्षः, दर्शनं च न प्रत्यक्षं पूर्वापरकालभाव्यपरापरदेशव्यवस्थितघट-पटादिभेदक्रोडीकृतसन्मात्राऽभेदग्रहणमिति न तदुपायतः आत्माप्यभेदप्रतिपत्तिसमर्थः । यदि पुनः दर्शननिरपेक्ष एवात्मा अभेदग्राहकः स्यात् तदा स्वाप-मद-मूर्च्छाद्यवस्थायामपि तस्य सद्भावाभ्युपग- मादभेदप्रतिपत्तिर्भवेत्, न च स्मरणसव्यपेक्षोऽसौ तद्ग्राहकः स्मरणस्य बहिरर्थे प्रा-

तो वह संनिहितवस्तुग्राही होता है अतः उस में स्फुरित होने वाला सद्रूपत्व अन्य अन्य देश के घट-वस्त्रादि में भी अनुयायि = अनुगत है, एक है, यह कैसे सिद्ध हो सकता है ? तात्पर्य, प्रत्यभिज्ञा को प्रत्यक्षरूप नहीं मान सकते । यदि कोई बीच में पूछ ले कि – "इन्द्रियव्यापार से उत्पन्न होने वाला ज्ञान प्रत्यक्ष होता है, प्रत्यभिज्ञा भी उसी से उत्पन्न होती है तो उसे प्रत्यक्षरूप क्यों न माना जाय ? भेदवादि (यानी बौद्धवादी) भी कल्पनामुक्तमूर्त्तिवाले भेदप्रकाशक विशद दर्शन को इन्द्रियव्यापारजन्य होने के कारण ही प्रत्यक्षरूप मानते हैं न ! तो प्रत्यभिज्ञा में भी समानरूप से इन्द्रियव्यापारजन्यत्व के जरिये प्रत्यक्षरूपता क्यों नहीं" ? – तो कहना होगा कि यह प्रश्न गलत है, यदि वास्तव में दूसरे देश के भेद में पूर्वदृष्ट भेद के अन्वयी सद्रूपत्व को विषय करने वाली प्रतीति का शरीर सिर्फ इन्द्रियव्यापार से ही जन्मा होता तो प्रथम देशगत भेद का दर्शन भी इन्द्रिय व्यापार से ही जनित है तो उसी काल में अन्य देशगत भेदों में अन्वयि सद्रूपत्व का बोध हो जाना चाहिये। यदि कहें कि – "प्रथम देशगत भेद के अनुभवकाल में उत्तरकाल में देखे जाने वाले भेदों की स्मृति न होने से उन के एकत्व का भान प्रथमदेशगत भेद के दर्शनकाल में नहीं होता । तात्पर्य, जब दूसरी बार अन्य देशगत भेद का दर्शन जन्म लेता है तब पूर्वदर्शन से उत्पन्न संस्कारों के जागृत होने पर उत्पन्न होने वाली पूर्वदृष्ट भेद की स्मृति के सहयोग से, यहाँ इन्द्रिय के द्वारा अभेददर्शन का जन्म होता है ।" – तो यह विधान भी गलत है, चूँकि स्मृति का सहयोग मिलने पर भी इन्द्रिय अपनी मर्यादा का भंग नहीं करेगी, अतः लोचन तो सन्मुख रहे हुए घटादि भेद और उस में अन्तर्गत सद्रूपत्व का ही दर्शन उत्पन्न करने में समर्थ हो सकता है, पूर्व दर्शन में लक्षित होने वाले अन्य भेद का बोध वर्त्तमान में उत्पन्न करने में इन्द्रियसामर्थ्य नहीं होता । कारण, उस काल में पूर्वदृष्ट भेद उस का संनिहित न होने से उस का विषय बनने का सौभाग्य उस में नहीं है । सुगंधि द्रव्य के उदाहरण से यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है – सुगन्ध की स्मृति का सहयोग रहने पर भी दूर से चन्दनकाष्टद्रव्य दृष्टिसमक्ष आ जाय तो लोचन से 'सुगन्धि द्रव्य' ऐसा प्रत्यक्ष नहीं होता । अर्थात् उस द्रव्य के साथ साथ सुगन्ध का भी (जैसा नासिका से होता है वैसा) प्रत्यक्षानुभव शक्य नहीं है । सारांश, प्रत्यभिज्ञा को प्रत्यक्षरूप मानने पर अथवा स्मृति सहयुक्त प्रत्यक्षरूप मानने पर भी अन्यदेशगत भेद के अनुभवगोचर होते हुये पूर्व भेदान्वयि सद्रूपत्व का भान साथ साथ होने की बात अनुभवसिद्ध नहीं है ।

माण्यानुपपत्तेः । गृहीतार्थाध्यवसायि हि स्मरणम् न चाभेदः पूर्वापराध्यक्षाधिगतः इति न स्मरणस्यापि तत्र प्रवृत्तिर्युक्तिमती । न च प्रत्यभिज्ञानसव्यपेक्षोऽसौ तत्र प्रवर्त्तते इति कल्पना संगता, प्रत्यभिज्ञानस्य देशभिन्नपट-पटादिपरिग्रहरूपाभेदावगमहेतुत्वेन निषिद्धत्वात् [३११-५] । न चात्मनोऽपि व्यापित्वं सिद्धम् तस्य पूर्वं निषिद्धत्वात् [प्रथमखंडे]। तत्र देशाऽभेदादभेदः सन्मात्रस्य कुतश्चित् प्रमाणादवगन्तुं शक्यः ।

नापि पूर्वापरकालसम्बन्धित्वं सन्मात्रस्याभेदः प्रत्यक्षविषयः । तथाहि – प्रत्यक्षं पूर्वापरविविक्तवर्त्तमानमात्रपरिच्छेदस्वभावं न कालान्तरपरिगतिमुद्द्योतयितुं प्रभुरिति न तदवसेयोऽभेदः । अध्यक्षमात्रपरिगतमेव वस्तुरूपं गृह्यते इति तदेवास्तु । तथाहि– उपलम्भः सत्तोच्यते उपलब्धिश्च सर्वाक्षान्वया वर्त्तमानमेव रूपमुद्भासयति अक्षस्य वर्त्तमान एव व्यापारोपलम्भात् तदनुसारिणी चाध्यक्षप्रतीतिरक्षगोचरमेव पदार्थस्वरूपमुद्भासयितुं प्रभुरिति दर्शनविषयो वर्त्तमानमात्रं सदिति स्थितम् । अथापि स्यात् यद्यप्यक्षानुसारिणी दर्शनोद्भेदे साम्प्रतिकरूपप्रतिभासस्तथापि कथमध्यक्षावसेयः पूर्वापरक्षणभेदः ? मध्य-

★ अभेदानुसन्धान के लिये आत्मा असमर्थ ★

पूर्वपक्षी : इन्द्रिय का व्यापार करण है, करण फलोत्पादक होता है किन्तु फलाश्रय = फलसमवायि नहीं होता, अतः वह स्मरण का भी समवायी नहीं होता । यही कारण है कि वह पूर्वापर भेदों के एकत्व का प्रतिसन्धान कर नहीं पाता । किन्तु पुरुष = आत्मा तो स्वयं कर्त्तारूप में स्मरण का उपादान कारण होने से समवायि है, पहले आत्मा में एक भेद का दर्शन हुआ और बाद में दूसरे भेद के दर्शन काल में पूर्वदृष्टभेद का स्मरण हुआ तब आत्मा दर्शनगृहीत अर्थ और पूर्वदृष्ट अर्थ के अभेद का यानी अन्वयि सद्रूपत्व का अनुसंधान कर सकेगा ।

उत्तरपक्षी : यह मान्यता गलत है । कारण, आत्मा भी स्वतन्त्ररूप से एकत्व = अभेद का अनुसंधान करने में सक्षम नहीं है, करेगा तो भी दर्शन के सहयोग से ही करेगा । यह दर्शन ऐसा प्रत्यक्ष नहीं है कि जो पूर्वदेशस्थित और अपरदेशस्थित पट-वस्त्रादि भावों में अन्तर्गत सन्मात्ररूप से अभेद का ग्रहण कर सके, क्योंकि पूर्वदृष्ट पदार्थ उस का विषय ही नहीं है । फलतः दर्शन के सहयोग से भी आत्मा अभेदानुसंधान के लिये सक्षम नहीं हो सकता ।

यदि दर्शन के सहयोग के बिना स्वतन्त्ररूप से ही आत्मा अभेदग्रहण के लिये सक्षम हो जाय तब तो निद्रा–नशा और बेहोशी की दशा में भी आत्मा मौजूद रहने से अभेद का अनुसंधान जारी रहना चाहिये । स्मरण के सहयोग से भी वह अभेदग्राही नहीं हो सकता, क्योंकि स्मरण बाह्यार्थ के विषय में प्रमाण नहीं माना जाता । स्मरण से कभी बाह्यार्थ की सिद्धि नहीं होती । स्मरण तो पूर्वदृष्ट अर्थ का अध्यवसायि होता है । अभेद तो न पूर्वदर्शन से दृष्ट है न उत्तरदर्शन से, अतः उस के ग्रहण के लिये स्मरण की प्रवृत्ति युक्तिबाह्य है । प्रत्यभिज्ञा के सहयोग से आत्मा अभेदग्राही हो सके ऐसी सम्भावना भी संगत नहीं है । कारण, प्रत्यभिज्ञान में भिन्नदेशवर्त्ती पट-वस्त्रादि अन्तर्गत सद्रूपतात्मक अभेदग्रहण की हेतुता का पहले निषेध किया हुआ है । यदि ऐसा कहें कि – "आत्मा व्यापक होने से पूर्वदेशगत भेद और उत्तरदेशगत भेद दोनों का एक साथ दर्शन कर के अभेदानुसंधान कर सकेगा" – तो यह भी गलत कल्पना है क्योंकि पहले (१ खंड में) ही उस की व्यापकता का निषेध किया जा चुका है । निष्कर्ष, देश-अभेद से सन्मात्र भावों का अभेद किसी भी प्रमाण

मक्षणस्य परमाणोरण्वन्तरात्ययकालतुलितमूर्तिः क्षणभेदः स चाध्यक्षस्य मध्यक्षणदर्शित्वेऽपि न तद्गम्यः सिद्ध्यति । न सदेतत् – यतो यस्य न पूर्वत्वम् नाप्यपरकालसम्बन्धः समस्ति स पराकृतपूर्वापरविभागः क्षणभेदव्यवहारमासादयति, न हि पूर्वापरकालस्थायितयाऽगृह्यमाणो भावोऽभेदव्यपदेशभाग् भवति। कालान्तरव्यापितामनुभवन्तो हि भावाः 'नित्याः अभेदिनो वा' इति व्यपदेशभाक्त्वमासादयन्ति । न च तत्राध्यक्षप्रत्ययः प्रवर्त्तते, भावि-भूतकालमाननतायामनुस्मृत्योरेव व्यापारदर्शनात् । तथाहि – 'इदं पूर्वं दृष्टम्' इति स्मरन्नध्यवस्यति जनस्तथास्थिरावस्थादर्शनात् । भाविकालस्थितिमधिगच्छत्यनुमानात् दर्शनपथमवतरतोऽर्थस्येति न परिस्फुटसंवेदनपरिच्छेद्यः कालभेदः । न हि भूतावस्था भाविकालता वा स्फुटदृशां विषय इति कथमध्यक्षगम्योऽभेदः ?

ननु क्षणभेदोऽपि न संविदोल्लिख्यत इति कथं तद्ग्राह्यः ? असदेतत् – यतोऽभेदविपर्यासः क्षणभेद उच्यते, कालान्तरस्थितिविपर्यासे च मध्यक्षणसत्त्वमेव गृह्णता प्रत्यक्षेण कथं न क्षणभेदोऽधि-

---

से अनुभवगोचर होने की शक्यता नहीं है ।

★ अभेदसाधक पूर्वापरकालसम्बन्धिता असिद्ध ★

'देश-अभेद से अभेद' के असम्भव की तरह कालाभेद यानी पूर्वापरकालसम्बन्धिता के आधार पर सन्मात्र के अभेद की सिद्धि भी असम्भव है क्योंकि वह प्रत्यक्षगम्य नहीं है । देखो–प्रत्यक्ष का स्वभाव है पूर्वापरकाल के बारे में चुप्पी साध कर सिर्फ वर्त्तमान वस्तु को प्रकाशित करना । अतः वह एक वस्तु की अन्यकाल में व्यापकता को प्रकाशित कर नहीं सकता, तब उस से कालाभेद से वस्तु-अभेद का अवगम कैसे हो सकेगा ? प्रत्यक्ष तो सिर्फ अपने काल में व्याप्त वस्तुरूप को ही ग्रहण करता है इस लिये वही रूप सत्य मानना होगा न कि अभेद । देखिये – जो वस्तु सत् होती है उस का सत्त्व (= सत्ता) क्या है ? उस वस्तु का उपलंभ ही उस का सत्त्व है । एक एक इन्द्रियों से जिस जिस वस्तु का उपलम्भ होता है उन सभी में वर्त्तमान वस्तु के प्रकाशन में ही इन्द्रिय समर्थ होती है । अतः इन्द्रियव्यापार से उत्पन्न प्रत्यक्षप्रतीति में इन्द्रियगोचर पदार्थस्वरूप को प्रकाशित करने का ही सामर्थ्य होता है । इस से यह सिद्ध होता है कि दर्शन का विषय जो वर्त्तमान मात्र है वही सत् है, अभेद पूर्वापरकालावलम्बि होने के कारण सत् नहीं है ।

आशंका : इन्द्रियव्यापारानुसारी दर्शन का उदय होने पर साम्प्रतकालीन रूप का ही प्रतिभास होता है यह ठीक है, किन्तु आप के भेदवाद में भी पूर्वापरपक्षणभेद पूर्वापरक्षणावलम्वी है और पूर्वापर क्षण तो इन्द्रियगोचर नहीं है तो पूर्वापरक्षणभेद कैसे प्रत्यक्षगम्य माना जाय ? मध्यमक्षण के परमाणु को एक अणुपरिमाण क्षेत्र में गति करने के लिये जितना काल व्यतीत हो वही क्षणभेद है । प्रत्यक्ष में मध्यमक्षण का दर्शन होने पर भी क्षणभेद का दर्शन नहीं होता है ।

उत्तर : यह वक्तव्य यथार्थ नहीं है । क्षणभेद का व्यवहार तो इस प्रकार होता है कि जिस की हस्ती पूर्व में न हो और उत्तरक्षण के साथ भी जिस का सम्बन्ध न हो वही क्षण भेद है । प्रत्यक्ष में जिसके पूर्वापर क्षण नहीं भासते ऐसा ही क्षणभेद प्रकाशित होता है । पूर्वापर काल में स्थायि अस्तित्व रूप से जो गृहीत न होता हो ऐसा भाव अभेदव्यवहारशालि नहीं होता । जिन भावों की कालान्तरस्थायिता अनुभवगोचर होती हो उन्ही भावों का 'नित्य' अथवा 'अभिन्न' पदों से व्यवहार होता है, किन्तु प्रत्यक्षप्रतीति कालान्तरग्रहण के

गतः ? अथ यदि नामाध्यक्षधीरभेदं नाधिगच्छति तदुत्थापितमनुमानं तु प्रत्याययिष्यति । तथाहि – स्थिरावस्थमर्थानामुपलभ्य वर्षादिस्थितिमधिच्छन्ति व्यवहारिणः 'यतो यदि ध्वंसहेतुरस्य न संनिहितो भवेत् तदा वर्षादिकमेष स्थास्यति' । इति, अतो यस्य सहेतुको विनाशः तस्य तद्धेतुसंनिधानमन्तरेण स्थितिसद्भावः इति कालभेदः यस्य तु मन्दरादेर्नाशहेतुर्न विद्यते स सर्वदा स्थितिमनुभवतीत्युभयथाप्यभेदोऽनुमानावसेयः । असदेतत् – यतो यत्राध्यक्षं न प्रवृत्तम् नापि प्रवर्त्तते नापि प्रवर्तिष्यते अभेदे न तत्रानुमितिः प्रवर्त्तते । न च कालान्तरस्थायी भावोऽक्षजप्रत्ययेनावगतः यदि पुनर्वर्त्तमानकालतावभास्यक्षजप्रत्ययः कालान्तरस्थितिमवभासयति तदा स्पष्टमवगत एवाभेद इति किमनुमानेन ? अथ कालान्तरभाविनाऽध्यक्षेण कालान्तरस्थितिरधिगम्यते । तदप्ययुक्तम् यत उत्तरकालभाव्यपि दर्शनं तत्कालमेवार्थमधिगन्तुं प्रभुर्न पूर्वसत्तावगाहीति कथं तदप्यभेदावभासि ? न च वर्त्तमानाध्यक्षेण प्रतिभाति वस्तुनि अतीतादिकालसम्बन्धिताधिगमं विना तदभेदावगमः सम्भवति ।

लिये प्रवर्त्तमान नहीं होती, भूतकाल के ग्रहण में स्मृति और भविष्यकाल के ग्रहण के लिये अनुमान की ही प्रवृत्ति होती दिखाई देती है । कैसे यह सुनिये – पूर्वापर काल में स्थायि-अवस्थावाले अर्थ के दर्शन से ज्ञाता को 'यह पहले देखा था' ऐसा स्मृतिगर्भित भूतकालसंबन्धि अध्यवसाय होता है । तथा दर्शन के विषय बने हुए पदार्थ की भाविकालस्थिति का बोध अनुमान से होता है । किन्तु स्पष्टसंवेदनात्मक दर्शन से कभी कालभेद का बोध नहीं होता । जब वस्तु की भूतकालीन एवं भाविकालीन स्थिति स्पष्टदर्शन का विषय ही नहीं है तो उन से मिलित अभेद कैसे प्रत्यक्षगम्य हो सकता है ?!

★ प्रत्यक्षजन्य अनुमान से अभेदग्रह अशक्य ★

प्रश्न : आप कहते हैं अभेद का उल्लेख प्रत्यक्ष में नहीं होता, तो क्षणभेद का भी उल्लेख संवेदन में नहीं होता फिर कैसे उस को प्रत्यक्षग्राह्य कहेंगे ?

उत्तर : प्रश्न गलत है, क्योंकि अभेद का विपर्यास यानी अभेद से उल्टा है वही क्षणभेद कहा जाता है । कालान्तरस्थिति तो प्रत्यक्षगम्य नहीं है, तब उस का विपर्यास ही गृहीत रहना चाहिये अतः सांप्रतकाल के सत्त्व का प्रत्यक्ष से ग्रहण होता है वही क्षणभेद का ग्रहण कैसे नहीं है ?!

आशंका : प्रत्यक्षबुद्धि भले अभेद का उल्लेख न कर सके, किन्तु प्रत्यक्षजन्य अनुमान से तो उस की प्रतीति हो सकती है । कैसे यह देखिये – व्यवहारी जन पदार्थों की स्थिरावस्था को प्रत्यक्ष से देखते हैं, बाद में अनुमान से पता लगा लेते हैं कि यह चीज एक या दो साल... यावत् शाश्वतकाल तक रहेगी । जैसे, अगर इस चीज का विनाशक हेतु जब तक प्राप्त नहीं हुआ तब तक यह चीज (आधार-मुंबका आदि) वर्ष भेद वर्ष तक रहेगी । इस प्रकार यह सामान्य से भी अनुमान करते हैं कि जिस चीज का विनाश कारणाधीन है वह विनाशककारण की प्राप्ति न हो तब तक स्थितिधारी रहेगा – यही कालभेद का अनुमान है । मेरुपर्वत आदि जिस का कोई विनाशकारण तीनों काल में नहीं है, वह शाश्वत काल के लिये स्थितिधारी रहेगा । यह भी कालाभेदग्रहण ही है । दोनों में अनुमान से कालाभेद का ही उल्लेख होता है ।

उत्तर : यह भी गलत मान्यता है, क्योंकि जिस चीज का (यानी कालान्तर का) उल्लेख करने के लिये प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति न कभी भूतकाल में हुई, न वर्तमान में होती है, न भविष्य में भी होगी उस चीज का यानी कालान्तर-अभेद के ग्रहण में अनुमान की प्रवृत्ति भी नहीं हो सकती, क्योंकि पूर्वकाल में प्रत्यक्ष...

एव 'अदर्शनम् अभावः' इति । अर्थक्रियाविरहोप्यभाव एव, स च परिदृश्यमानस्य 'नास्ति' इत्यदर्शनयोग्य एव विद्यते । तथा चादर्शनमेवाभावः भावाऽदर्शनस्वरूपो नाशः मुद्गरादिव्यापारात् प्रागपि भावस्यास्तीति न तज्जन्यो ध्वंस इति 'अदृश्यमानोप्यस्ति' इति विरुद्धमभिहितं स्यात् ।

यदपि मुद्गरपातानन्तरमदर्शने न पुनः केनचिद् दृश्यते घटादिः, अक्षव्यापाराभावे तु नरान्तरदर्शने प्रतिभाति तथा स्वयमप्यक्षव्यापारे पुनरुपलभ्यते, मुद्गरव्यापारवेलायां तु चक्षुरुन्मीलनेऽपि न स्वयं पुरुषान्तरेण वा गृह्यत इति तदेव तस्य नाशः इति तदप्यसंगतम् – यतः पुनदर्शनं किं पूर्वदृष्टस्य उतान्यस्येति कल्पनाद्वयम् । यदि पूर्वाधिगतस्यैवोत्तरकालदर्शनम् तदा सिद्धयत्यभेदः किंतु 'तस्यैवोत्तरदर्शनम्' इत्यत्र न प्रमाणमस्ति । अथापरस्य दर्शनम् न तर्ह्यभेदः । अथ यदनवरतमविच्छेदेन ग्रहणं तदेव स्थायित्वग्रहणम् । नन्वविच्छेददर्शनं नामानन्यदर्शनम् तच्चाऽसिद्धम् परस्पराऽसङ्घटितवर्त्तमानसमय-

---

हेतुक क्यों माना जाय ? ध्वंस तो उस का मोगर आदि के व्यापार के विना ही अदर्शन मात्र से सम्भवित है ।

आशंका : वर्त्तमान में पूर्वभाव का अदर्शन होता है, लेकिन अभाव नहीं होता, मोगर प्रहार के पश्चात् उस का सिर्फ अदर्शन ही नहीं होता अभाव भी होता है ।

उत्तर : ऐसा नहीं है, आप अदर्शन से अभाव को अलग मानते हैं तो कहिये कि अभाव क्या होता है – 'भाव का अस्त हो जाना' या 'अर्थक्रियाशून्य हो जाना' ? 'अस्त हो जाना' 'दर्शन न होना' और 'अभाव होना' ये तो एक ही बात है सिर्फ शब्दभेद है । 'अर्थक्रियाशून्यता' रूप जो अभाव है उस का भी यही मतलव है कि वर्त्तमान में दिखाई देनेवाले भाव में पूर्वकालीन अर्थक्रिया नहीं है अथवा वह अव दर्शनयोग्य नहीं है यानी अदर्शनयोग्य है । इसका भी मतलव यही हुआ कि अदर्शन ही अभाव है । ऐसा 'भाव का अदर्शन' स्वरूप जो नाश है वह तो मोगरप्रहार के पहले भी विद्यमान है इस से ही फलित होता है कि मोगरप्रहार नाशहेतु नहीं है । और जो कहा कि 'अदर्शन है किन्तु अभाव नहीं है' यह भी ठीक नहीं, क्योंकि 'दिखता नहीं फिर भी मौजूद है' ऐसा कहने में विरोध स्पष्ट है ।

★ मुद्गरघातादिकाल में ही नाश का अभ्युपगम अप्रामाणिक ★

आशंका :- अदर्शन और अभाव भिन्न भिन्न हैं । मोगर प्रहार के पश्चात् घट किसी को भी नहीं दिखाई देता, जब कि अपनी दृष्टि घट के ऊपर से खिंच लेने के वाद भी अन्य पुरुष को उसका दर्शन होता है तथा अपनी दृष्टि पुनः वहाँ ले जाने पर अपने को भी फिर से उसका दर्शन होता है । मोगरप्रहार हो गया तव तो दृष्टि वहाँ डालने पर भी अपने को या दूसरे किसी को उस का दर्शन नहीं होता । इस से फलित होता, है कि सिर्फ अदर्शन अभाव नहीं है किन्तु मोगर-प्रहार काल में होनेवाला नाश अभाव है ।

उत्तर :- यह विधान असंगत है । कारण, यहाँ दो विकल्प प्रश्न हैं कि जो पुनः दृष्टि डालने पर दिखता है वह पूर्व दृष्ट ही है या अन्य है ? हाँ, यदि पूर्व में देखा था उसी को फिर से देखते हो, तव तो अभेद सिद्ध हो सकता है, किन्तु इस वात में कोई प्रमाण नहीं है कि पूर्व में देखा था उसका ही फिर से दर्शन होता है । यदि पूर्व का दर्शन न हो कर दूसरे का ही दर्शन होता है तव तो अभेदसिद्धि निरवकाश है ।

"जो निरन्तर अविच्छेदरूप से यानी वीच में कहीं दृष्टि हठाये विना एक चीज दिखती है यही तो स्थायित्व

सम्बद्धपदार्थप्रतिभासनात् । अथ वर्त्तमानदर्शने पूर्वरूपग्रहणम्, ननु न प्रत्यक्षेण पूर्वरूपग्रहणम् तत्र वर्त्तमाने ग्रहणप्रवृत्तस्य तस्य पूर्वत्राऽप्रवर्त्तनात् । न चाऽप्रवर्त्तमानं तत् तत्र तदविच्छेदं स्वावभासिनोऽवगमयितुं समर्थम् येन नित्यताधिगतिर्भवेत् । वर्त्तमानग्रहणपर्यवसितं ह्यध्यक्षं तत्कालार्थपरिच्छेदकमेव, न पूर्वापरयोस्तेन एकताऽधिगन्तुं शक्या । न स्मृतिरेव पूर्वरूपतां तत्र संघटयति, सा च स्वग्रहणपर्यवसितव्यापारत्वाद् बहिरर्थमनुद्भासयन्ती न पूर्वापरयोस्तत्त्वसंघटनक्षमा । तत्र निरन्तरदर्शनेऽप्यभेदावगतिरध्यक्षतः ।

न च पूर्वापरदर्शनयोरभेदप्रतिपत्तावसामर्थ्येऽप्यात्मा वर्त्तमानसमयसंगतस्य पूर्वकालतामधिगच्छति, दर्शनरहितस्य स्वापाद्यवस्थास्विव तस्याप्यभेदप्रतिपत्तिसामर्थ्यविकलत्वात् । प्रत्यक्षा च संविद् न पूर्वापरयोर्वर्त्तते तदप्रवृत्तौ चानुमानमपि न तत्र प्रवर्त्तितुमुत्सहते, स्मरणस्य च प्रामाण्यमतिप्रसंगतोऽनुपपन्नमिति नात्मापि स्थायितामधिगच्छति । न चात्मनोऽप्यात्मा कालान्तरानुगतिमवगमयति, वर्त्तमानता-

का दर्शन है'' – ऐसा कहने पर कहना पडेगा कि अविच्छेदरूप से एक चीज का दर्शन कहो या अनन्यदर्शन कहो इस में तो कुछ फर्क नहीं लेकिन वही कहाँ सिद्ध है ? एक-दूसरे से अमिलित ऐसे वर्त्तमानसमयसम्बद्ध ही पदार्थ प्रत्यक्ष में दिखाई देता है । यदि ऐसा ही कहा जाय कि – जब वर्त्तमानसम्बद्ध पदार्थ को देखते हैं तब उसमें पूर्वगृहीतरूप भी दिखता है– तो यह ठीक नहीं है क्योंकि वर्त्तमानसमयसम्बद्ध वस्तु को देख कर दृष्टा उसी के ग्रहण में सक्रिय होता है, पूर्वगृहीतरूप के ग्रहण में सक्रिय नहीं होता, इस से यही फलित होता है कि प्रत्यक्ष से पूर्वगृहीतरूप का ग्रहण नहीं होता । जब प्रत्यक्ष पूर्वगृहीत रूप के ग्रहण में प्रवृत्त ही नहीं होता तब अविच्छेदरूप से अपने विषय को प्रकाशित करने में भी वह समर्थ नहीं हो पाता, यदि समर्थ होता तब तो नित्यत्व सिद्ध हो जाता । हकीकत यह है कि वर्त्तमान काल के ग्रहण में ही समर्थ होने वाला प्रत्यक्ष सिर्फ वर्त्तमानकालीन अर्थ का ही बोधक हो सकता है, पूर्व-उत्तर भावों की एकता को प्रकाशित करने की गुंजाईश उसमें नहीं होती । स्मृति से भी पूर्वरूपता का संयोजन सम्भव नहीं है, क्योंकि वह तो अपने विषय के ग्रहण में रत रहती है, बाह्यार्थ की ओर देखती भी नहीं, तब वह पूर्वदृष्ट और वर्त्तमानकालीन बाह्यार्थ का एकीकरण कैसे करेगी ? सारांश, कुछ काल तक निरन्तर दर्शन के आधार पर भी प्रत्यक्ष से अभेद का बोधन दुष्कर है ।

★ आत्मा के द्वारा अभेद प्रतिपत्ति अशक्य ★

यदि कहा जाय – पूर्वदर्शन और उत्तर दर्शन अन्योन्यस्पर्शक न होने से वस्तु के अभेद प्रकाशन में अक्षम होने पर भी, आत्मा है जो वर्त्तमान समयवर्त्ती अर्थ में पूर्वकालवृत्तित्व का अनुसंधान कर लेता है – तो यह भी शक्य नहीं है । कारण, निद्रादिअवस्था में आत्मा को किसी भी वस्तु का भान नहीं रहता इस से इतना तो निश्चित है कि दर्शन के बिना वह अकेला स्वयं वस्तु-बोध कर लेने के लिये असमर्थ है, और यह भी है कि दर्शन से अभेदग्रहण नहीं होता है; तो उसके आधार पर आत्मा भी अभेदग्रहण के लिये कैसे समर्थ होगा ? [illegible] पूर्वदर्शन और उत्तरदर्शन में [illegible] नहीं होने से वह [illegible] पूर्व-उत्तर [illegible] दिखाने में असमर्थ है [illegible] के आधार पर [illegible] अनुमान भी [illegible] के ग्रहण में समर्थ नहीं है [illegible] । [illegible] स्मरण [illegible] में [illegible] होने की [illegible] होगा, अतः वह प्रमाण नहीं है इसलिये उस से पूर्वोत्तर-[illegible] में [illegible] [illegible] की सिद्धि होना [illegible]

न चाध्यक्षं पूर्वापरसमयसमन्वयमर्थसत्त्वमविषयत्वादधिगन्तुमक्षममिति न तद् उद्भासयतीति संदेह एव युक्तः नाऽसत्त्वमिति वक्तव्यम् यत उभयावलम्वी संदेह उभयदर्शने सत्युपजायते यथा ऊर्ध्वतावगमात् पूर्वदृष्टौ एव स्थाणु-पुरुषौ परामृशन् संदेहः प्रतिभाति । न च कालान्तरस्थायित्वं कदाचिदप्यवगतम्, तत् कुतस्तत्र संदेहः ? यः पुनर्भवतां 'कालान्तरस्थायि' इति संदेहः स सदृशापरापरार्थक्रियाकारिपदार्थान् संस्पृशति, 'ते च तथा क्वचिद् दृष्टाः क्वचिद् न' इत्युभयावलम्वी संदेहो युक्तस्तत्र इति यत् प्रतिभाति तत् सकलं क्षणान्तरस्थितिविरहितमिति पदार्थानां सिद्धः क्षणभेदः ।

अथ ध्वंसहेतुसंनिधिविकलोऽध्यक्षगोचरातिक्रान्तोऽपि पदार्थस्तिष्ठति इति कथं क्षणभेदः ? तथाहि – यद्यप्यध्यक्षोदयो पूर्वापरकालसंस्पर्शी तथापि तस्यैव *तत्राऽसामर्थ्याद् न क्षणाऽभेदग्राहित्वम्, तदभावस्तु नाभ्युपगंतुं युक्तः, न हि ग्रहणाभावादेव अर्था न सन्ति – अतिप्रसंगात् । असदेतत्, यतः 'स्थिरमस्थिरतया

का ही कालान्तर में अनुमान से बोध होता है ।

'भाव कालान्तरस्थायी है' ऐसा बोध कभी प्रत्यक्षानुभव में हुआ नहीं है । अरे, वर्त्तमानकालीनत्व का प्रकाशक इन्द्रियजन्य बोध (= प्रत्यक्ष) यदि भाव की कालान्तरस्थिति को भी प्रकाशित करता है – ऐसा आप मानते हैं तब तो प्रत्यक्ष से ही अभेद ज्ञात हो जायेगा, फिर अनुमान की जरूर क्या ? यदि कहें कि – 'इस काल में प्रत्यक्ष से कालान्तरस्थिति का ग्रहण नहीं हो सकता किन्तु कालान्तरभावि प्रत्यक्ष से तो हो सकता है न !' – तो यह भी अनुचित है, क्योंकि उत्तरकालभावि दर्शन उस कालान्तरभावि पदार्थ को जब ग्रहण करता है तब वह पदार्थ वर्त्तमानक्षणभावी ही होता है कालान्तरभावी नहीं अतः उस काल में भी प्रत्यक्ष वर्त्तमानक्षण के ग्रहण में ही सक्षम होता है न कि कालान्तर भावि अर्थ के । तो अब बोलिये कि कालान्तरभावि अध्यक्ष भी कैसे अभेदग्राही होगा ?! वास्तव में तो वर्त्तमान प्रत्यक्ष से जिस वस्तु का भान होता है उस वस्तु के अतीतादिकाल के सम्बन्ध का ग्रहण हुये विना उस के अभेद का बोध असम्भव है ।

★ कालान्तरस्थायित्व में संदेहविषयता भी अशक्य ★

आशंका : पूर्वापरक्षणों में समन्वित अर्थसत्ता अध्यक्ष का विषय न होने के कारण अध्यक्ष उस के ग्रहण में सक्षम नहीं है इस लिये उस से उस का उद्भासन नहीं होता, किन्तु इतने मात्र से पूर्वापर क्षणों में अर्थसत्ता का अभाव निश्चित न होने से संदेह तो हो सकता है ।

उत्तर : यह वक्तव्य ठीक नहीं है । कारण, संदेह पक्ष-विपक्षोभयावलम्वी होता है और वह भी उन दोनों का पूर्व में अलग अलग दर्शन हो चुका रहा हो तभी होता है – उदा० पुरुष और ठूँठ कभी पहले देखे हो, बाद में दूर से कभी उच्चता का दर्शन होने पर यह संदेह होता है कि वह 'पुरुष है या ठूंठ है ?!' प्रस्तुत में 'पूर्वापरकालस्थायिता है या नहीं' अथवा 'वस्तु पूर्वापरकालस्थायि है या पूर्वापरकालअस्थायि है' ऐसा संदेह संभवित नहीं है क्योंकि कालान्तरस्थायित्व पहले कभी भी ज्ञात नहीं है तो फिर संदेह कैसे होगा ? हाँ, आप को जो कालान्तरस्थायिता का संदेह होता है वह तो समान रूप-रंग-आकार अर्थक्रिया वाले अपर अपर पदार्थ को विषय करने वाला होता है । मतलब यह है कि कभी कभी कहीं पर समान अपर अपर पदार्थों का निरंतर

* 'तत्रापि सा०' इति पूर्वमुद्रिते, अत्र तु लिम्बडी-आदर्शानुसारी पाठः ।

वस्तु अध्यक्षे प्रतिभासे प्रतिभाति, उताऽस्थिरम्,' इति संदेह एव युक्तः । अपि च स्थिरमूर्तिर्यदि भावः कथमस्थिरतया दृक्प्रभवे दर्शनेऽवभासेत ? न हि शुक्लं वस्तु पीततया परिस्फुटेऽदुष्टाक्षजे प्रत्यये प्रतिभाति, तयोः परस्परविरोधात् । एवं न स्थिरमस्थिरतया परिस्फुटदर्शने प्रतिभासेत(ऽ)तोऽस्थिरतया प्रतिभासनादध्यक्षगृहीत एव क्षणभेदो भावानाम् ।

न चापेक्षितहेतुसंनिधिर्भावानां विनाशः तदभावे न भवतीति 'स्थायिनो भावा' इति वक्तुं युक्तम् – यतो न नाशहेतुस्तेषां सम्भवति अदर्शनस्यैवाभावरूपत्वात् । आह च 'अनुपलब्धिरसत्ता' [ ] इति । प्रतिभासमाने च पुरो व्यवस्थिते वस्तुनि पूर्वापररूपयोरदर्शनमस्तीति कथं ध्वंसस्य मुद्गरादिहेतुत्वम्, मुद्गराद्यन्तरेणाप्यदर्शनस्य सम्भवात् । न च तदानीमदर्शनमेव नाभाव इति, मुद्गरव्यापारानन्तरं तु घटादेरभावः नाऽदर्शनमात्रम् । यतः कोऽयमभावो नाम – अस्तमयः अर्थक्रियाविरहो वा ? यद्यस्तमयः तदा पर्यायभेद

प्रत्यक्ष दिखता है और कहीं पर नहीं दिखता – इस लिये वैसा संदेह अल्पुत्पन्न को होना सहज है । निष्कर्ष यही है कि दर्शन पूर्वापरक्षण से असृष्ट क्षणमात्र को विषय करता है इस लिये सकल वस्तु क्षणान्तरस्थिति से मुक्त है अर्थात् पदार्थमात्र का क्षणभेद सिद्ध होता है ।

आशंका : क्षणभेद सिद्धि को अब भी अवकाश नहीं है क्योंकि ऐसा भी पदार्थ होता है जो विनाशक सामग्री से बहुत दूर होता है और प्रत्यक्ष की पहुँच से बाहर होता है । कैसे यह देखिये – हालाँ कि प्रत्यक्ष पूर्वापरकालावगाही नहीं होता, किन्तु इसी लिये तो, यानी प्रत्यक्ष में पूर्वापरक्षणग्रहणसामर्थ्य न होने से ही उन क्षणों में वस्तु का अभेद भी ग्रहण नहीं हो सकता । अगर इतने मात्र से कह दिया जाय कि क्षणभेद का अभाव सिद्ध हो गया तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि किसी वस्तु का ग्रहण न होने मात्र से उस का अभाव सिद्ध नहीं होता । अन्यथा बहुत चीजों (इन्द्रियादि) का ग्रहण नहीं होने से उन का भी अभाव मान लेना पड़ेगा ।

उत्तर : यह वक्तव्य गलत है । कारण, वस्तु की प्रतीति सदा क्षणमात्रानुविद्ध ही होती है इस लिये यहाँ संदेह हो सकता है तो ऐसा ही हो सकता है कि 'क्या यहाँ स्थिर वस्तु अस्थिररूप से प्रत्यक्ष में भासित होती है या अस्थिर वस्तु ही उस रूप से भासित होती है ?' इस संदेह का निराकरण भी सोचने पर हो जाता है – भाव की मूर्ति यदि स्थिर है तो वह नेत्रजन्य प्रत्यक्ष में अस्थिर रूप से किस तरह प्रतिबिम्बित हो सकती है ? स्पष्ट एवं निर्दोषनेत्रजन्य प्रत्यक्ष में कभी भी श्वेत चीज का पीतरूप से प्रतिभास नहीं होता, क्योंकि श्वेत-पीत रूपों में परस्पर-परिहार स्वरूप विरोध है । परिणाम, वस्तु यदि स्थिर हो तो अस्थिररूप से उस का स्पष्ट प्रत्यक्ष में प्रतिभास शक्य ही नहीं है क्योंकि स्थिर-अस्थिर परस्परविरुद्ध है । दूसरी ओर वस्तु का अस्थिररूप से (पूर्वापरक्षणमुक्त क्षणमात्र का) प्रतिभास प्रसिद्ध है, अत एव पदार्थों का क्षणभेद सिद्ध हो जाता है ।

★ नाशहेतुविरह में स्थायित्व-सिद्धि की आशा व्यर्थ ★

यदि यह कहा जाय – भावों का विनाश हेतुसंनिधिसापेक्ष है, जब तक हेतु संनिधि नहीं होते तब तक उस का नाश नहीं होता अत एव 'भाव स्थायी हैं' यह कहा जा सकता है – तो यह ठीक नहीं है क्योंकि 'विनाश हेतुसापेक्ष है' ऐसा कहना असंगत है, वास्तव में तो [illegible] [illegible] स्वरूप है । कहा गया है कि 'अनुपलब्धिः [illegible]' । [illegible]

एव 'अदर्शनम् अभावः' इति । अर्थक्रियाविरहोप्यभाव एव, स च परिदृश्यमानस्य 'नास्ति' इत्यदर्शनयोग्य एव विद्यते । तथा चादर्शनमेवाभावः भावाऽदर्शनस्वरूपो नाशः मुद्गरादिव्यापारात् प्रागपि भावस्यास्तीति न तज्जन्यो ध्वंस इति 'अदृश्यमानोप्यस्ति' इति विरुद्धमभिहितं स्यात् ।

यदपि मुद्गरपातानन्तरमदर्शने न पुनः केनचिद् दृश्यते घटादिः, अक्षव्यापाराभावे तु नरान्तरदर्शने प्रतिभाति तथा स्वयमप्यक्षव्यापारे पुनरुपलभ्यते, मुद्गरव्यापारवेलायां तु चक्षुरुन्मीलनेऽपि न स्वयं पुरुषान्तरेण वा गृह्यत इति तदेव तस्य नाशः इति तदप्यसंगतम् – यतः पुनदर्शनं किं पूर्वदृष्टस्य उतान्यस्येति कल्पनाद्वयम् । यदि पूर्वाधिगतस्यैवोत्तरकालदर्शनम् तदा सिद्धयत्यभेदः किंतु 'तस्यैवोत्तरदर्शनम्' इत्यत्र न प्रमाणमस्ति । अथापरस्य दर्शनम् न तर्ह्यभेदः । अथ यदनवरतमविच्छेदेन ग्रहणं तदेव स्थायित्वग्रहणम् । नन्वविच्छेददर्शनं नामानन्यदर्शनम् तच्चाऽसिद्धम् परस्पराऽसङ्घटितवर्त्तमानसमय-

---

हेतुक क्यों माना जाय ? ध्वंस तो उस का मोगर आदि के व्यापार के विना ही अदर्शन मात्र से सम्भवित है ।

आशंका : वर्त्तमान में पूर्वभाव का अदर्शन होता है, लेकिन अभाव नहीं होता, मोगर प्रहार के पश्चात् उस का सिर्फ अदर्शन ही नहीं होता अभाव भी होता है ।

उत्तर : ऐसा नहीं है, आप अदर्शन से अभाव को अलग मानते हैं तो कहिये कि अभाव क्या होता है – 'भाव का अस्त हो जाना' या 'अर्थक्रियाशून्य हो जाना' ? 'अस्त हो जाना' 'दर्शन न होना' और 'अभाव होना' ये तो एक ही बात है सिर्फ शब्दभेद है । 'अर्थक्रियाशून्यता' रूप जो अभाव है उस का भी यही मतलब है कि वर्त्तमान में दिखाई देनेवाले भाव में पूर्वकालीन अर्थक्रिया नहीं है अथवा वह अब दर्शनयोग्य नहीं है यानी अदर्शनयोग्य है । इसका भी मतलब यही हुआ कि अदर्शन ही अभाव है । ऐसा 'भाव का अदर्शन' स्वरूप जो नाश है वह तो मोगरप्रहार के पहले भी विद्यमान है इस से ही फलित होता है कि मोगरप्रहार नाशहेतु नहीं है । और जो कहा कि 'अदर्शन है किन्तु अभाव नहीं है' यह भी ठीक नहीं, क्योंकि 'दिखता नहीं फिर भी मौजूद है' ऐसा कहने में विरोध स्पष्ट है ।

★ मुद्गरघातादिकाल में ही नाश का अभ्युपगम अप्रामाणिक ★

आशंका :- अदर्शन और अभाव भिन्न भिन्न हैं । मोगर प्रहार के पश्चात् घट किसी को भी नहीं दिखाई देता, जब कि अपनी दृष्टि घट के ऊपर से खिंच लेने के बाद भी अन्य पुरुष को उसका दर्शन होता है तथा अपनी दृष्टि पुनः वहाँ ले जाने पर अपने को भी फिर से उसका दर्शन होता है । मोगरप्रहार हो गया तब तो दृष्टि वहाँ डालने पर भी अपने को या दूसरे किसी को उस का दर्शन नहीं होता । इस से फलित होता, है कि सिर्फ अदर्शन अभाव नहीं है किन्तु मोगर-प्रहार काल में होनेवाला नाश अभाव है ।

उत्तर :- यह विधान असंगत है । कारण, यहाँ दो विकल्प प्रश्न हैं कि जो पुनः दृष्टि डालने पर दिखता है वह पूर्व दृष्ट ही है या अन्य है ? हाँ, यदि पूर्व में देखा था उसी को फिर से देखते हो, तब तो अभेद सिद्ध हो सकता है, किन्तु इस बात में कोई प्रमाण नहीं है कि पूर्व में देखा था उसका ही फिर से दर्शन होता है । यदि पूर्व का दर्शन न हो कर दूसरे का ही दर्शन होता है तब तो अभेदसिद्धि निरवकाश है ।

"जो निरन्तर अविच्छेदरूप से यानी बीच में कहीं दृष्टि हठाये विना एक चीज दिखती है यही तो स्थायित्व

सम्बद्धपदार्थप्रतिभासनात्। अथ वर्त्तमानदर्शने पूर्वरूपग्रहणम्, ननु न प्रत्यक्षेण पूर्वरूपग्रहणम् तत्र वर्त्तमाने ग्रहणप्रवृत्तस्य तस्य पूर्वत्राऽप्रवर्त्तनात्। न चाऽप्रवर्त्तमानं तत् तत्र तदविच्छेदं स्वावभासिनोऽवगमयितुं समर्थम् येन नित्यताधिगतिर्भवेत्। वर्त्तमानग्रहणपर्यवसितं ह्यध्यक्षं तत्कालार्थपरिच्छेदकत्वेन, न पूर्वापरयोस्तेन एकताऽधिगन्तुं शक्या। न स्मृतिरेव पूर्वरूपतां तत्र संघटयति, सा च स्वग्रहणपर्यवसितव्यापारत्वाद् बहिरर्थमनुद्भासयन्ती न पूर्वापरयोस्तत्त्वसंघटनक्षमा। तत्र निरन्तरदर्शनेऽप्यभेदावगतिरुणक्षतः।

न च पूर्वापरदर्शनयोरभेदप्रतिपत्तावसामर्थ्येऽप्यात्मा वर्त्तमानसमयसंगतस्य पूर्वकालतामधिगच्छति, दर्शनरहितस्य स्वापाद्यवस्थास्विव तस्याप्यभेदप्रतिपत्तिसामर्थ्यविकलत्वात्। प्रत्यक्षा च संविद् न पूर्वापरयोर्वर्त्तते तदप्रवृत्तौ चानुमानमपि न तत्र प्रवर्त्तितुमुत्सहते, स्मरणस्य च प्रामाण्यमतिप्रसंगतोऽनुपपन्नमिति नात्मापि स्थायितामधिगच्छति। न चात्मनोऽप्यात्मा कालान्तरानुगतिमवगमयति, वर्त्तमानता-

का दर्शन है" – ऐसा कहने पर कहना पड़ेगा कि अविच्छेदरूप से एक चीज का दर्शन कहो या अनन्यदर्शन कहो इस में तो कुछ फर्क नहीं लेकिन वही कहाँ सिद्ध है ? एक-दूसरे से अमिलित ऐसे वर्त्तमानक्षणसम्बद्ध ही पदार्थ प्रत्यक्ष में दिखाई देता है। यदि ऐसा ही कहा जाय कि – जब वर्त्तमानसम्बद्ध पदार्थ को देखते हैं तब उसमें पूर्वगृहीतरूप भी दिखता है– तो यह ठीक नहीं है क्योंकि वर्त्तमानसमयसम्बद्ध वस्तु को देख कर दृष्टा उसी के ग्रहण में सक्रिय होता है, पूर्वगृहीतरूप के ग्रहण में सक्रिय नहीं होता, इस से यही फलित होता है कि प्रत्यक्ष से पूर्वगृहीतरूप का ग्रहण नहीं होता। जब प्रत्यक्ष पूर्वगृहीत रूप के ग्रहण में प्रवृत्त ही नहीं होता तब अविच्छेदरूप से अपने विषय को प्रकाशित करने में भी वह समर्थ नहीं हो पाता, यदि समर्थ होता तब तो नित्यत्व सिद्ध हो जाता। हकीकत यह है कि वर्त्तमान काल के ग्रहण में ही समर्थ होने वाला प्रत्यक्ष सिर्फ वर्त्तमानकालीन अर्थ का ही बोधक हो सकता है, पूर्व-उत्तर भावों की एकता को प्रकाशित करने की गुंजाईश उसमें नहीं होती। स्मृति से भी पूर्वरूपता का संयोजन सम्भव नहीं है, क्योंकि वह तो अपने विषय के ग्रहण में रुक रहती है, बाह्यार्थ की ओर देखती भी नहीं, तब वह पूर्वदृष्ट और वर्त्तमानकालीन बाह्यार्थ का एकीकरण कैसे करेगी ? सारांश, कुछ काल तक निरन्तर दर्शन के आधार पर भी प्रत्यक्ष से अभेद का बोधन दुष्कर है।

★ आत्मा के द्वारा अभेद प्रतिपत्ति अशक्य ★

यदि कहा जाय – पूर्वदर्शन और उत्तर दर्शन अन्योन्यव्यापक न होने से वस्तु के अभेद प्रकाशन में अक्षम होने पर भी, आत्मा है जो वर्त्तमान समयवर्त्ति अर्थ में पूर्वकालवृत्तित्व का अनुसंधान कर लेता है, – तो यह भी शक्य नहीं है। कारण, निद्रादिअवस्था में आत्मा को किसी भी वस्तु का भान नहीं रहता इस से इतना तो निश्चित है कि दर्शन के बिना यह (आत्मा) स्वयं वस्तु-बोध कर लेने के लिये असमर्थ है, और यह भी है कि दर्शन से अभेदग्रहण नहीं होता है; तो उसके आधार पर आत्मा भी अभेदग्रहण के लिये कैसे समर्थ होगा? प्रत्यक्ष संवेदन पूर्वक्षण और उत्तरक्षण में व्यापक नहीं होने से वह जब पूर्व-उत्तर भाव की एकता दिखाने में असमर्थ है, तब प्रत्यक्ष के आधार पर प्रवृत्त होने वाला अनुमान भी एकता के प्रकाशन में सक्षम नहीं हो सकता। [illegible] यदि [illegible] अतीत में प्रवृत्त होने से [illegible] होगा, अतः वह प्रमाण नहीं है इसलिये उस से पूर्वोत्तर-एकत्वग्रहण से [illegible] सिद्ध [illegible]

लपरिगतस्यैव परिस्फुटरूपतया तस्यापि प्रतिभासनात् । न च स्वसंविदेव आत्मनः स्थायितामुद्भासयति, अतीतानागतसकलदशावेदनप्रसक्तेः अतीताऽनागतजन्मपरम्परापरिच्छेदः स्यात् । न चातीतानागतावस्था तत्संवेदने न प्रतिभाति तत्सम्बन्धी तु पुमाँस्तत्रावभासत इति वक्तुं क्षमम्, यतस्तदवस्थाऽनवगमे तद्व्यापितया तस्याप्यनवगमात् । वर्त्तमानदशा हि स्वसंवेदने प्रतिभातीति तत्परिष्वक्तमेवात्मस्वरूपं तद्विषयः, भूत-भाविदशानां तु तत्राऽप्रतिभासने तद्गतत्वेनात्मनोऽप्यप्रतिभासनमिति न स्वसंवेदनादपि तदभेदप्रतिपत्तिः ।

अथ प्रत्यभिज्ञा पदार्थानां स्थायितालक्षणमभेदमवगमयति । ननु केयं प्रत्यभिज्ञा ? अथ 'स एवायम्' इति निर्णयः । नन्वयमपि प्रत्यक्षम् अनुमानं वा ? न तावत् प्रत्यक्षम्, विकल्परूपत्वात् । नाप्यनुमानम्, अवगतप्रतिबद्धलिंगानुद्भूतत्वात् । न चाक्षव्यापारे सति 'स एवायम्' इति पूर्वापरतामुल्लिखन् प्रत्ययः समुपजायते इति कथं नाक्षजः इति वक्तव्यम्, अक्षाणां पौर्वापर्येऽप्रवृत्तेः । पूर्वापरसम्बन्धविकले वर्त्तमानमात्रेऽर्थेऽक्षं प्रवर्त्तत इति तदननुसार्यपि दर्शनं तत्रैव प्रवृत्तिमत् नातीतानागतयोरिति न ततस्तद्वेदनम् । न च 'पूर्वदृष्टमिदं पश्यामि' इत्यध्यवसायादतीतसमयपरिष्वक्तभाववेदनमिति युक्तम्, यतः

नहीं है । अरे ! आत्मा को तो यह भी पता नहीं चलता कि 'अनन्य काल में मैं मौजूद था या रहूँगा', क्योंकि आत्मा भी सदैव वर्त्तमानकाल से अनुपक्त ही स्फुटरूप से संविदित होता है । यदि कहें कि – आत्मविषयक संवेदन आत्मा के स्थायित्व का प्रकाशन करता है– तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि यदि आत्मसंवेदन में भूत-भाविकाल अवस्था का द्योतन होगा तो समस्त भूत भाविकाल अवस्था के संवेदन की आपत्ति आयेगी, फलतः भूत-भविष्य के समस्त जन्म-जन्मान्तर परम्परा का बोध प्रसक्त होगा । ऐसा नहीं कह सकते कि – आत्मसंवेदन में भूत-भावि सर्वअवस्था संविदित नहीं होती किन्तु सिर्फ भूत-भाविकाल सम्बद्ध आत्मा ही संविदित होता है– ऐसा कहेंगे तो पूर्व-उत्तर अवस्थाओं में व्यापकता का बोध न होने से पूर्व-उत्तरकाल में आत्मा की व्यापकता का भी बोध सिद्ध नहीं हो सकेगा । वास्तव में आत्मसंवेदन में वर्त्तमानकालीन अवस्था का ही अनुभव होता है इसलिये वर्त्तमानकालानुपक्त आत्मस्वरूप ही आत्मसंवेदन के विषयरूप में सिद्ध हो सकता है । भूत-भावि अवस्था आत्मसंवेदन में अनुभवगोचर नहीं होती तो उन अवस्था से सम्बद्ध आत्मा का भी प्रतिभास नहीं हो सकता, फलतः आत्मसंवेदन से आत्मा के अभेद की सिद्धि भी नहीं हो सकती ।

★ प्रत्यभिज्ञा से अभेदग्रहण असम्भव ★

आशंका :- पदार्थों की स्थायिता यानी अभेद का उद्भासन प्रत्यभिज्ञा करती है । 'प्रत्यभिज्ञा क्या है' प्रश्न का उत्तर है कि 'वही है यह' ऐसा निश्चय ।

उत्तर :- वैसा निश्चय प्रत्यक्षात्मक है या अनुमानात्मक ये दो विकल्प प्रश्न हैं । निश्चय तो कल्पनात्मक है अतः प्रत्यक्षरूप नहीं हो सकता । अनुमानात्मक भी नहीं हो सकता क्योंकि उसका उद्भव प्रसिद्धव्याप्तिवाले लिंग के द्वारा नहीं हुआ ।

प्रश्न :- दृष्टि को पदार्थ के साथ मिलाने पर 'वही है यह' यह प्रतीति होती है जिस में स्पष्ट पूर्वापरता का उल्लेख रहता है तो इसको क्यों इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष न माना जाय ?

उत्तर :- नहीं मान सकते, क्योंकि इन्द्रियाँ पूर्वता या अपरता के प्रकाशन के लिये प्रवृत्तिशील नहीं होती । उनका व्यापार पूर्व या अपर से असम्बद्ध वर्त्तमानमात्र अर्थ के लिये ही सीमित होता है । इसलिये इन्द्रिय व्यापार

'वर्त्तमानमेव पश्यामि' इत्युल्लेखस्तत्र स्यात् दर्शने तस्य प्रतिभासनात् पूर्वरूपता तु न तत्र प्रतिभातीति कथमध्यक्षोल्लेखं बिभर्त्ति ? इति न तदवसेया भवेत् । यदि तु पूर्वरूपताऽपि तदवसेया तदा स्मृतिमन्तरेणापि प्रतिभासताम् यतो न 'पूर्वरूपतैव स्मृतिमपेक्षते न वर्त्तमानतेति' वक्तुं क्षमम् तयोरभेदात् । यदि पूर्वता-वर्त्तमानतयोर्भेदो भवेत् तदा वर्त्तमानतावभासेऽपि पूर्वरूपतया न प्रतिभाता इति स्वप्रतिपत्तौ सा स्मृत्यपेक्षा भवेत्, यदा तु यदेव वर्त्तमानं तदेव पूर्वरूपम् तदा तद्दर्शने तदपि दृष्टमिति न स्मरणं फलवत् तत्र स्यात्, न हि दृश्यमाने स्मृतिः फलवती । स्मृतिर्हि व्यवहारप्रवर्त्तकत्वेन सप्रयोजना, दृश्यमाने चार्थे दर्शनमेव व्यवहारमुपरचयतीति किं तत्र स्मृत्या ?।

न च पूर्वरूपता अध्यक्षे न प्रतिभासते इति स्मृतिस्तत्र सार्थिका, यतः पूर्वरूपतायाः अध्यक्षाऽप्रतिभासे सद्भाव एव न सिध्येत्, सद्भावे वा कथं तत्र साधने (? साऽध्य न) प्रतिभासेत ? अपि च, इदानीन्तनाक्षजप्रत्ययावभासिनी यदि न पूर्वरूपता, स्मृतिरपि कथं तामवभासयितुं क्षमा, दर्शनविषयीकृत

जन्य प्रत्यक्ष भी वर्त्तमान मात्र अर्थ का प्रकाशन करने में प्रवृत्तिशील होता है, अतीत या अनागत का प्रकाशन उसकी सीमा के बाहर है ।

आशंका :- 'पहले देखा था वही देख रहा हूँ' ऐसा जो अध्यवसाय होता है उस से ही सिद्ध हो जाता है कि दर्शन अतीतकालानुपाक अर्थ संवेदि होता है ।

उत्तर : यह ठीक नहीं है । कारण, दर्शन में सिर्फ वर्त्तमानमात्र ही भासित हो सकता है इसलिये 'मैं वर्त्तमान अर्थ को देख रहा हूँ' ऐसा ही उल्लेख अध्यवसाय में होना चाहिये, पूर्वरूपता का प्रतिभास उस में शामिल ही नहीं होता तो प्रत्यक्ष के द्वारा उसका उल्लेख कैसे संभव हो सकता है ? शक्य ही नहीं है. अतः पूर्वरूपता प्रत्यक्ष से किसी भी उपाय से बोधित नहीं होती ।

यह भी विचारणीय है, पूर्वरूपता यदि प्रत्यक्षबोध्य मानी जाय तो स्मृति के बिना भी सदैव उस का भान प्रत्यक्ष में होने लगेगा । अब तो ऐसा बोल ही नहीं सकते कि – ''पूर्वरूपता को स्वयं प्रत्यक्ष में भासित होने के लिये स्मृति की सहायता चाहिये, वर्त्तमानता को नहीं चाहिये'' – ऐसा इसलिये नहीं बोल सकते कि अब तो एकज्ञानभासित होने से वर्त्तमानता और पूर्वरूपता का भेद ही नहीं रहा है इसलिये प्रत्यक्ष में पूर्वरूपता के सदैव भान की विपदा को आप उस युक्ति से नहीं टाल सकते । यदि एकज्ञानभासित होने पर भी आप पूर्वता और वर्त्तमानता का अभेद न मान कर भेद मानेंगे तब तो स्मृति के विरह में जब प्रत्यक्ष में सिर्फ वर्त्तमानता भासित होगी और पूर्वरूपता अभासित रहेगी तब आप कह सकेंगे कि पूर्वरूपता के भान में स्मृति की अपेक्षा रहती है; किन्तु अब अभेदवाद में वर्त्तमानस्वरूप एवं पूर्वरूपता में कुछ भेद ही नहीं है तब तो प्रत्यक्ष में वर्त्तमानता प्रकाशित होने पर पूर्वरूपता अप्रकाशित रह ही नहीं सकती, तब स्मृति से अब कौन सा नया फल अपेक्षित होगा ? वह तो बेकार ही हो जायेगी । दृश्यमान अर्थ का प्रकाश, यह तो कभी स्मृति का फल नहीं होता । स्मृति का प्रयोजन तो आखिर कुछ न कुछ व्यवहार सम्पादन ही होता है, किन्तु दृश्यमान अर्थ का कुछ व्यवहार स्पष्ट दर्शन से ही सम्पन्न होता है तो जब पूर्वरूपता के भान में स्मृति उपयोगी नहीं है, दृश्यमान अर्थ के व्यवहार में भी वह निरुपयोगी है तब उस का प्रयोजन क्या ?!

★ स्मृति के द्वारा पूर्वरूपता का ग्रहण असम्भव ★

ऐसा नहीं कहना कि – ''पूर्वरूपता प्रत्यक्ष में भासित नहीं होती इसलिये उस का ग्रहण करने के स्मृति

एव हि रूपे स्मृतेः प्रवृत्त्युपलम्भात् ? पूर्वरूपता तु सती अपि नेदानींतनदर्शनावभातेति न स्मृतिगोचरमुपगंतुमीशेति *दृष्टमात्रमेव स्मृतिपथमुपयाति । अथ पूर्वदर्शनेन पूर्वरूपता विषयीकृतेति स्मृतिरपि तां परामृशति – असदेतत् पूर्वरूपतायाः पूर्वदर्शनेनाप्यपरिच्छेदात्, यतः सकलमेवाध्यक्षं वर्त्तमानमात्रावभासं परिस्फुटं संवेद्यत इति वर्त्तमानमात्रमध्यक्षविषयः ।

ननु यदि पूर्वरूपता नाध्यक्षगोचरः कथं स्मर्यते ? न ह्यदृष्टे स्मृतिरुपपन्ना । – नैतत्, दृष्टमेव हि सकलं नीलादिकं स्मृतिरुल्लिखति स्मर्यमाणं स्फुटं चाकारमपहाय नान्या काचित् पूर्वरूपता स्मृतौ भाति अन्यत्र वा संवेदने, केवलं स्मर्यमाणोऽर्थः 'पूर्वः' इति नाममात्रमनुभवति वर्त्तमानमपेक्ष्य 'पूर्वः' इति नाममात्रकरणात् ।

न च 'यथा स्फुटाध्यक्षप्रतिभासिन्यपि क्षणभेदे तत्र व्यवहारप्रवर्त्तकमनुमानं फलवत् तथा पूर्वरूपे दृश्यमानेऽपि वर्त्तमानदर्शने तत्र व्यवहारकारितया स्मृतिः फलवती' इति वक्तुं युक्तम् यतो विद्युदादावध्यक्षेऽपि प्रतिक्षणं त्रुटयत् प्रतिभासोऽनुभूयते पूर्वरूपता तु स्मृतिमन्तरेण न क्वचित् प्रतिभाति येन

कृतकृत्य हो जायेगी'' – क्योंकि प्रत्यक्ष में जिस की सत्ता भासित नहीं होती उस का सद्भाव सिद्ध नहीं होता, अतः पूर्वरूपता का भी सद्भाव सिद्ध नहीं होता, फिर स्मृति क्या उस का ग्रहण करेगी ? यदि वास्तव में पूर्वरूपता का सद्भाव होगा तो उसे प्रत्यक्ष में भासित होना चाहिये, क्यों नहीं होती ? यह तो सोचिये कि वर्त्तमान इन्द्रियजन्यप्रतीति से यदि पूर्वरूपता का ग्रहण नहीं होता तो स्मृति कैसे उस का अवभास करा सकेगी, यह नियम है कि दर्शन से गृहित विषय को ही पुनः प्रकाशित करने के लिये स्मृति सक्रिय बन सकती है । पूर्वरूपता यदि सद्भूत है फिर भी वर्त्तमानकालीनदर्शन में भासित नहीं होती तब वह स्मृति का विषय बनने के लिये भी अक्षम ही रहेगी, जब दृष्ट बनेगी – दर्शनगोचर बनेगी तभी स्मृति का विषय बन सकेगी अन्यथा नहीं ।

यदि ऐसा कहें कि – पूर्वकालीन दर्शन की, वस्तु की पूर्वरूपता विषय बन चुकी है इस लिये स्मृति से उस का परामर्श किया जा सकेगा – तो यह आशा व्यर्थ है क्योंकि पूर्वकालीनदर्शन से भी पूर्वरूपता का ग्रहण नहीं होता । कारण कोई भी प्रत्यक्ष चाहे पूर्वक्षण का हो या उत्तरक्षण का स्फुटरूप से वर्त्तमानमात्र का ही अवभासी होने का सर्वविदित है इस लिये वर्त्तमानता ही केवल प्रत्यक्ष का विषय होती है । यदि यह प्रश्न किया जाय – जब पूर्वरूपता प्रत्यक्ष का विषय ही नहीं होती तब स्मृति का विषय कैसे बन सकती है यह आप भी बताईये, अदृष्ट वस्तु की स्मृति तो होती नहीं – तो उस का उत्तर यह है– स्मृति जिस नीलादि का दर्शन हो चुका है उन का तो उल्लेख करती ही है, स्मृति में उल्लिखित होने वाले उस नीलादि स्पष्ट आकार के अलावा और कोई पूर्वरूपता जैसी चीज ही नहीं है जिस का स्मृति से उल्लेख हो या अन्य किसी संवेदनन से हो । सच बात यह है कि स्मृति में जिस अर्थ का भान होता है वही अर्थ व्यवहार में 'पूर्व' ऐसी संज्ञा को प्राप्त कर लेता है, ऐसा इस लिये कि वर्त्तमानकाल के अर्थ की अपेक्षा वह 'पूर्व' होता है इस लिये स्मृति के उल्लेख में हम उस अर्थ को 'पूर्व' ऐसी संज्ञा लगा देते हैं ।

★ पूर्वरूपता और वर्त्तमानता का ऐक्यानुभव असिद्ध ★

आशंका : आप के मत में क्षणभेद का अनुभव स्फुट प्रत्यक्षसंवेदन में होता है फिर भी उस के बारे

---

* 'न दृष्ट०' इति पूर्वमुद्रिते [पृ० २८९], 'ति दृ०' इति तु तत्रैव पाठान्तरम् तदेवात्रोपात्तम् ।

क्षणिकत्ववदनुभवविषयत्वेऽपि प्रतिक्षणं स्मृतिर्व्यवहारमुपरचयन्ती तत्र सफला भवेत् ।

किंच वर्त्तमानवस्तुनि दर्शनाद् यदि पूर्वरूपतायां स्मृतिर्भवेत् भाविरूपतायामपि भवेद् अभेदात् । तथाहि – भिन्नवस्तुनि तस्योपलम्भो नास्तीति तत्र स्मृतिर्न भवेदिति युक्तम्, अभिन्ने तु पूर्वरूपतेव भाविरूपता दर्शनेनानुभूतेति पूर्वरूपतायामिव मरणावधिसकलभाविरूपतायामपि स्मृतिर्भवन्ती केन वार्येत अभेदेनानु- भूतत्वाऽविशेषात् ? न च पूर्वमनुभूतमपि पुनर्दर्शनोदये स्मृतिपथमुपयातीति पुनर्दर्शनसंगतं स्मृतिहेतुः, पूर्वदृष्टे गिरिशिखरादाविदानीमनुभवाभावेऽपि स्मृतेरुदयदर्शनात् । यदि पुनः स्मृतिरिदानी- न्तनानुभवाभावेऽप्युपजायते तर्हि भावदर्शनपरिगतेपीदानीन्तनदृक्संस्पर्श(शा)भाजि स्मृतिरुदीयताम् । अ-

में विकल्पोदय न होने के कारण क्षणभेद को व्यवहार में लाने के लिये अनुमान की उपयोगिता होती है; इसी तरह पूर्वरूपता का अनुभव भी वर्त्तमानदर्शन में होता है किन्तु उस को व्यवहार में लाने के लिये स्मृति सफल होगी ।

उत्तर : ऐसा नहीं हो सकता । कारण, बीजली आदि के प्रत्यक्ष में प्रतिक्षण क्षणभेद का भानी चमकी – पुनः बुझ गयी, पुनः चमकी और बुझ गयी – ऐसा भुटक भुटक प्रतिभास अनुभूत होता है इस लिये क्षणभेद का विकल्पप्रत्यक्ष सिद्ध है जो यह स्पष्ट कर देता है कि क्षणभेद दर्शन का विषय हो चुका है । दूसरी ओर पूर्वरूपता का भान स्मृति के अलावा किसी भी ज्ञान में होता नहीं है जिससे कि यह मान सके कि क्षणिकत्व जैसे अनुभव का विषय है वैसे पूर्वरूपता भी अनुभवविषय होते हुए भी उस को व्यवहार में लाने के लिये स्मृति सफल हो सकेगी ।

यह भी सोचना चाहिये कि वर्त्तमान भाव के दर्शन से जब पूर्वरूपता के बारे में स्मृति का उदय हो सकता है उस पूर्वरूपता से अभिन्न भाविरूपता की स्मृति क्यों नहीं होती ? अभेदवाद में पूर्वरूपता और भाविरूपता तो एकरूप ही होती है इस लिये दोनों की स्मृति होनी चाहिये । एकरूप कैसे है यह देखिये – आप के मत से भिन्न वस्तु उपलम्भ का विषय नहीं होने से भिन्न विषय की स्मृति न हो यह तो ठीक बात है, किन्तु अभिन्न वस्तुवाद मानने पर वस्तु के भाविरूप और पूर्वरूप में भेद न होने से पूर्वरूपता की तरह भाविरूपता भी दर्शन का विषय बन ही चुकी है, इस लिये पूर्वरूपता की जैसे स्मृति होती है इसी तरह मरणपर्यन्त सकल भाविरूपता की स्मृति होनी चाहिये । कौन इस को रोकेगा ? जब कि अभिन्न होने के कारण पूर्वरूप – भाविरूप में भेद तो है नहीं ।

यदि ऐसा कहा जाय– पूर्वरूप पहले अनुभूत होने पर भी पुनः उस का दर्शनोदय जब होता है तभी स्मरणगोचर होता है, इस से यह सिद्ध होता है पुनः दर्शनोदय से संगत पूर्वानुभव स्मृति का हेतु होता है, भाविरूप का पुनः दर्शनोदय ही नहीं होता इस लिये उस की स्मृति भी नहीं होती । – तो यह ठीक नहीं है क्योंकि पहले दृष्टिगोचर हो हुए गिरिशिखरादि अब उस का दर्शन न होने पर भी स्मृतिगोचर होते है, यह सभी को विदित है । अतः जब वर्तमान अनुभव के बिना भी स्मृति उत्पन्न होती है [illegible] के दर्शनोदय के बिना भी, भावि दर्शन में [illegible] के बारे में स्मृति का उदय हो जाना चाहिये । यदि ऐसा कहें कि – भाविरूपता पूर्व में अनुभूत नहीं [illegible] होती है, पूर्वरूपता तो पूर्वानुभूत होती है इस लिये वर्तमान दर्शन का विषय न होते हुए भी पूर्वरूप की स्मृति का उदय हो सकता है ।

थापि पूर्वरूपता पूर्वमनुभूतेति इदानींतनदर्शनाभावेऽपि पूर्वतामात्रे स्मृत्युदयः – नन्वेवं पूर्वतामात्रमेव पूर्वदर्शनावगतम् नेदानीन्तरूपव्यापितयापि तदवगतं स्यात् । तन्न पूर्वापररूपतयोरेकतावगमः सिद्धः ।

न च पुनर्दर्शने 'सति स एवायं मया यः प्राक्परिदृष्टः' इति प्रतिपत्तेरभेदावगमः पूर्वापरयोः, यतः पूर्वापराभ्यां प्रत्ययाभ्यां न पूर्वापररूपग्रहणम् दर्शनस्य । न च तत्कालभाविस्वरूपं पूर्वं परं वा भवितुमर्हति, साम्प्रतिकरूपव्यवहारोच्छेदप्रसक्तेः । न च 'साम्प्रतिकरूपं पूर्वं मया परिदृष्टम्' इति निश्चयो युक्तः तस्य वैतथ्यप्रसंगात् । नन्वेवं पूर्वरूपता वर्त्तमाने रूपे कथमवसीयते 'इदं मया पूर्वं दृष्टम्' इति भेदसद्भावात् ? तर्ह्यभेदेऽपि कथं वर्त्तमानस्य रूपस्य पूर्वदृष्टतावगमः ? 'पूर्वदृष्टत्वात्' इति न वक्तव्यम्, यतो दृष्टता पूर्वदर्शनगोचरीकृतं रूपम् तद्दर्शनं चेदानीमतीततयाऽसत् तद्दृष्टताप्युपरतेति नाऽसती वर्त्तमानदर्शनपथमवतरतीति । न च तद्दर्शने प्रच्युते तद्दृश्यमानताप्युपरतेति न सा साम्प्रतिकदर्शनावसेया, दृष्टता तूत्पन्नेति वर्त्तमानदर्शनावसेया, यतो यदि दृष्टता पदार्थानां तदात्वे संनिहिता तदा यथा नीलता

तो इस पर से यही फलित होगा कि पूर्व दर्शन से सिर्फ पूर्वता का ही ग्रहण हुआ है, वही वर्त्तमानकाल तक व्यापक है ऐसा तो ग्रहण नहीं हुआ । तात्पर्य, पूर्वरूपता और वर्त्तमानरूपता का एक-साथ अभेद अनुभव सिद्ध न होने से उन से एकत्व का भान सिद्ध नहीं होता ।

★ दूसरीवार के दर्शन से अभेदसिद्धि अशक्य ★

एक वार दर्शन हो जाने के वाद दूसरी वार के दर्शन में 'यह वही है जिस को पहले मैंने देखा था' ऐसा अनुभव मान कर उस से अभेद की प्रसिद्धि की आशा नहीं की जा सकती । कारण, पूर्वप्रतीति से कभी अपररूप का ग्रहण नहीं होता और अपर प्रतीति से कभी पूर्व रूप का ग्रहण नहीं होता, कोई भी दर्शनप्रतीति अपने काल की मर्यादा में रह कर यानी स्वसमानकालवर्त्ती ही पदार्थ के स्वरूप की ग्राहिका होती है । वस्तु का अपने काल में जो स्वरूप होता है वह न तो पूर्व है न अपर, क्योंकि यदि वर्त्तमानरूप में पूर्वता या अपरता का योजन करेंगे तो उस की वर्त्तमानता का ही विलोपन हो जायेगा । 'मैंने यह वर्त्तमानतारूप पहले (पूर्व) के रूप में देखा है' ऐसा निश्चय अकृत्रिम हो नहीं सकता क्योंकि वहाँ वर्त्तमानता रूप में वैपरीत्य का यानी पूर्वरूपता का प्रसंजन हो जायेगा । प्रश्न : आप के मतानुसार भेद ही भेद है तो 'यह मैंने पहले देखा है' इस अनुभव में वर्त्तमानरूप में पूर्वरूपता का वोध कैसे हो सकता है ? उत्तर : आप के मतानुसार अभेद ही अभेद है तो वर्त्तमानरूप का उस से उल्टे रूप में अर्थात् पूर्वदृष्ट रूप में अववोध कैसे हो सकता है ? 'वह पहले देखा हुआ है – पूर्वदृष्ट है' ऐसा मत कहना, क्योंकि दृष्टता पूर्वदर्शनविषयीभूत स्वरूप है, उस का दर्शन वर्त्तमान में तो अतिक्रान्त हो जाने से असत् है, अतः उस की विषयभूत दृष्टता भी पूर्वदर्शनसापेक्ष होने से वर्त्तमान में अस्त हो गयी, असत् हो गयी, इसलिये वर्त्तमान दर्शन गोचर नहीं वन सकती ।

यदि ऐसा कहा जाय – पूर्व दर्शन का अस्त हो जाने पर उस दर्शन की दृश्यमानता का भी अस्त हो जाता है इस लिये वह वर्त्तमानदर्शनबोध्य नहीं रहती, किन्तु पूर्वदर्शन से वस्तु में वर्त्तमानक्षण में जो दृष्टता नामक संस्कार उत्पन्न हुआ वह तो वर्त्तमान है इस लिये वह तो वर्त्तमानदर्शन का विषय हो सकती है । – तो यह वात ठीक नहीं है, दृष्टतासंस्कार यदि पदार्थों में उस काल में (वर्त्तमान में) संनिहित है इस लिये वर्त्तमानदर्शन का विषय वनती है ऐसा आप मानते हैं लेकिन वर्त्तमान में संनिहित नीलता पूर्व काल में अनुत्पन्न थी

संनिहिता तदानीमनुत्पन्नेऽपि पूर्वदर्शने प्रतिभाति तथा दृष्टतापि सकलतनुभृतामनुत्पन्नेऽपि पूर्वदर्शने स्फुटवपुषि दर्शने प्रतिभासताम् न किंचित् पूर्वदर्शनस्मरणेन ? एवं च येनाप्ययमर्थः पूर्वं नावगतः सोऽपि दृष्टतामवगच्छेत् । ततो 'नीलादिकमेतत्' इति पश्यति 'पूर्वदृष्टम्' इत्येतच्च स्मरणादध्यवस्यति न तु 'पूर्वदृष्टमेतत्' इत्येका प्रतीतिः ।

ननु 'इदं प्रतिभासमानमतीतसमये मया दृष्टम्' इत्येवं स्मृतिरनुभूयते न च पूर्वदृष्टतानुभवव्यतिरेकेण दृश्यमानस्य स्मृतिः सम्भवत्येवमाकारा – असदेतत् यतो 'दृष्टम्' इति मतिः स्मृतिरूपमात्मादधन्ती तत्कालावधि दर्शनविषयमध्यवसन्ती लक्ष्यते न तु वर्त्तमानकालपरिगतमर्थस्वरूपमधिगच्छति, वर्त्तमानकालतां तु दर्शनमनुभवति पूर्वरूपासंगतामिति न काचित् प्रतिपत्तिरस्ति या वर्त्तमानं 'पूर्वं दृष्टम्' इत्यवगच्छति । तत्र प्रत्यभिज्ञाऽपि पूर्वापरयोरभेदमधिगन्तुं समर्था ।

अथास्मद्दर्शनविरतावप्युपलभ्यते वज्रोपलादिरर्थो नरान्तरेणेत्यभिन्नः । नैतत् सारम्, मद्दर्शनानु(?प)-

---

इस लिये उस का पूर्वदर्शन उत्पन्न होने पर भी वर्त्तमान में भासित होती है, इसी तरह पूर्वदर्शन न होने पर भी वर्त्तमान में उत्पन्न दृष्टता का वर्त्तमान स्पष्टशरीरी दर्शन में सभी देहधारीयों को दिखाई दे तो क्या बाध है ? फिर पूर्वदर्शन या स्मरण की जरूर ही क्या ? इस प्रकार तो जिस ने उस अर्थ का पहले बोध नहीं किया है उस को भी उस दृष्टता का बोध हो सकता है क्योंकि दृष्टता तो उस में वर्त्तमान में उत्पन्न हो कर मौजुद है । सारांश यह है कि 'मैंने पहले यह नीलादि देखे हैं' यह कोई एक दर्शनात्मक प्रतीति नहीं है किन्तु इस में दो प्रतीतियों का मिलन हो गया है, एक तो 'यह नीलादि है' यह दर्शन प्रतीति है और दूसरा 'पहले देखा है' यह स्मरण का अध्यवसाय है ।

★ वर्त्तमान अर्थ का भान स्मृति में निषिद्ध ★

आशंका – 'यह जो भासित हो रहा है यह भूतकाल में मैंने देखा था' इस प्रकार की स्मृति सभी को अनुभवसिद्ध है । यदि पूर्वदृष्टता का दर्शन न होता तो उक्त आकार वाली दृश्यमान की स्मृति भी अनुभवगोचर न होती ।–

उत्तर : यह वाक्य गलत है, वास्तव में यहाँ 'देखा था' इस प्रकार की जो बुद्धि है वह स्मृतिरूप है, यही स्मृति मानो अपनी कालमर्यादा में दर्शन के विषय को अध्यवसित करती हुयी लक्षित होती है किन्तु वर्त्तमानकाल स्पर्शी अर्थ के स्वरूप का अवबोध यह नहीं करती । पूर्वरूप से असंगत वर्त्तमानकालता का अवबोध तो सिर्फ दर्शन ही करता है । अतः ऐसी कोई मति नहीं है जो वर्त्तमान अर्थ का 'पहले देखा था' इस प्रकार अवबोध कर सके ।

निष्कर्ष – प्रत्यभिज्ञा पूर्व-अपर के अभेद का अवबोध करने के लिये समर्थ नहीं है ।

★ स्वदर्शनविषय में परकालीन अन्यदर्शन का असम्भव ★

आशंका : वज्र या कंकर आदि को हमारा देखना रुकने के बाद उस समय भी दूसरों को दिखाई देता है इस लिये पूर्वोत्तर – कालवर्ती की वस्तु में अभेद सिद्ध हो जाता है ।

उत्तर : यह निदर्शन असार है, क्योंकि इस तथ्य में कोई भी ऐसा ठोस प्रमाण नहीं है जिससे ज्ञात

गमे नरान्तरदर्शनमवतरतीति नात्र किंचित् प्रमाणमस्ति । तथाहि – न प्रत्यक्षं परदृग्गोचरमर्थवगमयितुमलम् परदृशोऽनवगमात्, तदनवगमे च तत्प्रतिभासितत्वस्याप्यनवगतेः । न च तद्विषयव्यवहारदर्शनात् परोऽपि 'इदमर्थजातं पश्यति' इत्यनुमानात् परदृष्टतां स्वदर्शनविषयस्य प्रतिपद्यते जनः अनुमानेनाभेदाऽप्रतिपत्तेः । तद्धि सदृशव्यवहारदर्शनादुदयमासादयत् स्वदृष्टतुल्यतां परदृग्विषयस्यावगन्तुमीशं न पुनरभेदम्, यथा धूमान्तरदर्शनादुद्भवन्त्यनुमितिः पूर्वदहनसदृशं दहनान्तरमध्यवस्यति न पुनस्तमेव दहनविशेषम् सामान्येनान्वयपरिच्छेदात् ।

यदि पुनः सदृशव्यवहारदर्शनात् स्वपरदृष्टस्याभेदावगमः तदा रोमाञ्चलक्षणतुल्यकार्यदर्शनात् स्वपरसुखाभेदानुमितिप्रसक्तिः । अथ पुलकोद्गमादौ तुल्येऽपि सन्तानभेदाद् भेदः, तथा सति सुखमपि स्वरूप-

देखना बंद हो जाने पर भी वही वस्तु दूसरे के दर्शन की अतिथि होती है' यह सिद्ध हो सके । कैसे यह देखिये – अन्य को दृष्टिगोचर होने वाला अर्थ – 'यह अर्थ अन्य को भी दृष्टिगोचर बन रहा है' इस रूप में प्रत्यक्ष से ज्ञात नहीं हो सकता क्योंकि अन्य की दृष्टि अपने लिये इन्द्रियातीत है । उस का अवबोध न होने पर 'वह उस में प्रतिभासित है' ऐसा भी बोध कैसे हो सकता है ? यदि ऐसा अनुमान लगाया जाय कि 'दूसरा आदमी भी इसी अर्थवर्ग को देखता है' क्योंकि उसी अर्थ को पाने के लिये उस की भी प्रवृत्ति दिखाई पडती है । इस प्रकार के अनुमान से स्वदर्शन के विषय में परदृष्टता का अवबोध लोग कर सकते हैं – तो यह भी शक्य नहीं है क्योंकि अनुमान से कभी अभेद का अवबोध शक्य नहीं है । कारण, दृष्टा यदि देखता है कि यह भी मेरे तुल्य ही व्यवहार कर रहा है तो उस से इतना ही अनुमान किया जा सकता है कि उस की दृष्टि का विषय मेरी देखी हुयी वस्तु से मिलता-जुलता है, किन्तु अभेद का अनुमान कैसे होगा? जैसे देखिये, पहले अग्नि और धूम का दर्शन हुआ । बाद में कभी कहीं अन्य धूम देखा तो उस से इतना ही अनुमान हो सकता है कि पूर्वदृष्ट अग्नि से तुल्य यहाँ भी अग्नि है । किन्तु वही अग्नि यहाँ भी है ऐसा अभेदग्राहि अनुमान शक्य नहीं है । इस का कारण यह है – अग्नि के साथ धूम का व्याप्यत्व सम्बन्ध सिर्फ सामान्य तौर पर गृहित हुआ है, विशेष तौर पर नहीं, यानी पूर्वदृष्ट अग्नि के साथ वर्त्तमान दृष्ट धूम का व्याप्यत्व सम्बन्ध गृहीत नहीं हुआ, इसी तरह प्रस्तुत में भी समझ लेना ।

★ सदृशव्यवहार से अभेदानुमिति अशक्य ★

आप को यदि दो व्यक्ति के समानव्यवहार को देखकर दोनों ने देखे हुए पदार्थ की अभेदसिद्धि मान्य है तब तो स्व और पर में रोंगटे खडे हो जाने का तुल्य कार्य देखने पर स्व में और अन्य में उत्पन्न होने वाले सुख के भी अभेद की अनुमिति होने की विपदा आयेगी । यदि रोंगटे खडे होने का कार्य तुल्य होने पर भी भिन्न भिन्न सन्तान में सन्तानभेद से अपने–पराये सुख का भेद ही मानेंगे तो वहाँ भी प्रश्न होगा कि सन्तान का भेद कैसे सिद्ध है ? यदि सन्तानभेद की सिद्धि अन्यसन्तानभेद के आधार पर की जाय तो उस अन्यसन्तानभेद की सिद्धि के लिये और एक सन्तानभेद.....इस तरह अनवस्था चल पडेगी । यदि स्वभाव के भेद से ही सन्तान का भेद मान कर अनवस्था दोष का निवारण किया जाय तो भिन्न भिन्न संतानों में भी स्वभावभेद से ही सुखभेद माना जा सकता है । अब इस पर से यह समझना होगा कि अपने–पराये संतान में स्वरूप भेद से सुखभेद जैसे सत्य है वैसे ही पूर्वक्षण में स्वदृष्ट पदार्थ और उत्तरक्षण में परदृष्ट पदार्थ

भेदाद् भिद्यताम्, यथा च स्वरूपभेदात् स्व-परसन्ततिवर्त्तिनः सुखस्य भेदः तथा कालभेदात् स्वपरदृष्टस्यार्थस्य किं न भेदः ? न च परस्परपरिहारेणोपलम्भप्रवृत्तेः स्व-परसन्ततिवर्त्तिन्याः प्रीतेर्भेदः, अर्थस्यापि स्वपरदृष्टस्याऽयुगपदन्योन्यपरिहारेणोपलम्भवृत्तेर्भेदप्रसक्तेः। यतो यदा स्वदृग्गोचरचारी न तदा परदृशि प्रतिभाति यदा चोत्तरसमये परसंवेदनमवतरति न तदा स्वसंवेदनमिति कथं न भेदः ? अतो विच्छिन्नदर्शनस्यार्थस्य पुनर्दर्शने दलितोद्गतनखशिखरदर्शन इव प्रतिभासभेदाद् भेदः । प्रत्यभिज्ञा त्वभेदाध्यवसायिनी प्रतिभासभेदेन बाध्यमाना लूनपुनर्जातकेशादिष्विव भ्रान्तेति न तत्प्रतिपाद्योऽभेदः पारमार्थिकः ।

न च यत्राऽविच्छिन्नं दर्शनं बहिरर्थमवतरति तत्र प्रतिभासभेदाभावात् कथं पौर्वापर्यभेदावगम इति वक्तव्यम् यतः प्रतिभाससमानतैव पदार्थानां सत्ता । यदाह – "उपलब्धिः सत्ता, सा चोपलभ्यमान वस्तु योग्यता तदाश्रया वा ज्ञानवृत्तिः ।" [?] इति । तत्र यदि क्षणिकं दर्शनम् तथा सति तत्र स्फुटप्रतिभासस्यार्थस्य क्षणभेद एवाऽवभाति न क्षणाभेदावगमः । यतः क्षणिकं दर्शनं स्वकालमर्थमवगन्तुं क्षमम् न कालान्तरपरिष्वक्तम्, तस्य तदानीमभावात् । न हि यदा यन्नास्ति तदा तत् तत्कालमर्थमवगच्छति, सकलातीतपदार्थग्रहणप्रसंगात् । अतोऽविच्छिन्नदर्शनेऽपि प्रतिकलमपरापरज्ञानप्रसवे-

में कालभेद से भी भेद हो सकता है । यदि ऐसा कहें कि – "अपने संतान में जब सुखोपलब्धि होती है तब अन्य सन्तान में नहीं होती, अन्यसन्तान में सुखोपलब्धि होती है तब स्वसन्तान में नहीं होती इस प्रकार एक-दूसरे का उपलम्भ एक-दूसरे को छोड कर होता है इस से उन में भेद सिद्ध होता है' – तो अर्थ में भी इस प्रकार भेदसिद्धि प्रसक्त होगी, क्योंकि स्वदृष्ट अर्थ और अन्यदृष्ट अर्थ की असमानकाल में एक-दूसरे को छोड कर उपलब्धि होती है, अर्थ जब पूर्वक्षण में दूसरे को दृष्टिगोचर होता है तब अपने को नहीं होता - ऐसा दिखता है तो अर्थ में भी भेद क्यों नहीं मानते ? अपनी नजर को हटा लेने के बाद दर्शन का विच्छेद हो जाने पर, फिर से वहाँ नजर डालते हैं तो जो अर्थ दिखाई देता है वह प्रतिभासभेद से भिन्न होता है, जैसे नख को देखने के बाद काट दिया, थोडे दिन के बाद नया उगा, वह तुल्य दिखने पर भी भिन्न होता है । अब अभेदाध्यवसायी प्रत्यभिज्ञा ही उस के विषय के अभेद में बाधक है, जैसे काटे हुये केश पुनः उग आते हैं वहाँ जैसे अभेद की प्रत्यभिज्ञा भ्रान्त होती है वैसे ही सामान्यतः अर्थाभेदसाधक प्रत्यभिज्ञा भी भ्रान्त ही होती है । अतः उस से प्रकाशित होने वाला अभेद पारमार्थिक नहीं हो सकता ।

★ निरंतरदर्शनस्थल में भेद कैसे ? प्रश्नोत्तर ★

प्रश्न : प्रतिभासभेद से भेद तो विच्छिन्न दर्शन के स्थल में हो सकेगा, किन्तु जहाँ विच्छेद के विना निरंतर बाह्यार्थभासी दर्शन उदित हो रहा है वहाँ तो प्रतिभासभेद नहीं है, वैसे वहाँ पूर्व-अपर पदार्थ के भेद की सिद्धि होगी ?

उत्तर : इस प्रश्न को अवकाश नहीं है । कारण, प्रतिभाससमानता ही पदार्थों की सत्ता है, अन्य कोई अतिरिक्त नहीं है । कहा है – "उपलब्धि ही सत्ता है, उपलब्धि यानी उपलब्ध होने वाली वस्तु की योग्यतारूप हो या तो उस योग्यता के आश्रय से उदित होनेवाली ज्ञानवृत्ति रूप" । अब जिस को हम निरन्तर दर्शन कहते हैं वह पूरा एक न हो कर क्षणसन्तानरूप है, दर्शन तो क्षणिक ही होता है और वह सिर्फ स्वकालवर्ती अर्थ के अवबोध में ही सक्षम होता है, कालान्तर से उस का कोई नाता नहीं है क्योंकि कालान्तर में वह

स्वगतस्याप्यर्थस्य भेदः । न च दृगेव प्रतिक्षणमपरापरा अर्थस्त्वभिन्न एवेति वक्तव्यम्, दृग्भेदादेव दृश्यमानस्यार्थस्य भेदसिद्धेः । तथाहि – यदैका दृक् स्वकालावधिमर्थसत्तां वेत्ति न तदा परा यदा चापरोत्तरकालमर्थवगमयति न तदा पूर्वेति न तत्प्रतिभासितत्वम् – यतो वर्त्तमानसंविदस्तीति तदुपलभ्यमानतैवास्तु न तु पूर्वदृगुपलभ्यमानता – अतश्चोपलम्भभेदादुपलभ्यमानताभेदः । न च पूर्वापरदर्शनोपलभ्यमानता भिन्नैव उपलभ्यमानं तु रूपमभिन्नम्, यतो यदा पूर्वोपलभ्यमानतायुक्तोऽर्थः प्रतिभाति न तदोत्तरोपलभ्यमानतासंगतः, यदा चोत्तरोपलभ्यमानतया परिगतो वेद्यते न तदा पूर्वोपलभ्यमानतयेति कथं पूर्वापरोपलम्भोपलभ्यमानस्य रूपस्य न भेदः ? न चोपलभ्यमानताऽतिरिक्तमुपलभ्यमानं रूपमस्ति, तथाऽननुभवात् । अतः कथं नोपलभ्यमानताभेदादपि तद्भेदः ? तत् स्थितमविच्छिन्नविशददर्शनपरम्परायामपि प्रतिक्षणमर्थभेदः ।

स्वयं हस्ती में नहीं । ''जो जब नहीं होता वह उस काल में तत्कालीन अर्थ का अवबोध नहीं कर सकता'' यह नियम तो स्वीकारना होगा, अन्यथा– एक ही क्षण के दर्शन से संपूर्ण अतीतकाल के पदार्थों का अवबोध हो जाने का अनिष्ट प्रसंग आ पडेगा । प्रतिभासमानता या उपलब्धि ही पदार्थसत्ता होने से अर्थ भी दर्शनसमकालीन सिद्ध होता है, अतः निरन्तर जारी रहनेवाले दर्शन के होते हुये भी वहाँ नये नये क्षण में जो नये नये दर्शन का जन्म होगा उन के भेद से ही उन से गृहीत होनेवाले अर्थों में भी भेद सिद्ध होगा ।

★ दर्शनभेद से अर्थभेद की सिद्धि ★

यदि ऐसा कहें कि वहाँ प्रतिक्षण दर्शनभेद भले हो किन्तु अर्थभेद होने में कोई प्रमाण नहीं है – तो यह ठीक नहीं, जब दर्शन भिन्न भिन्न है तब उन के भेद से दृश्यमान अर्थों में भेद ही सिद्ध होता है । कैसे यह देखिये – जिस काल में एक दर्शन, अपने काल की सीमा में रहे हुये अर्थ की सत्ता का अवबोध करता है – उस काल में अन्य दर्शन अर्थ का अवबोध करा सकता नहीं । जब दूसरा दर्शन उत्तर काल में अपने समानकालीन अर्थ का अवबोध करता है उस काल में पूर्वकालीन दर्शन किसी अर्थ का अवबोध करा नहीं सकता । ऐसा इस लिये कि संवेदन अपने अपने काल में वर्त्तमान होते हैं और उन के आधार पर ही उस काल के अर्थ में उपलभ्यमानता होती है, पूर्वकालीन संवेदन के आधार पर उपलभ्यमानता वस्तु में नहीं होती । इस प्रकार उपलम्भ के भेद से उपलम्भयोग्यता भिन्न भिन्न ठहरती है । वही अर्थसत्ता रूप है इस लिये उस में भी भेद हो जाता है । ऐसा अगर कहें कि – पूर्व अपर दर्शनों से उपलभ्यमानतारूप संस्कार का भेद भले हो किन्तु उस का आश्रय जो उपलभ्यमान अर्थ है वह तो अभिन्न होता है – तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि जब पूर्वोपलभ्यमानतासंस्कारवाला अर्थ प्रतिभासित होता है तब उत्तरोपलभ्य - मानता संस्कारवाला अर्थ प्रतिभासित नहीं होता – जब उत्तर उपलभ्यमानता से सम्बद्ध अर्थ भासित होता है तब पूर्वोपलभ्यमानतावाला अर्थ भासित होता नहीं, इस प्रकार दोनों भिन्न भिन्न भासित होते हैं तब पूर्व-उत्तर उपलम्भ से उपलब्ध होने वाला अर्थ एक अभिन्न कैसे माना जा सकता है ? क्योंकि वैसा अनुभव नहीं होता कि उपलभ्यमानता और उपलभ्यमानरूप अलग अलग है इसलिये उपलभ्यमानता से अतिरिक्त कोई उपलभ्यमानरूप अर्थ भी नहीं है जिससे कि भिन्न भिन्न उपलभ्यमानता के होते हुये भी उपलभ्यमानरूप को एक दिखा सके । तब उपलभ्यमानता के भेद से उपलभ्यमानरूपों का भेद क्यों सिद्ध नहीं होगा ? निष्कर्ष यह आया कि अविच्छिन्न दर्शनधारा में भी प्रतिक्षण भासित होने वाले अर्थों में भेद होता है ।

प्रत्यभिज्ञानात्त्वभेदोऽध्यारोप्यमाणो दलितपुनरुदितनखशिखरादिष्विव प्रतिभासभेदेनाऽपाक्रियमाणो न वास्तवः । न चापरापरसंविन्मात्रव्यतिरिक्तभिन्नात्मनोऽभावे क्रमवत्संवेदनाभावादर्थक्रमस्याप्यभाव इति, यतोऽनेकत्वे सति यथा पूर्वापरयोरपत्ययोः क्रमस्तथा दर्शनयोरप्यनेकत्वमस्तीति कथं न क्रमः ? न चानेकत्वं न प्रतीतिविषयः एकत्वप्रतिभासाभावप्रतिभासस्यानेकत्वप्रतिभासरूपत्वात् तस्य च संवेदनसिद्धत्वात् । न च कालमन्तरेण पौर्वापर्याभावादनेकत्वमात्रमवशिष्यते इति कथं क्रम इति वक्तुं युक्तम् यतो भेदाऽविशेषेऽपि दृश्यमान – स्मर्यमाणतया पौर्वापर्यसद्भावात् क्रमसंगतिरविरुद्धैव । यद्वा हेतुसंनिधानाऽसंनिधानाभ्यां क्रमः कार्याणाम् तत्संनिधानाऽसंनिधानेऽपि हेतुसंनिधानाऽसंनिधानात् इत्यनादिर्हेतुपरम्परा अतस्तत्स्वभावविशेष एव क्रम इति न किंचित् कालेन । तस्याप्यन्यकालापेक्षे क्रमेऽनवस्था, स्वतः क्रमे पदार्थानामपि स स्वत एव युक्तः । तदेवं क्रमेणोपलभ्यमानमपरापरस्वभावमिति सिद्धः स्वभावभेदः ।

न च क्षणिकेऽपि संवेदने युगपत् पदार्थजातं प्रतिभाति न क्रमेणेति न क्षणभेदः यतोऽनेकक्षणस्थितिः कालाभेदलक्षणं नित्यत्वमुच्यते, न चानेकक्षणस्थितिर्युगपदवभाति, यतो यदैका क्षणस्थितिरवभासते यदि तदैव द्वितीयक्षणस्थितिरपि तद्विविक्ता प्रतिभाति तथा सति क्षणद्वयस्य परस्परविविक्तस्य

★ प्रत्यभिज्ञा के विषयों में भेदसिद्धि ★

'वही है जो पहले दिखा था' ऐसी प्रत्यभिज्ञा से अभेद का अध्यारोपण वास्तविक नहीं है क्योंकि वह प्रतिभासभेद से बाधित है । जैसे काटने के बाद पुनः उगने वाला नखाग्र 'वही दिखता है' किन्तु पूर्वप्रतिभास और वर्त्तमान प्रतिभास भिन्न होने से नखाग्र में भेद सिद्ध है वैसे ही प्रतिभासभेद से प्रत्यभिज्ञा के विषय में भी भेद सिद्ध होता है क्योंकि प्रत्यभिज्ञा कोई एक प्रतिभासरूप नहीं किन्तु अनेक प्रतिभास रूप होती है । यदि ऐसा कहें कि – भेदवादी के मत में तो कोई एक अभिन्न आत्मा जैसा तत्त्व ही नहीं है सिर्फ भिन्न भिन्न संविद् ही होती है, उन संविदों में एक अनुस्यूत आत्मा न होने से किसी क्रम के होने का सम्भव नहीं है अतः संवेदन पर अवलम्बित अर्थों का क्रम भी नहीं रहेगा' – तो यह ठीक नहीं है क्योंकि अनेक होने पर भी पूर्वजात एवं उत्तरजात शिशुओं में क्रम होता है वैसे अनेक होते हुये दर्शनों में भी क्रम क्यों नहीं हो सकता ?

★ काल विना भी पूर्वापरभाव–क्रम का उपपादन ★

अनेकत्व अनुभवगोचर ही नहीं है तो भेद कैसे सिद्ध होगा ऐसा प्रश्न नहीं करना चाहिये, क्योंकि एकत्वानुभव का न होना यही अनेकत्वानुभवरूप है और वह संविदित होता है इस लिये असिद्ध नहीं है । यदि ऐसा कहें कि – पूर्वापरभाव तो कालाश्रित है, आप के मत में तो अतिरिक्त काल ही नहीं है तो सिर्फ अनेकत्व ही रहेगा, क्रम कैसे सिद्ध होगा ? – तो यह प्रश्न ठीक नहीं क्योंकि पहला अर्थ और दूसरा अर्थ भिन्न भिन्न है, उन में जो स्मृति का विषय होता है वही पूर्व है, और दर्शन का विषय होता है वह [illegible] है – इस प्रकार पौर्वापर्यभाव सिद्ध होने से क्रम की संगति में कोई विरोध नहीं है । अथवा तो कार्यों के हेतु के संनिधान और असंनिधान को लेकर भी क्रम-संगति बैठायी जा सकती है । जैसे यह देखिये .. हेतु के संनिधान से कार्य का संनिधान होता है, हेतु संनिहित न हो तो कार्य भी संनिहित नहीं होता – यह सर्वविदित है । हेतु और कार्य में क्रम यही है कि हेतु पूर्व होता है और कार्य पश्चात् होता है, हेतुपरम्परा अनादि

युगपत् प्रतिभासनात् कथं नित्यतालक्षणः कालाभेदः ? अथ तद्द्रव्य(? तत्राप्य)व्यतिरिक्ता क्षणान्तरस्थितिः प्रतिभासते–तत्राप्याद्यक्षणस्थितिरूपतया वा द्वितीया प्रतिभाति, यद्वा द्वितीयक्षणस्थितिरूपतया आद्यक्षणस्थितिरिति कल्पनाद्वयम् । तत्राद्ये पक्षे प्रथमक्षणस्थितिरेव प्रतिभातीति न पूर्वापरक्षणभेदः । द्वितीयेपि विकल्पे क्षणान्तरस्थितिरेव प्रतिभातीति नाद्यक्षणस्थितिप्रतिपत्तिर्भवेत् । अथैकक्षणस्थितिर्नावभाति सर्वदा स्थितेरवभासनात् – नन्वेकक्षणस्थितिप्रतिपत्त्यभावे कथमनेकक्षणस्थितिसंगतरूपप्रतिपत्तिरिति क्षणिके दर्शने क्षणावस्थानमेव प्रतिभातीति तदेव सदस्तु न कालान्तरस्थितिः ।

अथापि स्यात् न क्षणिकं दर्शनम् येन तद्भेदात् तद्ग्राह्यस्यापि भेदः, किन्तु तदपि कालान्तरस्थितिमत् कालान्तरानुपक्रमर्थमवगमयति । असदेतत् – यतः स्थिरं दर्शनमनेककालतां युगपदवभासयति, आहोस्वित् क्रमेणेति ? तत्र न तावद् युगपदवभासयति । तथाहि – यदा दर्शनं घटिकाद्वयारम्भपरिगतमर्थमनुभवति न तदैव तदवभासनसम्वन्धिनम्, तदनुभवे च तस्य वर्त्तमानतापत्तेर्न कालान्तरता । यदि च प्रथमदर्शनमेव भाविरूपतामवगच्छति तथा सति ग्रहणविरतौ किमिति न जानाति 'पदार्थस्तिष्ठति' इति ? न च तदा ग्रहणमुपरतमिति नावगच्छति, यतः तदर्थग्रहणमुदितमिति कथमसत्? अथ पूर्वमुदितं तदधुना प्रच्युतमिति न गृह्णाति ननु तदा ग्रहणाभावे कथं तत्कालत्वं परिगृहीतं भवति?

है इस लिये उस के फलस्वरूप कार्यपरम्परा भी अनादि सिद्ध होगी । उस में पूर्व पूर्व हेतु और अपरापर कार्य ऐसा पौर्वापर्यभाव स्वयं सिद्ध हो जायेगा । इस प्रकार हेतु-कार्यभाव पर अवलंवित अर्थ का स्वभावविशेष ही क्रम है इस लिये अतिरिक्त काल मानने की कोई आवश्यकता नहीं रहती । यदि अतिरिक्त क्षणपरम्परा रूप काल की हस्ती मानेंगे तो उन क्षणों में पौर्वापर्यस्वरूप क्रम की संगति के लिये अन्य काल मानना होगा, उस में भी क्रम की संगति के लिये अन्य काल..... इस तरह अनवस्था चलेगी । यदि कालक्षणों का क्रम स्वतः हो सकता है तो फिर पदार्थों का क्रम स्वतः क्यों नहीं हो सकता ? निष्कर्ष, जो क्रमशः उपलब्ध होता है वह अन्य अन्य स्वभाववाला होता है इसलिये क्षण क्षण के पदार्थों में स्वभावभेद सिद्ध हो सकता है ।

★ अनेकक्षणस्थिति का एक-साथ प्रतिभास अशक्य ★

यदि यह कहा जाय – संवेदन भले ही क्षणिक हो लेकिन उस में जो पदार्थ भासित होते हैं वह एकसाथ ही एक कालीन भासित होते हैं – कालक्रम लक्षित ही नहीं होता इसलिये कालक्रमप्रयुक्त क्षणभेद की हस्ती ही नहीं है । – तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि नित्यवाद में नित्यत्व कालाभेदस्वरूप है और कालाभेद अनेकक्षणस्थितिरूप है, यह अनेकक्षणस्थिति एकसाथ भासित नहीं होती है । क्यों ? इस लिये कि जब एक क्षणस्थिति भासित होती है तब यदि उस से विभिन्नरूप में दूसरी क्षणस्थिति भी भासित होगी – ऐसा होने पर अलग अलग दो क्षणस्थितियों का एकसाथ प्रतिभास होने से नित्यत्वस्वरूप कालाभेद का क्या होगा ? अब यदि कहेंगे कि वहाँ भी एक-दूसरे से अव्यतिरिक्त अभिन्न ही क्षणान्तरस्थिति का प्रतिभास होता है – तो यहाँ दो विकल्पप्रश्न – क्या द्वितीयक्षणस्थिति आद्यक्षणस्थितिरूप से लक्षित होती है ? या आद्यक्षणस्थिति द्वितीयक्षणस्थितिरूप में लक्षित होती है ? पहले विकल्प में सार यह निकलेगा कि आद्यक्षणस्थिति का ही प्रतिभास होता है अतः पूर्व-अपर क्षणों के अभेद का प्रतिभास उत्थित ही नहीं होगा । द्वितीय विकल्प में भी ऐसा ही होगा क्योंकि वहाँ द्वितीयक्षणस्थिति का ही प्रतिभास होगा, प्रथमक्षणस्थिति का नहीं ।

अथ यदा दर्शनं विरमति न तदा तद्रूपं प्रतिभाति किन्तु यदा तदुदितं विद्यते तदा भाविरूपपरिच्छेदः । तदप्यसद् – यतस्तदापि तत्कालतैव तेन परिगृह्यते न भाविरूपम् असंनिहितत्वात्, संनिधाने वा भाविरूपतानुपपत्तेः । यदि हि तद् दर्शनकाले प्रतिभासमानमस्ति स्वरूपेण तथा सति वर्त्तमानतैवेति तदपि प्रत्युत्पन्नम् न भाविरूपम् भावित्वे वा तदाऽसंनिधेः कथमसत् प्रतिभाति ? यदि त्वसंनिहितमपि तद् भाति तथा सति सकलभाविभावरूपपरम्परा प्रतिभासताम् इति धर्मादेरपि सर्वस्य भविष्यद्रूपस्य प्रति-

---

यदि ऐसा कहें कि – एक क्षणस्थिति जैसा कुछ भी भासित नहीं होता सिर्फ सर्वदा स्थिति ही स्थिति भासित होती है । अतः अभेद अक्षुण्ण रहेगा । – तो यहाँ प्रश्न होगा कि यदि दृष्टा को एकक्षणस्थिति का भी पता नहीं लगता तो बहुक्षणिस्थिति का एक साथ पता कैसे चलेगा ? इस से तो अच्छा है यही माना जाय कि क्षणिक दर्शन में सिर्फ क्षणस्थिति का ही अवबोध होता है इस लिये क्षणस्थिति ही वास्तविक है न कि कालान्तरस्थिति ।

★ दर्शन में कालान्तरस्थायित्व का निरसन ★

आशंका : दर्शन भी हमारे मत में क्षणिक नहीं है इसलिये दर्शन के भेद से उस के ग्राह्य विषयों में भेदप्रसक्ति को यहाँ अवकाश ही नहीं है । दर्शन भी कालान्तरस्थायि ही होता है, इस लिये उस से कालान्तरस्थायि अर्थ का अवबोध होने में कोई विरोध नहीं ।

उत्तर : यह विधान गलत है । कारण, यहाँ दो विकल्प प्रश्न हैं कि स्थिर यानी अनेकक्षणस्थायि दर्शन वस्तु की अनेककालता का भान एकसाथ ही कर लेता है या क्रमशः ? प्रथम विकल्प– एकसाथ अनेककालता का अवभास बुद्धिगम्य नहीं है । कैसे यह देखिये– दर्शन जब घडीयुगल (= ४८मिनिट) के प्रारम्भ काल में व्याप्त अर्थ का अनुभव ले रहा है उस वक्त उस अवभासन का सम्बन्धि यानी आरम्भक्षण का उत्तरकालीन सम्बन्धि अर्थ का अनुभव नहीं होता । यदि उसका भी उस क्षण में अनुभव हो जायेगा तो वह भी वर्त्तमानकालीन हो जायेगा, कालान्तरस्वरूप नहीं रह पायेगा । अब यहाँ प्रश्न है कि यदि प्रथम क्षण का दर्शन कालान्तर को स्पर्श न करता हुआ सिर्फ कालान्तरभाविस्वरूप का ही अनुभव अपने काल में कर लेता है तो उस दर्शन के क्षय होने के पश्चात् क्षणमें 'अब भी पदार्थ स्थितिधारी ही है' ऐसा अवबोध क्यों नहीं होता ? यदि उस क्षण में दर्शनात्मक ग्रहण नष्ट हो जाने से वैसा अवबोध न होने का कहा जाय तो वह उचित नहीं है, क्योंकि भावि अर्थग्रहण उदित हो चुका है वह अब नहीं क्यों है ? क्यों वह विद्यमान नहीं ? यदि कहें कि– वह जरूर उदित हुआ था लेकिन बाद में उस का अस्त हो गया इसलिये भाविरूपता का अवबोध नहीं होगा– यहाँ प्रश्न है कि जब बाद में अस्त हो जाने पर भाविरूप का ग्राहक ही कोई रहा नहीं तब पूर्वगृहीत पदार्थ में उत्तरकालीनता का ग्रहण कैसे गृहीत होगा ? नियम है कि समानकालीन अर्थ को समकालीन ही दर्शन ग्रहण करता है ।

★ वर्त्तमान दर्शन में भाविरूप का अवबोध अशक्य ★

यदि ऐसा कहें कि– दर्शन जब विरत हो जाता है तब भाविरूप का अवबोध नहीं करता किन्तु जब वह उदित रहता है तब उसका अवबोध करता है । तो यह भी गलत है क्योंकि जिस क्षण में वह उदित रहता है तत्क्षणवर्त्ती ही वह उस अर्थ को गृहीत करता है, भाविरूप का ग्रहण वह उस क्षण में नहीं क[illegible]

अथ तदेव, तत्रापि न प्रमाणमस्ति, पूर्वापरदृशोर*संस्पर्शस्तु प्रतिभासभेदात् प्रतिभास्यमपि भिनत्ति । [c]नापि तृतीया कल्पना, यतः स्मृतिरेव पूर्वरूपतां निरन्तरदर्शिनोऽवभासयति न दृगिति प्राप्तम् तच्चेष्टमेव । तथाहि – यस्य स्मृतिर्नास्ति तदैवागतस्य नासौ मासादिपरिगतमर्थमध्यवस्यति । ननु च स्मृतावपि पू-

अवबोध होता है तब वास्तव में वह दृश्यमानरूप का ही अनुभव है, पूर्वरूप का नहीं । ऐसा नहीं कह सकते कि– 'पूर्वरूपता की मूर्त्ति का अवभास भले न हो, गुप्तरूप से उसकी हस्ती तो होती है'– ऐसा कहेंगे तो शशसींग की हस्ती स्वीकारना होगा, वास्तव में 'यह वही है' इस दर्शन में वर्त्तमानरूप ही भासित होता है इसलिये सिर्फ दर्शन में भासित होनेवाले वर्त्तमानरूप को ही 'सत्' मानना युक्ति-अनुसारी है ।

★ पूर्वरूपता स्फुरित होने पर तीन विकल्प ★

ऐसा मत कहना कि– 'पूर्वरूपता भी दर्शन में स्फुरित होती ही है'- क्योंकि वह स्फुरित कैसे होती है– [a]उसी दर्शन में प्रतिबद्ध हो कर स्फुरित होती है या [b]पूर्वदर्शन में अथवा [c]स्मृति में संबद्ध हो कर ? ये तीन संभवित कल्पना हैं । [a]प्रथम में, वह दर्शन मिथ्या होने की आपत्ति है, क्योंकि पूर्वरूपता संनिहित न होने पर भी वह उस दर्शन में सम्बद्ध हो कर भासित होती है । यदि कहें कि पूर्वरूपता संनिहित ही है तब तो संनिहित रह कर स्फुरित होनेवाली वह अतीतमय न हो कर वर्त्तमानमय ही भासित होगी, फलतः पूर्व-अपर का भेद ज्ञात नहीं हो सकेगा । जिसको आप प्रत्यभिज्ञा कहते हो जिस को स्मरण– और अध्यक्ष का मिलितरूप मानते हो, वैसा दर्शन यदि पदार्थ की वर्त्तमानरूपता और पूर्वरूपता को ग्रहण करता है तो ऐसा होने पर संनिहित वर्त्तमानरूपता और असंनिहित पूर्वरूपता को भासित करनेवाला संवेदन एक नहीं किन्तु दो है जो कि परस्पर विरोधि रूप को ग्रहण करते हैं । कैसे यह देखिये– वर्त्तमानता को साक्षात् करने वाला संवेदनरूप पूर्वरूपताग्राहकरूप से अनुभव गोचर नहीं होता, एवं पूर्वरूपतासंवेदिरूप वर्त्तमानतासाक्षात्कारक के रूप में अनुभवगोचर नहीं होता- इस प्रकार संवेदन का द्वैविध्य यानी भेद नहीं क्यों होगा ? यदि नहीं होगा तो फिर विश्व में कहीं भी भेद को बैठने का न्यायोचित स्थान ही नहीं मिलेगा, क्योंकि विरोधिधर्मद्वयसमावेश के बावजुद भी आपको भेद इष्ट नहीं है ।

★ द्वितीय-तृतीय विकल्पों की समीक्षा ★

[b]पूर्व दर्शन से सम्बद्ध हो कर पूर्वरूपता उत्तर दर्शन में स्फुरित होती है वह द्वितीय कल्पना भी युक्तिसंगत नहीं है । कारण, पूर्वदर्शन ही वर्त्तमान में असत् है, असत् होने पर वह पूर्वरूपता का प्रकाशक कैसे हो सकेगा ? यदि कहें कि पूर्वक्षण में उसने पूर्वरूपता को गृहीत कर लिया है तो प्रश्न है कि कैसे गृहीत किया है– पूर्वक्षण में उसका वर्त्तमानरूप गृहीत किया था या अन्य कोई रूप ? यदि अन्य किसी रूप को गृहीत किया था तब तो वर्त्तमान रूप के साथ उसकी एकता की बात ही कहाँ रही ? आप तो पूर्वरूप और वर्त्तमानरूप को एक सिद्ध करना चाहते हैं, यदि पूर्वकालीन दर्शन ने वर्त्तमानभिन्न रूप को गृहीत किया था तो उसका वर्त्तमानरूप के साथ ऐक्य स्वतः प्रहत हो जाता है– यह तात्पर्य है । यदि कहें कि वर्त्तमानरूप को ही गृहीत किया था– तो उस विधान में कोई प्रमाण नहीं है, क्योंकि सूत्र में न पिरोये गये मणियों की तरह पूर्व-अपर दर्शनों में कोई सम्बन्ध ही नहीं होता । सम्बन्ध न होने के कारण ही पूर्व-अपर दर्शन के प्रतिभास में भेद सूचित होता है और वही प्रतिभास-भेद अपने विषयों में भी भेद सूचित कर देता है ।

* 'शोरसंस्पर्शोनसंस्पर्शस्तु' इति पाठः लिंबडीआदर्शे । 'शोरसंस्पर्शाद् असंस्पर्शस्तु' इति अत्रोचितपाठः भाति– तदनुसारेण व्याख्यातमत्र ।

पूर्वरूपता यदि चकास्ति तथापि सत्येव 'उपलब्धिः सत्ता'[ ] इति वचनात् । असदेतत् यतः स्मृतिरपि न वर्त्तमानकालपरिगतमवतरति तमनवतरन्ती च न तदभिन्नं पूर्वं रूपमादर्शयितुं समर्पेति न साप्यभेदग्राहदक्षा । तस्मात् पूर्वदृगनुसारिणी स्मृतिरपि वर्त्तमानदृशो भिन्नविषयैव ।

अथ 'तदेवेदम्' इति दर्शनसमानाधिकरणतया स्मृत्युत्पत्तेः पूर्वापराभिन्नार्थता । ननु किमिदं सामानाधिकरण्यम् ? यदि दर्शन-स्मृत्योरभिन्नावभासिता तदयुक्तम्, प्रतिभासभेदात् । तथाहि – दर्शनं स्फुटप्रतिभासं वर्त्तमानार्थविषयतयाऽवभाति, स्मरणमप्यस्पष्टप्रतिभासं बिभ्राणं परोक्षोल्लेखवदाभाति तत् कथमेकः प्रतिभासः ? प्रतिभास(स?)भेदाच्च* रूपस्पर्शसंविदोरपि विषयभेदः, तत एवैकत्वं न क्वचिदपि भातीति न वस्तुसत् । भवतु वा कल्पनोल्लेखविषयोऽभेदः तथापि प्रतिभासभेदान्नाऽभेदः – इत्युक्तम् ।

अनेनैव न्यायेन दर्शनस्याप्यभेदो निषेद्धव्यः । तथाहि-दर्शनमपि निरस्तबहिरर्थप्रतिभासमात्मानमेवोद्योतयितुं समर्थम् तत्रैव पर्यवसितत्वात् न बहिरर्थम्, नापि नरान्तरसंवेदनम्, तदवेदने च न ततोऽभिन्नमात्मानमाख्यातुमलम् । न च ततो भेदावेदनमेवाभेदवेदनम् विपर्ययेऽप्यस्य समानत्वात् । तथाहि – भेदवादिनाप्येतच्छक्यते वक्तुम् – अन्यतोऽभेदावेदनमेव भेदवेदनं संवेदनस्य । किंच, स्वसंवेदनेऽन्यानु-

^०तीसरी कल्पना– स्मृति से सम्बद्ध हो कर पूर्वरूपता दर्शन में स्फुरित होती है– ठीक नहीं है, क्योंकि तब तो यही फलित होगा कि स्मृति ही निरंतर देखने वाले को पूर्वरूपता का अवबोध कराती है न कि दर्शन, और यह तो हमें भी मान्य ही है । [तात्पर्य, पूर्वरूपता दर्शन में स्फुरित नहीं होती, स्मृति में जो भासित होता है उसी को 'पूर्व' संज्ञा दे दी गयी है ।] स्पष्ट है कि नये आने वाले को स्मरण नहीं है, उसको 'इसको एक महीना हुआ' ऐसा अध्यवसाय अर्थ के बारे में कभी नहीं होता ।

आशंका :- दर्शन में नहीं सही, स्मृति में भी पूर्वरूपता जब भासित होती है तो वह सद्रूप ही होनी चाहिये न कि असद्रूप, क्योंकि स्मृति भी एक प्रकार से उपलब्धि ही है और आपने ही कहा है कि 'उपलब्धि ही सत्ता है ।'

उत्तर :-यह गलत बात है क्योंकि स्मृति भी वर्त्तमानकाल से सम्बद्ध पूर्वरूपता का प्रकाशन नहीं करती, अत एव वह पूर्वरूप को वर्त्तमान रूप से अभिन्न दिखाने के लिये असमर्थ है, इस लिये स्मृति में भी अभेदग्राहकता नहीं हो सकती । निष्कर्ष – पूर्वदर्शन का अनुसरण करनेवाली स्मृति का विषय, वर्त्तमानदर्शन के विषय से भिन्न ही है ।

★ दर्शन और स्मृति का अभेदानुभव अयुक्त ★

आशंका : 'तदेवेदम् = वह यही है' ऐसा अनुभव सभी को होता है, इस अनुभव में दर्शन का विषय इदंता (= यहपन) है और स्मृति का विषय तत्ता (= वहपन) है । इस अनुभव में इन दोनों का सामानाधिकरण्य भासित होता है । अतः दर्शनविषय के साथ सामानाधिकरण्यरूप से अपने विषय को भासित करती हुई स्मृति उत्पन्न होती है । [illegible] 'तदेवेदम्' इस अनुभव में 'तद्' अंश स्मृतिविषयता का और 'इदम्' अंश दर्शनविषयता का [illegible] है, [illegible] दोनों का सामानाधिकरण्य भी भासित होता है । [illegible], दोनों का सामानाधिकरण्य

* [illegible]

पत्तिरस्तु । न च 'प्रतिभासमानाऽव्यतिरिक्तं भाविरूपमाभाति, धर्मादिकं तु तद्व्यतिरिक्तमिति न तद्ग्रहः'- यतोऽत्रापि यदि भाविरूपं वर्त्तमानतया प्रतिभाति तथा सति वर्त्तमानमेव तद् इति कथं कालान्तरस्थायिता ? अथ वर्त्तमानं भाविरूपतया गृह्यते – नन्वेवं भाविरूपमेव तद् भवति न च वर्त्तमानं किंचिन्नाम, तथा चाऽवर्त्तमानमपि भाविरूपं वर्त्तमानतया प्रत्यक्षे प्रतिभातीति सर्वं दर्शनं विपरीतख्यातिर्भवेत्, ततो विशदतया यत् प्रतिभासते वस्तु सर्वं तद् वर्त्तमानमेवेति कथं स्थायितालक्षणः पौर्वापर्याभेदः ?

अथ क्रमेण कालान्तरस्थायि दर्शनं स्थायितां प्रत्येष्यति – नन्वेवमपि वर्त्तमानताप्रकाशकाले कालान्तरस्थितिर्न प्रतिभाति, तदवभासकाले तु न पूर्वकालताप्रतिपत्तिरिति परस्पराऽस्पर्शिनी दर्शनमवतरन्ती क्षणपरम्परैव स्यात् । यदि पूर्वरूपता सम्प्रति दर्शने प्रतिभाति तथा सति प्रथममागतस्तामवगच्छेत् । न च 'तत्र पूर्वदर्शनं नोदितमिति सामग्र्यभावान्न तद्ग्रहणम्', यतः पूर्वदर्शनाऽसन्निधिस्तदा निरन्तरदर्शनेपि समान इति कथमभेदग्रहणं प्रति सहकारी ? अथ निरन्तरदर्शिनः 'तदेव दर्शनम्'

सकता क्योंकि वह संनिहित नहीं है, यदि वह उस काल में किसी तरह संनिहित नहीं है तो वह अव वर्त्तमानरूप वन जाता है, भाविरूपता उसमें नहीं घटेगी । स्पष्टता– यदि वह भावि रूप दर्शनकाल में अपने स्वरूप से स्फुरित होता है तव वह वर्त्तमानता को ही प्राप्त कर लेगा, फलतः वह भाविरूप न रह कर वर्त्तमानरूप हो जायेगा । यदि भाविरूप ही रहेगा तो वह उस वक्त संनिहित न रहने से स्फुरित नहीं हो सकेगा क्योंकि वर्त्तमान में भाविरूप असत् है, वह कैसे स्फुरित होगा ? यदि ऐसा मानें कि भाविरूप असंनिहित होने पर भी स्फुरित हो सकता है तव तो समस्त असंनिहित भाविपरम्परा भी वर्त्तमान में स्फुरने लगेगी और विवादास्पद भविष्यत्कालीन धर्मादि सर्व पदार्थ भी स्फुरने लगेगा, फिर कोई विवाद ही कैसे रहेगा ? यदि कहें कि जो भाविरूप वर्त्तमानरूप के साथ अभेद धारण करता है वही स्फुरित होता है, धर्मादि तो वर्त्तमानरूप से अभेद नहीं रखते इसलिये धर्मादि का स्फुरण वर्त्तमान में नहीं हो सकता । तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि यहाँ भी पुरानी बात पुनः आवर्त्तित होगी– यदि भाविरूप वर्त्तमानरूप से स्फुरित होता है तव तो वह वर्त्तमान ही है, कालान्तर स्थायि नहीं है । यदि वर्त्तमानरूप भाविरूप से स्फुरित होता है तव वह भाविरूप ही है वर्त्तमानस्वरूप कुछ है नहीं । इसका फलितार्थ यह निकलेगा कि जो अवर्त्तमानस्वरूप भाविरूप है वही दर्शन में वर्त्तमानरूप में स्फुरित होता है इसलिये सभी प्रत्यक्ष अन्यथाख्याति यानी भ्रान्तस्वरूप ही है । यदि इस विपदा से पार उतरना है तो मानना होगा कि दर्शन में जो कुछ भी वस्तु स्पष्टरूप से लक्षित होती है वह वर्त्तमानमात्र ही होती है न कि कालान्तरस्थायि । अब स्थायिस्वरूप पूर्व-अपर के अभेद को कहाँ अवकाश रहेगा ?

★ क्रमशः स्थायिता का उपलम्भ अशक्य ★

पहले जो दो विकल्प प्रश्न थे– [३३०-२२] स्थिर दर्शन एक साथ अनेककालता का अवबोध कर लेगा या क्रमशः ? उसमें पहले विकल्प की चर्चा के वाद अव दूसरे विकल्प पर विचार चलता है–

'कालान्तरस्थायि दर्शन स्थायित्व का अवबोध क्रमशः करेगा'– इस वात पर यह विचार है कि ऐसा मानने पर भी निश्चित है कि वर्त्तमानता के अववोध काल में कालान्तर स्थिति का अववोध होने वाला नहीं, और जव कालान्तर स्थिति के अववोध का काल आयेगा तव पूर्वकालता का अवबोध नहीं होगा, फलतः एक-दूसरे क्षणों से असंबद्ध ऐसी क्षण-परम्परा ही दर्शन की अतिथि वनेगी । यदि वर्त्तमानकालीन दर्शन में पूर्वरूपता का

यभेदप्रतिपत्तिर्भविष्यति, ननु यदि नाम तदेव दर्शनम् तथापि तत् प्रतिभातं पूर्वम् अधुना न प्रति-
ाति । तथाहि– दृश्यमानाद् रूपात् ताद्रूप्यं भिन्नमाभाति अभिन्नं वा इति कल्पनाद्वयम् । यदि भिन्नं
दा न तद्रूपाभेदः । अथाभिन्नं भाति तदापि ^Aदृश्यमानतया वा पूर्वरूपम् ^Bपूर्वरूपतया वा दृश्यमानं
ातीति वक्तव्यम् । ^Bतत्र यदि पूर्वरूपतया दृश्यमानं प्रतिभाति तथा सति पूर्वरूपानुभव एव, न
र्तमानरूपाधिगतिरिति सर्वाऽध्यक्षमतिः स्मृतिरूपतामासादयेत् । अथ दृश्यमानतया पूर्वरूपाधिगतिः तत्रापि
फुटमनुभूयमानमेव रूपम् न पूर्वरूपता, नहि सा तिरोहिताऽप्रतिभासमानमूर्त्तिरस्तीति शक्यं वक्तुम्,
देव हि तत्र दृशि प्रतिभाति वर्त्तमानं रूपं तदेव सद् युक्तम् ।

न च पूर्वरूपतापि तत्र भात्येवेति वक्तव्यम्, यतः सा किं ^aतस्यामेव दृशि प्रतिबद्धा प्रतिभाति
द्या ^bपूर्वस्याम् ^cअथ स्मृतौ– इति कल्पनात्रयम् । ^aतत्राद्यकल्पनायां पूर्वरूपतामसन्निहितामधिगच्छन्ती
ग् अनृता भवेत् । अथ पूर्वकालता संनिहितैव– नन्वेवं सति सापि संनिहिता तत्र प्रकाशमाना वर्त्तमानैव
भवेत् नातीता, तथा च न पूर्वापरभेदः । यदि तत् स्मरणाध्यक्षरूपं दर्शनं वर्त्तमानरूपतां पूर्वरूपतां
च पदार्थस्य प्रत्येति तथा सति संनिहिताऽसंनिहितस्वरूपग्राहि संविद्द्वयं परस्परभिन्नं भवेत् । तथाहि–
वर्त्तमानतासाक्षात्कारि संवित्स्वरूपं न पूर्वरूपग्राहिस्वरूपतया भाति, नापि पूर्वरूपतावेदकं साम्प्रति-
करूपसाक्षात्कारिरूपतया चकास्ति, कथं न भेदः संवेदनस्य ? अन्यथा सर्वत्र भेदोपरतिप्रसक्तिः ।

^bनापि द्वितीयकल्पना, यतः तत्रापि पूर्वदृगधुना नास्तीति कथमसती सा ग्राहिका भवेत् ?
अथ पूर्वं तया गृहीतमित्युच्यते तत्रापि किं वर्त्तमानं रूपं तया गृहीतम् उतान्यत्? यद्यन्यत् कथमेकता ?

स्वरूप स्वीकार किया जाय तो ऐसा होगा कि वस्तु को पहलीबार देखने को आये हुए व्यक्ति को भी उसकी
पूर्वरूपता का पता चल जायेगा । यदि ऐसा कहें कि- नये व्यक्ति को पहले उसका दर्शन नहीं हुआ था, पूर्वरूपता
के ग्रहण के लिये उस के पास पूर्वदर्शनरूप सामग्री न होने से उसका ग्रहण नहीं हो सकेगा ।- तो यह ठीक
नहीं, क्योंकि निरन्तरदर्शनवाद में पूर्वक्षण में दर्शन तो वही था इसलिये (उसको तो पूर्वदर्शन में गिन नहीं सकते
और) अन्य किसी पूर्वदर्शन के संनिधान का अभाव तो सभी के लिये समान है, अतः पूर्वदर्शन का संनिधान
कैसे अभेदग्रहण में सहकारी होगा ? यदि कहें कि- नये देखने वाले को निरन्तरदर्शन न होने से अभेदबोध
नहीं होगा किन्तु निरन्तरदर्शनवाले को 'यह वही दर्शन है' ऐसा अभेदबोध हो सकता है । तो इस पर सोचना
चाहिये कि दर्शन भले एक माना जाय फिर भी जो पूर्व में स्फुरित हुआ है वही वर्तमान में स्फुरित नहीं होता ।
जैसे यह देखिये- 'यह वही दर्शन है' इस में 'यह' शब्द वर्तमान-दृश्यमान रूप सूचित करता है और 'वही'
शब्द तद्रूपता (पूर्वरूपता) को सूचित करनेवाला है- अब यहाँ दो विकल्प प्रश्न होंगे कि 'तद्रूपता' दृश्यमान-वर्तमानरूप
से 'यह वही दर्शन है' इस प्रतीति में भिन्न भासित होती है या अभिन्न ? यदि भिन्न भासित होती है तब
तो तद्रूपता के अभेद को स्थान ही नहीं है । यदि अभिन्न भासती है तो दो में से कौन से प्रकार से अभिन्न
भासती है - ^Aदृश्यमानरूप से पूर्वरूप भासित होता है या ^Bपूर्वरूपतया दृश्यमान रूप भासित होता है ? ^Bयदि
दृश्यमानरूप पूर्वरूपतया भासित होता हो तब वास्तव में वह दृश्यमानरूप नहीं है किन्तु पूर्वरूपानुभवरूप ही
है, अतः यह कोई भी प्रत्यक्षबुद्धि पूर्वरूपवेदक होने से [illegible] स्मृतिरूप हो जायेगी । ^Aयदि दृश्यमान रूप से [illegible]

अथ तदेव, तत्रापि न प्रमाणमस्ति, पूर्वापरदृशोर्*संस्पर्शस्तु प्रतिभासभेदात् प्रतिभास्यमपि भिनत्ति। [c]नापि तृतीया कल्पना, यतः स्मृतिरेव पूर्वरूपतां निरन्तरदर्शिनोऽवभासयति न दृगिति प्राप्तम् तच्चेष्टमेव। तथाहि – यस्य स्मृतिर्नास्ति तदैवागतस्य नासौ मासादिपरिगतमर्थमध्यवस्यति। ननु च स्मृतावपि पू-

अववोध होता है तव वास्तव में वह दृश्यमानरूप का ही अनुभव है, पूर्वरूप का नहीं। ऐसा नहीं कह सकते कि– 'पूर्वरूपता की मूर्त्ति का अवभास भले न हो, गुप्तरूप से उसकी हस्ती तो होती है'– ऐसा कहेंगे तो शशसींग की हस्ती स्वीकारना होगा, वास्तव में 'यह वही है' इस दर्शन में वर्त्तमानरूप ही भासित होता है इसलिये सिर्फ दर्शन में भासित होनेवाले वर्त्तमानरूप को ही 'सत्' मानना युक्ति-अनुसारी है।

★ पूर्वरूपता स्फुरित होने पर तीन विकल्प ★

ऐसा मत कहना कि– 'पूर्वरूपता भी दर्शन में स्फुरित होती ही है'- क्योंकि वह स्फुरित कैसे होती है– [a]उसी दर्शन में प्रतिवद्ध हो कर स्फुरित होती है या [b]पूर्वदर्शन में अथवा [c]स्मृति में संवद्ध हो कर ? ये तीन संभवित कल्पना हैं। [a]प्रथम में, वह दर्शन मिथ्या होने की आपत्ति है, क्योंकि पूर्वरूपता संनिहित न होने पर भी वह उस दर्शन में सम्वद्ध हो कर भासित होती है। यदि कहें कि पूर्वरूपता संनिहित ही है तव तो संनिहित रह कर स्फुरित होनेवाली वह अतीतमय न हो कर वर्त्तमानमय ही भासित होगी, फलतः पूर्व-अपर का भेद ज्ञात नहीं हो सकेगा। जिसको आप प्रत्यभिज्ञा कहते हो जिस को स्मरण– और अध्यक्ष का मिलितरूप मानते हो, वैसा दर्शन यदि पदार्थ की वर्त्तमानरूपता और पूर्वरूपता को ग्रहण करता है तो ऐसा होने पर संनिहित वर्त्तमानरूपता और असंनिहित पूर्वरूपता को भासित करनेवाला संवेदन एक नहीं किन्तु दो है जो कि परस्पर विरोधि रूप को ग्रहण करते हैं। कैसे यह देखिये– वर्त्तमानता को साक्षात् करने वाला संवेदनरूप पूर्वरूपताग्राहकरूप से अनुभव गोचर नहीं होता, एवं पूर्वरूपतासंवेदिरूप वर्त्तमानतासाक्षात्कारक के रूप में अनुभवगोचर नहीं होता- इस प्रकार संवेदन का द्वैविध्य यानी भेद नहीं क्यों होगा ? यदि नहीं होगा तो फिर विश्व में कहीं भी भेद को बैठने का न्यायोचित स्थान ही नहीं मिलेगा, क्योंकि विरोधिधर्मद्वयसमावेश के बावजुद भी आपको भेद इष्ट नहीं है।

★ द्वितीय-तृतीय विकल्पों की समीक्षा ★

[b]पूर्व दर्शन से सम्वद्ध हो कर पूर्वरूपता उत्तर दर्शन में स्फुरित होती है वह द्वितीय कल्पना भी युक्तिसंगत नहीं है। कारण, पूर्वदर्शन ही वर्त्तमान में असत् है, असत् होने पर वह पूर्वरूपता का प्रकाशक कैसे हो सकेगा ? यदि कहें कि पूर्वक्षण में उसने पूर्वरूपता को गृहीत कर लिया है तो प्रश्न है कि कैसे गृहीत किया है– पूर्वक्षण में उसका वर्त्तमानरूप गृहीत किया था या अन्य कोई रूप ? यदि अन्य किसी रूप को गृहीत किया था तब तो वर्त्तमान रूप के साथ उसकी एकता की बात ही कहाँ रही ? आप तो पूर्वरूप और वर्त्तमानरूप को एक सिद्ध करना चाहते हैं, यदि पूर्वकालीन दर्शन ने वर्त्तमानभिन्न रूप को गृहीत किया था तो उसका वर्त्तमानरूप के साथ ऐक्य स्वतः प्रहत हो जाता है– यह तात्पर्य है। यदि कहें कि वर्त्तमानरूप को ही गृहीत किया था– तो उस विधान में कोई प्रमाण नहीं है, क्योंकि सूत्र में न पिरोये गये मणियों की तरह पूर्व-अपर दर्शनों में कोई सम्वन्ध ही नहीं होता। सम्वन्ध न होने के कारण ही पूर्व-अपर दर्शन के प्रतिभास में भेद सूचित होता है और वही प्रतिभास-भेद अपने विषयों में भी भेद सूचित कर देता है।

* 'शोरसंस्पर्शोनसंस्पर्शस्तु' इति पाठः लिंवडीआदर्शे। 'शोरसंस्पर्शाद् असंस्पर्शस्तु' इति अत्रोचितपाठः भाति– तदनुसारेण व्याख्यातमत्र।

पूर्वरूपता यदि भवताऽस्ति तथापि सत्येव 'उपलब्धिः सत्ता'[ ] इति वचनात् । असदेतत् यतः स्मृतिरपि न वर्त्तमानकालपरिगतमवतरति तमनवतरन्ती च न तदभिन्नं पूर्वं रूपमादर्शयितुं समर्थेति न साऽप्यभेदग्राहदक्षा । तस्मात् पूर्वदृगनुसारिणी स्मृतिरपि वर्त्तमानदृशो भिन्नविषयैव ।

अथ 'तदेवेदम्' इति दर्शनसमानाधिकरणतया स्मृत्युत्पत्तेः पूर्वापराभिन्नार्थता । ननु किमिदं सामानाधिकरण्यम् ? यदि दर्शन-स्मृत्योरभिन्नावभासिता तदयुक्तम्, प्रतिभासभेदात् । तथाहि – दर्शनं स्फुटप्रतिभासं वर्त्तमानार्थविषयतयाऽवभाति, स्मरणमप्यस्पष्टप्रतिभासं बिभ्राणं परोक्षोल्लेखवदाभाति तत् क-थमेकः प्रतिभासः ? प्रतिभास(व?)भेदाच्च* रूपस्पर्शसंविदोरपि विषयभेदः, तत एवैकत्वं न क्वचिदपि भातीति न वस्तुसत् । भवतु वा कल्पनोल्लेखविषयोऽभेदः तथापि प्रतिभासभेदान्नाऽभेदः – इत्युक्तम् ।

अनेनैव न्यायेन दर्शनस्याप्यभेदो निषेद्धव्यः । तथाहि-दर्शनमपि निरस्तबहिरर्थप्रतिभासमात्मान-मेवोद्द्योतयितुं समर्थम् तत्रैव पर्यवसितत्वात् न बहिरर्थम्, नापि नरान्तरसंवेदनम्, तदवेदने च न ततोऽ-भिन्नमात्मानमाख्यातुमलम् । न च ततो भेदावेदनमेवाभेदवेदनम् विपर्ययेऽप्यस्य समानत्वात् । तथाहि – भेदवादिनाप्येतच्छक्यते वक्तुम् – अन्यतोऽभेदावेदनमेव भेदवेदनं संवेदनस्य । किंच, स्वसंवेदनेऽन्यानु-

^तीसरी कल्पना– स्मृति से सम्बद्ध हो कर पूर्वरूपता दर्शन में स्फुरित होती है– ठीक नहीं है, क्योंकि तब तो यही फलित होगा कि स्मृति ही निरंतर देखने वाले को पूर्वरूपता का अवबोध कराती है न कि दर्शन, और यह तो हमें भी मान्य ही है । [तात्पर्य, पूर्वरूपता दर्शन में स्फुरित नहीं होती, स्मृति में जो भासित होता है उसी को 'पूर्व' संज्ञा दे दी गयी है ।] स्पष्ट है कि नये आने वाले को स्मरण नहीं है, उसको 'इसको एक महीना हुआ' ऐसा अध्यवसाय ऊर्ट के बारे में कभी नहीं होता ।

आशंका :- दर्शन में नहीं सही, स्मृति में भी पूर्वरूपता जब भासित होती है तो यह सद्रूप ही होनी चाहिये न कि असद्रूप, क्योंकि स्मृति भी एक प्रकार से उपलब्धि ही है और आपने ही कहा है कि 'उपलब्धि ही सत्ता है ।'

उत्तर :-यह गलत बात है क्योंकि स्मृति भी वर्त्तमानकाल से सम्बद्ध पूर्वरूपता का प्रकाशन नहीं करती, अत एव वह पूर्वरूप को वर्त्तमान रूप से अभिन्न दिखाने के लिये असमर्थ है, इस लिये स्मृति में भी अभेदग्रहणपटुता नहीं हो सकती । निष्कर्ष – पूर्वदर्शन का अनुसरण करनेवाली स्मृति का विषय, वर्त्तमानदर्शन के विषय से भिन्न ही है ।

★ दर्शन और स्मृति का अभेदानुभव अयुक्त ★

आशंका : 'तदेवेदम् = यह वही है' ऐसा अनुभव सभी को होता है, इस अनुभव में दर्शन का विषय इदंता (= यहपन) है और स्मृति का विषय तत्ता (= वहपन) है । अतः अनुभव में इन दोनों का सामानाधिकरण्य भासित होता है । अतः दर्शनविषय के साथ सामानाधिकरण्यरूप से अपने विषय को भासित करती हुई स्मृति उत्पन्न होती है । अथवा 'तदेवेदम्' इस अनुभव में 'तद्' अंश स्मृतिविषयता का और 'इदम्' अंश दर्शनविषयता का [illegible] करता है, साथ साथ दोनों का सामानाधिकरण्य भी भासित होता है । अतः दोनों का सामानाधिकरण्य

* [illegible]

द्भासनमेव ततो भेददर्शनम् । तथाहि – यद् यथा प्रतिभाति तत् तथाऽभ्युपगन्तव्यम् यथा नीलं नील-रूपतया प्रतिभासमानं तथैवाभ्युपगमविषयः बहिरर्थनरान्तरसंवेदनविविक्ततया च दर्शनं स्वसंवित्तौ प्रति-भातीति तथैव तद्व्यवहारविषयः अन्यथा सकलव्यवहारोच्छेदप्रसंगात् ।

न च स्वदर्शनमेवाऽपरोक्षतया स्ववपुषि प्रतिभातीति तदेव सदस्तु परसंविदादयस्तु न निर्भान्ति कथं ताः सत्याः ? कथं वा ततः स्वसंविदो भेदः ? अनुमानेनाऽपि न तासामधिगतिः प्रत्यक्षाऽप्रवृत्तौ तत्रानुमा- नानवतारात् तदवतारेपि न तद् वस्तुसत्तां साधयितुं क्षमम् व्यवहारमात्रेणैव तस्य प्रामाण्या-दिति वक्तव्यम् – यतो यदि स्वदर्शनं परदर्शनसंविदादौ न प्रवर्त्तते परसंवेदनमपि स्वदर्शनादौ न प्रवर्त्तते, इति कथं स्वदर्शनस्यापि सत्यता ? अथ स्वदर्शनमपरोक्षतया स्ववपुषि प्रतिभातीति सत्यम् – नन्वेवं परदर्शनमपि तथैव प्रतिभातीति कथं न सत्यम् ? न हि स्वविषयं प्रतिभासमाबिभ्राणा भावा अन्यत्रान्यथा

हो इस रूप से जो स्मृति की उत्पत्ति होती है उस से यह फलित हो जाता है कि पूर्व और अपर अर्थों में भेद नहीं, अभेद है ।

उत्तर : यहाँ प्रश्न है कि यह सामानाधिकरण्य क्या है ? 'दर्शन और स्मृति का अभिन्नरूप से भासित होना' ऐसा कहना युक्त नहीं है क्योंकि दर्शन और स्मृति दोनों ही भिन्न भिन्न प्रतिभासरूप में सर्वविदित है। कैसे यह भी देखिये – दर्शन का अनुभव स्पष्ट प्रतिभासरूप में होता है जब कि स्मृति का अनुभव अस्पष्ट प्रतिभासरूप में होता है । तथा दर्शन वर्त्तमानार्थविषयक होता है जब कि स्मृति परोक्ष अर्थ का उल्लेख करती है । इतना स्पष्ट भेद होते हुए दर्शन और स्मृति को एक प्रतिभासरूप कैसे मान सकते हैं ? प्रतिभास भिन्न भिन्न होने पर उन के विषयों में भी भेद प्रसिद्ध होगा, जैसे रूपसंवेदन और स्पर्शसंवेदन भिन्न है तो उन के विषय में भी भेद है । जब विषयभेद सिद्ध हुआ तो फलित होता है कि 'तदेवेदम्' इत्यादि प्रतीतियों में वास्तव में कहीं भी एकत्व भासित नहीं होता है इस लिये एकत्व वास्तविक नहीं है । हाँ, कल्पना में अभेदरूप विषय का उल्लेख मान सकते हैं, किन्तु वास्तविकता प्रतिभासभेदप्रयुक्त अभेदनिषेध का समर्थन करती है यह कई बार कह दिया है ।

★ ज्ञानाद्वैतवाद का प्रतिषेध ★

वस्तुअभेद का जिस न्याय से निषेध हुआ उसी न्याय के अनुसार दर्शन के अभेद का यानी ज्ञानाद्वैतवाद का भी निरसन हो सकता है । कैसे यह देखिये – दर्शन सिर्फ अपना ही प्रकाशन करने के लिये समर्थ है बाह्यार्थ का प्रतिभास उस से व्यावृत्ति ही रहता है, क्योंकि वह अपने आप में ही पर्यवसित = स्वमात्रनिरत होता है । न तो वह बाह्यार्थ का उद्भास करता है न अन्य व्यक्ति का । जब वह बाह्यार्थ या संवेदन का अनुभव ही नहीं करता तो उन के साथ अभिन्नता का वेदन कैसे कर पायेगा ? यदि कहें कि – उन के साथ भेद का भी वेदन नहीं होता, और यही भेदका अवेदन अभेदवेदन है । – तो इससे उल्टा सिद्ध करने के लिये भी समानरूप से यह कह सकते हैं कि बाह्यार्थादि से अभेद का वेदन नहीं होता वही संवेदन का भेदवेदन है ।

वास्तव में स्वसंवेदन में अन्य का अवभास न होना यही भेददर्शन है । कैसे यह देखिये – जो जैसा अनुभूत होता हो वैसा ही उस को मानना चाहिये । उदा० नीलाकारतया अनुभूत होने वाले रूप को नीलरूप

प्रतिभासमनवतरन्तः स्वरूपेणाप्यसन्तो नाम । यथा च परसंविदादीनामसत्त्वे न ततः स्वदर्शनस्य भेदसिद्धिः तथाऽभेदस्यापीत्युक्तम् । परसंवेदने च प्रत्यक्षानवतारेऽप्यनुमानप्रवृत्तिरुपपन्नैव, स्वसन्ततौ निश्चितसंवेदनप्रतिबन्धव्यापारव्याहारादेर्लिंगस्य परसन्तानावुपलम्भात् परसंवेदनप्रसिद्धिरनुमाननिबन्धना युक्तैव । अतिसूक्ष्मेक्षिकया सन्तानान्तरप्रतिपत्त्यभावाभ्युपगमे स्वसंविन्मात्रस्याप्यभावप्रसक्तेः ज्ञानाद्वैतवादस्य दत्त एव जलाञ्जलिः । तदेवं संविदो देशाभेदो नावगंतुं शक्यः ।

नापि काल(ला)भेदोऽवगमार्हः । तथाहि – यदा संविद् वर्त्तमाना भाति तदा न पूर्विकाः, तदनवभासे च न तदपेक्षया 'अभिन्ना' इत्यवसातुं शक्या । अथ पूर्वसंवित् स्मरणे प्रतिभातीति प्रकाशमान-स्मर्यमाणयोः संविदोरभेदावगमः । अयुक्तमेतत्, यतः स्मृतावपि संविद् वर्त्तमाना न प्रथते, पूर्वदर्शनमे(१ए)व स्मृतेर्व्यापारात् । सा हि पूर्वदर्शनमेवाध्यवस्यन्ती प्रतिभातीति कथमप्रतिभासमानं वर्त्तमानसंवेदनं (पूर्वसं)विदाऽभिन्नभादर्शयितुं प्रभुः ? अपि च स्मरणमपि स्वतत्त्वमुद्भासयत् तत्रैवोपरत-

---

ही माना जाता है । दर्शन भी अपने संवेदन में बाह्यार्थ और अन्यव्यक्तिसंवेदनशून्य ही अनुभूत होता है इस लिये उस का उन दोनों से भिन्न रूप में ही व्यवहार करना चाहिये । यदि अनुभव के अनुरूप व्यवहार नहीं मानेंगे तो सभी व्यवहारों के उच्छेद का अतिप्रसंग होगा ।

★ बाह्यार्थ और परसंवेदन में असत्यत्वशंका – समाधान ★

आशंका : अपने देह में अपरोक्षरूप से दर्शन स्वयं संविदित होता है, और कुछ भी संविदित नहीं होता, इस लिये स्वदर्शन ही सत्य है, परकीय संवेदनादि अथवा बाह्यार्थ सत्य नहीं है, अत एव उन से जो स्वसंवेदन में भेद दिखाया जाता है वह भी प्रतियोगी असत् होने से असत् है । अनुमान भी परसंवेदन या उस के भेद का अवबोध नहीं कराता, जब प्रत्यक्ष ही उस का नहीं होता तो तदाश्रित अनुमान भी कैसे होगा ? कदाचित् प्रत्यक्ष के बिना भी अनुमानप्रवृत्ति हो जाय फिर भी उस से वस्तुसत्ता की सिद्धि होने का सम्भव नहीं है, क्योंकि अनुमान भी विकल्पात्मक होने से अप्रमाण ही होता है, व्यवहारमात्र के लिये वह प्रमाण कहा जाता है ।

उत्तर : ऐसी आशंका बोलने जैसी नहीं, स्वदर्शन से परकीयदर्शन का या उस के भेद का संवेदन नहीं होता इसी से यदि परदर्शन असत्य माना जाय तो परदर्शन से स्वदर्शन का भी संवेदन नहीं होता तो उसे भी कैसे सत्य माना जाय ? यदि अपने देह में अपरोक्षरूप से स्वदर्शन स्फुरित होता है इस लिये वह सत्य है – तो ऐसे परकीय दर्शन भी उन के देह में अपरोक्षरूप से स्फुरता है तो वह भी सत्य क्यों नहीं ? अपने विषय को अपने आप प्रतिभासित करने वाले पदार्थ कदाचित् अन्य संतानों में एक-या-दूसरे रूप से प्रतिभासित न कर पाये तो इतने मात्र से वे स्वरूपतः असत्य नहीं हो जाते । परकीय संवेदन का स्वदर्शन से स्फुरण न होने पर यदि स्वदर्शन में उस के भेद को असिद्ध माना जाय तो वैसे ही उन के अभेद को भी असिद्ध मानना होगा ।

परसंवेदन का प्रत्यक्ष भले नहीं होता, अनुमान तो सावकाश हो सकता है । अपने देह में जो [illegible] अनुभूत है उस के साथ यह सम्बन्ध भी अनुभूत है कि सुखसंवेदन होता है तब मुख पर [illegible] दिखाई देते हैं, दुःखसंवेदन होता है तब दुःख के – विषाद के सूचक [illegible] दिखाई देते हैं । इस सम्बन्ध का [illegible] किया जाता है [illegible] अन्य व्यक्ति के [illegible] होने पर, सुखसंवेदनादि [illegible]

व्यापारं प्रतिभाति, न तु तत्र पूर्वं दर्शनं स्वरूपेण चकास्ति प्रच्युतस्वरूपत्वात् तस्य । न चोपरत-स्वरूपमपि पूर्वदर्शनं स्मृतौ प्रतिभातीति युक्तम् चकासतो रूपस्य स्मृतावपायात् । चकासद्रूपसंभवे च वर्त्तमानं तद् दर्शनं स्यात् नातीतम् । यत इदमेवातीतस्यातीतत्वं यत् चकासद्रूपविरहः । तथात्वाभ्युपगमे च न ग्रहणमिति कथमभेदावगमः ?

अथ यदा स्मृतौ न पूर्वदर्शनावभासः तथा सति प्रतिभासविरहात् स्मृतिरेव स्वरूपेणाऽऽभाति, सा च स्वरूपेणाभिन्नयोगक्षेमत्वादभिन्नेति कथं नाभेदप्रतिभासः ? असदेतत् – अन्यानुप्रवेशेन प्रतिभासे सति तदपेक्षयाऽभेदव्यवस्थितेः । यदा च स्मृतौ पूर्वदर्शनं नावभाति तदा तदपेया कथं तस्याभेदावगतिः इति न कालभेदोऽपि संविदः प्रत्येतुं शक्यः ।

भेदस्त्वेकस्मिन्नेव काले बहिर्नीलात्मा प्रतिभासमानवपुः अन्तश्च सुखादिसंवेदनं स्वप्रकाशतनु प्रतिभातीति कथं न प्रतीतिगोचरः ? तथा, मधुरशीतादिसंवेदनमनेकं स्वप्रकाशवपुर्युगपत् सर्वप्राणिनां प्रसिद्धमिति न तद्भेदः पराकर्त्तुं शक्यः । यतः सुखादिसंवेदनमात्मनि पर्यवसितम्–तदात्मकत्वात्–न नील-

---

दुःखसंवेदन का अनुमान सहज हो जाता है । इस प्रकार से अनुमान के द्वारा परसंवेदन भी सिद्ध हो सकता है । यदि प्रत्यक्ष के विना अनुमान नहीं हो सकता इत्यादि निरर्थक सूक्ष्म समीक्षा में उलझ कर अन्यसंतानगत प्रतीति का अपलाप करने जायेंगे तो अनुमान के विना प्रत्यक्ष नहीं हो सकता... इत्यादि सूक्ष्म समीक्षा से स्वदर्शन का भी अपलाप करने के चक्कर में गिर जायेंगे, फिर ज्ञानद्वैतवाद को जलाञ्जली दे देना होगा । निष्कर्ष, स्वसंवेदन परसंवेदनों में दैशिक अभेद की सिद्धि शक्य नहीं है ।

★ कालिक अभेद की सिद्धि में प्रमाणाभाव ★

दैशिक अभेद की तरह कालिक अभेद भी प्रमाणसिद्धपद प्राप्त नहीं कर सकता । कैसे यह सुनिये – वर्त्तमानकालीन संवेदन जब स्फुरित हो रहा है उस समय पूर्वकालीन संवेदन स्फुरित नहीं होता है, इस लिये उस के अभेद का भान भी 'अभिन्न' ऐसा नहीं हो पाता । यदि कहें कि – पूर्वकालीन संवेदन का भान स्मृति में होता है, इस प्रकार स्मृति में उल्लिखित होने वाले और दर्शन में उल्लिखित होने वाले संवेदनों में एकत्व का अवबोध किया जा सकेगा । – तो यह ठीक नहीं है । कारण, स्मृति में जो संवेदन स्फुरित होता है वह 'वर्त्तमान' नहीं होता, स्मृति का तो सिर्फ पूर्वदर्शन का उल्लेख करने में ही योगदान रहता है । वर्त्तमान दर्शन जब उस में उल्लिखित ही नहीं होता सिर्फ पूर्वदर्शन को अध्यवसित करती हुई स्मृति लक्षित होती है, वर्त्तमान सद्वेदन तो उस में स्फुरित नहीं होता तो पूर्वसंवेदन के साथ उस की अभिन्नता का प्रदर्शन स्मृति से कैसे हो सकेगा ? दूसरी बात यह है कि स्मृति भी एक ज्ञान है । ज्ञानाद्वैतवाद में तो ज्ञान स्वमात्रप्रकाशक होता है । अतः स्मृति भी अपने तत्त्व का ही प्रकाशन करने में निमग्न रहेगी, अपने तत्त्व को प्रकाशित करने में ही वह कृतकृत्य बन जायेगी, पूर्वदर्शन तो स्मृतिकाल में विनष्टस्वरूप है इस लिये स्मृति में वह अपने मूल स्वरूप से भासित होने वाला ही नहीं । [तब उस का अभेद कैसे लक्षित होगा ?] ''पूर्वदर्शन का स्वरूप स्मृति काल में विनिष्ट है फिर भी वह स्मृति में स्फुरित होता है'', ऐसा मानना उचित नहीं है, क्योंकि स्मृति में दर्शन का स्फुरण अपायग्रस्त है । यदि स्मृति ज्ञान में दर्शन का स्पष्ट स्फुरण होता है तब तो वह स्फुरित होने वाला दर्शन अतीत न रह कर वर्त्तमानस्वरूप बन जायेगा । अतींत का अतीतत्व यही है कि स्पष्ट स्फुरणात्मक

निर्भासमवैति, नीलनिर्भासोऽपि – अप्रत्यक्ष(? अपरोक्ष)नीलात्मकत्वात् – तत्रैव परिनिष्ठित इति कथं परस्परस्वरूपानवभासने सुख-नीलसंविदोर्न भेदावगतिः ? अभेदो ह्यन्यापेक्ष इत्यन्यानवगमेऽवगंतुमशक्यः भेदस्तु सकलान्यपदार्थव्यावृत्तभावस्वरूपः सोऽन्यप्रतिभासरहितस्वरूपप्रतिभाससंवेदनादेवावगतः इति कथं न स्वप्रतिभासेऽपरसंवेदनाऽप्रतिभासनमेव स्वसंविदो भेदवेदनम् ?

पूर्वापरसंवेदनादपि स्वसंवेदनस्य भेदोऽवगम्यत एव । तथाहि – तदपि वर्त्तमानाऽपरोक्षाकारं स्वसंवेदने प्रतिभाति न पूर्वापररूपतयाऽसंनिहितग्रहणं हि पूर्वापररूपग्रहणम्, न च तत् संनिहितस्वरूपसाक्षात्करणस्वभावस्वसंवेदनमात्मसात्करोति तयोर्विरोधात् । तदेवं स्वसंवेदनमपि न पूर्वापरभावे वृत्तिमदिति सर्वं विशदप्रतिभाससंगतं वर्त्तमानमेव । यच्च मनागपि न पूर्वापरभावसंस्पर्शि तत् क्षणभेदसंगतिमनुभवतीति सिद्धः संविदोऽपि कालभेदः । तथा, एकक्षणनियतोऽपि प्रतिभासः प्रतिपरमाणुभिन्नः इतरे-

न होना । यह बात यदि मान्य है तो फलित यह होगा कि स्मृति में अतीत दर्शन का स्फुरण या ग्रहण नहीं होता, फिर अभेदग्रहण की तो बात ही कहाँ ?!

★ स्मृति में अभेद का स्फुरण क्यों नहीं ? ★

प्रश्न :- स्मृति में पूर्वदर्शन का स्फुरण ही नहीं होता, इस स्थिति में अन्य प्रतिभास का विरह होने से केवल स्मृति ही अपने स्वरूप से स्फुरित होती है । स्मृति का स्वरूप और स्मृति ये दोनों तुल्य योगक्षेम होने से अभिन्न ही होते हैं, जब स्मृति और उस से अभिन्न उस का स्वरूप स्फुरित होता है तो अभेद का स्फुरण नहीं होता यह कैसे कहा जाय ?

उत्तर :- प्रश्न ही गलत है । जहाँ अन्य होते हुये स्वरूप का स्मृति में अनुप्रवेश भासित नहीं होता है, जहाँ अन्य अनुप्रवेशपूर्वक प्रतिभास होता हो वहाँ ही भिन्न है या अभिन्न इस चर्चा को अवकाश होता है। वहाँ प्रमाण से अभेद व्यवस्था की सम्भावना हो सकती है । किन्तु यहाँ तो स्मृति में पूर्वदर्शन का स्फुरण ही नहीं होता, तब उसकी अपेक्षा से अभेद होने का बोध कैसे शक्य है ?! निष्कर्ष, संवेदन में कालतः अभेद होने का अवबोध शक्य नहीं है ।

भेद का भी संवेदन होता है । एक ही काल में कभी बाह्यार्थ नीलादि मात्र स्फुरित होता है तो कभी स्वतः प्रकाशमान देह वाला आन्तर सुखादि संवेदन स्फुरित होता है । कैसे बोल सकते हैं कि भेद अनुभवगोचर नहीं होता ? सुखसंवेदनशरीर और नीलसंवेदनशरीर स्वयं स्फुरित होते हुए एक साथ कभी [illegible] को अनुभवगोचर होते हैं इसलिये उन भेदों का अपलाप नहीं हो सकता । कारण, सुखादिसंवेदन सिर्फ अपने सुखादिसंवेदनस्वरूप में ही निरत होता है, क्योंकि वह संवेदन स्वयं ही सुखादिरूप है । इसलिये वह नीलनिर्भासवाला नहीं होता ; नील निर्भास भी अप्रत्यक्षनीलात्मक (?अपरोक्षनीलात्मक) होने के कारण अपने में ही निरत रहता है; इन दोनों संवेदनों में एक दूसरे का आकार भी नहीं होता, इस स्थिति में सुखसंवेदन और नीलसंवेदन में भेदग्रहण कैसे नहीं होगा ? अभेद तो अन्यसापेक्ष होने के कारण, अन्य के ग्रहण बिना उस का ग्रहण नहीं हो सकता, भेद तो स्वरूप है, जो अन्य समस्त पदार्थों से व्यावृत्तस्वभावात्मक होता है और अन्यप्रतिभासरहित के स्वरूप के प्रतिभासात्मक संवेदन से ही प्रसिद्ध हो जाता है । इस स्थिति में स्वप्रतिभास में, अन्यप्रतिभास के [illegible]

तरसंवित्परमाण्वनुप्रवेशे* वा एकाणुमात्रः संवित्परमाणुपिण्डः स्यात्, ततश्च पुनरप्यपरसंवित्परमाणोरभावेनाऽप्रतिभासने भेदावगम एव । तदेवं देश-कालाऽऽकारैर्जगतः परस्परपरिहारेणोपलम्भप्रवृत्तेर्भेदाधिगतिर्व्यवस्थिता । न चाभेदवादिनः परस्परपरिहारेण देशादीनामुपलम्भोऽसिद्धः अध्यक्षसिद्धेऽसिद्धतोद्भावनस्य वैयात्यप्रकटनपरत्वात् । भेदवादिनोपि परस्परं तद(न)नुप्रवेशः स्यादित्यभिहित्वाच्च ।

यदपि 'अथाकारभेदाद् भेदः स च समानासमानसमयभिन्नसंवेदनाऽग्राह्योऽभिन्नसंवेदनानवसेयश्च' ...इत्यादि [२७४-९] दूषणमभ्यधायि, तदपि प्रतीतिबाधितत्वादनुद्घोष्यम्, विज्ञान-शून्यवादाननुकूलतया

का विरह कहो या अन्यसंवेदन के साथ भेद का अनुभव कहो, क्या फर्क पडता है ?

★ वर्त्तमानसंवेदन को पूर्वापर के साथ संसर्ग नहीं ★

पूर्व-अपर संवेदनों के साथ भी स्वयंसंवेदन का भेदानुभव हो सकता है । कैसे यह देखिये – स्वसंवेदन वर्त्तमान एवं अपरोक्षस्वरूप में अपने संवेदन में स्फुरित होता है, पूर्व या अपरसंवेदन के रूप में वह स्फुरित नहीं होता । अपने से असंनिहित को ग्रहण करना यही पूर्व या अपर संवेदन का ग्रहण है । पूर्वापर संवेदन कभी भी संनिहितसंवेदन के स्वरूप के साक्षात्कारस्वभाव के साथ तादात्म्य का अनुभव नहीं करता । कारण, संनिहित और असंनिहित में विरोध है इसलिये स्वसंवेदन में विरोध के कारण असंनिहित का तादात्म्य नहीं होगा । स्वसंवेदन में जैसे पूर्वापर का तादात्म्य नहीं है वैसे ही पूर्वापर में स्वसंवेदन की तादात्म्यवृत्ति भी नहीं है । इस से यह फलित होता है कि जो स्पष्टप्रतिभास को आत्मसात् किया हुआ है वह सिर्फ वर्त्तमान ही होता है । जिस को लेशमात्र भी पूर्वापर की संगत नहीं है उस के स्वरूप का पर्यवसान क्षणभेद में ही संगत होता है । इस प्रकार संवेदन का कालभेद निर्बाध सिद्ध होता है ।

तथा, क्षणिक प्रतिभास भी प्रति परमाणु भिन्न भिन्न होता है – यह आकारभेद है अथवा ज्योति में ज्योति का या ज्वाला में ज्वाला का जैसे अनुप्रवेश होता है वैसे एक परमाणुसंवेदन में अन्य परमाणुसंवेदन का अनुप्रवेश भी मान सकते हैं और तव समस्त संवेदनपरमाणुपिण्ड सिर्फ एक संवेदनपरमाणुस्वरूप ठहरेगा । उस स्थिति में अन्य पृथक् संवेदनपरमाणु की हस्ती ही न होने से उस के प्रतिभास का न होना यह भी भेदावभास ही है ।

उक्त रीति से देश, काल और आकार को लेकर एक-दूसरे से पृथक् पृथक् एक-दूसरे की उपलब्धि का होना यही भेदावबोध है – यह व्यवस्थित सिद्ध होता है । अभेदवादी यह तो नहीं कह सकता कि – हमारे मत में एक-दूसरे देशादि का पृथक् पृथक् उपलम्भ ही नहीं होता – ऐसा कहना तो प्रत्यक्षसिद्ध पदार्थ के अस्तित्व को ही मिटा देने जैसा है – सिर्फ वक्रता का प्रदर्शन है । पहले ही कह आये हैं कि अभेदवादी यदि एक-दूसरे की पृथक् उपलब्धि का अपलाप करता है तो भेदवादी एक परमाणुसंवेदन में अन्यपरमाणुसंवेदन के अनुप्रवेश का भी निषेध कर सकता है ।

★ भेदवाद में प्रयुक्त आक्षेपों का प्रतिकार ★

यह जो पहले कहा था कि [२७५-२७] – आकारभेद से भी भेद घट नहीं सकता, क्योंकि वह स्वसमानकालीन अथवा स्वभिन्नकालीन ऐसे स्वभिन्नसंवेदन से गृहीत नहीं होता तथा स्वतः स्वाभिन्नसंवेदन से भी गृहीत नहीं

★ 'माण्वननुप्रवेशे' इति पूर्वमुद्रिते । अत्र तु लिं० आदर्शानुसारेण पाठः ।

च पर्यायास्तिकमतानुसारिणो न क्षतिमावहति । यदपि 'ग्रामाऽऽरामादिभेदप्रतिभासोऽविद्याविरचितत्वाद्पारमार्थिकः [ ] इत्यभिधानम् – तदप्यसम्यक् इतरेतराश्रयप्रसक्तेः । तथाहि – अविद्याविरचितत्वं भेदप्रतिभासस्य अपारमार्थिकत्वस्वरूपसंगत्यधिगतेः, तत्सद्भावाच्च(?वश्च) अविद्यानिर्मितत्वप्रतिपत्ति(?तेः)रिति स्फुटमितरेतराश्रयत्वम् । अभेदप्रतिभासोऽपि कुतः पारमार्थिकत्वम् इति च वक्तव्यम् । यदि 'विद्यानिर्मितत्वात्' इत्युच्येत तदाऽत्रापीतरेतराश्रयत्वं तदवस्थमित्यलमतिप्रसंगेन। तन्न भेदे प्रमाणबाधा । तत्सद्भावप्रतिपादकप्रमाणभावस्तु दर्शितः । अभेदस्तु न प्रमाणावसेय इत्यपि दर्शितम् । अपि च अद्वैते प्रमाण-प्रमेयव्यवहारस्य प्रत्यस्तमयान्न तदभ्युपगमो ज्यायान्, यतस्तद्व्यवहारश्चतुष्टयाक्षेपपूर्वकः । तदुक्तम् – "चतसृषु भेदविधासु तत्त्वं परिसमाप्यते यदुत प्रमाता प्रमेयम् प्रमाणम् प्रमितिः" [ ] इति कुतोऽद्वैतस्य प्रमाणाधिगम्यता ? यश्चागमो मन्त्र-ब्राह्मणरूपो भेदनिषेधायोदाहृतः [२७१-४/६] तस्यार्थवादत्वेन प्रतीयमानार्थेऽप्रामाण्यमागमप्रमाणवादिनाऽभ्युपगन्तव्यम् अन्यथा प्रमाणविरुद्धत्वेन तदाभासत्वप्रसंगात् ।

होता – इत्यादि जो भेदवाद में अग्रहण प्रसंग दोष दिखाया था, वह सब भेदग्राहक प्रमाणात्मक प्रतीति से बाधित होने के कारण बोलने जैसा ही नहीं है । भेदग्राहक प्रतीतियों का निर्देश अभी कर आये हैं । दूसरी बात यह भी है कि जो भेदवाद में दूषण बताये हैं उस से अगर संवेदनभिन्न वस्तुमात्र के अभाव की सिद्धि अपेक्षित हो तो उस में इष्टापत्ति है । तथा भेदमात्र का विरोध करने के लिये दोषारोपण करते हैं तो परिणाम में सर्वशून्यवाद प्रसक्त होगा, वह भी पर्यायार्थिक नय को इष्टप्राप्तिरूप ही है इस लिये पर्यायार्थिक नयवादी की कोई क्षति नहीं है ।

यह जो कहा जाता है – ग्राम-उद्यान आदि में होने वाली भेदबुद्धि अविद्यामूलक होने से अपारमार्थिक है – यह ठीक नहीं है क्योंकि अन्योन्याश्रय दोष लगता है । कैसे यह देखिये – भेदबुद्धि में अपारमार्थिकत्व का भान होने पर ही उस के अविद्यामूलकत्व की प्रसिद्धि हो सकती है, लेकिन अपारमार्थिकत्व की प्रसिद्धि में क्या आधार है ? विद्यामूलकत्व का आधार बतायेंगे तो अन्योन्याश्रय दोष प्रसक्त होगा । विद्यामूलकत्व की सिद्धि पारमार्थिकत्व की सिद्धि होने पर होगी और पारमार्थिकत्व की सिद्धि विद्यामूलकत्व सिद्ध होने पर होगी । इस प्रकार अभेदप्रतिभास में भी अन्योन्याश्रय दोष तदवस्थ है, और कितना प्रासंगिक कहा जाय ? ! निष्कर्ष यह है कि भेद में कोई बाधक प्रमाण नहीं है । भेद के सद्भाव के साधक प्रमाणों का निर्देश कर आये हैं । एवं अभेद प्रमाणप्रसिद्ध नहीं है यह भी दिखाया है । उपरांत यह भी कह सकते हैं कि अद्वैतवाद में द्वैतमूलक प्रमाता-प्रमेय विभाग – व्यवहार का भी लोप प्रसक्त होता है इस लिये भी अद्वैतवाद का स्वीकार शोभास्पद नहीं है । प्रमाता-प्रमेय का व्यवहार अद्वैत के आधार पर नहीं किन्तु भिन्नोपलम्भ के आधार पर ही हो सकता है । जैसे कि कहा है – "तत्त्व चार प्रकारों में समाप्त है, प्रमाता-प्रमेय-प्रमाण और प्रमिति ।" जब किसी भी व्यवहार के लिये इस चतुष्टय की कम से कम आवश्यकता अनिवार्य है तब एक मात्र अद्वैततत्त्व को कैसे प्रमाणसिद्ध मान लिया जाय ?

पहले जो आगम प्रमाण के रूप में 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते' इस ऋग्वेद के मन्त्र का, तथा 'नेह नानास्ति किंचन' इस बृहदारण्यक के ब्राह्मण वाक्य का भेदनिषेध के लिये उल्लेख किया था उस पर कहना यह है कि यह सब अर्थवाद है, वैदिक परम्परा में आगमप्रमाणवादी लोग अर्थवाद का स्वार्थ में प्रामाण्य

यच्चाभेदपक्षे दूषणमाशंक्योत्तरमभ्यधायि [२८२-४] 'अद्वैते किल शास्त्राणाम् मुमुक्षुप्रवृत्तीनां च वैयर्थ्यम्' इत्याशंक्य परिहाराभिधानम्, 'अविद्यानिवर्त्तकत्वात् मुमुक्षुप्रवृत्तेः, तस्याश्चातत्त्वरूपत्वान्न द्वैतापत्तिः नाप्यनिवर्त्यत्वम्, वस्तुसत्त्वे ह्येतद् द्वयं भवेद्' इति – तदप्यसारम्, यतो यदि अवस्तुसती अविद्या कथमेषा प्रयत्ननिवर्त्तनीया स्यात् ? न ह्यवस्तुसन्तः शशशृंगादयो यत्ननिवर्त्तनीयत्वमनुभवन्तो दृष्टाः । अथ सत्त्वेऽपि कथं निवृत्तिः ? तदनिवृत्तौ वा कथं मुक्तिः ? न सदेतत्, नहि सतां घटादीनामनिवृत्तिः तथाऽविद्याया अपि भविष्यति । अथ घटादीनामपि न परमार्थसत्त्वम् तेषामतादवस्थ्यात् । असदेतत्, यतोऽतादवस्थ्यत् तेषामनित्यताऽस्तु नाऽसत्त्वम् अन्यथा तेषां व्यवहाराङ्गता न स्यात् । अथ न तेषां परमार्थसत्त्वाद् व्यवहाराङ्गता किंतु संवृत्येति व्यवहारांगत्वेऽपि घटादयोपि न परमार्थसद्रूपभाजः । असदेतत् – संवृतेः स्वभावाऽसंवेदनात् । तथाहि – सांवृतमुपचरितं काल्पनिकं रूपमभिधीयते, यच्च कल्पनानिर्मितं रूपं तद् बाधकप्रत्ययेन व्यावर्त्यते इति कथं व्यवहारांगतामश्नुवीत ? यच्च अपरमार्थसतामपि सत्यकार्यनिवर्त्तकत्वमुपदर्शितम् [२९१-२] तत् स्वरूपसंगतेर्द्वैतपक्षे कथञ्चिदुपपत्तिमत् स्यात् । अभेदपक्षे तु सत्यव्यतिरिक्तस्यासत्यस्याभावात् न कथंचित् कार्यसाधकत्वमुपपत्तिमत् ।

नहीं मानते, क्योंकि भेदनिषेधक आगम को यदि यथाश्रुत अर्थ में प्रमाण मानने का आग्रह रखेंगे तो वह आगम न रह कर आगमाभास ही कहलायेगा, क्योंकि भेदनिषेधक आगम के साथ पूर्वोक्त प्रत्यक्षादि प्रमाणों का सीधा विरोध है । प्रत्यक्षादि अन्य प्रमाणों से विरुद्ध अर्थ का निरूपण करने वाले आगम सत्य न हो कर आभासरूप ही होते हैं । दृष्ट और इष्ट के अविरुद्ध अर्थ का उपदेशक आप्तवचन ही आगमप्रमाण हो सकता है ।

★ अविद्या की निवृत्ति का असम्भव ★

अभेदवाद में दूषण की आशंका करते हुए जो उत्तर दिया गया था – पहले यह आशंका जतायी कि – 'अद्वैतवाद में कुछ भी साध्य न होने से शास्त्र और मुमुक्षुप्रयत्न निरर्थक हो जायेंगे' – बाद में इस का उत्तर देते हुए कहा गया था – मुमुक्षुप्रयत्न अविद्यानिवर्त्तक होने से निष्फल नहीं, अविद्या तात्त्विक न होने से द्वैतवाद की आपत्ति भी नहीं है । अविद्या की निवृत्ति असाध्य भी नहीं है । तथा वह यदि वास्तव सत् होती तब ब्रह्म से भिन्न है या अभिन्न ये विकल्पयुगल उठा सकते, किन्तु अतात्त्विक होने से उस को स्थान ही नहीं'' – इत्यादि सब असार भाषण है । अविद्या यदि वास्तव सत् नहीं है तो प्रयत्न से निवर्त्तनीय स्वभाव भी कैसे उसमें हो सकता है ? अवस्तुभूत शशसींग आदि की निवृत्ति के लिये किसीने कहीं कष्टानुभव किया हो ऐसा सुना या देखा नहीं है । प्रश्न : यदि वह वास्तव सत् है तो कैसे निवृत्त होगी ? वह यदि निवृत्त ही नहीं होगी तो जीवों की मुक्ति भी कैसे होगी ? उत्तर : ऐसा प्रश्न उचित नहीं है, क्या सद्भूत घटादि पदार्थों की निवृत्ति नहीं होती है ? जैसे सत् होने पर भी घटादि की निवृत्ति होती है वैसे ही सत् होते हुये भी अविद्या की निवृत्ति हो सकती है । यदि कहें कि – 'निवृत्त होते हैं तदवस्थ नहीं रह पाते हैं, इसी लिये घटादि भी सत् नहीं है' – तो यह भी गलत विधान हैं, तदवस्थ नहीं रह पाते है, तो उन्हें अनित्य या नाशवंत मानने में बुद्धिमत्ता है, न कि असत् मानने में । असत् होने वाले पदार्थ शशसींग आदि की तरह कभी किसी व्यवहार के अंग नहीं बन पाते ।

आशंका : घटादि पारमार्थिक सत् होने से व्यवहार के अंग होते हैं ऐसा नहीं है, सांवृत सत् यानी

यदप्यभ्यधायि 'भेदविषयाणामुपायानां ब्रह्मरूपेण सत्त्वात् कार्यकरणम्' – [२९१-६] एतदप्ययुक्तम्, यतो येन रूपेण सत्त्वं तेन कार्यसामर्थ्यम् यच्च कार्योपयोगि रूपं तेषाम् तदसदेवेति न ब्रह्मरूपेणापि सन्तः उपायाः कार्यकरणक्षमाः, ततः सकलव्यवहारप्रच्युतेरभेदस्य न प्रमाणगम्यता । यदपि 'सर्वमेकं सदविशेषात्' इत्युक्तम् [२६९-५], अ(त्र)त्रापि किमयमध्यक्षव्यापारो निर्दिष्टः आहोस्विदनुमानम् ? यदि प्रथमः पक्षः, स न युक्तः सकलाद्वैतग्राहकत्वेनाध्यक्षस्य प्रतिषिद्धत्वात् । द्वितीयोऽप्ययुक्त एव, यतोऽनुमानं दृष्टान्त-दार्ष्टान्तिकभेदे सति प्रवृत्तिमासादयति, स चेत् पारमार्थिकः कुतोऽद्वैतम् ? अपारमार्थिकश्चेत् कथं ततः पारमार्थिकाद्वैतसिद्धिः ? तथा हेतुरपि तत्साधको यदि भिन्नस्तदापि कथमद्वैतम् असतो भेदानुपपत्तेः शशविषाणादिवत् । अभिन्नश्चेत् न ततः साध्यसिद्धिः प्रतिज्ञार्थैकदेशासिद्धत्वेनाऽगमकत्वात् । न च कल्पितभेदादपि ततस्तत्सिद्धिः, कल्पनाविरचितस्य कार्यनिर्वर्त्तनाऽक्षमत्वात् । कल्पिताहिदंश-रेखागवयादीनामपि यत् असत्त्वे मरणादिकार्यकर्तृत्वं प्रतिपादितम् (२९२-५) तदपि न युक्तिक्षमम्, तेषामपि केनचिद् रूपेण पारमार्थिकत्वसंगतेः, अत्यन्तासतस्तु षष्ठभूतस्येव कार्यकारितानुपलब्धेः ।

काल्पनिक सत् होने के कारण ही वे व्यवहार के अंग होते हैं । तात्पर्य, व्यवहार के अंग होते हुये भी घटादि वास्तव सद्रूपशालि नहीं होते ।

उत्तर : यह मिथ्या वक्तव्य है, क्योंकि संवृत कभी भी किसी स्वभाव से संविदनारूढ नहीं होती । कैसे यह देखिये, सांवृति कहो, उपचरित कहो या काल्पनिक रूप कहो एक ही बात है । जो कल्पनाकल्पितरूप होता है वह सदैव बाधक प्रतीति के उदय से निवृत्त हो जाता है जैसे रजत की सत्य प्रतीति में काल्पनिक शुक्तित्व । जो सर्वथा कल्पना निर्मित है जैसे रजत में अध्यवसित शुक्ति आदि वे कभी व्यवहार के अंग नहीं होते । तथा पहले जो बताया है कि ककारादिरूप से असत्य रेखा-ककारादि बोधस्वरूप सत्य कार्य के जनक होते हैं । – यह तो स्वरूपतः रेखा-ककारादि के रूप में रेखा ककार आदि को कुछ सत्स्वरूप होने पर ही यानी द्वैतवाद में ही घट सकता है । अभेदवाद में तो सत्य अद्वैत है और सत्यभिन्न तो कुछ है ही नहीं, इस स्थिति में मिथ्या रेखा-ककारादि भी नहीं है तो कैसे बोधादि कार्यों की संगति होगी ?

★ ब्रह्मरूप से सत्य उपाय कार्यसाधक नहीं ★

पहले जो यह कहा था- 'अभेददृष्टि साधक उपाय भेदान्वित होने पर भी वास्तव में ब्रह्मस्वरूप होने से सत् ही है अतः एव वह मारणादि कार्य कर सकता है ।' – यह भी गलत है, क्योंकि पदार्थ जिस रूप से सत् होता है उसी स्वरूप से उसमें कार्यक्षमता होती है, आप तो जिस रूप से कार्यक्षमता होने का मानते हैं उस रूप से तो उसका सत्त्व ही नहीं मानते, सब ब्रह्मरूपेण उपायों को सत् मानने पर भी वे कार्यक्षमता के लिये समर्थ नहीं हो सकेंगे । फलतः सभी व्यवहारों से भ्रष्ट होने वाला अभेद प्रमाणगोचर नहीं हो सकता ।

★ अद्वैतसाधक अनुमान की समीक्षा ★

[illegible]

तथा, वादि-प्रतिवादि-प्राश्निकानामभावे नाद्वैतवादावतारः सम्भवी, तत्सद्भावे वाऽद्वैतविरोधो न्यायानुगत इति न तत्पक्षोऽभ्युपगमार्हः, । यच्च 'भेदाः सत्तातो यदि भिन्नाः खरविषाणवदसन्तः प्रसक्ताः, अभिन्नाश्चेत् सत्तामात्रकमेव न विशेषा नाम । तथाहि – यद् यतोऽव्यतिरिक्तम् तत् तदेव, यथा सत्तास्वरूपम्, अव्यतिरिक्ताश्च ते सत्तातः, तथा सति सत्तामात्रकमेव' इत्यभ्यधायि तद् भेदवादिनोऽपि समानम् । यतस्तेनाप्येतत् शक्यं वक्तुम् – यदि विशेषेभ्यो व्यतिरिक्ता सत्ता खरविषाणवदसती प्राप्ता, अव्यतिरिक्ता चेत् विशेषा एव न सा – इति न्यायस्य समानत्वात्। तदेवमभेदे प्रमाणाभावात्-भेदस्य वाऽवाधितप्रमांणविषयत्वात् – न तदभ्युपगमो ज्यायानिति शुद्धद्रव्यास्तिकमतप्रतिक्षेऽपि पर्यायास्तिकाभिप्रायः।

[सांख्यमतप्रतिक्षेपकः पर्यायास्तिकनयः]

अशुद्धद्रव्यास्तिकसांख्यमतप्रतिक्षेपकस्तु पर्यायास्तिकः प्राह★ – यदुक्तं कापिलैः 'प्रधानादेव महदादिकार्यविशेषाः प्रवर्त्तन्ते' इति, तत्र यदि महदादयः कार्यविशेषाः प्रधानस्वभावाः एव कथमेषां कार्यतया ततः प्रवृत्तिर्युक्ता ? न हि यद् यतोऽव्यतिरिक्तं तत् तस्य कार्यम् कारणं वेति व्यपदेष्टुं युक्तम्,

घटाया जाता है उस) में भेद होने का मानने पर ही अनुमान प्रयोग किया जा सकता है । यदि वह भेद पारमार्थिक है तब अद्वैत की अनुमान से सिद्धि कैसे हो सकेगी ? भेद यदि पारमार्थिक नहीं है तो दृष्टान्तादिभेद न रहने पर पारमार्थिक अद्वैत साधक अनुमान ही कैसे प्रवृत्त होगा ?

उपरांत, हेतु के विना कभी अनुमान नहीं होता । यदि अद्वैतसाधक हेतु अद्वैततत्त्व से भिन्न होगा तब तो अद्वैत का अनुमान ही कैसे होएगा ? भेद तो सत् सत् का ही होता है असत् का कभी भेद नहीं होता जैसे शशसींग आदि का । अद्वैत साधक हेतु को भिन्न मानेंगे तो उस को अतिरिक्त सत् मानना पडेगा, फलतः अद्वैत का भंग होगा । यदि हेतु को अभिन्न मानेंगे तब तो वह भी अद्वैतसाध्य में विलीन हो जाने से साध्यकोटि में आ जायेगा, किन्तु अद्वैत का कोई अतिरिक्त साधक हेतु नहीं रह पायेगा, तब कैसे अद्वैत साध्य सिद्ध होगा ? हेतु जब साध्यकोटि में आ गया तब साध्यविशिष्ट पक्ष जो कि प्रतिज्ञात अर्थ है उसका एकदेश रूप साध्य में विलीन हुआ हेतु असिद्ध कोटि में आ जाने से अनुमानकारक नहीं रह सकता । यदि ऐसा कहें कि अनुमान के लिये हेतु को कल्पना से भिन्न मान लेंगे, तब अनुमान भी प्रवृत्त होगा और अद्वैत भी सिद्ध होगा । – तो यह ठीक नहीं है, कल्पनाकल्पित पदार्थ कुछ भी काम करने में असमर्थ होता है ।

काल्पनिक सर्पदंश एवं रेखांकित गवयादि के असत् होते हुए भी मरणादिकार्यसक्षम होने का जो पहले कहा, था वह युक्तिसंगत नहीं है । सर्पदंशादि वहाँ सर्वथा असत् नहीं होते किन्तु वे मशकदंशादि के कुछ न कुछ रूप में सत् ही होते हैं । पृथ्वी आदि से अतिरिक्त छट्ठे भूत के समान सर्वथा असत् पदार्थ किसी भी कार्य के लिये समर्थ उपलब्ध नहीं होता ।

अद्वैतवाद इसलिये भी उचित नहीं है – अद्वैत की सिद्धि के लिये वाद में उतरना अनिवार्य है, वाद तभी हो सकता है जब भिन्न भिन्न वादी – प्रतिवादी–सभ्य और सभापति की हस्ती हो । यदि इन सभी की भिन्न भिन्न हस्ती मान ली जाय तब तो भेदन्याय के प्रवेश से अद्वैत पक्ष में विरोध उपस्थित हो जायेगा, अतः अभेदपक्ष स्वीकारार्ह नहीं है ।

★ सांख्यमतप्रतिक्षेपोऽयं तत्त्वसंग्रहे कारिका १६ तः ४५ मध्ये द्रष्टव्यः ।

कार्य-कारणयोर्भिन्नलक्षणत्वाद् अन्यथा हि 'इदं कारणम् कार्यं च' इत्यसंकीर्णव्यवस्थोत्सीदेत् । ततश्च यदुक्तं प्रकृतिकारणिकैः – "मूलप्रकृतेः कारणत्वमेव, भूतेन्द्रियलक्षणस्य षोडशकगणस्य कार्यत्वमेव, महदहंकारतन्मात्राणां च पूर्वोत्तरापेक्षया कार्यत्व-कारणत्वे च" [माठरवृत्ति] इति तत् संगतं न स्यात् । आह चेश्वरकृष्णः –

मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृति-विकृतयः सप्त ।
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः ॥ [सांख्यकारिका० ३] इति ।

यह जो कहा जाता है – "यदि भेदवर्ग सत्ता से भिन्न होगा तो खरश्रृंग की तरह असत् कोटि में पहुँच जायेगा । यदि सत्ता से अभिन्न है तब तो 'सत्ता' मात्र ही शेष रहा न कि विशेष । कैसे यह देखिये – जो जिस से अपृथक् होता है वह तद्रूप ही होता है जैसे सत्ता का स्वरूप । भेदवादी के अभिमत विशेष भी सत्ता से अपृथक् ही हैं, ऐसा होने पर निरूपण भेदवादी के लिये भी समानरूप से उपयोगी है । भेदवादी भी ऐसा कह सकता है – सत्ता यदि विशेषों से पृथक् मानेंगे तो विशेषों से पृथक् खरशींग की तरह असत् कोटि में आ जायेगी । यदि अपृथक् मानेंगे तो विशेष ही शेष रहे न कि सत्ता । युक्ति तो दोनों पक्ष में समान है ।

निष्कर्ष, अभेद में कोई प्रमाण नहीं है, भेद अबाधितप्रमाण का गोचर है । अतः अभेद का स्वीकार शोभास्पद नहीं है । शुद्ध द्रव्यार्थिकनय का विरोधी यह पर्यायास्तिक नय का अभिप्राय है ।

★ सांख्यदर्शनसमीक्षाप्रारम्भ ★

पहले अशुद्ध द्रव्यास्तिकनय के आधार पर सांख्यवादी ने अपना मत पेश किया था – पर्यायास्तिकनयवादी अब उस का प्रतिकार करते हुए कहता है –

सांख्यमतप्रणेता कपिल ऋषि के अनुयायिओंने कहा है कि महत् आदि कार्यवर्ग प्रधानतत्त्व से प्रगट हुआ है । इस पर सोचना है कि महत् आदि विशेष कार्य जब प्रधान से तादात्म्यस्वभाववाले हैं तो प्रधानतत्त्व से उन का कार्य रूप से प्रगटीकरण कैसे संगत होगा ? एक पदार्थ जब किसी अन्य पदार्थ से अनतिरिक्त = अपृथक् = अभिन्नस्वभाव ही होता है तब उन में से न तो किसी के लिये 'कारण' शब्दव्यवहार होता है, न 'कार्य' ऐसा । हेतु यह है कि कारण और कार्य स्वभाव से भिन्न होते हैं, एक जनक स्वभाव है तब दूसरा जन्य स्वभाव है । स्वभावभेद न होने पर भी यदि कारण-कार्यभाव होने का आग्रह रखा जाय तो हर किसी चीज की 'कारण' या 'कार्य' संज्ञा इच्छानुसार चल पडने पर प्रधान 'कारण' है, पंचभूत आदि 'कार्य' ही है ऐसा असंकीर्णव्यवहार उच्छिन्न हो जायेगा । उस के फलस्वरूप प्रकृतिमूलकारणवादी सांख्यों का यह विधान – "मूलप्रकृति सिर्फ 'कारणमात्र' होती है, पंचभूत + ११ इन्द्रियाँ यह षोडशक वर्ग सिर्फ 'कार्य' रूप है, एवं महत् + अहंकार + पाँच तन्मात्राएँ ये ७ तत्त्व मूलप्रकृति आदि पूर्व-पूर्व तत्त्व की अपेक्षा कार्यरूप भी है और अहंकारादि उत्तरोत्तर तत्त्वों की अपेक्षा 'कारण'रूप भी है ।" – विधान असंगत हो जायेगा ।

अतः सांख्यकारिका में ईश्वरकृष्णने जो विधान किया है – 'मूल प्रकृति = प्रधानतत्त्व सिर्फ प्रकृतिरूप (= जनककारणरूप) ही है वह किसी की विकृति (= कार्यरूप) नहीं है । महत् आदि सात प्रकृति-विकृति उभयरूप है, षोडशवर्ग सिर्फ विकृति है । पुरुष तो न किसी की प्रकृति है न विकृति ।' – यह भी असंगत हो जायेगा । कारण, जब प्रधान और महत् आदि में भेद नहीं है तब या तो सब कारण होंगे या कार्य होंगे । अथवा कार्य-कारण भाव अव्यवस्थित मानने पर, पुरुष के लिये वैसा कोई अलग [illegible] उपयुक्त नहीं है कैसे

यतः सर्वेषां परस्परमव्यतिरेकात् कार्यत्वम् कारणत्वं वा प्रसज्येत, अन्यापेक्षितत्वाद् वा कार्य-कारणभावस्य अपेक्षणीयस्य रूपान्तरस्य चाभावात् पुरुषवन्न प्रकृतित्वम् विकृतित्वं वा सर्वेषां वा स्यात् अन्यथा पुरुषस्यापि प्रकृतिविकारव्यपदेशप्रसक्तिः । उक्तं च – [ ]

यदेव दधि तत् क्षीरं यत् क्षीरं तद् दधीति च । वदता विन्ध्यवासित्वं ख्यापितं विन्ध्यावासिना ॥ इति ।

'हेतुमत्त्वादि(ति?)धर्मासंगि-विपरीतमव्यक्तम्' [२९७-२] इत्येतदपि बालप्रलापमनुकरोति । न हि यद् यतोऽव्यतिरिक्तस्वभावं तत् ततो विपरीतं युक्तम्, वैपरीत्यस्य रूपान्तरलक्षणत्वात्, अन्यथा भेद-व्यवहारोच्छेदप्रसंगः, इति सत्त्व-रजस्-तमसाम् चैतन्यानां च परस्परभेदाभ्युपगमो निर्निमित्तो भवेत्, ततश्च विश्वस्यैकरूपत्वात् सहोत्पत्तिविनाशप्रसंगः, अभेदव्यवस्थितेरभिन्नयोगक्षेमलक्षणत्वादिति । व्यक्तरूपाऽव्य-तिरेकाद् अव्यक्तमपि हेतुमदादिधर्माऽऽसंगि प्रसक्तम् व्यक्तस्वरूपवत्, अहेतुमत्त्वादिधर्मकलापाध्यासितं वा व्यक्तम् अव्यक्तरूपाऽव्यतिरेकात् तत्स्वरूपवत्, अन्यथातिप्रसक्तिः ।

अपि च अन्वय-व्यतिरेकनिबन्धनः कार्य-कारणभावः प्रसिद्धः न च प्रधानादिभ्यो महदाद्युत्प-त्त्यवगमनिबन्धनः अन्वयः व्यतिरेको वा प्रतीतिगोचरः सिद्धः यतः 'प्रधानाद् महान् महतोऽहंकारः'

ही प्रधानादि के लिये भी आदिसर्गकाल में अपेक्षणीय कोई न होने से, पुरुष की तरह ही न कोई प्रधानादि प्रकृति होंगे या न कोई विकृति होंगे । अपेक्षणीय के अभाव में भी यदि प्रकृति-विकृतिभाव होने का मानेंगे तो वह पुरुष में भी प्रसक्त होगा । कहा है – ''जो दहीं है वही दुग्ध है – जो दुग्ध है वही दहीं है – ऐसा कहने वाले विन्ध्यवासी नाम के सांख्याचार्यने सच्चे ही अपनी विन्ध्यगिरिवासिता (यानी पर्वतवासी भील आदि समान जडबुद्धि) का प्रदर्शन कर दिया है। '' ऐसा कहने का कारण यही है कि अभेदवाद में असंकीर्णव्यवस्था का उच्छेद आदि दोष लगते हैं ।

★ व्यक्त-अव्यक्त का वैलक्षण्यनिरूपण निराधार ★

सांख्यवादी ने पहले सांख्यकारिका (१०) के आधार पर व्यक्त अव्यक्त में वैलक्षण्य दिखाने के लिये जो कहा था कि व्यक्त तत्त्व हेतुमत्त्व आदि धर्मों से आश्लिष्ट है, अव्यक्त उस से विपरीत है – यह भी निपट बालक-बकवास है । कारण, जो जिस से अव्यतिरिक्त = अभिन्न स्वभाव है वह उस से विपरीत कभी नहीं हो सकता । विपरीत यानी उल्टेपन का यही मतलब है कि भिन्नस्वरूप होना । यदि इस प्रकार के उल्टेपन का इनकार करेंगे तो भेदव्यवहार ही लुप्त हो जायेगा । फलतः सत्त्व-रजस्-तमस् का तथा चेतन-पुरुषों का परस्पर भेद अंगीकार निर्मूल ठहरेगा । नतीजतन, सारे जगत् में एकरूपता आ जाने से, सभी का उत्पाद-विनाश एक साथ होने का अतिप्रसंग होगा, क्योंकि सभी में आपको अभेद की स्थापना करनी है, और अभिन्न योगक्षेम (यानी सहोत्पाद, सहविनाश आदि) के आधार पर ही वह शक्य हो सकती है। तथा, अव्यक्त व्यक्त से अभिन्न होने के कारण, व्यक्त के हेतुमत्त्वादि धर्मों का संग अव्यक्त में भी प्रसक्त होगा, जैसे व्यक्त के सभी धर्मों का संग व्यक्त से अभिन्न उस के स्वरूप में भी होता है। अथवा, व्यक्त अव्यक्त से अभिन्न होने के कारण, अव्यक्त के अहेतुमत्त्वादि धर्मों का संग व्यक्त में आ पडेगा, जैसे अहेतुमत्त्वादि धर्मों का संग अव्यक्त से अभिन्न होने के कारण अव्यक्त के स्वरूप में भी होता है। ऐसा यदि नहीं मानेंगे तो अभेदभंग होने का अतिप्रसंग आयेगा क्योंकि अभेद होने पर भी उस के स्वरूप में वे धर्म नहीं होगे तो अभेद भी कैसे रहेगा ?

इत्यादिप्रक्रिया [२९५-७]सिद्धिसौधशिखरमध्यास्त; तस्मान्निर्निबन्धन एवायं प्रधानादिभ्यो महदाद्युत्पत्तिक्रमः । न च नित्यस्य हेतुभावः संगतः यतः प्रधानाद् महदादीनामुत्पत्तिः स्यात् नित्यस्य क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाविरोधादिति प्रतिपादयिष्यमाणत्वात् ।

अथ नास्माभिरपूर्वस्वभावोत्पत्त्या कार्य-कारणभावोऽभ्युपगतः यतो रूपाभेदादसौ विरुध्यते, किंतु प्रधानं महदादिरूपेण परिणतिमुपगच्छति सर्पः कुंडलादिरूपेणेति 'प्रधानं महदादिकारणम्' इति व्यपदिश्यते, महदादयस्तु तत्परिणामरूपत्वात् तत्कार्यव्यपदेशमासादयन्ति । न च परिणामोऽभेदेऽपि विरोधमनुभवति एकवस्त्वधिष्ठानत्वात् तस्येति । असम्यगेतत् परिणामाऽसिद्धेः । तथाहि – असौ पूर्वरूपच्युतेर्भवेत् अप्रच्युतेर्वेति कल्पनाद्वयम् । तत्र यदि अप्रच्युतेरिति पक्षः तदाऽवस्थासांकर्याद् वृद्धाद्यवस्थायामपि युवत्वाद्यवस्थोपलब्धिप्रसंगः । अथ प्रच्युति(?ते)रिति पक्षः तदा स्वरूपहानिप्रसक्तिरिति पूर्वकं स्वभावान्तरं निरुद्धम् अपरं च तदुत्पन्नमिति न कस्यचित् परिणामः सिद्ध्येत् ।

अपि च, तस्यैवान्यथाभावः परिणामो भवद्भिर्वर्ण्यते, स चैकदेशेन, सर्वात्मना वा ? न तावत्, एकदेशेन, एकस्यैकदेशाऽसंभवात् । नापि सर्वात्मना, पूर्वपदार्थविनाशेन पदार्थान्तरोत्पादप्रसंगात् । अतो

दूसरी बात यह है कि – अन्वयसहचार और व्यतिरेक सहचार के आधार पर कार्य-कारण भाव का निश्चय किया जाता है । प्रधानादि से महत् आदि की उत्पत्ति मानने के लिये कोई अन्वयसहचार या व्यतिरेक सहचार किसी को अनुभवगोचर हो नहीं है जिस से कि प्रधान से महत्, उस से अहंकार..... इत्यादि प्रक्रिया सिद्धिभवन के शिखर पर आरूढ हो सके । निष्कर्ष, प्रधानादि से महत् आदि की उत्पत्ति की प्रक्रिया प्रमाणशून्य है । यह भी ज्ञातव्य है कि नित्य वस्तु के साथ क्रमशः या एक साथ अर्थक्रियाकारित्व का विरोध होता है, इस लिये नित्यपदार्थ कहीं भी हेतु की भूमिका अदा नहीं कर सकता, अत एव नित्य प्रधान तत्त्व से महत् आदि की उत्पत्ति संभव नहीं है, – यह तथ्य अग्रिम ग्रन्थ में प्रगट किया जायेगा ।

★ असत्कार्यवादनिषेधपूर्वकपरिणामवाद की आशंका ★

सांख्य : अपूर्व यानी पूर्व में असत् ऐसे कार्यस्वभाव की उत्पत्ति से फलित होने वाले कार्य-कारणभाव का आदर हम नहीं करते जिस से कि स्वरूप-अभेद के साथ विरोध को अवकाश मिल सके । हमारे मत में, प्रधान ही महत् आदि कार्यरूप में परिणत होता है, जैसे – सांप कुंडलावस्था, लम्बावस्था आदि अवस्थाओं में परिणत होता है । इस तरह महत् आदिरूप में परिणत होने वाले परिणामी को ही हम 'कारण' कहते हैं और परिणामरूप होने से महत् आदि उन के 'कार्य' कहे जाते हैं । अभेद होने पर भी परिणाम होने में कोई विरोध नहीं है, जैसे – सांप से अभिन्न ही कुंडलावस्था उस का परिणाम होती है । परिणाम एक वस्तु में अधिष्ठित होता है, न कि अन्य वस्तु में, इसलिये परिणामि के साथ उस का अभेद भी हो सकता है जिस में कोई विरोध नहीं ।

व्याख्याकार : यह कथन सत्य नहीं क्योंकि 'परिणाम' सामान्य से सिद्ध नहीं है । कैसे यह देखिये – परिणाम होता है तब होता – पूर्व स्वरूप नष्ट होने पर होता या पूर्वस्वरूप के रहते हुए ही ? ये दो विकल्प हुए हैं । पूर्वस्वरूप के रहते हुए ही यदि उस का परिणाम [illegible] अवस्था में [illegible] होगा, जैसे वृद्धावस्था में भी युवावस्था अवस्थाओं के [illegible] होने से उपलब्ध होगी । यदि पूर्व परिणाम नष्ट होने पर पूर्वरूप नष्ट हो [illegible] से पूर्ववस्तु ही नष्ट हो गयी । तात्पर्य, पूर्व स्वभाव नष्ट हो गया, नया ही स्वभाव उत्पन्न हुआ [illegible] नहीं है वस्तु उत्पन्न हुई, न कि पूर्ववस्तु का नया परिणाम ।

न तस्यैवान्यथात्वं युक्तम्, तस्य स्वभावान्तरोत्पादनिबन्धनत्वात् । ''व्यवस्थितस्य धर्मिणो धर्मान्तरनिवृत्तौ धर्मान्तरप्रादुर्भावलक्षणः परिणामोऽभ्युपगम्यते न तु स्वभावान्यथात्वमि''ति चेत् ? असदेतत् - यतः प्रच्यवमानः उत्पद्यमानश्च धर्मो धर्मिणोऽर्थान्तरभूतोऽभ्युपगन्तव्यः अन्यथा धर्मिण्यवस्थिते तस्य तिरोभावाविर्भावासम्भवात् । तथाहि – यस्मिन् वर्त्तमाने यो व्यावर्त्तते स ततो भिन्नः यथा घटेऽनुवर्त्तमाने ततो व्यावर्त्यमानः पटः, व्यावर्त्तते च धर्मिण्यनुवर्त्तमानेप्याविर्भाव-तिरोभावाऽऽसङ्गी धर्मकलाप इति कथमसौ ततो न भिन्न इति धर्मी तदवस्थ एवेति कथं परिणतो नाम ? यतो नार्थान्तरभूतयोः कट-पटयोरुत्पाद-विनाशेऽचलितरूपस्य घटादेः परिणामो भवति अतिप्रसंगात् अन्यथा चैतन्यमपि परिणामी स्यात् । 'तत्सम्बद्धयोर्धर्मयोरुत्पाद-विनाशात् तस्यासावभ्युपगम्यते नान्यस्य' इति चेत् ? न, सदसतोः सम्बन्धाभावेन तत्सम्बन्धित्वाऽयोगात् ।

तथाहि – सम्बन्धो भवन् 'सतो वा भवेत् असतो वा भवेद्' इति कल्पनाद्वयम् । न तावत् सतः, समधिगताऽशेषस्वभावस्यान्यानपेक्षतया क्वचिदपि पारतन्त्र्याऽसम्भवात् । नाप्यसतः, सर्वोपाख्याविरहिततया तस्य क्वचिदाश्रितत्वानुपपत्तेः, न हि शशविषाणादिः क्वचिदप्याश्रितः उपलब्धः । न च व्य-

★ परिणामवादसमीक्षा ★

सांख्यवादी जो कहता है कि एक ही वस्तु का जो अन्यथा यानी परिवर्त्तित हो जाना यही परिणाम है – इस के ऊपर दो विकल्प हैं कि वह परिवर्त्तन एक अंश से होता है या सर्वांश से ? 'एक अंश से परिवर्त्तन' यह असम्भव है क्योंकि एक वस्तु होना इस का मतलब है निरंश वस्तु होना, जब उस एक वस्तु का कोई अंश ही नहीं है तब 'एक अंश से परिवर्त्तन' भी कैसे हो सकेगा ? यदि सर्वांश से यानी अपने संपूर्ण अखंडस्वरूप से परिवर्त्तन मानेंगे तो पूर्वपदार्थ का नाश हो कर नये पदार्थ का उद्भव हो जाने से सर्वथा भेद होगा न कि परिणाम । दोनों विकल्प दोषग्रस्त होने से एक वस्तु के अन्यथाभाव (= परिवर्त्तन) को परिणाम नहीं बता सकते क्योंकि वह नये पदार्थ के उद्भव के साथ जुडा हुआ है ।

सांख्य : हम स्वभाव के अन्यथाभाव को परिणाम नहीं कहते किन्तु अवस्थित रहने वाले धर्मी के एक धर्म की निवृत्ति होने पर अन्य धर्म का प्रादुर्भाव होना – इसी को हम परिणाम मानते हैं ।

पर्यायवादी : ऐसा मन्तव्य गलत है । कारण, आप को ऐसा मानना पडेगा कि वह निवृत्त होने वाला और प्रादुर्भूत होने वाला धर्म धर्मी से पृथक् तत्त्व होता है, ऐसा अगर नहीं मानेंगे, उन धर्मों को धर्मी से सर्वथा अभिन्न मानेंगे तो धर्मि के तदवस्थ (स्थायि) रहने पर वे धर्म भी स्थायि ही बने रहेंगे, यानी पुराने धर्म का तिरोभाव और नये धर्म का उद्भव ही शक्य नहीं होगा । कैसे यह देखिये – जिस के स्थिर रहते हुए भी जो वहाँ से निवृत्त होता है वह उस से भिन्न होता है । उदा० घट के स्थिर रहते हुए निवृत्त होने वाला वस्त्र घट से भिन्न होता है । इसी तरह यदि धर्मी के स्थिर रहते हुए आविर्भूत-तिरोभूत होने वाला धर्मसमूह निवृत्त होता है तो वह धर्मसमूह उस धर्मि से क्यों भिन्न नहीं होगा ? तात्पर्य, पृथग्भूत अर्थस्वरूप धर्मों का आविर्भाव या तिरोभाव होने पर भी धर्मी तो तदवस्थ ही होता है तो वह कैसे 'परिणत' कहा जाय ? बताईये कि घट से भिन्न कट एवं वस्त्र का क्रमशः उत्पाद-विनाश होने पर भी घट स्थायि रहता है तो कट एवं वस्त्र क्या घट के परिणाम होते हैं ? नहीं । यदि परिणाम हैं ऐसा मानेंगे तो सारी दुनिया एक-दूसरे का परिणाम कही जायेगी । यह अतिरेक हो जायेगा । फलतः चैतन्य को भी परिणामि मानने की आपत्ति होगी ।

तिरिक्तधर्मान्तरोत्पाद-विनाशे सति परिणामो भवद्भिर्व्यवस्थापितः । किं तर्हि ? यत्रात्मभूतैकस्वभावानुवृत्तिः अवस्थाभेदश्च तत्रैव तद्व्यवस्था । न च धर्मिणः सकाशाद् धर्मयोर्व्यतिरेके सति एकस्वभावानुवृत्तिरस्ति । यतो धर्म्येव तयोरेक आत्मा, स च व्यतिरिक्त इति नात्मभूतैकस्वभावानुवृत्तिः । न च निरुध्यमानोत्पद्यमानधर्मद्वयव्यतिरिक्तो धर्मी उपलब्धिलक्षणप्राप्तो दृग्गोचरमवतरति कस्यचिदिति तादृशोऽसद्व्यवहारविषयतैव ।

अथ अनर्थान्तरभूत इति पक्षः कक्षीक्रियते तथाप्येकस्माद् धर्मिस्वरूपादव्यतिरिक्तत्वात् तिरोभावाऽऽविर्भाववतोर्धर्मयोर्द्वयोरप्येकत्वम् धर्मिस्वरूपवदिति केन रूपेण धर्मी परिणतः स्यात् धर्मो वा ? अवस्थातुश्च धर्मिणः सकाशादव्यतिरेकाद् धर्मयोरवस्थातृस्वरूपवन्न निवृत्तिः नापि प्रादुर्भावः । धर्माभ्यां च धर्मिणोऽनन्यत्वात् धर्मस्वरूपवत् अपूर्वस्य चोत्पादः पूर्वस्य च विनाशः इति नैकस्य कस्यचित् परिणतिः सिद्ध्येदिति न परिणामवशादपि सांख्यानां कार्य-कारणव्यवहारः संगच्छते । न च परिणामप्रसाधकं प्रमाणं क्षणिकम् अक्षणिकं वा सम्भवतीति प्रतिपादितमभेदनिराकरणं कुर्वद्भिः ।

सांख्य :- कट एवं वस्त्र, घट से सम्बद्ध नहीं है । वस्तु से सम्बद्ध धर्मों के उत्पाद-विनाश से ही उस वस्तु का परिणाम परिणाम माना जाता है, असम्बद्ध धर्मों के उत्पाद-विनाश से नहीं ।

पर्यायवादी : यह कथन ठीक नहीं, क्योंकि अनुत्पन्न या विनष्ट धर्म तो असत् है, असत् के साथ सत् का कोई सम्बन्ध नहीं होता तो तत्सम्बन्धित्व भी कैसे हो सकता है ? अतः किसी भी धर्म में स्वधर्मिसम्बद्धता की संगति नहीं हो सकती ।

★ सत् या असत् से सम्बन्ध अघटित ★

कैसे सम्बन्ध नहीं घटता यह देखिये – दो कल्पना हो सकती है, सम्बन्ध या तो सत् के साथ होगा या असत् के साथ । सत् का सम्बन्ध शक्य नहीं, क्योंकि सम्बन्ध यानी परतन्त्रता, जिसने अपने संपूर्ण स्वभाव को आत्मसात् कर लिया हो वही सत् है, ऐसा सत् परसापेक्ष न रहने से क्यों किसी का भी सम्बन्धि यानी परतन्त्र बनेगा ? असत् का भी सम्बन्ध नहीं हो सकता, क्योंकि असत् तो सर्व उपाख्या से यानी वास्तव स्वरूप से शून्य होता है इस लिये वह किसी का आश्रित – परतन्त्र या सम्बन्धि कभी नहीं हो सकता । कभी शशशींग को किसी का आश्रित बना हुआ किसीने देखा है क्या ?

यह भी ज्ञातव्य है कि सांख्यवादी ने भिन्न भिन्न एक धर्म का उत्पाद, दूसरे का विनाश प्रदर्शित कर के परिणाम की स्थापना कभी नहीं की । तो कैसे की है ? उत्तर : जहाँ अवस्था के साथ तादात्म्यात्मक एक स्वभाव स्थायि बना रहता है फिर भी अवस्थाएँ बदलती रहती है उसी में परिणाम की स्थापना की है । दो धर्म यदि धर्मी से सर्वथा पृथक् हैं तब तो उन में तादात्म्यात्मक एक स्वभाव का स्थायि बना रहना शक्य ही नहीं है । क्योंकि, वह जिस का आत्मभूत है उस को तादात्म्यात्मक कहा जाता है, दो धर्मों का धर्मी ही उभय-आत्मभूत हो सकता है किन्तु जब धर्मी को धर्मों से पृथक् माना तब तो आत्मभूत एक स्वभाव का स्थायि बना रहना संभव ही नहीं, क्योंकि उन धर्मों का कोई आत्मभूत धर्मी ही नहीं है । दूसरी ओर, निरुध्यमान एवं उत्पद्यमान दो धर्मों से सर्वथा पृथक् कोई धर्मी, उपलब्धिलक्षणप्राप्त होते हुए भी किसी को दृष्टिगोचर नहीं होता, इसलिये धर्मों से पृथक् धर्मी असत्, असद्व्यवहार का ही अधिकारी बन जायेगा ।

अब यदि कहा जाय कि धर्मी से धर्म अर्थान्तरभूत यानी पृथक् नहीं है, तो धर्मों के स्वरूप की तरह

यच्च असत्कार्यवादे 'असदकरणात्'.....इत्यादि दूषणमभ्यधायि [२९८-१३] तत् सत्कार्यवादेपि तुल्यम् । तथाहि – असत्यकार्यवादिनापि शक्यमिदमित्थमभिधातुम् –

"न सदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसम्भवाभावात् । शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत् कार्यम्" ॥इति॥

अत्र च 'न सत् कार्यम्' इति व्यवहितेन सम्बन्धो विधातव्यः । कस्माद् – सदकरणाद् उपादानग्रहणाद्.... इत्यादिहेतुसमूहात् । *उभ(य)योर्यश्च दोषस्तमेकः प्रेर्यो न भवति । तथाहि – यदि दुग्धादिषु दध्यादीनि कार्याणि रस-वीर्य-विपाकादिना विभक्तेन रूपेण मध्यावस्थावत् सन्ति तदा तेषां किमपरमुत्पाद्यं रूपमवशिष्यते यत् तैर्जन्यं स्यात् ? न हि विद्यमानमेव कारणायत्तोत्पत्तिकं भवति प्रकृतिचैतन्यरूपवत् ।

अत्र प्रयोगः – यत् सर्वात्मना कारणे सत् न तत् केनचिज्जन्यम्, यथा प्रकृतिश्चैतन्यं वा, तदेव वा मध्यावस्थायां कार्यम्; सत् तत् सर्वात्मना परमतेन क्षीरादौ दध्यादि – इति व्यापकविरुद्धोपलब्धिप्रसंगः । न च हेतोरनैकान्तिकता, अनुत्पाद्याऽतिशयस्यापि जन्यत्वे सर्वेषां जन्यत्वप्रसक्तिः

दो धर्मों में एकत्व अभेद की आपत्ति होगी, क्योंकि तिरोभूत एवं आविर्भूत होनेवाले वे दोनों धर्म एक ही धर्मीस्वरूप से अभिन्न है । तदभिन्न से जो अभिन्न होता है वह तद्रूप होता है यह नियम है, उदा० घट से अभिन्न मिट्टी से अभिन्न द्रव्य हो तब घट और द्रव्य भी अभिन्न होता है । दो धर्मों के अभिन्न होने पर अब यह प्रश्न होगा कि धर्मी कौन से धर्म के रूप में परिणत होगा अथवा कौन सा धर्म परिणाम में ढलेगा ? यह भी ध्यान में लेना होगा कि अवस्थित धर्मी से अभिन्न होने के कारण वे दोनों धर्म भी अवस्थित ही होंगे, तब जैसे धर्मी से अभिन्न अपने धर्मीस्वरूप की न निवृत्ति होती है न प्रादुर्भाव, उसी तरह स्थायी धर्मी से अभिन्न धर्मों का भी नाश-उत्पाद नहीं हो पायेगा । अथवा ऐसा होगा कि धर्मों से अभिन्न धर्मी का स्वरूप जैसे धर्म की तरह उत्पाद-विनाशशालि होता है वैसे ही धर्मों से अभिन्न होने के कारण धर्मी का भी, अपूर्व धर्मीरूप से उत्पाद और पूर्वधर्मी रूप से नाश प्रसक्त होगा । फलतः धर्म या धर्मी किसी का भी परिणाम सिद्ध नहीं हो सकता । निष्कर्ष, सांख्यमत में परिणामवाद को ले कर कार्य-कारण व्यवहार संगत नहीं हो सकता । पहले अभेद का निराकरण करते हुए हमने यह भी कह दिया है कि परिणाम को सिद्ध करने वाला न तो कोई क्षणिक प्रमाण है, न अक्षणिक ।

★ असत्कार्यवाद के विरोध में समान कारिका ★

असदकरणात्..इत्यादि कारिका से असत्यकार्यवाद में पहले जो दोषारोपण किया है वह सब अनुपपत्तिस्वरूप दोषारोपण तो सत्कार्यवाद में समानरूप से प्रसक्त हो सकता है । कैसे यह देखिये – असदकरणाद....इस कारिका में प्रथमाक्षर 'अ' के बदले 'न' का प्रयोग कर के असत्कार्यवादी उसी कारिका को सत्कार्यवाद के निषेध में प्रयुक्त करते हैं । इस कारिका का सारभूत प्रतिज्ञात्मक वाक्यार्थ यह है कि 'कार्य उत्पत्ति के पहले सत् नहीं होता' । क्यों ? इस हेतुप्रश्न के उत्तर में सदकरण, उपादानग्रहण आदि पाँच हेतुओ का निर्देश है जिस में सदकरण के अलावा चार हेतु तो वे ही हैं जो सत्कार्यवादी ने असत् कार्य के निषेध में प्रयुक्त किये हैं । समान हेतुचतुष्टय के प्रयोग का तात्पर्य यह है कि दोनों मत में परस्पर निषेध के लिये जो समान दोषापादन किया जा सके, दोनों में से किसी भी वादी को उस का प्रयोग नहीं करना चाहिये । यह कैसे वह देखिये

*. 'यश्चोभयोर्दोषो न तमेकश्चोदयेदिति' तत्त्वसंग्रहे षोडशश्लोक – पञ्जिकायाम् (३१-२२) ।

अनवस्थाप्रसक्तिश्च विपर्यये बाधकं प्रमाणम् जनितस्यापि पुनर्जन्यत्वप्रसंगात् । तदेवं कार्यत्वाभिमतानामकार्यत्वप्रसक्तिः सत्कार्यवादाभ्युपगमे । कारणाभिमतानामपि मूलप्रकृति-बीज-दुग्धादीनां पदार्थानां विवक्षितमहदादि-अंकुर-दध्यादिजनकत्वं न प्राप्नोति अविद्यमानसाध्यत्वात् मुक्तात्मवत् । प्रयोगः – यद् अविद्यमानसाध्यम् न तत् कारणम् यथा चैतन्यम् (अ)विद्यमानसाध्यश्चाभिमतः पदार्थः – इति व्यापकानुपलब्धिः । प्रसंगसाधनं चैतद् द्वयमपि अतो नोभयसिद्धोदाहरणेन प्रयोजनम् । योगं प्रत्यात्मनोऽपि कर्तृत्वाभ्युपगमे मुक्तात्मा उदाहर्त्तव्यः ।

न च प्रथमप्रयोगेऽभिव्यक्त्या(क्त्या)दिरूपेणापि सविशेषणे हेतावुपादीयमानेऽसिद्धता, न ह्यस्माभिरभिव्यक्त्यादिरूपेणापि सत्त्वमिष्यते कार्यस्य, किं तर्हि ? शक्तिरूपेणा निर्विशेषणे तु तस्मिन्ननैकान्तिकता, यतोऽभिव्यक्त्यादिलक्षणस्यातिशयस्योत्पद्यमानत्वात्र सर्वस्य(या)कार्यत्वप्रसंगो भविष्यति । अत एव

– दहीं की मध्य यानी उत्पत्ति-उत्तरकालीन अवस्था में जैसे अपने स्वतन्त्र रस-वीर्य-विपाकादि होते हैं वैसे ही स्वतन्त्र रसादि के साथ वे दहीं आदि कार्य दुग्धादि में भी उत्पत्ति के पूर्व मौजूद हो, तब कौन सा ऐसा स्वरूप शेष रहा जिस को अभी उत्पन्न करने के लिये प्रवृत्ति की जाय ? जो पहले से ही विद्यमान है – अस्तित्व में है उस की उत्पत्ति (अस्तित्व) कारणाधीन नहीं हो सकती । जैसे पुरुष और प्रधान के पूरे स्वरूप का अस्तित्व पहले से ही है, इस लिये उन की उत्पत्ति कारणाधीन नहीं होती ।

★ सत्त्वहेतुक अजन्यत्वसाधक अनुमान ★

अनुमान प्रयोग : जो अपने कारण में सभी प्रकार से सत् होता है वह किसी का जन्य नहीं होता । उदा० प्रकृति अथवा चैतन्य । हालाँ कि प्रकृति एवं चैतन्य के कोई कारण ही न होने से वे अजन्य हैं, न कि अपने कारण में सर्व प्रकारों से सत् होने से । इस लिये यदि हेतु में असिद्धि दोष की शंका की जाय तो अन्य उदाहरण दिया है – मध्यावस्था में (यानी उत्पत्ति के बाद) कार्य अपने कारणों में समस्त प्रकारों से सत् होता है और पुनः उत्पन्न नहीं होता । सांख्य के मत से दहीं आदि पदार्थ दुग्धादि में अपनी उत्पत्ति के पहले भी सभी प्रकार सत् होता है अतः वह जन्य नहीं होगा । 'जो अपने कारण में सभी प्रकार से सत् होता है' इस हेतु निर्देश में 'अपने कारण में' इतना अंश परिचायक ही समझा जाय न कि हेतुगत विशेषण रूप, तो प्रकृति और चैतन्य को भी उदाहरण बना सकते हैं । यह व्यापकविरुद्धउपलब्धिसंज्ञक हेतु का प्रयोग यहाँ निर्दिष्ट है । उत्पत्ति के पूर्व असत्त्व यह जन्यता का व्यापक है, उस व्यापक का विरोधि है उत्पत्ति के पूर्व सत्त्व जो यहाँ उपलब्ध है । वह जहाँ रहेगा वहाँ उत्पत्ति के पूर्व असत्त्वरूप व्यापक के न रहने से उस का व्याप्य जन्यता भी वहाँ नहीं रह सकता ।

★ विपक्षव्यावृत्तिशंकानिवारण ★

इस प्रयोग में 'सर्वप्रकार से सत्त्व' यह हेतु कभी साध्यद्रोही नहीं है । यदि साध्यद्रोह की अर्थात् हेतु विपक्ष में भी रहने की शंका की जाय तो उस के निवारण के लिये ऐसा [illegible] प्रस्तुत है कि सर्व प्रकार से सत् होने का मतलब है अब उस में [illegible] संस्कार प्रगट होने [illegible] नहीं । [illegible] [illegible] [illegible] चैतन्य या प्रकृति को भी जन्य मानने की [illegible], [illegible] उत्पन्न हो गया है वह बार बार उत्पन्न होते रहने की अनवस्था चलेगी । [illegible] [illegible] [illegible] से यह [illegible] है कि [illegible] [illegible]

द्वितीयोऽपि हेतुरसिद्धः, विद्यमानत्वात् साध्यस्याभिव्यक्त्युद्रेकानुद्रेकाद्यवस्थाविशेषस्येति वक्तव्यम्, यतोऽत्र विकल्पद्वयम् – किमसावतिशयोऽभिव्यक्त्यवस्थातः प्रागासीत्, आहोश्विन्नेति ? यद्यासीत् न तर्ह्यसिद्धतादिदूषणं प्रयोगद्वयोपन्यस्तहेतुद्वयस्य। अथ नासीत् एवमप्यतिशयः कथं हेतुभ्यः प्रादुर्भावमश्नुवीत? 'असदकरणात्' इति भवद्भिरभ्युपगतत्वात् । तत् स्थितम् – सदकरणाद् न सत् कार्यम् ।

यथोक्तनीत्या सत्कार्यवादे साध्यस्याभावादुपादानग्रहणमप्यनुपपन्नं स्यात् तत्साध्यफलवांछयैव प्रेक्षावद्भिरुपादानपरिग्रहात् । 'नियतादेव च क्षीरादेर्दध्यादीनामुद्भवः' इत्येतदप्यनुपपन्नं स्यात् साध्यस्याऽसम्भवादेव । यतः सर्वस्मात् सम्भवाभाव एव नियताज्जन्मेत्युच्यते, तच्च सत्कार्यवादपक्षे न घटमानकम् ।

तथा 'शक्तस्य शक्यकरणात्' इत्येतदपि सत्कार्यवादे न युक्तिसंगतम् साध्याभावादेव । यतो यदि

प्रसक्त होता है । जब कार्य का कार्यत्व ही लुप्त हो गया तो कारणों का कारणत्व भी स्वतः लुप्त हो जायेगा । कारण माने जाने वाले मूलप्रकृति, बीज या दुग्धादि पदार्थ उन के संभवित कार्य महत्, अंकुर या दहीं आदि के जनक नहीं रहेंगे, क्योंकि उपरोक्त विधानानुसार अजन्य होने के कारण महत् आदि, उन कारणों से साध्य = निष्पाद्य ही नहीं है । उदा० मुक्तात्मा कृतकृत्य होने से, उस का कोई साध्य अब शेष नहीं है इसलिये वे किसी भी सिद्धि के कारण नहीं होते ।

यहाँ ऐसा अनुमानप्रयोग है – जिस का कुछ भी साध्य नहीं वह किसी का कारण नहीं होता, जैसे चैतन्य कारणरूप से अभिमत प्रकृति आदि भी ऐसे हैं जिन का कोई साध्य नहीं है। यहाँ हेतु व्यापकानुपलब्धिस्वरूप है। कारणत्व का व्यापक है ससाध्यत्व उस की अनुपलब्धि रूप हेतु, प्रकृति आदि में कारणत्व की निवृत्ति को सिद्ध करता है।

यहाँ दोनों प्रयोगों में नित्य चैतन्य का दृष्टान्त दिया गया है, नित्य चैतन्य सांख्यवादी को मान्य है किन्तु प्रतिवादी को मान्य नहीं है इस लिये प्रश्न हो सकता है कि दृष्टान्त उभयपक्षमान्य नहीं है तब यह अनुमानप्रयोग कैसे सफल होगा ? उत्तर यह है कि यहाँ प्रतिवादी पर्यायवादी को दहीं आदि में अजन्यत्व की सिद्धि और बीज आदि में अकारणत्व की सिद्धि इष्ट नहीं है किन्तु दोनों प्रयोगों से सत्कार्यवाद में प्रसंगापादन करना इष्ट है । प्रसंगापादन में तो स्वमत में सिद्ध न हो किंतु परवादी के मत में सिद्ध हो ऐसा दृष्टान्त देने में कोई बाध नहीं है । कोई सांख्य – एकदेशी अगर ऐसा कहें कि – 'दूसरे प्रयोग में नित्य चैतन्य को अकर्त्ता (अकारण) समझ कर दृष्टान्त बनाया है, किंतु हम तो चेतनपुरुष को प्रतिबिम्बोदय में हेतुता मान कर भोग के कर्त्ता भी मानते हैं अतः दृष्टान्त में अकारणत्व असिद्ध है ।' – तो इस असिद्धि का वारण करने के लिये मुक्तात्मा को दृष्टान्त बनायेंगे । एकदेशी के मत में भी मुक्तात्मा प्रतिबिम्बहेतु न होने से भोगकर्त्ता नहीं होता अतः अकारण ही होता है ।

★ हेतुओं में असिद्धि उद्भावन का निष्फल प्रयास ★

सांख्यवादी : प्रथम प्रयोग में जो 'सर्व प्रकार से सत्त्व' हेतु किया है यदि उस में अभिव्यक्ति प्रकार भी शामिल है तो हमारे मत से वह हेतु असिद्ध हो जायेगा । क्योंकि उत्पत्ति के पहले कारण में कार्य का अभिव्यक्ति रूप से सत्त्व हम नहीं मानते हैं । 'तो किस रूप से है ?' इस का उत्तर है 'शक्ति रूप से' यदि इस दोष को टालने के लिये 'सर्वप्रकार से' । यह विशेषण छोड दिया जाय तो 'उत्पत्ति के पूर्व जो अपने कारण में सत् होता है' ऐसा हेतु अजन्यत्व साध्य का द्रोही बन जायेगा, क्योंकि शक्तिरूप से कारण में सत् होने वाला कार्य भी कारकव्यापार से अभिव्यक्ति आदि अतिशय को ले कर उत्पन्न होता ही है । अतः वहाँ हेतु है, लेकिन 'अजन्यत्व' साध्य नहीं है । फलतः प्रथम प्रयोग से जो महत् आदि में अकार्यत्व आपादन किया

किंचित् केनचिदभिनिवर्त्त्येत तदा निवर्त्तकस्य शक्तिर्व्यवस्थाप्यते निर्वर्त्त्यस्य च कारणं सिद्धिमध्यासीतेति, नान्यथा । कारणभावोऽपि भावानां साध्याभावादेव सत्कार्यवादे न युक्तिसंगतः । न चैतद् दृष्टमिष्टं च । तस्माद् न सत् कार्यं कारणावस्थायामिति प्रसंगविपर्ययः पञ्चस्वपि प्रसंगसाधनेषु योज्यः ।

अपि च, सर्वमेव हि साधनं स्वविषये प्रवर्त्तमानं द्वयं विदधाति, स्वप्रमेयार्थविषये उत्पद्यमानौ संशय-विपर्यासौ निवर्त्तयति, स्वसाध्यविषयं च निश्चयमुपजनयति । न चैतत् सत्कार्यवादे युक्त्या संगच्छते । तथाहि – संदेह-विपर्यासौ भवद्भिः किं चैतन्यस्वभावावभ्युपगम्येते, आहोश्विद् बुद्धि-मनःस्वरूपौ ? तत्र यदि प्रथमः पक्षः, स न युक्तः, चैतन्यरूपतया तयोर्भवद्भिरनभ्युपगमात्, अभ्युपगमे वा मुक्त्यवस्थायाम-पि चैतन्याभ्युपगमात् तत्स्वभावयोस्तयोरनिवृत्तेरनिर्मोक्षप्रसंगः, साधनव्यापारात् तयोर्निवृत्तिश्च चैतन्यवन्नि-त्यत्वात् । द्वितीयपक्षोऽपि न युक्तः, बुद्धिमनसोर्नित्यत्वेन तयोरपि नित्यत्वान्निवृत्त्ययोगात् । न च निश्चयोत्पत्तिरपि साधनात् सम्भवति, तस्या अपि सर्वदाऽवस्थितेः अन्यथा सत्कार्यवादो विशीर्येत इति साधनोपन्यासप्रयासो विफलः कापिलानाम् ।

स्ववचनविरोधश्च प्राप्नोति । तथाहि– निश्चयोत्पादनार्थं साधनं ब्रुवता निश्चयस्य असत उत्पत्ति-

---

गया है वह निरवकाश है । दूसरे प्रयोग में 'जिस का कोई साध्य नहीं है' यह हेतु असिद्धि दोष से ग्रस्त है क्योंकि बीजादि के लिये अंकुर की अभिव्यक्ति का उद्रेक अथवा नाशक हेतु के संनिधान में उस का अनुद्रेक यानी तिरोभाव आदि साध्य अविद्यमान नहीं किन्तु विद्यमान है ।

पर्यायवादी : यह वक्तव्य ठीक नहीं है । कारण, यहाँ दो विकल्पों का सामना करना होगा – अभिव्यक्तावस्था के पहले वह अभिव्यक्ति आदि संस्कार अस्तित्व में था या नहीं ? यदि था तब तो अभिव्यक्तरूप से भी सर्वदा वहाँ सत् होने के कारण, हमारे प्रथम प्रयोग के 'सर्व प्रकार से सत्त्व' हेतु में असिद्धि का दोष सावकाश नहीं होगा । यदि पहले वह संस्कार नहीं था, यानी असत् था, तब तो कारणसमूह से भी वह कैसे उत्पन्न होगा, जब कि आप असत् का करण (= निष्पादन) तो मानते ही नहीं हो । सारांश उक्त दो प्रसंगापादन स्वरूप प्रयोगों से यह फलित होता है सत् का करण (= निष्पादन) शक्य न होने से, उत्पत्ति के पूर्व कार्य सत् नहीं हो सकता ।

★ साध्यत्व न होने पर उपादानग्रहणादि निष्फल ★

पूर्वोक्त प्रथम प्रयोग से यह स्पष्ट है कि सत्कार्यवाद मान लेने पर सत्तू आदि या दही आदि में साध्यत्व ही नहीं बचता । जब वे साध्य ही नहीं है तो उपादान कारण का आदर भी कौन करेगा ? दही आदि साध्य फल की आशा में ही जानकार लोग दुग्धादि उपादान का संग्रह करते हैं, किन्तु साध्य ही नहीं होगा तो कौन उस के संग्रह का निरर्थक कष्ट उठायेगा ?

'सभी पदार्थों से सब का उद्भव नहीं होता किन्तु नियत दुग्धादि हेतु से ही दही आदि होते हैं' यह बात भी दही आदि का साध्यत्व छीन जाने पर संगत नहीं हो सकेगी । सत्कार्यवादी ने जो तीसरा हेतु कहा था 'सर्वसम्भवाभाव', उस का तात्पर्य तो यही है कि नियत कारणों से नियत कार्य का जन्म । किन्तु जब दही आदि साध्य ही नहीं रहे, तब सत्कार्यवाद में नियतकारणजन्यत्व भी संगत नहीं हो सकता ।

तथा 'शक्तस्य शक्यकरणात्' (कार्यक्षमताशक्ति जिस में होती है वही शक्य कार्य को उत्पन्न करता है), यह भी सत्कार्यवाद में संगत नहीं हो सकता, क्योंकि सत्कार्यवाद में कोई उत्पादनयोग्य शक्य ही नहीं है । यदि कोई पदार्थ ऐसा होता जो किसी से निष्पाद्य हो, तब निष्पादक पदार्थों में शक्यकारित्व की स्थापना हो सकती

रंगीकृता भवेत् 'सत् कार्यम्' इति च प्रतिज्ञया सा निषिद्धेति स्ववचनविरोधः स्पष्ट एव । अथ साधनप्रयोगवैयर्थ्यं मा प्रापदिति निश्चयोऽसन्नेव साधनादुत्पद्यत इत्यंगीक्रियते तर्हि 'असदकरणात्' इत्यादेर्हेतुपंचकस्यानैकान्तिकता स्वत एवाभ्युपगता भवति, निश्चयवत् कार्यस्याप्यसत उत्पत्त्यविरोधात् । तथाहि – यथा निश्चयस्य असतोऽपि करणम् तदुत्पत्तिनिमित्तं च यथा विशिष्टसाधनपरिग्रहः – न च यथा तस्य सर्वस्मात् साधनाभासादेः सम्भवः – यथा चासन्नप्यसौ शक्तैर्हेतुभिर्निर्वर्त्त्यते, यथा च कारणभावो हेतूनां समस्ति तथा कार्येऽपि भविष्यति इति कथं नानैकान्तिका निश्चयेन 'असदकरणात्'–इत्यादिहेतवः । न च यद्यपि प्राक्साधनप्रयोगात् सन्नेव निश्चयः तथापि न साधनवैयर्थ्यम् यतः प्रागनभिव्यक्तो निश्चयः पश्चात् साधनेभ्यो व्यक्तिमासादयतीत्यभिव्यक्त्यर्थं साधनप्रयोगः सफलः इति नानर्थक्यमेषामिति वक्तव्यम्, व्यक्तेरसिद्धत्वात् । तथाहि– किं [A]स्वभावातिशयोत्पत्तिरभिव्यक्तिरभिधीयते, [B]आहोश्वित् तद्विषयं ज्ञानम् उत [C]तदुपलम्भावारकापगमः इति पक्षाः ।

[A]तत्र न तावत् स्वभावातिशयोत्पत्तिरभिव्यक्तिः । यतोऽसौ स्वभावातिशयो निश्चयस्वभावादव्यतिरिक्तः स्याद् व्यतिरिक्तो वा ? यद्यव्यतिरिक्तस्तदा निश्चयस्वरूपवत् तस्य सर्वदैवावस्थितेर्नोत्पत्तिर्युक्तिमती ।

होने वाले पदार्थ के निष्पादन की स्थापना सम्भव होती, किन्तु साध्यत्व के विरह में वह सम्भव नहीं है ।

सत्कार्यवाद की सिद्धि के लिये प्रयुक्त पञ्चम हेतु 'कारणभाव' भी उस मत में संगत नहीं होगा, क्योंकि साध्य ही कोई नहीं है । जगत् में कहीं भी कारण-कार्यभाव ही न हो, साध्य ही कोई न हो, न कोई उपादान का ग्रहण करता हो....इत्यादि कहीं भी देखा नहीं जाता और न वैसा किसी को इष्ट भी है । इस से विपरीत ही देखा जाता है और सभी को वैसा इष्ट भी है किन्तु वह सत्कार्यवाद में संगत नहीं होता इस लिये उक्त प्रसंग का विपर्यय यह फलित होता है कि कारणावस्था में कार्य सत् नहीं होता। सदकरण, उपादानग्रहण.. इत्यादि पाँचो सत्कार्यवाद में प्रसंगसाधन के रूप में प्रयुक्त है जो निष्कर्ष के रूप में उक्त विपर्यय को फलित करता है कि सत्कार्यवाद असंगत है।

★ संशयनिवृत्ति की और निश्चयोत्पत्ति की अनुपपत्ति ★

यह ज्ञातव्य है कि अपने क्षेत्र में होने वाला कोई भी हेतुप्रयोग दो काम करता है – A अपने अनुमेयात्मक प्रमेयरूप अर्थ के वारे में पूर्व में उत्पन्न होने वाले संशय अथवा विपर्यास (= भ्रान्ति) को निवृत्त करता है B अपने साध्य के विषय में यथार्थ निश्चय उत्पन्न करता है । सत्कार्यवाद में ये दोनों काम युक्तिसंगत नहीं हो पाते । कैसे यह देखिये – संदेह और विपर्यास को आप चैतन्यस्वभाव मानते हैं या बुद्धि-मनःस्वरूप ? चैतन्यस्वभाव मानना युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि आप के मत में संशय-विपर्यास को चैतन्यमय नहीं माना गया । यदि चैतन्यमय मानेंगे तो मुक्ति अवस्था में चैतन्य अक्षुण्ण रहता है इसलिये चैतन्यस्वभावात्मक संशय-विपर्यास भी उत्पन्न होते ही रहेंगे, निवृत्त नहीं होंगे, फलतः मोक्ष ही सम्पन्न नहीं होगा । किसी कारणव्यापार से भी उनकी निवृत्ति नहीं हो पायेगी, क्योंकि नित्यचैतन्य से अभिन्न होने के नाते चैतन्य की भाँति उनकी निवृत्ति शक्य नहीं । दूसरा विकल्प भी सत्कार्यवाद में संगत नहीं हो सकता, क्योंकि प्रकृति-अभिन्न होने के नाते बुद्धि और मन तो नित्य तत्त्व हैं इसलिये बुद्धिस्वभाववाले अथवा मनःस्वभाववाले संशय-विपर्यास भी नित्य बन गये, फलतः उनकी निवृत्ति नहीं हो पायेगी । प्रथम कारण जैसे असंगत है वैसे दूसरा काम अपने साध्य के निश्चय की उत्पत्ति यह भी हेतु प्रयोग से सम्भव नहीं है, क्योंकि उत्पन्न किया जाने वाला निश्चय भी सत्कार्यवाद में सर्वदा सिद्ध ही है, यदि निश्चय को सर्वदा सिद्ध नहीं मानेंगे – उत्पत्ति के पूर्व असत् मानेंगे तो सत्कार्यवाद समाप्त

अथ व्यतिरिक्तस्तथापि 'तस्यासौ' इति सम्बन्धानुपपत्तिः । तथाहि – आधाराधेयलक्षणः जन्यजनकभावो वासौ भवेत् ? न तावत् प्रथमः, परस्परमनुपकार्योपकारकयोस्तदसम्भवात्, उपकाराभ्युपगमे नोपकारस्यापि पृथग्भावे सम्बन्धासिद्धिः – अपरोपकारकल्पनायां चानवस्थाप्रसक्तिः – अपृथग्भावे च साधनोपन्यासवैयर्थ्यम् निश्चयादेवोपकारापृथग्भूतस्यातिशयस्योत्पत्तेः । न चातिशयस्य कश्चिदाधारो युक्तः अमूर्तत्वेनाधःप्रसर्पणाभावात् अधोगतिप्रतिबन्धकत्वेनाधारस्य व्यवस्थानात् । जन्यजनकभावलक्षणोऽपि न सम्बन्धो युक्तः सर्वदैव सम्बन्धाख्यस्य (निश्चयाख्यस्य) कारणस्य सन्निहितत्वान्नित्यमतिशयोत्पत्तिप्रसक्तेः । न च साधनप्रयोगापेक्षया निश्चयस्यातिशयोत्पादकत्वं युक्तम् अनुपकारिण्यपेक्षाऽयोगात्, उपकाराभ्युपगमे वा दोषः पूर्ववद् वाच्यः । अपि च अतिशयोपि पृथग्भूतः क्रियमाणः किमसन् क्रियते आहोस्वित्

हो जायेगा । इस प्रकार कपिलऋषि के भक्तों की ओर से किया जाने वाला हर कोई हेतुप्रयोग निरर्थक ठहेगा ।

★ सत्कार्यवाद में वदतो व्याघात ★

सत्कार्यवाद में अपने ही वचन का विरोध प्रसक्त होता है । कैसे यह देखिये – निश्चय उत्पन्न करने के लिये हेतुप्रयोग करनेवाले असत् निश्चय की उत्पत्ति को मान कर ही हेतुप्रयोग कर सकते हैं, फिर दूसरी ओर 'कार्य सत् है' इस प्रतिज्ञा के द्वारा असत् की उत्पत्ति का स्वयं निषेध करते हैं, अतः आपने मनन का अपने मत में स्पष्ट विरोध है । यदि अपने हेतुप्रयोग की निरर्थकता दूर करने के लिये, असत् निश्चय की हेतु प्रयोग से उत्पत्ति होने का स्वीकार कर लेंगे तो – सत् कार्य की सिद्धि के लिये प्रयुक्त असदकरण आदि पाँचों हेतु उस निश्चयस्थल में साध्यद्रोही बन जायेंगे यह अपने आप घोषित हो जायेगा, क्योंकि निश्चय तो असत् ही उत्पन्न होने वाला है और उसकी तरह अन्य भी कार्य असत् उत्पन्न हो सकते हैं, उसमें कोई विरोध नहीं हो सकता । कैसे यह देखिये – असत् निश्चय का करण मान्य किया है । तथा, असत् निश्चय उपजाने के लिये आपने (उपादान के बदले) विशिष्ट हेतुप्रयोग का आलम्बन लिया । आपने यह भी मान लिया कि असत् भी निश्चय ठोस हेतुप्रयोग से ही हो सकता है न कि हर किसी से, खास कर हेत्वाभासप्रयोग से । यह भी स्वीकार लिया कि असत् निश्चय भी अपने शक्तिशाली हेतुओं से निपज सकता है । तथा असत् निश्चय को निपजाने के लिये हेतुप्रयोगादि में कारणभाव भी मान लिया । अब कहिये कि असदकरण आदि पाँचों हेतु असत् निश्चय स्थल में साध्यद्रोही कैसे नहीं है ? सत् कार्य की सिद्धि के लिये हेतुरूप में प्रयुक्त असदकरण आदि साधन असत् निश्चय रूप विपक्ष में रह जाते हैं ।

सांख्य :- हेतुप्रयोग के पूर्व वह निश्चय असत् नहीं है, सत् है । 'तो फिर हेतुप्रयोग निरर्थक होगा' ऐसी बात नहीं है, क्योंकि हेतुप्रयोग के पहले वह निश्चय अनभिव्यक्त था जो अब हेतुप्रयोग से अभिव्यक्त होता है । निश्चय को अभिव्यक्त करने में ही हेतुप्रयोग की सार्थकता है, इसलिये हेतुप्रयोग निरर्थक नहीं होगा ।

[illegible] :- यह कथन अनुचित है, क्योंकि हेतु प्रयोग के पहले अभिव्यक्ति [illegible] है । देखिये, अभिव्यक्ति का क्या मतलब ? A स्वभाव में [illegible] का उत्पाद, B [illegible] का ज्ञान होना C अथवा [illegible] दूर हट जाना ? ये तीनों विकल्प हैं ।

★ अभिव्यक्ति स्वभावातिशयोत्पत्तिरूप नहीं ★

A- स्वभाव में अतिशय का उत्पाद, अभिव्यक्ति [illegible] नहीं है [illegible] निश्चय के स्वभाव से पृथक् है या अभिन्न है ? यदि अभिन्न है, तो जैसे निश्चय [illegible]

सन् इति कल्पनाद्वयम् । असत्त्वे पूर्ववत् साधनानामनैकान्तिकता वाच्या, सत्त्वे च साधनवैयर्थ्यम् तत्रापि अभिव्यक्त्यभ्युपगमे 'कियमभिव्यक्तिः' इत्याद्यनवस्थाप्रसंगो दुर्निवार इति व्यतिरेकपक्षोऽपि संगत्यसम्भवादसम्भवी । अतो न स्वभावातिशयोत्पत्तिरभिव्यक्तिः ।

नापि तद्विषयज्ञानोत्पत्तिस्वरूपा अभिव्यक्तिर्युक्तिसंगता, तद्विपयज्ञानस्य भवदभिप्रायेण नित्यत्वात् । तथाहि – तद्विषयापि संवित्तिः सत्कार्यवादिमतेन नित्यैव किमुत्पाद्यं तस्याः स्यात् ? अपि च एकैव भवन्मतेन संविद् 'आसर्गप्रलयादेका बुद्धिः' [ ] इति कृतान्तात्, सैव च निश्चयः तत्र कोऽपरस्तदुपलम्भोऽभिव्यक्ति स्वरूपो यः साधनैः सम्पाद्येत ? न च (न) तद्बुद्धिस्वभावा तद्विपया संवित्तिः किंतु मनःस्वभावेति वक्तव्यम् 'बुद्धिः-उपलब्धिः-अध्यवसायः-मनः-संवित्तिः' इत्यादीनामनर्थान्तरत्वेन प्रदर्शयिष्यमाणत्वात् ।

तदभिन्न स्वभावातिशय भी पूर्वावस्थित होने से उस के प्रादुर्भाव की वात कभी युक्तिसंगत नहीं होगी । यदि वह पृथक् है, तब 'निश्चय का स्वभावातिशय' ऐसा षष्ठीप्रयोग सम्वन्ध के विना संगत नहीं होगा । सम्वन्ध भी होगा तो आधाराधेयभावरूप होगा या जन्यजनकभावरूप ? पहला सम्वन्ध सम्भव नहीं है, क्योंकि एकदूसरे में उपकारक-उपकार्य भाव न रहने पर आधार आधेयभाव सम्वन्ध नहीं हो सकता । यदि निश्चय का स्वभावातिशय की ओर (या स्वभावातिशय का निश्चय की ओर) कोई उपकार मानेंगे तो वहाँ भी वह उपकार भिन्न है या अभिन्न – इन विकल्पों का सामना करना होगा । भिन्न मानेंगे तो पुनः पूर्ववत् सम्वन्ध की अनुपपत्ति दोष होगा, सम्वन्ध के लिये अन्य उपकार की कल्पना में अनवस्था दोष लगेगा, क्योंकि उस अन्य उपकार के लिये भी अपर-अपर उपकार की कल्पना करनी होगी । यदि अभिन्न मानेंगे तो निश्चय-अभिव्यक्ति के लिये किया जाने वाला हेतुप्रयोग निरर्थक ठहरेगा । कैसे यह देखिये, स्वभावातिशय में निश्चय के द्वारा अपने से अभिन्न उपकार उत्पन्न होगा, इसका मतलव है कि उपकारभिन्न स्वभावातिशय ही निश्चय से उत्पन्न होगा। इस स्थिति में, जव पूर्वावस्थित निश्चय से ही अभिव्यक्तिस्वरूप स्वभावातिशय को उत्पन्न होना है तव हेतुप्रयोग की क्या आवश्यकता? दूसरी वात यह है कि वह अतिशय तो अमूर्त्त पदार्थ होने से गुरुत्वशून्य है इसलिये उसके अधोगमन का सम्भव ही नहीं है; अत एव 'अधोगति का प्रतिबन्धक' रूप आधार भी असम्भव है, फलतः आधाराधेयभाव सम्बन्ध ही यहाँ सम्भव नहीं है। विद्वानों ने यह स्थापित किया हुआ है कि जो अधोगति को रोकता है वही आधार है।

जन्य-जनकभावरूप सम्बन्ध भी यहाँ संगत नहीं है । कारण, यदि स्वभावातिशय की उत्पत्ति जन्य-जनकभावरूप सम्वन्धसंज्ञक (अथवा निश्चयसंज्ञक) कारण पर अवलम्बित होगी तो सदा उसकी उत्पत्ति होती ही रहेगी क्योंकि वह सम्वन्ध (?निश्चयात्मक कारण) सत् रूप होने से सदा के लिये उपस्थित है । यदि कहा जाय – 'निश्चयात्मक कारण तो सदा उपस्थित है किन्तु उक्त हेतुप्रयोग भी अतिशयोत्पत्ति में अपेक्षित है, अतः उसके अभाव में सदा उसकी उत्पत्ति का अनिष्ट नहीं होगा'– तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि निश्चय का अनुपकारक हेतुप्रयोग कभी अपेक्षणीय नहीं हो सकता । यदि हेतुप्रयोग से निश्चय का कोई उपकार मानेंगे तो पूर्ववत् भिन्न-अभिन्न विकल्पों में कहे हैं ऐसे दोष प्रसक्त होंगे ।

तथा, यह भी विचारणीय है– पृथक् अतिशय असत् हो कर उत्पन्न होता है या सत् होकर उत्पन्न होता है ? यदि असत् अतिशय उत्पन्न होगा, तब तो पूर्वोक्त हेतुपंचक इसी स्थल में साध्यद्रोही वन बैठेगा । यदि सत् अतिशय उत्पन्न होता है तव तो कारणों में निरर्थकता की विपदा खडी है । यदि कहें कि– 'कारणों से

[C]तद्विषयोपलम्भावरणक्षयलक्षणाप्यभिव्यक्तिर्न घटां प्राञ्चति, द्वितीयस्योपलम्भस्याऽसम्भवेनोपलम्भावरणस्याप्यभावात् न स्वतः आवरणं युक्तिसंगतम् तस्य वस्तुसद्विषयत्वात् । न चासतस्तदावरणस्य कुतश्चित् क्षयो युक्तः । सत्त्वेऽपि तदावरणस्य नित्यत्वाद् न क्षयः सम्भवी, ति(रो)भावलक्षणोऽपि क्षयस्तस्याऽयुक्तः अपरित्यक्तपूर्वरूपस्य तिरोभावानुपपत्तेः । तद्विषयोपलम्भस्य सत्त्वेऽपि नित्यत्वान्नावरणसम्भव इति कुतस्तत्क्षयोऽभिव्यक्तिः ? न चाप्यावरणक्षयः केनचिद् विधातुं शक्यः, तस्य निःस्वभावत्वात् । ततोऽभिव्यक्तेरघटमानत्वात् सत्कार्यवादपक्षे साधनोपन्यासवैयर्थ्यम् ।

एवं बन्ध-मोक्षाभावप्रसंगश्च तत्पक्षे । तथाहि – प्रधानपुरुषयोः कैवल्योपलम्भलक्षणतत्त्वज्ञानप्रादुर्भावे सति अपवर्गः कापिलैरभ्युपगम्यते, तच्च तत्त्वज्ञानं सर्वदा व्यवस्थितमेवेति सर्व एव देहिनोऽपवृक्ता:(?क्ताः) स्युः । अत एव न बन्धोऽपि तत्पक्षे संगतः मिथ्याज्ञानवशाद्धि बन्ध इष्यते तस्य च सर्वदा व्यवस्थितत्वात् सर्वेषां देहिनां बद्धत्वमिति कुतो मोक्षः ? लोकव्यवहारोच्छेदश्च सत्कार्यवादाभ्युपगमे । तथाहि – हिताऽहितप्राप्तिपरिहाराय लोकः प्रवर्त्तते, न च तत्पक्षे किंचिदप्राप्यम् अहेयं वा समस्तीति निर्व्यापारमेव सकलं जगत् स्यादिति कथं न सकलव्यवहारोच्छेदप्रसंगः ?

सत् अतिशय की 'उत्पत्ति' नहीं– अभिव्यक्ति होती है इसलिये निरर्थकता नहीं होगी'– तो यहाँ फिर से वही प्रश्नपरम्परा कि वह अभिव्यक्ति स्वभावातिशयोत्पत्तिरूप है या... इत्यादि आवर्त्तित होगी । तात्पर्य, निश्चयस्वभाव से भिन्न स्वभावातिशय पक्ष दोषग्रस्त होने से असंगत है और सम्भवित विकल्पों की असंगति के कारण, अभिव्यक्ति स्वभावातिशयउत्पत्तिरूप मानना भी अयुक्त है ।

★ अभिव्यक्ति निश्चयविषयकज्ञानरूप नहीं हो सकती ★

[B]अभिव्यक्ति यानी निश्चय के विषय में ज्ञान की उत्पत्ति; यह अर्थ युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि किसी भी विषय का ज्ञान भी सांख्यवाद में नित्य ही है । कैसे यह देखिये– सत्कार्यवाद के अनुसार किसी भी विषय का संवेदन नित्य ही होता है, नित्य अपने आप में परिपूर्ण ही होता है, उस में क्या नया उत्पन्न करोगे ? तथा, आप के मत में तो संवेदन समग्ररूप में एक ही है, कि 'सृष्टि से प्रलय तक बुद्धि एक ही होती है ।' यह आपके ही सिद्धान्त में कहा गया है । बुद्धि और निश्चय तो एक ही है, अभिव्यक्ति [illegible] है निश्चय का, वह क्या बुद्धि से अलग है जिस को आप हेतुप्रयोग से [illegible] चाहते हैं ? यदि कहें कि– 'निश्चय का संवेदन बुद्धिस्वभाव नहीं है । किंतु मनःस्वभाव है ।'– यह ठीक नहीं है, क्योंकि [illegible] में यह स्पष्ट किया जायेगा कि बुद्धि-उपलब्धि-अध्यवसाय-मन-संवेदन इत्यादि शब्द सब एकार्थक ही है ।

★ अभिव्यक्ति आवरणविनाशरूप नहीं ★

[C]अभिव्यक्ति यानी निश्चयविषयक उपलम्भ के आवरण का विनाश, यह अर्थ भी घट नहीं सकता । [illegible]

[illegible]

निषिद्धे च सत्कार्यवादे 'असत् कार्यं कारणे' इति सिद्धमेव, सदसतोः परस्परपरिहारस्थितत्वेन प्रकारान्तराऽसम्भवात् – तथापि परोपन्यस्तदूषणस्य दूषणाभासप्रतिपादनप्रकारो लेशतः प्रदर्श्यते। तत्र यत्तावदुक्तं परेण 'असत् कर्त्तुं नैव शक्यते निःस्वभावत्वात्' इति (२९९-३) तदसिद्धम् वस्तुस्वभावस्यैव विधीयमानत्वाभ्युपगमात्, तस्य च नैरूप्याऽसिद्धेः । अथ प्राग् उत्पत्तेर्निःस्वभावमेव तत् । न, तस्यैव निःस्वभावत्वाऽयोगात् । न यतः सस्वभाव एव निःस्वभावो युक्तः, वस्तुस्वभावप्रतिषेधलक्षणत्वान्निःस्वभावत्वस्य । न च क्रियमाणं वस्तु उत्पादात् प्रागस्ति येन तदेव निःस्वभावं सिद्ध्येत् । न च वस्तु विरहलक्षणमेव धर्मिणं नि(?नी) रूपं पक्षीकृत्य 'नैरूप्यात्' इति हेतुः प(?क)क्षीक्रियत इति वक्तव्यम् सिद्धसाध्यताप्रसंगात्, यतो न वस्तुविरहः केनचिद् विधीयमानतयाऽभ्युपगतः ।

अनैकान्तिकश्चायं हेतुः विपक्षे बाधकप्रमाणाऽप्रदर्शनात् । कारणशक्तिप्रतिनियमाद्धि किञ्चिदेवासत्

यदि निश्चयविषयक द्वितीय उपलम्भ का सत्त्व मान्य किया जाय तो वह उपलम्भ ही सत् होने के कारण नित्य होने से, उसका आवरण भी घट नहीं सकेगा । आवरण सम्भव न होने से उसका विनाश भी घट नहीं सकेगा, तब अभिव्यक्ति को कैसे संगत करेंगे ? दूसरी बात यह है कि आवरणध्वंस तो तुच्छस्वरूप है, इसलिये उसका किसी उपाय से निष्पादन ही शक्य नहीं होगा ।

निष्कर्ष, तीनों विकल्प में अभिव्यक्ति घट नहीं सकने के कारण सत्कार्यवाद की सिद्धि के लिये हेतुप्रयोग का विन्यास निरर्थक ठहरता है ।

★ सत्कार्यवाद में बन्धमोक्षाभावादि प्रसंग ★

सांख्य के सत्कार्यवाद में न तो बन्ध घटेगा न मोक्ष । कैसे यह देखिये – कपिल ऋषि के भक्तों का ऐसा मन्तव्य है कि 'मैं प्रकृति से पृथक् हूँ' इस प्रकार जब प्रकृतिविनिर्मुक्त केवल पुरुष के उपलम्भ स्वरूप तत्त्वज्ञान का प्रादुर्भाव होना – यही अपवर्ग यानी मोक्ष कहा जाता है । किन्तु ऐसा तत्त्वज्ञान नित्यवादी सांख्यमत में सदा के लिये उपस्थित ही है, इसलिये समस्त देहधारियों की मुक्ति हो जानी चाहिये । वह मुक्ति भी नित्य मुक्ति रूप होने से अब बन्ध तत्त्व भी सत्कार्यवाद में संगत नहीं होगा । कारण, बन्ध तो मिथ्याज्ञान के प्रभाव से होता है, तत्त्वज्ञान की तरह ही मिथ्याज्ञान भी सदा के लिये अवस्थित होने पर सभी जीव सदा के लिये बन्धनग्रस्त ही रहेंगे तो किस का मोक्ष होगा ?

सत्कार्यवाद के स्वीकार में लोकव्यवहार का भी तिरस्कार हो जाता है । कैसे यह देखिये – हित की प्राप्ति और अहित के त्याग के लिये सब प्रयत्न करते हैं । किंतु सांख्यमत में कुछ भी अप्राप्त नहीं है क्योंकि नित्य होने से जो प्राप्त होना चाहिये वह प्राप्त ही है और जिस का त्याग होना चाहिये वह त्यक्त ही है अतः नया कुछ भी प्राप्तव्य अथवा त्याज्य रहता ही नहीं । फलतः सारा जगत् व्यापार(= प्रयत्न)हीन बन जाने से, सारे लोकव्यवहार का उच्छेद प्रसक्त होगा ।

★ सत्कार्यवादनिषेध असत्कार्यवादसाधक ★

जब सत्कार्यवाद निषिद्ध हो गया तो अर्थतः उस का विपर्यय सिद्ध हो जाता है कि कारण में उत्पत्ति के पूर्व कार्य असत् होता है । क्योंकि सत् और असत् एक-दूसरे का परिहार कर के रहते हैं और सत्-असत् के अलावा कोई तृतीय विधा नहीं है इसलिये सत् का निषेध असत् के विधान में फलित होता है । इस प्रकार असत् कार्य की अर्थतः सिद्धि हो जाने पर भी, असत्कार्यवाद में अन्यवादियोंने जो दोषारोपण किया है वह

क्रियते यस्योत्पादको हेतुर्विद्यते, यस्य तु शशशृंगादेर्नास्त्युत्पादकः तन्न क्रियते इति अनेकान्त एव, यतो न सर्वं सर्वस्य कारणमिष्टम् । न च 'यद् असत् तत् क्रियते एव' इति व्याप्तिरभ्युपगम्यते; किं तर्हि ? यद् विधीयते उत्पत्तेः प्राक् तत् असदेवेत्यभ्युपगमः । अथ तुल्येऽपि असत्कारित्वे हेतूनां किमिति सर्वः सर्वस्याऽसतो हेतुर्न भवतीत्यभिधीयते ? असदेतत् – भवत्पक्षेऽप्यस्य चोद्यस्य समानत्वात् । तथाहि – तुल्ये सत्कारित्वे किमिति सर्वः सर्वस्य सतो हेतुर्न भवतीत्यसत्कार्यवादीनाप्येतदभिधातुं शक्यत एव । न च भवन्मतेन किंचिदसदस्ति येन तन्न क्रियते । न च कारणशक्तिनियमात् सदपि नभोऽम्बुरुहादि न क्रियते इत्युत्तरमभिधानीयम् , इतरत्राप्यस्य समानत्वात् । तदुक्तम् –

दोषाभासारोपण है इस बात को उजागर करने के लिये किंचित् प्रयास उचित है –

यह जो कहा था [२०९-३२] 'असत् स्वभावरहित होने के कारण उस का करण अशक्य है ।' यह कथन युक्तिसिद्ध नहीं है । हम असत् का सत्-करण नहीं मानते किन्तु कारणों के व्यापार से वस्तुस्वभाव का निष्पादन मानते हैं और वस्तुस्वभाव निरुपाख्य नहीं होता । यदि कहें कि – 'उत्पत्ति के पहले तो वह भावि में निपजनेवाला वस्तुस्वभाव स्वभावशून्य ही होता है' – तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि जो उस समय नहीं होता, वह तो स्वभावशून्य भी नहीं होता । तात्पर्य, आप उत्पन्न वस्तु को उद्देश कर के उत्पत्ति के पहले स्वभावशून्य होने की बात करते हैं किन्तु उत्पत्ति के पहले जो हस्ती में ही नहीं उस के लिये 'वह स्वभावयुक्त था या स्वभावशून्य' इस चर्चा को भी अवकाश नहीं । ऐसा शक्य ही नहीं है कि जो अब स्वभावयुक्त है वह कभी स्वभावशून्य हो कर भी हस्ती में हो । स्वभावशून्य का मतलब ही यह है कि वस्तुस्वभाव का निषेध, वह स्वभावयुक्त वस्तु को उद्देश कर के कैसे हो सकता है ? जिस की उत्पत्ति की जा रही है वह उत्पत्ति के पूर्व, हस्ती में ही नहीं है तो 'स्वभावशून्य हो कर तब होती है' ऐसा कैसे सिद्ध होगा ? यदि कहें कि – 'हम नीरूप वस्तुविरह को उद्देश कर के निःस्वभावत्व हेतु से उस के करण की अशक्यता को सिद्ध करेंगे' – तो इस में इष्टापत्ति होने से सिद्धसाध्यता दोषप्रसंग होगा, क्योंकि वस्तुविरह जो कि शशशृंगतुल्य तुच्छ है उस का करण (= निष्पादन) किसी भी रीति से शक्य नहीं मानते हैं, हम तो वस्तुविरह का नहीं वस्तुस्वभाव का निष्पादन मानते हैं ।

★ असत्-अकरण की सिद्धि में हेतु साध्यद्रोही ★

'(जो) असत् (है उस) का करण शक्य नहीं है क्योंकि वह स्वभावरहित है' इस प्रयोग में हेतु साध्यद्रोही है । यहाँ जिस का करण शक्य है वह विपक्ष है, विपक्ष में स्वभावशून्यत्व हेतु के न रहने में कोई बाधक दिखाना चाहिये वह तो अब तक नहीं दिखाया है, इसलिये विपक्षव्यावृत्ति में बाधक न होने के कारण हेतु संदिग्धसाध्यद्रोही सिद्ध होता है । असत् (पक्ष) स्वयं ही यहाँ विपक्ष भी हो सकता है, जैसे कि देखिये, असत् होने पर भी जिस के उत्पादक हेतु हस्ती में नहीं है उस शशशृंग आदि का करण अशक्य है किन्तु असत् होने पर भी जिस के उत्पादक हेतु विद्यमान हो उस का करण शक्य हो सकता है, क्योंकि उत्पादक कारणों में सभी प्रकार के उत्पादन की साधारण शक्ति नहीं होती किन्तु नियतरूप से कुछ ही असत् के उत्पादन की शक्ति होती है, सब ही सब का उत्पादन नहीं होता । अतः स्वभावशून्यत्वात्मक असत् ही यहाँ विपक्ष हुआ, उस में स्वभावशून्यत्व हेतु रहता है इसलिये साध्यद्रोह स्पष्ट है । हम ऐसा तो कोई नियम नहीं मानते कि 'जो असत् है उस का करण होता ही है' । हम तो यह मानते हैं कि 'जिस का उत्पादक विद्यमान है वह उत्पत्ति के पहले असत् ही होता है ।'

त्रैगुण्यस्याऽविशेषेपि न सर्वं सर्वकारकम् ।
■यद्वत् तद्वदसत्त्वेऽपि न (सर्वं) सर्वकारकम् ॥ [तत्त्वसं० का० २८]

अभ्युपगमवादेन च 'यद्वत् तद्वत्' इति साम्यमुक्तम्, न पुनस्तदस्ति । तथाहि – सत्यपि कार्यकारणयोर्भेदे कस्यचित् किंचित् कारणं भवति – स्वहेतुपरम्परायातत्वात् तथाभूतस्वभावप्रतिनियमस्य – अभेदे च तयोरेकस्यैकत्रैकस्मिन्नेव काले ●हेतुत्वमहेतुत्वं चान्योन्यविरुद्धं कथं सम्भवेत् – विरुद्ध धर्माध्यासनिबन्धनत्वात् वस्तुभेदस्य ? तदुक्तम् – [प्र० वा० – १७४ उत्त० १७५ पूर्वा०]

"भेदे हि कारणं किंचिद् वस्तुधर्मतया भवेत् ॥ अभेदे तु विरुद्धचेते तस्यैकस्य क्रियाऽक्रिये"

प्रश्न : सभी हेतु जब विना किसी पक्षपात, असत् के ही उत्पादक हैं तो वे अमुक ही असत् को उत्पन्न करे, अमुक असत् को न करें - यानी सभी हेतु सभी असत् के उत्पादक नहीं होते - ऐसा पक्षपातभरा विधान क्यों करते हैं ?

उत्तर : यह प्रश्न निरर्थक है क्योंकि सत्कार्यवाद में भी ऐसा प्रश्न हो सकता है, देखिये – सभी हेतु जब विना किसी पक्षपात सत् के ही उत्पादक हैं तो सभी हेतु सभी सत् के उत्पादक नहीं होते ऐसा क्यों? ऐसा प्रश्न असत्कार्यवादी भी उठा सकते हैं । आप के मत में असत् तो कोई है ही नहीं जिस से कि उस के अकरण का समर्थन किया जा सके । [उत्पत्ति के पूर्व सब कुछ सत् होता है इस लिये गगनकुसुम भी जब उस की उत्पत्ति नहीं हुयी तब सत् होना ही चाहिये । जिस की उत्पत्ति अब तक नहीं हुई ऐसे तो असंख्य पदार्थ हैं जिन में गगनकुसुम भी शामिल है । विना प्रमाण आप यह भेद नहीं कर सकते हैं कि उत्पत्ति के पूर्व घटादि ही सत् होता है, गगनकुसुमादि नहीं । इस स्थिति में आप के मत में असत् तो कुछ हो ही नहीं सकता जिस का अकरण बताया जा सके ।] यदि कहें कि – 'कारणों में सर्वसाधारण (जिस में गगनकुसुम भी शामिल है ऐसे सर्व) की उत्पादन शक्ति नहीं होती किन्तु मर्यादित वस्तु के जनन की ही शक्ति होती है इस लिये उत्पत्ति के पूर्व सत् होने पर भी गगनकुसुम का करण नहीं होता' – तो ऐसा उत्तर असत्कार्यवाद में भी तय्यार है जो पहले ही कह आये हैं । तत्त्वसंग्रह में कहा है कि – 'जैसे सब कुछ त्रिगुणमय होते हुये भी सभी का कारण नहीं है ।' [ऐसे ही असत्कार्यवाद में सब कुछ उत्पत्ति के पूर्व असत् होते हुये भी, सब सभी का कारण नहीं है ।]

★ कार्य-कारणभेद पक्ष में विशिष्ट नियम संगत ★

तत्त्वसंग्रहकार ने साम्य दिखाते हुए जो कहा कि – जैसे आप के मत में है वैसा हमारे मत में भी कह सकते हैं – यह सिर्फ अभ्युपगमवाद से यानी एक बार कृत्रिम रूप से प्रतिवादी का मत स्वीकार कर के कहा है । वास्तव में कोई साम्य नहीं है । कार्य-कारण का भेद मानने वाले हमारे पक्ष में 'किसी एक कार्य का कोई एक ही कारण हो' ऐसा सुसंगत है क्योंकि यवांकुर की उत्पत्ति यवबीज से ही होती है न कि व्रीहीबीज से, इस प्रकार के स्वभाव का विशिष्ट नियम अपने हेतुओं की वंशपरम्परा से ही चला आता है । जब कि अभेदवाद में तो यवांकुर और व्रीहिअंकुर दोनों के साथ उत्पत्ति के पहले कारण को समानरूप से अभेद है फिर भी किसी एक यवबीज से एक स्थान में एक ही काल में यवांकुर का हेतुत्व और व्रीहिअंकुर का अहेतुत्व, परस्पर विरुद्ध ये दोनों धर्म कैसे सुसंगत हो पायेंगे ? विरुद्धधर्माध्यास तो वस्तुभेदमूलक होता है,

■ पूर्वमुद्रिते उत्तरार्द्धम् न विद्यते, लिम्बडी-आदर्शे तु विद्यते । ● पूर्वमुद्रिते तु 'हेतुकत्वं' इत्येव पाठः । अत्र लिम्बडीआदर्शानुसारेणुपन्यस्तः ।

अथ असत्कार्यवादिनः प्रतिनियताः शक्तयो न घटन्ते कार्यात्मकानागतावधीनामनिष्पत्तेः । न ह्यवधिमन्तरेणावधिमतः सद्भावः सम्भवति । प्रयोगश्चात्र - 'ये सद्भूतकार्यावधिशून्या न ते नियतशक्तयः यथा शशशृंगादयः सद्भूतकार्यावधिशून्याश्च शालिबीजादयो भावा' : इति व्यापकानुपलब्धिः । सत्कार्यवादे तु कार्यावधिसद्भावाद् युक्तः कारणप्रतिनियमः । उक्तं च [तत्त्वसं० – २९] –

अवधीनामनिष्पत्तेर्नियतास्ते न शक्तयः । सत्त्वे च नियमस्तासां युक्तः सावधिको ननु ॥ इति ॥

असदेतत् – हेतोरनैकान्तिकत्वात् ।

तथाहि – अवधीनामनिष्पत्तौ 'क्षीरस्य दध्युत्पादने शक्तिः' इति व्यपदेशः केवलं मा भूत्, यत् पुनरनध्यारोपितं सर्वोपाधिनिरपेक्षं वस्तुस्वरूपम्-यदनंतरं पूर्वमदृष्टमपि वस्त्वन्तरं प्रादुर्भवति – तस्याऽप्रतिषेध एव । न च शब्दविकल्पानां यत्र व्यावृत्तिस्तत्र वस्तुस्वभावोऽपि निवर्त्तते, यतो व्यापकः स्वभावः कारणं

अभेदवाद में यह कैसे होगा ? प्रमाणवार्त्तिक में कहा है कि – ''भेद होने पर तो वास्तविक रूप से 'कोई एक वस्तु कारण होना' बन सकता है, अभेदवाद में एक वस्तु में क्रिया और अक्रिया परस्पर विरोधी है ।''*

सत्कार्यवादी : असत्कार्यवाद में कार्यस्वरूप अवधि के अनिष्पन्न यानी अनुपस्थित होने के कारण, कारणों में उन अवधियों पर आधारित प्रतिनियत शक्ति का होना सुसंगत नहीं होगा । कारणगत शक्ति कार्यरूप अवधि की सापेक्ष होती है । अवधि के बिना अवधिमती शक्तियाँ भी कैसे हो सकती हैं ? यहाँ, प्रमाणसंपादन के लिये ऐसा न्यायप्रयोग है – ''सत्कार्यस्वरूप अवधि से शून्य जो होंगे वे नियत शक्ति वाले नहीं हो सकते, उदा० शशशृंग आदि। शशशृंगआदि में कोई भी शक्ति नहीं है क्योंकि वे सत्कार्यरूप अवधि से रहित होते हैं । शालिबीजादि भाव भी (असत्कार्यवाद में) सत्कार्यरूप अवधि से शून्य ही हैं ।'' – यहाँ हेतु व्यापकानुपलब्धिरूप है । नियत शक्ति सत्कार्यरूप अवधि से व्याप्त है । सत्कार्य अवधि इस व्यापक की अनुपलब्धि यहाँ हेतु बन कर नियत शक्ति के अभाव को सिद्ध करती है । सत्कार्यवाद में तो कार्य कारण में अवधिरूप से विद्यमान होने के कारण, कारणों में शक्ति नियम आसानी से बन सकता है । तत्त्वसंग्रह में कहा है – अवधियों की अनुपस्थिति में शक्तियाँ नियत नहीं हो सकतीं । अवधियों को सत् मानने पर शक्तियों का अवधिसापेक्ष नियम बन सकता है ।

पर्यायवादी : - यह वक्तव्य गलत है, क्योंकि इस प्रयोग में हेतु साध्यद्रोही हो जाता है ।

★ अवधिशून्यत्व हेतु साध्यद्रोही ★

हेतु कैसे साध्यद्रोही है यह देखिये – अवधियों की अनुपस्थिति में भी नियतशक्ति होने में कोई बाध नहीं । हाँ जो कि, अवधि की अनुपस्थिति में, ऐसा विकल्प अथवा शब्दप्रयोग कि 'क्षीरदध्युत्पादक रूप से है' नहीं हो सकता तो मत हो किन्तु अनारोपित एवं सर्व उपाधि निरपेक्ष जो वस्तुस्वरूप होता है (जिस में वह शक्ति भी शामिल है), ऐसा वस्तुस्वरूप कि जिससे अनन्तर में, पूर्व में अदृष्ट अन्य वस्तु का प्रादुर्भाव होता है, उस वस्तुस्वरूप के (जिस में वह शक्ति अन्तर्गत है) होने में कोई बाध नहीं है । [illegible] है यह भी देखिये – 'शब्दप्रयोग एवं विकल्प की जिस के बारे में वृत्ति न हो उस का वस्तुस्वभाव निवृत्त हो जाय' ऐसा कोई नियम नहीं है । कारण, नियम ऐसा है कि जो व्यापकस्वभाव ([illegible]), या कारण ([illegible] आदि) व्यापक हो उसकी निवृत्ति होने पर उसके व्याप्य ([illegible]) की या उसके कार्य ([illegible]) की

---

* [illegible] । (प्र० वा० [illegible])

वा व्यावर्त्तमानं स्वं व्याप्यं स्वकार्यं वाऽऽदाय निवर्त्तेत इति युक्तम् तयोस्ताभ्यां प्रतिबन्धात्, नान्यः अतिप्रसंगात् । न च 'पयसो दध्नि शक्तिः' इत्यादिव्यपदेशः विकल्पो वा भावानां व्यापकः स्वभावः कारणं वा येनासौ निवर्त्तमानः स्व(म्)भावं निवर्त्तयेत्, तद्व्यतिरेकेणापि भावसद्भावात् । यतो व्यपदेशाः विकल्पाश्च निरंशैकस्वभावे वस्तुनि यथाभ्यासमनेकप्रकाराः प्रवर्त्तमाना उपलभ्यन्ते, एकस्यैव शब्दादेर्भावस्य अनित्यादिरूपेण *भिन्नसमयस्थायिभिर्वादिभिः व्यपदेशात् विकल्पनाच्च – तत्तादात्म्ये वस्तुनश्चित्रत्वप्रसक्तिः व्यपदेश-विकल्पवत्, शब्दविकल्पानां वस्तुस्वरूपवदेकत्वप्रसंगः । न ह्येकं चित्रं युक्तम् अतिप्रसंगात् । ततः शक्तिप्रतिनियमात् किंचिदेव असद् विधीयते न सर्वम्, इत्यनैकान्तिकोऽपि 'नैरूप्यात्' इति हेतुः ।

'उपादानग्रहणात्' इत्यादिहेतुचतुष्टयस्य अत एवानैकान्तिकत्वम् । तथाहि – यदि कार्यसत्त्वकृतमेव प्रतिनियतोपादानग्रहणं क्वचित् सिद्धं भवेत् तदैतत् स्यात्, यावता कारणशक्तिप्रतिनियमकृतमपि प्रतिनियतोपादानग्रहणं घटत एव । सर्वस्मात् सर्वस्य सम्भवोऽपि कारणशक्तिप्रतिनियमादेव च न भवति,

---

निवृत्ति होती है । प्रस्तुत में, 'दही की शक्ति दूध में' ऐसा शब्दव्यवहार अथवा वैसा विकल्प पूर्वोक्त 'वस्तुस्वरूप' भाव का (जिस के उत्तरक्षण में अन्य वस्तु उत्पन्न होती है उस का) व्यापक स्वभावात्मक अथवा कारणरूप नहीं है कि जिस से, उन की निवृत्ति से पूर्वोक्त वस्तुस्वरूप भाव की भी निवृत्ति मानी जा सके । क्योंकि तथोक्त शब्दव्यवहार अथवा विकल्प के विना भी पूर्वोक्त वस्तुस्वरूप का सद्भाव हो सकता है । (इस प्रकार अवधिशून्यत्व हेतु साध्यद्रोही सिद्ध हुआ) ।

शब्द और विकल्प की व्यावृत्ति से वस्तुव्यावृत्ति नहीं होती वैसे ही शब्द-विकल्प के द्वारा वस्तुप्रतिष्ठा भी नहीं होती, क्योंकि वस्तु निरंश एकस्वभाववाली होती है किन्तु ज्ञाता को अपने अभ्यास के अनुसार, शब्द और विकल्प तो वस्तु के बारे में कई प्रकार के उत्पन्न होते हैं, यह दिखता है । जैसे एक ही शब्दादि वस्तु के लिये अपने अपने भिन्न भिन्न आगमों के अभ्यास के अनुरूप अनेकसमयस्थायिवस्तु-वादि को नित्यत्व का और एक समयस्थायिवस्तुवादी को अनित्यत्व का विकल्प होता है और तदनुसार शब्दव्यवहार करते हैं । किन्तु नित्यत्व-अनित्यत्व उभय का तादात्म्य तो वस्तु में हो नहीं सकता, होने का मानेगें तो जैसे शब्द और विकल्प में चित्रत्व होता है वैसे वस्तु भी चित्र (यानी अनियतस्वभाववाली) हो जाने की विपदा होगी । अथवा तो वस्तु के एकत्व की तरह शब्द और विकल्प में चित्रत्व लुप्त हो कर एकत्व प्रसक्त होगा । एक वस्तु को चित्र (= अनेकस्वभाव) मानना योग्य नहीं है क्योंकि ऐसा मानने पर वस्तु के नियतस्वरूप के भंग का अतिप्रसंग हो सकता है ।

निष्कर्ष, शक्ति का नियम ऐसा है, (जो पहले कहा है कि जिस के उत्पादक कारण मौजूद है वही भाव पूर्व में असत् होने पर भी उत्पन्न होता है,) इस लिये कुछ ही असत् का करण होता है, शशसींग आदि सभी असत् का नहीं होता । अतः पहले जो यह प्रयोग दिया था कि 'असत् का करण अशक्य है क्योंकि नीरूप = निःस्वभाव है' इस प्रयोग में नीरूपता हेतु साध्यद्रोही सिद्ध होता है, क्योंकि 'असत् का करण अशक्य है' यह दिखा दिया है ।

☆ उपादानग्रहण आदि हेतु साध्यद्रोही ☆

'असत् का अकरण' इस प्रथम हेतु के समान 'उपादानग्रहण' आदि चार हेतु भी साध्यद्रोही हैं । कैसे ? देखिये – 'नियत उपादान का ग्रहण उत्पत्तिपूर्व कार्यसत्त्व के जरिये ही होता है' ऐसा कहीं देखने को मिलता तब तो वह सच्चा हेतु बन सकता, किन्तु वैसा तो कहीं देखने को मिलता नहीं, बल्कि कारणों में नियत

---

* भिन्नस्य समय० इति लिं० पाठः ।

सर्वस्य सर्वार्थक्रियाकारिभावत्वस्याऽसिद्धेः । यदपि 'अकार्यातिशयम्'...इत्याद्युक्तम् (२०१-३) तदप्य-भिप्रायाऽपरिज्ञानादेव । यतो नास्माभिः 'अभाव उत्पद्यते' इति निगद्यते येन विकारापत्तौ तस्य स्वभाव-हानिप्रसक्तिरापद्येत, किन्तु वस्त्वेव समुत्पद्यते इति प्राक् प्रतिपादितम् । तच्च वस्तु प्रागुत्पादात् असत् उपलब्धिलक्षणप्राप्तस्यानुपलब्धेः निष्पन्नस्यातिप्रसंगतः कार्यत्वानुपपत्तेश्च-इत्युच्यते । यस्य च कारणस्य सन्निधानमात्रेण तत् तथाभूतमुदेति तेन तत् 'क्रियते' इति व्यपदिश्यते, न व्यापारसमावेशात् किंचित् केनचित् क्रियते, सर्वधर्माणामव्यापारत्वात् । नाप्यसत् किंचिदस्ति यन्नाम क्रियते असत्त्वस्य वस्तु-स्वभावप्रतिबन्धलक्षणत्वात् । अपि च यदि अकार्यातिशयवत् तदसन्न क्रियते इत्यभिधीयते, सदपि सर्वस्वभावनिष्पत्तेरकार्यातिशयमेवेति कथं क्रियते ? ततः 'शक्तस्य शक्यकरणात्' इत्ययमप्यनैकान्तिकः । सत्कार्यवादे च कारणभावस्याऽघटमानत्वात् 'कारणभावात्' इत्ययमप्यनैकान्तिकः ।

(= मर्यादित) शक्ति के रहने से ही कर्त्ता नियत अमुक ही उपादान का ग्रहण करता है – यह तो संगत बात है । इस लिये असत्कार्यपक्षरूप विपक्ष में भी उपादानग्रहण हेतु के रह जाने से वह साध्यद्रोही हुआ । 'सभी से सब की उत्पत्ति का अभाव' (तीसरा हेतु) भी असत्कार्यपक्ष में कारणशक्ति के मर्यादित होने के कारण ही हो सकता है, क्योंकि सर्वार्थक्रियाकारित्व सर्व में होने ऐसा देखने को नहीं मिलता ।

पहले जो यह कहा था [२०२-१३] 'असत् कार्य अतिशयआधानयोग्य नहीं होता, इसलिये उस का करण अशक्य है । यदि उसे अतिशयाधानयोग्य मानेंगे तो असत् विकृत हो जाने से असत्त्वस्वरूप की हानि प्रसक्त होगी'...इत्यादि वह सब हमारे अभिप्राय को समझे बिना कह दिया है । हम ऐसा नहीं कहते कि 'अभाव उत्पन्न होता है', ऐसा कहते तब तो विकारप्राप्ति होने के जरिये स्वरूपहानि के प्रसंग को अवकाश मिल सकता । हम तो कहते हैं कि कारणों के व्यापार से अभाव नहीं किन्तु नयी वस्तु ही उत्पन्न होती है जो उत्पत्ति के पहले नहीं थी क्योंकि उपलब्धि की योग्यता रहने पर भी उस की उपलब्धि नहीं होती थी । यदि वही वस्तु यदि उत्पत्ति के पूर्व वह सत् यानी निष्पन्न रहती तब उस की उपलब्धि का अभाव उस से साध्य अतिप्रसंग का अथवा पुनः उत्पत्ति का प्रसंग दोष होता है, इस कारण पूर्व में सत् होने पर वस्तु में कार्यत्व ही संगत नहीं होता – यह हमारा कहने का अभिप्राय है । तथा जिस कारण की संनिधि होने पर वस्तुभूत कार्य उत्पन्न होता है वह उस कारण से जन्य कहा जाता है – यहाँ ऐसा नहीं है कि 'कारण में किसी व्यापार का आवेश होता है तब कार्योत्पत्ति होती है' – क्योंकि प्रत्येक धर्म कारणतादि हमारे मत में निर्व्यापार ही होता है । असत्त्व का मतलब है वस्तुस्वभाव का व्यतिरेक, अतः ऐसा कोई असत् ही नहीं सकता जिस का [illegible] स्वरूप 'करण' किया जा सके ।

यदि ऐसा कहें कि अतिशयाधान के लिये योग्य न होने के कारण असत् का करण अशक्य है – तो इस के सामने यह भी कहा जा सकेगा कि सत् पदार्थ अपने पूर्ण स्वरूप में [illegible] होने से [illegible] भी अतिशयाधान के लिये अयोग्य है फिर उस का भी करण कैसे होगा ? इसी लिये 'शक्त का शक्यकरण' यह (चौथा) हेतु भी साध्यद्रोही है, क्योंकि सत्-कार्य पक्ष में यह साध्य नहीं हो सकता ; तथा, सत्कार्यवाद में [illegible] निष्पन्न कार्य के प्रति कारणत्व भी संगत होने से घट नहीं सकता अतः 'कारणभावात्' यह पाँचवा हेतु भी साध्यद्रोही सिद्ध होता है ।

न च उपचारकल्पनया तद्व्यपदेशसद्भावेऽपि वस्तुव्यवस्था, शब्दस्य वस्तुप्रतिबन्धाभावात् तद्भावेऽपि वस्तुसद्भावाऽसिद्धेः ।

यदपि 'भेदानामन्वयदर्शनात् प्रधानास्तित्वम्' उक्तम् (३०३-६) तत्र हेतोरसिद्धत्वम्, न हि शब्दादिलक्षणं व्यक्तं सुखाद्यन्वितं सिद्धम् सुखादीनां ज्ञानरूपत्वात् शब्दादीनां च तद्रूपविकलत्वात् न सुखाद्यन्वितत्वम् । तथा च प्रयोगः, ये ज्ञानरूपविकलाः न ते सुखाद्यात्मकाः यथा परोपगत आत्मा, ज्ञानरूपविकलाश्च शब्दादयः – इति व्यापकानुपलब्धिः । अथ ज्ञानमयत्वेन सुखादिरूपत्वस्य व्याप्तिर्यदि सिद्धा भवेत् तदा तन्निवर्त्तमानं सुखादिमयत्वमादाय निवर्त्तेत, न च सा सिद्धा पुरुषस्यैव संविद्रूपत्वेनेष्टेरिति । असदेतत् – सुखादीनां स्वसंवेदनरूपतया स्पष्टमनुभूयमानत्वात् । तथाहि – स्पष्टेयं सुखादीनां प्रीति-परितापादिरूपेण शब्दादिविषयसंनिधानेऽसंनिधाने च प्रकाशान्तरनिरपेक्षा प्रकाशात्मिका स्वसंवित्तिः ।

यच्च प्रकाशान्तरनिरपेक्षं सातादिरूपतया स्वयं सिद्धिमवतरति तत् 'ज्ञानम्' 'संवेदनम्' 'चैतन्यम्' 'सुखम्' इत्यादिभिः पर्यायैरभिधीयते । न च सुखादीनामन्येन संवेदनेनानुभवादनुभवरूपता प्रथते, तत्संवेदनस्याऽसातादिरूपताप्रसक्तेः स्वयमतदात्मकत्वात् । तथाहि – योगिनः अनुमानवतो वा परकीयं सुखादिकं संवेदयतो न सातादिरूपता अन्यथा योग्यादयोऽपि साक्षात् सुखाद्यनुभाविन इवातुरादयः स्युः

अस्तित्व क्यों नहीं होगा ?' तो इस का उत्तर यह है कि उपचार होने पर, कारण में कार्य का व्यपदेश ही केवल अस्तित्व पाता है, न कि वह कार्यरूप वस्तु का सद्भाव । शब्द का वस्तु के साथ कोई अविनाभावरूप सम्बन्ध नहीं है कि जिस से शब्दव्यवहार के होने पर वस्तु के सद्भाव की सिद्धि को भी अवकाश मिल जाय ।

★ भेदान्वयदर्शन हेतु में असिद्धि-उद्भावन ★

पहले जो यह कहा था – [३०३-२६] 'भेदों में अन्वयदर्शन होता है । कार्य जिस जाति का होता है उसी जातिवाले कारण से वह उत्पन्न होता है अतः सुख-दुःख मोहादिजातिसमन्वित व्यक्त तत्त्व तथाविध प्रधान से ही उत्पन्न हैं – इस प्रकार प्रधान की सिद्धि की गयी थी' – वहाँ हेतु में असिद्धि दोष है । शब्दादि व्यक्त तत्त्व सुखआदिमय होने की बात सिद्ध नहीं है । सुखादि तो ज्ञानमय यानी संवेदनमय होते हैं जब कि शब्दादि ज्ञानमयता से शून्य होते हैं । अनुमान प्रयोग : 'जो ज्ञानमयता से शून्य होते हैं वे सुखादिमय नहीं होते जैसे सांख्यमत में आत्मा । शब्दादि, ज्ञानमयता से शून्य हैं, इसलिये सुखादिमय नहीं हो सकते ।' हेतु इस प्रयोग में व्यापकानुपलब्धिरूप है । सुखादिमयता व्याप्य है और ज्ञानमयता व्यापक है, व्यापक की अनुपलब्धि व्याप्य-सुखादिमयता के अभाव को सिद्ध करती है ।

सांख्य : यदि सुखादिमयता और ज्ञानमयता में क्रमशः व्याप्य-व्यापकभाव सिद्ध होता तब तो सच है कि ज्ञानमयता निवृत्त होती हुयी सुखादिमयता को ले–कर निवृत्त होती । वास्तविकता यह है कि पुरुष में ही संवेदनशीलता मान्य है न कि सुखादि में ।

पर्यायवादी : यह कथन गलत है । स्पष्ट ही अनुभव होते है कि सुखादि स्वसंवेदनमय यानी स्वयं वेदि होती हैं । अनुकुल-प्रतिकुल संवेदनमय ही सुख-दुख हैं यह कौन नहीं मानता ? देखिये – शब्दादि विषयों का संनिधान चाहे हो या न हो, किन्तु परतःप्रकाशी न होने के कारण स्वभिन्नज्ञान से अवेद्य ऐसे अनुकुल संवेदनात्मक प्रीति का और प्रतिकुल संवेदनात्मक परिताप का स्वयंप्रकाशस्वरूप संवेदन सभी को होता है ।

योग्यादिवद् वाऽन्येषामप्यनुग्रहोपघातौ न स्याताम् अविशेषात् । संवेदनस्य च सातादिरूपत्वाभ्युपगमे संविद्रूपत्वं सुखादेः सिद्धम् । इदमेव हि सुखं दुःखं च नः 'यत् सातमसातं च संवेदनम्' इति नानैकान्तिकता हेतोः ।

नाप्यसिद्धता, सर्वेषां बाह्यार्थवादिनां संविद्रूपरहितत्वस्य शब्दादिषु सिद्धत्वात् । विज्ञानवादिमताभ्युपगमोऽन्यथा प्रसज्यते, तथा चेष्टसिद्धिरेव । विरुद्धताऽप्यस्य हेतोर्न सम्भवति सपक्षे भावात् । न च यथा बहिर्देशावस्थितनीलादिसंनिधानवशाद् अनीलादिस्वरूपमपि संवेदनं नीलनिर्भासं संवेद्यते तथा बाह्यसुखाद्युपधानसामर्थ्याद् असातादिरूपमपि सातादिरूपं लक्ष्यते, तेन संवेदनस्य सातादिरूपत्वेऽपि न सुखादीनां संविद्रूपत्वं सिद्ध्यति, अतोऽनैकान्तिकता हेतोरिति वक्तव्यम् अभ्यास-प्रकृतिविशेषत एकस्मिन्नपि त्रिगुणात्मके वस्तुनि प्रीत्याद्याकारप्रतिनियतगुणोपलब्धिदर्शनात् । तथाहि – भावनावशेन भयाऽङ्गनादिषु कामुकादीनाम् जातिविशेषाच्च करभादीनां केषांचित् प्रतिनियताः प्रीत्यादयः सम्भवन्ति न सर्वेषाम्, एतच्च शब्दादीनां सुखादिरूपत्वान्न युक्तम्, सर्वेषामभिन्नवस्तुविषयत्वान्नीलादिविषयसंवित्तिवत् प्रत्येकं चित्रा संवित् प्रसज्येत ।

जो भी अन्य प्रकाश से निरपेक्ष हो कर स्वयं साता-असाता रूप में अनुभवपथ पर उतर आता है वह ज्ञान, संवेदन, चैतन्य और सुख इत्यादि एकार्थक शब्दों से व्यवहृत होता है । यदि ऐसा कहें कि – 'सुखादि की अनुभूति सुखभिन्न संवेदन से होती है इसी लिये उन में अनुभवरूपता का व्यवहार होता है, स्वसंविदित होने के कारण अनुभवरूपता का व्यवहार नहीं होता' – तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि सुखादि को अन्यानुभववेदन के आधार पर अनुभवरूप होने का मानेंगे तो वे सिर्फ ज्ञानरूप में ही वेद्य होंगे न कि साता-असातारूप में भी, क्योंकि आप को वे स्वयं सातानुभवादिरूप मान्य नहीं है, जैसे शब्दादि अन्यानुभववेद्य हैं तो उन का साता-असातारूप में अनुभव नहीं होता । और भी देखिये – योगिपुरुष अथवा अनुमितिकर्त्ता अन्य लोगों के सुख-दुःख का संवेदन करते हैं लेकिन वे साता-असातारूप में योगियों को संविदित नहीं होता, ऐसा क्यों ? इसलिये कि वे सुख-दुःख स्वभिन्न योगि-अनुभववेद्य हैं इसलिये । यदि योगी आदि को अन्य लोगों के सुख-दुःख का साक्षात् स्वप्रकाशसंवेदन होता तब तो वे भी बीमार के दुःख के संवेदन से स्वयं बीमार हो बैठेंगे । अथवा, अन्य के दुःख के स्वप्रकाशसंवेदन करने पर भी यदि वे योगी बीमार न होंगे तो दर्दीयों को भी योगियों की तरह स्वप्रकाशात्मक दुःखादिसंवेदन होने पर भी कोई उपघात-अनुग्रह नहीं हो पायेगा, क्योंकि योगी के और अपने संवेदन में कोई फर्क नहीं है । यदि इस आपत्ति को टालने के लिये बीमार आदि लोगों के संवेदन को साता-असातादि रूप मान लेंगे तो अपने आप यह सिद्ध हो जायेगा कि सुखादि स्वसंवेदनरूप है । निष्कर्ष, ज्ञान सुख या दुःख रूप है [illegible] नहीं कि साता अथवा असाता स्वरूप वेदन । अतः शब्दादि [illegible] ज्ञानरूप नहीं होंगे वे सुखादिरूप भी नहीं होंगे [illegible] इस प्रयोग में हेतु साध्यद्रोही नहीं हो सकता ।

★ सुखादि में संवेदनरूपतासाधक हेतु की निर्दोषता ★

उपरान्त, यह हेतु असिद्ध भी नहीं है । [illegible]

अथवा कार्यत्वाऽसम्भवस्य सतः प्राक् प्रतिपादितत्वात् असत्कार्यवाद एव चोपादानग्रहणादिनियमस्य युज्यमानत्वात् 'उपादानग्रहणाद्' इत्यादिहेतुचतुष्टयस्य साध्यविपर्ययसाधनाद् विरुद्धता । अथ यदि 'असदेवोत्पद्यते' इति भवतां मतम् तत् कथं सदसतोरुत्पादः सूत्रे प्रतिषिद्धः ? उक्तं च तत्र 'अनुत्पन्नाश्च महामते सर्वधर्माः सदसतोरनुत्पन्नत्वात्'' [लंका० सू० पृ० ८०] इति । न, वस्तूनां पूर्वापरकोटिशून्यक्षणमात्रावस्थायी स्वभाव एव उत्पाद उच्यते भेदान्तरप्रतिक्षेपेण तन्मात्रजिज्ञासायाम्, न पुनर्वैभाषिकपरिकल्पिता जातिः संस्कृतलक्षणा, प्रतिपेत्स्यमानत्वात् तस्याः । नापि वैशेषिकादिपरिकल्पितः सत्तासमवायः स्वकारणसमवायो वा (तयो)रपि निषेत्स्यमानत्वात्, नित्यत्वात् तयोः परमतेन, नित्यस्य च जन्मानुपपत्तेः । उक्तं च, [प्र० वा० २-११५]

सत्ता-स्वकारणाश्लेषकरणात् कारणं किल। सा सत्ता स च सम्बन्धो नित्यौ कार्यमथेह किम् ?॥

स एवमात्मक उत्पादो नाऽसता तादात्म्येन सम्बध्यते सदसतोर्विरोधात् —न हि असत् सद् भवति । नापि सत्ता पूर्वभाविना सम्बध्यते तस्य पूर्वमसत्त्वात् । कल्पनाबुद्ध्या तु केवलमसता वस्तु सम्बध्यते ।

★ उपादानग्रहणादिहेतुचतुष्क में विरोधापादन ★

उपादानग्रहण आदि हेतुओं में साध्यद्रोह के उपरांत विरुद्धता दोष भी अवकाशप्राप्त है यह दिखाने के लिये पर्यायवादी कहता है –

सत् पदार्थ में कार्यत्व का सम्भव न होने का पहले कह दिया है, उपादानग्रहणादि का नियम भी असत्कार्यवाद में ही घट सकता हैं, इस लिये फलित होता है कि ये उपादानग्रहणादि चार हेतु सत् के कारण की सिद्धि के बदले सत् के करण का अभाव सिद्ध कर रहे हैं, इसलिये चारों हेतु विरुद्ध हेत्वाभास हैं ।

प्रश्न : यदि आप मानते हैं कि 'असत् ही उत्पन्न होता है' तब लंकावतार सूत्र में सत्-असत् उभय के उत्पाद का निषेध क्यों किया है ? स्पष्ट ही उस सूत्र में कहा है कि – हे महामति ! ये सब धर्म तो अनुत्पन्न ही है, क्योंकि सत् या असत् अनुत्पन्न ही होते हैं ।

उत्तर : यह जो निषेध किया है वह स्वाभिप्रेत उत्पाद की जिज्ञासा रहने पर उस से अतिरिक्त सत्-असत् के उत्पत्ति प्रकार का अभाव सूचित करने के लिये किया है, स्वाभिप्रेत उत्पत्ति प्रकार ऐसा है – पूर्वकोटि एवं उत्तरकोटि से शून्य अर्थात् सर्वथा पूर्वोत्तरकोटि स्पर्श शून्य जो क्षणमात्रस्थायि वस्तुस्वभाव है वही उत्पत्ति है । वैभाषिक बौद्धवादी ने जैसे संस्कृतस्वरूप जाति (जन्म) की कल्पना कर ली है वैसा 'असत् का उत्पाद' मान्य नहीं है, क्योंकि उस का अग्रिमग्रन्थ में निषेध होने वाला है । तथा वैशेषिक-नैयायिक ने जो सत् की उत्पत्ति मानी है – सत्ता का समवाय अथवा अपने कारणों में कार्य का समवाय यही उत्पत्ति – इस का भी निषेध अभिप्रेत है, क्योंकि उन के मत में समवाय तो नित्य सत् है, नित्य की कभी उत्पत्ति नहीं हो सकती । प्रमाणवार्त्तिक में कहा है – सत्ता का अथवा अपने कारणों में कार्य का सम्बन्ध जोडने के जरिये वह कारण कहा जाता है किन्तु सत्ता अथवा वह सम्बन्ध (समवायरूप) तो नित्य है वह कैसे कार्य (जन्य) होगा ?

★ उत्पत्ति के पूर्व कार्य सत्-असत् कुछ नहीं ★

पूर्वोत्तरकोटिस्पर्शशून्य क्षणमात्रस्थायिस्वभावस्वरूप जो उत्पाद है उस का असत् के साथ तादात्म्यभाव नहीं हो सकता, क्योंकि सत् और असत् का विरोध होता है । असत् कभी सत् नहीं बन सकता । तथा, वैसा उत्पाद पूर्वकालभावि सत् का सम्बन्धी कभी नहीं हो सकता, क्योंकि वह उत्पाद्य ही पूर्वक्षण में जब नहीं था

न ह्यसन्नाम किंचिदस्ति यद् उत्पत्तिमाविशेत् 'असदुत्पद्यते' इति तु कल्पनाविरचितव्यवहारमात्रम् । कल्पनाबीजं तु प्रतिनियतपदार्थानन्तरोपलभ्यस्य रूपस्योपलब्धिलक्षणप्राप्तस्योत्पत्त्यवस्थातः प्रागनुपलब्धिः । तदेवमुत्पत्तेः प्राक् कार्यस्य न सत्त्वं धर्मः नाप्यसत्त्वम् (त)स्यैवाभावात् ।

अपि च, पयःप्रभृतिषु कारणेषु दध्यादिकं कार्यमस्तीति यदुच्यते तदा वक्तव्यम् – किं व्यक्तिरूपेण तत् तत्र सत् अथ शक्तिरूपेण ? तत्र यदि व्यक्तिरूपेणेति पक्षः स न युक्तः क्षीरावस्थायामपि दध्यादीनां स्वरूपेणोपलब्धिप्रसंगात् । नापि शक्तिरूपेण, यतस्तद्रूपं दध्यादेः कार्यानु(दु)पलब्धिलक्षणप्राप्तात् किमन्यत्, आहोस्विद् तदेव ? यदि तदेव तदा पूर्वमेवोपलब्धिप्रसंगो दध्यादेः । अथ अन्यदिति पक्षस्तदा कारणात्मनि कार्यमस्तीत्यभ्युपगमस्त्यक्तो भवेत् कार्याद् भिन्नतनोः शक्त्यभिधानस्य पदार्थान्तरस्य सद्भावाभ्युपगमात् । तथाहि – यदेवाविर्भूतविशिष्टरसवीर्यविपाकादिगुणसमन्वितं पदार्थस्वरूपं तदेव दध्यादिकं कार्यमुच्यते, क्षीरावस्थायां च तद् उपलब्धिलक्षणप्राप्तमनुपलभ्यमानमसद्व्यवहारविषयत्वमवतरति, यच्चान्यच्छक्तिरूपम् तत् कार्यमेव न भवति। न चान्यस्य भावेऽन्यत् सद् भवति अतिप्रसंगात्।

तो वह कैसे दूसरे का सम्बन्धी बनेगा ? हाँ सिर्फ कल्पनाबुद्धि से वस्तु का असत् के साथ सम्बन्ध बना सकते हैं । कोई ऐसा असत् है नहीं जो उत्पत्तिनगर में प्रवेश कर सके । 'असत् उत्पन्न होता है' ऐसा शाब्दिक व्यवहार सिर्फ कल्पना की निपज है । उस कल्पना का आधार यह है कि कारणरूप से सम्मत नियत पदार्थ के पश्चात् उपलब्धि के लिये योग्य ऐसा जो तत्त्व उपलब्ध होता है वह उस की उत्पत्ति के पूर्व उपलब्ध नहीं होता था । सारांश, लंकावतारसूत्रविधान के अनुसार पूर्वोक्त रीति से कार्य अपनी उत्पत्ति के पहले सत् नहीं होता वैसे असत् भी नहीं होता क्योंकि वह खुद ही वहाँ मौजूद नहीं होता ।

★ शक्ति-व्यक्ति रूपों से कार्यसद्भाव अशक्य ★

यह भी विचारणीय है कि यदि ऐसा कहा जाय कि दूध आदि कारणों में दही आदि कार्य का अस्तित्व है – तो यहाँ प्रश्न है कि वहाँ कार्य का अस्तित्व व्यक्तिरूप से है या शक्तिरूप से ? यदि कहें कि व्यक्तिरूप से, तो वह उचित नहीं है क्योंकि तब दूध आदि अवस्था में भी व्यक्तिरूप से दही आदि के उपलम्भ की आपत्ति होगी । 'शक्तिरूप से' यह उत्तर भी वाजिब नहीं है, क्योंकि प्रश्न होगा – वह शक्तिरूप, उपलब्धियोग्य दही आदि कार्य से भिन्न है या अभिन्न ? यदि अभिन्न है तब तो शक्तिरूप से दही का अस्तित्व और दही आदि व्यक्ति एक होने से उत्पत्ति के पूर्व में भी दही आदि व्यक्ति का उपलम्भ प्रसक्त होगा । यदि कहें कि भिन्न है, तब तो कारणभाव में कार्य का अस्तित्व होने का सिद्धान्त छोड़ देना होगा । क्योंकि कार्य से भिन्न [illegible] 'शक्ति'संज्ञक अन्य पदार्थ का अस्तित्व ही यहाँ आपने स्वीकृत किया, न कि कार्य का । [illegible] देखिये, जिस पदार्थ में विशिष्ट कोटि के रस, वीर्य, विपाकादि आदि गुणों का [illegible] स्वरूप प्रगट हुआ है वही दही आदि कार्य कहे जाते हैं । दूध अवस्था में यदि वे होते हैं तो उपलब्धियोग्य होने के कारण उन का उपलम्भ होना चाहिये, किन्तु नहीं होता है, इस लिये दूधावस्था में दही आदि पदार्थों [illegible] है । [illegible]

[illegible]

न च उपचारकल्पनया तद्व्यपदेशसद्भावेऽपि वस्तुव्यवस्था, शब्दस्य वस्तुप्रतिबन्धाभावात् तद्भावेऽपि वस्तुसद्भावाऽसिद्धेः ।

यदपि 'भेदानामन्वयदर्शनात् प्रधानास्तित्वम्' उक्तम् (३०३-६) तत्र हेतोरसिद्धत्वम्, न हि शब्दादिलक्षणं व्यक्तं सुखाद्यन्वितं सिद्धम् सुखादीनां ज्ञानरूपत्वात् शब्दादीनां च तद्रूपविकलत्वात् न सुखाद्यन्वितत्वम् । तथा च प्रयोगः, ये ज्ञानरूपविकलाः न ते सुखाद्यात्मकाः यथा परोपगत आत्मा, ज्ञानरूपविकलाश्च शब्दादयः – इति व्यापकानुपलब्धिः । अथ ज्ञानमयत्वेन सुखादिरूपत्वस्य व्याप्तिर्यदि सिद्धा भवेत् तदा तन्निवर्त्तमानं सुखादिमयत्वमादाय निवर्त्तेत, न च सा सिद्धा पुरुषस्यैव संविद्रूपत्वेनेष्टेरिति । असदेतत् – सुखादीनां स्वसंवेदनरूपतया स्पष्टमनुभूयमानत्वात् । तथाहि – स्पष्टेयं सुखादीनां प्रीति-परितापादिरूपेण शब्दादिविषयसंनिधानेऽसंनिधाने च प्रकाशान्तरनिरपेक्षा प्रकाशात्मिका स्वसंवित्तिः।

यच्च प्रकाशान्तरनिरपेक्षं सातादिरूपतया स्वयं सिद्धिमवतरति तत् 'ज्ञानम्' 'संवेदनम्' 'चैतन्यम्' 'सुखम्' इत्यादिभिः पर्यायैरभिधीयते । न च सुखादीनामन्येन संवेदनेनानुभवादनुभवरूपता प्रथते, तत्संवेदनस्याऽसातादिरूपताप्रसक्तेः स्वयमतदात्मकत्वात् । तथाहि – योगिनः अनुमानवतो वा परकीयं सुखादिकं संवेदयतो न सातादिरूपता अन्यथा योग्यादयोऽपि साक्षात् सुखाद्यनुभाविन इवातुरादयः स्युः

अस्तित्व क्यों नहीं होगा ?' तो इस का उत्तर यह है कि उपचार होने पर, कारण में कार्य का व्यपदेश ही केवल अस्तित्व पाता है, न कि वह कार्यरूप वस्तु का सद्भाव । शब्द का वस्तु के साथ कोई अविनाभावरूप सम्बन्ध नहीं है कि जिस से शब्दव्यवहार के होने पर वस्तु के सद्भाव की सिद्धि को भी अवकाश मिल जाय ।

★ भेदान्वयदर्शन हेतु में असिद्धि-उद्भावन ★

पहले जो यह कहा था – [३०३-२६] 'भेदों में अन्वयदर्शन होता है । कार्य जिस जाति का होता है उसी जातिवाले कारण से वह उत्पन्न होता है अतः सुख-दुःख मोहादिजातिसमन्वित व्यक्त तत्त्व तथाविध प्रधान से ही उत्पन्न हैं – इस प्रकार प्रधान की सिद्धि की गयी थी' – वहाँ हेतु में असिद्धि दोप है । शब्दादि व्यक्त तत्त्व सुखआदिमय होने की वात सिद्ध नहीं है । सुखादि तो ज्ञानमय यानी संवेदनमय होते हैं जव कि शब्दादि ज्ञानमयता से शून्य होते हैं । अनुमान प्रयोग : 'जो ज्ञानमयता से शून्य होते हैं वे सुखादिमय नहीं होते जैसे सांख्यमत में आत्मा । शब्दादि, ज्ञानमयता से शून्य हैं, इसलिये सुखादिमय नहीं हो सकते ।' हेतु इस प्रयोग में व्यापकानुपलब्धिरूप है । सुखादिमयता व्याप्य है और ज्ञानमयता व्यापक है, व्यापक की अनुपलब्धि व्याप्य-सुखादिमयता के अभाव को सिद्ध करती है ।

सांख्य : यदि सुखादिमयता और ज्ञानमयता में क्रमशः व्याप्य-व्यापकभाव सिद्ध होता तव तो सच है कि ज्ञानमयता निवृत्त होती हुयी सुखादिमयता को ले–कर निवृत्त होती । वास्तविकता यह है कि पुरुष में ही संवेदनशीलता मान्य है न कि सुखादि में ।

पर्यायवादी : यह कथन गलत है । स्पष्ट ही अनुभव होते है कि सुखादि स्वसंवेदनमय यानी स्वयं वेदि होती हैं । अनुकुल-प्रतिकुल संवेदनमय ही सुख-दुख हैं यह कौन नहीं मानता ? देखिये – शब्दादि विपयों का संनिधान चाहे हो या न हो, किन्तु परतःप्रकाशी न होने के कारण स्वभिन्नज्ञान से अवेद्य ऐसे अनुकुल संवेदनात्मक प्रीति का और प्रतिकुल संवेदनात्मक परिताप का स्वयंप्रकाशस्वरूप संवेदन सभी को होता है ।

योग्यादिवद् वाऽन्येषामप्यनुग्रहोपघातौ न स्याताम् अविशेषात् । संवेदनस्य च सातादिरूपत्वाभ्युपगमे संविद्रूपत्वं सुखादेः सिद्धम् । इदमेव हि सुखं दुःखं च नः 'यत् सातमसातं च संवेदनम्' इति नानैकान्तिकता हेतोः ।

नाप्यसिद्धता, सर्वेषां बाह्यार्थवादिनां संविद्रूपरहितत्वस्य शब्दादिषु सिद्धत्वात् । विज्ञानवादिमताभ्युपगमोऽन्यथा प्रसज्यते, तथा चेष्टसिद्धिरेव । विरुद्धताऽप्यस्य हेतोर्न सम्भवति सपक्षे भावात् । न च यथा बहिर्देशावस्थितनीलादिसंनिधानवशाद् अनीलादिस्वरूपमपि संवेदनं नीलनिर्भासं संवेद्यते तथा बाह्यसुखाद्युपधानसामर्थ्याद् असातादिरूपमपि सातादिरूपं लक्ष्यते, तेन संवेदनस्य सातादिरूपत्वेऽपि न सुखादीनां संविद्रूपत्वं सिध्यति, अतोऽनैकान्तिकता हेतोरिति वक्तव्यम् अभ्यास-प्रकृतिविशेषत एकस्मिन्नपि त्रिगुणात्मके वस्तुनि प्रीत्याद्याकारप्रतिनियतगुणोपलब्धिदर्शनात् । तथाहि – भावनावशेन भयाऽङ्गनादिषु कामुकादीनाम् जातिविशेषाच्च करभादीनां केषांचित् प्रतिनियताः प्रीत्यादयः सम्भवन्ति न सर्वेषाम्, एतच्च शब्दादीनां सुखादिरूपत्वान्न युक्तम्, सर्वेषामभिन्नवस्तुविषयत्वान्नीलादिविषयसंवित्तिवत् प्रत्येकं चित्रा संवित् प्रसज्येत ।

जो भी अन्य प्रकाश से निरपेक्ष हो कर स्वयं साता-असाता रूप में अनुभवपथ पर उतर आता है वह ज्ञान, संवेदन, चैतन्य और सुख इत्यादि एकार्थक शब्दों से व्यवहृत होता है । यदि ऐसा कहें कि – 'सुखादि की अनुभूति सुखभिन्न संवेदन से होती है इसी लिये उन में अनुभवरूपता का व्यवहार होता है, स्वसंविदित होने के कारण अनुभवरूपता का व्यवहार नहीं होता' – तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि सुखादि को अन्यानुभवोत्पन्न के आधार पर अनुभवरूप होने का मानेंगे तो वे सिर्फ ज्ञानरूप में ही वेद्य होंगे न कि साता-असातारूप में भी, क्योंकि आप को वे स्वयं सातानुभवादिरूप मान्य नहीं है, जैसे शब्दादि अन्यानुभववेद्य हैं तो उन का साता-असातारूप में अनुभव नहीं होता । और भी देखिये – योगिपुरुष अथवा अनुमितिकर्त्ता अन्य लोगों के सुख-दुःख का संवेदन करते हैं लेकिन वे साता-असातारूप में योगियों को संविदित नहीं होता, ऐसा क्यों ? इसलिये कि वे सुख-दुःख स्वभिन्न योगि-अनुभववेद्य है इसलिये । यदि योगी आदि को अन्य लोगों के सुख-दुःख का साक्षात् स्वाकारसंवेदन होता तब तो वे भी बीमार के दुःख के संवेदन से स्वयं बीमार हो बैठेंगे । अथवा, अन्य के दुःख के स्वाकारसंवेदन करने पर भी यदि वे योगी बीमार न होंगे तो दर्दीयों को भी योगियों की तरह स्वाकारसंवेदनात्मक दुःखादिसंवेदन होने पर भी कोई उपघात-अनुग्रह नहीं हो पायेगा, क्योंकि योगी के और उनके संवेदन में कोई फर्क नहीं है । यदि इस आपत्ति को टालने के लिये बीमार आदि लोगों के संवेदन को साता-असातादि स्वरूप मान लेंगे तो अपने आप यह सिद्ध हो जायेगा कि सुखादि स्वसंविदितरूप है । निष्कर्ष, अपना सुख या दुःख वह है [illegible] जो कि साता अथवा असाता स्वरूप वेदन । अतः हमारे 'जो [illegible] नहीं होते वे सुखादिरूप भी नहीं होते' इस प्रयोग में हेतु साध्यद्रोही नहीं बनता ।

★ सुखादि में संवेदनरूपतासाधक हेतु की निर्दोषता ★

तदुपरांत, यह हेतु असिद्ध भी नहीं है । [illegible]

अथ यद्यपि त्रयात्मकं वस्तु तथाप्यदृष्टादिलक्षणसहकारिवशात् किंचिदेव कस्यचिद् रूपमाभाति न सर्वं सर्वस्य । असदेतत्- तदाकारशून्यत्वादवस्त्वालम्बनप्रतीतिप्रसक्तेः । तथाहि – त्र्याकारं तद् वस्तु एकाकाराश्च संविदः संवेद्यन्ते । इति कथं अनालम्बनास्ता न भवन्ति ? प्रयोगः 'यद् यदाकारं संवेदनं न भवति न तत् तद्विषयम् यथा चक्षुर्ज्ञानं न शब्दविषयम्, त्र्यात्मकवस्त्वाकारशून्याश्च यथोक्ताः संविदः' इति व्यापकानुपलब्धिः । तथापि तद्विषयत्वेऽतिप्रसंगापत्तिर्विपर्यये बाधकं प्रमाणम् । न च 'यथा प्रत्यक्षेण गृहीतेऽपि सर्वात्मना वस्तुनि अभ्यासादिवशात् क्वचिदेव क्षणिकत्वादौ निश्चयोत्पत्तिर्न सर्वत्र; तद्वद् अदृष्टादिबलाद् एकाकारा संविद् उदेष्यती'त्यभिधातुं क्षमम्, क्षणिकादिविकल्पस्यापि परमार्थतो वस्तुविषयत्वानभ्युपगमात्, वस्तुनो विकल्पाऽगोचरत्वात्, परम्परया वस्तुप्रतिबन्धात् तथाविधतत्प्राप्तिहेतुतया तु तस्य प्रामाण्यम् । उक्तं च [प्र० वा० २-८२] लिङ्ग-लिङ्गिधियोरेवं पारम्पर्येण वस्तुनि । प्रतिबन्धात् तदाभासशून्ययोरप्यबन्धनम् ॥ इति ।

में हेतु रहता है तब विरुद्धता को अवकाश ही कैसे रहेगा ?

यदि यह कहा जाय – 'बाह्यदेश में रहे हुए नीलादि जब ज्ञान में संनिहित होते हैं तब स्वयं नीलादिस्वरूप न होने पर भी ज्ञान नीलावभासि हो – नीलमय हो – ऐसा प्रतीत होता है । ऐसे ही बाह्य साधन– सुविधा के सामर्थ्य से उत्पन्न सुखादि के संनिधान में, स्वयं सातादिरूप न होने पर भी संवेदन सातादिमय होने का अवभास होता है, इस प्रकार संवेदन में सातादिमयता का स्वीकार करने पर भी सुखादि में संवेदनरूपता की सिद्धि नहीं हो सकती । अतः सुखादि में सुखादिमयता का अभाव न होने पर भी ज्ञानमयता के अभाव के रह जाने से ज्ञानमयतत्त्वाभावरूप हेतु साध्यद्रोही बन जाता है ।''– तो ऐसा कहना अयुक्त है । इसका कारण यह है कि एक ही त्रिगुणात्मक वस्तु भी प्रीत्यादिआत्मक प्रतिनियत एक गुण के रूप में उपलब्ध होती हुयी दिखाई देती है । और यह ज्ञाता की अपनी अपनी आदत और पुनः पुनः एक विषय के अभ्यास पर अवलम्बित होता है । कैसे यह देखिये – अपनी वासना के प्रभाव से कामी लोगों को शराब एवं स्त्री के बारे में नियतस्वरूप प्रीतिआदि उत्पन्न होते हैं, कामी लोगों को होते हैं सभी को नहीं । ऐसे ही अपने स्वभाव के कारण ऊँट आदि को बबूल में रुचि-प्रीति होती है, सभी को नहीं होती । यह तथ्य शब्दादि को सुखादिमय मानने में बाधक हैं, यदि शब्दादि विषय स्वयं सुखादिमय होते तो सभी के लिये वे तुल्यरूप से सुखादिमय विषयस्वरूप होने से, समानरूप से सभी को प्रीति-आदिरूप में परिणत होते, नीलादि विषय सभी दृष्टा के लिये समानरूप से नीलादिरूप होने से नीलादिरूप से सभी को संविदित होते हैं तो ऐसे ही शब्दादि में सभी को सुखमयता का संवेदन होना चाहिये– किन्तु नहीं होता इसलिये शब्दादि में सुखादिमयता घट नहीं सकती । फिर भी यदि उन में सुखादिरूपता मानेंगे तो सभी सुख-दुःख-मोहगर्भित चित्रविचित्र संवेदन होने का अतिप्रसंग होगा, कामी लोगों को सिर्फ प्रीति-आदि का संवेदन होता है वह नहीं घटेगा ।

★ सांख्यमत की प्रतीति में मिथ्यात्वप्रसंग ★

सांख्य :- वस्तु यद्यपि सुख-दुःख-मोह त्रयात्मक होती है, फिर भी अपने अपने अदृष्ट आदिरूप सहकारियों की विभिन्नता के कारण किसी एक भोक्ता को किसी एक, सुखादिमय या दुःखादिमय आदि रूप से प्रतीत हो सकती है, इतने मात्र से वह त्रयात्मक न होने का सिद्ध नहीं होता ।

पर्यायवादी :- यह कथन गलत है । किसी एक भोक्ता को किसी एक सुखमयादिरूप से होने वाली

परैस्तु परमार्थत एव वस्तुविषयत्वमिष्टं प्रीत्यादिप्रतिपत्तीनाम्, अन्यथा सुखात्मनां शब्दादीनामननुभवात् सुखानुभवख्यातिरित्येतदसंगतं स्यात् । सुखादिसंविदां च सविकल्पकत्वान्न किंचिदनिश्चितं रूपमस्तीति सर्वात्मनाऽनुभवख्यातिप्रसक्तिः यतः स्वार्थप्रतिपत्तिः निश्चयानामियमेव यत् तन्निश्चयनं नाम ।

यदपि 'प्रसाद-ताप-दैन्याद्युपलम्भात् सुखाद्यन्वितत्वं सिद्धं शब्दादीनाम्' (३०३-७/८) इत्यभिहितम् तदनैकान्तिकम् । तथाहि – योगिनां प्रकृतिव्यतिरिक्तं पुरुषं भावयतां तमालम्ब्य प्रकर्षप्राप्तयोगानां प्रसादः प्रादुर्भवति प्रीतिश्च । अप्राप्तयोगानां तु द्रुततरमपश्यतामुद्वेगः आविर्भवति, जडमतीनां च प्रकृत्यावरणं प्रादुर्भवति । न च परैः पुरुषस्त्रिगुणात्मकोऽभीष्ट इति 'प्रसाद-ताप-दैन्यादिकार्योपलब्धेः' इत्यस्य

प्रतीति में अवस्तुविषयता की यानी मिथ्यात्व की प्रसक्ति होगी, क्योंकि वह वास्तविक त्रयाकार होनी चाहिये किन्तु नहीं है । जैसे यह देखिये, वस्तु आपके मत में त्रयाकार है, फिर भी अदृष्टादि के जरिये भोक्ता को उसकी प्रतीति एक सुखादि-आकार वाली होती है तो वह निरालम्बन क्यों नहीं कही जायेगी ? यही अनुमान प्रयोग देखिये- ''जो जिस वस्तु के समानाकार संवेदन रूप नहीं होता वह उस वस्तु विषयक नहीं होता । उदा० चाक्षुषज्ञान शब्दसमानाकार नहीं होता तो वह शब्दविषयक भी नहीं होता । सांख्य का बताया हुआ संवेदन त्रयात्मक वस्तु का समानाकार नहीं है अतः वह त्रयात्मकवस्तुविषयक नहीं होता ।'' इस प्रयोग में हेतु व्यापकानुपलब्धि रूप है । तद्वस्तुविषयता तत्समानाकारता को व्याप्य है, तत्समानाकारतारूप व्यापक की अनुपलब्धि से यहाँ तद्विषयता रूप व्याप्य के अभाव की सिद्धि अभिप्रेत है । इतना होने पर भी भोक्ता की प्रतीति को आप यथार्थ वस्तुविषयक मानेंगे तो सब प्रतीतियाँ तद्-तद् वस्तुआकार न होने पर भी तद्-तद् विषयक हो बैठेगी यह विपक्षबाधक तर्क है ।

★ बौद्धमत में विकल्प वास्तविक प्रमाण नहीं है ★

यदि यह कहा जाय- ''पर्यायवादी बौद्ध के मत में निर्विकल्प प्रत्यक्ष वस्तु को उसके समस्त रूपों से ग्रहण करता है, फिर भी ज्ञाता के अपने अपने संस्कार के अनुरूप ही क्षणिकत्व या स्वर्गप्रापकत्व का निश्चय उत्पन्न होता है, सभी को समस्तरूपाकार निश्चय नहीं होता । इसी तरह, वस्तु त्रयात्मक होने पर भी अदृष्ट के प्रभाव से एकाकार ही संवेदन का उदय हो सकता है, क्योंकि हम क्षणिकादि विषयक विकल्प (=निश्चय) को भी पारमार्थिक वस्तु विषयक नहीं मानते हैं । पर्यायवादी के मत में पारमार्थिकवस्तु विकल्पगोचर नहीं मानी जाती, फिर भी विकल्प को इसलिये प्रमाण माना जाता है कि वह परम्परा से वस्तु के साथ सम्बन्ध रखता है और पारमार्थिक वस्तु की उपलब्धि में परम्परा से निमित्त बन जाता है । प्रमाणवार्त्तिक में कहा है- लिंगसामान्य और लिंगिसामान्य को विषय करने वाली बुद्धि भी परम्परया वस्तुसम्बन्धिनी होती है इसलिये स्वलक्षणस्वरूपानवधारक होने पर भी वञ्चन (=ठगन) रहित यानी संवादिनी होती है ।'' (प्र.वा. के श्लोक में अवञ्चनम् के बदले अबन्धनम् ऐसा पाठ है, अर्थ में कुछ फर्क नहीं है) ।

इसलिये पर्यायवाद में क्षणिकत्वादिनिश्चय में मिथ्यात्व की आपत्ति अनिष्टरूप नहीं है । जब कि सांख्य मत में तो प्रीत्यादिसुखाकार बुद्धि को पारमार्थिकवस्तु विषयक माना गया है इसलिये आप के मत में तो यह आपत्ति आपत्ति ही है । यदि आप भी शब्दादिप्रतीति को निरालम्बन मानेंगे तब तो सुखादिरूप शब्दादि का अनुभव है ऐसा जो भी प्रतीति निरालम्बन होने के कारण [illegible] असंगत ठहरेगा कि वह सुखानुभवस्वरूप है । दूसरी बात यह है कि, हमारे मत में तो वस्तु का सर्वांशतः प्रत्यक्ष होने पर [illegible] होता है, किन्तु आपके मत में तो सुखादिसंवेदन निर्विकल्पक नहीं है किन्तु सविकल्पक है इसलिये [illegible]

कथं नानैकान्तिकता ? न च संकल्पात् प्रीत्यादीनि प्रादुर्भवन्ति न पुरुषादिति वाच्यम् शब्दादिष्वप्यस्य समानत्वात् । संकल्पमात्रभावित्वे च सुखादयो बाह्या न स्युः, संकल्पस्य संविद्रूपत्वात् । बाह्यविषयोपधानमन्तरेणापि पुरुषदर्शने प्रीत्याद्युत्पत्तिदर्शनात् 'बाह्यसुखाद्युपधानबलात् सातादिरूप(त्व)म् संवेदनस्य' इत्यपि सव्यभिचारमेव । इष्टानिष्टविकल्पादना(वा?)श्रितबाह्यविषयसंनिधानं प्रसिद्धमेव हि सुखादिवेदनं कथं तत् परोपधानमेव युक्तम्? न च मनोपि त्रिगुणं तदुपधानवशात् तदाविर्भवतीति वक्तव्यम् 'यदेव हि प्रकाशान्तरनिरपेक्षं स्वयं सिद्धम्' (३६६-१०) इत्यादिना संविद्रूपत्वस्य तत्र साधितत्वात्, अतः 'समन्वयात्' इत्यसिद्धो हेतुः ।

नैकान्तिकश्च, प्रधानाख्येन कारणेन हेतोः क्वचिदप्यन्वयासिद्धेः । तथाहि – व्यापि नित्यमेकं त्रिगुणात्मकं कारणं साधयितुमिष्टम्, न चैवंभूतेन कारणेन हेतोः प्रतिबन्धः प्रसिद्धः । न चायं नियमः – यदात्मकं कार्यं कारणमपि तदात्मकमेव, तयोर्भेदात् । तथाहि – हेतुमदादिभिर्धर्मैर्युक्तं व्यक्तमभ्युपगम्यते तद्विपरीतं चाव्यक्तमिति कथं न कार्यकारणयोर्भेदादनैकान्तिको हेतुः ?!

कुछ भी अनिश्चित तो है ही नहीं फिर समस्तपन में सुखादिअनुभव ही होना चाहिये– अर्थात् त्र्याकार ही अनुभव होना चाहिये न कि एकाकार । निश्चयात्मक विकल्पों की निश्चयन क्रिया का मतलब ही यह है अपने अर्थ को ग्रहण करना, यदि यहाँ सुखादित्रयात्मक शब्दादि हो तो उस का निश्चयात्मक ग्रहण भी त्र्यात्मकरूपवेदी ही होना चाहिये, यदि वैसा नहीं होता है तो वह संवेदन मिथ्या ठहरेगा ।

★ सुखादि के विरह में भी प्रसादादि से अनैकान्तिकता ★

यह जो पहले कहा था [३०४-२३]- 'शब्दादितत्त्वों में प्रसादादि, तापादि और दैन्यादि के उपलम्भ से सुखादि का अनुष्वंग सिद्ध होता है ।' वहाँ भी अनेकान्त है, अर्थात् प्रसादादि हेतु, सुखादि के विरह में भी रह जाता है । कैसे यह देखिये– 'मैं प्रकृति से पृथक् हूँ' इस प्रकार भावना का अभ्यास करने वाले योगियों को, आत्म तत्त्व के आलम्बन से जब प्रकृष्ट योग सिद्ध होता है तब, प्रसाद और प्रीति का प्रादुर्भाव होता है । यहाँ योगी पुरुष में प्रसाद होने पर भी सुख नहीं होता क्योंकि पुरुष तो सांख्य मत में निर्गुण यानी गुणत्रयशून्य होता है । तथा, योग तक जिस की पहुंच नहीं हुई ऐसे लोग, जिन को शीघ्रतर दर्शन नहीं हुआ उन्हें उद्वेग पैदा होता है, हालाँकि पुरुष में दुःख नहीं होता । तथा, स्वभाव से ही जडबुद्धिवाले लोगों को आवरण का उदय होता है किन्तु आत्मा में सांख्यमतानुसार मोह नहीं होता । इस प्रकार आत्मा में प्रसाद, ताप और दैन्यादि रूप कार्य के उपलब्ध होने पर सुखादि गुणत्रय के न होने से स्पष्ट ही हेतु में अनेकान्त प्रगट हो जाता है ।

यदि ऐसा कहें कि– 'इन प्रसादादि का जन्मस्थान पुरुष है ही नहीं, किन्तु संकल्प (यानी बुद्धि तत्त्व) है, और वहाँ सुखादि रहते हैं इसलिये अनेकान्त नहीं है'– तो यह बात शब्दादि के लिये भी समान है, अर्थात् शब्दादि को प्रसादादि का जन्मस्थान मानने की जरूर नहीं है, वहाँ भी संकल्प को ही मानना । दूसरी बात, आप तो पंच भूतादि में सुखादि मानते हैं इसीलिये वे बाह्य भी हैं, किन्तु यदि संकल्प को ही सुखादि का आश्रय मानेंगे तो सुखादि को बाह्य नहीं मान सकेंगे, क्योंकि संकल्प तो संवेदनस्वरूप होने से आंतरिक पदार्थ है । यह जो कहा था [३६८-१४]- 'बाह्य सुखादि की उपाधि के संनिधान से सातारूप न होने पर भी संवेदन सातारूप लक्षित होता है' - वहाँ भी अनेकान्त है, क्योंकि बाह्य विषयों की उपाधि के विरह में भी जब पुरुषसाक्षात्कार

धर्मिविशेषविपरीतसाधनाद् विरुद्धोऽप्ययं हेतुः । तथाहि- एको नित्यस्त्रिगुणात्मकः कारणभूतो धर्मी साधयितुमिष्टः, तद्विपरीतश्च अनेकोऽनित्यश्च ततः सिद्धिमासादयति । यतो व्यक्तं नैकया त्रिगुणात्मिकया स्वात्मभूतया जात्या समन्वितमुपलभ्यते, किं तर्हि ? अनेकत्वाऽनित्यत्वादिधर्मकलापोपेतमेव; अतः कार्यस्याऽनित्यत्वानेकत्वादिधर्मान्वयदर्शनात्कारणमपि तथैवानुमीयताम् क्रम-यौगपद्याभ्यामर्थक्रियाविरोधाद् न नित्यस्य कारणत्वम् कारणभेदकृतत्वाच्च कार्यवैचित्र्यस्य, अन्यथा निर्हेतुकत्वप्रसंगाद् नैकरूपस्यापि कारणत्वमिति विपर्ययसिद्धिप्रसक्तेर्न नित्यैकरूपप्रधानसिद्धिः । यदि तु अनित्याऽनेकरूपे कारणे 'प्रधानम्' इति संज्ञा क्रियते तदाऽविवाद एव ।

यद्यपि 'सत् सत्' इत्येकरूपेण 'स एवायम्' इति च स्थिरेण स्वभावेनानुगता अध्यवसीयन्ते कल्पनाज्ञानेन भावाः, तथापि नैकजात्यन्वयः स्वस्वभावव्यवस्थिततया देश-काल-शक्ति-प्रतिभासादिभेदात्;

होता है तब प्रीति (=अपूर्वहर्ष) आदि का प्रादुर्भाव दिखाई देता है । तथा, बाह्यविषयों के संनिधान की प्रतीक्षा किये बिना ही सिर्फ इष्ट या अनिष्ट विकल्प से ही सुख-दुःखादिरूप संवेदन प्रगट होता है, इस स्थिति में सुखादिसंवेदन को परोपाधिक कैसे माना जाय ?

यदि कहें कि- 'मन त्रिगुणमय है, उसके संनिधान से संवेदन में सुखादिरूपता लक्षित होती है' - तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि मन भी संवेदनस्वरूप ही है यह बात 'जो प्रकाशान्तर- निरपेक्ष होता है वह सातादिरूपानुभवात्मक स्वयं सिद्ध होता है' [३६७-१३] इत्यादिसंदर्भ में सिद्ध कर चुके हैं । सारांश, प्रधान की सिद्धि के लिये प्रयुक्त 'समन्वय' हेतु असिद्ध है ।

★ 'प्रधान'साधक समन्वय हेतु अनैकान्तिक और विरुद्ध ★

'समन्वय' हेतु अनैकान्तिक (=साध्यद्रोही) भी है, क्योंकि हेतु की 'प्रधान'संज्ञक कारण के साथ कहीं भी अन्वय यानी व्याप्ति सिद्ध नहीं है । कैसे यह देखिये - समन्वय हेतु के द्वारा आप चाहते हैं 'व्यापक - नित्य - त्रिगुणात्मक - एक कारण' की सिद्धि । किन्तु हेतुप्रयोग के पहले ऐसा कारण सर्वथा हेतु का अविनाभावात्मक सम्बन्ध प्रसिद्ध नहीं है । उपरांत, ऐसा कोई नियम नहीं है कि 'कार्य का जैसा आत्म स्वरूप है कारण का आत्मस्वरूप भी वैसा ही होना चाहिये' । ऐसा नियम इस लिये नहीं होता कि कार्य और कारण के आत्मस्वरूप में कहीं भिन्नता होती है । जैसे देखिये - आप ही मानते हैं कि व्यक्त (यानी जो कार्य होते हैं वे) [illegible] सहेतुक, अनित्य इत्यादि (सां.का. १० के अनुसार) धर्मों को धारण करता है, और अव्यक्त (=प्रधान) उससे विपरीत होता है । इस प्रकार जब कार्य-कारण के आत्मस्वरूप में भिन्नता है तो इस का मतलब कारणस्वरूप से कार्यस्वरूप नहीं है, फिर भी यदि उसमें समन्वय हेतु रहेगा तो वह अनैकान्तिक क्यों नहीं होगा ?

[illegible] यह हेतु, [illegible] धर्मी के [illegible] अनेकत्वानित्यत्वादिधर्मोपेतत्व धर्मिविशेष को यानी विपरीत साध्य को सिद्ध कर देता है, इसलिये विरुद्ध कहलाता है । देखिये - आप चाहते हैं नित्य-एक त्रिगुणात्मक कारणभूत धर्मी की सिद्धि, किन्तु समन्वय हेतु से तो [illegible]

नापि स्थैर्यम् क्रमोत्पत्तिमतां तथैव प्रतिभासनात् । 'प्रतिभासभेदश्च भावान् भिनत्ति' इत्यसकृद् प्रतिपादितम् । 'मृद्विकारादिवत्' इति दृष्टान्तोपि साध्यसाधनविकलः, एकजात्यन्वयस्य एककारणप्रभवत्वस्य च तत्राप्यसिद्धत्वात् । न चैकं मृत्पिण्डादिकं कारणं मृदादिजातिश्चैकानुगता तत्र सिद्धेति वक्तव्यम्, यतो नैकोवयवी मृत्पिण्डादिरस्ति एकदेशावरणे सर्वावरणप्रसंगात्, नाप्येका जातिः, प्रतिव्यक्तिप्रतिभासभेदाद् इति प्रतिपादितत्वात् प्रतिपादयिष्यमाणत्वाच्च ।

'समन्वयात्' इत्यस्य हेतोः पुरुषैश्चानैकान्तिकत्वम् । तथाहि – चेतनत्वादिधर्मैरन्विताः पुमांसोऽभीष्टाः न च तथाविधैककारणपूर्वकास्त इष्यन्ते । न च चेतनाद्यन्वितत्वं पुरुषाणां गौणम्, यतः अचेतनादिव्यावृत्ताः सर्व एव पुरुषाः अतोऽर्थान्तरव्यावृत्तिरूपा चैतन्यादिजातिस्तदननुगामिनी कल्पिता न तु तात्त्विकी समस्तीति वक्तव्यम् अन्यत्रापि समानत्वात् । यतः शब्दादिष्वपि अमुख्यं सुखाद्य-

---

नित्य और एकात्मक प्रधान रूप कारण की सिद्धि इसलिये भी शक्य नहीं है कि – नित्य में क्रमशः अथवा एक साथ अर्थ क्रिया करने की क्षमता होने में विरोध है इसलिये नित्य में कारणत्व ही घटता नहीं । तथा, कार्यवैचित्र्य कभी एककारणमूलक हो नहीं सकता किन्तु कारणवैविध्यमूलक ही हो सकता है । यदि कारण विविध नहीं मानेंगे तो कार्यवैचित्र्य निर्हेतुक बन जाने का अतिप्रसंग होगा इसलिये सर्वथा एकरूप तत्त्व में कारणत्व घट नहीं सकता । सिर्फ अनेक-अनित्य तत्त्व में ही कारणत्व घट सकता है । इस प्रकार विपरीत अर्थ की सिद्धि होने पर नित्य एकस्वरूप प्रधान की सिद्धि असंभव है । हाँ, यदि अनित्य एवं अनेकसंख्यक कारण की ही 'प्रधान' ऐसी संज्ञा करके प्रधान की सिद्धि मानी जाय तो कोई विवाद नहीं है ।

★ एकजाति और स्थैर्य का निषेध ★

यद्यपि कल्पनाज्ञान से तत्त्वों के बारे में 'यह सत् है सत् है' ऐसा एकरूपता का अध्यवसाय, तथा 'यह वही है' ऐसा स्थिरस्वभाव का अध्यवसाय होता है, किन्तु तथापि इससे एक जाति समन्वय अथवा स्थैर्य की सिद्धि सम्भव नहीं है । एक जाति समन्वय इसलिये नहीं है कि भावों के बारे में देशभेद, कालभेद, शक्तिभेद एवं प्रतिभासादि भेद के जरिये 'अपने अपने विशिष्टस्वभाव में अवस्थित' भावों में भी भेद होता है । स्थैर्य इसलिये नहीं है कि भावों की उत्पत्ति क्रमशः होती है और अंकुरादि में क्रमशः उत्पत्ति की प्रतीति भी होती है । 'भावों में प्रतिभासभेदमूलक भेद होता है' यह तो कई दफे कह दिया है ।

प्रधान की सिद्धि के लिये जो मिट्टी के विकार (घट) आदि का उदाहरण दिया गया है उसमें न तो साध्यवत्ता है न हेतुमत्ता । कारण, मिट्टीविकार में किसी एक जाति का अन्वय(= हेतु) नहीं है ओर एककारणजन्यत्व (रूप साध्य) भी नहीं है, दोनों उसमें असिद्ध हैं । यदि कहें कि– 'घट का कारण एक मिट्टिपिण्ड है और घट में एक मृत्त्व जाति भी है जो मृत्पिण्ड में रहती है, तो फिर साध्य-साधन का उदाहरण में अभाव कैसे ?'– तो उत्तर यह है कि वह मिट्टीपिण्ड कोई एक अवयवी नहीं है, यदि वह एक होगा तो उसके एक भाग में आवरण लग जाने पर पूरे मिट्टीपिण्ड को आवरण लग जाने की आपत्ति होगी । तथा एक जाति भी नहीं है क्योंकि आप एक जाति की सिद्धि समानप्रतिभास से करेंगे, किन्तु मिट्टी पिण्ड का और घट का प्रतिभास समान नहीं किन्तु अलग अलग होता है – यह बात पहले हो चुकी है और अग्रिम ग्रन्थ में भी की जायेगी ।

नित्यत्वमसत्यप्येककारणपूर्वकत्वे पुरुषेष्विव भविष्यतीति कथं नानैकान्तिकत्वं हेतोः । मूलप्रकृत्यवस्थायां च सत्त्वरजस्तमोलक्षणा गुणाः गुणत्वाऽचेतनाऽभोक्तृत्वादिभिरन्विताः प्रधानपुरुषाश्च नित्यत्वादि(भि)र-न्वितास्तथाभूतैककारणपूर्वकाश्च न भवन्तीत्यनैकान्तिकत्वमेव । तदेवं 'समन्वयात्' इत्यस्य हेतोरसिद्ध-विरुद्धानैकान्तिकदोषदुष्टत्वान्न प्रधानसाधकत्वम् । अनेनैव न्यायेन 'परिमाणात् शक्तितः प्रवृत्तेः कार्यकारणभावात् वैश्वरूप्यस्याविभागात्' इत्यादिकानामपि न प्रधानास्तित्वसाधकत्वम् ।

तथाहि – साध्यविपर्यये च बाधकप्रमाणाऽप्रदर्शनात् सर्वेऽप्येतेऽनैकान्तिकाः । न हि प्रधानाख्यस्य हेतोरभावेन परिमाणादीनां विरोधः सिद्धः । तथाहि– यदि तावत् कारणमात्रस्यास्तित्वमत्र साध्यते तदा सिद्धसाध्यता । न ह्यस्माकं कारणमन्तरेण कार्यस्योत्पादोऽभीष्टः, न च कारणमात्रस्य 'प्रधानम्' इति नामकरणे किंचिद् बाध्यते । अथ प्रेक्षावत् कारणमस्ति यद् व्यक्तं नियतपरिमाणमुत्पादयति शक्तितश्च

★ आत्मस्थल में समन्वयहेतु साध्यद्रोही ★

आत्मा को लेकर भी 'समन्वय' हेतु में अनैकान्तिकता हो सकती है । कैसे यह देखिये- पुरुषों में चेतनत्वादिधर्मों का अन्वय प्रसिद्ध है फिर भी नित्य होने के कारण उनमें सजातीय एककारणपूर्वकत्व मान्य नहीं है, इस प्रकार पुरुषों में साध्य के न होने पर भी, समन्वय हेतु वहाँ रह जाने से साध्यद्रोही हो गया । यदि ऐसा कहा जाय- पुरुषों में चैतन्यादि धर्मों का अन्वय औपचारिक है, वास्तविक नहीं है । सब पुरुष अचेतनादि से व्यावृत्त हैं, इसलिये अर्थान्तर (=अचेतनादि) की व्यावृत्ति यहाँ औपचारिकरूप से चैतन्यादि जाति रूप मान ली गयी है । वास्तविक कोई चैतन्यादि जाति स्वीकृत नहीं है ।– तो यह बात प्रतिपक्ष में भी तुल्य है, क्योंकि शब्दादि में भी औपचारिकरूप से, पुरुषों की तरह एककारणपूर्वकत्व के न होने पर भी, असुखादिव्यावृत्तिरूप सुखादिधर्मों का अन्वय हो सकता है । अतः साध्य के विरह में भी शब्दादि में समन्वय हेतु के रह जाने से साध्यद्रोह स्पष्ट है ।

तदुपरांत, मूलप्रकृतिअवस्था में, सत्त्व-रजस्-तमस् ये तीन गुण गुणत्व-अचेतनत्व-अभोक्तृत्वादि धर्मों से अन्वित रहते हैं किन्तु उन में एक कारणपूर्वकत्व नहीं है क्योंकि वे तो प्रकृति से अभिन्न हैं और प्रकृति नित्य है – अजन्य मूलतत्त्व है । एवं, पुरुष और प्रधान में नित्यत्वादि कई धर्मों का समन्वय है किन्तु उन में भी एककारणपूर्वकत्व नहीं है । अतः इन दोनों स्थलों में साध्य के न रहने पर भी हेतु रह जाने से, 'समन्वय' हेतु में अनैकान्तिकता होगी ।

निष्कर्ष, समन्वय हेतु – असिद्धि, विरुद्धता, अनैकान्तिकता दोषों से दुष्ट होने के कारण, प्रधानतत्त्व को सिद्ध करने में सक्षम नहीं है ।

इसी प्रकार की युक्तियों से यह भी सिद्ध कर सकते हैं कि परिमाण, शक्तितः प्रवृत्ति, कार्यकारणभाव और वैश्वरूप्य का अविभाग इत्यादि सांख्यकारिका(१५) में कहे हुए हेतु भी प्रधान की सत्ता को सिद्ध करने के लिये असमर्थ हैं ।

★ परिमाणादि पाँच हेतु प्रधानसिद्धि में अक्षम ★

जैसे, यह देखिये– परिमाण आदि हेतु प्रयोगों में, जिस प्रकार [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] है, [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] देखिये, [illegible] हेतु [illegible] [illegible]

प्रवर्त्तत इति साध्यते – तदानैकान्तिकता, विनापि हि प्रेक्षावता विधात्रा स्वहेतुसामर्थ्यात् प्रतिनियतपरिमाणादियुक्तस्योत्पत्त्यविरोधात् । न च प्रधानं प्रेक्षावत् कारणं युक्तम्, अचेतनत्वात् तस्य, प्रेक्षायाश्च चेतनापर्यायत्वात् । अपि च, 'शक्तितः प्रवृत्तेः' इत्यनेन किमव्यतिरिक्तशक्तिमत् कारणं साध्यते आहोस्विद् व्यतिरिक्तानेकशक्तिसम्बन्धि तदेकत्वादिधर्मकलापाध्यासितम् ? इति कल्पनाद्वयम् । तत्र यद्याद्या कल्पना तदा सिद्धसाधनं कारणमात्रस्य ततः सिद्धयभ्युपगमात् । द्वितीयायां हेतोरनैकान्तिकता, तथाभूतेन क्वचिदप्यन्वयाऽसिद्धेः । हेतुश्चासिद्धः यतो न विभिन्नशक्तियोगात् कस्यचित् क्वचित् कार्ये कारणस्य प्रवृत्तिः सिद्धा, स्वात्मभूतत्वाच्छक्तीनाम् ।

निरन्वयविनाशावष्टब्धत्वात् सर्वभावानां क्वचिदपि लयाऽसिद्धेः 'अविभागाद् वैश्वरूप्यस्य' इत्ययमपि हेतुरसिद्धः । लयो हि भवन् पूर्वस्वभावापगमे वा भवेद् अनपगमे वा ? यद्याद्यः पक्षः तदा निरन्वयविनाशप्रसंगः । अथ द्वितीयः तदा लयानुपपत्तिः, यतो नाविकलं स्वरूपं बिभ्रतः कस्यचिल्लयो नाम, अतिप्रसंगात् । अतिविरुद्धमिदं परस्परतः 'अविभागः' 'वैश्वरूप्यं' च इति विरुद्धा वा एते हेतवः प्रधानहेत्वभाव (एव) स्वकारणशक्तिभेदतः कार्यस्य परिमाणादिरूपेण वैचित्र्यस्य कार्यकारणभावादीनां

जायेंगे । शंका बनी रहने का मूल यह है कि प्रधानात्मक कारण के अभाव के साथ परिमाण आदि हेतुओं का विरोध प्रसिद्ध नहीं है । यदि परिमाणादि हेतुकलाप से सिर्फ कारणमात्र के अस्तित्व को सिद्ध करना है तो वह तो ऐसे भी सिद्ध है इसलिये सिद्धसाध्यता दोष होगा । हम भी नहीं चाहते कि विना कारण ही कार्य का उद्भव हो जाय । अतः सिद्ध होने वाले कारणमात्र को 'प्रधान' संज्ञा देकर यदि आप प्रधान को प्रसिद्ध करना चाहते हैं तो कुछ भी बाध नहीं है ।

यदि कारणमात्र नहीं किन्तु बुद्धिमत् कारण सिद्ध करना अभिप्रेत है जिस से कि नियत परिमाणवाले व्यक्त का उद्भव हो, तथा अपनी शक्ति के अनुसार नियत कार्य को उत्पन्न करे, तो हेतुओं में पुनः अनैकान्तिकता दोष होगा । कारण, बुद्धिमत् विधाता के न होने पर भी अपने अपने हेतुओं की शक्ति के अनुरूप नियतपरिमाणादिसमन्वित भावों की उत्पत्ति होने में कोई विरोध नहीं है । तथा, जिस प्रधान की आप सिद्धि करना चाहते हैं उसको बुद्धिमत्कारणरूप आप नहीं मानते, क्योंकि वह तो अचेतन है, जब कि बुद्धि तो चैतन्य का पर्याय है ।

तदुपरांत, 'शक्तिअनुरूप प्रवृत्ति' इस हेतु से भी आप को किस प्रकार के कारण की सिद्धि करना है – क्या अपने से अभिन्न शक्ति को धारण करने वाले कारण की ? या अपने से भिन्न अनेक शक्तियों से सम्बद्ध, तथा एकत्व-नित्यत्वादिधर्मकलाप विशिष्ट ऐसे कारण की ? ये दो विकल्प हैं । प्रथम विकल्प में सिद्धसाध्यता ही है, क्योंकि अभिन्नशक्तिशालि कारणमात्र का अस्तित्व हमें भी स्वीकार्य है । यदि दूसरे विकल्प के मुताबिक कारणसिद्धि अभिप्रेत हो, तो हेतु में अनैकान्तिकता दोष होगा, क्योंकि भिन्न भिन्न विचित्रशक्तिवाला एकत्वादिधर्मविशिष्ट तत्त्व, हेतुप्रयोग के पहले सिद्ध न होने से, हेतु के साथ उसकी व्याप्ति भी सिद्ध नहीं है, अतः व्याप्तिशून्य हेतु साध्य के विरह में भी हो सकता है । कहीं भी ऐसा देखने को नहीं मिलेगा कि भिन्न शक्ति के भरोसे पर कोई कारण किसी कार्य को निपजा सके । शक्ति तो वस्तु की आत्मा यानी अभिन्न होती है ।

★ वैश्वरूप्य का अविभाग– हेतु में असिद्धि दोष ★

प्रधान की सिद्धि के लिये, वैश्वरूप्य का अविभाग यानी कारण में कार्य का लय – यह हेतु दिखाया

थोपपद्यमानत्वात् । तथाहि – प्रधानं यदि व्यक्तस्य कारणं भवेत् तदा सर्वमेव विश्वं तत्स्वरूपवत् तदात्मकत्वादेकमेव द्रव्यं स्यात्, ततश्च 'बुद्धिरेका एकोऽहंकारः पञ्च तन्मात्राणि' इत्यादिकः परिमाणविभागोऽसंगतः स्यादिति निष्परिमाणमेव जगत् स्यात् ।

तथा प्रधानहेत्वभावे एव प्राक्तनन्यायेन 'अभेदे न शक्ति न क्रिया' (३५२-५) इत्यादिना घटादिकरणे कुम्भकारादीनां शक्तितः प्रवृत्तिरुपपद्यते, कार्यकारणविभागोऽपि प्रधानहेत्वभावे एव युक्तो न तु तत्सद्भावे इति प्राक् प्रतिपादितम् । प्रधानसद्भावे वैश्वरूप्यमनुपपत्तिकमेव, सर्वस्य जगतः तन्मयत्वेन तत्स्वरूपवदेकत्वप्रसक्तेस्तदविभागो दूरोत्सारित एवेति न कुतश्चिद्धेतोः प्रधानसिद्धिः ।

यदपि प्रधानविकारबुद्धिव्यतिरिक्तं चैतन्यमात्मनो रूपं कल्पयन्ति 'चैतन्यं पुरुषस्य स्वरूपम्'* [ ] इत्यागमात्, पुरुषश्च शुभाशुभकर्मफलस्य प्रधानोपनीतस्य भोक्ता न तु कर्त्ता, सकलजगत्परिणतिरूपायाः प्रकृतेरेव कर्तृत्वाभ्युपगमात्; प्रमाणयन्ति चात्र – 'यत् संघातरूपं वस्तु तत् परार्थं दृष्टम् यथा शयनासनाभ्यङ्गादि*, संघातरूपाश्च चक्षुरादयः' इति स्वभावहेतुः । यश्चासौ परः स आत्मेति सामर्थ्यात् सिद्धम् ।

गया था वह असिद्ध है, क्योंकि हर कोई भाव निरन्वय यानी निष्कारण विनाश से कलंकित है, अतः कार्य का किसी भी कारणादि में लय होने की बात तथ्यहीन है । लय के मन्तव्य पर दो विकल्प हैं – लय होगा तो अपने पूर्व (प्रगटावस्थारूप) स्वभाव के चले जाने पर होगा या रहते हुए ? यदि प्रथम विकल्प मानना है तब तो निरन्वय विनाश का जयजयकार हो गया, क्योंकि प्रतिपाद्य इस प्रकार अपने और पूर्वपूर्वक्षण के स्वभाव का विगम जारी रहता है, और स्वभावनाश ही वस्तुनाश है । यदि दूसरे विकल्प का स्वीकार करेंगे तो लय की बात ही नहीं घटेगी, क्योंकि पूर्वक्षण का स्वभाव यदि लय होते समय में भी पूर्ववत् जारी रहेगा तो लय किसका होगा ? यदि पूर्वस्वभाव के रहते हुये भी लय होने का मानेंगे तब तो वास्तविक लयक्षण के पूर्व पूर्व काल में भी लय होने का अतिप्रसंग आयेगा । फलतः यह परस्पर अत्यन्त विरुद्ध बात हो जायेगी कि एक ओर वैश्वरूप्य यानी कार्यों का वैविध्य है लेकिन दूसरी ओर उन का अविभाग यानी लय है ! जब लय हो रहा है तब कार्यवैविध्य कैसे ? और जब तक कार्यवैविध्य मौजूद है तब तक लय कैसे ?

अथवा ये प्रधानसाधक सभी हेतु विरुद्धदोष ग्रस्त हैं, क्योंकि प्रधानात्मक नित्य एकरूप हेतु के न होने पर ही अपने अपने कारणों की भिन्न भिन्न शक्ति के जरिये परिमाणादिरूप से कार्य में वैविध्य घट सकता है; और कार्य-कारणभाव आदि घट सकते हैं । जैसे यह देखिये– नित्य एकरूप प्रधान ही यदि समूचे व्यक्त तत्त्वों का कारण होगा तब तो, प्रधान का स्वरूप जैसे प्रधानात्मक होने से एकरूप होता है, वैसे ही समग्र विश्व भी प्रधानात्मक होने से एक-द्रव्यरूप बन बैठेगा, फिर यह जो परिमाणविभाग है कि– बुद्धि एक, अहंकार एक, पाँच तन्मात्राएँ, पाँच महाभूत... इत्यादि, यह कैसे घटेगा ? फलतः जगत् परिमाणशून्य हो जायेगा ।

तथा, घट आदि के उत्पादन में [illegible] से कुम्भकार आदि अपनी शक्ति से [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] प्रधान के न होने पर ही [illegible] हो सकता है । इस से [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]

[illegible]

अत्र च 'चैतन्यं पुरुषस्य स्वरूपम्' इत्यादि वदता 'चैतन्यं नित्यैकरूपमि'ति प्रतिज्ञातम् तस्य नित्यैकरूपात् पुरुषादव्यतिरिक्तत्वात् । अध्यक्षविरुद्धं चेदम् रूपादिसंविदां स्फुटं स्वसंवित्त्या भिन्नस्वरूपावगमात् । एकरूपत्वे त्वात्मनोऽनेकविधार्थस्य भोक्तृत्वाभ्युपगमो विरुद्ध आसज्येत अभोक्त्रवस्थाव्यतिरिक्तत्वात् भोक्त्रवस्थायाः । न च दिदृक्षादियोगादविरोधः, दिदृक्षा-शुश्रूषादीनां परस्परतोऽभिन्नानामुत्पादैरात्मनोऽप्युत्पादप्रसंगः, तासां तदव्यतिरेकात्, व्यतिरेके च 'तस्य ताः' इति सम्बन्धानुपपत्तिः, उपकारस्य तन्निबन्धनस्याभावात्; भावे वा तत्रापि भेदाभेदविकल्पाभ्यामनवस्था-तदुत्पत्तिप्रसंगतो दिदृक्षाद्यभावान्न भोक्तृत्वम् । प्रयोगः – 'यस्य यद्भावव्यवस्थानिवन्धनं नास्ति नासौ प्रेक्षावता तद्भावेन व्यवस्थाप्यः यथा आकाशं मूर्त्तत्वेन । नास्ति च भोक्तृत्वव्यवस्थानिबन्धनं पुरुषस्य दिदृक्षादि' – इति कारणानुपलब्धिः ।

शक्ति और किस की उत्पादन क्रिया होगी ? वह तभी घट सकती है जव नित्य एक रूप कारण के वदले अनित्य अनेक कारणों को मान लिया जाय । इसी तरह पहले यह भी वता दिया है कि कार्य-कारणभाव भी नित्य एक रूप प्रधान के न होने पर ही घट सकता है । नित्य पदार्थ में क्रमशः अथवा एक साथ अर्थक्रियाकारित्व घट नहीं सकता, एवं एक ही प्रधान के होने पर अभेद वाद में कौन कारण और कौन कार्य होगा ? नित्य एक रूप प्रधान की हस्ती माने तो जगत् में वैविध्य भी नहीं घटेगा, क्योंकि जैसे प्रधान का स्वरूप प्रधानमय होने से एकरूप ही होता है वैसे ही अभेदवाद में समुचा जगत् भी प्रधानमय होने से एकरूप बन वैठेगा । फिर तो 'कार्य' जैसा कुछ रहा ही नहीं, तव अविभाग यानी लय की तो कथा ही कैसे वच पायेगी ? निष्कर्ष, किसी भी हेतु के द्वारा प्रधान की सिद्धि की आशा रखना व्यर्थ है ।

★ नित्य चैतन्यवाद में प्रत्यक्षविरोध ★

सांख्यवादियों की यह कल्पना है – ''आत्मा का स्वरूप 'चैतन्य' है और वह प्रधान के विकार स्वरूप वुद्धि से सर्वथा अलग ही चीज है । आगम में कहा है कि 'चैतन्य पुरुष का स्वरूप है' । वह प्रधान के द्वारा उपस्थापित शुभाशुभकर्मफल का भोक्ता अवश्य है किन्तु कर्त्ता नहीं है । सारे जगत् के परिणामों की कर्त्ता-हर्ता प्रकृति ही है । आत्मसिद्धि में यह प्रमाण है – जो चीज संघातरूप (यानी गुणसमुदाय रूप) है वह अन्य के लिये होती है, जैसे शय्या, आसन, शरीरादि । नेत्रादि इन्द्रिय भी संघातरूप है इस लिये अन्यार्थक होनी चाहिये । वह जो अन्य है वही आत्मा है, और तो कोई हो नहीं सकता, इसलिये यह अर्थतः सिद्ध होता है । [सांख्यमत में सत्त्व-रजस्-तमस् तीन गुणों के समुदायरूप जो प्रधानादि चौवीस जड तत्त्व हैं उन को संघात कहा गया है ।]''

सांख्यवादियों की इस कल्पना को दिखाने वाले विद्वान् ने 'चैतन्य पुरुष का स्वरूप है' यह कहते हुये इस वात का निर्विवाद स्वीकार कर लिया है कि चैतन्य नित्य एवं सदा के लिये एक रूप है, क्योंकि सर्वथा नित्य एक रूप आत्मा से वह अपृथग् – अभिन्न है । सांख्यो की इस मान्यता में प्रत्यक्ष ही विरोध है, क्योंकि आत्मा के संवेदन से सर्वथा भिन्न रूप में ही रूपादिसंवेदनों का अनुभव होता है । तथा आत्मा यदि सदा के लिये एकरूप रहता है तो उस के साथ विविधअर्थभोग का विरोध प्रसक्त होगा, क्योंकि भोक्तृत्व-अवस्था अभोक्तृत्व-अवस्था से अलग होती है । यदि कहें कि – 'आत्मा तो सदा एकरूप है किन्तु दिदृक्षा आदि के योग से उस में भोक्तृत्व का उपचार होता है' – तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि दिदृक्षा अथवा शुश्रूषा और

न चायमसिद्धो हेतुरिति प्रतिपादितम् । कर्तृत्वाभावात् भोक्तृत्वमपि तस्य न युक्तम् । न ह्यकृतस्य कर्मणः फलं कश्चिदुपभुंक्ते अकृताभ्यागमप्रसंगात् । न च पुरुषस्य कर्माऽकर्तृत्वेऽपि प्रकृतिरस्याभिलषितमर्थमुपनयतीत्यसौ भोक्ता भवति, यतो नासावप्यचेतना सती शुभाशुभकर्मणां कर्त्री युक्ता येनासौ कर्मफलं पुरुषस्य सम्पादयेत् ।

अथ यथा पङ्ग्वन्धयोः परस्परसम्बन्धात् प्रवृत्तिस्तथा महदादि लिंगं चेतनपुरुषसम्बन्धाच्चेतनावदिव धर्मादिषु कार्येष्वध्यवसायं करोतीत्यदोष एवायम् । उक्तं च, [सांख्य का० २१]

पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य । पङ्ग्वन्धवदुभयोरभिसंयोगात् तत्कृतः सर्गः ॥

असदेतत् यतो यदि प्रकृतिरकृतस्यापि कर्मणः फलमभिलषितमुपनयति तदा सर्वदा सर्वस्य पुं-

आत्मा, परस्पर अभिन्न होने पर दिदृक्षा आदि के उत्पाद के साथ आत्मा का भी उत्पाद होगा, क्योंकि दिदृक्षादि आत्मा से अलग नहीं है । यदि वे परस्पर भिन्न हैं, तब तो 'आत्मा के दिदृक्षादि' ऐसा सम्बन्ध ही जमेगा नहीं, क्योंकि सम्बन्ध उपकारमूलक होता है जो यहाँ है नहीं । यदि उपकार है तो वह अपने सम्बन्धि से भिन्न है या अभिन्न– इन विकल्पों का सामना करना होगा । भिन्न होगा तो पुनः सम्बन्ध को घटाने के लिये नये भिन्न उपकार की कल्पना करो, उस के सम्बन्ध के लिये भी नूतन उपकार की कल्पना– ऐसी अनवस्था चलेगी । यदि अभिन्न होगा तो उस की उत्पत्ति के साथ आत्मा की भी उत्पत्ति प्रसक्त होगी । फलतः दिदृक्षादि का सद्भाव ही सिद्ध न होने से आत्मा में भोक्तापन नहीं घट सकेगा ।

★ कर्तृत्व के विना भोक्तृत्व का असम्भव ★

यहाँ ऐसा अनुमानप्रयोग कर सकते हैं – 'यह उस का है' ऐसी स्थापना करने के लिये आवश्यक निमित्त जिस वस्तु में नहीं है, बुद्धिमानों के द्वारा उस वस्तु के लिये वैसी स्थापना नहीं हो सकती, जैसे आकाश में मूर्तत्व की 'आकाश का मूर्तत्व' ऐसी स्थापना करने के लिये कोई दिदृक्षादि आवश्यक निमित्त नहीं है, इस लिये 'पुरुष का भोक्तृत्व' ऐसी स्थापना नहीं हो सकती । यहाँ कारणानुपलब्धि हेतुरूप है । [illegible] निमित्त के न होने से कार्य का अभाव सिद्ध किया गया है । यहाँ प्रयोग में हेतु जो दिदृक्षादि निमित्त का अभाव है वह कैसे है यह तो अभी ही बताया जा चुका है, इस लिये हेतु असिद्ध नहीं है । आत्मा में कर्तृत्व न मानने वाले के मत में भोक्तृत्व भी घट नहीं सकता । जिसने कोई कर्म नहीं किया वह कभी कर्मफलभोग नहीं करता, अन्यथा अकृताभ्यागम का दोष होगा । अकृत यानी जो अनुत्पादित अथवा अनुत्पन्न है उस का अभ्यागम यानी [illegible] अस्तित्व धारण कर लेना – यह दोषरूप है । यदि ऐसा कहें कि – "[illegible] पति की इच्छापूर्ति के लिये [illegible] [illegible], बिना [illegible] [illegible] [illegible] देती है, वैसे ही पुरुष कर्म का कर्ता न होने पर भी उस के [illegible] अर्थ को प्रकृति उस के सामने [illegible] देती है – [illegible] उपभोग करता है" – तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि [illegible] होने से प्रकृति भी शुभ-अशुभ कर्मों की [illegible] बन नहीं सकती जिस से कि वह पुरुष के लिये कर्मफल का सम्पादन [illegible] ।

★ [illegible] प्रवृत्ति कर्म के विना असंगत ★

सोऽभिलषितार्थसिद्धिः किमिति न स्यात् ? न च तत्कारणस्य धर्मस्याभावान्नासाविति वक्तव्यम्, यतो धर्मस्यापि प्रकृतिकार्यतया तदव्यतिरेकात् तद्वत् सदैव भाव इति सर्वदा सर्वस्याभिलषितफलप्राप्तिप्रसक्तिः । अपि च, यदि अभिलषितं फलं प्रकृतिरुपनयति तदा नानिष्टं प्रयच्छेत्, न हि कश्चिदनिष्टमभिलषति ।

किंच, अपनयतु नाम प्रकृतिः फलम् तथापि भोक्तृत्वं पुंसोऽयुक्तम् अविकारित्वात् । न हि सुख-दुःखादिना आह्लादपरितापादिरूपं विकारमुपनीयमानस्य भोक्तृत्वमस्याकाशवत् संगतम् । न च प्रकृतिरस्योपकारिणी अविकृतात्मन्युपकारस्य कर्तुमशक्यत्वात् । विकारित्वे वा नित्यत्वहानिप्रसक्तिः अतादवस्थ्यस्याऽनित्यत्वलक्षणत्वात् तस्यापि विकारिण्यवश्यंभावित्वात् । अथ न विकारापत्त्या आत्मनो भो-

---

में कहा है –

"महदादि के दर्शन के लिये पुरुष को प्रधान के साथ संयोग अपेक्षित है, और कैवल्य (मोक्ष) प्राप्ति के लिये प्रकृति का पुरुष के साथ संयोग अपेक्षित है, इस प्रकार पंगु-अन्ध न्याय से दोनों का संयोग होता है और संयोग से सृष्टि होती है ।"

[पुरुष में दर्शनशक्ति है किन्तु क्रियाशक्ति नहीं है, प्रकृति में क्रियाशक्ति है किन्तु दर्शनशक्ति नहीं है, अतः पंगु-अन्ध की तरह दोनों मिलते हैं तब भोग एवं मुक्ति होती है]

पर्यायवादी : यह सब गलत है । कर्म किये विना ही यदि पुरुष के वांछित फल का प्रकृति सम्पादन करती है तब तो हर किसी पुरुष की सदा के लिये वांछित फल सिद्धि क्यों नहीं होती रहेगी ? यदि कहें कि – 'वांछितफल के कारणभूत धर्म के अभाव में वैसा हो नहीं सकता' – तो यह उचित नहीं है क्योंकि धर्म भी आखिर प्रकृति का ही कार्य होने से प्रकृति से अभिन्न है अतः प्रकृति की तरह उस का भी सदा अस्तित्व है ही अतः सभी पुरुषों को सदा-सर्वदा वांछित फल की प्राप्ति होने में कोई बाधक नहीं रहेगा । दूसरी बात यह है कि प्रकृति यदि वांछित फल का ही सम्पादन करती रहेगी तो पुरुष को कभी अनिष्ट का आपादन होगा ही नहीं, क्योंकि किसी भी पुरुष का अपना वांछित सदा इष्टविषयक ही होता है, अनिष्ट विषयक कभी नहीं होता ।

★ प्रतिबिम्बन्याय से भोक्तृत्व आत्मा में असंगत ★

सांख्यसिद्धान्त के अनुसार कदाचित् प्रकृति द्वारा फलसंपादन कार्य को मान्य रखा जाय तो भी पुरुष में भोक्तापन युक्तिसंगत नहीं है क्योंकि पुरुष अविकारी है । सुख-दुःखादि के द्वारा जिस में आह्लाद या परिताप रूप कोई विकार ही नहीं निपजाया जा सकता उसमें भोक्तृत्व, निर्विकार आकाश की तरह युक्तिसंगत नहीं है । तथा प्रकृति आत्मा की उपकारक भी नहीं हो सकती क्योंकि आत्मा निर्विकार होने से उसके ऊपर उपकार करना सम्भव नहीं है । उपकार मानेंगे तो आत्मा में विकारिता प्राप्त होने से उसके नित्यत्व का भंग हो जायेगा । 'तदवस्थ न रहना' यही अनित्यत्व का लक्षण है, उपकार के जरिये आत्मा में विकारिता प्राप्त होने पर वह अवश्यमेव तदवस्थ नहीं रह पायेगा ।

यदि कहें कि – "आत्मा में विकार-प्राप्ति स्वीकार कर हम भोक्तापन नहीं दिखाते – तो कैसे ? सुनिये – बुद्धि से अध्यवसित यानी सम्पादित अर्थ का शुद्ध स्फटिकवत् निर्मल आत्मा में प्रतिबिम्बोदय के न्याय से

कृत्वमिष्टम्, किं तर्हि ? बुद्ध्यध्यवसितस्यार्थस्य प्रतिबिम्बोदयन्यायेन संचेतनात् । तथाहि – "बुद्धिदर्पणसंक्रान्तमर्थप्रतिबिम्बकं द्वितीयदर्पणकल्पे पुंस्यध्यारोहति, तदेव भोक्तृत्वमस्य न तु विकारापत्तिः" । न च पुरुषः प्रतिबिम्बमात्रसंक्रान्तावपि स्वरूपप्रच्युतिमान् दर्पणवदविचलितस्वरूपत्वात् । असदेतत् – यतो बुद्धिदर्पणारूढमर्थप्रतिबिम्बकं द्वितीयदर्पणकल्पे पुंसि संक्रामत् ततो व्यतिरिक्तमव्यतिरिक्तं वा ? इति वाच्यम् । यदि अव्यतिरिक्तमिति पक्षस्तदा तदेवोदयव्यययोगित्वं पुंसः प्रसज्येत उदयादियोगिप्रतिबिम्बाव्यतिरेकात् तत्स्वरूपवत् । अथ व्यतिरिक्तमित्यभ्युपगमः तदा न भोक्तृता, नभोक्तृत्वस्यातस्तस्य कस्यचिद् विशेषस्याभावात् । न चार्थप्रतिबिम्बसम्बन्धात् तस्य भोक्तृत्वं युक्तम् अनुपकार्योपकारकयोः सम्बन्धासिद्धेः उपकारकल्पनाया अपि भेदाभेदविकल्पतोऽनुपपत्तेः ।

अपि च, पुरुषस्य दिदृक्षा प्रधानं यदि जानीयात् तदा पुरुषार्थं प्रति प्रवृत्तियुक्ता स्यात्, न चैवम् तस्य जडरूपत्वात् । सत्यपि चेतनावत्सम्बन्धे न पङ्ग्वन्धदृष्टान्तादत्रप्रवृत्तिर्युक्तिमती; यतोऽन्धो

जो संचेतना उदित होगी, वही उसका भोक्तृत्व होगा । देखिये – अर्थ का प्रतिबिम्ब पहले बुद्धिरूप दर्पण में संक्रान्त होता है, वही प्रतिबिम्ब दूसरे दर्पण के तुल्य आत्मा में पुनः प्रतिफलित होता है, वही उसका भोक्तापन है, यहाँ विकार की बात ही नहीं है । सिर्फ प्रतिबिम्ब का प्रतिफलन होने पर पुरुष के स्वरूप में कोई परिवर्तन लेशमात्र नहीं होता, जैसे दर्पण में प्रतिबिम्बोदय होने पर भी दर्पण का स्वरूप अविचल रहता है वैसे आत्मा का भी है ।"– तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि यहाँ दो विकल्प हैं – बुद्धिरूपी दर्पण में उदित प्रतिबिम्ब का प्रतिबिम्ब जो दूसरे दर्पणरूप आत्मा में प्रत्यावर्त्तित होता है वह प्रतिबिम्ब आत्मा से भिन्न होता है या अभिन्न ? यदि अभिन्न होता है तब तो उदय-अस्त होने वाले प्रतिबिम्ब की तरह उससे अभिन्न पुरुष में भी उदय-अस्त का योग प्राप्त होगा, जैसे प्रतिबिम्ब से अभिन्न होने के नाते प्रतिबिम्ब के स्वरूप का उदय-अस्त होता है । यदि वह प्रतिबिम्ब आत्मा से भिन्न है, तब तो उस से अभोक्तृ-अवस्था में तिलमात्र भी परिवर्तन न होने से आत्मा में भोक्तृत्व संगत न होगा । भिन्न होने पर भी अर्थप्रतिबिम्ब का आत्मा के साथ सम्बन्ध मानकर भोक्तृत्व की संगति की आशा नहीं की जा सकती, क्योंकि उपकार के बिना सम्बन्ध नहीं बनता । प्रस्तुत में प्रतिबिम्ब [illegible] भी उपकारक हो लेकिन आत्मा अविकारी होने से उपकार्य बन नहीं सकता, अतः उपकार के बिना सम्बन्ध असम्भव है । यदि उपकार भी मान लें, फिर भी उसके लिये भेदाभेद विकल्प होगा तो एक भी संगत नहीं होगा । सारांश, आत्मा में भोक्तृत्व युक्तिसंगत नहीं है ।

★ अन्ध-पंगुन्याय से प्रधानप्रवृत्ति असंभव ★

यह भी ज्ञातव्य है कि प्रधान को पुरुष की दिदृक्षा का ज्ञान हो तभी पुरुषार्थ सम्पादन के लिये प्रवृत्ति हो सकती है, किन्तु प्रकृति जड होने के नाते दिदृक्षा का ज्ञान वह नहीं कर सकती । [illegible]

[illegible]

यद्यपि मार्गं नोपलभते तथापि पङ्गोर्विवक्षामसौ वेत्ति तस्य चेतनावत्त्वात्; न चैवं प्रधानं पुरुषविवक्षामवगच्छति तस्याऽचेतनवत्त्वेन जडरूपत्वात् । न च तयोर्नित्यत्वेन परस्परमनुपकारिणोः पंग्वन्धवत् सम्बन्धोऽपि युक्तः । अथ प्रधानं पुरुषस्य दिदृक्षामवगच्छतीत्यभ्युपगम्यते – तथा सति भोक्तृत्वमपि तस्य प्रसज्यते करणज्ञस्य भुजिक्रियावेदकत्वाऽविरोधात् । न च य एकं जानाति तेनापरमपि ज्ञातव्यमित्ययं न नियमः, यतः प्रधानस्य कर्तृत्वे भोक्तृत्वमपि नियतसन्निधीति युक्तं वक्तुम्, यतो यदि प्रधानस्य बुद्धिमत्त्वमंगीक्रियते तदा पुरुषवच्चैतन्यप्रसंगः बुद्ध्यादीनां चैतन्यपर्यायत्वात् । यतो यत् प्रकाशात्मतयाऽपरप्रकाशनिरपेक्षं स्वसंविदितरूपं चकास्ति तत् चैतन्यमुच्यते, तद् यदि बुद्धेरपि समस्ति चिद्रूपा सा किमिति न भवेत्? न च यथोक्तबुद्धिव्यतिरेकेणापरं चैतन्यमुपलक्षयामः यतस्तद्व्यतिरिक्तस्य पुरुषस्य सिद्धिर्भवेत् ।

यदपि चिद्रूपत्वाद् बुद्धेर्भेदप्रसाधनाय परैरनुमानमुपन्यस्यते – यद् यद् उत्पत्तिमत्त्व-नाशित्वादिधर्मयोगि तत् तदचेतनम् यथा रसादयः तथा च बुद्धिरिति स्वभावहेतुरिति । तत्रापि वक्तव्यम् किमिदं स्वतन्त्रसाधनम् आहोस्वित् प्रसंगसाधनमिति ? तत्र स्वतन्त्रसाधनेऽन्यतराऽसिद्धो हेतुः, यतो यथाविध-

यदि मान लिया जाय कि प्रधान पुरुष की दिदृक्षा को किसी तरह समझ लेता है, तो फिर प्रधान में भोक्तृत्व भी मान सकते हैं, क्योंकि जड होने पर भी जिसमें करणज्ञातृत्व (कैसे भोगसंपादन करना उसका ज्ञानं) हो सकता है उसमें भुजिक्रियावेदन यानी भोगानुभव भी मानने में क्या विरोध है ? यदि ऐसा कहा जाय कि – 'ऐसा कोई नियम नहीं है कि जिसको एक विषय का ज्ञान है उसको अन्य विषय का ज्ञान भी होना ही चाहिये । ऐसा नियम होता तब तो प्रधान में करणज्ञान से कर्तृत्व होता है वैसे भोगज्ञान से भोक्तृत्व का संनिधान भी मान लेना पडता'– ऐसा कहना उचित नहीं है, क्योंकि प्रधान में यदि बुद्धितत्त्व का स्वीकार करते हैं तो पुरुष की तरह उसमें चैतन्य भी स्वीकार करना होगा, क्योंकि बुद्धि-ज्ञानादि चैतन्य के ही पर्याय हैं । कैसे यह देखिये– जो भी अन्यप्रकाश की अपेक्षा न रख कर प्रकाशमय होते हुये स्वयंसंवेदि के रूप में स्फुरित होता है वही 'चैतन्य' कहा जाता है । ऐसा चैतन्य यदि बुद्धि यानी महत् में है तो वह भी चिन्मय क्यों नहीं होगी? उपर्युक्त बुद्धि से पृथक् कोई चैतन्य जैसी चीज देखने में ही नहीं आती कि जिस से बुद्धि से अतिरिक्त (अर्थात् बुद्धिमत् प्रधानतत्त्व से पृथक्) पुरुष की सिद्धि हो सके ।

★ बुद्धि में अचेतनतासाधक अनुमान दोषग्रस्त ★

बुद्धि में चैतन्य का भेद सिद्ध करने के लिये यह जो अनुमानप्रयोग सांख्यवादियों ने कहा है:- 'जो कुछ भी उत्पत्ति-विनाशधर्मधारी है वह सब सचेतन होता है जैसे रस-रूपादि । बुद्धि भी उत्पत्तिविनाशधर्मधारी है इसलिये अचेतन होनी चाहिये ।' – यह स्वभावहेतुक प्रयोग है ।– इस के ऊपर भी कुछ कहना पडेगा, क्या यह स्वतन्त्ररूप से बुद्धि में अचेतनत्व सिद्ध करने के लिये प्रयोग किया है या सिर्फ बुद्धि में अचेतनत्व का अनिष्ट प्रसंगापादन करने के लिये ? यदि स्वतन्त्र साधन हो तो उस में हेतु उभयपक्षमान्य होना चाहिये, किन्तु यहाँ दो में से एक पक्ष में वह असिद्ध है । कैसे यह देखिये – बौद्ध मत में अपूर्वप्रादुर्भाव स्वरूप उत्पाद है और निरन्वयनाश स्वरूप विनाश है, सांख्य मत में ऐसा नहीं है, उस के मत में तो आविर्भाव–तिरोभाव रूप उत्पाद-विनाश है, किन्तु वैसा बौद्धमत में नहीं है । अब यदि बौद्धमतप्रसिद्ध उत्पाद-विनाशशालित्व को हेतु बनायेंगे तो सांख्यमत में हेतु असिद्ध हो जायेगा, और सांख्यमतप्रसिद्ध उत्पाद-विनाश से गर्भित हेतु बनायेंगे

मुत्पत्तिमत्त्वमपूर्वोत्पादलक्षणम् नाशित्वं च निरन्वयविनाशात्मकं प्रसिद्धं बौद्धस्य न तथाविधं सांख्यस्य, तयोराविर्भाव-तिरोभावरूपत्वेन तेनांगीकरणात् । यथा च सांख्यस्य तौ प्रसिद्धौ न तथा बौद्धस्येति कथं नान्यतराऽसिद्धता ? न च शब्दमात्रसिद्धौ हेतुसिद्धिः, वस्तुसिद्धौ वस्तुन एव सिद्धस्य हेतुत्वात् । तदुक्तम्– [प्र० वा० १-२२]

तस्यैव व्यभिचारादौ शब्देऽप्यव्यभिचारिणि । दोषवत् साधनं ज्ञेयं वस्तुनो वस्तुसिद्धितः ॥ इति ।

अथ प्रसंगसाधनमिति पक्षस्तदा साध्यविपर्यये बाधकप्रमाणाऽप्रदर्शनादनैकान्तिकता । न ह्यत्र प्रतिबन्धोऽस्ति चेतनोत्पाद-नाशाभ्यां न भवितव्यमिति ।

यदपि प्रकल्पितम् [सांख्य० का० ५७] –

वत्सविवृद्धिनिमित्तं क्षीरस्य यथा प्रवृत्तिरज्ञस्य । पुरुषविमोक्षनिमित्तं तथा प्रवृत्तिः प्रधानस्य ॥

तदपि न सम्यक्, यतः क्षीरमपि न स्वातन्त्र्येण वत्सविवृद्धिं चेतस्याधाय प्रवर्त्तते, किं तर्हि ? कादाचित्केभ्यः स्वहेतुभ्यः प्रतिनियतेभ्यः समुत्पत्तिमासादयति, तच्च लब्धात्मलाभं वत्सविवृद्धिनिमित्तता-मुपयातीत्यचेतनमपि प्रवर्त्तते इति व्यपदिश्यते । न त्वेवं प्रधानस्य कादाचित्की प्रवृत्तिर्युक्ता नित्यत्वात्

तो यह बौद्धमत में असिद्ध हो जायेगा । यदि कहें कि – 'दोनों मत में उत्पाद-विनाश की प्रसिद्धि अलग अलग होने पर भी शब्दरूप तो समान ही है इस लिये असिद्धि नहीं होगी' – तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि समान शब्दमात्र उभयमतसिद्ध होने से हेतुसिद्धि नहीं हो जाती । हेतु से जो साध्य सिद्ध करना है वह सिर्फ शब्दरूप सिद्ध नहीं करना है किन्तु वस्तुरूप साध्य सिद्ध करना होता है, अतः वस्तुभूत साध्य की सिद्धि के लिये वस्तुसिद्ध ही हेतु बन सकता है न कि शब्दरूप । प्रमाणवार्त्तिक में कहा है – "शब्द का व्यभिचार (यानी उभयमत अविरुद्धता के) न होने पर भी वस्तुभूत अर्थ का व्यभिचार होने पर साधन सदोष ही रहता है क्योंकि वस्तुभूत हेतु से ही वस्तु (साध्य) की सिद्धि हो सकती है ।"

यदि उत्पत्ति-विनाशधर्मयोगित्व हेतु से बुद्धि में अचेतनत्व का सिर्फ प्रसंगसाधन ही करना अभीष्ट है तब विपक्ष की शंका हो सकती है कि उत्पत्तिनाशादि के रहने पर भी अचेतनत्व न रहे तो क्या बाध ? ऐसी शंका के निरसन में आपने कोई प्रमाण नहीं दिखाया है इस लिये साध्यद्रोहिविपक्षबाधकप्रमाणाप्रदर्शनात् अनैकान्तिकत्व दोष लग जायेगा । ऐसा कोई नियम का बन्धन नहीं है कि चेतन के नाशोत्पाद नहीं हो सकते ।

★ क्षीरप्रवृत्ति का दृष्टान्त असंगत ★

सांख्यकारिका में जड प्रकृति में भी प्रवृत्ति प्रमाणित करने के लिये जो यह (का० ५७) [illegible] कही है

[illegible]

[illegible]

तस्य अन्यहेत्वभावाच्च । तथाहि – न तावत् कादाचित्ककारणसंनिधानायत्ता कादाचित्की शक्तिरस्य युक्ता तदभावात् । नापि स्वाभाविकी सदा संनिहिता, अविकलकारणत्वेन सर्वस्याभ्युदयनिःश्रेयसलक्षणस्य पुरुषार्थस्य युगपदुत्पत्तिप्रसंगात् । न च बुद्धि – चैतन्ययोरभेदेपि चैतन्यस्यात्मत्वमप्रतिषिद्धमेव, यतो नास्माभिः चैतन्ये आत्मशब्दनिवेशः प्रतिषिध्यते; किं तर्हि ? यस्तत्र नित्यत्वलक्षणो धर्मः समारोपितः स एव निषिध्यते, तन्नित्यत्वेऽक्षसंहतेर्वैफल्यप्रसक्तेः, तदुत्पत्त्यर्थत्वात् तस्याः, नित्यत्वे चोत्पत्तेरसम्भवात्। न हि वह्नेः सदाऽस्तित्वे तदर्थं जनतेन्धनमादीत । तन्न नित्यैकरूपं चैतन्यं युक्तिसंगतम् ।

यदपि 'परार्थाश्चक्षुरादयः' [३७५-१०] इत्याद्युक्तम् तत्र आधेयातिशयो वा परः साध्यत्वेनाभिप्रेतः यद्वाऽविकार्यनाधेयातिशयः, अहोस्वित् सामान्येन चक्षुरादीनां पारार्थ्यमात्रं साध्यत्वेनाभिप्रेतमिति विकल्पत्रयम् । तत्र यदि प्रथमः पक्षः स न युक्तः, सिद्धसाध्यतादोषाऽऽघ्रातत्वात् । यतोऽस्माभिरपि विज्ञानोपकारित्वेनाभ्युपगता एव चक्षुरादयः "चक्षुः प्रतीत्य रूपादि चोत्पद्यते चक्षुर्विज्ञानम्" [*] इत्यादिव-

कही जाती है, और कोई अनौपचारिक प्रवृत्ति उसकी नहीं होती । प्रधान तो नित्य है, और प्रधान के अलावा और किसी हेतु की सत्ता भी नहीं है, तव उस की प्रवृत्ति या तो सदा होनी चाहिये, या कभी नहीं होनी चाहिये, किन्तु नियतकालीन प्रवृत्ति का उस के साथ मेल नहीं वैठेगा । कैसे यह देखिये – प्रधानात्मक कारण के नित्य होने से, 'नियत काल में ही कारण का संनिधान होने से उस में प्रवर्त्तन शक्ति भी नियतकालीन ही हो सके' ऐसा वन नहीं सकता, क्योंकि प्रकृति में नियतकालीनता ही नहीं है । स्वाभाविक शक्ति भी उस में संनिहित नहीं मान सकते, क्योंकि तव तो सभी पुरुषों की मुक्ति के लिये तथाविधशक्तिशाली प्रधानरूप कारण सदा निकटवर्त्ती होने से सभी पुरुषों को अभ्युदय-निःश्रेयसकारक धर्मपुरुषार्थ का एकसाथ ही उदय हो जाने की आपत्ति होगी ।

बुद्धि और चैतन्य को यदि अभिन्न माना जाय तो हमें कोई आपत्ति नहीं है, क्योंकि बुद्धि-अभिन्न चैतन्य में आत्मत्व मानने में कोई वाधा नहीं पहुँचती । यानी क्षणिक आत्मा, चैतन्य अथवा बुद्धि एक ही चीज है। हम जो आत्मा का निषेध करते हैं वह नित्य आत्मा का, अर्थात् चैतन्यरूप आत्मा में नित्यत्व का निषेध करते हैं, चैतन्य के लिये पर्यायवाची 'आत्मा' शब्द का प्रयोग करने का निषेध हम नहीं करते । यदि आत्मस्वरूप चैतन्य को नित्य मानेंगे तो इन्द्रियवर्ग निष्फल वन जायेगा, क्योंकि ज्ञानात्मास्वरूप चैतन्य की उत्पत्ति के लिये ही उस की सार्थकता होती है । जव वह नित्य ही होगा तो इन्द्रियों से उस की उत्पत्ति कैसे होगी ? अग्नि अगर शाश्वत होगा तो उस को प्रगट करने के लिये क्यों जनता इन्धन लाने को दौडेगी ? सारांश, यह युक्तिसंगत वात नहीं है कि 'चैतन्य नित्य एवं एकरूप है' ।

★ पुरुषसाधक अनुमान पर विकल्पत्रयी ★

यह जो अनुमान कहा था – चक्षु आदि अन्यार्थक है.. इत्यादि, वहाँ कैसे स्वरूप वाले 'अन्य (=पर)' की सिद्धि अभिप्रेत है ? तीन विकल्प हैं – [A]जिस में संस्काराधान न हो सके, [B]'जिस में कोई विकार या संस्कार न हो सक, अथवा [C]पर की सिद्धि के वदले चक्षु आदि में सिर्फ अन्यार्थकत्व ही सिद्ध करना अभिप्रेत

*. 'चक्खुं च पटिच रूपे च उप्पज्जति चक्खु विञ्ञाणं' इति संयुत्तनिकाये नि०ग० ११-२ ।

घनात् । अथ द्वितीयः पक्षोऽङ्गीक्रियते तदा हेतोर्विरुद्धतालक्षणो दोषः विकार्युपकारित्वेन चक्षुरादीनां साध्यविपर्ययेण दृष्टान्ते हेतोर्व्याप्तत्वप्रतीतेः । तथाहि – अविकारिणी अतिशयस्याधातुमशक्यत्वात् शयनाऽऽसनादयोऽनित्यस्यैवोपकारिणो युक्ता न नित्यस्येति कथं न हेतोर्विरुद्धता ? यदि पुनः सामान्येन आधेयानाधेयातिशयविशेषमपास्य पारार्थ्यमात्रं साध्यत इत्ययं पक्षः कक्षीक्रियते तदापि सिद्धसाध्यतैव, चक्षुरादीनां विज्ञानोपकारित्वेनेष्टत्वात् । न च चित्तमपि साध्यधर्मित्वेनोपात्तमित्यपरस्य तद्व्यतिरिक्तस्य परत्वमत्राभिप्रेतम्, चित्तादिव्यतिरेकिणोऽपरस्याविकारिण उपकार्यत्वाऽसम्भवात् चक्षूरूपाऽऽलोकमनस्काराणापरचक्षुरादिकदम्बकोपकारित्वस्याऽन्याय्यप्राप्तत्वात् । विज्ञानस्य वा अनेककारणकृतोपकाराध्यासितस्य संहतत्वं कल्पितमविरुद्धमेवेति नात्र साध्ये हेतोरप्यसिद्धता संगच्छते ? तत्र सांख्योपकल्पितचैतन्यरूपस्य नित्यस्यात्मनः कुतश्चित् सिद्धिः । तत्र अशुद्धद्रव्यास्तिकमतावलम्बिसांख्यदर्शनपरिकल्पितपदार्थसिद्धिरिति पर्यायास्तिकमतम् ।

है, चाहे वह अन्य कोई भी हो । [A]प्रथम पक्ष अयुक्त है, क्योंकि उस में सिद्धसाध्यता दोष की गन्ध है । हम भी मानते हैं क्षणिक चैतन्यमय विज्ञान पर है, उस को उपकृत करने के लिये ही चक्षु आदि है । बौद्धग्रन्थ में भी ऐसा कहा गया है कि 'चक्षु से एवं रूपादि के आलम्बन से चाक्षुष विज्ञान उत्पन्न होता है' ।

[B]द्वितीय पक्ष मानेंगे तो उस में हेतु में विरुद्धता दोष लगता है । चक्षु आदि तो 'विज्ञान के विकारी और उपकारी हैं' इस तथ्य की सिद्धि 'संघात' हेतु से होती है, दृष्टान्त में अविकारी-अनुपकार्य साध्यरूप पर के विपरीत विकारी एवं उपकारी पर रूप साध्य के साथ व्याप्ति धारण करने वाला हेतु विरुद्ध क्यों नहीं होगा ? जैसे देखिये–अविकारी पदार्थ में तो किसी नये संस्कार का आधान शक्य नहीं होता, अतः दृष्टान्तभूत (संघातमय)शय्या-आसनादि अनित्य के ही उपकारी बने यह युक्तियुक्त है, न कि नित्य के । हेतु विरुद्ध क्यों नहीं हुआ ? यदि तीसरे विकल्प में संस्कारयोग्य या संस्कार-अयोग्य आदि को छोड कर सिर्फ चक्षुआदि में परार्थता ही सिद्ध करने का अभिप्राय रखते हो तब सिद्धसाध्यता दोष जोर मारेगा क्योंकि हम मानते हैं कि चक्षु आदि पर के लिये, यानी विज्ञान के उपकार के लिये हैं ।

यदि कहें कि – 'चक्षुआदि पक्ष में चित्त (यानी विज्ञान) का भी अन्तर्भाव है, अतः यहाँ जो अन्यार्थत्व सिद्ध करना है उस में चित्त से भी अन्य की सिद्धि अभिप्रेत है'' – तो कहना पडेगा कि चित्तादि से भिन्न हो ऐसे किसी अविकारी की इन्हीं यदि अभिप्रेत होगी तो उस में उपकार्यता का सम्भव ही नहीं है, तथा चक्षु-रूप-आलोक-मनस्कार आदि से भिन्न अन्य चक्षुआदिवर्ग का उपकारी हो (यानी अन्य उपकार्य चक्षुआदि सिद्ध हो) यह भी संगत नहीं है । दूसरी ओर, 'विज्ञान में [illegible] न होने से, विज्ञान [illegible] पक्ष में अन्तर्भाव करने पर हेतु असिद्ध [illegible], इस लिये [illegible] ऐसा कहने से भी छुटकारा नहीं होगा, क्योंकि विज्ञान [illegible] के [illegible] होने के कारण, उसमें [illegible] कोई विरोध नहीं है । [illegible]

[illegible]

[नयोपभेदनिरूपणम्]

[संग्रह-नैगमनयवक्तव्यता]

अत्र च नैगम-संग्रह-व्यवहारलक्षणास्त्रयो नयाः शुद्ध्यशुद्धिभ्यां द्रव्यास्तिकमतमाश्रिताः, ऋजुसूत्र-शब्द-समभिरूढ-एवम्भूतास्तु शुद्धितारतम्यतः पर्यायनयभेदाः । तथाहि – संग्रहमतं तावत् प्रदर्शितमेव (२६९-५) । येषां तु मतेन नैगमनयस्य सद्भावः तैस्तस्य स्वरूपमेवं वर्णितम् – राश्यन्तरोपलब्धं नित्यत्वमनित्यत्वं च नयतीति निगमव्यवस्थाभ्युपगमपरो नैगमनयः । निगमो हि नित्यानित्य-सदसत्कृतकाऽकृतकस्वरूपेषु भावेष्वपास्तसांकर्यस्वभावः सर्वथैव धर्म-धर्मिभेदेन सम्पद्यत इति । स पुनर्नैगमोऽनेकधा व्यवस्थितः प्रतिपत्रभिप्रायवान्नयव्यवस्थानात् । प्रतिपत्तारश्च नानाभिप्रायाः । यतः केचिदाहुः – 'पुरुष एवेदं सर्वम्' [श्वेताश्व० ३-१५] इत्यादि, यदाश्रित्योक्तम्- [गीता १५-१]

"ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् । छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥"

पुरुषोऽप्येकत्व-नानात्वभेदात् कैश्चिदभ्युपगतो द्वेधा, नानात्वेपि तस्य कर्तृत्वाऽकर्तृत्वभेदोऽपरैराश्रितः, कर्तृत्वेऽपि सर्वगततेतरभेदः असर्वगतत्वेऽपि शरीरव्याप्त्यव्याप्तिभ्यां भेदः, अव्यापित्वेपि मूर्त्तेतरविकल्पाद्

☆ नय के प्रभेद : संग्रहादिनय ☆

मूल द्रव्यास्तिक नय की शुद्धि-अशुद्धिभेद से तीन धाराएं प्रवाहित होती है । शुद्धि का तात्पर्य है भेददृष्टि का अभाव । संग्रहनय शुद्धि को अपना कर प्रवृत्त होता है, जब कि नैगम और व्यवहार तरतमभाव से भेददृष्टि रूप अशुद्धि रख कर प्रवृत्त होते हैं ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवंभूत ये चार नय शुद्धि की तरतमता से सूक्ष्म-सूक्ष्मतर भेददृष्टि रख कर प्रवृत्त होते हैं और वे पर्यायास्तिकनय के भेद हैं । अभेददृष्टि का अभाव यही उसकी शुद्धि है । इन में से संग्रहनय का मत शुद्ध द्रव्यास्तिकनय के विवेचन में दिखा दिया है । वे दोनों एक ही है ।

★ नैगमनय वक्तव्यता ★

यद्यपि आचार्य श्री सिद्धसेनसूरिजी नैगम को स्वतन्त्र नयभेद नहीं मानते हैं फिर भी अन्य आचार्यों को वह मान्य है । उन के मत में नैगमनय का स्वरूप इस प्रकार दिखाया गया है:- भिन्न भिन्न राशियों में, जैसे विद्युत्, ज्वाला, शब्द आदि के राशि में अनित्यत्व को मान्य करता है, दूसरी ओर आकाश आत्मा आदि राशियों में नित्यत्व मान्य करता है इस प्रकार असांकर्य का दृष्टिकोण रखनेवाला नय नैगम कहा जाता है । निगम का मतलब है जनसमुदाय के साथ गाँव-नगर में वास करने वाले मानव । ये लोग भिन्न भिन्न अवसर में भाव को भिन्न भिन्न रूप से प्रस्तुत करते हैं । पण्य खरीदते समय उनकी दृष्टि अलग होती है और विक्रय के काल में कुछ अलग ही । ऐसे प्रसिद्ध शास्त्रीय तत्त्वों के लिये भी किसी चीज को वह नित्य ही समझ लेता है, किसी को अनित्य । किसी को सत् और किसी को असत् । किसी को अकृतक यानी प्राकृतिक और किसी को मानवादिनिर्मित यानी कृतक । इस प्रकार नैगमनयवादी असंकीर्णस्वभावांकित वस्तु का स्वीकार करता है । वह धर्म को भी सर्वथा भिन्न मानता है और धर्मि को भी । इस प्रकार उन नागरिकों के अवसरानुकुल भिन्न भिन्न अभिप्राय प्रवृत्त होते हैं इस लिये नैगमनय भी तरह तरह के (विविध) अभिप्राय वाला होता है क्योंकि जनसामान्य का अभिप्राय भी तरह तरह का होता है । जैसे, किसीने ऐसा कहा है कि 'यह सब कुछ पुरुष

भेद एव । अपरैस्तु प्रधानकारणिकं जगद् अभ्युपगतम्, तत्रापि सेश्वर-निरीश्वरभेदाद् भेदाऽभ्युपगमः । कैश्चित् स्वभावकाल-यदृच्छादिवादाः समाश्रिताः, तेष्वपि सापेक्षत्वाऽनपेक्षत्वाभ्युपगमाद् भेदव्यवस्था अभ्युपगतैव । तथा, कारणं नित्यम् कार्यमनित्यमित्यपि द्वैतं कैश्चिदभ्युपगतम्, तत्रापि कार्यं स्वरूपं नियमेन त्यजति नवेत्ययमपि भेदाभ्युपगमः । एवं मूर्त्तैरेव मूर्त्तमारभ्यते, मूर्त्तैर्मूर्त्तम्, मूर्त्तैरमूर्त्तमित्याद्यनेकधाप्रतिपत्त्रभिप्रायतोऽनेकधानिगमनान्नैगमोऽनेकभेदः ।

[व्यवहारनयाभिप्रायः]

व्यवहारनयस्तु – अपास्तसमस्तभेदमेकमभ्युपगच्छतोऽव्यक्तीकृतभेदनिबन्धनव्यवहारविरोधप्रसक्तेः नानात्वज्ञापकभेदपरिकल्पनानुरोधेन व्यवहारमारचयन् प्रवर्त्तते इति कारणस्यापि न सर्वदा नित्यत्वम् कार्यस्यापि न सर्वदा नित्यत्वम्, कार्यस्यापि नैकान्ततः प्रक्षय इति । ततश्च 'न कदाचिदनीदृशं जगत्'[ ] इति प्रवृत्तोऽयं व्यवहारो न केनापि प्रवर्त्त्यते अन्यथा प्रवर्त्तकानवस्थाप्रसक्तिः । ततो न व्यवहारशून्यं जगत् । न च प्रमाणाऽविषयीकृतः पक्षोऽभ्युपगंतुं युक्तः अदृष्टपरिकल्पनाप्रसक्तेः, दृष्टानुरोधेन त्वदृष्टमपि

ही है' (आत्माद्वैत) इत्यादि....। इसी अभिप्राय का अवलम्ब कर के गीता में कहा गया है – ''शुद्ध-बुद्धस्वभाव ब्रह्म यही जिस का ऊर्ध्व मूल है, अविद्या जन्य प्रपंचविलास यह जिस की अधोगत शाखाएँ है और वेदमन्त्र जिस के पर्ण हैं – ऐसे पुरुषविशेष का ज्ञाता जो है वही वेदज्ञ है।''

★ नैगम के विविध अभिप्राय के उदाहरणस्थल ★

इस नय में पुरुष के लिये भी विविध अभिप्राय हैं । कोई अद्वैत एक ही पुरुष मानते हैं, कोई अनेक, इस प्रकार ये दो अभिप्राय हो गये । अनेक माननेवालों में कोई उसे कर्त्ता मानते हैं, कोई अकर्त्ता । कर्त्ता मानने वाले भी कोई सर्वगत व्यापक मानते हैं और कोई अव्यापक । अव्यापक मानने वाले भी कोई पुरुष को शरीरपरिमितपरिमाण मानते हैं, कोई देह से न्यूनाधिक परिमाण वाला मानते हैं । शरीर से न्यूनाधिक परिमाण माननेवालों में भी कोई आत्मा को मूर्त मानते हैं और कोई अमूर्त । अन्य कोई सांख्यवादी ऐसा भी मानते हैं कि जगत् का मूल कारण प्रधानतत्त्व है । सांख्यवादीयों में भी दो भेद हैं, ईश्वर को जगत्कर्त्ता की अपेक्षा वाले मानते हैं और कोई मानते हैं कि ईश्वरप्रवृत्ति में कर्त्तापेक्षा नहीं होती । कुछ ऐसे भी वादी हैं जो जगत् का एक मात्र कारण 'स्वभाव' है ऐसा मानते हैं, कोई एक मात्र काल को, कोई यदृच्छा यानी नियति को, तो कोई पुरुषकार आदि को ही जगत्-कारण मानते हैं । उन में भी कोई इन्हें और पुरुषार्थ अन्योन्य सापेक्षकारणता मानते हैं तो कोई निरपेक्ष । कोई द्वैतवादी ऐसा मानते हैं कि कारण (जैसे कि प्रधान) नित्य होता है और कार्य (महदादि) अनित्य होता है । अनित्यकार्यवादियों में भी कोई मानते हैं कि कार्य नष्ट होता हुआ अवश्य अपने स्वरूप का आत्यन्तिक त्याग करता है, तो कोई कहते हैं नहीं, क्योंकि आत्यन्तिक त्याग नहीं करता (कुछ अंश में अनुवृत्ति भी रहती है ।) आरम्भवाद में कोई कहते हैं मूर्त की उत्पत्ति मूर्त पदार्थों से ही होती है । दूसरे कहते हैं – मूर्त की उत्पत्ति मूर्त पदार्थ से ही होती है – इतना ठीक है (लेकिन मूर्त से ही होती है ऐसा नहीं); और कोई कहते हैं मूर्त पदार्थों से अमूर्त की उत्पत्ति होती है । इस ढंग से देखें तो [illegible] विविध अभिप्राय के मुताबिक [illegible] नैगम नय के विविध – विविध [illegible] अनेक भेदों से प्रवृत्त होती है ।

वस्तु कल्पयितुं युक्तम् अन्यथाकल्पनाऽसम्भवादिति संग्रह-नैगमाभ्युपगतवस्तुविवेकाल्लोकप्रतीतपथानुसारेण प्रतिपत्तिगौरवपरिहारेण प्रमाण-प्रमेय-प्रमितिप्रतिपादनं व्यवहारप्रसिद्धयर्थं परीक्षकैः समाश्रितमिति व्यवहारनयाभिप्रायः। ततः स्थितं नैगम-संग्रह-व्यवहाराणां द्रव्यास्तिकनयप्रभेदत्वम्। विषयभेदश्चैषां प्रतिपादितः–

शुद्धं द्रव्यं समाश्रित्य संग्रहस्तदशुद्धितः। नैगम-व्यवहारौ स्तां शेषाः पर्यायमाश्रिताः ॥[ ]

तदुक्तम्-[ ]

अन्यदेव हि सामान्यमभिन्नज्ञानकारणम्। विशेषोऽप्यन्य एवेति मन्यते निगमो नयः ॥

सद्रूपतानतिक्रान्त-स्वस्वभावमिदं जगत्। सत्तारूपतया सर्वं संगृह्णन् संग्रहो मतः ॥

व्यवहारस्तु तामेव प्रतिवस्तुव्यवस्थिताम्। तथैव दृश्यमानत्वात् व्यवहारयति देहिनः ॥ इति ॥

पर्यायनयभेदाः ऋजुसूत्रादयः –

तत्रर्जुसूत्रनीतिः स्यात् शुद्धपर्यायसंश्रिता। नश्वरस्यैव भावस्य भावात् स्थितिवियोगतः ॥

☆ प्रत्यक्षसिद्ध भेदग्राही व्यवहारनय ☆

व्यवहारनय का अभिप्राय :- समस्त भेद का छेद करके अद्वितीय एक तत्त्व के स्वीकार करने में प्रत्यक्षसिद्ध भेद व्यवहार का विरोध स्पष्ट ही प्रतीत होता है, क्योंकि व्यवहार सर्वत्र भेदमूलक ही चलता है यह प्रत्यक्ष दिखता है। अतः दृष्ट के अनुसार कल्पना करनी चाहिये। कारक और ज्ञापक इस प्रकार सर्वत्र भेद प्रसिद्ध हैं इसलिये वैसी कल्पना के अनुरूप व्यवहार आचरता हुआ व्यवहारनय प्रवृत्त होता है। उसके मत में, कारण सदा के लिये नित्य नहीं होता, कार्य भी सदा के लिये नित्य नहीं होता, एवं कार्य का एकान्ततः हर किसी प्रकार से विनाश भी नहीं होता। ऐसे ये कार्य-कारणों के समुदायात्मक पूरा जगत् जैसा आज वास्तविक भेदनियम का अनुसरण कर रहा है वैसा भूत भविष्य में भी करता था – करता रहेगा, अतः 'यह जगत् ऐसा कभी नहीं था या नहीं होगा' इस कथन को अवकाश ही नहीं है। अनादि काल से यह भेदव्यवहार प्रवर्त्तमान है, कोई उसका आद्य प्रवर्त्तक नहीं है, अन्यथा उस प्रवर्त्तक के प्रवर्त्तक की खोज में अनवस्था चलेगी। अनादि-अनंतकाल यह व्यवहार जारी रहता है इसलिये व्यवहारशून्य जगत् की कल्पना निरवकाश है। अभेदपक्ष में कोई प्रमाण नहीं है, और जिस पक्ष में कोई प्रमाण न हो उसका स्वीकार उचित नहीं है, क्योंकि प्रमाणवाह्य पक्ष का स्वीकार करने पर अदृष्ट– अश्रुत– अप्रसिद्ध पदार्थ की कल्पना का दोष प्रसक्त होता है। कदाचित् अदृष्ट पदार्थ की कल्पना अन्यथानुपपत्ति के वल पर की जाय तो वह भी दृष्ट पदार्थ के अनुरूप ही करना चाहिये, उसके वदले विपरीत कल्पना करना सम्भवोचित नहीं। उक्त रीति से, संग्रह और नैगमनय सम्मत वस्तु का विवेक करके, यानी अपनी व्यवहारसंगतिकारक बुद्धि से उसका परीक्षण करके, व्यवहारातीत कल्पनाओं को छोड कर, लोकप्रतीतिरूप मार्ग का अनुसरण करते हुवे, व्यवहारविरुद्ध कल्पनाओं के आडम्वर को छोड कर व्यवहारानुकुल प्रमाण – प्रमेय और प्रमिति का व्युत्पादन, व्यवहारों की प्रसिद्धि के लिये यानी उचित ढंग से उनके प्रवर्त्तन के लिये परीक्षकों द्वारा किया जाता है– यह व्यवहार नय का आशय है। यद्यपि नैगम-व्यवहार भेदग्राहक हैं फिर भी तीनों नय द्रव्य को दृष्टिगोचर रख कर प्रवृत्त होते हैं, इसलिये नैगम– संग्रह और व्यवहार ये तीनों द्रव्यास्तिकनय के उपभेद हैं यह तथ्य फलित होता है। उन में निम्नरीति से विषयभेद माना गया है –

★ संग्रहादि नयों में विषयभेद ★

"संग्रहनय शुद्ध द्रव्य का आश्रय करता है, अशुद्ध द्रव्य का आसरा ले कर नैगम और व्यवहार नय

देशकालान्तरसम्बद्धस्वभावरहितं वस्तुतत्त्वं साम्प्रतिकम् एकस्वभावम् अकुटिलम् = ऋजु सूत्रयतीति ऋजुसूत्रः । न हि एकस्वभावस्य नानादिक्-कालसम्बन्धित्वस्वभावमनेकत्वं युक्तम् एकस्यानेकत्वविरोधात् । न हि स्वरूपभेदादन्यो वस्तुभेदः स्वरूपस्यैव वस्तुत्वोपपत्तेः । तथाहि – विद्यमानेऽपि स्वरूपे किमपरमभिन्नं वस्तु यद् रूपनानात्वेऽप्येकं स्यादिति ? यद् वस्तुरूपं येन स्वभावेनोपलभ्यते तत् तेन सर्वात्मना विनश्यति न पुनः क्षणान्तरसंस्पर्शीति क्षणिकम्, क्षणान्तरसम्बन्धे तत्क्षणाकारस्य क्षणान्तराकारविशेषाऽप्रसंगात्, अतो जातस्य यदि द्वितीयक्षणसम्बन्धः प्रथमक्षणस्वभावं नापनयति तदा कल्पान्तरावस्थानसम्बन्धोऽपि तन्नापनयेत्, स्वभावभेदे वा कथं न वस्तुभेदः, अन्यथा सर्वत्र सर्वदा भेदाभावप्रसक्तिः ।

अक्षणिकस्य क्रम-यौगपद्याभ्यामर्थक्रियानुपपत्तेरसत्त्वम्, सहकार्युपढौकितातिशयमनंगीकुर्वतस्तदपेक्षायोगादक्षेपेण कार्यकारिणः सर्वकार्यमेकदैव विदध्यादिति न क्रमकर्तृत्वम् नवा कदाचनापि स्वकार्यमुत्पादयेत्

प्रवृत्त हुआ है, बाकी सब नय पर्याय का आश्रयण करते हैं।''

इसका तात्पर्य यह है कि संग्रहनय भेदादिविशेषणविनिर्मुक्त शुद्ध द्रव्य की ओर दृष्टि करता है, जब कि नैगम और व्यवहार भेदादिविशेषण विशिष्ट (यानी अशुद्ध) द्रव्य को दृष्टिगोचर रख कर चलता है। [जैसे कुछ अपराध कर के घर से भाग जाने वाला बेटा जब वापस छः महीने के बाद घर आता है तब उसके पिता को वह 'अपराधी बेटा' दिखता है किन्तु उदारहृदयी माता को सिर्फ बेटा ही दिखता है। और लोगों को बेटा नहीं, सिर्फ अपराधी ही अपराधी दिखता है वैसे ही।] पर्यायवादी ऋजुसूत्रादि चार नयों की दृष्टि द्रव्य की ओर नहीं सिर्फ पर्यायों की ओर, भेदादि विशेषणों की ओर ही दृष्टि रहती है।

अन्यत्र कहा गया है-

'नैगमनय मानता है कि – समानाकार ज्ञान का कारणभूत सामान्य, और (भिन्नाकारज्ञान हेतुभूत) विशेष ये दोनों ही अलग अलग है।'

'सारे जगत् का अपना स्वभाव सद्रूपता से गुम्फित है, इस प्रकार सत्ता के रूप में अभिन्न वस्तु का संग्रह करने वाला- संग्रह नय कहा गया है।'

'व्यवहारनय – यही सत्तारूपता एक एक वस्तु (के स्वरूप) में रही हुई भिन्न भिन्न रूप में दिखती है, उसी रूप में, [illegible] के समक्ष उसका व्यवहार करता है।'

★ पर्यायनयभेद : ऋजुसूत्रनयाभिप्राय ★

ऋजुसूत्र शब्द-समभिरूढ-एवंभूत ये चार पर्यायनय के भेद हैं।

''ऋजुसूत्रनय की नीति शुद्धपर्यायों के ऊपर आश्रित है, क्योंकि सत्ताविना [illegible] न होने से [illegible] सब नश्वर ही होते हैं।''

ऋजुसूत्र यानी [illegible] [illegible]

निरपेक्षस्य निरतिशयत्वात् । न हि निरपेक्षस्य कदाचित् करणमकरणं वा, विरोधात् । तत्कृतमु(प)कारं स्वभावभूतमंगीकुर्वतः क्षणिकत्वमेव । व्यतिरिक्तत्वे वा सम्बन्धाऽसिद्धिः । अपरोपकारकल्पनेऽनवस्थाप्रसक्तिः । युगपदपि न नित्यस्य कार्यकारित्वम् द्वितीयेऽपि क्षणे तत्स्वभावात् ततस्तदुत्पत्तितः तत्क्रमप्रसक्तेः । क्रमाऽक्रमव्यतिरिक्तप्रकारान्तराभावाच्च न नित्यस्य सत्त्वम् अर्थक्रियाकारित्वलक्षणत्वात् तस्य । प्रध्वंसस्य च निर्हेतुकत्वेन स्वभावतो भावात् स्वरसभंगुरा एव सर्वे भावाः इति पर्यायाश्रितर्जुसूत्राभिप्रायः । तदुक्तम्- [ ]

अतीतानागताकारकालसंस्पर्शवर्जितम् । वर्त्तमानतया सर्वमृजुसूत्रेण सूत्र्यते ॥

[अर्थनयानां वक्तव्यम्]

प्रमाणप्रमेयनिबन्धनं यद्यपि शब्दार्थौ सामान्येन भवतः तथापि साक्षात् परम्परया वा प्रमाणस्य कारणमेव स्वाकारार्पकविषयः, 'नानुकृतान्वयव्यतिरेकं कारणम् नाऽकारणं विषयः'[ ] । तथा,

---

व्यक्तिगत स्वरूप है वही उसका वस्तुत्व है, स्वरूप अगर बदल गया तो वस्तु भी बदल गयी क्योंकि स्वरूपभेद को छोड कर और कोई वस्तुभेद नहीं है । देखिये– स्वरूप की विद्यमानता में क्या उससे अतिरिक्त कोई वस्तु है कि जिस में रूपभेद भी हो फिर भी वह एक ही रहे ?

क्षणभेद से वस्तुभेद होता है वह इस तरह – जो वस्तु जिस स्वभाव से उपलब्ध होती है वह दूसरी क्षण में उस सम्पूर्ण स्वभाव से नष्ट हो जाती है इसलिये दूसरी क्षण का उसको स्पर्श ही नहीं होता । अतः वस्तु क्षणिक है । यदि वस्तु को अन्य क्षण का स्पर्श होगा तो प्रथमक्षण का आकार और द्वितीयक्षण का आकार, इन में कोई भेद ही नहीं रहेगा । उत्पन्न वस्तु को यदि दूसरे क्षण का स्पर्श होगा तो वह प्रथमक्षण के स्वभाव को ध्वस्त कर के ही होगा, यदि प्रथम क्षण के स्वभाव को वह ध्वस्त न करेगा तो युगयुगान्तरस्थिति का सम्बन्ध भी प्रथमक्षणसम्बन्ध को ध्वस्त नहीं कर पायेगा, तब वस्तुमात्र अनादि-अनन्त हो जायेगी । ऐसा न हो इसलिये क्षण-क्षण के स्वभाव में परिवर्त्तन मानना ही होगा, और स्वभावभेद ही वस्तुभेद का दूसरा नाम है, स्वभावभेद होने पर भी अगर वस्तु-भेद नहीं मानेंगे तब तो सर्वत्र स्वभावभेद से ही काम निपट जाने से वस्तु-वस्तु का भेद सर्वथा लुप्त हो जायेगा ।

★ अक्षणिक वस्तु में क्रमशः/युगपद् अर्थक्रिया असम्भव ★

वस्तु अक्षणिक यानी नित्य नहीं हो सकती क्योंकि नित्य वस्तु में क्रमशः अथवा एकसाथ अर्थक्रियाकारित्व की संगति नहीं बैठती । क्रमशः अर्थक्रिया करने के पक्ष में सहकारी की अपेक्षा मानना होगा, किन्तु नित्यभाव में सहकारीकृत संस्काराधान मानेंगे तो पूर्ववत् अनित्यत्व की आपत्ति होगी, और संस्काराधान नहीं मानेंगे तब सहकारी की अपेक्षा ही नहीं घटेगी । जब बिना सहकारी के ही कार्यकारित्व मानेंगे तब क्रमिकवाद नहीं घटेगा, क्योंकि जिसको किसी की अपेक्षा नहीं है वह अपने साध्य कार्यों को एक साथ निपटाने में क्यों देर करेगा ? अर्थात् सब कार्य एक साथ हो जाने की आपत्ति होगी । इस प्रकार नित्यभाव में क्रमशः अर्थक्रियाकर्तृत्व संगत नहीं हो सकता । अथवा यह भी कह सकते हैं कि सहकारिनिरपेक्ष नित्य भाव कभी अपने कार्य के उत्पादन में समर्थ नहीं बनेगा क्योंकि वह सहकारीकृत अतिशयलाभ से वंचित है । तथा जो निरपेक्ष है वह कदाचित् अपना कार्य करने लगे और कदाचित् उदासीन बन जाय– यह भी, करण और अकरण के सामानाधिकरण्य में विरोध होने से असंगत है । यदि सहकारि का उपकार मान कर उसको नित्यभाव का आत्मभूत = अभिन्न

'अर्थेन घटयत्येनां नहि मुक्त्वार्थरूपताम्' [प्र० वा० २-३०५ पूर्वार्धः] 'तस्मात् प्रमेयाधिगतेः *प्रमाणं मेयरूपता' । [प्र० वा० २-३०६ पूर्वार्धः] इत्यादिवचनात् तदाकारानुविधायिनी तदध्यवसायेन च तत्राऽविसंवादात् संवित् प्रमाणत्वेन गीयते । अध्यक्षधीश्चाऽशब्दमर्थमात्मन्यापत्ते अन्यथाऽर्थदर्शनप्रच्युतिप्रसंगात् । न ह्यक्षगोचरेऽर्थे शब्दाः सन्ति तदात्मानो वा येन तस्मिन् प्रतिभासमानेऽपि नियमेन प्रतिभासेरन्निति कथं तत्संसृष्टा अध्यक्षधीर्भवेत् ?

मानेंगे तो उपकार कादाचित्क (=क्षणिक) होने से तदभिन्न भाव नित्य न रहकर क्षणिक बन जायेगा । यदि उस उपकार को भाव से भिन्न मानेंगे तो भाव और उपकार का कोई सम्बन्ध मेल नहीं खायेगा । सम्बन्ध का मेल बैठाने के लिये यदि नये नये उपकारों एवं उनके सम्बन्धों की कल्पना करेंगे तो उसका अन्त ही नहीं आयेगा ।

नित्यभाव में एकसाथ (एक समय में) सर्व अर्थक्रिया का कारित्व भी मेल नहीं खायेगा, क्योंकि तथाविध स्वभावतो दूसरे क्षण में भी जारी रहेगा, अतः दूसरे क्षण में भी पुनः सर्वकार्यकारित्व, तीसरे क्षण में भी.. इस प्रकार पुनः पुनः क्षणक्षण में सर्वकार्यकारित्व की आपत्ति होगी । नित्य भाव के लिये क्रम-अक्रम इन दो विकल्पों के अलावा तीसरा कोई अर्थक्रियाकर्तृत्व का प्रकार सम्भव नहीं है । सत्त्व का लक्षण तो अर्थक्रियाकारित्व ही है, किन्तु एक भी विकल्प से वह नित्य भाव में घट नहीं सकता इसलिये नित्य भाव की सत्ता संभव नहीं है । ऋजुसूत्र के मत में ध्वंस का कोई हेतु नहीं होता, वह स्वाभाविक होता है । प्रत्येक भाव अपने आप क्षणभंगुर होते हैं । ऋजुसूत्र नय पर्यायावलम्बी होता है, पर्याय क्षण-क्षण बदलते रहते हैं इसलिये ऋजुसूत्रमतवादी क्षणिकवादी है । कहा है- ''ऋजुसूत्र नय भूत-भावि आकारवाले काल के स्पर्श से अलिप्त सिर्फ वर्त्तमान के रूपमें वस्तुका सूत्रण करता है ।''

★ अर्थनयचतुष्क का अभिप्राय ★

नैगम-संग्रह-व्यवहार ये तीन द्रव्यार्थिक नय हैं, शेष चार पर्यायार्थिक । द्रव्य – पर्याय को लक्ष्य में रख कर जैसे यह विभाग है वैसे ही शब्द और अर्थ को लक्ष्य में रख कर ऐसा भी विभाग है कि नैगम-संग्रह-व्यवहार-ऋजुसूत्र ये चार अर्थग्राही होने से अर्थनय हैं, और बाकी के तीन शब्दनय हैं ।

अर्थनयदर्शन की ओर से ऋजुसूत्र कहता है कि सामान्यतः यद्यपि यह कहा जाता है कि शब्द और अर्थ दोनों प्रमाण-प्रमेयभाव के स्थापक निमित्त हैं किन्तु वास्तव में, साक्षात् अथवा परम्परा से जो प्रमाण का कारण होता है वही प्रमाण में अपनी आकारमुद्रा का अर्पण करने के कारण उसका विषय बनता है । कहा है, 'अन्वय-व्यतिरेक सहचार का अनुसरण न करे वह कारण नहीं होता और जो (प्रमा का) कारण नहीं होता वह (उसका) विषय नहीं बनता ।' तथा प्रमाणवार्त्तिक में भी कहा है- 'अर्थसारूप्य को छोड़ कर और कोई इसका (प्रमाणफलभूत अधिगति) का अर्थ के साथ (यह नील की अधिगति है, यह पीत की – इस प्रकार) योजयिता (यानी व्यवस्थापक) नहीं है ।' – 'अतः प्रमेयाधिगति का प्रमाण (यानी साधन) मेयरूपता (यानी अर्थरूपता) ही है (न कि शब्द) ।'– इन वचनों से यह फलित होता है कि शब्दाकार का नहीं किन्तु अर्थाकार का अनुविधान करनेवाला, अर्थ के अध्यवसाय से अर्थ का अविसंवादी ऐसा संवेदन प्रमाण माना जाता है ; प्रत्यक्ष बुद्धि तो सीधे ही शब्द का [illegible] है [illegible] है ; यदि वह [illegible]

---

*. [illegible]

किंच, वस्तुसंनिधानेऽपि तन्नामानुस्मृतिं विना तदाऽर्थस्यानुपलब्धाविष्यमाणायामर्थसंनिधिरक्षदृग्जननं प्रत्यसमर्थ इति अभिधानस्मृतादु(?वु)पक्षीणशक्तित्वान्न कदाचनापीन्द्रियबुद्धिं जनयेत् संनिधानाऽविशेपात् । यदि चायं भवतां निर्वन्धः स्वाभिधानविशेपापेक्षमेव चक्षुरादिप्रतिपत्ति(:) स्वार्थमवगमयति तदाऽस्तंगतेयमिन्द्रियप्रभवाऽर्थाधिगतिः, तन्नामस्मृत्यादेरसंभवात् । तथाहि – यत्रार्थे प्राक् शब्दप्रतिपत्तिरभूत् पुनस्तदर्थवीक्षणे तत्संकेतितशब्दस्मृतिर्भवेदिति युक्तियुक्तम् अन्यथाऽतिप्रसंगः स्यात् । न चेद् अनभिलापमर्थं प्रतिपत्ता पश्यति तदा तत्र दृष्टमभिलापमपि न स्मरेत्, अस्मरंश्च शब्दविशेषं न तत्र योजयेत्, अयोजयंश्च न तेन विशिष्टमर्थं प्रत्येतीत्यायातमान्ध्यमशेषस्य जगतः । ततः स्वाभिधानरहितस्य विषयस्य विषयिणं चक्षुरादिप्रत्ययं प्रति स्वत एवोपयोगित्वं सिद्धम् न तु तदभिधानानाम्, तदर्थसम्बन्धरहितानां पारम्पर्येणापि सामर्थ्याऽसम्भवात् ।

इत्यर्थनया व्यवस्थिताः ।

त्याग करके शब्द की ग्राहिका होती तब तो अर्थदर्शन के विलोप की विपदा प्रसक्त होगी । शब्द न तो इन्द्रियसम्बद्ध अर्थ में निवास करते हैं, न तो शब्द अर्थतादात्म्यशाली होते हैं, इसीलिये अर्थ के प्रतिभासकाल में नियमतः शब्द का प्रतिभास होने को अवकाश ही नहीं, तब 'प्रत्यक्ष बुद्धि शब्दसंसृष्ट ही होती है– शब्दानुविद्ध ही होती है' ऐसा कौन कह सकता है ?

★ शब्दविनिर्मुक्त अर्थावबोध का समर्थन ★

यदि शब्दवादी ऐसा मानते हो कि 'अर्थ का संनिधान रहने पर भी जब तक अर्थ की संज्ञा का स्मरण नहीं होता तब तक इन्द्रिय से अर्थोपलम्भ नहीं होता ।'– तब तो इस का मतलब यह हुआ कि अर्थसंनिधान प्रत्यक्षबुद्धि के उत्पादन में असमर्थ है, क्योंकि वह तो सिर्फ अर्थ की संज्ञा का स्मरण कराने में ही क्षीणशक्तिक हो जाता है, अतः अर्थ के संनिधान की प्रत्यक्षबुद्धि-उत्पादन में कोई विशेपता न होने से इन्द्रियबुद्धि उत्पन्न ही नहीं हो पायेगी । यदि कहें कि– 'ऐसा नहीं होगा, क्योंकि हम मानते हैं कि अर्थसंनिधान संज्ञारूप विशेषण को सापेक्ष रह कर चाक्षुपबोध उत्पन्न करता है और उससे उस संज्ञा(शब्द) के अर्थ का अवबोध होता है ।'– तो इस मान्यता को स्वीकारने पर इन्द्रियजन्य अर्थाधिगम की कथा ही समाप्त हो जायेगी, क्योंकि ऐसे तो संज्ञास्मरण भी संभवित नहीं होगा । कैसे यह देखिये – जिस अर्थ को लक्षित करके पहले शब्दसंज्ञा का भान हो चुका हो, पुनः उस अर्थ का दर्शन होने के बाद ही उस में संकेतित शब्द की स्मृति होना न्याययुक्त है। अन्यथा यत्–किंचित् अर्थ के दर्शन से यत्–किंचित् नाम की स्मृति हो जायेगी । शब्द से अलिप्त अर्थ का दर्शन यदि दृष्टा को पहले नहीं होगा तो उस अर्थ के पूर्वज्ञात नाम का स्मरण भी नहीं हो सकेगा, नामस्मरण न होने पर उस विशिष्ट नाम का अपने अर्थ के साथ संयोजन भी कोई दृष्टा नहीं कर पायेगा । संयोजन के विरह में उस नाम से विशेपित अर्थ का अधिगम नहीं हो पायेगा, फलतः सारा जगत् ज्ञानशून्य अन्धा बना रहेगा ।

इस प्रकार, अपने नाम के सम्बन्धविरह में भी विपयभूत अर्थ अपने विपयिभूत चाक्षुपज्ञान के लिये स्वतः उपयोगि बनता है यह तो सिद्ध हो गया, किन्तु उनके नाम, अर्थसम्बन्ध के विरह में प्रमाबोध में उपयोगी नहीं होते, क्योंकि उन में परम्परया भी वह सामर्थ्य नहीं है ।

उपरोक्त तरीके से, चारों अर्थनय की दृष्टि में अर्थ ही प्रमाबोध का मुख्य अंग है, न कि शब्द– यह

[शब्दनयानां वक्तव्यता]

शब्दनयास्तु मन्यन्ते– कारणस्यापि विषयस्य प्रतिपत्तिं प्रति नैव प्रमेयत्वं युक्तं यावदध्यवसायो न भवेत्, सोऽप्यध्यवसायविकल्पश्चेत् तदभिधानस्मृतिं विना नोत्पत्तुं युक्तः इति सर्वव्यवहारेषु शब्दसम्बन्धः प्रधानं निबन्धनम् । प्रत्यक्षस्यापि तत्कृताध्यवसायलक्षणविकलस्य बहिरन्तर्वा प्रतिक्षणपरिणामप्रतिपत्ताविव प्रमाणतानुपपत्तेः, अविसंवादलक्षणत्वात् प्रमाणानाम् । प्रतिक्षणपरिणामग्रहणेऽपि तस्य प्रामाण्याभ्युपगमे प्रमाणान्तरप्रवृत्तौ यत्नान्तरं क्रियमाणमपार्थकं स्यात् । ततः प्रमाणव्यवस्थानिबन्धनं तन्नामस्मृतिव्य-वसाययोजनमर्थप्राधान्यमपहस्तयतीति शब्द एव सर्वत्र प्रमाणादिव्यवहारे प्रधानं कारणमिति स्थितम्।

[पंचमस्य शब्दनयस्याभिप्रायः]

शब्दनयश्च ऋजुसूत्राभिमतपर्यायात् शुद्धतरं पर्यायं स्वविषयत्वेन व्यवस्थापयति । तथाहि– 'तटः तटी तटम्' इति विरुद्धलिंगलक्षणधर्माक्रान्तं भिन्नमेव वस्तु, न हि तत्कृतं धर्मभेदमननुभवतस्तत्सम्बन्धो युक्तः तद्धर्मभेदे वा स्वयं धर्मी कथं न भिद्यते ? यथा हि क्षणिकं वस्तु अतीतानागताभ्यां क्षणाभ्यां

अर्थनयों का अभिप्राय फलित हुआ ।

★ शब्दनयों – प्रमाणादिव्यवहारों का मुख्य हेतु शब्द ★

अर्थनयों के प्रतिकार में शब्दनयों का वक्तव्य यह है– जब तक अध्यवसाय (यानी विकल्प) नहीं होगा तब तक कारण होने पर भी विषय, बुद्धि का प्रमेय सिद्ध नहीं हो सकता । अध्यवसायरूप विकल्प जो मुख्य व्यवहार साधक है, तभी उत्पन्न होगा जब नामस्मृति हो, क्योंकि विकल्प नाम-जाति आदि से संश्लिष्ट ही होता है । इस से यह फलित होता है कि अखिल व्यवहारों में शब्दसम्बन्ध ही मुख्य भूमिका अदा करता है । अध्यवसाय के विकल्प के विरह में जैसे क्षणिकत्वग्राही प्रत्यक्ष प्रतिक्षणपरिणामात्मक [illegible] प्रमेय के स्वीकार में प्रमाणभूत नहीं होता, वैसे ही किसी भी बाह्य-अभ्यन्तर प्रमेय के लिये प्रत्यक्ष तब तक प्रमाणभूत नहीं माना जाता जब तक उस प्रत्यक्ष से उस प्रमेय के बारे में अध्यवसाय उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि प्रमाण के लक्षण में अविसंवाद का समावेश होता है, अतः संवादी अध्यवसाय के बिना प्रत्यक्ष कैसे प्रमाण माना जा सकेगा ? यदि अध्यवसाय के बिना भी प्रतिक्षणपरिणाम के ग्रहण में प्रत्यक्ष को प्रमाण माना लिया जायेगा, तो फिर तो किसी भी [illegible] अर्थ के ग्रहण में, अध्यवसाय के बिना भी प्रत्यक्ष को प्रमाण मान लेंगे, फलतः [illegible] के निर्णय के लिये अनुमानादि प्रमाणान्तर की खोज में किये जाने वाले प्रयत्न सब निरर्थक बन जायेंगे ।

उपरोक्त रीति से, प्रमाणव्यवस्थासंपादन का यश नामस्मृति-विकल्प योजना को मिल जाने से, अर्थनयों की अर्थप्रधानता निरस्त हो जाती है । फलित यह होता है कि प्रमाणादि सब तरह के व्यवहारों में [illegible] शब्द ही है ।

★ शब्दनय के मत में लिंगभेद से पर्यायभेद ★

[illegible]

न सम्बन्धमनुभवत्येवं गोत्वादिकल्प(ना?)सामान्यविशेषस्वरूपरस्परविरुद्धस्त्रीत्वाद्यन्यतमधर्मसम्बद्धं नान्यधर्मी(?र्मे)संम्बद्धमनुभवति विरुद्धधर्माध्यासस्य भेदलक्षणात्, तथाप्यभेदे 'न किंचिद् भिन्नं जगदस्ति' इति भेदव्यवहार एवोत्सीदेत् । तथा, एकस्मिन्नुदकपरमाणौ 'आपः' इति बहुत्वसंख्याया निर्देशोऽनुपपन्नः, न ह्येकत्वसंख्यासमाध्यासितं तदेव तद्विरुद्धबहुत्वसंख्योपेतं भवतीत्येकसंख्ययैव तन्निर्देष्टव्यम् । कालभेदाद् वस्तुभेदः ऋजुसूत्रेणाभ्युपगत एवेति 'अग्निष्टोमयाजी पुत्रोऽस्य जनिता' इत्ययुक्तमेव वचः अतीतानागतयोः सम्बन्धाभावात् ।

तथा अन्यकारकयुक्तं यत् तदेव अपरकारकसम्बन्धं नानुभवतीति अधिकरणं चेद् ग्रामः अधिकरण(शब्द)वाचिविभक्तिवाच्य एव, न कर्माभिधानविभक्त्यभिधेयो युक्त इति 'ग्राममधिशेते' इति प्रयो-

काटने के एक साधन के नाम हैं किन्तु फिर भी लिंगभेद है इतना ही नहीं अर्थ में भी कुछ भेद होता है – इसी तरह संस्कृत भाषा में नदीकिनारे के लिये सामान्यतः पुलिंग-नपुंसकलिंग में 'तट' और स्त्रीलिंग में 'तटी' शब्द का प्रयोग होता है । शब्दनय ऐसे स्थान में लिंगभेद से अर्थभेद मानता है जो ऋजुसूत्रने सोचा भी नहीं है । शब्दनय में 'तटी' स्त्रीलिंग शब्द का अर्थ छोटी नदी का नाजुक किनारा माना जाता है, 'तट' पुंलिंग शब्द का अर्थ बडी नदी का रेतभरा किनारा माना जाता है और 'तट' नपुंसकलिंग शब्द का अर्थ खावड-खुवड पथरीला किनारा माना जाता है । इस प्रकार विरुद्ध लिंगस्वरूप धर्म से मुद्रित वस्तु भी विरुद्ध यानी भिन्न भिन्न होती है । उपरोक्त रीति से एक शब्द के साथ भिन्न भिन्न लिंग का सम्बन्ध जोड कर उनका प्रयोग कोई ऐसा आदमी नहीं कर सकता जिसको लिंग-भेद के प्रयोजक धर्मभेद का अनुभव नहीं होता । धर्मभेद होने पर ही जब लिंग–भेद हो सकता है, तो धर्मों के भेद से धर्मीभेद क्यों न माना जाय ?

शब्दनय ऋजुसूत्रनयवादी को कहता है कि जैसे क्षणिकवाद में वस्तु को अतीत-अनागत क्षणों के स्पर्शानुभव का निषेध किया जाता है, क्योंकि वर्त्तमान के साथ अतीत–अनागत का विरोध होता है तो वैसे ही गोत्वादितुल्य लिंगत्व रूप सामान्यधर्म से आक्रान्त एक धर्मी में परस्परविरुद्ध विशेषात्मक स्त्रीत्व–पुंस्त्व–नपुंसकत्व धर्मों का भी समावेश संभव नहीं है, अतः स्त्रीत्वादि किसी एक विशेषधर्म का धर्मी 'तटी' आदि पदार्थ पुंस्त्वादिरूप विरुद्ध धर्म के स्पर्श का अनुभव नहीं कर सकता, क्योंकि तब विरुद्धधर्माध्यास होगा जो स्वयं ही भेद का लक्षण है न कि अभेद का । यदि विरुद्धधर्माध्यास के रहते हुये भी आप उन में अभेद ही मानेंगे तब तो विरुद्ध धर्माध्यास को छोड कर और कोई भेदकतत्त्व न होने से जगत् में कहीं भी भेद का अस्तित्व नहीं होगा, कोई भी किसी से भिन्न नहीं रहेगा, फलतः भेदकथा ही समाप्त हो जायेगी ।

लिंगभेद से वस्तुभेद की तरह शब्दनय संख्या(वचन)भेद से भी वस्तुभेद मानता है । संस्कृत में जलवाचक अप् शब्द का 'आपः' इस प्रकार बहुवचन में ही प्रयोग होता है । यहाँ शब्दनय कहता है कि सिर्फ एक जल परमाणु के लिये भी 'आपः' ऐसा बहुत्वसंख्यासूचक बहुवचन का प्रयोग उचित नहीं है, जो एकत्वसंख्या से आक्रान्त है वह एकत्वविरुद्ध बहुत्व की संख्या से आक्रान्त हो नहीं सकता । अतः जल के एकपरमाणु के लिये एकत्वसंख्यासूचक एकवचन का ही प्रयोग उचित है ।

कालभेद से वस्तुभेद तो ऋजुसूत्र को भी मान्य है और शब्दनय को भी । अतः व्याकरणकारों ने जो ऐसा प्रयोग दिखाया है 'अग्निष्टोमयाजी पुत्रोस्य जनिता' = जिसने अग्निष्टोमयज्ञ कर लिया हो ऐसा पुत्र इसको

गोऽनुपपन्नः । तथा, पुरुषभेदेऽपि नैकं(का)तद् वस्तु इति 'एहि, मन्ये रथेन यास्यसि नहि यास्यसि यातस्ते पिता' इति च प्रयोगो न युक्तः अपि तु 'एहि मन्यसे यथाहं रथेन यास्यामि' इत्यनेनैव परभावेनैतन्निर्देष्टव्यम् । एवमुपग्रहणभेदेपि 'विरमति' इति न युक्त आत्मार्थतायां हि 'विरमते' इत्यस्यैव प्रयोगसंगतेः । नत्वेवं लोकशास्त्रव्यवहारविलोप इति वक्तव्यम्, सर्वत्रैव नयमते तद्विलोपस्य समानत्वादिति यथार्थशब्दनात् शब्दनयो व्यवस्थितः । तदुक्तम् –

विरोधिलिंग-संख्यादिभेदात् भिन्नस्वभावताम् । तस्यैव मन्यमानोयं शब्दः प्रत्यवतिष्ठते ॥[ ]

[समभिरूढनयाभिप्रायः]

एकसंज्ञासमभिरोहणात् समभिरूढस्त्वाह – यथा हि विरुद्धलिंगादियोगाद् भिद्यते वस्तु तथा

होगा' यह प्रयोगवचन अनुचित है, क्योंकि यज् धातु से इन प्रत्यय भूतकाल में किया गया है जब कि 'जनिता' में भविष्यकालसूचक प्रत्यय है, किन्तु वास्तव में अतीत-अनागतकाल का अन्योन्य संसर्ग नहीं होता ।

★ कारकादि के भेद से वस्तुभेद–शब्दनय ★

संख्याभेद से वस्तुभेद की तरह कारकभेद से भी वस्तुभेद होता है, अतः जो एक कारक से आक्रान्त वस्तु ग्रामादि है वह अन्यकारक से अक्रान्त नहीं बन सकती । व्याकरणकारों ने 'अधिउपसर्ग के साथ 'शीङ्' धातु का प्रयोग होने पर अधिकरणकारक युक्त ग्रामरूप अर्थ वाचक 'ग्राम' शब्द को 'ग्राममधिशेते' इस प्रकार द्वितीयाविभक्ति करने के लिये ग्राम की वहाँ कर्म संज्ञा बना लिया है । ['अधेः शीङ्-स्थासः आधारः'- हैम० २-२-२० तथा 'अधिशीङ्स्थासां कर्म' पाणिनि १-४-४६] । शब्दनय इसका विरोध करता है, ग्राम में अधिकरणकारक को सूचित करने के लिये अधिकरणवाचक सप्तमी विभक्ति का ही प्रयोग होना चाहिये क्योंकि अधिकरण और कर्म ये भिन्न भिन्न कारक एक वस्तु में समाविष्ट नहीं हो सकते । अतः 'ग्राममधिशेते' यह प्रयोग असंगत ही है क्योंकि अधिकरणकारकाक्रान्त ग्राम वस्तु, कर्मकारकसूचक द्वितीयाविभक्तिवाले 'ग्रामम्' पद से वाच्य नहीं हो सकता ।

कारकभेद की तरह पुरुषभेद से भी वस्तुभेद होता है, पुरुषभेद रहने पर वस्तु एक नहीं हो सकती । पाणिनिऋषिने १-४-१०६ सूत्र में 'मन्य' धातु के होते हुये 'यास्यामि' के स्थान में 'यास्यसि' इस प्रकार द्वितीय (=मध्यम) पुरुष के प्रत्यय का विधान किया है- तथा 'मन्य' धातु को यहाँ मध्यमपुरुष के बदले उत्तम पुरुष का विधान किया है- प्रयोग ऐसा है- 'एहि मन्ये रथेन यास्यसि न हि यास्यसि यातस्ते पिता' [= आइये, आप समझते हैं कि रथ से जाऊँगा लेकिन आप नहीं जायेंगे क्योंकि आप के पिता रथ लेकर चले गये हैं ।] शब्दनय कहता है कि यह प्रयोग ठीक नहीं है, 'मन्यसे यथाहं रथेन यास्यामि' ऐसा ही प्रयोग करके 'तू समझता है कि मैं रथ से जाऊँगा' इस प्रकार परभाव से यानी उत्तम पुरुष से अन्य पुरुष का ही निर्देश करना चाहिये, और इसलिये 'मन्ये' के बदले 'मन्यसे' का प्रयोग होना चाहिये एवं 'यास्यसि' के बदले 'यास्यामि' का... उत्तमपुरुष का द्वितीयपुरुष के विशेषणरूप में प्रयोग होना चाहिये । [ध्यान में रहे कि सिद्धहेमशब्दानुशासन में पाणिनि की तरह अलग सूत्र नहीं बनाया है किन्तु [illegible] (३-३-१७) सूत्र की बृहद्वृत्ति में इसका निर्देश किया है ।]

तथा 'रम्' धातु को ङित होने से आत्मनेपद के प्रत्यय लगते हैं किन्तु 'व्याङ्परिभ्यो रमः' (१-३-८३) इस विशेषित सूत्र से 'विरमति-आरमति-परिरमति' इस प्रकार तीन रूपों के साथ यह धातु भी परस्मैपद

संज्ञाभेदादपि । तथाहि – संज्ञाभेदः प्रयोजनवशात् संकेतकर्तृभिर्विधीयते न व्यसनितया, अन्यथाऽनवस्था-प्रसक्तेः ततो यावन्तो वस्तुनः स्वाभिधायकाः शब्दास्तावन्तोऽर्थभेदाः, प्रत्यर्थं शब्दनिवेशात् । नैकस्यार्थस्यानेकेनाभिधानं युक्तमिति 'घटः-कुटः-कुम्भः' इति वचनभेदाद् भिन्न एवार्थः । क्रियाशब्दत्वाद्वा सर्वशब्दानां सर्वेऽप्यन्वर्था एव वाचकाः ततो घटते-कुटति-कौ भाति इति च क्रियालक्षणनिमित्तभेदात् नैमित्तिकेनाप्यर्थेन भिन्नेन भाव्यमिति 'घटः' इत्युक्ते कुतः 'कुटः' इति प्रतिपत्तिः ?, तेन तदर्थस्यानभिहितत्वात् । यथा वा 'पावक' शब्दोक्तेरन्यैव पावकशक्तिरन्वय-व्यतिरेकाभ्यां लोकतः प्रसिद्धा तथा घटन-कुटनादिशक्तीनामपि भेदः प्रतीयत एवेति नानार्थवाचिन एव पर्यायध्वनयः नैकमर्थमभिनिवेशन्त इति समभिरूढः । उक्तं च [ ]–

के प्रत्यय लगाये जाते हैं । शब्दनय को यह मान्य नहीं है, क्योंकि उपग्रहभेद के बारे में भी आत्मार्थक विरमणादि क्रिया को सूचित करने के लिये आत्मनेपद का ही प्रयोग, जैसे कि 'विरमते' आदि होना संगत है । आत्मनेपद और परस्मैपद से व्यंग्य आत्मार्थता और परार्थता को उपग्रह कहते हैं ।

यदि कहें कि– 'इस प्रकार विरमते, मन्यसे, यास्यामि ग्रामे अधिशेते.. इत्यादि प्रयोग करेंगे तो उसमें व्याकरणशास्त्र का अतिक्रमण होगा, और व्याकरणशास्त्र जिस लोकव्यवहार को अधीन होकर चलता है उस लोक व्यवहार का भी विलोपन होगा'– तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि किसी भी नय का मत ऐसा नहीं है जिस में, कहीं न कहीं व्याकरण या लोकव्यवहार का अतिक्रमण न होता हो– जैसे लोकव्यवहार तो घट-पटादि को स्थायी मानने का है फिर भी ऋजुसूत्रादिनय उन्हें क्षणिक मानते हैं । भेदव्यवहार सुप्रसिद्ध होने पर भी संग्रहनय अभेद का ही समर्थन करता है... इत्यादि ।

उक्तरीति से, यथार्थ शब्दनिरूपण करनेवाला होने से यह नय शब्दनय कहा जाता है । जैसे कहा है – 'विरुद्ध लिंग-संख्यादि के भेद से वस्तुकी ही भिन्नस्वभावता (यानी भिन्नता) मानने वाला यह शब्दनय वस्तु की प्रतिष्ठा करता है ।'

★ समभिरूढनय – संज्ञाभेद से वस्तुभेद ★

एक वस्तु की एक ही संज्ञा का – यानी संज्ञाभेद से अर्थभेद पर आरोहण करनेवाला 'समभिरूढ' नय कहता है– जैसे लिंगभेद-संख्याभेद आदि से वस्तुभेद माना गया है वैसे ही संज्ञाभेद से भी वस्तुभेद मानना चाहिये । कैसे यह देखिये – 'संकेतकर्त्ता व्युत्पन्न जन भिन्न भिन्न प्रयोजन से भिन्न भिन्न संज्ञा करते हैं, सिर्फ शौख के लिये नहीं करते । शौख के लिये करते तो संज्ञा में एकरूपता न रहने से एक एक अर्थके लिये तरह तरह के लोग तरह तरह की संज्ञा करते रहते और सारी व्यवस्था का भंग हो कर अनवस्था हो जाती । इसलिये यह फलित होता है एक वस्तु के लिये तरह तरह की संज्ञा किसी को इच्छनीय नहीं है – अतः वस्तु को सूचित करनेवाले जितने भी शब्द हैं उतने ही अर्थभेद होते हैं, क्योंकि एक एक अलग अलग अर्थ को सूचित करने के लिये ही अलग अलग संज्ञा का प्रयोग किया जाता है । [जैसे-सिर्फ जलवहन के काम में आनेवाले अर्थ के लिये 'घट'संज्ञा प्रयुक्त की जाती है, किन्तु भगवद्भक्ति में काम आनेवाले शान्तिकलश की 'कलश' संज्ञा प्रयुक्त होती है ।] अथवा सामान्यतः 'नारियल' और 'श्रीफल' एकार्थक माने जाते हैं किन्तु 'नारियल' शब्द सिर्फ एक फलविशेष के लिये ही प्रयुक्त होता है जब कि प्रभावनादि मंगल कार्यों में 'श्रीफल' शब्द का प्रयोग किया जाता है ।]

तथाविधस्य तस्यापि वस्तुनः क्षणवृत्तिनः । ब्रूते समभिरूढस्तु संज्ञाभेदेन भिन्नताम् ॥

[एवंभूतनयाभिप्रायः]

शब्दाभिधेयक्रियापरिणतिवेलायामेव 'तद् वस्तु' इति भूत एवंभूतः प्राह – यथा संज्ञाभेदाद् भेदवद् वस्तु तथा क्रियाभेदादपि । सा च क्रिया तन्नेत्री यदैव तामाविशति तदैव तन्निमित्तं तत्तद्व्यपदेशमासादयति । नान्यदेत्यतिप्रसंगात् । तथाहि – यदा 'घटते' तदैवासौ 'घटः' न पुनः 'घटितवान्' 'घटिष्यते' वा 'घटः' इति व्यपदेष्टुं युक्तः, सर्ववस्तूनां घटतापत्तिप्रसंगात् । अपि च चेष्टासमय एव चक्षुरादिव्यापारसमुद्भूतशब्दानुविद्धप्रत्ययमास्कन्दन्ति चेष्टावन्तः पदार्थाः । यथावस्थितार्थप्रतिभास एव च वस्तूनां

समभिरूढनय मानता है कि एक ही अर्थ का अनेक शब्दों से प्रतिपादन करना अनुचित है, अतः घट-कुट-कुम्भ इत्यादि शब्दभेद से अर्थ भी भिन्न भिन्न होता है । अथवा घटादि सर्व शब्द विभिन्न क्रियात्मक होने से, अपनी अपनी विभिन्न व्युत्पत्ति के अनुसार भिन्न भिन्न अर्थ के ही वाचक हैं । घटादि शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है– 'घटते' इति घटः– यानी जो जलाहरण चेष्टा करता है । 'कुटति' इति कुटः, यानी जो कुटन क्रियान्वित* होता है । तथा 'कौ भाति' इति कुम्भः यानी जो पृथ्वीतल पर झगक रहा है । इस प्रकार तीनों की व्युत्पत्ति में क्रियास्वरूप निमित्त भिन्न भिन्न है इसलिये उसका नैमित्तिक अर्थात् निमित्तप्रयोज्य अर्थ भी भिन्न भिन्न होना चाहिये । इस स्थिति में 'घट' शब्द के उच्चार से कुट का बोध कैसे होगा ? जब कि कुट का तो घटशब्द से प्रतिपादन हुआ नहीं ।

जैसे सामान्य अग्नि के बोध के लिये अग्निशब्द का प्रयोग होता है, किन्तु जब 'पावक' शब्द का प्रयोग होता है तब पवित्रताकारक शक्तिविशेष का ही अन्वय-व्यतिरेक से बोध होता है, भले ही लोक में 'अग्नि' और 'पावक' शब्द पर्यायवाची कहे जाते हों । इसी तरह घटन-कुटन आदि शक्तियों में भी भेद स्पष्ट प्रतीत होता है, इसलिये पर्यायवाची माने जाने वाले घट-कुट आदि शब्द वास्तव में भिन्नार्थक ही है, एक अर्थ के अभिनिवेशी यानी बोधक नहीं है – यह समभिरूढ नय का वक्तव्य है । कहा है –

"क्षणिक एवं लिंगादिभेद से भिन्न वस्तु का भी, समभिरूढनय संज्ञाभेद से भेद मानता है ।"

★ एवंभूत–शब्दवाच्यक्रिया से आविष्ट हो वही वस्तु ★

'एवंभूत' शब्द में 'एवं' शब्द क्रियापरिणति का वाचक है, और 'भूत' शब्द आक्रान्त अथवा युक्त अर्थ का वाचक है । तात्पर्य यह है कि, शब्द किसी न किसी धातु से बना होता है और धातु क्रियार्थक होता है, अतः कोई भी शब्द किसी एक क्रिया का सूचन करता है– जैसे 'पाचक' शब्द [illegible] क्रिया का वाचक होता है । एवंभूत नय कहता है कि किसी एक शब्द से सूचित क्रिया से जब कोई वस्तु परिणत हो तभी वह उस शब्द की वाच्य होती है अन्यथा नहीं, जैसे 'पाचक' शब्द से [illegible]

[illegible]

---

* [illegible]

व्यवस्थापको नान्यथाभूतः, अन्यथा अचेष्टावतोपि चेष्टावत्तया शब्दानुविद्धेध्यक्षप्रत्यये प्रतिभासस्याभ्युपगमे तत्प्रत्ययस्य निर्विषयतया भ्रान्तस्यापि वस्तुव्यवस्थापकत्वे सर्वः प्रत्ययः सर्वस्यार्थस्य व्यवस्थापकः स्यादित्यतिप्रसंगः । तन्न घटनसमयात् प्राक् पश्चाद् वा 'घटः' तद्व्यपदेशमासादयतीत्येवंभूतनयमतम् । उक्तं च [ ] –

'एकस्यापि ध्वनेर्वाच्यं सदा तन्नोपपद्यते । क्रियाभेदेन भिन्नत्वादेवंभूतोभिमन्यते ॥' इति ।

तत् स्थितमेतत् ऋजुसूत्रादयः पर्यायास्तिकस्य विकल्पा इति ।

अस्याश्च गाथायाः सर्वमेव शास्त्रं विवरणम् ।

कर क्रियाभेद से भी वस्तुभेद स्वीकार करना चाहिये । इस प्रकार वह वस्तुभेदक क्रिया जब वस्तु में आविष्ट होती है तभी उस क्रियारूप निमित्त के आधार पर क्रियावाचक शब्द-प्रयोग के लिये वह वस्तु योग्य बनती है, अन्यकाल में नहीं । यदि पचन आदि क्रिया के अभाव में भी किसी के लिये यथा तथा 'पाचक' आदि शब्दप्रयोग उचित माना जाय तब तो फिर पचन आदि क्रियाशून्य हर किसी चीज के लिये भी यथा तथा 'पाचक' आदि शब्द प्रयोग में औचित्यप्रवेश का अतिप्रसंग हो सकता है । कैसे यह देखिये– जब 'घटते' –घटनक्रिया से आविष्ट है तभी वह घटशब्दवाच्य है, किन्तु 'घटितवान्' यानी भूतकालीन घटनक्रिया का आधार अथवा 'घटिष्यते' यानी भाविकालीन घटनक्रिया का आधार 'घट'शब्द प्रयोग के लिये योग्य नहीं है, क्योंकि ऐसे तो सभी वस्तु में घटता (=घटशब्दवाच्यता) की आपत्ति होगी । सच देखा जाय तो, वस्तु जब चेष्टात्मक क्रिया– जो कि 'घट' धातु का वाच्यार्थ है, से आविष्ट होती है तभी नेत्रादि के संनिकर्ष से 'ये पदार्थ सचेष्ट हैं' ऐसी शब्दोल्लेखानुविद्ध यथार्थ प्रतीति होती है । यथावस्थितार्थ प्रतीति ही वस्तु की व्यवस्थाकारक हो सकती है, अयथार्थप्रतीति नहीं अन्यथा, चेष्टाशून्य पदार्थ का सचेष्टरूप से शब्दानुविद्ध प्रत्यक्षप्रतीति में यदि प्रतिभास होता है ऐसा मानेंगे तो वह प्रतीति विषयरहित होने से भ्रान्त होगी और भ्रान्तप्रतीति को यदि वस्तु-व्यवस्थाकारक मानेंगे तो हर कोई प्रतीति हर एक वस्तु की व्यवस्थापक बन जाने का अतिप्रसंग होगा । इस से बचने के लिये एवंभूतनय कहता है कि घटन (=चेष्टा) काल के पहले या बाद में वस्तु कभी 'घट' शब्दप्रयोग की वरमाला के लिये योग्य नहीं होती । कहा है–

'एवंभूत का अभिमत ऐसा है– वस्तु सदा के लिये एक शब्द से वाच्य नहीं होती, क्योंकि क्रियाभेद से वस्तु भिन्न होती है ।'

उक्त रीति से सभी ऋजुसूत्रादि चार नय उत्तरोत्तर भेददृष्टि को विशाल बना कर बारीक पर्यायों को छाँटते रहते हैं इसलिये वे सब पर्यायास्तिकनय के ही विकल्प यानी प्रकार अथवा उपभेद हैं– यह सुनिश्चित है ।

व्याख्याकार कहते हैं कि मूल चौथी गाथा से लेकर पूरा सम्मतिग्रन्थ इस तित्थयरवयण० तृतीयगाथा का ही विवरण-विस्तार रूप है, क्योंकि अग्रिम मूल ग्रन्थ में बहुधा द्रव्यार्थिक– पर्यायार्थिक नयों के भेदोपभेद का ही विवेचन– व्युत्पादन किया जायेगा । अर्थात् उन नयों के नाम लिये बिना भी उन के मन्तव्यों का विमर्श किया जायेगा ।

[तृतीयगाथाविवरण समाप्त]

चतुर्थी गाथा

'दव्वट्ठिओ य पज्जवणओ य' इत्यादिपश्चार्द्धैकदेशस्य विवरणाय आह सूरिः –

दव्वट्ठियनयपयडी सुद्धा संगहपरूवणाविसओ ।
पडिरूवे पुण वयणत्थनिच्छओ तस्स ववहारो ॥४॥

अवयवार्थस्तु- द्रव्यास्तिकनयस्य व्यावर्णितस्वरूपस्य प्रकृतिः = स्वभावः शुद्धा इत्यसंकीर्णा विशेषाऽसंस्पर्शवती संग्रहस्य = अभेदग्राहिनयस्य प्ररूपणा = प्ररूप्यतेऽनयेति कृत्वा उपवर्णना पदसंहतिः तस्या विषयो-ऽभिधेयः विषयाकारेण विषयिणो वृत्तस्य विषयव्यवस्थापकत्वादुपचारेण विषयेण विषयिप्रकथनमेतत्, अन्यथा कः प्रस्तावः शुद्धद्रव्यास्तिकेऽभिधातुं प्रक्रान्ते संग्रहप्ररूपणाविषयाभिधानस्य ?

★ शुद्ध-अशुद्ध द्रव्यास्तिक संग्रह–व्यवहार ★

तीसरी गाथा के उत्तरार्ध में 'दव्वट्ठिओ य पज्जवणओ य' ऐसा जो वाक्यांश है उस के एक भाग का यानी द्रव्यार्थिक का विवरण अब मूलग्रन्थकार आचार्य सिद्धसेन चौथी गाथा से करते हैं- गाथासूत्र का भावार्थ इस प्रकार है-

"द्रव्यास्तिक नय की शुद्ध प्रकृति संग्रहनय की प्ररूपणा का विषय है और प्रति वस्तु होने वाला शब्दार्थनिश्चय उस संग्रह का व्यवहार यानी विस्तारीकरण है" ॥४॥

"इस गाथासूत्र का तात्पर्य संक्षेप में इतना ही है कि संग्रहनय का प्रत्यय (अभिप्राय) शुद्ध द्रव्यास्तिक नय है और व्यवहारनय का प्रत्यय अशुद्ध द्रव्यास्तिक है ।

श्री व्याख्याकार महर्षि पहले इस गाथा के पूर्वार्ध का अवयवार्थ दिखाते हैं (बाद में उत्तरार्ध का दिखायेंगे) 'द्रव्यास्तिकनय' जिस का शब्दार्थ एवं स्वरूप पहले कह आये हैं, उसकी प्रकृति यानी स्वभाव, ऐसा स्वभाव- 'शुद्ध, यानी विशेष के स्पर्श से अलिप्त-असंकीर्ण-अमिश्रित' ऐसा स्वभाव- अभेदग्राही संग्रहनयप्ररूपणा के क्षेत्र में उसका स्थान है । जिस में वस्तु का बयान किया जाय उसको प्ररूपणा कहते हैं । अर्थात् अर्थ के [illegible] की निकट में हो ऐसा वर्णन (=उपवर्णन) करने वाली पदावली । इस पदावली का विषय है शुद्ध स्वभाव, यही विषय यानी उस पदावली का अभिधेय – वाच्य है । द्रव्यास्तिक नयस्वभाव ही यहाँ विषय कहा है और उसके व्यवस्थापक रूप में संग्रहनयप्ररूपणा को विषयी बताया है, किन्तु यह मुख्य बात नहीं है क्योंकि जो विषयी विषयाकार से युक्त यानी परिणत होता है वही विषय का व्यवस्थापक हो सकता है और ऐसा जो [illegible] ज्ञान ही होता है, इसलिये ज्ञान का विषय द्रव्यास्तिक नय दिखाना चाहिये, किन्तु यहाँ [illegible] [illegible]

[संग्रहस्य सत्तामात्रविषयकत्वोपदर्शनम्]

सुवन्तस्य तिङन्तस्य वा पदस्य वाक्यस्य वा प्ररूपणास्वभावस्य विषयः संग्रहाभिप्रायेण भाव एव । तथाहि – जाति-द्रव्यगुण-क्रियापरिभाषितरूपेण स्वार्थ-द्रव्य-लिंग-कर्मादिप्रकारेण वा सुवन्तस्य योऽर्थः स भावाद् व्यतिरिक्तो वा भवेदव्यतिरिक्तो वा ? यदि व्यतिरिक्तस्तदा निरुपाख्यत्वादत्यन्ताभाववत् न द्रव्यादिरूप इति कथं सुवन्तवाच्यः ? अव्यतिरिक्तश्चेत् कथं न भावमात्रता सुवन्तार्थस्य ? तिङन्तार्थस्यापि क्रिया-कालकारक-पुरुष-उपग्रह-वचनादिरूपेण परिभाष्यमाणस्य सत्तारूपतैव । तथाहि – 'पचति' इत्यत्र क्रिया विक्लित्तिलक्षणा, काल आरम्भप्रभृतिर(प)वर्गपर्यन्तो वर्त्तमानस्वरूपः, कारकं कर्त्ता, पुरुषः परभावात्मकः, उपग्रहः परार्थता, वचनमेकत्वम् यद्यपि प्रतिपत्तिविषयः, तथापि सत्त्वमेवैतत् । यतः क्रिया ह्यसती चेत् कारकैर्न साध्येत खपुष्पादिवत्, सती चेत् अस्तित्वमेव सा कारकैश्चाभिव्यज्यत इति । एवं कालादयोऽप्यसन्तश्चेद् न शशशृंगाद् भिद्येरन् सदात्मकाश्चेत् कथं न अस्तित्वादभिन्ना इति सत्तैव तिङन्तस्यार्थः ।

'घटोस्ति'इति वाक्यार्थे यद् वाक्यं प्रयुज्यते 'घटः सन्' इति, तत्र भावाभिधायिता पदद्वयस्या-

---

☆ सत्तामात्रवस्तुवादी–संग्रहनयप्ररूपणा ☆

व्याकरणशास्त्र में सु-औ-जस् इत्यादि प्रथमादि सात विभक्तिवाले पदों को सुवन्तपद कहते हैं और ति-तस्-अन्ति आदि प्रत्ययवाले पदों को तिङन्त पद कहते हैं । संग्रहनय कहता है कि प्ररूपणास्वभाववाले सुवन्त-तिङन्त पद अथवा वाक्य का विषय वास्तव में भाव ही होता है । व्याकरण की परिभाषा के अनुसार जाति-द्रव्य-गुण-क्रिया अथवा स्वार्थ-द्रव्य-लिंग-कर्मादि ये सब सुवन्तपद का अर्थ है उसके ऊपर संग्रहनयवादी कहता है कि ये अर्थ भाव (सत्तामात्र) से भिन्न है या अभिन्न हैं ? यदि भिन्न है, तब तो सुवन्त का अर्थ सत्ताविहीन होने से अर्थात् असत् होने से अत्यन्ताभाव की तरह निरुपाख्य यानी अवाच्य ही वन जायेगा, उन को द्रव्यादिरूप नहीं वता सकेंगे । तव द्रव्यादिरूप अर्थ को सुवन्तवाच्य कैसे कह सकेंगे ? यदि भाव (यानी सत्ता) से सुवन्तवाच्य अर्थ अभिन्न हैं तव तो भावमात्र ही सुवन्त का अर्थ क्यों नहीं होगा ? संग्रहनय को तो वही इष्ट है । व्याकरणशास्त्र में जो तिङन्तपद के क्रिया-काल-कारक-पुरुष-उपग्रह-वचनादिरूप अर्थ दिखाये हैं वे भी सत्तारूप ही है । कैसे यह देखिये – 'पचति' (= वह पकाता है), यहाँ विक्लित्ति यानी अवयवशैथिल्य यह क्रिया है, विक्लित्ति क्रिया के आरम्भ से ले कर अन्त तक वर्त्तमानकाल है । कर्त्ता कारक है । पुरुष है परभाव, उत्तमपुरुष (अहं) से भिन्न (अधम-मध्यम) पुरुष को परभाव कहते हैं । उपग्रह परार्थतारूप है, आत्मनेपद से व्यंग्य आत्मार्थता और परस्मैपद से अभिव्यंग्य परार्थता– ये उपग्रह कहे जाते हैं, पचति में परस्मैपद से परार्थता व्यंग्य होती है । 'पचति' में एकवचन एकत्वसंख्यासूचक है । यद्यपि यहाँ तिङन्त से इन सभी की प्रतीति होती है किन्तु ये सव सत्त्वरूप ही हैं । कारण, क्रिया यदि सत् नहीं होंती तो गगनकुसुम की तरह वह कारकव्यापार से निष्पन्न नहीं होंगी । यदि सत् होंगी तव तो वही अस्तित्वरूप अर्थ हुआ जो कारकों से अभिव्यक्त होता है । क्रिया की तरह तिङन्तार्थभूत कालादि भी सत् नहीं होंगे तो उनकी हालत गगनकुसुम जैसी होगी । और यदि सत् होंगे तो अस्तित्व से भिन्न न होने से सत्ता ही तिङन्त का अर्थ फलित होगा जो संग्रहनय को इष्ट है ।

पद के अर्थ की वात हुई तो अव वाक्यार्थ की वात भी देखिये– 'घटोऽस्ति' (=घट है) ऐसे वाक्यार्थ के लिये जो 'घटः सन्' ऐसा वाक्य प्रयुक्त होता है– यहाँ 'घटः' और 'सत्' ये दोनों पद भावमात्र के ही

पि । तथाहि – 'घटः' इति विशेषणम् 'सन्' इति विशेष्यम् अत्र द्वयेनापि नाभावविपरीतेन भाव्यम् । न ह्यन्यथा तद् विशेषणम् नापि तद् विशेष्यं स्यात् निरुपाख्यत्वात् अत्यन्ताभाववत् । यदि पुनरभावविपरीतं तदिष्यते, विशेषण-विशेष्ययोः कथं न भावरूपता ? तेन यदेव घटस्य भावो घटत्वं तदेव 'घटः', यच्च सतो भावः सत्त्वं तदेव 'सन्' इति सर्वत्र संग्रहाभिप्रायतः प्ररूपणाविषयो भाव एव ।

उक्तं चैतत् समयसद्भावमभिधावता अन्येनापि, [वाक्यपदीय- द्वि० का० श्लो० ११९]

अस्त्यर्थः सर्वशब्दानामिति प्रत्याय्यलक्षणम् । अपूर्वदेवताशब्दैः(?स्वर्गैः) सम(प्रा?)माद् गवादिषु ॥

घटादीनां न चाकारात्(?न्) प्रत्यायति वाचकः । वस्तुमात्रनिवेशित्वात् तद्गतिर्नान्तरीयकैः ॥

[वाक्यपदीय द्वि० का० श्लो० १२३]

अत एव "यत्र विशेषक्रिया नैव श्रूयते तत्रास्तिर्भवन्तीपरः प्रथमपुरुषेऽप्रयुज्यमानोऽप्यस्तीति गम्यते" [ ] इत्युक्तं शब्दसमयवेदिभिः । अवगतिश्चैवं युक्ता यदि सत्तां पदार्थो न व्यभिचरेत्, अव्यभिचारे च तदावेशात् तदात्मकतैव सत्तापरित्यागे वा स्वरूपहानमिति सन्मात्रमेवाप्यदस्य शब्दस्य वा विषयः अन्तर्नीताशेषम् अपृथग्व्यवस्थापितमधुरादिरसपानकद्रव्यवत् । भेदप्रतिभासस्तु भेदप्रतिपादकागमोपहतान्तःकरणानां तिमिरोपप्लुतदृशामेकशशलांछनमण्डलस्यानेकत्वावभासनवत् असत्य इति सर्वभेदान् अपह्नुवानः

वाचक हैं । जैसे यह देखिये- 'घटः' यह विशेषण है 'सन्' यह विशेष्य है, ये दोनों अभाव यानी असत् से विपरीत होने चाहिये, अन्यथा न तो घट विशेषण हो सकेगा और न 'सत्' विशेष्य हो सकेगा, क्योंकि अत्यन्ताभाव जैसे असत् यानी निरुपाख्य होता है वैसे ये विशेषण-विशेष्य भी अत्यन्ताभावविपरीत नहीं होंगे तो निरुपाख्य बन जाने से 'घटः सन्' वाक्य के वाच्य नहीं रहेंगे । यदि वे अभावविपरीत है ऐसा मान लिया जाय तब तो विशेषण-विशेष्य दोनों 'भाव'रूप नहीं होंगे तो क्या होंगे ? अतः 'घटस्य भावो' (घट का भाव) घटत्व वही 'घटः' पद का अर्थ है और सत् का भाव सत्त्व वही 'सन्' पद का अर्थ है, इसलिये पूरा वाक्यार्थ भी भावरूप ही है । संग्रहनय के अभिप्राय से इस प्रकार भाव ही प्ररूपणा का विषय है ।

★ अन्यदार्शनिकों का अस्त्यर्थवाचकता में समर्थन ★

शास्त्रों के सद्भाव को अभिमुख बने हुये अन्यजनों ने यानी भर्तृहरि ने अपने वाक्यपदीय ग्रन्थ के द्वितीय काण्ड की ११९ और १२३ वीं कारिका में इसी तथ्य का निर्देश किया है -

"सभी शब्दों के वाच्य का स्वरूप 'अस्ति' अर्थ है (अर्थात् [illegible] सन्मात्र का वाच्य है ।) 'गो' आदि पदों में भी वाच्य [illegible] अपूर्व, देवता, स्वर्ग [illegible] होता है । (अर्थात् अपूर्वादिशब्दों से जैसे आकार विशेष का भान नहीं होता [illegible] ही भान होता है वैसे ही 'गो' आदि पदों से भी होता है । [illegible] 'गुरुत्वादि' का भान होता है [illegible] होता है ।"

[illegible]

सर्वं सन्मात्रतया संगृह्णन् संग्रहः शुद्धा द्रव्यास्तिकप्रकृतिरिति स्थितम् ।

तामेवाशुद्धां 'पडिरूवं पुण' इत्यादिगाथापश्चार्द्धेन दर्शयत्याचार्यः, प्रतिरूपं = प्रतिविम्बं प्रतिनिधिरिति यावत् । विशेषेण घटादिना द्रव्येण संकीर्णा सत्ता, पुनरिति प्रकृतिं स्मारयति । तेनायमर्थः विशेषेण-संकीर्णा सत्ता प्रकृतिः स्वभावः वचनार्थनिश्चयः इति, हेयोपादेयोपेक्षणीयवस्तुविपयनिवृत्ति-प्रवृत्त्युपेक्षालक्षणव्यवहारसम्पादनार्थमुच्यत इति वचनम् तस्य 'घटः' इति विभक्तरूपतया 'अस्ति' इ-त्यविभक्तात्मतया प्रतीयमानो व्यवहारक्षमः अर्थस्तस्य निश्चयः निर्गतः = पृथग्भूतः चयः = परि-च्छेदः; तस्य इति द्रव्यास्तिकस्य व्यवहारः इति लोकप्रसिद्धव्यवहारप्रवर्त्तनपरः नयः ।

इसीलिये पातंजलमहाभाष्यकारादि शब्दशास्त्रवेत्ताओं ने यह कहा है कि जहाँ ("श्वेत अश्व" आदि स्थलों में) विशेष क्रियासूचक क्रियापद का श्रवण नहीं होता वहाँ 'भवन्ती' अर्थ (यानी सत्तार्थ) सूचक प्रथमपुरुषवाला 'अस्ति' पद अप्रयुक्त होने पर भी अध्याहार से- होता है- यह समझा जाता है ।" यहाँ अध्याहार से 'अस्ति' का भान तभी हो सकता है यदि पदार्थ अस्त्यर्थ सत्ता का अव्यभिचारी हो । अव्यभिचार का स्वीकार करने पर तो सत्ता के आवेश से अश्वादि अर्थ सत्तात्मक है यह फलित हो जाता है । यदि वह सत्तारहित होगा तो अपने स्वरूप से च्युत हो जायेगा । अतः निष्कर्ष यह है कि 'सत्' मात्र ही प्रत्यक्ष का अथवा शब्द का प्रतिपाद्य विषय होता है जिस में सकल विशेष अन्तर्भूत हुए रहते हैं जैसे कि 'पेया' आदि शब्द से सिर्फ पानकद्रव्य का ही भान होता है, जिस पानकद्रव्य में अभिन्नरूप से मधुररसादि धर्म अवस्थित होते हैं ।

यदि कहें कि- 'घट-पटादि भेदों का भी स्फुट प्रतिभास प्रत्यक्ष या शब्द से होता है तो अर्थसामान्य यानी सत्तामात्र का ही प्रतिभास कैसे माना जाय ?'- तो उत्तर यह है कि जैसे 'तिमिर' रोग से आक्रान्त नेत्र वाले पुरुष को चन्द्रमंडल देख कर अनेकता का यानी भेद का मिथ्या प्रतिभास होता है वैसे ही 'प्रतिपादक अपने अपने शास्त्रों से जिन के अन्तःकरण वहुधा वासित हो जाता हैं उनको भेद का मिथ्या प्रतिभास होता है, वह वास्तव में भेद- स्थापक नहीं होता है ।

इस प्रकार सभी भेदों का तिरस्कार कर के सभी को सिर्फ सत्तामात्र के रूप में संगृहीत करने-वाला संग्रहनय शुद्ध द्रव्यास्तिक प्रकृति है- यह सिद्ध होता है ।

★ अशुद्ध द्रव्यार्थिक – व्यवहारनय का अभिप्राय ★

व्याख्याकार अव मूल गाथा के उत्तरार्ध का शब्दार्थ करके व्यवहारनय का अभिप्राय दिखा रहे हैं- द्रव्यास्तिक नय की अशुद्धप्रकृति पडिरूवं पुण... इत्यादि उत्तरार्ध से वतायी जा रही है । [मूल गाथा के आदर्शों में 'पडिरूवे' पाठ होने पर भी व्याख्या के आदर्शों में 'पडिरूवं' पाठ है ।] 'पडिरूव' प्राकृतभाषा का संस्कृतरूप 'प्रतिरूप' होता है, उस का अर्थ है प्रतिविम्ब अथवा प्रतिनिधि । सत्ता व्यापक रूप से सर्वगत है, उसके जो घटादि विविधरूप हैं, विशेषतः उन घटादि द्रव्यों की सत्ता व्यापक न हो कर कुछ संकीर्ण वन जाती है । यहाँ 'पुनः' – शब्द द्रव्यास्तिकनय की 'प्रकृति' का उल्लेख कर रहा है । वाक्यार्थ ऐसा यहाँ फलित होता है कि घटादिविशेष से संकीर्ण बनी हुई सत्ता यह जिसकी विषयभूत प्रकृति यानी स्वभाव है वैसा जो वचनार्थनिश्चय, यही उसका यानी द्रव्यास्तिक का व्यवहार है । वचनार्थनिश्चय पद में वचन से यहाँ अभिप्रेत है हेयवस्तुविषयक निवृत्ति, उपादेय वस्तुविपयक प्रवृत्ति और उपेक्षणीयवस्तु विपयक उपेक्षा —— इन तीन व्यवहारों के प्रवर्त्तन के लिये जो उच्चारित

सोऽभिमन्यते यदि हि हेयोपादेयोपेक्षणीयस्वरूपाः परस्परतो विभिन्नस्वभावाः सद्रूपतया शब्दजन्ये संवेदने भावाः प्रतिभान्ति ततो निवृत्ति-प्रवृत्त्युपेक्षालक्षणो व्यवहारस्तद्विषयप्रवृत्तिमासादयति नान्यथा । न चैकान्ततः सन्मात्राऽविशिष्टेषु भावेषु संग्रहाभिमतेषु पृथक् स्वरूपतया परिच्छेदोऽबाधितरूपो व्यवहारनिबन्धनं सम्भवतीति । तथाहि – ययया(?दा)कारनिरपेक्षतया स्वग्राहिणि ज्ञाने प्रतिभासमायत्ते तत् तथैव 'सत्' इति व्यवहर्त्तव्यम् यथा प्रतिनियतसत्तादिरूपम्, घटाद्याकारनिरपेक्षं च पटादिकं स्वावभासिनि ज्ञाने स्वरूपं संनिवेशयतीति स्वभावहेतुः । घटादिनिरपेक्षत्वं च पटादेः घटाद्यभावेऽपि भावात् अवभास(सा?)नाच्च सिद्धम् ।

यद्वा प्रतिशब्दो वीप्सायाम् रूपशब्दश्च वस्तुन्यत्र प्रवर्त्तते । तेनायमर्थः रूपं रूपं प्रति, वस्तु वस्तु प्रति यो वचनार्थनिश्चयः तस्य प्रकृति(:) स्वभावः स व्यवहार इति । तथाहि – प्रतिरूपमेव

होता है यह वचन, उस का जो अर्थ– विशेषरूप से 'घट' और सामान्यरूप से 'अस्ति' ऐसी प्रतीति करानेवाला व्यवहारोचित अर्थ, उस अर्थ का निश्चय– 'निस्' यानी निर्गत-पृथग्भूत, चय यानी परिच्छेद बोध । मूलगाथा में 'तस्य' पद का अर्थ है 'द्रव्यास्तिक का' तथा 'व्यवहार' शब्द से अभिप्रेत है लोकप्रसिद्धव्यवहार प्रवर्तनशील (ज्ञानात्मक) नय ।

व्यवहारनय मानता है– शब्दजन्य संवेदन में यदि हेय-उपादेय-उपेक्ष्यस्वरूप अन्योन्य भेदशाली पदार्थ सद्रूप से जब भासित होते हैं तभी निवृत्ति-प्रवृत्ति और उपेक्षात्मक तथाविधपदार्थसंबन्धी व्यवहार प्रवृत्त हो सकता है, अन्यथा नहीं । यदि पदार्थ सभी एकान्ततः 'सत्' रूप से अविशिष्ट यानी सत् सामान्यरूप ही होंगे– जैसा कि संग्रहनयवादी को अभीष्ट है– तब तो व्यवहार के प्राणभूत विविधरूप से होने वाले अबाधित परिच्छेद (=निश्चय) का उदय सम्भव ही नहीं होता । जैसे यह देखिये– जो अपने ग्राहक ज्ञान में जिस आकार को निरपेक्ष कर प्रतिभासित होता है वह उस आकार से निरपेक्षरूप में ही सत् होने का व्यवहार होना चाहिये; जैसे कि प्रतिनियत सत्तादिरूप । वस्त्रादि अपने ग्राहकज्ञान में घटादिआकार से निरपेक्षरूप से ही स्वरूपावभासित होते हैं । यह एक प्रसंगापादन है जिसमें स्वभाव को हेतु किया गया है । घटादि के न होने पर भी वस्त्रादि होते हैं एवं भासित होते हैं अतः वस्त्रादि घटादि-निरपेक्ष हैं इस तथ्य में तो कोई संदेह नहीं । इसी प्रकार, घटादिविविधनिरपेक्ष सिर्फ सत्रूप से अविशिष्ट ही पदार्थ माना जाय तब तो अपने ग्राहकज्ञान में घटादिरूप से जो सबका प्रत्यक्ष अनुभव होता है वह नहीं बन सकता, अतः विशेषरूप से व्यवहार अनायास सिद्ध हो जाता है ।

★ प्रतिवस्तु वचनार्थनिश्चय— व्यवहार ★

उत्तरार्ध की उक्त व्याख्या में कुछ [illegible] को देख कर अन्य व्याख्याकार [illegible]
[illegible] 'प्रतिरूप' में 'प्रति' शब्द पुनरावृत्ति के लिये है और रूप शब्द [illegible]
[illegible] रूप यानी वस्तु के प्रति जो (उक्त प्रकार से) वचनार्थनिश्चय, [illegible] प्रकृति [illegible]
[illegible] व्यवहार है । जैसे यह देखिये– [illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]

वचनार्थनिश्चयो व्यवहारहेतुः न पुनरस्तित्वमात्रनिश्चयः । यतः 'अस्ति' इत्युक्तेऽपि श्रोता शंकामुपगच्छन् लक्ष्यते अतः 'किमस्ति' इत्याशंकायाम् 'द्रव्यम्' इत्युच्यते, तदपि 'किम्'- पृथिवी, सापि का- वृक्षः, सोपि कः चूतः, तत्राप्यर्थित्वे यावत् पुष्पितः- फलितः इत्यादि तावन्निश्चिनोति यावद् व्यवहारसिद्धि-रिति । व्यवहारो हि नानारूपतया सत्तां व्यवस्थापयति तथैव संव्यवहारसंभवात् । अतो व्यवहरतीति व्यवहार इत्यन्वर्थसंज्ञां बिभ्रत् अशुद्धा द्रव्यास्तिकप्रकृतिर्भवति ।।४।।

कौन सा ? उत्तर – आम का । पुनः पुष्पार्थी पूछता है- आम का पेड सूखा है या पुष्पित ? उत्तर – पुष्पित । अब फलार्थी हो तो पूछ देगा- फलित है या अफलित ? उत्तर – फलों से लदा हुआ है । इस प्रकार आगे तब तक आकांक्षा-उत्तर चलते रहते हैं जब तक इष्टव्यवहार सिद्ध न हो । यह व्यवहार विविधरूप से वस्तु की सत्ता पर अपना ध्यान केन्द्रित करता है, क्योंकि विविधरूपों पर ध्यानाकर्षण होने से ही उचित व्यवहारों का पालन होता है । इस प्रकार, 'व्यवहरति' यानी विशेषरूपों का अवहरण– निर्धारण करता है इस लिये उसे 'व्यवहार' कहा जाता है, यह सार्थक संज्ञा धारण करने वाला व्यवहारनय द्रव्यास्तिकनय की अशुद्ध यानी वैविध्यपूर्ण (भेदपूर्ण) प्रकृति है ।

चौथी गाथा की व्याख्या समाप्त ।

श्री सिद्धसेन दिवाकरविरचित सम्मति तर्क-प्रकरण की
श्री अभयदेवसूरिविरचित तत्त्वबोधविधायिनी-व्याख्या के
मुनि जयसुंदरविजयरचित हिन्दीविवेचन का

द्वितीय खंड समाप्त

परिशिष्ट १ - उद्धरणांशा ग्रन्थान्तर्निर्दिष्टाः

न्यायद० न्यायदर्शनसूत्रम् ।
न्यायद०वात्स्या० न्यादर्शनवात्स्यायनभाष्यम् ।
न्यायवा० न्यायवार्तिकम् ।
न्यायाव०टिप्प० न्यायावतारटिप्पणम् ।
पाइअ० ना० पाइअलच्छीनाममाला ।
पाणि० पाणिनीयव्याकरणम् ।
पाणि०व्या० पाणिनीयव्याकरणम्
पाणि०सिद्धान्तकौ० पाणिनीयसिद्धान्तकौमुदी ।
सिद्धान्तकौ० पाणिनीयसिद्धान्तकौमुदी
पाणि०वार्ति० पाणिनीयव्याकरणवार्तिकम् ।
पाणि०महाभा० पाणिनीयव्याकरणमहाभाष्यम् ।
महाभा० पाणिनीयव्याकरणमहाभाष्यम्
पातञ्ज०यो०वाच०टी० पातञ्जलयोगदर्शनवाचस्पतिमिश्रटीका ।
पुण्यरा०टी० पुण्यराजकृता वाक्यपदीयटीका ।
प्रमेयक० प्रमेयकमलमार्तण्डः ।
प्रमेयक०टि० प्रमेयकमलमार्तण्डटिप्पणम् ।
प्रमेयर०को० प्रमेयरत्नकोषः ।
प्र०वा० प्रमाणवार्त्तिक
प्राकृ०पिं० प्राकृतपिङ्गलम्
प्राकृतप्र०षष्ठप० प्राकृतप्रकाशषष्ठपरिच्छेदः ।
प्राकृतम० प्राकृतमञ्जरी ।
प्राकृतरूपा० प्राकृतरूपावतारः ।
बृहदा०उ० बृहदारण्यकोपनिषत् ।
बृहदा०उ०भा० बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यम् ।
बृहदा०उ०भाष्यवार्ति० बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिकम् ।
बङ्गीयविश्व० बङ्गीयविश्वकोषः ।
ब्रह्म० ब्रह्मसिद्धि
ब्रह्मसू०शाङ्क०भा० ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्यम् ।
ब्रह्मसू०शाङ्क०भा०भा० ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्यभामतीटीका ।

भामहालं०परि० भामहालंकारपरिच्छेद ।
मध्यमकवृत्तिः ।
माठरवृ०, माठर० साङ्ख्यकारिकामाठरवृत्तिः
योगद०समा०पा० योगदर्शनसमाधिपादः ।
रत्नाकरा० रत्नाकरावतारिका प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकारवृत्तिः ।
ललितवि०वृ० ललितविस्तरा चैत्यवन्दनवृत्तिः ।
लङ्कावतारसू० लङ्कावतारसूत्रम् ।
वाक्यप०का० वाक्यपदीयम्-काण्डम् ।
वाक्यप०टी० वाक्यपदीयटीका ।
वाक्यप०तृ०का० वाक्यपदीये तृतीयं काण्डम् ।
वात्स्या०भा० वात्स्यायनभाष्यम् ।
वार्ति० महाभाष्यवार्तिकम् ।
शाक०व्या० शाकटायनव्याकरणम् ।
शाश्वत० शाश्वतकोशः ।
शास्त्रवा०स्त० शास्त्रवार्तासमुच्चये स्तवकः ।
शास्त्रवार्ता० शास्त्रवार्तासमुच्चयः ।
शास्त्रवा०स्याद्वादक० शास्त्रवार्तासमुच्चयस्याद्वादकल्पलता टीका ।
श्वेताश्व०उ०, श्वेताश्वत०उ० श्वेताश्वतरोपनिषत् ।
श्लो०वा०अपो० श्लोकवार्तिकम् - अपोहवादः ।
श्लो०वा०अभाव० श्लोकवार्तिकम्-अभावपरिच्छेदः ।
श्लो०वा०आकृ० श्लोकवार्तिकम्-आकृतिवादः।
श्लो०वा०वन० श्लोकवार्तिकम्-वनवादः ।
श्लो०वा०पार्थ०व्या० श्लोकवार्तिकम्-पार्थसारथिमिश्रव्याख्या ।

्भा०च०	षड्भाषाचन्द्रिका ।
्दर्शनसं०द०	सर्वदर्शनसंग्रहे दर्शनम् ।
ार्थसिद्धिः (तत्त्वार्थसूत्रव्याख्या)	
र०व्या०	सारस्वतव्याकरणम् ।
्षेपशा०	संक्षेपशारीरकम् ।
ुत्तनि०निदानसं०	
्हपतिव०अं०भा०	संयुत्तनिकायो निदानसंगहो गहपतिवग्गो अंको भागो ।
ाङ्ख्य०का०	साङ्ख्यकारिका ।
ाङ्ख्य०कौ०	साङ्ख्यतत्त्वकौमुदी ।
ाङ्ख्यद०	साङ्ख्यदर्शनम् ।
ाङ्ख्यस०तत्त्वयाथा०	साङ्ख्यसंग्रहे तत्त्वयाथार्थ्यप्रकरणम् ।
्याद्वा०	स्याद्वादमञ्जरी ।
्याद्वादर०	स्याद्वादरत्नाकरः ।
्हेतु०	हेतुमुखम् ।
हेतु०टी०ता०लि०	हेतुबिन्दुतर्कटीका ताडपत्रलिखिता ।
हेलाराजटी०	हेलाराजकृता वाक्यपदीयटीका ।
है०अनेका०	हैम-अनेकार्थकोशः ।
हैमच्छन्दो०	हैमच्छन्दोऽनुशासनम् ।
हैमतत्त्व०	हैमतत्त्वप्रकाशिका बृहन्न्यासः ।
हैमधातुपा०	हैमधातुपारायणम् ।
है०धातुपारा०	हैमधातुपारायणम्
हैमप्रा०व्या०	हैमप्राकृतव्याकरणम् ।
हैम०बृ०वृ०	हैमव्याकरणबृहद्वृत्तिः ।
हैमसूत्र०	हैमशब्दानुशासनसूत्रम् ।
है०, हैम०, हैमव्या०, हैमश०	सिद्धहेमनामकं हैमव्याकरणम् ।